विश्ववाणी

संरक्षक
पण्डित सुन्दरलाल (जेल में)

सम्पादक
विश्वम्भरनाथ (जेल में)
अख़्तर हुसैन रायपुरी डी० लिट्० (पेरिस)

नवम्बर १९४३

इस अङ्क के कुछ लेख

[वार्षि]क मूल्य ६)   'विश्ववाणी' कार्यालय, इलाहाबाद   एक अङ्क का ।≈)

विषय-सूची

जनवरी १९४३

सूचना

जो सज्जन 'विश्ववाणी' के नये ग्राहक बनें वे अपने पत्र में 'नया ग्राहक' लिखने की कृपा करें। हमारे पुराने ग्राहक, पत्र व्यवहार करते समय अपने पत्र में अपना ग्राहक नम्बर और 'पुराना ग्राहक' लिखने की कृपा करें।

जो सज्जन अपने पत्र का उत्तर चाहते हों वे कृपया जवाबी कार्ड भेजने की कृपा करें।

—मैनेजर

'विश्ववाणी' के पाठकों से

श्री विश्वम्भरनाथ का वक्तव्य

'विश्ववाणी' पर सरकार के हमलों का ज़िक्र मैंने दिसम्बर की 'विश्ववाणी' में किया था और मैं समझ रहा था कि सरकार की मेहरबानी मुझपर होने वाली है। आख़िर आज १४ दिसम्बर को यू० पी० सरकार के वारण्ट पर मुझे दिल्ली में गिरफ़्तार किया जा रहा है। यह गिरफ़्तारी डिफ़ेंस आफ़ इण्डिया रूल्स की धारा २३ के अनुसार हो रही है। ईश्वर करे आज़ाद भारत में ही हमें अब अपने पाठकों से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हो।

मेरे बाद 'विश्ववाणी' का क्या होगा, मुझे नहीं मालूम ! १५-२० मिनट में मेरे लिये कुछ नया प्रबन्ध कर सकना नामुमकिन था। मित्रवर डाक्टर अख्तर हुसैन रायपुरी ने कृपा करके इसके सम्पादन का भार अपने ऊपर ले लिया है। अबसे 'विश्ववाणी' के कृपालु लेखक कृपया उन्हीं के पास ३ कमिश्नर लेन, सिविल लाइन दिल्ली, के पते पर लेख आदि भेजें। काग़ज़ की और दूसरी अनेकों परेशानियां हैं और यदि मेरे जेल में रहते हुए 'विश्ववाणी' का प्रकाशन स्थगित भी हुआ, तो पाठक क्षमा करेंगे। मेरे जेल से आते ही 'विश्ववाणी' अत्यन्त उन्नत रूप में उनकी सेवा में फिर पहुँचेगी।

साम्प्रदायिक समस्या आज हमारा सबसे बड़ा दुर्भाग्य है। 'विश्ववाणी' ने इसी समस्या के सुलझाने में अपनी जो-कुछ-सी शक्ति लगाई है। वह समस्या अपने विकराल रूप में ज्यों की त्यों हमारे

सामने है। वह हमारे रास्ते की सबमें बड़ी रुकावट है। हमें आज नहीं तो कल उसका ज़बर्दस्त मुक़ाबला करना होगा। उस वक्त 'विश्ववाणी' की आज से कहीं अधिक ज़रूरत होगी।

इधर पिछले दो वर्ष में पाठकों ने और कृपालु लेखकों ने जो कृपा हम पर की है, उसके लिये 'विश्ववाणी' उनकी बेहद आभारी है। हमें विश्वास है आगे भी इसी तरह उनकी कृपा बनी रहेगी।

४० ए, हनुमान रोड, दिल्ली
१४ दिसम्बर, ४२

विनीत
विश्वम्भरनाथ

श्री विश्वम्भरनाथ जेल में

'विश्ववाणी' के सम्पादक श्री विश्वम्भरनाथ जी १४ दिसम्बर की दुपहर को नई दिल्ली हनुमान रोड पर एकाएक गिरफ़्तार कर लिये गये। जनवरी का यह अङ्क अभी आधा प्रेस में और आधा तय्यार होना बाक़ी था। हमें यह सूचित करते प्रसन्नता होती है कि उनका काम डा० अख्तर हुसेन रायपुरी ने संभाल लिया है और इस अङ्क का शेष सम्पादन भी उन्होंने ही किया है। रायपुरी जी हिन्दी के पुराने लेखक हैं और आपकी कहानियों तथा लेखों ने हिन्दी साहित्य में काफ़ी सम्मान प्राप्त किया है। इसलिये 'विश्ववाणी' के पाठक यह भरोसा रख सकते हैं कि रायपुरी जी के हाथों में 'विश्ववाणी' अपने मार्ग पर क़ायम रहकर अपनी वर्तमान प्रतिष्ठा को भी क़ायम रख सकेगी और उनको भी विश्वम्भर जी का अभाव नहीं खटकेगा।

'विश्ववाणी' के संचालक कर्मवीर पण्डित सुन्दरलाल जी अगस्त मास से ही जेल में हैं। सहायक सम्पादक श्री बैजनाथ सिंह 'विनोद' भी पीछे गिरफ़्तार किये जा चुके हैं। अब श्री विश्वम्भर जी को गिरफ़्तार कर लिया गया है। ऐसी अवस्था में अपने कृपालु ग्राहकों और पाठकों का 'विश्ववाणी' को विशेष सहयोग ज़रूर मिलना चाहिये। हमें पूरा विश्वास है कि उनके इस सहयोग के सहारे हम 'विश्ववाणी' को और भी अधिक उन्नत बनाने में सफल हो सकेंगे। पण्डित जी और विश्वम्भर जी को जेल में इतना सन्तोष ज़रूर मिलना ही चाहिये कि जिस सांस्कृतिक एकता के महान कार्य का 'विश्ववाणी' द्वारा उन्होंने सूत्रपात किया था वह उनके जेल में जाने के बाद भी बराबर हो रहा है। यह सब कृपालु ग्राहकों एवं पाठकों के सहयोग पर ही निर्भर है। इस समय के आर्थिक संकट और काग़ज़ की भीषण महँगाई तथा अभाव में उनके इस सहयोग की और भी अधिक ज़रूरत है। 'विश्ववाणी' केवल पत्रिका ही नहीं; बल्कि एक संस्था है, जिसका पालन, पोषण एवं संवर्धन करना उन सबका कर्तव्य है, जिन्होंने इसको प्रारम्भ समय से ही अपनाया है।

—मैनेजर

मृत्यु पर विजय

आचार्य गुरुदयाल मल्लिक

सावित्री और सत्यवान की कहानी हिन्दू मात्र की जानी हुई है। सत्यवान के अवसान के बाद भी सावित्री ने अपने प्रेम के त्याग और विश्वास के तेज द्वारा सदा के लिये गए हुए को भी काल के कराल मुख से वापस लौटा लिया था। कवि ने सम्भवतः उसके मनोभावों को ही इन बहु परिचित पंक्तियों में प्रतिध्वनित किया था :

" O Death, Where is thy sting ?
O Grave, Where is thy victory ?

[ओ मृत्यु, तुम्हारा गरलदन्त कहाँ है !
ओ चिरसमाधि, तुम्हारी विजय कहाँ है !]

किन्तु यह कहानी सिर्फ़ कहानी नहीं है, वह एक परम-सत्य आध्यात्मिक अनुभव का परिचय है। यदि इस लोक से विदा लेने वाले के प्रति हमारा प्रेम सच्चा है तब फिर वियोग का सवाल ही नहीं उठता, क्योंकि सच्चा प्रेम असीम की पटभूमिका में ही प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक व्यक्ति को देखने का अभ्यासी होता है। जीवन की पूर्ण राशि में जिसे हम बाक़ी कहकर हाय-हाय करते हैं, ऋषियों ने क्या उसी को अक्षय आत्मा का ऐश्वर्य कहकर नहीं घोषित किया है ?

किन्तु अपनी चेतना के प्यार को हम किस तरह असीम, अक्षय और पूर्ण की पटभूमिका में देख सकते हैं ? उसे किस प्रकार विराट पारिपार्श्विक दान कर सकते हैं ? उलझन यहीं से तो शुरू होती है। प्रति दिन के जीवन के कामकाज में अपने सहयोगियों के साथ हम उनकी सत्ता के केवल परिवर्तनशील ऊपरी स्तर से ही अपना संपर्क रखते हैं, उसी को लेकर हमारा कारबार चलता है। धीरे-धीरे हम भूल जाते हैं कि प्यार करने वाला और प्यार पाने वाला—दोनों ही—"अमृतस्य पुत्राः" हैं। दोनों ही अक्षय हैं, अमर हैं। तभी मृत्यु आती है—मृत्यु जो देश और काल की भाषा में वियोग की बात सुनाया करती है—हमें याद दिलाने के लिये कि यह जो भूल जाने का आवरण है, यह जो अपनी सच्ची सत्ता को भुला देने की विडम्बना है—यही मिथ्या है, इसे ही भूल जाना होगा। और ये जो दुःख के आँसू हैं वे सूर्य के ताप के समान ऊपर के कठिन आवरण को विगलित करने के लिये ही बह रहे हैं, जिससे भीतर छुपा हुआ सत्य मुक्त हो जावे, अपनी बन्धनहीन पूर्णता को प्राप्त हो।

सावित्री-सत्यवान की कहानी का आधुनिक संस्करण कवि गुरु रवीन्द्रनाथ के जीवन में घटित हुआ था, जब उनका छोटा और सब से अधिक प्रिय एवं होनहार लड़का सोलह वर्ष की उम्र में ही सहसा चल बसा। अपने एक साथी के पास छुट्टियाँ बिताने वह गया था और वहीं सांघातिक रूप से बीमार पड़ गया। कवि उसकी शय्या के निकट तीन दिन तक रह सके। उसके अंत समय में कवि बाज़ू के कमरे में नीरव अंधकार के भीतर चुपचाप स्तब्ध होकर ध्यान करने लगे कि परम शांति के साथ वह मरणसागर को पार करके लोकांतर की यात्रा कर सके। ध्यान के भीतर से ही सत्ता उन्हें जो उपलब्धि हुई उसे उन्हीं के शब्दों में उद्धृत करता हूँ।

"हठात् मुझे एक समय ऐसा अनुभव हुआ मानो मेरा चित्त किसी ऐसे आकाश में उतराता हुआ पहुँच गया है जहाँ न अंधकार है न प्रकाश, केवल प्रशांत गांभीर्य है, चैतन्य का एक सीमाहीन सागर जिसमें लहरों का ज़रा-सा भी चांचल्य—हलका-सा भी शब्द नहीं है। मैंने अपने पुत्र की एक झलक देखी कि वह अनंत की गोद में सोया हुआ है और मैं चिल्लाकर पुकारने ही वाला था कि अब कोई भय नहीं है—वह संपूर्ण सुरक्षित है ! मुझे ठीक उस

पिता के समान लगा जिसने अपने बेटे को सागर पार भेज दिया है और खबर पाई है कि वह सब प्रकार निरापद भाव से अपने गंतव्य स्थल को पहुँच गया है—वहाँ सब प्रकार से सफलता लाभ कर रहा है।"

यह प्रेम ही है जो मृत्यु की रहस्यमय अज्ञात पहेली पर विजय प्राप्त करता है, जो यह जानता है कि अपने प्रिय जनों के सामीप्य में ही उनकी रक्षा नहीं छिपी होती, इस सामीप्य को पार करके अज्ञात लोकांतर में ही उनकी सार्थकता उपलब्ध होती है। सच्चा प्रेम इस उपलब्धि में सहायक होता है। प्रेम में ऐसा ही जादू, ऐसा ही रहस्य, ऐसा ही अनोखी शक्ति होती है। हम क्यों न इसी परम प्रेम के अभिनंदन में गीत गाएं!

शान्ति निकेतन

नयी उर्दू कविता के दो नमूने

उर्दू कविता में—और वस्तुतः पूरे उर्दू साहित्य में—भाव और भाषा दोनों की दृष्टि से तेज़ी से परिवर्त्तन हो रहा है। पुराने बंधन कट रहे हैं, नये नये साँचे बन रहे हैं। यहाँ उर्दू के प्रसिद्ध प्रगतिवादी कवि फ़ैज़ अहमद की दो कविताएं नक़ल की जाती हैं जिनसे नवीन शैली पर रोशनी पड़ती है—सम्पादक

बोल.............

बोल, के लब आज़ाद हैं तेरे,
बोल ज़बां अब तक तेरी है।
तेरा सुतवाँ जिस्म है तेरा,
बोल, के जां अब तक तेरी है।
देख के आहनगर[1] की दुकां पर,
तुंद[2] हैं शोले सुर्ख़ है आहन[3]।
खुलने लगे क़ुफ़्लों[4] के दहाने,
फैला हर एक ज़ंजीर का दामन।
बोल, ये थोड़ा वक़्त बहोत है,
जिस्मो-ज़बां की मौत से पहले।
बोल, के सच ज़िंदा है अब तक,
बोल—जो कुछ कहना है कह ले!

कुत्ते

ये गलियों के आवारा बेकार कुत्ते,
के बख़्शा गया जिनको ज़ौक़े-गदाई[5]।
ज़माने की फिटकार सरमाया[6] इनका,
जहां[7] भर की धुतकार इनकी कमाई।

१—लोहार २—तेज़ ३—लोहा ४—ताला ५—भीख मांगने का शौक़ ६—पूंजी ७—दुनिया

वेदान्त और तसव्वुफ़

डाक्टर ताराचन्द

हिन्दुस्तान के रहने वालों से इस्लाम ने तीन इलाक़ों में नाता जोड़ा। पहले पहल अरब सौदागर दकन के समुद्र तट पर आए और उन्होंने बंदरगाहों में अपने उपनिवेश और गोदाम क़ायम किए। मलाबार और कारोमंडल के किनारों पर उनकी सरायें और मस्जिदें फैलीं और उनके असर से बहुत से लोग मुसलमान हो गये। सौदागरों के साथ सिपाही, जहाज़ी, मौलवी, दरवेश सभी आये। हिन्दू पड़ोसियों पर उनके तौर-तरीक़ों और विचारों का प्रभाव पड़ा, जिससे हिन्दुओं की धार्मिक विचारधारा में एक नया प्रवाह आया। दकन के सुधारकों में नई रौशनी उजागर हुई और भक्ति आन्दोलन पर इसका गहरा असर हुआ। यह सब होते हुए भी दकन में इस्लाम का प्रभाव अप्रत्यक्ष रहा। इसमें प्रचार का भी हाथ था; पर असली काम सामाजिक और आर्थिक शक्तियों ने किया।

आठवीं सदी के शुरू में इस्लाम के बढ़ते हुए क़दमों की चाप सिंध में सुनायी दी, जो हिन्दुस्तान का सबसे पश्चिमी सूबा है। अरबों की ताक़त बढ़ रही थी और जहाज़रानी का सिलसिला जारी था। सिंध की चढ़ाई उसी ज्वार की एक लहर थी। इधर जो मुसलमान आये, वह शासक श्रेणी से सम्बन्ध रखते थे और उनमें सुसंस्कृत और सुशिक्षित लोग भी थे। लेकिन राजपूतों की चढ़ती हुई कला ने उनको आगे बढ़ने से रोक दिया। उधर अरबों के पास स्वदेश से सम्बन्ध रखने के साधन दुर्लभ थे इसलिये सिंध की वादी में जो रियासतें बनीं, उनकी नींव ज़्यादा मज़बूत न हो पायी। तो भी, उन्होंने एक बड़ा काम किया। अब्बास के घराने के ख़लीफ़ा विद्या के रसिया थे और उनके दरबार में सुदूर देशों के विद्वानों का जमघट रहता था। सिंध ने उन्हें हिन्दू ज्योतिषी, वैद्य और पंडित दिये जिन्होंने अरबों का दामन हिन्दुओं के ज्ञान से भर दिया। संस्कृत ग्रंथों के अनुवाद अरबी में हुए और इस तरह अरबों के ज्ञान की लौ और भी भड़की। उधर सिंध में सदियों तक जिन अरब कुटुम्बों का निवास रहा, उनके

(पृष्ठ ४ से आगे)

न आराम शबको, न राहत[८] सवेरे,
ग़लाज़त[९] में घर, नालियों में बसेरे।
जो बिगड़ें तो एक दूसरे से लड़ा दो,
ज़रा एक रोटी का टुकड़ा दिखा दो।
ये हर-एक की ठोकरें खाने वाले,
ये फ़ाक़ों से उकता के मर जाने वाले।
ये मज़लूम मख़लूक़[१०] गर सर उठा ले,
तो इनसान सब सरकशी[११] भूल जाये।
ये चाहें तो दुनिया को अपना बना लें,
ये आक़ाओं[१२] की हड्डियां तक चबा लें।
कोई इनको अहसासे ज़िल्लत[१३] दिला दे,
कोई इनकी सोयी हुई दुम हिला दे!

८—विश्राम ९—गन्दगी १०—जानदार ११—अभिमान १२—मालिकों १३—अपमान

कारण सिंधी भाषा में अरबी के अनगिनत शब्द चलन पा गये।

इसके कोई तीन सौ साल बाद मध्य एशिया की उपजाऊ घाटियों और अफ़ग़ानिस्तान की पहाड़ियों में रहने वाले क़बीले मुसलमान हो गये और उनकी राजनीतिक उठान ऐसे आज़ाद तरीक़े से हुई कि एक तरफ़ बग़दाद की खिलाफ़त और दूसरी तरफ़ उत्तर-पश्चिम हिन्दुस्तान की हिन्दू रियासतों का जीना दूभर हो गया।

महमूद के हमलों ने पंजाब के एक बड़े हिस्से को ग़ज़नवी घराने के क़ब्जे में ला दिया और इसके फल-स्वरूप जिस नयी संस्कृति की दाग़बेल पड़ी, उसका केन्द्र लाहौर बना। यहाँ वह कवि, अदीब, वैज्ञानिक और सूफ़ी जमा हुए जिन्होंने हिन्दुस्तान में इस्लाम के अदबी, धार्मिक और दार्शनिक विचारों को फैलाया। इस तरह ग्यारहवीं सदी के बाद से हिन्द और इस्लाम की संस्कृतियों में प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित हो गया।

पहिली नज़र में तो ऐसा लगा कि इन दोनों में पूरब पश्चिम का बैर है, सब देखने वालों को इनके भेदों ने ही प्रभावित किया। मिसाल के तौर पर दो की रायें सुनिये। अलबेरूनी जो ग्यारहवीं सदी के शुरू में हिन्दुस्तान आया, लिखता है : "पाठक को कभी न भूलना चाहिये कि हिन्दू हमसे हर मामले में बिलकुल जुदा हैं······अपने रस्मो-रिवाज में वह हमसे इतने अलग हैं कि हमारे नाम से, हमारे लिबास और तरीक़ों से अपने बच्चों को डराते हैं। हमें पिशाच कहते हैं और समझते हैं कि हम नेकी या अच्छाई का कोई काम नहीं कर सकते।" बाबर जो उसके पाँच सौ साल बाद आया, अपनी 'तुज़ुक' में लिखता है : "हिन्दुस्तान बड़ा ही सुहावना देश है। यह एक अलग ही दुनिया है। इसकी नदियाँ और पहाड़, जंगल और मैदान, जानवर और पेड़-पौधे, आदमी और बोलियाँ, हवा और बारिश—सब का रूप-रंग बिलकुल निराला है······सिंधुनद को पार करते ही आपको जो पत्थर पौधे, तौर-तरीक़े दिखाई देंगे वह पुकार पुकार कर कहेंगे कि हम हिन्दुस्तानी हैं।"

यह न समझना चाहिये कि अलबेरूनी और बाबर बाहरी रूप से धोखे में आ गये। क्योंकि शुरू में दोनों संस्कृतियों में ज़मीन आस्मान का अन्तर था। एक अरब के बीहड़ रेगिस्तान में परवान चढ़ी थी जहाँ की तपती हुई ज़मीन और कड़कते हुए आस्मान ने आदमी की आत्मा पर अनन्त शून्य और अलौकिक असीमता की छाप लगा दी थी। यह अहसास एक ऐसे धर्म में ज़ाहिर हुआ जिसमें अल्लाह की ताक़त का कोई हदो-हिसाब नहीं, पैग़म्बर कड़ी चेतावनी देने वाला है और आदमी एक मामूली बन्दा है। कला में इस भावना का प्रदर्शन उक़्लेदसी नक़्शों और अरबी गुलकारी में और इमारतसाज़ी में नुकीले मेहराबों, गोल गुम्बदों और सादी दीवारों में हुआ। दूसरी संस्कृति जंगलों में फूली-फली थी। हवा, पानी और मिट्टी ने मिलजुल कर यहाँ ऐसा कोलाहलमय जीवन पैदा किया था कि जानवर, पेड़ और आदमी सभी एक रस हो गये। जीवन की इस रेलपेल की छाप यहाँ के वेदान्त दर्शन में और उस बहुरूपी चित्रकला, शिल्पकला और निर्माणकला में दिखाई दी जिनमें रूपों और आभूषणों की बहुतात थी।

आरम्भ में दोनों संस्कृतियों में कितना ही बड़ा अलगाव हो, पर धीरे धीरे उनमें ज़बरदस्त तबदीलियाँ हुईं। यूनानी, ईसाई और हिन्दुस्तानी विचारों ने अरब चेतना में कायापलट करदी और उधर चीन, यूनान व मध्य एशिया के प्रभाव हिन्दू चेतना में रच गये। अपनी बढ़ती के ज़माने में उन्होंने ज़िन्दगी के जिन फ़लसफ़ों और जिन विचारधाराओं को जन्म दिया उनमें आदर्शवाद से लेकर वस्तुवाद तक सभी श्रेणियाँ शामिल थीं।

तोभी मध्य युग के ख़ासे हिस्से में इस्लाम और हिन्दू मत दोनों पर एक ही क़िस्म के ख़यालों का असर छाया हुआ था और जिन डगरों पर चलकर उनका विकास हुआ वह इस हद तक एकरूपी थीं कि हिन्दुस्तान में आमने-सामने आकर वह आपस

में घुलमिल गयीं और एक मिलवाँ कलचर में समा गईं।

हर कल्चर (संस्कृति या तहज़ीब) की बुनियाद किसी न किसी फ़िलासफ़ी पर होनी चाहिये, क्योंकि संस्कृति की सरगर्मियों का रूप या तो आध्यात्मिक होगा और या भौतिक। इनमें धार्मिक और नैतिक विश्वास, वैज्ञानिक ज्ञान, सौंदर्य-भावना, भाषा का रख-रखाव, सामाजिक रीति-रिवाज, कला और उद्योग-धन्धे, औद्योगिक तरीक़े और पैदावार सभी आ जाते हैं। इनका एक मक़सद बाह्य जगत पर और दूसरा अंतर्जगत पर अधिकार पाना है। प्रकृति की अन्दरूनी और बाहरी ताक़तों की ग़ुलामी से यही आदमी को आज़ादी दिलाती है। ज्ञान के बल से आदमी अपनी ख़ुदी को पहिचानता और हासिल करता है। ज्ञान के ही बल से आदमी प्रकृति (क़ुदरत) की ताक़तों को बस में लाकर उनकी ग़ुलामी के बन्धन से मुक्त होता है।

मध्य युग के हिन्दुस्तान में जो मिलवाँ कल्चर परवान चढ़ी, उसे समझने के लिये ज़रूरी है कि उन दार्शनिक प्रवृत्तियों को जांचा जाये जिन्हें हिन्दूमत और इस्लाम ने जन्म दिया। इनमें हिन्दू-मुसल्मानों के आपसी सम्बन्ध के दृष्टिकोण से सबसे ज़्यादा क़ीमती उनके रहस्यवादी फ़लसफ़े हैं।

हिन्दुस्तान में इस्लाम के आने से बहुत पहिले हिन्दू रहस्यवाद का दिग्दर्शन उपनिषदों में हो चुका था। बाद में पातञ्जलि ने योग सूत्रों में और बादरायण ने वेदान्त मे इसे सिलसिले से बिठाया। शङ्कर और रामानुज ने नवीं और ग्यारहवीं सदियों में वेदान्त सूत्रों पर टीकाएँ लिखीं और वेदान्त की जो व्याख्या रामानुज ने की, उससे 'भक्ति' का निखार हुआ। भक्तिवादियों की भी दो श्रेणियाँ थीं। एक तो वह जो सर्वशक्तिमान निराकार ईश्वर की साधना करती थी। दूसरी वह जो राम या कृष्ण के रूप में साकार भगवान की पूजा करती थी। नवीं सदी से लेकर मुसलिम ख़यालों की मौजें हिन्दुस्तानी विचार-धारा में घूमने लगी, और आगे चल कर उन्होंने भक्ति आन्दोलन के विकास को अपना रंग रूप दिया।

पुराने सूफ़ी सिलसिलों ने इस्लामी रहस्यवाद की नींव रखी। लेकिन दार्शनिक तर्क की शुरुआत दसवीं सदी में मंसूर-उल-हल्लाज से हुई। इस रहस्य-वाद के उसूलों को ग़ज़ाली ने ग्यारहवीं, सुहरवर्दी ने बारहवीं, इब्न अरबी ने तेरहवीं और अब्दुलकरीम जीली ने चौदहवीं सदी में तरक़्क़ी दी, पंदरहवीं सदी में जामी ने फ़ारसी ज़बान में इन उसूलों को एक जगह जमा कर दिया।

हिन्दुस्तान में सूफ़ी संतों ने केवल अपने ही बड़े बड़े रहस्यवादी दार्शनिकों के उसूलों पर अमल नहीं किया, बल्कि हिंदू रहस्यवादियों के विचारों और साधनों को भी सकारा। इस तरह मज़हबी सच्चाई की खोज में जो हिन्दू और मुसल्मान उस रास्ते चले जो आत्मा को उजालता है, वह इस नतीजे पर पहुँचे कि दोनों की मंज़िल एक है और उनकी तलाश का मक़सद भी एक है। अब उनकी समझ में आया कि "धार्मिक चेतना की गहराइयों में भेद-भाव या तकरार के लिये कोई जगह नहीं।"

यह ज़रूरी है कि इन फ़लसफ़ों की विवेचना करें और देखें कि उन में कौन कौन सी समानताएं हैं।

(क्रमशः)

हिन्दूकुश की सैर

अख़्तर हुसैन रायपुरी डी० लिट० (पेरिस)

[१]

मैदान के रहने वालों के लिये पहाड़ों में बड़ा आकर्षण है। पर सब पहाड़ सब को एक से नहीं भाते। ज़्यादातर लोग गर्मी से बचने या तोंद छाँटने के लिये ऊपर जाते हैं। उन्हें आवा-जाई और रहन-सहन की शहरी आसानियों की तलाश पहाड़ों पर भी होती है। वे अपने साथ मैदानों का एक हिस्सा ले आकर पहाड़ों की चोटी पर थोप देते हैं। उनके नीरस, परिवर्तनहीन जीवन की छाप शिमला और मसूरी जैसी जगहों पर देख लीजिये। रिस्तोराँ, सीनेमा, नाच घर, घुड़दौड़—इन सब से सस्ते मनबहलाव का सामान तो हो जाता है। पर पहाड़ों का वातावरण वहाँ कहाँ! जब तक उनकी चोटियों पर पैदल न चढ़िये, उनके नुकीले पत्थरों को तलवों पर महसूस न कीजिये, उनकी ख़ामोशी में जीवन के कोलाहल को गुम होते न देखिये, उनके उतार-चढ़ाव में प्रकृति की रूपरेखा को न पढ़िये—तब तक इस हेरा-फेरी से कुछ हासिल नहीं।

मानसिक शान्ति की तलाश में मैं भी कभी-कभी पहाड़ जाता हूँ। स्विटज़रलैंड और हिमालय में दूर दूर तक विचरने का मौक़ा मिला है। पर हिमालय में गर्मी के मौसम में गया, जब वहाँ पानी की कमी होती है। बे पानी का पहाड़ निजी जीवन की स्थिरता और दुनिया में अपने अकेलेपन की याद दिलाता है। पानी का बहाव प्रकृति के मौन को भङ्ग करके जैसे हर चीज़ को हरकत में ले आता है। आदमी को पत्थर की अचलता और पानी के बहाव—दोनों—की ज़रूरत है।

जुलाई में सरकारी नौकरी छोड़ देने के बाद फिर एक नये संकट का मुक़ाबला था। अपनी बची-खुची ताक़त को सिमेट कर फिर एक नयी परिस्थिति से लड़ना था। पर यूरोप की कुंज-गलियों और सरकारी दफ़्तरों में बरसों रहने के बाद यह ताक़त आत्मा की गहराइयों में सो सी गयी थी। इस जादू को जगाना था—कहीं दूर जाकर उन्हीं पहाड़ों के दामन में जिन्होंने पहिले भी कई बार मुझे सहारा दिया था।

ऐसे पहाड़ कहाँ हैं? सभ्यता के धनीधोरी हर जगह अपने दम्भ का प्रदर्शन करते मिलेंगे। किताबों और चौपायों को छोड़कर जैसे ही इन आदमियों का रुख़ कीजिये, यह काटने को दौड़ते हैं। पहाड़ ही जाना हो तो ऐसी दूर की कौड़ी लाइये जहाँ सभ्यता का रोग न पहुँचा हो। नक़्शे की पड़ताल करते-करते उत्तर की चरम सीमा पर दृष्टि पड़ी—चितराल, कश्मीर और सीमाप्रांत के बीच में तीन रियासतें एक पर एक सीढ़ी की तरह चढ़ती चली गयी हैं—स्वात, दीर और चितराल। इनमें चितराल सब से उत्तर में है। इसके ऊपर पामीर और रूस है, पूर्व में कश्मीर और काराकोरम और पश्चिम में अफ़ग़ानिस्तान व हिन्दुकुश। नीचे सीमाप्रांत है और उससे केवल एक प्रवेश-मार्ग है जिसे लाओरी की घाटी कहते हैं। यह घाटी भी कोई ११ हज़ार फ़ीट ऊँची है और अगर कोई ग़लती से दोपहर के बाद इधर से गुज़रने का इरादा करे तो हवा का ऐसा ज़ोर होता है कि उड़ कर खड्ड में ग़ायब हो जाये। अभी कुछ साल हुए कि दर्जनों सिपाही बीसियों खच्चरों के साथ इसी घाटी के अंधड़ में लापता हो गये।

यह सब जानकर मुझे विश्वास हुआ कि चितराल के पहाड़ों की प्राचीर अभेद्य है। वहीं चलना चाहिये। हिन्दुकुश के आह्वान को सकारना ही होगा।

[२]

चितराल पहुँचने का तरीक़ा यह है :

नौशेरा जंकशन से दुर्गई	···	छोटी रेल
दुर्गई से दीर	···	मोटर
दीर से लोआरी की चोटी	···	घोड़े की सवारी

यहाँ से चितराल रियासत की सीमा आरम्भ होती है। पहाड़ों से उतर कर वादी में पहुँचने के लिये पैदल चलना होता है।

जब हम नौशेरा पहुँचे तो दुर्गई की रेल छूट चुकी थी। लाचार टैक्सी लेकर दीर जाना पड़ा जो वहाँ से कोई डेढ़ सौ मील दूर है।

रास्ते में दायें-बायें देखते चलिये। नौशेरा से कोई १८ मील दूर मरदान है जिसके पास ही ख़ान अब्दुल ग़फ़्फ़ार ख़ां का गाँव चारसदा है।

यहाँ से कुछ ही मील पर धूलधूसरित पहाड़ियों के पीछे आज़ाद क़बीलों का इलाक़ा शुरू हो जाता है। वहीं बिजौर है जिसकी किसी गुफ़ा में फ़क़ीर इप्पी धूनी रमाये पड़े होंगे। इसकी विपरीत दिशा में 'याग़िस्तान' का आज़ाद इलाक़ा है जिसमें भारत के प्रवासी वहाबी मुसल्मान रहते हैं। इनके पूर्वज सन् १८६४-६५ में अंगरेज़ों से असहयोग करके घर-बार तज कर यहाँ चले आये थे।

अब आप स्वात नदी को पार कर रहे हैं। इसके दोनों किनारों पर दूर-दूर तक हरे-भरे खेत और फलों के पेड़ सर जोड़े खड़े हैं। सीमाप्रांत में आप हर जगह देखेंगे कि पानी के पास रहने वाले पहाड़ के पड़ोसियों की अपेक्षा शान्तिप्रिय होते हैं। इनमें पानी की तरलता होती है, उनमें पत्थर की कठोरता। पहाड़ों में रहने वाले लड़ाकों की भी दो श्रेणियाँ हैं। जिन सपाट पहाड़ियों में न घास उगती है न फूल खिलते हैं, उनके निवासियों में मानव-प्रेम की कमी होती है, पर ऊँचे पहाड़ों के रहने वालों की आन-बान अलग होती है।

स्वात की सरसब्ज़ वादी से गुज़र कर हम मलकान के क़िले के सामने पहुँच गये हैं। यह ब्रिटिश सत्ता का गढ़ और इन तीनों रियासतों के पोलिटिकल एजेंट का ठिकाना है। यहाँ से आगे जाने के लिये परवाना लेना होता है। इसके बिना ऊपर जाने की मनाही है। हमारा परवाना पहिले से तैयार रखा था, बल्कि चितराल के फ़ौजी दोस्तों की ओर से साथ चलने के लिये 'लेवी' के दो पठान बन्दूक़ची भी तैनात थे। हर पड़ाव में जो क़िलाबन्द डाक-बँगला होता है, उसे 'लेवी-पोस्ट' कहते हैं। 'लेवी' सचमुच में एक तरह की 'मिलिशिया' है जिसका काम सड़कों की चौकसी है। उसी इलाक़े के कबीले वाले 'लेवी' में भरती किये जाते हैं और उन्हें सरकार की ओर से वेतन मिलता है।

अब हम दीर रियासत में से गुज़र रहे थे। गाँव बाड़ों के अन्दर बसे हुए थे जिनके कोनों पर छोटे छोटे मीनार सन्तरियों के लिये बने हुए थे। यह सब पठानों की बस्ती है और हर छोटा-बड़ा कारतूस की पेटी बाँधे बन्दूक़ लटकाये अकड़ता चला आता है। ड्राइवर ने कहा कि खोपड़ी से टोप उतार दीजिये, कहीं कोई बिगड़ेदिल किसी ओर से छिपकर टोप को चांदमारी का निशाना न बनाये।

शाम होने वाली है। पठान औरतें अनाज या घास के गट्ठर पीठ पर लादे गल्ला हाँकती हुई घर लौट रही हैं। वे सब काले कपड़ों में छिपी हुई हैं और हमें देखकर पीठ फेर लेती हैं या गोरे गोरे हाथों से मुंह छिपा लेती हैं। उनके दुपट्टे दमक रहे हैं—सौन्दर्य की कांति से या आकाश की लालिमा से, पता नहीं। नन्हीं लड़कियां कौतूहल से हमें ताकती हैं। और उनके कटे हुए बाल माथे पर अल्हड़पन से हिलोरें खा रहे हैं। हवा सेब और नाशपाती की महक से बोझल है। अख़रोट व बादाम के पेड़ अपने सुहावने भार से लदे हुए हैं। चौपालों में बन्दूक़ों की क़तार के बीच में पठान भाट पुराने सूरमाओं की कीर्ति बखान रहे हैं और सितार की आवाज़ कभी कभी जोश में आकर "दग़ा दे—दग़ा दे" की टेक पर सब के साथ सिर धुनने लगती है। सड़क के दायें-बायें दो तर्फ़ा दूकानें लगी हैं जिनमें ख़ास तौर पर चाय ख़ानों में भीड़ है! हुक्के और चाय का दौर चल रहा है और कोई चारण अजब ख़ां या आलम ख़ां की कहानी सुना रहा है।

अब हम दीर के दीवारबन्द डाक-बङ्गले के सामने पहुँचे तो अंधेरा हो चुका था। नहाने के लिये गर्म

पानी और खाने के लिये दुम्बे की दुम का पुलाव तैयार रखा था।

दूसरे दिन का सफ़र बड़ा टेढ़ा है। सुबह और शाम के बीच में घोड़े पर और पैदल कोई तीस मील का दुर्गम पहाड़ी मार्ग तै करना है। हज़ार फ़ीट चढ़ना और इतना ही उतरना है। दायें-बायें गहरे खड्ड हैं और इनके बीचो-बीच पहाड़ों को काटती हुई पतली-सी पगडंडी साँप के समान लहरा रही है। यह सब से कड़ी मंज़िल है और इसकी कल्पना मात्र से हमारा उत्साह ठंडा पड़ा जाता है।

देवदार और चीड़ के ऊँचे ऊँचे पेड़ हमें रास्ता दिखा रहे हैं। एक पहाड़ी नदी शोर मचाती साथ-साथ चली जाती है और छोटे-मोटे झरने गुनगुनाते हुए उससे गलबहियां कर रहे हैं। कहीं कोई बस्ती मिल गई तो हम ठहर कर दम भर आराम कर लेते हैं। उसके बाहर चुनार के चार घने पेड़ों की शीतल छाया में नमाज़ पढ़ने का चबूतरा है। लीप-पोत कर उस पर सूखी हुई घास बिछा दी गई है। ग्रामीण हमें सशङ्क दृष्टि से घूरते हैं और उनके तेवर कह रहे हैं कि आप जितनी जल्दी यहां से चलते बनें उतना अच्छा होगा।

चुस्त और चालाक पहाड़ी घोड़ों ने हमें दोपहर तक लाओरी की चोटी पर चढ़ा दिया। दोनों ओर हिममंडित पर्वत श्रेणी है। इसलिये घाटी में हवा के बहाव का ऐसा ज़ोर है कि सड़क के मोड़ पर पल भर भी ठहरना ख़तरा मोल लेना है। हवा बर्फ़ में धुली हुई है और भरी दोपहर में हम ओवरकोट के अन्दर थरथरा रहे हैं। अब हज़ारों फ़ीट का ढलवां उतार है। इसमें घोड़े सवारी लेकर नहीं उतर सकते। हालांकि मुद्दत के बाद उन पर बैठ कर अंजर-पंजर ढीले हो गये हैं, फिर भी उन्हें प्रेम पूर्वक विदा करके हम आगे क़दम उठाते हैं।

जैसे जैसे नीचे उतरते जाते हैं, पाँव भरते जाते हैं, ताक़त जवाब देती जाती है। बर्फ़ की नालियां हमारी डगर के पास बह रही हैं लेकिन इनकी कच्ची बर्फ़ को मुंह में डालना रोग पालना है। रात बीते थके-हारे हम मीर-ख़ानी के लेवी-पोस्ट में क़दम रखते हैं। यहां बिच्छुओं और मच्छरों की भरमार है। पांव की रगें फटी पड़ती हैं, नींद हराम है। फिर भी यह संतोष है कि मंज़िल आ गई, सवेरे चितराल की घाटी की सैर करते होंगे।

(३)

चितराली पठान नहीं हैं। इनमें तुर्कों और कशमीरियों का खून मिला हुआ है। यहां के शासक 'मेहतर' कहलाते हैं'। 'मेहतर' फ़ारसी में राजकुमार को कहते हैं। इनका घराना तीन चार सौ साल से चितराल पर राज कर रहा है। इनके पूर्वज तुर्किस्तान से आये थे। चितराली बोली आदिम संस्कृत और तुर्की भाषा का विचित्र सम्मिश्रण है जिसमें फ़ारसी की भी थोड़ी-सी पुट मिली हुई है। इसमें संस्कृत के शब्द अपने शुद्ध रूप में इस तरह आते हैं कि अचंभे की हद तक नहीं रहती। 'स्त्री' 'अश्रु' 'हिम' 'कोमोरू' (कुमारी) ऐसे पचासों शब्द तो बातों ही बात में कान पड़ जाते हैं। पर चितराली की न अपनी लिपि है और न अपना साहित्य। सरकारी ज़बान फ़ारसी है और हिन्दुस्तानी आम तौर पर समझी जाती है।

चितराल को भारत से कोई लगाव नहीं, हमारे देश से इसे कभी कोई सरोकार न रहा और न किसी भारतीय विजेता का ध्यान इसकी ओर गया। कहते हैं कि मुसलमान बादशाहों के ज़माने में जिन्हें निर्वासन-दंड मिलता था वे इधर खदेड़ दिये जाते थे। अब भी जो लोग इधर सरकारी काम में आते हैं उन्हें 'समुद्र-पार' का भत्ता मिला करता है! इन्हीं सब बातों से चितराल का रुख हमेशा तुर्किस्तान की ओर रहा। इसीलिये यहां के गाँव, मकान, बाज़ार और आदमी तुर्क या ईरानी लगते हैं। उनकी वेश-भूषा और रहन सहन पर बड़ी हद तक तुर्कों का असर है। उनकी अपनी सभ्यता या संस्कृति नहीं है और न निज का कोई संगीत ही है! सुरनाई (शहनाई) दमामा, ढोल, डफ़ और सितार—यह उनके बाजों के नाम हैं। चितरालियों के जो नाच देखने में आये उनमें पठानों के प्रसिद्ध खट्टक नाच की नक़ल थी।

हां 'डैनी' 'छोज़' और 'सूची' यह इनके जातीय नाच हैं और अपनी जगह पर खूब हैं। चितराल के ऊपरी सूबे के 'अग्नि-परिक्रमा और 'राजहंस के नाच अपनी क़िस्म की अनोखी चीज़ें हैं।

हालांकि रियासत का रक़बा ख़ासा बड़ा है पर आबादी डेढ़ लाख से अधिक नहीं। खेती-बाड़ी पर लोगों का गुज़ारा है और लगान व चुंगी के सिवा उन्हें कोई टेक्स नहीं देना होता। न स्कूल, न अस्पताल; न रेडियो, न सीनेमा और न अख़बार। लोग अज्ञान के वैभव से मालामाल हैं। छः महीने बर्फ़ में दबे पड़े रहते हैं और बाक़ी छः महीने टामकटोइयां मारते फिरते हैं। यानी हम सचमुच ऐसी जगह पहुँच गये थे जो समाधिस्थली से भी अधिक प्रशांत थी। फलों की बहुतात है और उन्हें बाहर ले जाना असंभव है। इसलिये दो पैसे सेर के हिसाब से अंगूर और सेब ख़रीद लीजिये।

जब हम चितराल की वादी की सैर कर चुके फ़ौजी अफ़सरों और हिज़ हाइनेस की मेहमानी से थक चुके और ताज़ी हवा व नये वातावरण ने निज की और देश की समस्याओं की याद थोड़ी देर के लिये भुला दी, तो हमने ललचाई हुई आंखों से पर्वतमाला को देखा जो हमारे चारों ओर सिरबुलन्द खड़ी हुई थी। उत्तर में तिर्चमीर की चोटी दुल्हन की तरह बर्फ़ का घूंघट डाले कोहासे में छिपी हुई थी। इसकी उँचाई कोई २५ हज़ार फ़ीट होगी। इसके पीछे रूस की सीमा शुरू होती है। चितराल शहर से लगभग ४० मील की सीध पर खड़े होकर झांकिये तो 'लंगरकिशन' नामी रूस की हरावल चौकी दिखाई पड़ेगी। हमें न उधर जाने का अवकाश था और न साहस। या फिर तिर्चमीर के नीचे नीचे होते हुये मस्तूज की राह गिलगिट से काश्मीर निकल सकते थे। पर इसके लिये भी बड़े समय और प्रबन्ध की ज़रूरत थी। हमें तो 'हिंदूकुश के काफ़िरों' को देखना बदा था जो रियासत के पछवाहें एक दुर्गम घाटी में अफ़ग़ान सीमा की तलहटी में रहते हैं।

[४]

शायद आपने कभी 'काफ़िरिस्तान' का नाम सुना हो। यह अफ़ग़ानिस्तान के पूरब का एक सूबा है और इसी का एक सिलसिला ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों को चीरकर चितराल रियासत में घुस आया है। जैसा कि नाम से ज़ाहिर है यहाँ के रहने वाले 'काफ़िर' यानी मूर्ति-पूजक हैं। अफ़ग़ानिस्तान के सब काफ़िर पिछले पचास सालों के अन्दर मुसल्मान हो गये और अब उनके सूबे का नाम 'नूरिस्तान' कर दिया गया है। काफ़िर ले दे कर अब चितराल में रह गये हैं। उनके दो क़बीले थे—'लाल और काले'। इनमें से सब लाल काफ़िर मुसल्मान हो गये, केवल काले काफ़िर अपने मत पर चल रहे हैं। किसी ज़माने में यह लोग काले कपड़े पहिनते थे, इसीलिये इन्हें यह नाम मिला। वरना देखने में यह यूरोपियन से कम गोरे-चट्टे नहीं। काफ़िरों के इतिहास की ठीक-ठीक ख़बर किसी को नहीं। कोई इन्हें किसी भटके हुये यहूदी क़ाफ़िले की औलाद बतलाता है तो कोई सिकन्दर के नामलेवा यूनानियों की सन्तान कहता है। किसी का ख़याल है कि यह उन पुराने आर्यों की यादगार हैं जो मुसल्मानों से अपने धर्म को सुरक्षित रखने के लिये जंगलों और पहाड़ों में जा छिपे थे।

मालूम नहीं कब से यह काफ़िर यहाँ रस-बस रहे हैं। इतिहास में इनका ज़िक्र सबसे पहिले तैमूर ने अपनी डायरी (तुज़क) में किया है। इसके बाद Kircher नामी पादरी ने सन् १६६७ में China cellnstra नामी किताब में इनकी चर्चा किया। यह सुनकर कि यह लोग मुसलमान नहीं हैं, उसने सोचा कि हो न हो ईसाई होंगे। मध्य एशिया से जो महान् वाणिज्य-पथ (Trade Route) चितराल होता हुआ हिन्दुस्तान आता था, उस पर आने जाने वाले आर्मेनियन सौदागरों ने यही अफ़वाह यूरोप में फैला दी। इस झाँसे में आकर पादरी Gregorio Riot ने सन् १६७५ के लगभग काफ़िरों के देश की यात्रा की। उसे निराशा का मुंह देखना पड़ा क्योंकि वह लिखता है कि "यह लोग मूर्तिपूजक हैं। महादेव की पूजा

करते और शराब पीते हैं। इनमें अज्ञान का ऐसा गहरा अंधेरा है कि ईसाई धर्म की ओर इनका ध्यान भी न गया।"

इसके बाद दुनिया इन्हें भूल सी गई। अलबत्ता मुसल्मानों से इनकी सिरफुटौवल का सिलसिला जारी रहा और काफ़िरों के विषय में अजीब-अजीब बातें सुनी जाती थीं। अभी पचास साल पहिले तक इनमें नरमेध की प्रथा थी, खोपड़ियों की माला पहिनने का चलन था और जिसकी माला में जितनी अधिक खोपड़ियाँ होतीं, वह उतना ही शूर-वीर समझा जाता। पर अब इस पुराने क़बीले के चलचलाव का ज़माना है। सब लाल काफ़िर मुसल्मान हो गये हैं। काले काफ़िरों के भी केवल पाँच सौ घर रह गये हैं। यह सब 'बम्बरेत' की प्रसिद्ध घाटी में रहते हैं जो चितराल और अफ़ग़ानिस्तान के बीच में हिन्दूकुश की पर्वतश्रेणी से घिरी हुई है। इनकी ऊँचाई हर तरफ़ नौ से पन्द्रह हज़ार फ़ीट तक है।

सब के मना करने पर भी हमने इस रहस्यमयी घाटी की सैर का इरादा कर लिया। हमारे और काफ़िरों के बीच में एक चटियल पहाड़ था। यातायात की कमी के कारण इस पर कोई पक्की पगडंडी न थी और कच्चे पत्थरों के स्तर ने इन पर चलना दूभर कर दिया था। हालांकि इसकी ऊँचाई केवल नौ हज़ार फ़ीट थी पर आज तक हमें ऐसा कड़ा रास्ता न नापना पड़ा होगा। न कहीं घास का एक तिनका था और न पानी की एक बूंद। आठ घन्टे की लगातार चढ़ाई के बाद आठ मील चलकर जब हम चोटी पर पहुँचे, तो साँस फूल रही थी, शरीर पसीने में शराबोर था, पाँव जवाब दे चुके थे। सामने बम्बरेत की घाटी दो हज़ार फ़ीट के उतार पर थी। सारी घाटी कोई १५ मील लम्बी और दो से तीन मील तक चौड़ी होगी। उत्तर से वह दक्षिण की ओर चढ़ती चली गयी थी और १४-१५ हज़ार फ़ीट ऊँचे बर्फ़ के पहाड़ों के पीछे अफ़ग़ानिस्तान था।

इस घाटी का हर रज-कण पुकार पुकार कर कह रहा था कि हमारा व्यक्तित्व अलग है। बीचोबीच से 'बम्बरेत ग़ोल' नामी पहाड़ी नदी कलकल-नाद करती हुई चट्टानों को बहाती, अपने दुग्ध-श्वेत जल में अपना मुंह देखती बह रही थी। उसके किनारे बेद मजनूं की डालें पानी की बलैयाँ ले रही थीं। हर तरफ़ खेत ही खेत थे, जिनमें गेहूँ की बालें और सरसों के फूल दमक रहे थे। पहाड़ों की पोर-पोर से पानी की नहरें बह रही थीं और प्रकृति को यह जनपद इतना पसन्द था कि पत्थरों में लोहे और ताँबे की आभा फूटी पड़ती थी। भूमि के गर्भ से जो वैभव फटा पड़ता था उससे लाभ उठाने वाला कोई न था। एक जगह तो हम ने किसी झरने में पास ही पास पेट्रोल और सोने का पानी बहता देखा!

पर इस भौतिक सम्पत्ति की चर्चा का प्रसंग नहीं, क्योंकि यहाँ की असली शोभा कुछ और थी। नदी के आसपास काफ़िर कुमारियां गाय भेड़ चरा रही थीं या खेतों में काम कर रही थीं। उनके सुडौल शरीर एक गहरे भूरे लबादे में छिपे हुए थे जो गले से लेकर टखने तक लम्बा था और कमर पर कपड़े की पेटी से बँधा हुआ था। दो चोटियां माथे से निकाल कर सिर पर लौटा दी गयी थीं और एक अजीब से पहिनावे से ढँकी हुई थीं। यह मोटे कपड़े का बड़ा-सा रूमाल था जिसमें कौड़ियाँ टँकी हुई थीं और वह नाग-फन के समान उनके सुन्दर कपालों पर पड़ा हुआ था। यह लिबास कुछ कुछ पुरानी मिस्री औरतों का सा था जो फ़िरऔनों की समाधियों में सदा के लिये सो रही हैं। पर्वतमाला पर धूप में बर्फ़ चाँदी की तरह चमक रहा था, उसमें नीचे देवदार और चीड़ के विशालकाय पेड़ मर्मर ध्वनि में कोई कोरस गा रहे थे। यह जीवन का संगीत था—और आज तक अपने देश में हमें ऐसी सुषमा देखने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। पठान या चितराली औरतों की तरह काफ़िर सुन्दिरियों को अजनबी मर्दों से परदा न था। हां, हमें देखकर वे रास्ते से हट कर खड़ी हो गयीं और सङ्कोच से सरसों के फूलों को अपने जूड़े में खोंसने लगीं।

हमारे स्वागत के लिये घाटी का सबसे प्रसिद्ध व्यक्ति 'मलंग' पुल पर मौजूद था। बेकहे वह हमारा दुभाषिया और पथप्रदर्शक बन बैठा। टालस्टाय ने अपनी कहानी Cossacks में जिस बूढ़े शिकारी 'इरोशका' का ज़िक्र किया है, मलंग उसी का सा आदमी था। काफ़िरों के जो जानवर अफ़ग़ान सरहद में चले जाते थे, उन्हें वापिस ले आने का काम रियासत ने मलंग के सुपुर्द किया था। बहार के दिनों में इन सब इलाक़ों के घोड़े चरने के लिये पहाड़ों पर छोड़ दिये जाते हैं और महीनों वहीं रहते हैं। फिर भी आपस वाले कभी इनकी चोरी नहीं करते। हां, अफ़ग़ानों और काफ़िरों में इन्हें लेकर छेड़छाड़ चला करती है। और मलंग इसका निबटारा इस तरह करता है कि जितने जानवर गुम होते हैं, उतने ही सीमा-पार से चुरा कर ले आता है। अफ़ग़ानों से कई बार उसकी मुठभेड़ हो चुकी है। मलंग बन्दूक के निशाने और नाच-गाने में अपना सानी नहीं रखता। वह जानना चाहता है कि हम केवल 'बशाइक' (नाच) देखेंगे या 'जामज़ूर' (सुन्दर स्त्री) से भी पेंग बढ़ाएँगे। उसकी राय है कि 'बशाइक' तक तो ठीक है क्योंकि काफ़िरों के नाच दिलचस्प होते हैं, पर 'जामज़ूर' का मामला कुछ और है। कुमारी हो या विवाहिता वह हँसी-खुशी किसी पर-पुरुष के पास जाये तो कोई कुछ न कहेगा लेकिन प्रलोभन या ज़ोर-ज़बरदस्ती की सज़ा मौत है। नहीं, मलंग, हमें केवल 'बशाइक' देखना, काफ़िरों के रस्म-रिवाजों को समझना और पहाड़ों की सैर करना है। हम किसी काफ़िर बस्ती में जाकर किसी काफ़िर के घर रहना चाहते हैं ताकि इन्हें क़रीब से देखें।

मलंग के साथ हम घाटी में दाख़िल हुए। झबरेदार पहाड़ी कुत्तों ने हम पर भोंकना और नौमुस्लिम कठमुल्लाओं ने हमें घूरना शुरू किया। दो-चार काफ़िर बच्चे हमारे संग हो लिये। वे लव-कुश के समान मृग-बछाल या भेड़ की खाल ओढ़े हाथ में तीर-कमान लिये हुये थे। रास्ते में कहीं काफ़िरों के क़ब्रिस्तान थे और उनमें लकड़ी के लम्बे-लम्बे सन्दूक ज़मीन पर रखे हुए थे। काफ़िर अपने मुर्दों को उसके कपड़ों, गहनों और हथियारों के साथ सन्दूक में बन्द करके क़ब्रिस्तान में रख देते हैं, और इनकी रखवाली उनका बड़ा देवता 'मारा' करता है। उसकी मूर्त्ति पत्थर नहीं बल्कि लकड़ी की होती है और पहिनावा किसी यूनानी सौदागर का सा होता है।

हमारे ठहरने का प्रबन्ध 'करकाल' नामक गाँव में किया गया जिसमें काले काफ़िरों के सिवा कोई न बसता था। आम तौर पर घर लकड़ी के बने हुये थे और उनके साथ पत्थर के रोड़ों पर मिट्टी का गारा किये हुए अनाजघर थे। मकान दोमंज़िला थे, जिनके ऊपर आदमी और नीचे ढोर रहते थे। ऊपर जाने के लिये लकड़ी की सीढ़ी होती है जो ख़तरे के समय उठा ली जाती है। मलंग ने बतलाया कि हम 'चरबी-वाला' मलिकशाह के मेहमान होंगे। 'चरबी वाला' काफ़िरों की बोली में बड़े आदमी को कहते हैं। मलिकशाह बाल-बच्चों समेत नीचे जानवरों के साथ रहने चला गया और ऊपर की लम्बी कोठरी हमारे लिये खाली कर दी गयी। इसे धुलवा और झड़वा कर हमने कैंप-बेड बिछाया और बड़ी बड़ी खिड़कियों को खोलकर गाँव और पश्चाद्भूमि में नदी व पहाड़ का नज़ारा करने लगे।

काफ़िरों के घर में एक अलाव होता है जिसकी आग वे तापते हैं और उसी में खाना पकाते हैं। दिया जलाने का रिवाज नहीं है। लकड़ी की छोटी छोटी कमचियों से अन्दर-बाहर मशाल का काम लिया जाता है। सब पहाड़ियों के समान यह लोग भी गन्दे होते हैं और उनमें यह कहावत प्रचलित है कि 'जो चीज़ मैली हो जाती है उसे साफ़ करने से क्या फ़ायदा।' अलबत्ता प्रसव और मासिक धर्म के समय औरतें गांव से निकाल कर दूर के एक बाड़े में रखी जाती हैं जहां कोई नहीं जाता। शहद, मक्खन और पनीर—यह तीनों उनके मनभाते खाजे हैं, पर इनके भांडार को औरत नहीं छू सकती। यह सम्मान केवल सर्व शक्तिशाली पुरुष को प्राप्त है। खेती-बाड़ी और घर-बार का काम औरतें ही करती

हैं, मर्द शिकार और नाच-गान में समय काटते हैं, रात को सोने से पहिले मर्द के पाँव धोना औरत की दिनचर्या में शामिल है।

शाम होते ही नदी-किनारे के मैदान में 'नाच' का सरजाम होने लगा। ज़मीन साफ़ की गयी, लकड़ी के बड़े बड़े कुंदे काट कर होली की सी आग जलाई गई और नगाड़े पर चोट पड़ने लगी ताकि दूर-दूर के काफ़िरों को 'बशाइक' की सूचना हो जाये। जब अंधेरा हो गया तो हर तरफ़ से बिछुवे झनकने लगे, मशालें टिमटिमाने लगीं और मलंग ने हमें जताया कि नाच की तैयारी हो चुकी, बस आप की देर है।

नदी धीमे सुरों में कोई बाज सा बजा रही थी, हिमाच्छादित पर्वतों के शृंग पर अर्धचन्द्र हंसली की तरह पड़ा हुआ था, बीच में अलाव की आग धधक रही थी और उसके चारों ओर कोई पचास औरतें और इतने ही मर्द घेरा डाले खड़े थे। घेरे के बाहर ढोल बज रहे थे। आग की रोशनी ने आदमियों की छाया को प्रेताकार बना कर फैला दिया था और ऐसा अजीब समाँ था कि हम थोड़ी देर के लिये भौचक्के रह गये। घेरे के बाहर तिपाई पर हम बैठ गये; ढोल ने कोई हलकी सी गत छेड़ी, काफ़िर सुन्दरियां तीन तीन की टुकड़ी में बंट गयीं, उनके नूपुर हौले से तिलमिलाये, उनके मीठे सुरों ने कहा—

हमारे देश में परदेशी आये हैं—परदेसी आये हैं।

किसी किसी ने आंखों के चारों ओर बकरे के सींग का लेप कर लिया था और अपने सिंगार पर इतरा रही थी। बीच बीच में मर्द "हो हो हो हो" का नारा लगा उठते थे और कुंवारे बरछी या लकड़ी हिलाते हुए नाचने वालियों के आस पास मडलाते और अपनी चहेती का हाथ पकड़ कर 'पोलका' का सा नाच शुरू कर देते। दूसरा नाच सिपाहियों का था, जिसमें ढोल की ललकार पर सब जंगी नारे बुलन्द करते और पैतरे बदल कर किसी कल्पित शत्रु पर हमला करते थे। उनका जोश बढ़ता गया, नगाड़े की झाई से वायु-मण्डल कांप उठा और बरछियों व तलवारों की लपा-झपी ने हमें डरा दिया। अगर कहीं इन्हें अपनी पुरानी रीति याद आ जाये और यह हमें 'मारा' देवता पर चढ़ाने का फ़ैसला कर लें तो क्या हो!

अब आधी रात हो रही थी। आख़िरी नाच में हम घेरे के अन्दर ले लिये गये। किसी मेहमान के प्रति यह सब से बड़ा सम्मानप्रदर्शन है। सब हाथ में हाथ दिये, पांव मिलाये आग का चक्कर लगाते जाते थे और उनके गीत की यह टेक थी—

परदेसी चला जायेगा—हाय, वह हमारा दिल भी ले जायेगा।

हमारी नज़र एकाएक एक नवयौवना पर पड़ी जो अपने मृगनयनों पर उँगलियां फैलाकर हमें काफ़िरों की प्रेम-वन्दना कर रही थी। उसका कोमल गात एक काले लबादे में फूल के समान खिल रहा था और वह चढ़ती जवानी में भरपूर थी। मलंग ने बतलाया कि उसका नाम 'गुलून' है और वह 'चरबी-वाला अय्यूब की धेवती है।

हर रात को यह नाच होता है और गुलून को चुपके-चुपके देखने से हम अपने को नहीं रोक सकते। वह इठलाती है, बल खाती है और अय्यूब या अपने बाप टिंगल की तीखी चितवन से कतरा कर सहेली शर्गुल या सखी नमकी से चुहल करने लगती है। अय्यूब प्राचीनकाल के यहूदी पैग़म्बरों की तरह अपनी लम्बी सफ़ेद दाढ़ी हवा में लहराता हुआ नाच का मैनेजर बना हुआ है। मलंग हमारे पास संजय बना बैठा कह रहा है कि साल में एक बार जवान लड़कियाँ और लड़के इसी मैदान में इकट्ठा किये जाते हैं। अगर कोई लड़का किसी कुमारी का हाथ पकड़ ले तो समझा जाता है कि वह उससे विवाह करना चाहता है। लड़की हाथ न छुड़ाये तो उसके माँ-बाप लड़के से पूछते हैं कि वह दहेज़ में कितनी ज़मीन और ढोर देगा। यह समस्या हल हो जाने के बाद विवाह हो जाता है। पर यदि लड़की ने हाथ छुड़ा लिया तो विवाह नहीं हो सकता।

पौ फटते ही हम पहाड़ों की सैर के लिये जाते हैं और रास्ते में गुलून को देखते हैं जो गाय हाँकती

या उपले थोपती मिलेगी। दोपहर को जब हम थक कर लौटते और किसी चट्टान पर लेटकर इस नवदेश की बातें सोचते हैं तो वह मलंग के साथ हमारे पास आती और उस संसार की बातें पूछती है जिससे भाग कर हम यहाँ आये हैं। टालस्टाय के हीरो 'ओलिनिन' से क़ज़्ज़ाक सुन्दरी मिरयान्का ने जैसा दुर्व्यवहार किया था, गुलून हमसे वैसा बर्ताव नहीं करती। वह निष्पाप और निष्कलंक है। वह वाल्टर स्काट की भोलीभाली लूसी है, जिसे इन्हीं जंगल पहाड़ों में खिलना और मुरझाना है।

कल इस दिव्य भूमि से चले जाना है। गांव से दूर चट्टानों पर हम मनमारे बैठे हैं। चांदनी चटकी हुई है और चकोरों के विलाप के सिवा कुछ नहीं सुनाई देता। शायद यह शान्ति फिर नसीब न हो। मनुष्य को उसकी आदिम अवस्था में कभी न देख सकें। वापसी के बाद उन्हीं आदमख़ोरों का सामना होगा; खेती में भूख उगती होगी, बाज़ारों में ग़रीबों का मांस बिकता होगा। उस भीड़भाड़ में हम बेज़बान पेड़ों के समान अलग खड़े होंगे।

गांव में कहीं एकतारा बज रहा है और उस पर गुलून उदास सुरों में गा रही है—

परदेसी किसी के नहीं होते
वह आते हैं और चले जाते हैं।

काफ़िरों के देश, अलविदा! अगर तू मुल्लाओं के चुंगल से बचा रहा तो फिर कभी आयेंगे।

विचार तरङ्ग (३)

श्री 'चारवाक'

रूसो ने लम्बी आह भर कर कहा था। "मनुष्य जन्म से स्वतन्त्र है पर सब जगह वह परतन्त्र, गुलाम है" रूसो की तरह गहरी साँस लेकर, कलेजा थाम कर, मुझे भी कहना पड़ता है—"विचार स्वातन्त्र्य की महिमा का गान सब कोई गाते हैं पर विचार-स्वातंत्र्य कहीं नहीं"। जिस किसी देश और युग की आलोचना की जाय, सर्वत्र मनुष्य की ज़बान पर लगाम लगी मिलती है।

हिन्दू धर्म को सब से प्राचीन मज़हब बताते हैं। वहाँ भी यद्यपि मनुष्य और उसके विचारों को स्वतंत्र और साक्षात् ईश्वर का रूप व उसकी वाणी माना है, परन्तु विचार प्रकट करने, शास्त्रों और वेदों के अध्ययन और मनन करने अथवा सुनने की स्वतंत्रता सब मनुष्यों को नहीं। शूद्रों के लिये कहा गया है कि वे वेद व शास्त्र का पाठ करें तो उनकी ज़बान काट ली जाय, और सुनें तो कानों में शीशा भर दिया जाय।

यूरुप ने आज़ादी और विचार-स्वातंत्र्य का झण्डा उठाया है। पर वहाँ की असली कार्रवाई पर नज़र डाली जाय तो वहां एक भी देश नज़र नहीं आता जहाँ मनुष्य को अपने विचार प्रकट करने की सुविधा अथवा आज़ादी हो। इस मानव व्यवहार से क्या सार निकलता है? मनुष्य का शरीर और वाणी-सदैव, सब जगह, परतन्त्र है। संसार में जिसका लट्ठ उसकी भैंस अथवा मत्स्यनाय का बोल बाला है। जब तक राजकर्ता अथवा धर्म्म के ठेकेदारों को किसी व्यक्ति की चेष्टा अथवा आवाज़ से, ठेस नहीं लगती, तब तक जो चाहो कहे जाओ, या किये जाओ। पर ज्योंहीं इनमें से किसी के सत्व अथवा शासन में अड़चन पड़ने की सम्भावना हुई बस गुलामी की ज़ंजीर शरीर या ज़बान पर जकड़ दी गई।

तो क्या मनुष्य को परतन्त्रता की बेड़ियों को धारण कर, हाथ पर हाथ रखकर, बैठ जाना चाहिये? नहीं। आदमी जंग के लिये जन्मा है। संघर्षण मानव जीवन की कसौटी है। उसे सदैव परतन्त्रता, पराधीनता, की ज़ंजीर को तोड़ने का प्रयत्न करते रहना चाहिये। इसी में मानव जीवन की सच्ची सफलता है।

गीत

श्री गोपीकृष्ण

मैं ख़ुश हूँ, नाराज़ नहीं हूँ !
मैंने माना, मानव का गुण
हँसना है, रोना भी,
लेकिन अपने दुख में उसने
अलसित अंगड़ाई ली,
मैंने जो कुछ जाना - माना, दुनिया ने सब जाना,
जिसे न कोई जाने - समझे,
मैं तो ऐसा राज़ नहीं हूँ !
मैं ख़ुश हूँ, नाराज़ नहीं हूँ !!

मैंने माना, प्यार घृणा का
एक रूप है मानव,
कभी - कभी जब सुन लेता हूँ,
उसके अन्तर का रव,
सोच सका हूँ मैं—अपना है रोग स्वयं ही रोगी;
बोल रहा हूँ, डोल रहा हूँ,
हंसता हूँ, नासाज़ नहीं हूँ !
मैं ख़ुश हूँ, नाराज़ नहीं हूँ !!

एक पथिक जिसका दस डग घर,
कुछ गाता आता है,
चंदा बनकर कभी चमकता,
तारे बन जाता है,
और किसी के चिर यौवन से जिसका जीवन जगमग
जिसका स्वर - स्वर क्षण भर में ही धरा - गगन में गूंजा,
उसकी एक गूंज मैं भी हूँ,
किंतु···किंतु···आवाज़ नहीं हूँ।
मैं ख़ुश हूँ, नाराज़ नहीं हूँ !!

सोवियत् और जापान की दोस्ताना सन्धि

डाक्टर लतीफ़ दफ़्तरी

अप्रेल सन् १९४१ में सोवियत् के आग्रह पर सोवियत् और जापान में ग़ैर जानिबदारी का एक समझौता हुआ। हालांकि समझौता सोवियत् के आग्रह पर हुआ किन्तु जापानी सरकार इस तरह के समझौते के लिये कुछ कम उत्सुक न थी। समझौते की छोटी अवधि और शर्तनामे की शब्दावलि दोनों से पता चलता है कि समझौता करने में सोवियत् ने बड़ा सतर्क भाव रखा। इस समझौते का नाम 'न्यू-ट्रालिटी एग्रीमेएट' (ग़ैर जानिबदारी या तटस्थता का समझौता) पड़ा। यह उस अनाक्रमण समझौते (नान-एग्रेशन पैक्ट) से भिन्न था जो सोवियत् रूस और चीन में हुआ था और उस अनाक्रमण समझौते से भी भिन्न था जो दस वर्षों के लिये सोवियत् रूस और जर्मनी में हुआ था। सोवियत् जापानी समझौते की अवधि केवल पाँच वर्ष की है। इसके बाद ज़रूरत पड़ने पर यह अवधि पाँच वर्ष के लिये और बढ़ाई जा सकती है। दोनों सन्धिकर्ताओं ने इस बात की प्रतिज्ञा की कि वे आपस में "शान्तिपूर्ण और दोस्ताना बर्ताव" रखेंगे और एक दूसरे की "भौगोलिक सीमाओं की अखण्डता और अभेद्यता" को पूरी तरह मानेंगे। दोनों सन्धिकर्ताओं ने यह भी वादा किया कि यदि उनमें से कोई एक या अनेक देशों द्वारा लड़ाई का शिकार बनाया जावे तो वे उस पूरे युद्ध में तटस्थता बरतेंगे।" इस सुलहनामे की एक अतिरिक्त घोषणा में दोनों ने यह भी वादा किया कि वे अपने पहले के संघर्ष क्षेत्रों यानी बाहरी मंगोलिया और मांचुकुओ में भी शान्ति रखेंगे।

अपने पड़ोसी मुल्कों के साथ सोवियत् की वैदेशिक नीति का स्पष्टीकरण करते हुये जोसफ़ स्तालिन ने मार्च १९३९ की कम्यूनिस्ट पार्टी कांग्रेस की रिपोर्ट में लिखा था—

"जिन पड़ोसी राष्ट्रों की सीमायें सोवियत् के साथ मिलती हैं उन सबके साथ हम शान्तिमय और दोस्ताना सम्बन्ध क़ायम रखना चाहते हैं। यह हमारा मन्तव्य है। हम उस समय तक इस मन्तव्य पर दृढ़ रहेंगे जब तक ये राष्ट्र सोवियत् यूनियन के साथ इसी तरह का सम्बन्ध क़ायम रखेंगे और सीधे या टेढ़े तरीक़े से सोवियत् की सीमाओं की अखण्डता और अभेद्यता को भङ्ग न करेंगे।"*

क़ुदरती तौर पर सोवियत् की वैदेशिक नीति की ख़ास तवज्जह उन मुल्कों की तरफ़ लाज़मी है जिनकी सीमायें सोवियत् यूनियन की सीमाओं को छूती हैं। किन्तु यह बात नहीं भूलनी चाहिये कि सोवियत् की वैदेशिक नीति का मूल आधार पड़ोसी राष्ट्रों के साथ शान्ति से रहना है। किन्तु इस नीति के होते हुये भी स्तालिन ने स्पष्ट कहा था—"हम उन मुल्कों की मदद करने के लिये प्रतिज्ञाबद्ध हैं जिन पर अकारण हमला किया गया है और जो अपने मुल्क की आज़ादी के लिये लड़ रहे हैं।"

इसलिये सोवियत् जापानी ग़ैर जानिबदारी समझौते की दो विशेषताएँ हैं। एक तो इससे सोवियत् रूस की पड़ोसी राष्ट्रों के साथ दोस्ताना नीति के आधार पर सोवियत् और जापान का सम्बन्ध स्थापित हुआ और दूसरे सोवियत् और चीन के सम्बन्ध या अपनी आज़ादी के लिये लड़ने वालों को मदद देने की सोवियत् की नीति पर इस समझौते का कोई असर नहीं पड़ा। इस समझौते का वास्तविक अर्थ यह था कि अपनी स्थायी नीति के अनुसार सोवियत् जापान से इसलिये दोस्ताना बर्ताव रखने को तैयार हुआ

* सोवियत् यूनियन की १८वीं कम्यूनिस्ट पार्टी कांग्रेस [मास्को १९३९] में स्तालिन की सेन्ट्रल कमेटी के कार्य की रिपोर्ट, पृष्ठ—१७।

चूंकि "जापान भी सोवियत् के साथ दोस्ती बरतना चाहता था।" सच पूछा जाय तो इस समझौते के अनुसार जापान की ही नीति में साफ़ परिवर्तन दिखाई देता है। जापान सोवियत् के साथ दोस्ताना बर्ताव रखने को उत्सुक हुआ और उसकी सरहदों की अखण्डता को उसने माना और मङ्गोलिया की रिपब्लिक की सीमाओं में दख़ल न देने की उसने क़सम खाई। इस समझौते के कारण सुदूरपूर्व और यूरोप की संकटपूर्ण परिस्थिति में सोवियत् और जापान के आगामी युद्ध का तात्कालिक ख़तरा टल गया। सोवियत् इस मौक़े पर जापान के साथ युद्ध मोल नहीं लेना चाहता था। किन्तु इस समझौते से सोवियत् की व्यापक और स्थायी नीति पर कोई असर नहीं पड़ा और न इसका सोवियत् की चीन की मदद पर ही कोई असर पड़ा।

सन् १९१७ की बोलशेविक क्रान्ति के बाद जापान ने सोवियत् यूनियन की सुदूर पूर्व सीमाओं पर आक्रमण किया। उस समय सभी शक्तियाँ और ख़ास तौर पर ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और अमरीका की फ़ौजें सोवियत् रूस के बन्दरगाहों पर घेरा डालकर सोवियत् सेनाओं को भूखा मारकर कुचल देना चाहती थीं; लेकिन सोवियत् पर इस हमले में जापान ने प्रमुख हिस्सा लिया। जाहिरा जापान ने इस हमले का यह उद्देश्य बताया कि वह क्रान्तिकारी रूस में 'अमन व आमान' क़ायम करना चाहता है, मगर जापान का वास्तविक उद्देश्य इस बहाने सोवियत् के पूर्वीय हिस्से पर क़ब्ज़ा करना था। इङ्गलैण्ड की सहानुभूति जापान के साथ थी। वह जापानी साम्राज्यवाद को साइबीरिया में 'गुञ्जाइश' देना चाहता था। सोवियत् के मुख्य पत्र 'इज़वेस्तिया' ने जापान के इस हमले का उद्देश्य साइबीरिया पर क़ब्ज़ा करना बताया और लिखा कि "ब्रिटेन जापान के साथ मिलकर सोवियत् के सर्वनाश की योजना कर रहा है" और 'मालूम होता है अमरीका की सरकार इस जापानी आक्रमण के विरुद्ध है।" जापान का यह हमला नाकामयाब रहा और जापानी फ़ौजें सोवियत् सीमा से खदेड़कर बाहर कर दी गईं।

जापान की इस लजाजनक पराजय का परिणाम यह हुआ कि सोवियत् और जापान में मित्रतापूर्ण राजनैतिक सम्बन्ध स्थापित हो गया और दोनों मुल्क सन् १९३१ तक शान्ति से अच्छे पड़ोसियों की तरह रह सके। इसके बाद जापान ने मंचूरिया पर हमला किया और इसके साथ ही सारे जापान में सोवियत् के प्रति विरोध प्रदर्शन शुरू हो गया। लितवीनोव ने, जो उस समय सोवियत् के वैदेशिक मन्त्री थे, दिसम्बर १९३३ में यू० एस० एस० आर० की सेन्ट्रल एक्ज़िक्यूटिव कमेटी के सामने अपने व्याख्यान में जापान की नई सोवियत् विरोधी नीति का कड़े शब्दों में चर्चा की। उन्होंने कहा—"जापान ने अपना सैनिक आक्रमण दो वर्ष पूर्व शुरू किया। जापान को यह विश्वास था कि उसके यह ऐलान करने भर की देर है कि वह सोवियत् के विरुद्ध लड़ रहा है और सारी पूंजीवादी दुनिया उसके इस काम के लिये उसे आशीर्वाद देगी और उसका अहसान मानेगी।"* इसी व्याख्यान में लितवीनाव ने फिर इस बात को दोहराया कि सोवियत् जापान के साथ शान्ति से रहना चाहता है। उन्होंने कहा —"हम जापान से कहते हैं: हम तुम्हें धमकाते नहीं; हमें तुम्हारी ज़मीन नहीं चाहिये और अपनी सीमाओं से बाहर हमें तुम्हारी सीमा में घुसने की आकांक्षा नहीं जिस तरह हम अब तक रहते आये हैं उसी तरह शान्ति से तुम्हारे साथ रहना चाहते हैं; हम तुम्हारे अधिकारों और तुम्हारे हितों में दख़ल नहीं देना चाहते; केवल हम यही चाहते हैं कि तुम भी हमारे अधिकारों और हितों में कोई दख़ल न दो।" उन्होंने यह भी कहा कि १९३१ तक जापान के साथ हमारा बहुत अच्छा सम्बन्ध था; यहाँ तक कि "हमने अपनी

---

* Stalin, Molotov, Litvinov: Our Foreign Policy, Moscow-Leningrad, 1934, PP. 43-49.

सुदूरपूर्व सीमाओं को अरक्षित छोड़ रखा था।" जापान का मंचूरिया पर आधिपत्य, पोर्टसमथ सुलहनामें (जिसका पीकिंग के अहदनामे में समथन हुआ था और जो १९०४-५ के रूस-जापान युद्ध के बाद हुआ था) के बिलकुल विपरीत था और जापान को इस अहदनामे के अनुसार मंचूरिया में इतनी बड़ी फ़ौज रखने का कोई अधिकार न था; किन्तु सोवियत् ने जापान के साथ लड़ना मुनासिब नहीं समझा। सन् १९३१ में सोवियत् ने जापान के साथ अनाक्रमण सन्धि करनी चाही मगर जापान ने इनकार कर दिया। सन् १९३३ में झगड़ा बचाने के लिये सोवियत् ने अपने हिस्से की चाइनीज़ ईस्टर्न रेलवे जापान के हाथ बेच दी। चूंकि सोवियत् सीमा पर जापान के फ़ौजें इकट्ठा करने से सोवियत् को सीधा ख़तरा था इसलिये सोवियत् को भी अपनी रक्षा के लिये ज़रूरी फ़ौजी इन्तज़ाम करना पड़ा। किन्तु यह इन्तज़ाम "महज़ बचाव के लिये" था और सोवियत् यूनियन जापान के विरुद्ध धावा बोलकर "मौक़े से फ़ायदा" नहीं उठाना चाहता था।

सन् १९३१ से लेकर सोवियत् जापान के प्रति अपनी नीति में दृढ़ और एकसा रहा। उसके मन में जापान पर हमला करने की कभी कोई भावना नहीं आई। सोवियत् की नीति रही है—जापान सोवियत् पर हमला न कर सके, यदि सचमुच जापान कोई हमला करे तो उसे मार कर भगाया जा सके, सोवियत् की सुदूर पूर्व की सीमाओं की अखण्डता क़ायम रह सके, बाहरी मंगोलिया के साथ सोवियत् का जो आपसी मदद का समझौता है उसकी जापान इज़्ज़त करे, चीन के साथ सोवियत् का जो दोस्ताना और मदद देने का समझौता है उसमें जापान कोई हस्तक्षेप न कर सके, दूसरे मुल्कों की जापान और सोवियत् को लड़ाने की कोशिशों को बेकार किया जा सके और दोनों मुल्कों में शान्तिपूर्ण और दोस्ताना सम्बन्ध क़ायम किया जा सके। गत दस वर्षों से जापान के प्रति सोवियत् की यही नीति रही है और इसी ऐतिहासिक पार्श्व भूमि में हम सन् १९४१ के सोवियत् जापान समझौते को समझ सकते हैं।

जापानी फ़ौज बराबर मंचूरिया की सीमा के भीतर घुसकर धावा बोलती रही लेकिन बाद में सोवियत् ने उसकी वह ख़बर ली कि जापानी फ़ौज परेशान हो गई। जुलाई सन् १९३८ में जापान ने च्वांगकुफेंग पहाड़ी के पास सोवियत् मंचूरियन सीमा पर हमला किया। सोवियत् ने आक्रमणकारियों को निकालने के लिये हैवी बाम्बर, तोपख़ाना, टैंक और बेयोनेट का भीषण हमला किया। इसी समय लितवीनाव ने मास्को स्थित जापानी राजदूत को साफ़ साफ़ कहा कि यदि जापानी फ़ौज ने फिर सोवियत् सीमा को पार किया तो इससे भी ज़बरदस्त सज़ा उसे दी जावेगी। इसके बाद तोकियो ने सन्धि की प्रार्थना की जिसे मास्को ने स्वीकार कर लिया। लेकिन १९३९ के शुरू में जापान ने मांचुकुओ-मंगोल सीमा पर नोमनहान ज़िले पर धावा किया। मंगोलों के साथ सोवियत् का आपसी मदद का समझौता था। जापान का ख़याल था कि चूंकि यह हमला सोवियत् पर सीधा हमला नहीं है इसलिये सोवियत् नज़र बचा जायगा। मोलोतोव उस समय सोवियत् सरकार के सभापति और वैदेशिक मन्त्री थे। उन्होंने ३१ मई १९३९ को सोवियत् की सुप्रीम कौंसिल के सामने नोमनहान वाक़ये के सम्बन्ध में कहा—

"जिन लोगों का इससे सम्बन्ध है उन्हें यह समझ लेना चाहिये कि सोवियत् सरकार अपनी सीमाओं पर जापानी फ़ौजों के दख़ल को हरगिज़ गवारा न करेगी। हम उन्हें फिर से याद दिलाना चाहते हैं कि उन्हें मंगोल रिपब्लिक की सीमाओं में दख़ल देने का हक़ नहीं है। मंगोल रिपब्लिक और यू. एस. एस. आर. में जो आपसी मदद का समझौता है उसके अनुसार सोवियत् मंगोल रिपब्लिक को मदद देने के लिये बाध्य है। सोवियत् सरकार अपने सुलहनामे पर गम्भीरता से अमल करने का

इरादा रखती है। इस सुलहनामे के अनुसार हम मंगोल रिपब्लिक की सीमाओं की रक्षा करते रहे हैं।"

जापानियों के इस कथन को कि मंगोलों ने जापानी सेना पर हमला किया मोलोतोव ने "उपहासास्पद और बेहूदा" बताया और जापानियों को आगाह किया कि शक्तिशाली सोवियत् इस तरह के हमलों को बर्दाश्त नहीं करेगा। मोलोतोव ने कहा—

"यह बात याद रखनी चाहिये कि आख़िर बर्दाश्त की भी कोई हद होती है। समय रहते हमारी और मंगोल रिपब्लिक की सीमाओं के अन्दर घुसकर छेड़खानी करने की प्रवृत्ति बन्द होनी चाहिये। हमने मास्को स्थित जापानी राजदूत को इस सम्बन्ध में आगाह कर दिया है।"*

नोमनहान की लड़ाई के नतीजे के सम्बन्ध में ३१ अक्तूबर १९३९ को मोलोतोव ने सुप्रीम कौंसिल के सामने कहा—

"कई महीने तक नोमनहान ज़िले में लड़ाई चलती रही जिसमें हर तरह के अस्त्र शस्त्र, भारी तोपें और हवाई जहाज़ तक इस्तेमाल किये गये। बाज़ बाज़ दफ़ा तो भयंकर मोरचे हुए। इस बेकार की लड़ाई में जान माल का हमारा बेहद नुक़सान हुआ; लेकिन हमसे कई गुना ज़्यादह नुक़सान जापानियों और मांचुओं का हुआ। अन्त में जापान ने लड़ाई बन्द करने की प्रार्थना की और हमने ख़ुशी से जापानियों की प्रार्थना को स्वीकार कर लिया।

"जैसा कि आप जानते हैं यह लड़ाई इसलिये हुई कि जापान मंगोल रिपब्लिक की ज़मीन को हड़पना चाहता था और ज़बर्दस्ती अपनी सीमाओं को बढ़ाना चाहता था। हमने उसका दृढ़ता से मुक़ाबला किया। इस लड़ाई से यह चीज़ साबित हो गई कि जिस सुलहनामे पर सोवियत् के दस्तख़त होते हैं उसका कितना अमली महत्त्व है।"

* Quoted from press report released by Tass.

किन्तु सोवियत् का उद्देश्य हमले को विफल करना और हमलावरों को बाहर निकालना ही नहीं था बल्कि इन बेकार के संघर्षों को ख़त्म करके दोस्ताना सम्बन्ध क़ायम करना था। सोवियत् ने जापान को हराकर उसकी प्रार्थना पर सुलह करके फिर इस बात की कोशिश की कि जापान के रवय्ये में बुनियादी तब्दीली हो। अपने इसी व्याख्यान में मोलोतोव ने इस बात की आशा प्रकट की थी कि नोमनहान 'घटना' के बाद का अस्थिक समझौता जापान और सोवियत् के बीच स्थायी समझौते का अग्रदूत साबित हो। मोलोतोव ने कहा कि इसके बाद ज़रूरत इस बात की है कि सरहदों को तय करने के लिये एक सम्मिलित कमीशन मुक़र्रर हो और सोवियत् जापान के बीच में व्यापारिक समझौते की बात चले। मोलोतोव ने इस बात पर सन्देह प्रकट किया कि जापान में कहाँ तक इस तरह के विचारों को समर्थन मिलेगा किन्तु "जहाँ तक हमारा सम्बन्ध है हम जापान के इस तरह के इरादों का स्वागत करते हैं और उन्हें परस्पर शान्ति के हित में बुनियादी सुधार करने की योजना का अङ्ग समझते हैं।"*

जब मोलोतोव ने फिर पहली अगस्त १९४० को सोवियत् सुप्रीम कौन्सिल के सामने अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक परिस्थिति की विवेचना की तो इस बीच सोवियत् जापान का एक भी झगड़ा नहीं हुआ जिसका वे ज़िक्र करते। मोलोतोव ने यह स्वीकार किया कि इधर हाल में सोवियत् और जापान का सम्बन्ध बेहद सुधर गया है। उन्होंने यह भी कहा कि सोवियत् और जापान के बीच में सरहदों के बारे में भी फ़ैसला हो गया है। यह इस दृष्टि से बेहद अच्छा हुआ कि सरहद की अनिश्चितता को लेकर दोनों देशों के बीच बराबर कटुता बनी रहती थी। मोलोतोव ने यह भी आशा प्रकट की कि मंगोलिया और मांचुकुओ के सम्बन्ध के भी सारे झगड़ों का फ़ैसला हो सकता है यदि जापान सोवियत् की बुनि-

* Ibid.

यादी तौर पर शान्ति क़ायम करने की योजना को मान ले।

१९४० में सोवियत् की ओर से इस बात का ऐलान एक ख़ास महत्व रखता है कि सोवियत् जापान के साथ बुनियादी समझौता करने के लिये इच्छुक था। सोवियत् यूनियन ने इस बात को दोहराया कि युद्ध की अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति के बावजूद भी जापान के प्रति सोवियत् की दोस्ताना नीति में कोई ख़ास फ़र्क़ नहीं पड़ा है। यह वह वक्त था जब जर्मनी तेज़ी के साथ एक के बाद एक यूरोप के मुल्कों को फ़तह करता जा रहा था। यूरोप की युद्ध की इस कैफ़ियत का कुदरती असर जापान पर पड़ना लाज़मी था। जापान के अनेक क्षेत्रों में ज़ोरों से इस बात की चर्चा चली कि जापान को दक्षिणी समुद्रों की ओर क़दम बढ़ाना चाहिये। इस सम्बन्ध में जापान का उतावलापन जितना ही बढ़ा उतनी ही सोवियत्-जापान सुलह की उसकी आकांक्षा भी बढ़ी। सोवियत् की सरकार जापान से इस तरह का समझौता करने को तय्यार थी बशर्ते कि इस समझौते के फलस्वरूप सोवियत् की सुदूरपूर्व की सीमाओं पर वास्तविक शान्ति क़ायम हो सके और जापान सोवियत् और मंगोल रिपब्लिक की सीमाओं की अखण्डता की इज़्ज़त कर सके।

ज़ाहिरा तौर पर इस सम्बन्ध में दो बातें सोवियत् के लिये विचारपूर्ण थीं। (१) सोवियत् के साथ जापान की सुलह की ख़्वाहिश महज़ एक क्षणिक ख़्वाहिश है या वह अच्छे पड़ोसी की तरह सोवियत् के साथ स्थायी शान्ति से रहना चाहता है ? (२) दक्षिण की ओर बढ़ने में जापान जर्मनी और इटली का कितना अनुग्रह स्वीकार करेगा और इसका सोवियत् और जापान की शान्ति पर क्या असर पड़ेगा ? इस सम्बन्ध में जापान की ओर से और अधिक साफ़गोई की ज़रूरत थी। फिर भी "सोवियत् के साथ अपने सम्बन्ध को बेहतर बनाने की जापान की ख़्वाहिश" का मोलोतोव ने स्वागत किया। मोलोतोव ने इस बात की घोषणा की—"यदि दोनों मुल्क एक दूसरे के हितों को स्वीकार कर लें और सुलह के रास्ते की रुकावटों को दूर करने का इरादा कर लें तो सोवियत् यूनियन और जापान के आपसी सम्बन्ध में बुनियादी सुधार हो सकता है।"*

इस बयान के लगभग दस महीने बाद सोवियत् और जापान के बीच में तटस्थता का समझौता हो गया। इस समझौते के पूर्व दो महत्वपूर्ण मौक़ों पर सोवियत् सरकार ने इस बात पर ज़ोर दिया कि इस समझौते से न तो सोवियत् की इस लड़ाई में तटस्थता की स्थिति पर कोई असर पड़ेगा न उसका मौजूदा युद्ध में चीन को मदद देना ही बन्द होगा। पहला मौक़ा वह था जब जर्मनी, इटली और जापान में यूरोप और एशिया में नई व्यवस्था क़ायम करने के सम्बन्ध में अहदनामा हुआ था। यह अहदनामा उन नये मुल्कों को डराने के लिये था जो यूरोप या सुदूरपूर्व में धुरी राष्ट्रों के ख़िलाफ़ युद्ध में शामिल होना चाहते थे। किन्तु इस अहदनामें में यह बात साफ़ कर दी गई थी कि इसका किसी भी धुरी राष्ट्रों और सोवियत् के आपसी सम्बन्ध पर कोई असर न पड़ेगा। मास्को के 'प्रवदा' समाचार पत्र के अनुसार सोवियत् ने इन तीनों धुरी राष्ट्रों के उस आग्रह को ठुकरा दिया जिसके अनुसार सोवियत् को शामिल करके एक चार राष्ट्रों की सन्धि की योजना बनाई गई थी। जापान ने इसके बाद सोवियत् के साथ अपने सम्बन्ध को सुधारने की ख़्वाहिश प्रकट की; किन्तु सोवियत् ने इस बात को साफ़ कर दिया कि सोवियत्-जापान के सम्बन्ध को सुधारने के लिये धुरी राष्ट्रों का दबाव कोई काम न देगा। सोवियत् और जापान का सम्बन्ध तो स्वतन्त्रता पूर्वक ही बेहतर हो सकता है किसी डर या दबाव से नहीं।

इसके बाद एक दूसरे मौक़े पर भी सोवियत् ने इस पहलू पर ज़ोर दिया और यह मौक़ा वह था जब जापान और वांग चिंग वे की कठपुतली सरकार में

* V. M. Molotov-Foreign Policy of the Soviet Union, Moscow, 1940, PP. 12-13.

सुलहनामा हुआ। ४ दिसम्बर सन् १९४० को सोवियत् सरकार ने मास्को स्थित अपने राजदूत के द्वारा जापानी वैदेशिक मन्त्रिमण्डल को इस सुलहनामे पर अपना यह मन्तव्य दिया—

"सोवियत् सरकार जापान और वांग चिंग वे के बीच के सुलहनामे की धारा तीन (चीनी कम्यूनिस्टों के ख़िलाफ़ कार्रवाई) को ख़ास तौर पर नोट करती है और विश्वास करती है कि यह धारा सोवियत् के विरुद्ध नहीं है और इसका जापान और सोवियत् के सम्बन्ध पर कोई असर नहीं पड़ेगा।

"अपनी तरफ़ से सोवियत् सरकार यह बता देना ज़रूरी समझती है कि चीन के प्रति सोवियत् यूनियन की नीति में कोई अन्तर नहीं पड़ा है।"*

मोलोतोव ने सोवियत् सुप्रीम कौंसिल में चीन के सम्बन्ध में भाषण देते हुए ३१ मई सन् १९३९ को कहा था—

"आप लोग स्तालिन के उस वक्तव्य से परिचित होंगे जिसमें उन्होंने उन देशों को सोवियत् की मदद का आश्वासन दिलाया है जो अपनी राष्ट्रीय आज़ादी के लिए लड़ रहे हैं। हम बराबर इसी नीति पर व्यवहार कर रहे हैं।"†

चीनी स्वाधीनता की लड़ाई में मदद देने के सम्बन्ध में यह एक साफ़ बयान है और यह सोवियत् की उस व्यापक नीति का अङ्ग है जिसके अनुसार सोवियत् अपने पड़ोसी राष्ट्रों के साथ प्रेम और शान्ति से रहना चाहता है। सुदूरपूर्व में चीन और जापान दोनों से इस नीति का सम्बन्ध है। सन् १९२३ में भी सुनयात-सेन की अपील पर सोवियत् ने चीन को मदद दी थी। उसके बाद सन् १९३७ में घरेलू युद्ध बन्द होने पर और संयुक्त मोर्चा बन जाने पर सोवियत् ने चीन को फिर से अपनी मदद जारी की। सन् १९३७ में ही सोवियत् और चीन में अनाक्रमण सन्धि हुई; हालांकि इस सन्धि का मसविदा लितवीनाव ने सन् १९३३ में ही चीनी सरकार को भेजा

* Press Report released by Tass.

† Ibid

था। १ अगस्त सन् १९४० को सोवियत् सुप्रीम कौंसिल के सामने मोलोतोव ने चीन के सम्बन्ध में कहा—"चीन जैसे महान राष्ट्र के साथ, जो ज़िन्दगी और मौत की लड़ाई लड़ रहा है, सोवियत् का सम्बन्ध दोनों देशों की तटस्थता की सन्धि के बाद सद्भावना और प्रेम का है।"*

सोवियत्-जापान की सन्धि मुमकिन है दोनों देशों के बीच स्थायी सन्धि का बायस बने और दस वर्ष का आपसी संघर्ष समाप्त हो जाय। यह सन्धि सोवियत् की वैदेशिक नीति की जीत है। इस सन्धि के द्वारा जापान के अन्दर की सोवियत् विरोधी शक्ति की हार हुई और इस सन्धि के ज़रिये उन तमाम मुल्कों के मन्सूबे ख़त्म हो गये जो सोवियत् और जापान की बदगुमानियों से फ़ायदा उठाना चाहते थे। किन्तु यह सन्धि जापानी जनता की हार नहीं है बल्कि दोनों देशों की शान्ति के लिये यह सन्धि एक बहुत बड़ा उपकरण है। इस सन्धि की सब में ख़ास बात यह है कि इससे सोवियत् की चीनी मदद पर कोई असर नहीं पड़ा। चीन के सफल संग्राम पर ही सुदूरपूर्व के समस्त राष्ट्रों की शान्ति निर्भर है।

इस समझौते से सुदूरपूर्व में दो महान राष्ट्रों के बीच लड़ाई का ख़तरा रुक गया और इस समझौते ने सब पर यह बात भी रौशन करदी कि प्रशान्त महासागर में अन्तर्राष्ट्रीय महत्व के प्रश्न बिला सोवियत् को शामिल किये हल नहीं किये जा सकते। इस समझौते ने सोवियत् यूनियन की आवाज़ को पश्चिम में और पूरब में दोनों जगह ज़ोरदार बना दिया।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि सन् १९२१ में अमरीकन सरकार ने प्रशान्त महासागर के राष्ट्रों की एक कान्फ्रेन्स बुलाई; लेकिन इस कान्फ्रेंस में उसने सोवियत् को निमन्त्रण नहीं दिया। इस पर सोवियत् ने अपने उस समय के वैदेशिक मन्त्री चिचेरिन के द्वारा कान्फ्रेंस में अपना विरोध भेजा कि सोवियत्

* Molotov, Foreign Policy of the Soviet Union, P. 14.

का इलाक़ा चीन, जापान की सीमाओं और प्रशान्त तट को छूता है और इस दृष्टि से सोवियत् को हर ऐसी कान्फ्रेंस में शरीक होने का हक़ है जो सुदूरपूर्व के मामलों पर फ़ैसला करने के लिये बुलाई गई हो। और चूंकि सोवियत् को इस कान्फ्रेंस में नहीं बुलाया गया इसलिये सुदूरपूर्व सम्बन्धी इस कान्फ्रेंस के किसी फ़ैसले को मानने के लिये सोवियत् यूनियन बाध्य नहीं है।"*

एक और घटना, इस सम्बन्ध में, ख़ास ध्यान देने योग्य है। सन् १९२४ में सोवियत् रूस और चीन के बीच में राजनैतिक सम्बन्ध क़ायम करने की एक सुलह हुई। इस पर अमेरिकन सरकार ने चीन के पास अपना विरोधी मन्तव्य भेजा कि सोवियत् के साथ सुलह करके चीन ने वाशिंगटन कान्फ्रेंस के फ़ैसले के ख़िलाफ़ सुदूरपूर्व में रूसी प्रभाव को बढ़ाने में मदद दी है। इसके पूर्व सन् १९२० में ही अमरीकन सरकार ने अनेक सम्बन्धित शक्तियों को इस बात के लिये तय्यार किया था कि वे चीन पर इस बात का दबाव डालें कि चीन रूस के साथ राजनैतिक सम्बन्ध क़ायम न करे। किन्तु बावजूद अमरीकन षड्यन्त्र के सन् १९२४ में चीन और सोवियत् में डिप्लोमैटिक सम्बन्ध क़ायम हो गया। चीन स्थित जिस सोवियत् राजदूत काराखान ने यह फ़ैसला करवाया उसे चीन का अमरीकन मिनिस्टर स्वरमैन चीनियों का "ख़तरनाक़ और शरारती सलाहकार" कहा करता था।†

असल में वाशिंगटन कान्फ्रेंस का मुख्य उद्देश्य यह था कि पूर्वी ऐशिया और पैसेफ़िक में अमरीका के औपनिवेशिक हितों और ग्रेट ब्रिटेन और फ़्रान्स के पूर्वी एशिया के साम्राज्यों की रक्षा की जाय, जापान के फैलाव को रोका जाय और एशिया में सोवियत् के प्रभाव को बढ़ने न दिया जाय। सोवियत् के बढ़ते हुये प्रभाव को रोकने के लिये जापान से भी मदद ली जाय। चीनी राष्ट्र यूरोपीय साम्राज्यवादी शिकंजे से अपनी रक्षा के लिये सोवियत् से जो मदद ले रहा है उस मदद को रोकने की कोशिश की जाय। सोवियत् के विरुद्ध इस षड्यन्त्र में ग्रेट ब्रिटेन का भी कुछ कम हाथ न था। ग्रेट ब्रिटेन चाहता था कि जापानी फ़ैलाव को चीनी सरहद के पास साइबीरिया की तरफ़ मोड़ दिया जाय। इससे दो फ़ायदे होंगे एक तो जापान का ध्यान दक्षिण एशिया के मुल्कों से हट जायगा और दूसरे सोवियत् और जापान बुरी तरह उलझ जायंगे। इस रवय्ये से जापान को यह इतमीनान हो गया कि यदि वह सोवियत् सीमाओं से टकराता हुआ चीन में आगे बढ़ा चला जाय तो उसे ग्रेट ब्रिटेन, फ़्रान्स या अमरीका तीनों में से कोई कुछ न कहेगा बशर्ते यह ज़ाहिर हो कि वह चीन के अन्दर सिर्फ़ इस उद्देश्य से घुस रहा है कि उसे अन्त में सोवियत् पर हमला करना है। पिछले दिनों ९ शक्तियों ने इस बात का वादा किया था कि वे चीन का अङ्ग भङ्ग होने से रोकेंगे। इन वादा करने वालों में ग्रेट ब्रिटेन, फ़्रान्स और अमरीका भी थे। मगर जापान समझता था कि यह ९ शक्तियों का सुलहनामा जापान के विरुद्ध अमल में न लाया जायगा। इन्हीं शक्तियों के इशारे पर जापान ने मंचूरिया और उत्तरी चीन पर क़ब्ज़ा करके वाशिंगटन कान्फ्रेंस के फ़ैसले की धज्जियाँ उड़ा दीं।

जापान ने इस नीति के अनुसार सन् १९३१ में मंचूरिया पर क़ब्ज़ा किया। इसके बाद उसने इनर मंगोलिया और उत्तरी चीन पर अधिकार जमाया और फिर सन् १९३७ में चीन के ऊपर टूट पड़ा। अङ्गरेज़ों की नीति ही यह थी कि जापान को दक्षिण की ओर बढ़ने से बचाने के लिये उसे चीन में ही उलझा कर रखा जाय। चुनाँचे उन्होंने अमरीका के

* A. W Griswold—Far Eastern Policy of the United States. 1939, P. 297.

† F. L. Schuman— Amercan Policy Toward Russia Since 1917, New york, 1928, PP. 241-44.

साथ मिलकर यह घोषणा की कि वे चीन और जापान की इस लड़ाई में बिलकुल तटस्थ रहेंगे। इस सिलसिले में सोवियत् ने जो तरीक़ा बरता उसके तीन पहलू हैं—(१) चीन के साथ उसने अनाक्रमण की सन्धि की और तब से बराबर चीनी आज़ादी के इस युद्ध में वह चीन के धन, हथियारों और सामान से मदद दे रहा है। (२) उसने अपनी सुदूरपूर्व की सीमाओं की जापान और जापानी कठपुतली मंचूरिया की सरकार के विरुद्ध बराबर दृढ़ता से रक्षा की। (३) उसने चीन के सम्बन्ध में एंग्लो-फ्रेंच-अमरीकन चुप्पी की नीति के बुरा बताया। सन् १९३९ की कम्युनिस्ट पार्टी कांग्रेस की रिपोर्ट में स्तालिन ने लिखा—"इन तीनों राष्ट्रों की तटस्थता का यह अर्थ है कि जापान के चीन पर अधिकार करने से न रोका जाय और उसे सोवियत् के साथ भी लड़ाई में उलझा दिया जाय।" और जब वे आपस में लड़कर कमज़ोर हो जाँय और थक जाँय तब "इन कमज़ोर हुये लड़ाकुओं के अपने हितों के लाभ की सुलह करने पर मजबूर किया जाय।" इसी रिपोर्ट में स्तालिन ने आगे चलकर कहा—

"यह बात ख़ास ध्यान देने योग्य है कि जापान ने जब अभी उत्तरी चीन पर हमला भी नहीं किया था तभी समस्त प्रभावपूर्ण फ्रेंच और ब्रिटिश पत्रों ने चीख़ना शुरू कर दिया कि चीन बहुत कमज़ोर है और वह जापान का मुक़ाबला नहीं कर सकता और जापानी सेना दो या तीन महीने में समूचे चीन के अपने अधीन कर सकती है। इसके बाद अमरीकन और यूरोपियन राजनीतिज्ञ ख़ामोशी के साथ चीन की परिस्थिति देखते रहे और इसके बाद जब जापान ने सचमुच चीन पर हमला शुरू किया तो उन्होने उसे चीन में वैदेशिक पूंजी के केन्द्र, शंघाई पर क़ब्ज़ा कर लेने दिया, उन्होंने उसे दक्षिणी चीन में ब्रिटेन के प्रभाव क्षेत्र कैण्टन पर क़ब्ज़ा कर लेने दिया, उन्होंने उसे हैनान पर क़ब्ज़ा कर लेने दिया और उन्होंने उसे हांगकांग के घेर लेने दिया। क्या यह जापान के उकसाना और बढ़ावा देना नहीं था ? ऐसा मालूम होता था कि वे कह रहे हैं—'अपने आपको लड़ाई में ख़ूब गहरा उलझा लो और तब हम देखेंगे'।"*

इस सारे मामले में सोवियत् ने बड़ी चतुराई से काम लिया। उसने चीन के भरपूर मदद भी दी और चीनी-जापानी लड़ाई के अपने ऊपर भी नहीं लिया। कम्यूनिस्ट विरोधी शक्तियाँ यह चाहती थीं कि इस लड़ाई में रूस भी उलझ जाय जिसमें जापान, चीन और सोवियत् तीनों कमज़ोर पड़ जाँय। लेकिन सोवियत् दुश्मनों के इस फन्दे में नहीं आया। सोवियत् का उद्देश्य था कि अपनी मदद द्वारा वह चीनी आज़ादी के संग्राम के सफल बनाये और चीन में आपसी एकता पैदा करने में मदद दे। संयुक्त और शक्तिपूर्ण चीन राष्ट्र एशिया की शान्ति की गारण्टी है। इसके साथ ही साथ सोवियत् जापान के साथ दोस्ताना और शान्तिपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखने का प्रयत्न करता रहा। सोवियत् के दृष्टिकोण से चीन की मदद का यह अर्थ नहीं कि वह जापान के साथ दोस्ती न करे। बल्कि सोवियत् तमाम एशियाई देशों की जाग्रति और मुक्ति चाहता है। लेनिन ने इसी सम्बन्ध में कहा था—

"……पूर्वीय देशों (जापान, हिन्दुस्तान और चीन) की जनता के अन्दर नई जाग्रति पैदा हो रही है। वहाँ की जनता और श्रमजीवी वर्ग में संघर्ष के लक्षण दिखाई दे रहे हैं। इन देशों की करोड़ों जनता, जो दुनिया की आबादी का अधिकांश भाग है, अब तक अपनी ऐतिहासिक अकर्मण्यता और ऐतिहासिक नींद में पड़ी हुई थी और अपने इस रवय्ये से यूरोप के अनेक प्रमुख देशों में रुकावट और गिरावट पैदा कर रही थी……।"†

* J. Stalin—Report on the work of the Central committee to the 18th. Congress of the C. P. S. U., Moscow, 1939, P. 14.

† L. G. Sfarov's Marx and the East, Newyork, 1934, P. 18.

सोवियत् और जापान की तटस्थता की सन्धि ने सुदूरपूर्व की परिस्थिति पर ज़बर्दस्त प्रभाव डाला है। जबकि एक ओर उसने पूर्व में सोवियत् यूनियन की स्थिति के और सुदूरपूर्व की शान्ति के दृढ़ बनाया वहाँ दूसरी ओर इस बात के स्पष्ट किया कि सुदूर-पूर्व में व्यापक शान्ति तभी क़ायम हो सकती है जब चीन स्वाधीन और स्वतन्त्र हो। इस सन्धि ने चीन-जापान युद्ध में अङ्गरेज़ों और अमरीकनों की दख़ल न देने की नीति का भी पर्दाफ़ाश कर दिया। जिस नीति ने जापान के मंचूरिया, उत्तरी चीन और इनर मंगोलिया के हड़प लेने के लिये प्रोत्साहित किया वही नीति जापान के सोवियत् से न लड़ा सकी और न दक्षिणी समुद्र में जापान के साम्राज्यवादी मन्सूबों के पूरा होने से रोक सकी। अङ्गरेज़ों और अमरीकनों ने जो भूत सोवियत् के खाने के लिये खड़ा किया था वही भूत अङ्गरेज़ों और अमरीकनों पर ही उल्टा टूट पड़ा।

इस समय सुदूरपूर्व की परिस्थिति में तीन बातें ख़ास ध्यान देने याेग्य हैं—(१) ब्रिटेन, फ्रांस, हालैण्ड, अमरीका आदि के उपनिवेशों पर जापान द्वारा क़ब्ज़ा, (२) स्वाधीनता और स्वतन्त्रता के लिये चीनी क्रान्ति और (३) सोवियत् की शक्तिपूर्ण स्थिति। साल भर पहले तक ब्रिटेन और अमरीका चीनी स्वाधीनता के मदद देने के बजाय जापानी साम्राज्य-वाद के ही तलुवे सहलाने में व्यस्त रहे। इन मुल्कों ने हमेशा सुदूरपूर्व में सोवियत् के प्रभाव के कम करने की कोशिश की। आज इस एंग्लो-अमरीकन नीति का दुनिया के सामने दिवाला निकल चुका है। जो काँटे उन्होंने सोवियत् के लिये बोए थे उन्हीं के फल आज उन्हें ही चखने पड़ रहे हैं। सोवियत्-जापानी तटस्थता की सन्धि ने एंग्लो-अमरीकन नीति के दिवालियेपन और सोवियत् की राज-नैतिक नीतिमत्ता के पूरी तरह साबित कर दिया है।

हिन्दू मुसलिम समस्या : निदान और इलाज

डाक्टर बेनीप्रसाद एम. ए. पी-एच. डी., डी. एस-सी.

घरेलू लड़ाइयाँ बुनियादी तौर पर विफल इच्छाओं और प्रवृत्तियों का ही परिणाम होती हैं। सभ्यता आवश्यक रूप से प्रगतिशील है। किन्तु उसके पहियों का निर्बाध संचालन उसके बोझ के सफल सन्तुलन और उसके रास्ते की रुकावटों के दूर होने पर ही निर्भर करता है। सभ्यता विचारों, भावों, परम्पराओं, संस्थाओं और उपकरणों का एक सम्मिश्रण होती है। जब ये सारे अङ्ग एक गति से नहीं चलते, या इनका सन्तुलन बिगड़ जाता है, या इनकी गति भङ्ग हो जाती है तो समाज संगठन का सारा क्रम उलट पुलट जाता है। भारत में समाज संगठन के इस गति-भङ्ग ने जो समस्यायें पैदा की हैं उन्हें हम तीन श्रेणियों में बाँट सकते हैं : (१) विविध सम्प्रदायों की अपनी अपनी वृत्ति, यह वृत्ति की समस्या भी बजाय साधारण रूप में सुलझने के व्यापक रूप लेकर पुरानी पड़ गई है; (२) सांस्कृतिक समस्या जो अंशतः लाइलाज है और अंशतः जिसका फ़ौरन समाधान हो सकता है और (३) राजनैतिक समस्या जिसकी आपसी समझौते से सुलझने की पूरी सम्भावना है। इन समस्याओं के तीन तरह के हल भी हैं : (१) व्यापक सुधार द्वारा व्यापक हल, (२) राजनैतिक मामलों के सुलझाकर इस समस्या का फ़ौरन हल और (३) सांस्कृतिक समस्या का कालान्तर में अभिन्न रूप से हल। जीवन की विशिष्ट सम्पूर्णता इस बात के ज़रूरी कर देती है कि यह सारी समस्याएं एक साथ हल की जाँय और सन्तुलन का एक ऐसा व्यापक आन्दोलन चलाया जाय जो जीवन के हर पहलू के छू सके। हर मानव समस्या एक विशेष

वातावरण की एक विशेष घटना है और जिस रूप में वातावरण में परिवर्तन होता है उसी रूप और अनुपात में वह समस्या भी बदल जाती है। मिसाल के तौर पर १६वीं और १७वीं सदी में जो कैथालिक और प्राटेस्टेण्ट, यूरोप की बात जाने दीजिये, खुद फ्रांस और इङ्गलैण्ड में बुरी तरह एक दूसरे से लड़ रहे थे और षड्यन्त्र कर रहे थे, १८वीं सदी में आर्थिक जीवन और मानसिक वातावरण में परिवर्तन होते ही एक दूसरे के साथ सद्भावना और सहिष्णुता से रहने लगे। उनके आपसी झगड़े "तय" नहीं हुये बल्कि पुराने पड़ गये। उनकी परस्पर वृत्तियों में रूपान्तर हो गया। विफलता की भावना के उन्होंने दिल से निकाल फेंका। कोई सरकार क़ानून द्वारा जनता के सहिष्णु और नेक नहीं बना सकती किन्तु सरकारी और ग़ैर सरकारी संस्थाएं आपसी सहयोग से जनता के अन्दर से अज्ञान, बीमारी, ग़रीबी, जन्मजात सुविधाओं और असुविधाओं की भावना जिसके कारण दिमाग़ संकुचित, ईर्षालु, ओछा और झगड़े बढ़ाने का कारण बनता है, आदि के दूर कर सकती हैं। ये संस्थायें मिलकर ज्ञान का सार्वभौमिक प्रचार कर सकती हैं, लोगों की आर्थिक स्थिति के बेहतर बना सकती हैं और सबके एकसी सुविधाएँ जुटा सकती हैं। इन्हीं चीज़ों से मानसिक और अध्यात्मिक चेष्टाओं द्वारा नये मार्ग खुलते हैं। इन्हीं चीज़ों से दृष्टिकोण विस्तृत होता है और सामाजिक एकता क़ायम होती हैं। जिस तरह तन्दुरुस्ती में ग्राम सुधार से बहुत सी शारीरिक व्याधियाँ दूर हो जाती हैं उसी तरह सामाजिक उन्नति से भी बहुत से सामाजिक फ़र्क़ दूर हो जाते हैं।

सामाजिक न्याय

बुनियादी सामाजिक न्याय पर ही शान्ति और सुख निर्भर करता है। दूसरे शब्दों में सब के लिये एक सी और अधिक से अधिक सुविधाएँ ही मनुष्य की शान्ति और उसके सुख के बढ़ाती हैं। यदि सबके एक सी सुविधाएँ नहीं मिलतीं तो सामाजिक जीवन ईर्षा, मनमुटाव, दलित इच्छाओं और एक की दूसरों पर हावी होने की भावना से अव्यवस्थित हो जाता है। यदि सुविधाएँ बहुत थोड़ी होती हैं तो सामाजिक उन्नति का स्तर बहुत नीचा हो जाता है और इससे भी अस्वस्थकर झगड़े बढ़ते हैं और लगातार खींचा तानी चलती रहती है। सामाजिक संगठन का सब में प्रमुख सिद्धान्त यह है कि आत्म-प्राप्ति के लिये सबके समान साधन दिये जाँय और ये साधन एक समय में हर एक की पहुँच के भीतर हों। अधिक से अधिक सुविधाएँ व्यक्ति के अधिक से अधिक उन्नत बनाती हैं। और देशों की तरह भारत के भी यह जानने की ज़रूरत है कि इतिहास में पहली बार विज्ञान ने इस बात के सम्भव बनाया है कि ज्ञान और आराम सबके लिये सुलभ हैं; सबकी ज़रूरतें पूरी की जा सकती हैं और परिश्रम और कष्ट के हम आराम और सुख में बदल सकते हैं। इस नई सम्भावना के हम जितना ही अधिक समझेंगे उतना ही हम लड़ाई झगड़ों से हटकर इस दुनिया में सहयोग और शान्ति से रहने की कोशिश करेंगे। किन्तु यह भी जान लेना उतना ही अधिक ज़रूरी है कि अखिल मानवता के कल्याण की जितनी अधिक सम्भावना बढ़ती जाती है उसकी प्राप्ति के लिये उतने ही व्यापक संगठन और नैतिक आदर्श की ज़रूरत है। इस सम्बन्ध में हमारा जितना व्यापक प्रयत्न होगा उतना ही हम सामाजिक न्याय के आदर्श के निकट पहुँचेंगे।

आत्म प्राप्ति

जिस अनुपात से हर व्यक्ति—स्त्री, पुरुष और बालक—को अपने व्यक्तित्व को प्रस्फुटित करने और अपनी शक्ति और सम्भावनाओं को बढ़ाने का मौक़ा मिलता है उसी अनुपात से सामाजिक जीवन भी ऊँचा उठता है। व्यक्तित्व बढ़कर अपने आपको अलग होकर पूरा नहीं करता बल्कि समाज के भीतर उसका विकास होता है। दूसरे शब्दों में व्यक्ति का विकास बिना समाज के सहयोग के पूरा नहीं होता।

सामाजिक मैत्री भाव और व्यक्ति का विकास दोनों एक ही परिस्थिति के परिणाम हैं। व्यक्ति के विकास का अर्थ ही यह है कि समाज में पारस्परिक सहयोग की भावना बढ़ी है; ऐसी भावना जो तुच्छी ईर्षाओं और असम्बद्धताओं को मिटाती है। यदि जीवन को ऊँचे पैमाने पर उठाने की सम्भावनाओं की ओर ध्यान न दिया जाय तो जीवन का स्तर काफी नीचे गिर जाता है और जो कुछ थोड़ी बहुत सुविधाएं होती हैं उनके लिये खींच खसोट की भावना पैदा हो जाती है। और दूसरे मुल्कों की तरह कमोबेश भारत भी आज इसी तरह के पेचीदा अनुमानों और निरर्थक वहमों में मुब्तिला है। इस सारी समस्या का नैतिक हल—जो सामाजिक समस्याओं का अन्तिम हल है—इस बात में है कि हम सामाजिक न्याय के आदर्श की ओर बढ़ते चले जाँय और काण्ट की इस बात को अमली रूप में स्वीकार कर लें कि हर व्यक्ति अपने आप में पूर्ण है।

सार्वजनिक शिक्षा

सामाजिक न्याय का सब में पहला और महत्वपूर्ण अङ्ग, यानी सुविधाओं के अधिक से अधिक और एक समान बटवारे के लिये सब में जरूरी चीज़, सार्वजनिक शिक्षा है। वर्तमान परिस्थितियों में शिक्षा थोड़े से व्यक्तियों के लिये विकास का साधन नहीं है, बल्कि सबके लिये ज़रूरी है। ठोस उन्नति के लिये—चाहे वह देश का औद्योगीकरण हो, चाहे वास्तविक नागरिकता हो या सबके कल्याण की बात हो--शिक्षा पहली और ज़रूरी शर्त है। अज्ञान पुराने दुराग्रहों को क़ायम रखने में मदद देता है, लोगों को दकियानूसी आन्दोलनों का शिकार बनाता है, नेताओं के स्टैण्डर्ड को नीचे गिराता है और सामाजिक सुधार के रास्तों को बन्द कर देता है। वह दिमाग़ को संकुचित पिंजड़े में क़ैद करके रखता है और लोगों को सार्वजनिक मामलों को उदारता से देखने के नाक़ाबिल बना देता है। भारत की ३५ करोड़ जन-संख्या (सन् १९३१ की जन-संख्या के अनुसार) दुनिया की आबादी की ⅙ है। लेकिन दुनिया के बेपढ़े लोगों में से एक तिहाई भारत में रहते हैं। सन् १८४१ से सन् १९११ तक भारत के पढ़े लिखे लोगों की तादाद ४ फ़ी सदी से ६ फी सदी हुई। सन् १९२१ में वह ८ फ़ी सदी हुई और सन् १९३१ में बढ़कर ८.५ फ़ी सदी हो गई। आज सौ वर्षों के प्रयत्न के बाद दस फ़ी सदी से भी कम आबादी पढ़ी लिखी है। यदि इसी रफ़ार से सार्वजनिक शिक्षा का प्रचार हुआ तो सारी आबादी को शिक्षित बनाने में ६००-७०० वर्ष लगेंगे। संक्षेप में यह हमारी दुःखान्त कथा है। जो काम हम २० पीढ़ियों में कर सके हैं वह वर्तमान परिस्थितियों में एक पीढ़ी से भी कम में होना चाहिये। जो शासन प्रणाली इसके लिये ज़िम्मेवार है उसमें फ़ौरन मौजूदा ज़रूरतों के मुताबिक़ सुधार होने चाहियें। जो भी सरकार शासन कर रही हो सार्वजनिक राय का यह पहला काम है कि उसे मजबूर करे कि वह देश में शिक्षा के आदर्शों को अमली रूप दे। दिमागों के सम्बन्धित समूह पर, जिसे हम समाज कहते हैं, यदि हम ग़ौर करें तो हमें पता चलेगा कि शिक्षा के सब में अच्छे परिणाम तब होते हैं जब वह छोटी छोटी मात्रा में रित रित कर नहीं दी जाती बल्कि जब उसका तेज़ी से सार्वजनिक प्रचार होता है। भारत में शिक्षा का इतने धीरे धीरे प्रचार हुआ कि पढ़े लिखे थोड़े व्यक्तियों पर भी अज्ञानी जनता के हावी होने की सम्भावना है। इतनी थोड़ी शिक्षा से भद्दे दुर्विचार ज्यों के त्यों क़ायम रह जाते हैं। फिर शिक्षा के इतने धीरे धीरे प्रचार में एक और ख़तरा है; शिक्षा का दायरा इतना संकुचित रहने से मानसिक क्षेत्र में थोड़े से व्यक्तियों का प्रभुत्व क़ायम हो जाने का ख़दशा है। अब जबकि विज्ञान ने समाज के हाथों में दौलत के बेहद साधन रख दिये हैं तब सरकार की अक़्ल और उसके इरादे में कुछ बहुत ही बड़ी ख़ामी है कि वह हर बच्चे और हर बालिग़ आदमी को शिक्षा देने में अपने को असमर्थ पाती है। बिना शिक्षा के सभ्यता के असली फ़ायदे नहीं उठाये जा सकते।

शिक्षा में सुधार

शिक्षा को न केवल सार्वजनिक करना है बल्कि उसमें सुधार भी करने हैं। यह सोचकर परेशानी होती है कि बहुत से लोगों पर शिक्षा बड़ा ख़फ़ीफ़ असर डालती है और वे कर्मकाण्डों, रूढ़ियों और ग़लत प्रापोगेण्डा के असर से ऊपर नहीं उठ पाते। हिन्दुस्तान में इस बात की बेहद ज़रूरत है कि शिक्षा के आन्दोलन को अधिक गहराई तक ले जाया जाय और मनोविज्ञान को शिक्षा का अङ्ग बनाया जाय। भारतीय स्कूलों में डाल्टन शिक्षा पद्धति, प्रोजेक्ट मैथड और हावर्ड शिक्षा पद्धति के उन्नत तरीक़ों से शिक्षा दी जानी चाहिये। इन शिक्षा पद्धतियों से बच्चों का कहीं अधिक ज्ञान बढ़ेगा, उनकी शारीरिक हीनता दूर होगी और उन्हें चहुँ मुखी शिक्षा मिलेगी। जैसे जैसे सभ्यता तरक़्क़ी करती जाती है वैसे वैसे पिछली पीढ़ी के विचारों और बच्चों के बीच में भेद की खाई बढ़ती जाती है। स्कूलों का एक काम यह भी है कि सदियों की संचित संस्कृति की ओर बच्चों का ध्यान दिलाया जाय और उन्हें यह बताया जाय जाय कि वर्तमान समाज के व्यापक संगठन से ही बहुत सी मुसीबतें दूर हो सकती हैं। मनोविज्ञान में दक्ष शिक्षकों द्वारा शिक्षा के वैज्ञानिक तरीक़ों से— विश्व विद्यालयों के लिये, औद्योगिक संस्थाओं के लिये और ज़िन्दगी के लिये आज की अपेक्षा कहीं अधिक योग्य युवक तय्यार किये जा सकते हैं। लेकिन शर्त यह है कि शिक्षकों का ज्ञान काफ़ी व्यापक और विस्तृत होना चाहिये। विद्यार्थियों के दिमाग़ को ग़ुलामी से छुड़ाना चाहिये, उनके अन्दर व्यवस्था की भावना पैदा करनी चाहिये और साम्प्रदायिक और दूसरी समस्याओं को उचित रूप से देखने के लिये उनमें नया दृष्टिकोण पैदा करना चाहिये। सभ्यता का स्तर कहीं अधिक ऊँचा किया जा सकता है यदि स्कूल और विश्व विद्यालय विद्यार्थियों के अन्दर हमारी सामाजिक थाती को उन्नत रूप में पैदा सकें।

एक ख़ास तरह के वातावरण को शिक्षा अपना संदर्भ बनाकर चलती है। आजकल की दुनिया में जिस सब में बड़े सुधार की ज़रूरत है वह यह है कि शिक्षा को छोटे से संगठन और ग्रामीण वातावरण से निकालकर उसे दुनिया के उस व्यापक वातावरण में लाना है जिस वातावरण को वैज्ञानिक क्रान्ति ने पैदा किया है। इसका परिणाम यह होगा कि दिमाग़ जात-पाँत और सम्प्रदाय के संकुचित वातावरण से ऊपर उठेंगे। पुरातन की ओर जाने की प्रवृत्ति और प्रान्तीयता की भावना मिट जायगी और दिमाग़ों के अन्दर वैज्ञानिकता और मानवता की भावना पैदा हो जायगी। भूगोल, अर्थ शास्त्र और नागरिक शास्त्र की बातें इतनी व्यापक पार्श्व भूमि में समझनी चाहिये जितना कि विद्यार्थी की समझ पकड़ सके। यह ख़ास तौर पर ज़रूरी है कि इतिहास को पूरी दुनिया की व्यापक घटनाओं के रूप में पढ़ाना चाहिये। इससे न केवल शिक्षा का असली महत्व बढ़ेगा बल्कि हिन्दुस्तान के गुज़रे ज़माने में सम्प्रदायों के आपसी सम्बन्ध के बारे में जो ग़लतफ़हमी है वह भी दूर होगी। यदि मध्यकालीन भारत के अत्याचारों और ज़ुल्मों को दुनिया के इतिहास की रोशनी में देखा जाय तो इन अत्याचारों और ज़ुल्मों का हम मुनासिब महत्व आँक सकते हैं और हमें यह मालूम हो सकता है कि दुनिया के इतिहास की रोशनी में भारत में सहिष्णुता का राज्य था। इस तरह के अध्ययन से हमारे दृष्टिकोण में गहराई आ सकती है और हम राजनैतिक प्रवृत्तियों और प्रचार को ठीक ठीक समझ सकते हैं। मिसाल के तौर पर ११वीं और १२वीं सदी की भारत की मज़हबी लड़ाइयाँ और सन् १३९८ में तैमूर के हमले का हमें वही महत्व दिखाई देगा जो वर्तमान युद्धों में 'नई व्यवस्था', 'आत्म निश्चय' या 'कल्चर' के नारों का है। जिस तरह आजकल राजनैतिक नारे हैं उसी तरह उस ज़माने में लोगों में जोश पैदा करने के और उनसे मदद पाने के लिये मज़हबी नारे लगाये जाते थे। इन नारों से उस ज़माने के लोगों के असली इरादों और घटनाओं की मुनासिब वजहों का पता नहीं चल सकता।

समाज-विज्ञान पर ज़ोर

सभ्यता न केवल नैतिक बल्कि एक मानसिक क्रिया भी है। इसीलिए सभ्यता परिस्थितियों की पेचीदगियों और प्रतिक्रियाओं के साथ खुद बखुद साम्य पैदा कर लेती है। इसीलिये हमें समाज-विज्ञान के अध्ययन पर अधिक ज़ोर देना चाहिये। व्यक्तिगत दृष्टिकोण से समाज-विज्ञान का अध्ययन दिमाग और इच्छा शक्ति को मनोवैज्ञानिक प्रचार के फन्दों और भीड़ की भेड़ियाधसान प्रवृत्तियों से बचा सकता है। इस तरह इससे अशंतः भारतीय परिस्थिति की एक मुसीबत दूर हो सकती है। और सम्प्रदायों के बीच में जो तनातनी है वह भी कम हो सकती है। इससे भारतीय युवक में काफ़ी ज्ञान, फ़ैसले की क्षमता और सन्तुलन पैदा हो सकता है और वह वैदेशिक असर का भी ठीक मूल्य आँक सकने के योग्य हो सकता है। हिन्दुस्तान में यूरोप या मध्यपूर्व के जो भी विचार 'हवा' में तैरकर आते हैं, उन्हें ज्यों का त्यों नहीं क़ुबूल किया जा सकता। हमें ख़ास तौर पर प्रोफ़ेसर ग्राहम वालाज़ (जो पिछली पीढ़ी के सबमें महान राजनैतिक-वैज्ञानिक हुये हैं) की उस युक्ति को याद रखना चाहिये जिसके अनुसार उन्होंने कहा था कि 'हिन्दुस्तान को अपने लिये स्वयं सोचना चाहिए'। यह युक्ति कोई मानसिक अलहदगी की युक्ति नहीं है, न यह लोगों को पुरातनवादी बनाने की युक्ति है और न इसका यही अर्थ है कि हम मौजूदा विज्ञान और दर्शनशास्त्र के ठोस लाभों की ओर से पीठ फेर लें। इस युक्ति का केवल यह अर्थ है कि हम अपने वातावरण की रोशनी में अपनी समस्याओं को आलोचनात्मक दृष्टि से देखें और हल करें। इसके लिये हमें समाज विज्ञानों की गहरी शिक्षा लेनी चाहिये। समाज विज्ञानों में मानवजातिशास्त्र, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति, सामाजिक मनोविज्ञान, और न्यायशास्त्र शामिल हैं। इसके बाद दूसरी चीज़ जिसका अध्ययन ज़रूरी है—सब धर्मों का अपेक्षा कृत ज्ञान और साहित्य, कला, संस्कृति आदि का अध्ययन है। हर भारतीय विश्वविद्यालय में अधिक से अधिक विद्यार्थियों और प्रौढ़ों को इन विषयों की शिक्षा दी जानी चाहिये। हर धर्म के लोगों का दूसरे धर्मों के लोगों के धर्म और आदर्शों के बारे में जानकारी एक दूसरे को समझने में बड़ा काम देंगी। परम्परागत संस्कृतियों और समाज विज्ञानों का सम्मिलित अध्ययन भारतीय शिक्षा संस्थाओं को न केवल उदार शिक्षा का केन्द्र बना देगा बल्कि उन्हें शक्तिपूर्ण विचार आन्दोलनों की शक्ति दे देगा। इसी तरह का अध्ययन धर्म, राजनीति और जीवन के हर पहलू पर बड़ा उदार असर डालेगा—इससे नागरिकता के भाव अधिक गम्भीर होंगे।

समाज सुधार

शिक्षा का प्रसार और उसमें सुधार सामाजिक न्याय के किसी भी कार्यक्रम के ज़रूरी अङ्ग हैं लेकिन समाज सुधार की संगठित कोशिश कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं है। पिछली दो पीढ़ियों में हिन्दुस्तान में स्त्रियों की स्थिति में काफी उन्नति हुई। हरिजन उत्थान का आन्दोलन भी गहरी जड़ पकड़ गया है। जात-पांत का असर बहुत कुछ कम हो गया है। यदि इसका शीघ्रता से असर मिट जाय तो चारों तरफ़ समूहों के आपसी सम्बन्ध में काफ़ी उन्नति हो जाय। जात-पांत लोगों के अन्दर ऊँच नीच की भावना, विशेष जातियों का एकाधिपत्य और समाज में जहाँ के तहाँ रहने की भावना पैदा करती है। इससे हिन्दुओं की विविध जातियों में ही उनके अपने अन्दर बेचैनी पैदा होती है। इसका असर अन्तर साम्प्रदायिक सम्बन्ध पर पड़ता है और इससे अल्पमत वालों के दिमाग़ में ज़बर्दस्त ग़लतफ़हमियाँ पैदा होती हैं।

आर्थिक उन्नति

और बातों के साथ साथ यह भी ज़रूरी है कि हम लोगों को ग़रीबी की बेड़ियों से मुक्त करें। ज़िन्दगी के अत्यन्त गिरे हुये स्टैण्डर्ड के साथ भारतीय जनता का नाम जुड़ा हुआ है। आबादी के एक ज़बर्दस्त बहुमत को जीवन की सुविधाएँ ही नहीं मिलतीं। सन् १९३१ की जन संख्या के अनुसार ब्रिटिश भारत में प्रत्येक भारतीय की औसत आमदनी

८० रुपये और औसत पूंजी ४४१ रुपये थी। मौजूदा स्थिति में ग़रीबी और निरक्षरता का अटूट सम्बन्ध है। ये दोनों साथ साथ रहेंगी या साथ साथ जायँगी। खेती में वैज्ञानिक प्रयोग तो कभी के होने चाहिये थे। इससे न केवल खेती की आमदनी ही कई गुना अधिक बढ़ जायगी बल्कि आपस में सहयोग रखने की प्रवृत्ति भी बढ़ेगी। आजकल भारतीय खेती बड़ी सीधी और एक आदमी से सम्बन्ध रखने वाली है। मशीनों के प्रयोग से एक एक की खेती की भावना हटकर सहयोग की भावना प्रबल हो उठेगी। उद्योग-धन्धों को बढ़ाने से भी इसी तरह का मनोवैज्ञानिक असर पैदा किया जा सकता है। पिछले तीस वर्षों म उद्योग-धन्धों ने काफ़ी तरक़्क़ी की है। इधर हाल में भारी उद्योग-धन्धों की ओर लोगों का ध्यान गया है लेकिन इस सम्बन्ध में बहुत सी कठिनाइयों को दूर करना है। भारत के नैसर्गिक साधनों का पूरा उपयोग अभी नहीं हो पा रहा है। एक मिसाल लीजिये। दुनिया की फ़ौलाद की पैदावार में भारत की पैदावार सन् १९३६ में आयर्न ओर १·६ फ़ी सदी, कच्चा लोहा, १·६ फ़ी सदी और स्टील ·९ फ़ी सदी थी। कांग्रेस ने अपने थोड़े दिनों के शासन में नैशनल प्लानिंग कमीशन क़ायम किया। इससे उम्मीद हुई थी कि भारी उद्योगों की पैदावार भारत में भी होगी। किन्तु इसकी सफलता बहुत कुछ ब्रिटेन की सहायता पर निर्भर करती है। जब तक ब्रिटेन के औद्योगिक हित भारत के अन्दर अपने स्वार्थ को कम करने के लिये तय्यार न होंगे भारतीय उद्योग-धन्धों को सफलता मुशकिल से मिलेगी। इन विदेशी हितों को यह समझना चाहिये कि खुशहाल भारत से ब्रिटेन के व्यापारिक हितों को कहीं अधिक लाभ पहुंच सकता है। मौजूदा वैज्ञानिक टैकनीक वास्तविक वाणिज्यवाद पैदा कर रही है और इसके अनुसार एक देश के आर्थिक हितों का दूसरे देश के मातहत होना गुलामी से भ बदतर है। यूरोप के आर्थिक गिरोहों में और जापान में भी व्यापार के स्वत्वाधिकार पर ज़ोर दिया जाता है। अपने इस स्वत्वाधिकार के लिये उन्हें दूसरे देशों पर क़ब्ज़ा करना पड़ता है। इसी से अन्तर्राष्ट्रीय ईर्षाएँ, शस्त्रीकरण और युद्ध पैदा होते हैं। जहाँ तक भारत और ब्रिटेन का सम्बन्ध है ग़रीब, निरक्षर और रक्षाहीन भारत बजाय फ़ायदे के ब्रिटेन के लिये नुक़सानदेह साबित हो सकता है।

उद्योग धन्धों के फैलाव के साथ-साथ यह भी ज़रूरी है कि मज़दूरों का कम से कम वेतन मुक़र्रर कर दिया जाय। मज़दूरों से आठ घण्टा प्रतिदिन से ज़्यादा काम न लिया जाय। यदि वे किसी दुर्घटना में फँसें तो इसके लिये उनका बीमा हो। उन्हें बेकारी से बचाने का तरीक़ा हो और उनके बुढ़ापे का कोई इन्तज़ाम हो। उद्योग धन्धों के फैलाव के साथ-साथ व्यापक मज़दूर आन्दोलन पैदा हो सकता है जो जात-पांत और धर्म मज़हबों के बन्धनों को तोड़कर हिन्दू मुसलमानों को एक मंच पर लाकर खड़ा कर सकता है। यहाँ यह बताने की कोई ज़रूरत नहीं कि मज़हब की बिना पर ट्रेड यूनियन का संगठन बिलकुल बेकार होगा। इससे कारख़ाने के मालिक एक को दूसरे के ख़िलाफ़ लड़ाते रहेंगे और सभी की मज़दूरी में कटौती कर देंगे। ट्रेड यूनियन के साथ-साथ कारख़ानादारों, टैकनीशियनों और मैनेजरों की असाम्प्रदायिक संस्थायें बनेंगी। ये लोग मिलकर अपने हितों में मौजूदा धार्मिक संघर्ष की भावना को कम करने की कोशिश करेंगे। किसानों के अन्दर सहयोग की भावना से आर्थिक स्थित के सुधरने और साम्प्रदायिक एकता के पैदा होने की बेहद सम्भावनाएँ हैं। हिन्दू मुसलमान किसान मिलकर खेती जोत सकते हैं, बीज, खाद आदि ख़रीद सकते हैं, अपनी पैदावार बेच सकते हैं और ख़रीदारों को सामान आदि दे सकते हैं। सन् १९३८ में हिंदुस्तान में सहयोग समितियों की तादाद एक लाख से भी कम थी और उनकी कुल मेम्बरशिप क़रीब ४५ लाख थी। आर्थिक पुनर्संगठन से यह तादाद बेहद बढ़ सकती है और साथ काम करने से आपस की ग़लतफ़हमी बहुत दरजे तक शर्तिया दूर हो सकती है।

ग़लत फ़हमी की सफ़ाई

ग़रीबी दूर होने से और आर्थिक जीवन के चहुँ-मुखी विस्तार से बहुत सी ग़लतफ़हमियाँ दूर हो सकती हैं जो आज साम्प्रदायिक भावनाओं को बढ़ा रही हैं। मिसाल के तौर पर यदि औद्योगिक चीज़ों में पंजाब के हिन्दू सुरक्षित रूप से अपना रुपया लगा सकें तो लैण्ड एलीनेशन एक्ट के प्रति उनकी वही भावना हो जाय जो पंजाब के मुसलमानों की है। खेती और खेती के क़ानूनों में सुधार से बंगाल के मुसलिम काश्तकारों और हिन्दू ज़मींदारों का आपसी संघर्ष दूर हो सकता है। आर्थिक सुधार और कोआपरेटिव बैंकों से क़र्ज़ मिलने की व्यवस्था होने पर न तो मुसलमानों को हिन्दू साहूकारों से बहुत ऊँचे ब्याज पर क़र्ज़ लेने की ज़रूरत रह जायगी और न हिन्दुओं को।

नये दृष्टिकोण का निर्माण

नये-नये उद्योग धन्धों और वाणिज्य व्यवसाय की उन्नति से और वैज्ञानिक उपायों से पुराने उद्योग धन्धों के पुनर्सङ्गठन से समाज के मौजूदा संगठन में बहुत बड़ी तब्दीली हो सकती है। इससे पुराने सामन्तशाही वर्ग का महत्व कम हो सकता है। देश के ग्रामीण जीवन में हिन्दू और मुसलमानों को मिलाकर रखने की उनकी शक्ति भी अब क्षीण हो चुकी है। नये परिवर्तन से एक शक्तिशाली मध्य वर्ग पैदा हो सकता है। चूँकि इसके सामने बेकारी का प्रश्न न होगा इसलिये यह उन समस्त आपसी संघर्षों से मुक्त होगा जिन्हें बेकारी पैदा करती है। बड़े-बड़े कारख़ानों के बनने से मज़दूरों की एक बहुत बड़ी संख्या काम में लग सकती है। यदि कारख़ानेदारों ने दुनिया के १५० वर्षों के तकलीफ़देह अनुभवों से फ़ायदा उठा कर नई बुनियादों पर उद्योगों को खड़ा किया तो मज़दूरों का यह वर्ग सुख से रह सकता है। वरना यह वर्ग अपने को संगठित करेगा और लड़भिड़कर अपने लिये सुविधाएँ प्राप्त करेगा। इस तरह का मज़दूर वर्ग बजाय भूतकाल की ओर देखने के भविष्य पर निर्भर करेगा। मज़दूरों के इस वर्ग के अन्दर बजाय मज़हबी भावना के अपने वर्ग की भावना होगी। यह वर्ग बजाय पुरानी भद्दी रूढ़ियों में फँसे रहने के ज़िन्दगी के माडर्न रूप की ओर अधिक झुकेगा। यदि विस्तृत आर्थिक परिवर्तन के साथ-साथ सार्वजनिक शिक्षा का भी प्रचार हो तो हर सामाजिक प्रश्न की शक्ल ही बदल जायगी और बहुत सी लड़ाई झगड़े की बातें ख़त्म हो जायँगी। हिन्दू मुसलिम समस्या को, जो बहुतों को हल होती नहीं दिखाई देती, लोग बिलकुल भूल जायँगे और हमारी भावी सन्तानों को इस समस्या के ऐतिहासिक पहलू की कल्पना करने में ज़ोर लगाना पड़ेगा। उस समय वह हवा ही नहीं रहेगी जो इस तरह की समस्या को सम्भव बनाती है। बदले हुये वातावरण में लोगों के स्वभाव ही बदल जायँगे और नई परिस्थिति निराशा के घने कुहरे पर प्रकाश की चादर तान देगी।

ज़नानख़ाने की क़ैदी : नारी

श्रीमती अत्तिया हबीबुल्ला

चारों ओर इस बात की कोशिशें हो रही हैं कि हिन्दुस्तान को मध्ययुगीन हालतों से निकाल कर यहाँ नये ज़माने की फ़िज़ा पैदा की जाय। इस कैफ़ियत को पैदा करने में सब में बड़ी रुकावट औरतों का परदा है। परदे को लेकर अरसे से कड़आ बहस मुबाहसा चल रहा है। परदे पर रिवाज और मज़हब ने अपनी छाप लगा दी है। हालांकि परदा हमेशा से एक सामाजिक समस्या रही है ताहम हम उसे राजनैतिक और आर्थिक समस्याओं से अलहदा नहीं कर सकते। परदे का इन समस्याओं से ख़ास ताल्लुक़ है। आर्थिक स्थिति ही मुल्क की सामाजिक संस्थाओं को शक्ल देती है। और सामाजिक संस्थायें ही आमतौर पर मुल्क की राजनैतिक फ़िज़ा पर असर डालती हैं। मुल्क की सामाजिक संस्थाओं की बुनियादों पर ही राजनैतिक संस्थायें क़ायम होती हैं। उनकी मदद के बग़ैर वह एक मिनिट खड़ी नहीं रह सकतीं।

शिकारियों, लड़ाकुओं और ख़ानाबदोश क़बीलों में औरतों की अहमीयत सिर्फ़ इतनी थी कि वे ज़्यादा से ज़्यादा तादाद में लड़कों को पैदा करें और अपने मरदों की आराम आशाइश का ख़याल रखें। वे क़ीमती असबाब की तरह समझी जाती थीं और डाकुओं से उनकी सतर्कता से हिफ़ाज़त की जाती थी। बाद में पूरब के मुल्कों में स्वेच्छाचारी शासकों और सामन्तशाही समाज के सबब एक से ज़्यादा शादियों का रिवाज पड़ा। शादियों के अलावा औरतों को रखैल बनाकर रखने की भी प्रथा चली। इन दोनों वजहों से इस बात की ज़रूरत महसूस हुई कि औरतों को हिफ़ाज़तन् कहीं अलग रखा जाय। औरतों की इसी अलहदगी की भावना ने बाद में परदे की वह कठोर सूरत अख़्तियार की जो आज हमारे सामने है।

बावजूद नये ज़माने की तालीम के मरदों के अन्दर से वह स्वेच्छाचारी वृत्ति कम नहीं हुई है। वे दिमाग़ी तौर से उसी तरह मध्ययुग के केन्द्र बने हुये हैं। नतीजा यह है कि समाज में आज भी कोई औरत अपने को सुरक्षित नहीं समझती। जो समाज क़ानून की बन्दिशों में चलता है उसमें इस बात की ज़रूरत ही क्या कि औरतों की ख़ासतौर पर हिफ़ाज़त की जाय। ज़माने की आबहवा में लोगों की चेतना परवरिश पाती है। इस चेतना के अन्दर जितना भी नैतिक और आध्यात्मिक अंश है उसी के बल पर समाज में औरतों की सब में अच्छी हिफ़ाज़त हो सकती है।

इसलाम के जिन सामाजिक और धार्मिक क़ायदों ने परदे को मज़हबन् जायज़ क़रार दिया वे इस मध्यकालीन ज़माने के क़ायदे हैं जब समाज की समस्याएं दूसरे क़िस्म की थीं। ज़माने की रविश को देखते हुए वक़्तन-फ़-वक़्तन मुख़्तलिफ़ उलेमाओं ने इसलामी हिदायतों पर अपना अपना भाष्य किया है। नतीजा यह है कि क़ुरान की एक ही आयत पर एक दूसरे के ख़िलाफ़ अनेक मत हैं। सब में ज़्यादा दक़ियानूसी और कट्टर राय के मुताबिक़ परदे का अर्थ है मरदों और औरतों की क़तई अलहदगी। इन लोगों की राय के मुताबिक़ औरतों का महज़ उन्हीं मर्द रिश्तेदारों के आगे निकलना जायज़ है जिनसे शर'यत की रू से उनकी शादी क़तई नामुमकिन है। कुछ लोगों की राय में औरतें ज़नानख़ाने से बाहर निकल सकती हैं बशर्ते कि वे पूरी तरह ढकी मुंदी हों। कुछ भाष्यकार उन्हें हाथ पैर और मुंह खुला रखने की इजाज़त देते हैं। ये मुख़्तलिफ़ भाष्य यह ज़ाहिर करते हैं कि वक़्तन-फ़-वक़्तन औरतों की मरदों के कमोबेश कितने लोलुप भाव रहे हैं। ये मरदों की नैतिक शक्ति के पैमाने हैं।

लेकिन परदे के प्रचलन में आर्थिक स्थिति का भी निर्णायक हाथ रहा है। जहाँ जहाँ यह महसूस हुआ है कि औरतें मरदों की तरह ही आर्थिक लाभ की हेतु बन सकती हैं वहाँ वहाँ उनमें परदे का रिवाज नहीं है। औरतें बाहर निकाल कर कमाई करती हैं और घर गिरस्ती का आधा भार बँटाती हैं। लेकिन परदे का रिवाज उन औरतों के बावजूद प्रचलित हुआ। ग़रीब मज़दूर औरतों का समाज में कोई ख़ास असर तो होता नहीं।

सामन्तशाही समाज में परदे का रिवाज क्यों फैला यह बात समझी जा सकती है। औरतों की समाज में कोई अहमीयत न थी और जनता की राय की ही कोई क़द्र थी। लेकिन जो मुल्क जनतन्त्र का दावा करते हैं उनमें परदे का रिवाज एक मुअम्मा है। परदा मानव समाज के आधे हिस्से की आज़ादी और उनके हक़ूक़ छीन लेता है। मौजूदा हुकूमतें नागरिकों से बनती हैं वे जुदागाना हितों वाली औरतों और मरदों से नहीं बनतीं।

परदा हिन्दुस्तान की औरतों की राजनैतिक तरक़्क़ी में सब में बड़ी रुकावट रहा है। नये संगठन विधान में उन्हें पहले से कहीं ज़्यादा राजनैतिक अधिकार दिये गये हैं। इन अधिकारों की उस समय तक कोई क़ीमत नहीं जब तक औरतें सक्रिय राजनीति से अलहदा हैं और जब तक वे नागरिकता के फ़र्ज़ और अपने हक़ूक़ से बेख़बर हैं। महज़ वोट देने का हक़ मिल जाने से उन्हें राजनैतिक अधिकार नहीं मिल गये। वोट का महत्व तब है जब उसे ख़ुद मुख़्तार तरीक़े से और आज़ादी से इस्तेमाल किया जाय। जनतन्त्र राजनैतिक तालीम को जरूरी समझता है और परदे में रहने वाली औरतों को राजनैतिक तालीम नहीं मिल सकती। परदे की वजह से महज़ चन्द औरतें राजनैतिक संस्थाओं और धारा सभाओं में करोड़ों औरतों की नुमाइन्दगी का तमाशा कर रही हैं।

परदानशीन औरतों के वोट का तरीक़ा भी ऐसा है जिसमें बेहद वक़्त और रुपया ख़राब होता है। बग़ैर शिनाख़्त के वे वोट नहीं दे सकतीं। चारों तरफ़ की आब-व-हवा और वोट के तरीक़े का नतीजा यह होता है कि औरतें संकुचित राजनैतिक वातावरण में फँस जाती हैं और स्थानीय और ज़ाती मामलों से ऊपर नहीं उठ पातीं। आजकल के ज़माने में इससे ज़्यादा बदतर चीज़ और क्या हो सकती है? वैज्ञानिक अन्वेषणों और यातायात के साधनों के सबब आजकल छोटी से छोटी बात भी विश्वव्यापी महत्व अख़्तियार कर लेती है। इसीलिये आजकल के राजनैतिक उसूलों में एक अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण होता है और आजकल की राजनीति समाज के समूचे ढाँचे को फिर से गढ़ने का प्रोग्राम लेकर चलती है।

औरतों की हाल की जाग्रति ने परदे को और उनकी अलहदगी को बहुत कुछ कम किया है। सत्याग्रह आन्दोलनों का सब में नुमायाँ नज़ारा यह रहा है कि हिन्दुस्तानी औरतों ने ज़नानख़ाने से बाहर निकलकर अपने मरदों के साथ उसमें साहसपूर्ण हिस्सा लिया है। इन बहिनों ने दुनिया को यह दिखा दिया कि औरतें भी अमली राजनीति में कितनी पुर-असर हो सकती हैं।

आर्थिक दृष्टि से परदे ने हिन्दुस्तानी ज़िन्दगी का स्तर काफ़ी नीचा रखा है। परदे की वजह से एक बहुत बड़ी जनसंख्या, जो मरदों को कमाने में मदद दे सकती थी, बेकार और निकम्मी है। मज़दूर औरतों को छोड़कर जो परदा नहीं रखतीं, औरतों को अपनी रोज़ी कमाने का कोई ज़रिया नहीं, सिवाय इसके कि वे या तो घरेलू नौकरानी का काम करें, या धायों का काम करें और या शिक्षिकाओं का काम करें। फिर इन पेशों के अन्दर बेशुमार गुञ्जाइश भी नहीं है। इसलिये अधिकांश औरतें अपने मरदों के ऊपर एक आर्थिक भार हैं। ख़ानदानी औरतें, अगर वे अमीर हैं तो, काम करने को हिक़ारत की नज़र से देखती हैं। वे भी उस वक़्त तक माँ-बाप पर भार होती हैं जब तक उन्हें किसी ख़ाविन्द के सुपुर्द नहीं कर दिया जाता।

बहुत से लोग इस बात की मुख़ालफ़त करते हैं कि औरतें आर्थिक क्षेत्र में मरदों के साथ होड़ लगायें। इसकी जो कुछ प्रतिक्रिया पच्छिम के मुल्कों में हुई है उसकी हमारे सामने वे मिशाल पेश करते हैं। हिन्दुस्तान में अभी अरस-ए-दराज़ तक इस होड़ की गुञ्जाइश नहीं चूंकि यहाँ औरतों और मरदों के कार्य क्षेत्र अलग अलग हैं। पच्छिम में भी इस होड़ के कोई मायने नहीं हैं क्योंकि वहाँ औरतों और मरदों की मज़दूरी में बेहद फ़र्क़ है। हाँ इसमे वहाँ औरतों और मर्द मज़दूरों के बीच में काफ़ी ईर्षा और लड़ाई झगड़े रहते हैं। औरतों के काम करने के विरोधी सदियों पुरानी और सड़ी हुई दकियानूसी युक्ति को निकाल कर हमारे सामने पेश करते हैं कि औरतें तो ज़नानख़ाने की शोभा हैं और उनका कार्य-क्षेत्र घर गिरस्ती है। फ़ासिस्ट इटली और नात्सी जर्मनी ने तो औरतों को ज़बर्दस्ती घर के अन्दर ढकेल दिया। लेकिन इससे इन मुल्कों में भी बेकारी की समस्या हल नहीं हुई। इससे कोई बड़ा फ़र्क़ नहीं पड़ता कि बेकारों में औरतें हैं या मर्द। आज लड़ाई की कैफ़ियत जाने दीजिये। सबको बेहद काम है। लेकिन कल को फिर वही समस्या दुनिया के सामने पेश होगी। इटली और जर्मनी दुनिया के कोई आदर्श मुल्क नहीं हैं। ये मुल्क वैज्ञानिक तरीक़े से मौजूदा समस्याओं को हल भी नहीं कर रहे। प्रागैतिहासिक शिकारियों की तरह ही उन्हें औरतों की ज़रूरत है कि लड़ाई के लिये वे ज़्यादा बच्चे पैदा करें।

ग़रीबी और मुफ़लिसी ने परदे की बुराइयों को और ज़्यादा नुमायाँ कर दिया है। अमीर अपनी औरतों को ज़नानख़ाने में बन्द रखकर भी उन्हें ताज़ा हवा खिला सकते हैं मगर उन शरीफ़ ग़रीबों का क्या हो जो बिलों में रहते हैं ? हिन्दुस्तानी शहरों की तङ्ग गलियों की अंधेरी कोठरियों में रहना और फिर ऊपर से परदे की सज़ा ! अमीरों की नक़ल करने में इन ग़रीब औरतों को अपनी सेहत, अपनी तन्दुरुस्ती और अपनी ज़िन्दगी तक क़ीमतन् देनी पड़ती है। परदे की इस दर्दनाक क़ीमत का तख़मीना सरकारी रिपोर्टों में आप देख लीजिये। अमीरों और ग़रीबों के लिये ज़िन्दगी यकसाँ नहीं है। यहाँ तक कि दोनों के लिये सदाचार तक के क़ायदे भी दो तरह के हैं।

परदे की वजह से राजनीति और आर्थिक क्षेत्र में औरतों का कोई महत्व नहीं रह गया। उनकी चहल-पहल का दायरा महज़ घर गिरस्ती ही रह गया है। लेकिन घर गिरस्ती में भी औरतें अपने आपको ख़ुद मुख़्तार नहीं समझ सकतीं। इसकी दो वजहें हैं—(१) औरतें आर्थिक दृष्टि से मरदों का मुंह जोहती हैं और (२) पूरबी विचार-धारा के अनुसार हर मर्द अपने आपको औरतों से कहीं ज़्यादा बेहतर समझता है। बचपन से ही औरतों के दिमाग़ में यह चीज़ भर दी जाती है कि उन्हें मर्द तभी अच्छा समझेंगे जब वे अपने आपको नेक बेटी, नेक बीवी और नेक माँ साबित करेंगी। लड़कियों को महज़ इसलिये अह-मीयत दी जाती है जिसमें वे आसानी से शादी के बाज़ार में चढ़ सकें। फिर शादियों में लड़कियों की अपनी पसन्द का कोई सवाल नहीं। शादी को तो वालदैन एक ज़रूरी गुनाह समझते हैं। जिनका परदे में एतक़ाद है वे औरतों को यदि गुनाहे मुजस्समा न समझेंगे तो और क्या समझेंगे ? औरतों के साथ जो भी सम्पर्क हो और चाहे जिस शक्ल में हो ख़ुदा-परस्त मर्दों के नज़दीक वह शर्मनाक है। शरीफ़ मर्द कहीं अपने मुंह से शादी की बात कह सकते हैं और शादी के बाद उनके गुनाहों का नतीजा जो औलाद होती हैं, कहीं उनका ज़िक्र कर सकते हैं !

इनसानी जज़बात का कहाँ तक ख़ून किया जा सकता है ? औरतों को ज़बरदस्ती इस तरह दबाने का नतीजा यह है कि हमारी सन्तानें दिमाग़ी तौर पर आज कमज़ोर हैं, जिस्मानी तौर पर बीमारियों की घर हैं, न उनके अन्दर कोई अनुशासन है, न बच्चों का लालन-पालन ही वैज्ञानिक ढङ्ग से होता है, और न घरों के अन्दर सौन्दर्य और एकरसता है। आज कल के घर तो भद्दे रिवाजों और दकियानूसी परम्पराओं के अड्डे हैं।

नतीजा यह है कि सारे वातावरण में फ़ालिज का सा असर है। मरदों के हाथ में पैसा है लिहाज़ा उन्होंने इस ज़हरीली हवा से अपने को बचाने का रास्ता निकाल लिया है। उन्होंने औरतों को दो वर्गों में बाँट दिया है। एक वर्ग में उनकी बीवियाँ, माँएँ और बेटियाँ हैं जिनकी हुर्मत की पहरेदारी करना वे अपना पाक फ़र्ज़ समझते हैं। और दूसरे वर्ग में ज़माने की ठुकराई हुई वे ग़रीब अबलाएँ हैं, जिनका मर्द पैसों से हुस्न और सतीत्व ख़रीदते हैं और जिनसे अपने पाप की ज्वाला को सुलगाते हैं। यह परदे का कितना भीषण रूप है जिसने वेश्याओं को समाज के मरदों की संस्कृति का पैमाना बना रखा है।

मरदों की इस घोर अनैतिकता, उनके पाप और उनके अन्यायों पर तहज़ीब का मुलम्मा फेर दिया गया है। मरदों के गुनाहों को—"ऊँह! इसमें क्या रखा है, यह तो सब मर्द करते ही हैं" कहकर टाल दिया जाता है, या बर्दाश्त किया जाता है। लेकिन औरतें यदि वही गुनाह करती हैं तो उनके लिये वह एक भयंकर जुर्म हो जाता है; जिसके लिये न सिर्फ़ उन्हें क़ानूनी सज़ा मिलनी चाहिये बल्कि समाज का फ़र्ज़ है कि वह उन्हें लात मारकर बाहर निकाल दे। मरदों को किसी "नतीजे" से डरने की ज़रूरत नहीं है और दुनिया उसी गुनाह को गुनाह समझती है जिस गुनाह का पता चल जाता है।

सदाचार के इसी झूठे रवय्ये ने परदे के झण्डे को ऊंचा खड़ा कर रखा है और यही परदा प्रथा की नैतिक कमज़ोरी है। झूठे विश्वास सदाचार का आधार नहीं बन सकते न नकारात्मक विश्वास ही उसका आधार बन सकते हैं। सदाचार के लिये ठोस विश्वासों की ज़रूरत है। बाहरी बचाव के ऐसे साधन पैदा करने चाहियें जिसमें यह कह सकना सम्भव हो—"मरदों की इस पीढ़ी ने अपनी सामाजिक सत्ता से अपने पैसों के ज़ोर पर अपनी ज़िन्दगी में किसी औरत को अपना सतीत्व देने के लिये मजबूर नहीं किया और औरतों की यह पीढ़ी है जिसने सिवाय प्रेम के और किसी कारणवश किसी मर्द के निकट कभी भी अपने जीवन में आत्म समर्पण नहीं किया।"

परदा प्रथा के जारी रहने की चाहे जो वजह हों, रिवाज और मज़हब चाहे जितना उसका समर्थन करते हों, सवाल उठता है कि क्या उसका किसी भी शक्ल में जारी रखना मुनासिब और जायज़ है? परदे से चूंकि नैतिक समस्याएँ हल नहीं हुई हैं लिहाज़ा वह नैतिक दृष्टि से किसी तरह जायज़ नहीं हो सकता। परदा ने समाज की दुनियावी तरक्क़ी को भी रोका है लिहाज़ा वह दुनियावी नुक्ते नज़र से भी जायज़ नहीं है। हमें यह बताया जाता है कि बाज़ समाजों में जहाँ परदा नहीं है वहाँ के व्यक्तियों का कितना भयंकर पतन हुआ है। मगर हमें यह नहीं बताया जाता कि अधिकांश परदा-रहित समाजों में लोगों ने अभूतपूर्व उन्नति की है जो परदे के सबब मुमकिन न हो सकती थी।

सभ्य दुनिया ने परदे की सख़्त मुख़ालफ़त की है। हिन्दुस्तान के अन्दर की फ़िज़ा भी परदे के ख़िलाफ़ है। आजकल की दुनिया में कोई मुल्क अपने को और अपने विचारों को दुनिया से अलग करके नहीं रह सकता।

हिन्दुस्तान के मरदों के दिमाग़ों ने यहाँ की औरतों की अपेक्षा बाहरी दुनिया के आन्दोलनों से कहीं ज़्यादा असर क़ुबूल किया है। मर्द ही एक तरह से औरतों की आज़ादी के प्रचारक हैं। चाहे पच्छिम हो और चाहे पूरब हो जब तक औरतें आर्थिक दृष्टि से मरदों पर निर्भर हैं तब तक उन्हें मरदों के स्टैण्डर्ड से ही रहना पड़ेगा। मौजूदा ज़माने के मरदों को महज़ इस बात से सन्तोष नहीं है कि उनकी बीवियाँ उनकी पाशविक वासनाओं को तृप्त कर देती हैं और उनकी जायज़ औलादों की माँ बन जाती हैं। लिहाज़ा औरतों को ज़्यादा उदार शिक्षा दी जा रही है कि वे बेहतर क़िस्म की बीवियाँ बन सकें और उनके अन्दर आकर्षण भी हो और वे लाजशीला भी हों और साथ ही साथ वे बेहतर माँयें भी बन सकें। कुछ बहादुर बहनों ने शिक्षा की वास्तविक भावना से प्रेरित होकर अपने अन्दर व्यक्ति-

गत समता पैदा की है और आज वे स्त्री-पुरुष के अन्दर सच्ची समता का प्रचार और संगठन कर रही हैं।

इन बाहरी हमलों से परदे का नैतिक ढाँचा ख़स्ता हो रहा है। परदे के कुछ बहुत बड़े हामी इसलिये परदा छोड़ रहे हैं ताकि नये समाज में उन्हें महत्त्व और रुतबा हासिल हो सके और आला अफ़सरों में उनकी रसाई हो सके। कुछ लोग परदे के गुणों के क़ायल नहीं है लेकिन परदादारों से वे डरते हैं और महज़ ऐसी जगह परदा हटाते हैं जहाँ उनकी ज़्यादा नुक़्ताचीनी न हो। नये और पुराने विचारों में सामञ्जस्य पैदा करने में जो झिझक होती है वही झिझक आज परदे का आधार बनी हुई है। पुरानी हालतों में परवरिश पाये हुये मर्द और औरतें आज अपने को नई विचार-धारा में मजबूरन बहते पा रहे हैं। नई आज़ादी के फ़र्ज़ों से नावाक़िफ़ वे अपने को अजीब-ओ-ग़रीब कैफ़ियत में पाते हैं। नये विचारों के लिये उनके पास शिक्षा-दीक्षा की तय्यारी नहीं है। नतीजा यह है कि बाज वक़्त नये सुधारों के प्रयोग नाकाम और विफल हो जाते हैं, घर में प्रेम का धागा टूट जाता है और पति-पत्नी में मनोमालिन्य की रेखा खिंच जाती है।

जहाँ तक मरदों और औरतों का साधारण सम्बन्ध है उस पर इन असफल प्रयोगों का और भी बुरा असर पड़ता है। ऐसे मर्द, जिनकी औरतें परदे में रहती हैं और जिनका यह विश्वास है कि परदे के भीतर ही स्त्री का सतीत्व सुरक्षित रह सकता है, जिन मर्दों के अपने अन्दर आत्म संयम का कोई निश्चित स्टैण्डर्ड नहीं है, जब वे ऐसी औरतों से मिलते हैं जिन्होंने परदे से बाहर निकल कर अपनी आज़ादी हासिल कर ली है, तो वे उनके सम्बन्ध में अपने शक और शुबहे की कहानियाँ हज़ार कानों में दुहराते फिरते हैं। अपनी बीवियों को परदे में रखने-वाले मर्द कभी भी आज़ाद औरतों की सच्ची इज़्ज़त नहीं कर सकते। बहर हाल औरतों को इस तरह के मरदों की आलोचना और उनकी फैलाई हुई बद-नामियों का मुक़ाबला करना पड़ेगा। हर सूरत में आज़ादी अपनी क़ीमत तो माँगती ही है।

हिन्दी के दैनिक पत्र

इस लेखक के एक प्रसिद्ध हिन्दी दैनिक के प्रतिष्ठित सम्पादक हैं। हिन्दी पत्रकार जीवन का उनका २५ वर्ष का महत्त्वपूर्ण और विशद अनुभव है। लेख के अन्दर कुछ कटु आलोचनायें भी हैं, किन्तु इन कटु आलोचनाओं को बग़ैर प्रकाश में लाये दैनिक पत्रों की वास्तविक स्थिति स्पष्ट नहीं हो सकती थी—सम्पादक

नई दिल्ली में १९४१ में हिन्दी पत्रकार सम्मेलन के अवसर पर सरकार के प्रकाशन विभाग की ओर से हिन्दी पत्रकारों को एक दावत दी गई थी। उस दावत में हाज़िर पत्रकारों की संख्या पर एक उच्च सर-कारी अधिकारी ने आश्चर्य के साथ यह पूछा था कि हिन्दी में प्रकाशित होने वाले पत्रों की संख्या कितनी है। सम्मेलन के एक अधिकारी ने सहसा इस संख्या को दो सौ कहने में कुछ भी संकोच नहीं किया। ठीक ठीक यह संख्या दो सौ हो या न हो; लेकिन, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि यदि दैनिक, साप्ता-हिक, पाक्षिक एवं मासिक रूप में निकलने वाले सभी पत्रों की गिनती की जा सके, तो हिन्दी के पत्र अन्य भाषाओं से और अचरज नहीं कि अंग्रेज़ी से भी, बाज़ी मार ले जायेंगे। हिन्दी जब देश की आम भाषा होने जा रही है, तब उसके पत्रों की संख्या अधिक होनी ही चाहिये। जब उर्दू में केवल लिपि का ही भेद रह जायगा और हिन्दुस्तानी के रूप में दोनों का सम्मिश्रण हो जायगा, तब तो इसमें कोई सन्देह ही नहीं कि इस आम भाषा के पत्र सारे देश में छा जायेंगे और देश की क़िस्मत इन्हीं के हाथों में आ जायेगी। यह आम तौर पर कहा और सुना जाता है कि देश का भविष्य हिन्दी पत्रों के हाथों

में है। अंग्रेज़ सरकार ने जब भी कभी दमन नीति से काम लिया तब हिन्दी पत्र बुरी तरह उसके शिकार हुये हैं। हिन्दी पत्रों के सम्पादकों की जेल-यात्राओं, उनके द्वारा दी गई ज़मानतों और ऐसी ही अन्य मुसीबतों का कोई ब्योरा यदि तय्यार किया जा सके, तो पता लग सकता है कि किस प्रकार उनके सिर पर कच्चे धागे से बँधी हुई नंगी तलवार लटकी रहती है और उसका वार भी उन पर किस प्रकार होता रहता है। पिछले दिनों में आगरा के हिन्दी दैनिक "सैनिक" के साथ किये गये कठोर व्यवहार की दूसरी मिसाल मिलनी मुश्किल है।

लेकिन, एक सवाल है कि क्या हिन्दी पत्रों की आज की स्थिति को देखते हुये यह अपेक्षा की जा सकती है कि भविष्य के बारे में उनसे जो आशायें की जा रही हैं, उन्हें वे पूरा कर सकेंगे ? उनकी आज की स्थिति, सम्पादनशैली, प्रबन्ध-व्यवस्था आदि पर विचार करने के बाद जो चित्र आँखों के सामने उपस्थिति होता है, यह मानना चाहिये कि, वह इतना आशापूर्ण नहीं है। कभी कभी तो भविष्य के बारे में उससे घोर निराशा होने लगती है। हिन्दी पत्रों के सम्बन्ध में यह आम धारणा बन गई है कि उनमें एक दिन पुराने समाचार रहते हैं। जो हिन्दी के अलावा दूसरी भाषा के पत्र पढ़ सकता है, वह हिन्दी पत्रों की अपेक्षा उनको पढ़ना अधिक पसन्द करता है। उनको छुड़ाकर उसके हाथों में हिन्दी पत्र देना मुश्किल है। राष्ट्र भाषा का प्रेम अभी इतना तीव्र नहीं हुआ है कि सुन्दर, साफ़ और मनोहर विलायती कपड़े को छोड़कर जैसे मोटी खुरदरी और भद्दी खादी को पहिना जाता है, वैसे ही लोग राष्ट्रभाषा के पत्रों को दूसरे दर्जे का होते हुये भी अपनाने लगें। बम्बई में इतने हिन्दी दैनिकों की असफलता का मुख्य और प्रधान कारण यही है कि वहाँ के अंग्रेज़ी के तो क्या, गुजराती और मराठी के भी पत्रों का मुक़ाबला हिन्दी के पत्र नहीं कर सके। सम्पादन समाचार और मुद्रण तक की दृष्टि से वे उनकी बराबरी नहीं कर सके। वहाँ की हिन्दीभाषी जनता तक के हाथों से गुजराती या मराठी के पत्र छुड़ाकर उनको हिन्दी के पत्र देने में हिन्दी पत्रकार आज तक भी सफल नहीं हुये। मारवाड़ियों की जातियों में भी जिस चाव से गुजराती के पत्र पढ़े जाते हैं, हिन्दी के नहीं पढ़े जाते। दिल्ली में भी हिन्दी पत्रों की स्थानीय बिक्री इतनी सन्तोषजनक नहीं है। कलकत्ता में हिन्दी के पत्रों ने अपना कुछ स्थान ज़रूर बना लिया है। लेकिन, वहाँ के सारे हिन्दी पत्र मिलाकर भी बंगला के 'आनन्द बाज़ार पत्रिका' का मुक़ाबला नहीं कर सकते। जैसे हर बंगाली घर में 'आनन्द बाज़ार पत्रिका' दीख पड़ती है, वैसे हिन्दी भाषी घरों में कोई हिन्दी पत्र स्थान नहीं बना सका। किसी भी हिन्दी पत्र का पहिली श्रेणी का पत्र न बन सकने का आख़िर कारण क्या है ? कोई हिन्दी पत्र किसी घर या बाज़ार में से अंग्रेज़ी या किसी अन्य भाषा के पत्र को हटाकर अपना स्थान क्यों नहीं बना सका ? हिन्दी पत्रों की प्रतिष्ठा एवं प्रभाव भी उतना क्यों नहीं बन सका ? भारत में इतनी अधिकता में होने वाली बाल मृत्यु के समान हिन्दी पत्रों की भी प्रायः शिशु अवस्था में ही मृत्यु क्यों हो जाती है ? ये कुछ प्रश्न हैं, जिन पर कुछ गम्भीर विचार ज़रूर किया जाना चाहिये।

हिन्दी पत्रकार कला के ही क्यों, सामान्य पत्रकार कला के कई पहलुओं में दो पहलू मुख्य हैं। एक पत्र का सम्पादन और दूसरा संचालन। पहिले का सम्बन्ध बेचारे उस सम्पादक के हाथों में है, जिसे अधिकतर उसके हाथों में रहना पड़ता है, जिसे संचालक कहा जाता है। यदि पत्र किसी संचालक की व्यक्तिगत सम्पत्ति है, तो फिर कहना ही क्या है ! ऐसी स्थिति में सम्पादक का पत्र के संपादन में 'अपनापन' कुछ भी नहीं रह सकता और लिमिटेड कम्पनी में भी प्रायः संचालक का ही हाथ, जिसे प्रचलित भाषा में 'मैनेजर' कहना चाहिये, ऊंचा रहता है। अधिकतर संचालक या मैनेजर जमा ख़र्च के हिसाब को सामने रखते हुये ही पत्र को चलाते हैं। कोई ऊंची भावना यदि उनके सामने रहती है, तो सिर्फ़ इसलिये कि

उसके बिना उनका पत्र चल नहीं सकता। इसे कुछ स्पष्ट करने के लिये एक उदाहरण लिया जा सकता है। राष्ट्रीयता का पोषण किंवा उग्र राजनीति के समर्थन का प्रश्न है। यह आम ख़्याल किया जाता है कि हिन्दी के जो पत्र राष्ट्रवादी नहीं हैं, उन्हें आम जनता का समर्थन नहीं मिल सकता और वे उसके सहारे नहीं चल सकते। कलकत्ता का पुरातनतम और प्रसिद्धतम हिन्दी पत्र 'भारतमित्र' इसलिये डूब गया कि वह राष्ट्रीयता का पोषक एवं समर्थक नहीं रहा। वैसे पैसे वालों अथवा पूंजीपतियों का समर्थन उसको उन दिनों में कहीं अधिक था, जिन दिनों में वह बन्द हुआ। दैनिक से साप्ताहिक करके भी चलाना मुश्किल हो गया। वर्णाश्रम स्वराज्य संघ वाले हज़ारों के ख़र्च की व्यवस्था करके भी उसे चला नहीं सके। सम्पादकाचार्य पं० अम्बिका प्रसाद जी वाजपेयी और पं० लक्ष्मण नारायण जी गर्दे का नाम हिन्दी पत्रकारों में पहिली श्रेणी में, बल्कि उनमें लिया जाता था, जिनकी संख्या अंगुलियों पर गिनी जाती थी। लेकिन, वे सम्भवत: इसीलिये पिछड़ गये कि देश की राजनीति और राष्ट्रीयता के साथ पैर से पैर मिलाकर वे आगे नहीं बढ़ सके। हिन्दी पत्रों और हिन्दी पत्रकारों दोनों ही के लिये राष्ट्रीयता का समर्थन एक अनिवार्य शर्त बन गई है। इलाहाबाद का 'भारत' माडरेट राजनीति का समर्थक होने से ही इतना लोकप्रिय नहीं बन सका। दर्भंगा के महाराजा के पास पैसों की कमी नहीं है। लेकिन, वे हिन्दी में पत्र चलाने की अपनी आकांक्षा के लिये जनता का समर्थन अपनी दकियानूसी राजनीति की वजह से ही प्राप्त नहीं कर सके। भारत धर्म महामण्डल, वर्णाश्रम स्वराज्य संघ और हिन्दू महासभा सरीखी संस्थायें हज़ारों-लाखों की कमी न होने पर भी अपना कोई पत्र क्यों नहीं चला सकीं? इसीलिये कि उनकी राजनीति के प्रति सर्वसाधारण में कोई दिलचस्पी पैदा नहीं की जा सकती। परन्तु सवाल यह है कि राष्ट्रीयता के पोषण तथा राजनीति के समर्थन को बतौर आदर्श के अपनाया जाना चाहिये कि व्यवहार के? इसका सीधा जवाब तो यही है कि इसे आदर्श के रूप में ही अपनाया जाना चाहिये। लेकिन, कितने पत्र हैं, जिन्होंने इसे इस रूप में अपनाया है? अमर शहीद श्री गणेशशंकर विद्यार्थी के "प्रताप" ने निस्सन्देह आदर्श के रूप में अपनाया था। लेकिन, यह कहना ज़रा कठिन है कि उनके बाद भी 'प्रताप' द्वारा उस परम्परा को क़ायम रखा गया। उसको निभाने का श्रेय 'प्रताप' की अपेक्षा उसके छोटे भाई 'सैनिक' को कहीं अधिक दिया जा सकता है। श्रीयुत श्रीकृष्णदत्त जी पालीवाल इतने बड़े साहित्यिक नहीं हैं, किन्तु इस परम्परा को निभाने की वजह से ही सफल पत्रकार ज़रूर माने गये हैं। "सैनिक' के साथ इस श्रेणी में सिर्फ़ बनारस के 'आज' का ही नाम लिया जा सकता है। इस दृष्टि से भी बाबूराव विष्णु पराड़कर ने अपने को जीवित रखते हुये 'आज' द्वारा हिन्दी पत्रकार कला का मापदण्ड ऊंचा करने के साथ-साथ उसके गौरव को भी कई गुना बढ़ा दिया है। उनके लिखे हुये लेख कितने ऊंचे पाये के, कितने विचारपूर्ण, और कितने भावपूर्ण होते हैं? समाचारों की दृष्टि से 'आज' ने भले ही अपना कोई विशेष स्थान न बनाया हो; लेकिन, मुख्य लेखों की दृष्टि से उसका अपना ही स्थान है। इस आदर्शवाद के चाँद पर भी एक कालिमा लगे बिना नहीं रह सकी। युद्ध के सरकारी विज्ञापनों को छापने से 'आज' भी इन्कार नहीं कर सका। इसलिये यह मानना होगा कि आदर्शवाद व्यवहारवाद के नीचे दबा हुआ है। इसीलिये जिन सम्पादकों के हाथों में आदर्शवाद को निभाने का काम है, वे उन संचालकों, मैनेजरों अथवा मालिकों के नीचे दबे रहते हैं, जिनके लिये व्यवहारवाद ही सब कुछ है। आज हिन्दी के प्राय: सभी पत्र विशुद्ध व्यवहारवादी बने हुये हैं। आदर्शवाद की उनके सामने कोई क़ीमत नहीं है। रुपये पैसे का जमा-ख़र्च उनके लिये मुख्य वस्तु है। देशभक्ति, राजनीति और राष्ट्रीयता की ऊंची भावनायें भी उनके लिये व्यवहार की वस्तु हैं। उन्हें वे सिर्फ़ इसलिये अपनाये हुये हैं कि उनके बिना उनका काम नहीं चल सकता और जनता में वे अपना स्थान नहीं

बना सकते। इस सब का परिणाम यह हुआ और हो रहा है कि पत्रों की आत्मा का स्थान शरीर ने ले लिया है। शरीर के पीछे आत्मा की इस बुरी तरह उपेक्षा की जा रही है कि संचालकों के सामने उसका कुछ भी महत्व नहीं रह गया है और सम्पादकों के लिये उसको जीवित रखना मुश्किल हो रहा है।

दिल्ली से निकलने वाले दैनिकों का आदर्शवाद की दृष्टि से अपना एक सुन्दर इतिहास है। अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज को हिन्दी जनता पत्रकार के रूप में प्रायः नहीं जानती। लेकिन वे पहले आदर्शवादी पत्रकार थे, जिन्होंने अपने सारे जीवन के समान पत्रकारिता में भी आदर्शवाद को बहुत खूबी के साथ अपनाया था। "सद्धर्म प्रचारक" पत्र उनका जीवन-संगी था। उनके सार्वजनिक जीवन का प्रारम्भ प्रायः इसी पत्र के साथ हुआ था। उसको हिन्दी में निकालने का आदर्श सामने आते ही उन्होंने एक दिन की भी देरी नहीं लगाई थी। उनकी प्रेरणा पर निकाला गया हिन्दी का दैनिक 'विजय' विशुद्ध आदर्शवादी पत्र था। इसी प्रकार उनके द्वारा शुरू किये गये दैनिक 'अर्जुन' का प्रारम्भ भी ऊँचे आदर्शवाद की दृष्टि से ही किया गया था। 'हिन्दुस्तान टाइम्स' की ओर से शुरू किये गये 'हिन्दुस्तान' ने राष्ट्रवाद के क्षेत्र में जिस आदर्शवाद को निभाया है वह निस्सन्देह सराहनीय है। आदर्शवाद को निभाने के साथ साथ दिल्ली के पत्रों के सम्पादन और समाचारों के संकलन की दृष्टि से भी हिन्दी पत्रों के मापदण्ड को उसने काफ़ी उन्नत किया है। राजपूताना और मध्य भारत के देसी रजवाड़ों के समाचारों का संकलन वे एजेंसियाँ नहीं करतीं जिन पर देश के अधिकतर पत्र निर्भर करते हैं। इनके समाचारों का संकलन किसी संवाददाताओं द्वारा करने में उसने दिल्ली के दैनिकों को भी मात दी है। 'अर्जुन' ने इस दिशा में पद-प्रदर्शन किया और 'हिन्दुस्तान' ने उसमें कमाल कर दिखाया। इन समाचारों के कारण इन पत्रों में जिस मौलिकता की झलक दीख पड़ती है, वह अन्य पत्रों में प्रायः नहीं मिलती। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रति सर्वसाधारण में जो अभिरुचि इन पत्रों ने पैदा की है, वह भी इनकी अपनी विशेषता है। नक़्शों की दृष्टि से हिन्दी के दैनिकों में 'हिन्दुस्तान' का पहिला स्थान है। उसकी ओर से प्रकाशित की गई 'युद्ध के नक़्शे' पुस्तिका हिन्दी की एक ही चीज़ है। लेकिन, इधर इन पत्रों में भी विज्ञापन की जो भरमार शुरू हुई उससे उनका आदर्शवाद मुरझा-सा गया। १९४० और ४१ में निकाले गये 'हिन्दुस्तान' के 'कांग्रेस-अङ्क' और 'गान्धी जयन्ती अङ्क' को 'विज्ञापन विशेषाङ्क' का ही नाम देना अधिक उपयुक्त होगा। यही स्थिति इस समय 'अर्जुन' की है।

दिल्ली के बाद हिन्दी दैनिकों की दृष्टि से दूसरा स्थान कलकत्ता का है। 'भारतमित्र', 'विश्वमित्र', 'स्वतन्त्र' और 'लोकमान्य' आदि की दृष्टि से उसे पहिला स्थान भी दिया जा सकता है। लेकिन, आदर्शवाद को निभाने की दृष्टि से कलकत्ता के दैनिक दिल्ली के दैनिकों से बहुत पीछे हैं। कलकत्ता के एक भी दैनिक को किसी भी दृष्टि से आदर्शवादी नहीं कहा जा सकता। व्यवहारवाद यदि आदर्शवाद का स्थान ले सकता है और सम्पादन का महत्व यदि विज्ञापन बटोरना ही है, तो निस्सन्देह 'विश्वमित्र' का स्थान बहुत ऊँचा है। अग्रवाल जो व्यापारीय दृष्टि से 'विश्वमित्र' को चलाने में अत्यन्त सफल होने पर भी हिन्दी पत्रकार कला के मापदण्ड को ऊँचा उठाने में सफल नहीं हुये हैं। सम्पादक की दृष्टि से 'विश्वमित्र' ने हिन्दी पत्रों में अपना न तो कोई विशेष स्थान बनाया है और न उसके सम्पादकीय लेखों बिना समाचारों की ही जनता के हृदय पर कोई विशेष छाप लगी है। दिल्ली के दैनिकों के समान न तो उसमें समाचारों की दृष्टि से कोई मौलिकता रही है और न 'आज' के समान उसके सम्पादन में कोई ओजस्विता पाई जाती है। एक हिन्दी पत्र के एक साथ तीन स्थानों कलकत्ता, बम्बई और नई दिल्ली से प्रकाशित होने का गौरव 'विश्वमित्र' ने अवश्य प्राप्त किया है; परन्तु बम्बई और

दिल्ली में भी कलकत्ता के ही समान पत्र को प्रायः निर्जीव रूप में निकाला जा रहा है। बम्बई और दिल्ली के पत्रों का राजस्थान और मध्य भारत के रजवाड़ों से कलकत्ता की अपेक्षा अधिक सम्बन्ध है। लेकिन, इस दृष्टि से 'नवराष्ट्र' के अभाव को बम्बई का 'विश्वमित्र' पूरा नहीं कर सका और न दिल्ली का ही 'विश्वमित्र' अभी 'अर्जुन' और 'हिन्दुस्तान' की जोड़ में आ सका है। सम्पादक की दृष्टि से श्री अम्बिकाप्रसाद जी बाजपेयी के 'स्वतन्त्र' का स्थान कहीं अधिक ऊँचा रहा है। 'स्वतन्त्र' के विफल हो जाने के बाद भी बाजपेयी जी ने हिन्दी पत्रकार कला पर अपनी एक छाप लगा दी है। परन्तु 'विश्वमित्र' को एक साथ तीन स्थानों से प्रकाशित करते हुये भी श्री मूलचन्द जी अग्रवाल पत्रकार कला पर अपनी कोई छाप नहीं लगा सके। बाजपेयी जी की असफलता में भी एक बहुत बड़ी सफलता है और अग्रवाल जी की सफलता में भी यह असफलता काफ़ी खटकने वाली है। इसका मुख्य कारण यह है कि अग्रवाल जी के सामने पत्र का सम्पादन, जो कि उसकी आत्मा है, सर्वथा गौण है और विज्ञापन, जो कि उसका शरीर है, कहीं अधिक महत्त्व रखता है। आत्मा की सर्वथा उपेक्षा कर केवल पेट की चिन्ता करने वाले मथुरा के चौबे की-सी अग्रवाल जी के 'विश्वमित्र' की अवस्था है। 'लोकमान्य' और 'जागृति' का संचालन जिस साहस, लगन और हिम्मत के साथ किया गया है, वह हिन्दी के दैनिकों के इतिहास का एक सुन्दर और उज्वल पृष्ठ है। लेकिन, सम्पादन की दृष्टि से, वे भी अपना कोई विशेष स्थान नहीं बना सके हैं।

नागपुर के 'नव भारत' और 'लोकमत' की चर्चा क्या की जाय? दोनों किसी प्रकार अपना गुज़ारा चला रहे हैं। दोनों का सम्पादकीय मापदण्ड बहुत ही हलका है। उसको सुधारने के लिए काफ़ी प्रयत्न अपेक्षित है। कानपुर भी दैनिक पत्रों का केन्द्र है। 'प्रताप' की पूंजी सिर्फ़ गणेश जी की साधना के रूप में रह गई है। धीरे धीरे वह भी लुप्त होती जा रही है। यदि विद्यार्थी जी के आदर्शवाद को जीवित रखने के प्रयत्नों में 'प्रताप' खप गया होता, तो उनके समान उसने भी 'अमर' एवं 'शहीद' पद को प्राप्त करने का गौरव प्राप्त किया होता। लेकिन, आज का 'प्रताप' उस आदर्श से बहुत नीचे की ओर गिर गया है। 'वर्तमान' अपनी गति-विधि में मस्त है। 'अर्जुन' की 'वीणा की झंकार' और 'वर्तमान' का 'मनसुखा' सर्वथा मौलिक चीज़ें हैं, जिनकी नक़ल करने वाले नक़लची ही रह गये। इलाहाबाद के 'भारत' को 'लीडर' का अभिशाप पनपने नहीं दे सकता। पटना के 'राष्ट्रवाणी' के रूप में भाई देवव्रत जी ने जिस शक्ति का परिचय दिया, वह सराहनीय है। विद्यार्थी जी की हलकी सी छाप कुछ धुंधले से रूप में उसमें दीख पड़ती है। लेकिन, उसको अभी बहुत कुछ अधिक प्रस्फुटित करने की आवश्यकता है।

लाहौर की ऊसर भूमि में हिन्दी के पौदे को रोपने का यश निस्सन्देह श्री यश ने सम्पादन किया है। महाशय कृष्ण जी के उद्योग के समान खुशहाल जी का उद्योग भी शायद ही पनप सकता, यदि श्री-यश की प्रेरक भावना उनके पीछे न होती। लेकिन 'हिन्दी मिलाप' को उभारने और सुधारने के लिये काफ़ी उद्योग किया जाना चाहिये। श्री गोस्वामी गणेश दत्त जी ने 'विश्वबन्धु' को दैनिक करने में माधवजी को जो प्रोत्साहन किया है, वह अत्यन्त आशापूर्ण है। यह विश्वास रखना चाहिये कि, 'विश्वबन्धु' पंजाब के गौरव को द्विगुणित करने में पीछे नहीं रहेगा।

हिन्दी दैनिकों के लिये विज्ञापनों के पीछे भागने की प्रवृत्ति बहुत भयानक साबित हो रही है। विज्ञापन पत्र का शरीर होना चाहिये, आत्मा नहीं। लेकिन वह स्थूल शरीर से भी अधिक महत्वपूर्ण होता जा रहा है। विज्ञापनों के पीछे भागने की प्रवृत्ति का भीषण दुष्परिणाम यह हुआ है कि उनके सम्बन्ध में विवेक-बुद्धि का दिवाला पिट गया है। घासलेटी विज्ञापनों तक के मोह में संचालक बुरी तरह उलझ

जाते हैं। स्वदेशी के प्रचारक पत्र विदेशी सामान के विज्ञापनों से भरे रहते हैं। राष्ट्रीयता के हामी पत्रों में अराष्ट्रीय ही नहीं, बल्कि राष्ट्रीयता विरोधी सरकारी विज्ञापनों को सिर्फ़ पैसे के लिए प्रमुख स्थान दिया जाता है। जब पैसा कमाना पत्रों का ध्येय बना लिया गया है, तब राजनैतिक पतन होना सहज और स्वाभाविक है। इस वक्त महँगी के युग में भी चार पैसे में चार पृष्ठ कोई सस्ता सौदा नहीं है। अपितु काफ़ी महँगा सौदा है। घर भरने को इतना काफ़ी होना चाहिये। लेकिन, सन्तोष कहाँ है ? विज्ञापनों के लिये पत्रों के सम्पादक, संचालक और मालिक पागल हो रहे हैं। पं० माखनलाल जी चतुर्वेदी का कभी का अत्यन्त उत्कृष्ट 'कर्मवीर' आज चाइना मेडिकल स्टोर का सूचीपत्र किंवा विज्ञप्ति पत्र अर्थात् कैटालौग-मात्र रह गया है। इस प्रवृत्ति का एक भीषण परिणाम यह हो रहा है कि अधिकांश पत्र-संचालकों की दृष्टि में सम्पादकीय विभाग में काम करने वाले खाऊ और उठाऊ पूत की तरह सन्देह की दृष्टि से देखे जाते हैं, जबकि प्रबन्ध विभाग में काम करने वालों को कमाऊ पूत माना जाता है। इन कमाऊ पूतों के वेतन में वृद्धि बहुत आसानी से हो जाती है और खाऊ पूत बिचारा अपनी क़िस्मत को कोसता रह जाता है। एक 'सर्वश्रेष्ठ हिन्दी दैनिक' में एक सम्पादक की छः वर्ष में ७५) से ८५) तक वेतन वृद्धि हुई, जबकि कमाऊ पूत को १००) से २१०) तक मिलने लग गया। एक पत्र में एक व्यक्ति को सम्पादक रहते हुये तो केवल ६०) देने की बात कही गई और प्रबन्ध विभाग के लिये उसको ७५) देना मंज़ूर किया गया। सम्पादन कला के विकास के लिये यह प्रवृत्ति घातक है और इस घातक प्रवृत्ति के कारण ही हिन्दी पत्रों की सम्पादकीय दृष्टि से न तो कुछ उन्नति हो रही है, न प्रगति और न विकास। अंग्रेज़ी पत्रों का तो वे क्या मुक़ाबला करेंगे, वे उर्दू, गुजराती, मराठी और बंगला आदि के दैनिकों का भी मुक़ाबला करने में असमर्थ हो रहे हैं। इसके लिये सम्पादकों की अपेक्षा पत्रों के मालिक एवं संचालक कहीं अधिक ज़िम्मेवार हैं। पत्रकार कला की साधना कर उसके गौरव को बढ़ाने की मिशनरी भावना से जब तक पत्रों का संचालन नहीं किया जायगा, तब तक स्थिति इसी प्रकार निराशापूर्ण बनी रहेगी और हिन्दी दैनिकों का भविष्य भी उज्ज्वल नहीं बन सकेगा।

चीन की लड़ाई : रेडियो नाटक

श्रीमती पर्ल एस० बक

अनाउन्सर (अमरीकन कंठ और उच्चारण)—चीन लड़ाई किस तरह लड़ रहा है? पाँच साल से लड़ता चला आ रहा है, बिना जहाज़ों या पनडुब्बियों के, बिना जंगी तोपों के, बिना वायुयानों के—चीन देश, तुम किस तरह लड़ रहे हो?

चीनी (चीनी कंठ और उच्चारण)—हमारे देशभाई लड़ रहे हैं।

अनाउन्सर (अविश्वास से)—खाली हाथों तो तुम लड़ नहीं सकते!

चीनी—हम राइफ़ल और हाथ फेंकने का गोला बनाना जानते हैं—हमारे पास और कुछ नहीं।

अनाउन्सर—तुम लोगों ने तोपें, जहाज़ और वायुयान नहीं बनाए?

चीनी—हम ने ऐसी चीज़ें कभी नहीं बनाईं। हमारी जाति सदैव ही शान्तिप्रिय रही है।

अनाउन्सर—और जब लड़ाई आ ही गई—

चीनी—और जब लड़ाई आ ही गई—तो क्या, खाली हमारे देशवासी थे। जब जापान ने हम पर हमला किया, हमारे देशवासी जाग उठे, दुश्मन के मुक़ाबले को सब मिल एक हो गये। यह रहा चीन का नक्शा। इसमें जहाँ चाहो तुम अँगुली रखो।

अनाउन्सर—लो मैं यहाँ पर रखता हूँ, जहाँ कुछ पहाड़ियाँ हैं, और एक छोटी-सी नदी—

चीनी—यह चीन के उत्तर में अन्हुी सूबे का एक गाँव है। यह एक सादा-सा चीनी गाँव है। चीन में यह और कहीं पर भी हो सकता था, दक्खिन या पूरब या पच्छिम। यह एक छोटा-सा गाँव है, तीस कुनबों से भी कम का और इसमें ज़्यादातर किसान हैं, यह एक उपजाऊ हिस्सा है, पुख़्ता बरसात और पहाड़ियों से जल-धाराएँ बहा करती हैं। घर सभी मिट्टी के बने हैं, उन पर पुआल की छाजन।

अनाउन्सर—ये लोग भी क्या लड़ रहे हैं!

चीनी—उनमें से हरेक। यह गाँव—इसका मुखिया है लिदा। सुनो!

आवाज़—सरल देहाती गान, देहाती ध्वनियाँ, एक मुर्गी कुड़-कुड़ करती है, एक आदमी हँसता है।

लिदा (गाना, किसान का सजीव कंठ)—हः, अरी काली कलूटी मुर्गी! अरी क़ौमी ग़द्दार, तू अपने अंडे छिपा रही है! (पुकारता है) मेरे बेटों की अम्मा!

लिमा (पास आते हुए)—अब के उसने कहाँ पर अंडा दिया? पिछली दफ़ा तो करमकल्ला के खेत में दिया था।

लिदा—इस बार चावल की टोकरी में।

लिमा—ओह, क्या दुष्ट चिरौंटी है! यह रोज़ अपने अंडे छिपाने की कोशिश करती है! हाँ यह तो रहा—देखो, बालम, एक बड़ा-सा भूरे रंग का अंडा!

लिदा—यह किस लड़के को दिया जाय?

लिमा (व्यग्रता से)—अब तुम मुझी से पूछते हो। सब से बड़े को नहीं तो किसे, क्योंकि वह सिपाही है।

लिदा—मँझले बेटे को क्यों न दिया जाय? वह भी तो लड़ता है, भले ही वह फ़ौज में न हो।

लिमा—फ़ौज में लड़ना ज़रा मुश्किल होता है। अलावा इसके अगर बड़े को लड़ाई पर भेज दिया गया? हमारे आदमी अब भेजे भी जा रहे हैं। ओह, ये जापानी—ये शैतान बौने! ये धरती पर जूँ की तरह फैले हैं। तो क्या फिर हमारे बड़े बेटे को अंडा नहीं मिलना चाहिये? वह बंदूक बहुत भारी है।

लिदा—हमारे मँझले बेटे को बंदूक मिले तो वह कितना ख़ुश होगा। उसके पास सिर्फ़ एक पुरानी

तलवार है। फिर वह कल था रात भर बाहर ही। तड़के वह जब आकर सोया तो उसने मुझे यह बात बताई।

लिमा—तुम हमेशा ही मँझले बेटे की तर्फ़दारी करते हो।

लिदा (हँसते हुये)—अगर मैं करता हूँ, तो इसलिये कि तुम हर चीज़ हर वक्त अपने बड़े बेटे को दिया करती हो—तुम औरत!

लिमा—तुम झूठ बोलते हो—मैं अपने सभी बेटों को एक सा चाहती हूँ।

लिदा—यह सच है कि तुम अपने बेटों को बेटी से अधिक चाहती हो। अंडा बेटी को ही क्यों न दे दें? वह एक मर्द की तरह वहाँ खेत में काम कर रही है, और दोनों बड़े लड़के चल दिये हैं।

लिमा—देखो, हम इसे बड़े या मँझले बेटे को नहीं देते, बल्कि अपने छोटे बच्चे को। नन्हका सुअर के अंडे पसंद करता है।

लिदा (हँसते हुए)—मैं समझ रहा था तुम उसे न दोगी—

बच्चे की आवाज़ (दूर से)—मू-मा! अंडा है क्या? (आवाज़ पास आती है) ओ, अंडा—एक अंडा! मेरे लिए!

लिदा—तुम क्या समझते हो कि यह तुम्हें मिले जब कि तुम्हारा मँझला भैया रात भर लड़ता रहा हो? उसे सोये अभी मुश्किल से एक घण्टा हुआ है। जब वह जागेगा, तो उसे क्या अण्डा नहीं मिलना चाहिए? उसने कल रात चार दुश्मनों का काम तमाम किया है—अकेले ही।

बच्चा—ओ, दा, मैं भी क्या पहाड़ी पर लड़ने-वाला नहीं बन सकता?

लिदा—तुम तो अभी कुल आठ साल के हो।

बच्चा—पर, दा, मैं इतना लम्बा जो हूँ।

लिमा—तुम्हारे बड़े भैया ने कहा था कि वह आज या कल जायेगा क्योंकि उसकी पलटन आगे भेजी जा रही है—

बच्चा—कहाँ?

लिमा—मैं कैसे बताऊँ कहाँ? पर मैं समझती हूँ कि अंडा उसी को मिलना चाहिए—

बच्चा—ओ मू-मा, मैं सोचता हूँ मैं सिपाही बनूंगा, पहाड़ी पर लड़ने वाला नहीं। सिपाहियों के पास बन्दूकें रहती हैं, नहीं क्या, दा? और पहाड़ी पर लड़ने वालों के पास नहीं भी रहती हैं। मँझले भैया को भी बन्दूक़ मिलनी चाहिए, क्या नहीं दा?

लिदा—जब उसका मौक़ा आयेगा तो उसे भी मिलेगी—किसी मरे हुए जापानी से।

बच्चा—जब वह सोलह साल का होगा, तब उसे बन्दूक़ मिलेगी?

लिदा—हो सकता है उसके पहले भी—

बच्चा—क्या हम उस अंडे को किसी रसदार तरकारी के साथ बनाकर दोनों भैयों को बाँट नहीं सकते और तब वे दोनों मुझे चखायेंगे ही।

आवाज़—माँ और बाप दोनों हँसते हैं।

लिदा—ओ, हमने तुझे 'नन्हा सुअर' यह ठीक नाम दिया।

लिमा (उल्लास सहित)—वह आया हमारा बड़ा बेटा! ओ, बेटा—बेटा!

बच्चा—बड़े भैया—(कठोर ज़मीन पर दौड़ते हुए बच्चे के पैरों की आवाज़, एक युवक के पैरों की खटपट-खटपट।)

युवक की आवाज़—नन्हें सुअर, तू लम्बा हो गया है।

लिमा—बेटा, देखो, मुर्ग़ी ने तुम्हारे लिये एक अंडा दिया है।

लिदा—नन्हें सुअर, अपने मँझले भैया को बुला ला—

बच्चा—(जैसे वह बाहर को जाता है उसकी आवाज़ भी धीमी होती जाती है।) मँझले भैया, उठो, उठो।

मँझला लड़का (दूरी पर उनींदी आवाज़ में)—क्या है?—मैं आ रहा हूँ—मेरे जूते कहाँ हैं?

बच्चा—ये तो रहे यहाँ।

मँझला लड़का—नन्हें सुअर ! मैंने चार जापानियों का काम तमाम किया है—

बच्चा—उस पुरानी तलवार से !

मँझला लड़का—हाँ—और अपने दो हाथों से! हम उनकी टोह में थे—हम दस जवान—सड़क के किनारे गेहूँ के खेत में छिपे हुए—

आवाज़—बहुत सुरीला संगीत, कुछ धीमी, सड़क पर क़वायदी क़दमों का शब्द। संगीत और धीमा हो जाता है।

मँझला लड़का (हाँफता हुआ)—जापानी—जापानी! ये खाने की तालाश में निकले हैं।

पुरुष की आवाज़—कितने हैं ?

मँझला लड़का—तेइस। मैंने दौड़ आने से पहले गिन लिया था।

दूसरी आवाज़—हमसे इतने सारे न मारे जायेंगे। दो और एक हिसाब ठीक रहा—दो उनके और एक हमारा।

मँझला लड़का—हम तीन तीन करके मार सकते हैं।

आवाज़—संगीत धीमा होता जाता है और समीप आते हुए क़वायदी क़दमों की आवाज़ लगातार ऊँची होती जाती है।

दूसरा लड़का—चौबीस हैं—चाँदनी में मैं उन्हें देख रहा हूँ—मैं चार का ख़ातमा करूंगा।

पुरुप—वे कल रात मेरी गाय ले गये। उसके बदले मैं ऊपर से एक और का ख़ातमा करूँगा, अगर वह लड़के के हाथ से बच गया तो।

पुरुष—चुप !

आवाज़—क़दम बहुत क़रीब आ गये हैं। एक अजीब भाषा में कुछ बोलने की आवाज़ सुनाई देती है।

मँझला लड़का—अब !

पुरुष—उनकी आँखें देख लें, तब तक रुको।

आवाज़—स्वर ऊँचा, क़दम नज़दीक।

मँझला लड़का—अब !

आवाज़—हमले का शब्द, बंदूकों का दगना, चीत्कार, कराहना, आदमियों की तीखी आवाज़ें गले से दम घुटने की आवाज़ें। संगीत का रुकना।

मँझला लड़का—मैंने उन्हें खाली हाथों पकड़ा है, सुना नन्हें सुअर ! सिर्फ़ तलवार ही पास होने में यही तो आफ़त है। उनको हाथों से ही पकड़ना पड़ता है—

बच्चा—क्या उनमें से किसी के पास भी बंदूक नहीं है ?

मँझला लड़का—उन सभी के पास बंदूकें थीं, पर मेरी तो अभी बंदूक रखने की बारी आई नहीं—शायद अगली बार मिले—

बच्चा—जल्दी चलो—बड़े भैया ठहरे हुए हैं—और मुर्गी ने एक अंडा दिया है।

मँझला लड़का—फिर ! दो ही दिन गए तो उसने दिया था।

आवाज़—जैसे मँझला लड़का घर में आता है वैसे ही साधुवाद की ध्वनियाँ।

मँझला लड़का—बड़े भैया, आओ, इधर !

लिदा—आओ मँझले बेटा।

मँझला लड़का—ओं, कैसी बंदूक है—कैसी बढ़िया बंदूक है। तुम जानते हो मैं क्या चाहता हूँ ? एक गरैंड—अमरीका की बनी हुई—पर मैं कैसी भी बंदूक लेना चाहता हूं।

बच्चा—मुझे बंदूक छूने दो, बड़े भैया ?

बड़ा लड़का—क्या—उन हाथों से ! और जब कि मैं उसे अभी अभी साफ़ कर चुका हूं !

लिमा—बच्चे को छूने दो ना।

बच्चा—ओ, यह कितनी चिकनी और सख़्त है ! क्या जब मैं बड़ा हो जाऊँगा तो मैं भी ऐसी ही बंदूक रख सकूंगा ?

लिमा—तब तक लड़ाई भी न रहेगी।

लिदा—जब हमारे पास हथियार नहीं तो लड़ाई कब ख़तम हो सकेगी ?

बड़ा लड़का—मैं दक्खिन की ओर भेजा जाने वाला हूँ।

लिमा—ओह, मेरे यह सब सुन्दर-सुन्दर बेटे हैं और लड़ाई इन्हें ले जाती है!

बच्चा—म्-मा। तुम अंडे से अपने आँसू पोंछ रही हो!

लिदा—अंडा मुझे दो तो।

लिमा—नहीं, मैं अभी इसे पकाऊँगी। मैं इसमें थोड़ा सा मसाला भी डालूंगी, बड़े बेटा, तुम जैसा पसंद करते हो, तुम्हें जो पसंद होता है मैं वह नहीं भूलती।

बच्चा—मैं अंडे को रसोई में ले जाऊंगा।

लिमा—तू क्या समझता है कि मैं अपने सिवा किसी और को यह ले जाने को दूँगी! पर तू मेरे साथ चल सकता है और इसे देख सकता है।

आवाज़—पैरों की खटपट को दूर होते सुनकर लोग हँसते हैं।

लिदा—अच्छा मेरे बड़े बेटे, अब मुझे बताओ कि तुम दक्खिन क्यों जा रहे हो?

बड़ा लड़का—बाबा, दुश्मन दक्खिन में बढ़ रहा है। उसने द्वीपों वाला गोरों का देश जीत लिया है।

मँझला लड़का—गोरों का देश! पर क्या जावा तो नहीं?

बड़ा लड़का—हाँ, जावा भी तो।

लिदा—(विलाप करते हुए) अइ-य—अफ़-सोस, अफ़सोस वह खजाना!

मँझला लड़का—ओ, अगर गोरे हमें कुछ हवाई जहाज़ भेज देते—एक सौ या दो सौ भी, तो हम हमला कर सकते थे!

बड़ा लड़का—एक ओर से हमला करते। हाँ, यह सब हम समझते हैं, पर हमें जहाज़ नहीं मिले।

मँझला लड़का—कहाँ हैं उड़ने वाले बघेरे![1]

बड़ा लड़का—क्या वह हर कहीं हो सकते हैं! उन्हें बड़ी सड़क[2] की रक्षा जो करनी है। अलावा इसके वे कुल जमा सौ ही तो थे और कुछ बरबाद हो गये हैं।

लिदा—मैं सोच रहा था कि जब दुश्मन ने पच्छिम वालों को उन्हीं के समुद्र तट[3] पर छेड़ कर नाराज़ किया था, तभी लड़ाई जीत ली जायेगी! यह मैंने सोचा था—

मँझला लड़का—वे तैयार न थे।

लिदा—अब तुम बरमा में लड़ाई लड़ने जा रहे हो, जो हमारा देश नहीं है। किसी चीनी ने ऐसा किया ही कब था?

बड़ा लड़का—अब कोई चीनी, अमरीकन या अंगरेज़ नहीं। हम सब एक हो कर लड़ रहे हैं। वे हमें बुला रहे हैं कि जाकर उनकी मदद करें और इसलिये हम जाते हैं।

लिदा (कटुता के साथ)—वे तुम्हें अपनी मदद को बुला रहे हैं—तुम अपने खाली हाथों—

बड़ा लड़का—मेरे पास यह रही बंदूक।

लिदा—तुम्हारे खाली हाथों में केवल एक बंदूक और लड़ोगे आकाश में मशीनगन वाले दुश्मन से! तुम बरमा पहुँचोगे ही कैसे! हज़ारों मील दूर है।

बड़ा लड़का—हम पैदल जायेंगे।

लिदा—पैदल!

बड़ा लड़का—नहीं तो कैसे?

लिदा—जब तुम वहाँ पहुँचोगे तो तुम्हारी मदद के लिए वहाँ हवाई जहाज़ होंगे?

बड़ा लड़का—हमें मालूम नहीं।

आवाज़—चीनी सैनिक-गीत की ध्वनि "जागो जागो" पैरों से चलने के शब्द, सैकड़ों पैर। एक नायक की बुलन्द आवाज़।

नायक—थमो!

---

[1] लड़ाकू हवाई जहाज।

[2] बरमा रोड।

[3] पर्ल हार्बर की घटना से तात्पर्य—अनु०

आवाज़—गीत समाप्त, पैरों की खटपट भी समाप्त।

नायक—शहर अब दस मील से कुछ कम ही है। तुम्हें अब चार टुकड़ियों में बँट कर फाटकों के बीच में से हमला करना है। याद रखो कि दीवालों पर मशीनगनें रखी हैं। इसलिये बंद फाटकों पर ज़ोर का हमला करने की कोशिश न करना। तुम में से आधे दीवाल पर की अंगूर की बेलों पर चढ़ जाएँ। अगर तुम छिपकली की तरह दीवाल से चिपके रहो तो बन्दूकें तुम्हारे पास नहीं पहुँच सकतीं। हमारे वहाँ पहुँचते अँधेरा ही रहेगा, और भोर ही संतरी भी बदले जाते हैं। तुम में से हरेक को जहाँ दुश्मन दिखे उसे ठौर ही मार डाले और उसकी बन्दूक छीन ले। नये संतरी आने तक रुको और उन्हें भी मार डालो, हरेक को। मशीनगनें दीवाल से नीचे फेंक दी जायँ—और, तुम नीचे, अपने जाल ताने उन्हें पकड़ने को खड़े रहो। याद रखो, एक मशीनगन एक आदमी की ज़िन्दगी से अधिक क़ीमती है।

आदमियों की आवाज़—अच्छा!

नायक—आगे—बढ़ो!

आवाज़—फिर गाना आरम्भ होता है, धीमा धीमा, और क़दम जल्दी बढ़ते हैं।

लिदा (व्यग्रता से)—हमें कब हथियार मिलेंगे कि हम अपने शहरों को वापस ले सकें?

बड़ा लड़का—यही तो हम पूछते हैं, पर कोई जवाब देता नहीं।

—लड़की (दूर से एक लड़की की आवाज़। निकट आती है)—हा—हा!

लिदा (जोर से)—अब क्या?

लड़की (हाँफती हुई)—मैं करमकल्लों को निरा रही थी और आराम करने के लिये थोड़ा-सा ज़मीन पर लेट गई—मेरा कान धरती पर लगा था—मैंने चुड़ैल की सी गरजने की आवाज़ सुनी—

बड़ा लड़का—दुश्मन है।

लिदा—ठहरो—यह हो नहीं सकता—क्यों, वे तीन पखवारे से इधर आये ही नहीं—

दूसरा लड़का—हमने कल रात कितने ही मारे हैं—वे नाराज़ हो गये हैं।

लिदा—दौड़ो—तुम सब—छिप जाओ!

आवाज़—दूरी पर वायुयान, बढ़ते हुए नीचे को झुकते आ रहे हैं।

चीनी कंठ—यह दुश्मन है। परिवार के छोटे-से गाँव के ऊपर और ऐसे ही सैकड़ों गाँवों के ऊपर दुश्मन के जहाज़ आकाश में साँपों की तरह गरजते-फुफकारते रहते हैं, गुरीला लोगों के हाथों मरे हुओं का बदला लेने के लिए बम बरसाते हैं—गुरीला जो रात में धावा करते हैं पहाड़ियों पर दुश्मन की घात में छिपे बैठे रहते हैं, रात में जहाँ दुश्मन डेरा डालते हैं, वहाँ उन्हें घेर लेते हैं, आग सेंकने को बैठे हुए जापानियों को झपट्टा मार एक-एक कर उठा ले जाते हैं, या जब वे सोते हैं, तो संतरियों को मार डालते हैं। दुश्मन बदला लेने को आसमान से गरजता चला आ रहा है—

आवाज़—वायुयानों की गर्जना, नन्हें सुअर की तीखी पुकार उठती है और फिर मौन हो जाती है। तीन धड़ाके, फिर जहाज़ लौट जाते हैं।

चीनी कंठ—यह कैसा छोटा-सा गाँव था, लि नामक गाँव। इसके सर्वनाश को तीन ही बम काफ़ी थे।

लिदा (सन्नाटे के बीच में से, एक अजीब दबे स्वर में)—क्या तुम कुछ सुनती हो, मेरे बच्चों की माँ?

लिमा (उसकी आवाज़ लड़खड़ाती है)—मैं ज़िन्दा हूँ—पर मैं हिलडुल नहीं सकती—

मँझला लड़का—बाबा, यह शहतीर—अगर हम इसे उठा दें तो छत का बोझा उस पर से हट जायेगा—

लिदा—अच्छा—दोनों—तुम और तुम्हारी—बहन इस छोर पर—

आवाज़—वे आवाज़ करते हुए उसे एक साथ उठाते हैं।

आवाज़ें—अइ—हइ—अइ—हइ—

लिमा (धीमें स्वर में)—मेरा बड़ा बेटा कहाँ है ?

बड़ा लड़का—मैं यह रहा, माँ। मुझे पकड़ो तो—अब, मैं उठाता हूं। मेरी गर्दन के चारों ओर हाथ डाल लो।

लिमा—मुझसे चला नहीं जाता। मेरे पाँव क्या हुए— *

लड़की—बल्ली उसकी कमर के ऊपर आ गई थी—

लिदा—उसे यहाँ फ़र्श पर लिटा दो।

लड़की—तुम्हारे हाथ में क्या है, मू-मा ?

लिमा (खिलखिला कर हँसते हुए)—ओ, अंडा है—देख यह साबुत है—हाँ, अंडे के बदले मैं ही टूट गई। नन्हा सुअर कैसा हँसेगा !

लिदा—नन्हा सुअर कहाँ है ?

आवाज़—सब पुकारते हैं।

आवाज़ें—नन्हें सुअर—नन्हें सुअर !

लिमा—पर क्या वह तुम्हारे पास बाहर दौड़ नहीं गया था ? मैंने उसे बाहर दौड़ आने को कहा था। वह मुझसे तेज़ दौड़ सकता है—पर छत तो गिर पड़ी (उसका कंठ एक वेदना भरी चीत्कार में बदल जाता है)—वह छत के नीचे है—

लिदा—जल्दी—खोदो।

लड़की—यह रही मेरी कुदाली !

लिदा—बेटा, तुम वहाँ पर खोदो—तुम वहाँ—

लड़के—मैं हाथों से ही काम निकाल लूंगा—

आवाज़—धीमा-धीमा ढोल का शब्द।

चीनी कंठ—वे सब दो पहर की कड़ी धूप में लगातार घंटे भर खोदते रहे। हरेक खँडहर बने घर में रोते-बिलखते हुए लोग खोद रहे हैं। गाँव में एक भी घर साबुत नहीं बचा है। आख़िर वे नन्हें सुअर को खोद निकालते हैं। वह मर चुका है। उसकी नन्हीं-सी देह दब-पिस कर ख़ून और हड्डियों का पिंड बन गई है।

आवाज़—ढोल का शब्द शनैः शनैः बन्द हो जाता है।

लिमा—उसे यहाँ लिटा दो—मेरे पास उसे रखो—ओह, मेरा नन्हा बेटा—

लिदा—उसे मेरे लबादे से ढक दो।

लड़की (आवाज़ रुदन में बदल जाती है)—आज ही सुबह वह मेरे साथ खेत में निराई कर रहा था—तब उसने मुर्गी की कुड़-कुड़ सुनी और बोला कि उसने ज़रूर अंडा दिया।

लिमा—यही तो वह अंडा था—वह इसे लेना चाहता था पर मैंने दिया नहीं। मैंने दे ही जो दिया होता। मैंने कहा तुम्हारे भाइयों को देंगे क्योंकि वे लड़ाई में लड़ते हैं।

बड़ा लड़का—मैं इसे न खाऊँगा।

मँझला लड़का—तुम्हें खाना ही होगा। तुम्हें हज़ारों मील का धावा करना है।

बड़ा लड़का—और तुम ? तुम्हारा पहाड़ी पर जाने का समय हो गया।

मँझला लड़का—हाँ, मुझे लौटना चाहिए। हमें इसका बदला लेना होगा। हम अपना बदला लेकर रहेंगे, विश्वास रखो, माँ।

लिमा—पर इससे हमारा नन्हा सुअर तो वापस मिलेगा नहीं।

लड़की—मुझे अंडा दो। मैं इसे तुमको बाँट दूंगी—यह लो तुम आधा, बड़े भैया, और तुम इसे, मँझले भैया।

बड़ा लड़का—अगर इस अंडे की जगह शराब होती तो मैं नन्हें सुअर का बदला लेने की शपथ लेता।

मँझला लड़का—शराब तो हमारे पास है नहीं।

बड़ा लड़का—जो कुछ हमारे पास है उसी को लेकर शपथ लें (एक क्षण चुप)—मैं शत्रु के विरुद्ध इस लड़ाई में अपने शरीर और बन्दूक के उत्सर्ग की शपथ लेता हूँ।

मँझला लड़का—मेरे पास बन्दूक है नहीं—केवल देह है—और यह पुरानी तलवार—मैं प्रतिज्ञा करता हूँ—

बड़ा लड़का—पिओ !

मँझला लड़का—मैं पीता हूँ—

लिमा (मूर्छित-सी)—तुम नहीं जा सकते—हमारा घर खंडहर हो गया है और अभी नन्हें सुअर को दफ़नाना है—और मैं अपने पाँव हिला-डुला नहीं सकती—

लिदा—उन्हें तो जाना ही है, मेरे बेटों की माँ ! देखो, हमारे पास ये ही दो देने लायक हैं और हमे ये दोनों देने ही चाहिएँ—

लिमा (फिर रोने लगती है)—इनकी देह—पर इनकी देह तो मैंने बनाई है ।

लिदा—हमें ये देने ही होंगे, हमारे पास और धरा ही क्या है ! मेरे दोनों बेटो !

बड़ा लड़का—प्रणाम, बाबा—माँ—

मँझला लड़का—शायद आज रात मुझे बन्दूक मिल जायगी—शायद ये दे दें—

आवाज़—चले जाते हुए पैरों का शब्द ।

लड़की की आवाज़—प्रणाम-मेरे दोनों भैया !

लिमा (धीमे स्वर में)—नन्हें सुअर का शव—

लिदा—इसे मैं दफ़नाऊँगा ।

आवाज़—संगीत, बहुत कोमल और मार्मिक ।

चीनी कंठ—यह है हमारा लड़ने का तरीक़ा । हमारे लोग फ़ौजों में और पहाड़ियों पर लड़ रहे हैं, हाथों में बन्दूकें और तलवारें लिए, आसमान में बमों और मशीनगनों के मुक़ाबले में डटे हैं । लड़ते ही चले जाते हैं । वे दबे पाँव और चुपचाप इधर से जाते हैं । वे अचानक शत्रु पर हमला कर देते हैं । वे अपने साथ खाने का कुछ भी सामान नहीं रखते, पर जहाँ वे जाते हैं गाँव वाले ख़ुद भूखे रहकर अपने इन वीरों को खिलाते हैं । जनता, सिपाही और गुरिल्ला, हम सब लड़ाई में जूझे हुए हैं ।

आवाज़—संगीत धीरे धीरे समाप्त हो जाता है ।

अमरीकन कंठ—वे सब लड़ रहे हैं । चीन में लिदा के बेटों जैसे लाखों आदमी हैं, मेहनती, मज़बूत, बहादुर, लड़ने वाले, उसी क्षण और भी अधिक जोश से लड़ने को कमर कसे हुए जिस वक़्त उन्हें हथियार मिलें । सुनिए एक अंगरेज़ अफ़सर क्या कहता है ।

अंगरेज़ी कंठ—"हमें चीनियों में पाँच मार्के की बातें दिखाई दीं—पहली है उनकी अपने सेनानायक में अविचल निष्ठा; दूसरी बात, आक्रमणकारी के विरुद्ध लड़ने में चीन के महान् उद्देश्य को समझना और समूचे युद्ध के साथ उसके सम्बन्ध को पहचानना; तीसरे, उनका नियमन जो उच्चकोटि का था, और नवयुवक नेताओं में उनका एकान्त विश्वास—जैसा संसार में उन बढ़िया से बढ़िया सिपाहियों में मिलेगा जो बिना बहस किए आज्ञा-पालन करना जानते हैं; चौथे, उनकी बुद्धि, क्षमता और गति, उनकी नीरव कार्य दक्षता आदि का अचूकपन, जिनके कारण वे बड़े बड़े साहसिक कार्य कर रहे हैं; और पाँचवें, यह आनन्द का विषय है कि ये लोग हमारे विरुद्ध न होकर हमारे साथ हैं ।"

अमरीकन कंठ—चीनियों के पास ३५ लाख आदमी लड़ने को तैयार हैं, जिनमें फ़ौजी सिपाही और गुरिल्ला दोनों ही शामिल हैं । उन्हें हथियार, तोपें, टैंक, हवाई जहाज़ चाहिएँ । चीन को हमारी ज़रूरत है, परन्तु हमें भी चीन की ज़रूरत है ।

अनुवादक—श्री भगवतीप्रसाद चंदोला, एम० ए०

पल्लव-कला के कुछ नमूने

श्री जी० वेङ्कटाचलम्

दक्षिण में यदि आप महाबालिपुरम को देखें तो आप का दिमाग़ आश्चर्य और कौतुक से भर जायगा। महाबालिपुरम को सर्व साधारण 'सात पैगोदा' के नाम से पुकारते हैं। महाबालिपुरम क्यों और कैसे बसा इस सम्बन्ध में आप चाहे जो कुछ सोच सकते हैं। सम्भव है प्राचीन काल में वह एक प्रसिद्ध बन्दरगाह रहा हो या बीते हुये ज़माने में एक प्रसिद्ध तीर्थ स्थान रहा हो। यह भी सम्भव है वह सङ्ग-तराशों का प्रयोग क्षेत्र रहा हो अथवा मन्दिर बनाने वालों का वर्कशाप रहा हो। सम्भव है यहाँ कभी प्रसिद्ध धार्मिक केन्द्र रहा हो और यह भी सम्भव है यहाँ कभी निर्वासित कलाकार इकट्ठा हो गये हों और उन्हें कुछ निश्चित काम न रहा हो और वे छेनी और हथौड़ा लेकर आस पास पड़े हुये ढेकों को तराश कर कौतुक और विनोद वश, उसमें से कला के सुन्दर और अद्भुत नमूने बनाकर छोड़ गये हों। महाबालिपुरम में मूर्ति-निर्माण और निर्माण-कला के जो आश्चर्य जनक नमूने हैं उन्हें देखकर आप किसी भी परिणाम पर पहुँचने को स्वतन्त्र हैं।

गम्भीर इतिहासज्ञ हमें यह बताते हैं कि महाबालिपुरम किसी ज़माने में पल्लव राजाओं की राजधानी था। इतिहासज्ञों के अनुसार पल्लव नरेश नरसिंहवर्मन ने यहाँ के गुफ़ा-मन्दिर बनवाये थे और अपने नाम से मन्दिरों के इस नगर का नाम रखा था। नरसिंहवर्मन ने राजा होने के बाद अपनी पदवी 'मामल्ल' रखी और इसी से महाबालिपुरम मा-मल्लपुरम (महान मल्लों का नगर) कहलाने लगा। बाद में इसे सर्वसाधारण 'सात पैगोदा' भी कह कर पुकारने लगे। महाबालिपुरम 'सात पैगोदा' क्यों कहलाया यह भी एक रहस्य है। या तो पैगोदा की शकल के पत्थर के रथों के कारण यह 'सात पैगोदा' कहलाया या समुद्र के किनारे बने हुये सात मन्दिरों के कारण लोग इसे 'सात पैगोदा' कहने लगे। इन मन्दिरों में अब केवल एक मन्दिर बाक़ी रह गया है और बाक़ी छै समुद्र के अतल जल में समा गये हैं। किम्वदन्तियों की बात जाने दीजिये, इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता कि भारतीय कला के क्षेत्र में, और ख़ासकर दक्षिण-भारत की निर्माण कला के विकास में, महाबालिपुरम की कला एक गौरव-पूर्ण स्थान रखती है और इसलिये कला के विद्यार्थी की नज़रों में उसका बेहद महत्व है।

महाबालिपुरम के खण्डहरों का विस्तार बहुत दूर तक चला गया है। जिधर देखो उधर पत्थरों में कटे हुये या नक्क़ाशी किये हुये अवशेष बिखरे पड़े हैं। महज़ अपने विस्तार के कारण महाबालिपुरम के गुफ़ा-मन्दिर दर्शक पर, पहली बार देखने में, वह मनमोहक प्रभाव नहीं डालते जो एलोरा के गुफ़ा-मन्दिर या अजन्ता के गुफ़ा-चित्र डालते हैं। सरसरी तौर पर देखने से यह असर होता है कि महाबालिपुरम के निर्माण के पीछे न प्लैन न था, न उद्देश्य। ऐसा लगता है मानों पागल मनुष्यों ने दैवी प्रेरणा पाकर कला के कुछ बेमेल किन्तु अद्भुत और सुन्दर नमूने गढ़ दिये गये हों। आजकल का समुद्री दीप-स्तम्भ, लोगों के रहने के मकान और चूने और ईंटों के मन्दिर यहाँ के वातावरण को और अधिक अस्त-व्यस्त बना देते हैं। किन्तु इस सब के होते हुये भी महाबालिपुरम में हमें कलाका एक आकर्षक, महत्वपूर्ण और अत्यन्त सुन्दर नमूना दिखाई देता है। सङ्ग-तराशों के औज़ारों ने भद्दे पहाड़ी ढेकों को बदलकर ऐसा कर दिया है मानों 'मूक पत्थर कोई उपदेश दे रहे हों'। मुरदा सिलेटी पत्थर विभिन्न आकृतियों के रूप में मानों जीवित हो उठे हैं। देवों, मनुष्यों, पक्षियों और पशुओं आदि की सभी तरह की, आकृतियाँ इन पत्थरों में गढ़ी हुई और कटी हुई हैं।

कलाकारों के छेनी और हथोड़ों ने मानो किसी जादू से इन आकृतियों में जीवन फूंक दिया है। पत्थरों में आश्चर्यजनक जीवन-झन्कार सुनाई देती है। भूली हुई पौराणिक कथायें नज़रों के सामने जीवित आकृतियों के रूप में फिर जाती हैं। महाबालिपुरम की यह शक्तिपूर्ण कला इतनी स्पष्ट और इतनी वास्तविक है कि बरबस उसकी प्रशंसा करनी पड़ती है।

अब हम संक्षेप में मूर्तिकला के इन उत्कृष्ट नमूने पर ज़रा ग़ौर करें। सदियों की आँधी-पानी, गरमी-सरदी, धूप-छाँह को इन्होंने सहा है, फिर भी इनकी कला का सौन्दर्य और उसकी अपूर्वता ज़रा भी कम नहीं हुई है। सातों पैगोदा में मूर्तिकला के आश्चर्यजनक नमूने भरे पड़े हैं। अनेक कार्य करती हुई मनुष्य-समूहों की मूर्तियाँ, हाथियों की जीवित आकार की मूर्तियाँ, बन्दरों, हिरनों, चीतों और पक्षियों की पूरे आकार की मूर्तियाँ, देवों, मनुष्यों, स्वर्गदूतों और वामनों की मूर्तियाँ यहाँ भरी पड़ी हैं। स्थूल-पत्रों और फूलों की सुन्दर डिज़ाइनें यत्र तत्र पत्थरों में खुदी हुई हैं।

पत्थर पर खुदा हुआ कला का अत्यन्त भावपूर्ण और सर्वोत्तम दृश्य 'अर्जुन का प्रायश्चित्त' है। कला का यह एक विनोदपूर्ण किन्तु अद्भुत नमूना है। पत्थर के दो उभरे हुये ढेकों के बीच का हिस्सा छाँटकर यह दृश्य गढ़ा गया है। कर्म और ज्वलन्त जीवन के दृश्य इसमें अंकित हैं। ध्यान मग्न ऋषि, अपने बच्चों के साथ जाते हुये हाथी, किलकारी भरते हुये बन्दर, चीते, बाघ और शेर, मुनि और योधा और वामनों के समूह, प्रायश्चित्त करती हुई एक बिल्ली जिसके चारों ओर चूहे निर्द्वन्द होकर उछल कूद रहे हैं, मानव आकृतियाँ जिनके पैर पक्षियों के से हैं, हंस, कौवे और मुर्ग़ी, साँप और उड़ती हुई आकृतियाँ—सबकी सब—आश्चर्यजनक क्षमता और कौशल के साथ स्वाभाविक और भावपूर्ण स्टाइल में गढ़ी गई हैं। हर आकृति के अन्दर जीवन और जाग्रति है। दृश्य में चारों ओर जीवन और जाग्रति की लहर सी दौड़ती है। फ़र्ग्यूसन इन प्रस्तर मूर्तियों को "दुनिया में अपने क़िस्म की अनोखी मूर्तियाँ" मानता है। किन्तु इस दृश्य को उसने ग़लती से "अर्जुन का प्रायश्चित" कहकर बयान किया है।

इस सारे दृश्य में केवल एक व्यक्ति ऐसा है जो हाथ उठाये हुये प्रार्थना कर रहा है। फ़र्ग्यूसन महाशय जाने क्यों इसे अर्जुन समझ बैठे। मेरे एक कलाकार मित्र श्री दुब्रील का अन्दाज़ा है कि यह दृश्य 'भागीरथ की तपस्या' का है। यदि यह मान लिया जाय तो दृश्य के अन्दर नाग कथाओं की आकृति का कुछ अर्थ हो जाता है। लक्षणों से मालूम होता है कि कई सदियों पहले यह दृश्य जहाँ अङ्कित है वहाँ पहाड़ी के ऊपर एक छोटा सा चश्मा बहता था और वह आकर इस दृश्य के निकट एक स्वाभाविक कुण्ड में गिरता था। इसी कुण्ड के निकट इस भगीरथ समझे जाने वाले व्यक्ति की तपस्या करती हुई मूर्ति है। आस पास ऋषियों, पशुओं और देवों की मूर्तियाँ और दूसरे दृश्य हिमालय के जीवन से बहुत कुछ सादृश्य रखते हैं। इन सब बातों को देखते हुये यदि इस दृश्य को 'गङ्गा-अवतरण' कहा जाय तो कुछ अनुचित न होगा। एक दूसरा पौराणिक दृश्य कृष्ण-गुफ़ा में है। गउयें आँधी-पानी से बचने के लिये आश्रय ढूंढ़ रही हैं और एक जवान वृषभ जिसकी गर्दन मुड़ी हुई है और आगे के पैर फैले हुये हैं, और अन्य आकृतियाँ सब की सब जीती जागती मालूम होती हैं।

इन सारे अवशेषों में अत्यधिक दिलचस्प और अनेक अंशों में आश्चर्यजनक 'पाण्डव रथ' हैं। इनकी संख्या पाँच होने के कारण शायद इन्हें 'पाण्डव रथ' कहते हैं। ये प्रस्तर रथ ठीक समुद्र के किनारे निर्मित हैं और शायद यहाँ की मूर्तियों में सब में प्राचीनतम हैं। इनमें से एक रथ की आधार-शिला पर जो मूर्तियाँ अङ्कित हैं वे मूर्तिकला की सबमें महान और सब में परिपूर्ण नमूना हैं। इनमें से कुछ मूर्तियाँ तो अपनी कला में एलोरा और अजन्ता की मूर्तियों से भी कहीं अधिक उत्कृष्ट हैं। इनकी कला को देखते हुये यह अन्दाज़ लगाया जा सकता है कि

ये मूर्तियाँ छठवीं सदी में बनाई गई होंगी। एक रथ की बाहरी शिला पर दो पेनलों में एक राजा और रानी की खड़ी हुई आकृतियाँ हैं। पोट्रे मूर्तियों के इससे सुन्दर और उत्कृष्ट नमूने आपको भारतवर्ष में कहीं नहीं मिलेंगे। इन दृश्यों की आकार-रेखायें अत्यन्त सहज, सौन्दर्यपूर्ण, भव्य और जीवन और प्रकृति के प्रति वास्तविक और सच्ची हैं। इन मूर्तियों के पोज़ में सन्तुलन, भावों में स्वाभाविकता और आत्मज्ञापन में शान्ति और गम्भीरता है। राजा की मूर्ति में तो वास्तव में राजकीय ओजस्विता है। महाबालिपुरम में और भी दूसरी कलापूर्ण खुदी हुई मूर्तियाँ हैं, किन्तु रथों के ये पेनल-दृश्य कला के अत्यन्त सजीव और अति श्रेष्ठ अवशेष हैं। इन रथों को द्रविड़ निर्माण-कला की विमान स्टाइल पर डिज़ाइन किया गया है और पत्थरों से काटकर तैयार किया गया है। एक एक रथ एक एक पत्थर से काटकर बग़ैर जोड़ के बनाया गया है। इन रथों की निर्माण-कला तञ्जोर के सुब्रमण्य मन्दिर से मिलती जुलती है। इनमें से एक रथ अस्पिदल की शक्ल का है, दूसरा रथ छत वाली इमारत की शक्ल का है और इनमें से अन्तिम रथ शायद सब में उम्दा और सब में अधिक दिलचस्प है। इस रथ का ऊपर का भाग पूरी तरह कटा हुआ और मूर्तियों से भरा हुआ है। इसमें देवताओं और देवियों की सुन्दर मूर्तियाँ हैं, किन्तु रथ का निचला हिस्सा अपूर्ण छोड़ दिया गया है।

इन मन्दिरों के अवशेषों के अलावा यहाँ पहाड़ी काटकर बनाई गई अनेक गुफ़ायें भी हैं। इन गुफ़ाओं के अन्दर कई बड़े बड़े पेनल दृश्य हैं। इनमें 'महिसासुरमर्दन' और 'वाराह अवतार' के दृश्य कला के जीवित नमूने हैं। समुद्र के किनारे बना हुआ 'तट-मन्दिर' बहुत बाद की इमारत है। यह कटे हुये पत्थरों के जोड़ से बनाया गया है। समुद्र की लहरें इस मन्दिर की सीढ़ियों को धोती रहती हैं और पुराना बना हुआ 'तेजस्तम्भ' (दीप स्तम्भ) अभी तक समुद्र जल में खड़ा हुआ है। समुद्र की लहरें सदियों से निरन्तर उसके साथ आँख मिचौनी खेलती रहती हैं। महाबालिपुरम में विष्णु की सोते हुये पास्चर में एक अत्यन्त विशाल मूर्ति है; हालांकि जहाँ यह मूर्ति है वहाँ का प्रमुख मन्दिर शिवार्पण है। मूर्ति-कला का एक सुन्दर नगीना यहाँ पर और है। एक हिरन शिथिल और स्वाभाविक स्थिति में खड़ा हुआ अपने पिछले पैर से नाक कुरेद रहा है। कला के इस सुन्दर नमूने को देखकर चित्त प्रसन्न हो जाता है। एक दूसरे के जुएँ बीनते हुये दो बन्दरों की यहाँ अत्यन्त सुन्दर मूर्तियाँ हैं।

महाबालिपुरम की मूर्ति-कला और निर्माण-कला ने भारतीय कला के इतिहास में एक अत्यन्त महान, अन्यतम और चित्ताकर्षक अध्याय जोड़ा है। बाद की शताब्दियों में चालुक्य, चोल और पण्ड्या कलाओं ने जिन सरणियों और पद्धतियों का अवलम्बन किया उनके उद्गम और विकास पर महाबालिपुरम की कला काफ़ी प्रकाश डालती है।
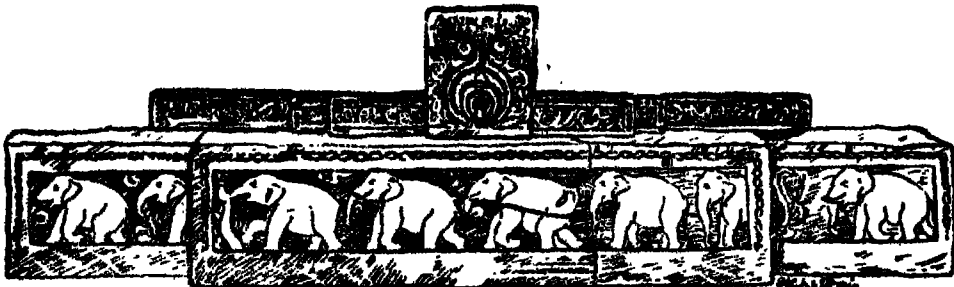
दोनों पक्ष के विवेकियों से

प्रोफ़ेसर तान-युन-शान

अपील करने से पहले, मैं अपनी स्थिति उन लोगों के सामने साफ़ कर देना चाहता हूँ जिनसे मुझे अपील करनी है। मेरे सभी मित्र जानते हैं कि मैं चीन का एक बौद्ध पण्डित मात्र हूँ। यद्यपि मैं एक विश्वविद्यालय में प्रोफ़ेसर हूँ परन्तु अपने को मैं भारत में एक तीर्थयात्री समझता हूँ। मेरा ध्येय और काम हिन्दुस्तान और चीन के बीच सांस्कृतिक सहयोग क़ायम करना है ताकि चीन और हिन्दुस्तान की ही नहीं बल्कि संसार भर की भलाई हो सके। मेरा न तो राजनीति से सम्बन्ध है न मैं राजनीति के विषय में अधिक जानता ही हूँ। परन्तु हिन्दुस्तान की वर्त्तमान राजनैतिक परिस्थिति देखकर, मैं यह अपील करने को बाध्य हो गया हूँ। इसलिये अपील में राजनीति से सम्बन्ध रखने वाली बातें देख पड़ती हैं। परन्तु मेरा दिल स्वच्छ और शुद्ध है। इसमें ईमानदारी और भलाई की चाह है, राजनैतिक घातें नहीं।

हिन्दुस्तान का वर्त्तमान राजनैतिक झिन्न सभी हालतों में दूर होना ही अच्छा है। इससे केवल सबके सामूहिक दुश्मनों को छोड़कर किसी को भी लाभ नहीं है। इससे न ब्रिटेन का ही मतलब पूरा होगा न भारत का ही, उल्टे आक्रमणकारी और लोभी जापान अवश्य फ़ायदा उठायेगा। भारत और ब्रिटेन की परिस्थिति चीनी कहानी सीपी और कौड़िल्ला पक्षी की नाईं हो रही है : एक बार सीपी धूप में अपना मुंह फैलाये बैठी थी, उसी समय कौड़िल्ला पक्षी ने उसमें चोंच मारी। सीपी ने अपना मुंह फ़ौरन ही बन्द कर लिया और कौड़िल्ला की चोंच उसी में फँसी रह गई। कौड़िल्ले ने कहा कि आज और कल वृष्टि नहीं होगी और तुम मर जाओगी। सीपी ने फ़ौरन ही जवाब दिया कि आज और कल तुम भी बाहर नहीं निकल सकोगे और अन्त में तुम भी मर जाओगे। तब तक एक मछुआ आया और सीपी तथा कौड़िल्ला दोनों ही उसके शिकार हुये। इस समय जापानी मछुआ हिन्दुस्तान के दरवाज़े पर बैठा इसकी ओर गृद्ध दृष्टि से देख रहा है। वह सीपी और कौड़िल्ला दोनों को पकड़ने के लिये हर सुयोग का उपयोग करेगा। अगर इस तरह की घटना घटी तो अकेले भारतवर्ष के लिये ही नहीं बल्कि संयुक्त राष्ट्रों और मानव सभ्यता के लिये बड़ा ही अभाग्य और ख़तरे की बात होगी। एक चीनी कहावत है कि "अपने सम्बन्धी को दुःख देकर शत्रु को ख़ुश मत होने दो।" भारत की वर्त्तमान परिस्थिति से भारत के शुभचिन्तकों को तो पीड़ा होती है पर बर्लिन, रोम और टोकियो के ब्रॉडकास्टिंग स्टेशन हिटलर, मुसो-लिनी और टोजो की हँसी से गूँज उठते हैं। ऐसी हालत में मैं आप लोगों से अपील कर रहा हूँ।

पहले मैं अपने हिन्दुस्तानी भाइयों से ही कहूँगा—

आप सभी जानते हैं कि मैं हिन्दुस्तान को बहुत प्यार करता हूँ। मैं आपके देश को भी उसी श्रद्धा की दृष्टि से देखता हूँ जैसा अपने देश को। अपने को आधा हिन्दुस्तानी और आधा चीनी कहने में मैं गर्व करता हूँ। आपके मुक्त और आज़ाद होने की महत्वा-कांक्षा के साथ मेरी पूरी सहानुभूति है। असल में आपकी और मेरी एक ही महत्वाकांक्षा है। लेकिन आपका वर्त्तमान कार्य और आन्दोलन, ख़ास कर इसके तरीक़े और साधन, जैसे दूकान लूटना, रेल की पटरी उखाड़ कर गाड़ी उलटाना, डाकघर जलाना, सरकारी आफ़िसों को लूटना और आफ़िसरों को मारना; एकदम से युक्तिसंगत और उचित नहीं हैं। जहाँ तक मैं जानता हूँ, इस तरह के कार्य और आन्दोलन कांग्रेस के कार्यक्रम में नहीं हैं, न इन तरीक़ों को महात्मा गांधी जी ही पसन्द करते हैं। महात्मा जी ने कितनी ही बार एलान किया है कि हिन्दुस्तान मित्र राष्ट्रों के विरुद्ध लड़ाई लड़ने के कार्य में बाधक नहीं

होगा। उन्होंने भारतवर्ष की जनता को बार बार याद दिलाया है कि भारतवर्ष सदा महान कार्य के लिये अपना त्याग और बलिदान करे।

वर्त्तमान युद्ध केवल मित्र राष्ट्रों और धुरी राष्ट्रों के बीच की ही लड़ाई नहीं है बल्कि यह लड़ाई प्रजासत्तात्मक शासन के हिमायतियों और निरंकुश सत्तात्मकवादियों के बीच, आज़ादी और दासता (स्वतन्त्रता और परतन्त्रता) के बीच, न्याय और अन्याय के बीच, भलाई और बुराई के बीच तथा नैतिकता और अनैतिकता के बीच है। इसलिये भारत को इस समय ब्रिटेन और संयुक्तराष्ट्रों के लड़ाई चलाने के कामों में बाधक होकर, उन्हें हैरान नहीं करना चाहिये, बल्कि उनके साथ सम्मिलित होकर धुरी राष्ट्रों, ख़ासकर जापान के विरुद्ध युद्ध करना चाहिये। जापान भारत का दरवाज़ा खटखटा चुका है और ज्यों ही इसने आप लोगों के देश में अपना पैर स्थिर किया, आप लोगों के लिये भयानक, निर्दय और अत्याचारी शत्रु सिद्ध होगा। भारत में घटी वर्त्तमान घटनाओं से आपके दिल में जो कष्ट हुआ है उसे मैं काफ़ी अनुभव करता हूँ। आपका कहना है कि आप ब्रिटेन का साथ नहीं दे सकते क्योंकि इसने भारत को आज़ादी देना नामंज़ूर किया है और आप तब तक लड़ाई में किसी का साथ नहीं दे सकते या युद्ध छेड़ने की घोषणा नहीं कर सकते जब तक हिन्दुस्तान आज़ाद नहीं कर दिया जाता है। आपका यह भी कहना है कि यह लड़ाई दम्भी साम्राज्यवादियों के बीच है, जो अपनी ताक़त और उपनिवेश बनाये रखने के लिये लड़ रहे हैं इसलिये अगर आप इस लड़ाई में बिना शर्त के मदद देते हैं तो ब्रिटिश साम्राज्य का पञ्जा भारत में अधिक गड़ाने में मदद करते हैं। अगर यह बात सत्य है और वर्त्तमान लड़ाई सचमुच इसीलिये है, तो आपका कहना ठीक है। लेकिन वर्त्तमान लड़ाई की समस्यायें इतनी सरल नहीं हैं, न भारत का भविष्य ही वर्त्तमान सा-ही रहेगा। लड़ाई जब समाप्त होगी और मित्र राष्ट्रों की विजय होगी तब भारत अवश्य ही स्वतन्त्र और आज़ाद होगा। अगर भारत लड़ाई में सम्मिलित होता है तो दुनिया की ऐसी कोई ताक़त नहीं जो इसे स्वतन्त्रता प्राप्त करने से रोक सके। किसी भी तरह ब्रिटेन भारत को आज़ादी देने से इन्कार न करेगा, न कर ही सकेगा। लेकिन अगर संयुक्त राष्ट्रों की हार हुई तो भारत का क्या, दुनिया से स्वतन्त्रता और आज़ादी नाम की चीज़ ही उठ जायगी। दुनिया में केवल जर्मनी, इटली और जापान का निरंकुश अत्याचार और उत्पीड़न रहेगा। सभी दूसरे राष्ट्र तथा उसकी जनता हिटलर के पावों तले रौंदे जायेंगे—क्यूंकि मुसोलनी और जनरल तोजो भी हर हिटलर के हुक्म बरदार नौकर की नाईं रहेंगे।

इसलिये, मैं सभी हिन्दुस्तानी भाइयों से, भारत के अपने बचाव के नाम पर, संयुक्तराष्ट्रों की भलाई के नाम पर, शान्ति, न्याय और मानवता के नाम पर, दिल के सच्चे भाव से अपील करता हूँ—कि आप ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध चलने वाले सामूहिक आन्दोलन को बन्द कर, उस आन्दोलन को जापानियों के विरुद्ध लड़ने के आन्दोलन में बदल दीजिए। अगर आप कुछ कारणों से ब्रिटिश का साथ नहीं दे सकते तो संयुक्तराष्ट्रों का साथ दीजिये। संयुक्तराष्ट्र अमेरिका के भी सैनिक भारत में हैं। आप और कितने ही तरीक़े से लड़ाई में भाग ले सकते हैं। अगर संयुक्तराष्ट्रों के साथ मिलकर तथा शस्त्र से लड़ाई में भाग नहीं लेना चाहते या नहीं ले सकते तो अहिंसात्मक तरीक़े से भी भाग ले सकते हैं, जैसे जनता का संगठन करके उन्हें लड़ाई के सम्बन्ध की ज़रूरी ख़बरें तथा हिदायतें देना, जनता को जापानी आक्रमण की भीषणताओं की जानकारी कराना, तथा आक्रमण के समय मुक़ाबला करने के तरीक़े बतलाना तथा उन सभी कामों को नहीं करना जिनसे संयुक्तराष्ट्रों की हानि और शत्रुओं के हाथ मज़बूत हों। आप लोगों ने जापानियों की निरंकुशता और निर्दयता; नृशंसता और कठोरता, अनैतिकता और अमानवता की बातें तो ज़रूर सुनी होंगी। आप लोग उनके प्रचार पर, जो धोखे से भरा और झूठा है, कभी ध्यान मत दीजिये।

आप कभी एक मालिक के स्थान पर दूसरे मालिक की गुलामी करने की कल्पना मत कीजिये। ऐसा तो पूज्य गान्धी जी भी नहीं चाहते हैं। अगर अभाग्य से जापानी भारत के शासक हो जाते हैं तो आप लोगों के लिये किसी साम्राज्यवादी राष्ट्रों के शासन से भी वह अधिक ख़तरनाक सिद्ध होगा। इस बात का ज्वलन्त उदाहरण, कोरिया, फ़ारमूसा और चीन के अधिकृत प्रान्तों में जापानियों द्वारा की गई और की जा रही कार्रवाइयाँ हैं। आप लोगों के वर्त्तमान परिस्थिति से निराश तथा व्याकुल नहीं होना चाहिये। हिन्दुस्तान का भविष्य महान, आशामय, उज्ज्वल और देदीप्यमान है। इसके लिये केवल आप लोगों को संयुक्तराष्ट्रों के साथ मिलकर इस लड़ाई में भाग लेना है। मेरे आदरणीय भारतीय भाइयो, ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध चलाए गये इस सामूहिक आन्दोलन को बन्द कीजिये और संयुक्तराष्ट्रों के साथ मिलकर आक्रमणकारी धुरी राष्ट्रों, ख़ासकर जापान, के विरुद्ध युद्ध करने के लिये तैयार हो जाइये।

अब मैं अपने मित्र ब्रिटिश शासकों से कुछ कहूँगा।

सब लोगों की भलाई के लिए तथा और भी अन्य कारणों से आप लोग तुरन्त ही हिन्दुस्तान को मुक्त और आज़ाद घोषित कर दीजिए और तब जितनी जल्दी हो सके एक राष्ट्रीय सरकार क़ायम कीजिए। यह केवल भारत की जनता की ही इच्छा नहीं बल्कि संयुक्त राष्ट्रों की जनता की भी इच्छा है। मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि बहुत सी ब्रिटेन की जनता की भी यही इच्छा है। केवल हम लोगों के शत्रुओं की ही यह कामना है कि आप लोग ऐसा न करें क्योंकि उन्हें डर है कि अगर आप लोग भारत को मुक्त और आज़ाद घोषित करते हैं तो उन लोगों का प्रचार झूठा साबित होगा तथा उन्हें भारतियों को अपनी ओर मिलाने की आशा से हाथ धोना पड़ेगा। अगर आप लोग हिन्दुस्तान को आज़ाद और मुक्त नहीं घोषित करते हैं तो हिटलर बार बार ज़ोरदार शब्दों में कहता रहेगा—"अगर मिस्टर चर्चिल हिन्दुस्तान को आज़ाद कर दें तो मैं उनके सामने घुटने टेक दूँगा।" जापान हिन्दुस्तानियों को प्रति दिन रेडियो द्वारा आश्वासन देता रहेगा कि "ब्रिटिश सरकार आपको आज़ादी नहीं देगी—उसके चंगुल से छुड़ाने हम लोग आयेंगे।" इसलिए मैं सच्चाई के साथ और विनीत शब्दों में आप दूरदर्शी राजनीतिज्ञों से प्रार्थना करता हूँ कि आप लोग भारत को तुरन्त मुक्त और आज़ाद घोषित कर दीजिए। हिटलर को मिस्टर चर्चिल के पास घुटने टेकने तथा जापानियों को अपना कलुषित मुंह बन्द करने का तथा उनके दिवास्वप्न को नष्ट होने का मौक़ा दीजिए।

मैं कहता हूँ कि आप लोगों को सबसे पहले ज़रूरी काम करना चाहिए और वह है—भारत को तुरन्त आज़ाद और मुक्त घोषित करना। इसे चीनी भाषा में "चन-मीन" अर्थात् "नामों में संशोधन" करना कहते हैं। चीन के सबसे बड़े महात्मा "कनफ्यूशस" से उनके शिष्य "चु-लु" ने एक बार पूछा कि अगर आपको शासन प्रबन्ध करना हो तो सबसे पहले क्या करेंगे। कनफ्यूशस ने उत्तर दिया—"मैं सबसे पहले नामों में संशोधन करूँगा। अगर नामों में संशोधन नहीं होता है तो शब्द वस्तुओं की सच्चाई के बोधक नहीं होंगे। अगर शब्द वस्तुओं की सच्चाई के बोधक नहीं होते हैं तो सफलतापूर्वक कार्यवाही भी नहीं हो सकती।" जैसे ही आप लोग हिन्दुस्तान को मुक्त और आज़ाद घोषित करते हैं, हिन्दुस्तान और वर्त्तमान लड़ाई के नाम में संशोधन हो जायगा तथा हिन्दुस्तान और वर्त्तमान लड़ाई की शोचनीय परिस्थिति में एकाएक परिवर्तन हो जायगा, जो दोनों के लिए ही भला है। उसके बाद आप लोग आसानी से जितनी जल्दी हो सके राष्ट्रीय सरकार क़ायम कर दें। हिन्दुस्तान को आज़ाद और मुक्त घोषित करने के लिए अधिक समय की आवश्यकता नहीं है। इसे पूरा करने में तो कुछ मिनटों की ही ज़रूरत है। लेकिन राष्ट्रीय सरकार क़ायम करने में कुछ समय लगेगा। फिर भी मैं आशा करता हूँ

जितनी जल्दी हो सकेगा, इसे भी आप लोग पूरा करेंगे। क्योंकि हिन्दुस्तान की राष्ट्रीय सरकार हम लोगों को धुरी राष्ट्रों से युद्ध करने में मदद देगी। जितनी जल्दी राष्ट्रीय सरकार क़ायम होगी उतनी ही अधिक भलाई हम लोगों की ही होगी। हिन्दुस्तान को आज़ाद और मुक्त घोषित करने से आप लोगों को हानि तो कुछ भी नहीं होगी उल्टे राष्ट्रीय सरकार क़ायम करके आप अपने लिए ही नहीं बल्कि संयुक्त-राष्ट्रों के लिए भी भारत से हर तरह मदद पा सकेंगे।

आप लोग कह सकते हैं कि हिन्दुस्तान को मुक्त और आज़ाद करने का वादा हम लोगों ने कर लिया है पर यह मौक़ा उसके घोषित करने का नहीं है। आप लोग यह भी कह सकते हैं कि हम हिन्दुस्तानी जनता के हाथों में राज्य सौंपने को तैयार हैं परन्तु तब तक नहीं, जब तक कि वे लोग अपना अन्दरूनी झगड़ा आपस में निबटा नहीं लेते अगर हम लोग एक तरफ़ की ही बात सोचें और एक ही दृष्टिकोण से देखें तो आप लोगों का कहना ठीक मालूम होगा। लेकिन चित्र का दूसरा पहलू भी है और उसे देखने से कुछ दूसरी ही बात मालूम होती है। मुझे कहावत कहने का अभ्यास सा है। एक चीनी कहावत है—"अपने किये गए कामों की अच्छाई, बुराई दूसरे की आँखों से स्पष्ट देखी जाती है" (On looker is always more clear than the man who is inside the affairs)" तटस्थ रहने के नाते तथा शुभचिन्तक की हैसियत से मैं देखता हूँ कि भारत को मुक्त और आज़ाद घोषित करने का आपके लिए सब से यही मौक़ा अच्छा है—अच्छा ही नहीं सुनहला अवसर है। क्योंकि हिन्दुस्तान की आज़ादी की माँग तथा उसकी इच्छा इस समय से पहले कभी भी इतनी तीव्र नहीं थी। आप लोगों को यह मौक़ा नहीं खोना चाहिए। अगर आप लोग भारत को अभी आज़ाद और मुक्त घोषित करते हैं तो केवल चालीस करोड़ भारतवासियों का ही दिल नहीं जीतते बल्कि समस्त संयुक्त राष्ट्रों के दिल में अपने प्रति, उच्च धारणा, प्रशंसा और प्यार का भाव पैदा करते हैं। आप लोग केवल लड़ाई में ही विजयी नहीं होंगे बल्कि मानवता के इतिहास में एक उच्च आदर्श स्थापित करेंगे। आप लोग जैसे ही भारत को मुक्त और आज़ाद घोषित करते हैं, वैसे ही भारतवासी स्वयं अपना अन्दरूनी झगड़ा निबटा कर राष्ट्रीय सरकार क़ायम करेंगे। अगर वे लोग ऐसा नहीं कर सकेंगे तो दोष और क़सूर इनका होगा, आप लोगों का नहीं। आप अपनी जवाबदेही से बच जायेंगे। आपका शासन तो ऐसी हालत में क़ायम रहेगा ही बल्कि अपनी इज़्ज़त, शक्ति और प्रभुता और भी बन जाएँगी।

इन बातों से डरने की ज़रूरत नहीं है कि हिन्दुस्तान मुक्त और आज़ाद होने पर तथा अपने यहाँ राष्ट्रीय सरकार क़ायम कर लेने पर, जापान से सन्धि कर लेगा, युद्ध में सम्मिलित नहीं होगा तथा अपने यहाँ होने वाले संयुक्त राष्ट्रों के लड़ाई के कार्य में बाधक होगा। बात ठीक इसके विपरीत होगी। जैसे ही भारत आज़ाद और मुक्त होगा, सच्चे दिल से हम लोगों का साथ युद्ध में देगा। भारत न तो जापान के साथ सन्धि करेगा न हम लोगों के युद्ध के कामों के मार्ग में बाधक ही होगा। कांग्रेस तथा दूसरी पार्टियों ने भी बार-बार ऐलान किया है कि अगर भारतवर्ष स्वतंत्र तथा आज़ाद कर दिया जाता है तो भारत संयुक्त राष्ट्रों के साथ धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित होगा। चूंकि इन लोगों को स्वतंत्रता और आज़ादी नहीं मिली है, इसलिए कहते हैं कि हम लोग लड़ाई में सम्मिलित नहीं हो सकते। हम लोग किसी का विश्वास नहीं भी करें लेकिन महात्मा गांधी की निष्कपटता, ईमानदारी, सत्यता और उच्च व्यक्तित्व पर विश्वास करना ही पड़ेगा। पंडित जवाहरलाल नेहरू के, इटली के फासिस्टवाद, जर्मनी के नाज़ीवाद और जापान के सैनिक शासन के विरुद्ध लड़ने के जोश, इच्छा और महान प्रयत्न के ऊपर विश्वास करने से कोई इन्कार नहीं कर सकता। असल में, अगर भारतवासी, भारत के मुक्त और आज़ाद घोषित कर देने पर, जापान से सन्धि करना चाहें या भारत में होने वाले संयुक्तराष्ट्रों की लड़ाई के

काम में बाधा देना चाहे, तो ऐसा नहीं कर सकेंगे। क्योंकि उस समय तक शक्ति तो आप लोगों के हाथ में भी रहेगी ही, साथ-साथ संयुक्त राष्ट्रों के सैनिक भी भारत में रहेंगे ही। लेकिन अगर इन लोगों को आज़ादी नहीं मिलती है तो बड़ी निराशा होगी, इन्हें बड़ा ही हताश होना पड़ेगा। बहुत अधिक असन्तोष तथा हताश होने के कारण ये लोग उस समय ऐसा काम करने को बाध्य हो सकते हैं जो ब्रिटिश सत्ताधारियों के लिए ही नहीं बल्कि संयुक्तराष्ट्रों के सामूहिक लाभ के लिए भी हानिकारक हो।

आप लोगों के इस बात से भी नहीं डरना चाहिये कि अगर हिन्दुस्तान आज़ाद हो जाता है तो आप लोगों का सम्बन्ध इस देश से टूट जायगा तथा आपके लाभ, सुविधा और हित पर आघात पहुँचेगा। इस दिशा में भी विपरीत ही बात होगी। आपके बजाय हानि के अधिक से अधिक लाभ होगा। सत्य यह है कि मानव सहानुभूति सम्मलित और पारस्परिक होती है तथा प्राकृतिक नियम परस्पर सापेक्ष और अन्योन्याश्रित होते हैं। ध्वनि के बाद प्रतिध्वनि, क्रिया के बाद प्रतिक्रिया, आन्दोलन के बाद प्रगति और कारण के बाद कार्य का होना आवश्यक है। जहाँ तक मुझे मालूम है आपके देश के विद्वान लोग अन्य चीनी दार्शनिकों की अपेक्षा महात्मा "लौ-त्सु" की किताब अधिक पढ़ते हैं। अगर आप राजनीतिज्ञ लोग भी "लौ-त्सु" की किताब पढ़ें तो मेरे उपर्युक्त कथन की सत्यता का पता चलेगा। "लौ-त्सु" की पुस्तक बहुत छोटी है। उसमें केवल ५,००० चीनी शब्द हैं तथा उसके कई अनुवाद अंगरेज़ी में भी हो चुके हैं। इसलिये आप लोग बड़ी आसानी से इसे पढ़ सकते हैं। "लौ-त्सु" ने लिखा है "जो जितना अधिक त्याग करेगा उसे उतना ही अधिक प्राप्त भी होगा।" पुनः एक जगह उन्होंने ही लिखा है "किसी चीज़ की प्राप्ति के लिये पहले त्याग करना जानो, अगर पकड़े रहना चाहोगे तो अवश्य खो दोगे। हिन्दुस्तानी बड़े ही दार्शनिक, विवेकी, अतिथि सेवी, उदार, सच्चे मित्र और कृतज्ञ होते हैं। अगर आप लोग इन्हें हिन्दुस्तान की आज़ादी दे देते हैं तो ये सदा आपकी दयालुता, आपके गुण और महानता के लिये बदला देते रहेंगे। आपके और इनके बीच का सम्बन्ध तथा मित्रता बराबर बढ़ती ही रहेगी। इसी में आप लोगों की अधिक सुविधा, लाभ और हित है। तब न हिटलर, न मुसोलनी, न जापान ही इन दो महान देशों के ठोस सम्बन्ध को तोड़ सकेगा, न आप दोनों देशों के हित, लाभ और सुविधा में ही बाधा दे सकेगा। आपके लिये यही अच्छा है कि आप भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य या स्वायत्त शासन आदि देने की अपनी पुरानी बातें भूल जाँय। हिन्दुस्तान को पूर्ण स्वतन्त्रता और आज़ादी देकर इसे अपना समकक्ष और सच्चा मित्र बनाइए। इस युद्ध के बाद संयुक्तराष्ट्रों का एक महान संघटन होगा तथा साम्राज्य नाम की कोई चीज़ ही नहीं रहेगी—न तो पुरानी समय के रोमन, जर्मन और जापान साम्राज्य की नाईं और न फ्रांस, डच और आपके साम्राज्य की नाईं। यह आपके लिये कितना अच्छा होगा अगर आप इस मार्ग के प्रथम पथप्रदर्शक हों तथा इस आन्दोलन का सूत्रपात भारत को आज़ादी देकर करें। अगर आप लोग भारत से इस आन्दोलन का सूत्रपात करते हैं तो सफलता ज़रूर मिलेगी। सारा संसार आपके सामने शिर झुकायेगा।

आप लोगों ने बार बार ऐलान किया है कि आप लोग संयुक्तराष्ट्रों के साथ मिलकर यह लड़ाई संसार की स्वतन्त्रता, शान्ति, न्याय, प्रजातन्त्र आदि की रक्षा के लिये लड़ रहे हैं। फिर कैसे हम लोग भारत को आज़ादी देने से इन्कार कर सकते हैं, जिस की जनसंख्या दुनिया की जनसंख्या का पाँचवाँ भाग है? अगर भारतवर्ष सा बहुजनसंख्यक देश हम लोगों के साथ नहीं रहता है और धुरी राष्ट्रों के साथ मिल जाता है तो कैसे हम लोग लड़ाई में विजय पाने की सम्भावना रख सकते हैं? भारत को आज़ाद किये बिना भी अगर हम लोग लड़ाई जीत लेते हैं या जीत सकते हैं तो इस लड़ाई की विशेषता ही क्या रही? केवल लड़ाई जीतने के लिये लड़ना या धुरी राष्ट्रों को परा-

जित करने के लिये ही लड़ना संयुक्तराष्ट्रों के लिये काफ़ी नहीं है। हम लोगों को "लड़ाई होने के कारणों" को दूर करने के लिये लड़ना है। हिटलर ने ज़रूर सोचा होगा कि अगर ब्रिटेन एशिया के भारतवर्ष जैसे बड़े देश पर शासन कर सकता है तो जर्मनी यूरोप के छोटे छोटे देशों जैसे आस्ट्रिया, जेकोस्लोवाकिया, पोलेण्ड आदि पर क्यों नहीं शासन करेगा? जापान सोचता होगा जब ग्रेट ब्रिटेन हिन्दुस्तान जैसे विशाल राष्ट्र का उतनी दूर से शासन कर सकता है तो वह इतना क़रीब रहकर चीन तथा सम्पूर्ण एशिया क्यों नहीं विजय करेगा? इसलिये ही तो स्वर्गीय टनाका ने अपना महान स्मारक (Memorial) बनाया था जिसे संसार के सभी लोग जानते हैं। यह तो सत्य है कि इस लड़ाई का केवल यही कारण नहीं है कि आप लोग हिन्दुस्तान के शासक हैं। लेकिन अगर आप भारत को मुक्त और आज़ाद घोषित करते हैं तो धुरी राष्ट्रों के आक्रमण के कारण और बहाने मिट जाते हैं तथा लड़ाई के बहुत से कारणों में से एक कम हो जाता है। कम से कम आप लोग धुरी राष्ट्रों के सामने एक आदर्श उपस्थित करेंगे तथा आगे की लड़ाई के कारणों से आप बरी हो जायेंगे। जब तक लड़ाई के कारणों का एक दम से मूलोच्छेद नहीं होता, दुनिया की शान्ति, न्याय और स्वतंत्रता लड़ाई समाप्त होने के बाद भी ख़तरे में ही रहेगी तथा दुनिया की हालत आज से भी बदतर हो जायगी। इसलिए मैं सच्चे दिल से तथा विनीत शब्दों में दूरदर्शी ब्रिटिश राजनीतिज्ञों से प्रार्थना करता हूँ कि सबों की भलाई के लिए और विभिन्न कारणों से आप लोग हिन्दुस्तान को तुरन्त आज़ाद और मुक्त घोषित कर दें तथा यहां राष्ट्रीय सरकार क़ायम होने दें ताकि भारतवर्ष पूरे उमंग और दिल से युद्ध में भाग ले सके और धुरी राष्ट्रों का जल्द से जल्द ख़ातमा हो।

मेरे आदरणीय हिन्दुस्तानी भाइयो! तथा मेरे बड़े और सम्मानीय दोस्त ब्रिटिश अधिकारीगण, उपर्युक्त मेरी अपील, मेरे अन्तरात्मा की पुकार एवं विवेक का उद्‌गार है जिसे मैं आप सब विवेकियों के सामने रख रहा हूं। मेरे दिल में आप दोनों ही के लिये प्यार और इज़्ज़त है, इसलिये मेरे शब्द बहुत सीधे और सरल हैं। आशा है, आप दोनों में से कोई भी मुझे समझने में भूल नहीं करेंगे।

जो कुछ हो, मैं आप दोनों ही का भला चाहता हूं और प्रार्थना करता हूं कि जल्द ही आप दोनों के बीच शान्ति और समझौता हो।

[अनुवादक श्री कृष्ण किंकर सिंह, चीन भवन, शांतिनिकेतन]

अपनी ज़बान

न ज़बान से बढ़कर दुनिया में मिलाने वाली कोई चीज़ है और न ज़बान की अलहदगी से बढ़कर फूट डालने वाली। मैं चाहता हूँ कि मेरा देश इस भयङ्कर आपत्ति से बचे। मेरी हार्दिक अभिलाषा है कि हम फिर से हिन्दी और उर्दू दोनों में एक ही मातृ-भाषा के दर्शन करने और दोनों को फिर से मिलाकर एक करने की कोशिश करें। हम एक थे। हमने बहुत दर्जे तक अपने पैरों पर आप कुल्हाड़ी मारी। हम दो हो गये। हमें फिर एक होना है। मेरी राय में इसी में हिन्दू मुसलमान दोनों की और इस देश की असली भलाई है।

मैं न फ़ारसी अरबी भरी उर्दू को इस देश की क़ौमी ज़बान बनाना चाहता हूं, और न संस्कृत भरी हिन्दी को। मेरी राय साफ़ है।

—पण्डित सुन्दरलाल

इसलामी निर्माण-कला की रूपरेखा

कुमारी शिरा नेहरू बी० ए०, टी० डी०

इसलाम के नाम पर निर्माण-कला का सब में पहला नमूना वह मसजिद थी जो सन् ६२२ ईस्वी में हज़रत मुहम्मद ने मदीने में बनवाई थी। यही मसजिद दुनिया की सब में पहली मसजिद मानी जाती है और इसी को आदर्श मानकर बाद में सारी मसजिदें बनीं। यह मसजिद क्या थी एक चौकोर घिरा हुआ सहन था जिसकी दीवारें ईंट और पत्थर की बनी हुई थीं। इसकी छत खजूर के तनों और टहनियों पर मिट्टी पाट कर बनाई गई थी। जब तक मुहम्मद साहब जीवित रहे उन्होंने मदीने के आस-पास कोई मसजिद नहीं बनने दी। उन्हें बिना सूचना दिये मदीने शहर के बाहर लोगों ने जब एक मसजिद बना ली तो वे नाराज़ हुये। और उस मसजिद को गिरवा दिया। उनका हुकम था कि एक मसजिद के होते हुये आस-पास दूसरी मसजिद नहीं बननी चाहिये।

ईराक में कूफ़ा का शहर अरब मुसलमानों की नवाबादी था। वहाँ के मुसलमानों को जमाअत की नमाज़ के लिये एक मसजिद की ज़रूरत महसूस हुई। इस समय तक अरबों ने ईरान में खुसरो की सत्ता को उलट-पलट दिया था। ईरानी सम्राटों के सङ्गमरमर के महल विजेताओं के क़दमों पर धराशायी होकर पड़े थे। लोगों का ख़याल हुआ कि कूफ़ा की मसजिद विजेताओं की शान के अनुरूप ही बननी चाहिये। फिर मसजिद महज़ नमाज़ अदा करने की ही जगह न थी, वह शासन सञ्चालन का केन्द्र होती थी; राजनैतिक मामलों का वहीं बैठकर फ़ैसला किया जाता था; बच्चों के पढ़ने का मदरसा भी वहीं होता था और नैतिक और अध्यात्मिक विषयों की चर्चा भी वहीं हुआ करती थी। ग़रज़ यह कि मसजिद इसलामी जीवन का केन्द्र होती थी। जब सन् ६३९ ईस्वी में कूफ़ा की मसजिद बनी तो इसकी छत धवल सङ्गमरमर के सतूनों पर खड़ी की गई। यह सङ्गमरमर हिरा शहर के ईरानी राजाओं के महलों से लाया गया था।

इसी ज़रूरत को पूरा करने के ख़याल से एक मसजिद सन् ६४२ ईस्वी में फ़ुस्तात (मिस्र) में बनाई गई। विजेता अरबों की अपराजित सेनाओं ने अम्र के सेनापतित्व में मिस्र से रोमन सत्ता को उखाड़ कर वहाँ अरब झण्डा फहराया था। यह मसजिद चौकोर थी मगर इसमें सहन न था। अब तक किसी मसजिद में इमाम के लिये मिम्बर न होता था। पहली दफ़ा फ़ुस्तात की मसजिद में मिम्बर बनाया गया। नमाज़ियों की क़तारों से थोड़ा आगे छोटा-सा तीन सीढ़ियों के ऊपर एक चौकोर चबूतरा बनाया गया जो तीनों ओर से लकड़ी के कटघरे से घिरा हुआ था। यही मिम्बर था। अब तक इमाम क़तार के पास ही खड़ा होकर नमाज़ पढ़ाया करता था। मिम्बर के ऊपर उसके सब से ऊंचा खड़े होने पर नुक्ताचीनियाँ हुईं। यह ख़बर मदीने में ख़लीफ़ा हज़रत उमर के पास पहुँची। अम्र से जवाब तलबी हुई। अम्र ने अपनी वकालत में कहा कि दुश्मनों के मुल्क क़ातिलों के ख़ञ्जर से अपनी हिफ़ाज़त के लिये ही यह कटघरा बनाया गया है और अगर ख़लीफ़ा को नामञ्ज़ूर हो तो इसे गिरा दिया जाय। बात उमर की समझ में आगई और उसने मिम्बर की इजाज़त दे दी। और अब तो मिम्बर हिफ़ाज़त के लिये ख़ास चीज़ नहीं बल्कि मसजिदों का एक ज़रूरी जुज़ बन गया है।

शुरू की मसजिदों में मीनारें न होती थीं। कहा जाता है मीनारों का रिवाज सातवीं सदी के आख़ीर में शुरू हुआ। शुरू-शुरू में मसजिद में क़िबले को ख़ास तौर पर इङ्गित करने वाली मेहराब भी न होती थी। मेहराब का रिवाज भी बहुत बाद में पड़ा।

इस तरह मदीने की पहली मसजिद के निर्माण के ८०-९० वर्ष के अन्दर अनेकों चीज़ें जुड़कर मसजिदों का आवश्यक अङ्ग बन गईं। इसी समय के क़रीब अल-ईवान का भी निर्माण होने लगा। सहन के पास वुज़ू करने के लिये जो पानी की जगह होती है उसे अल-ईवान कहते हैं। सातवीं सदी से लेकर अब तक मसजिद की निर्माण-कला की यही चन्द ज़रूरी चीज़ें रही हैं।

सन् ६३९ ईसवी में फ़िलस्तीन पर अरबों का क़ब्ज़ा हुआ। यरुसलम के ईसाई पादरी की प्रार्थना पर स्वयं उमर के नेतृत्व में अरब फ़ौजों ने यरुसलम में प्रवेश किया था। इस ख़ास काम के लिये उमर मदीने से चलकर यरुसलम आये थे। यरुसलम में उमर ने जिस जगह नमाज़ पढ़ी थी उमर के स्मृति स्वरूप उस जगह बाद में एक मसजिद बन गई। सातवीं सदी के अन्तिम वर्षों में इसी मसजिद के पास एक नई शानदार मसजिद बनाई गई। अब तक की बनी हुई तमाम मसजिदों में यह मसजिद सब में भव्य, सब में आलीशान और सब में विशाल थी। इसे लोग 'चट्टानी गुम्बद' (Dome of the Rock) भी कहते थे। अरबी में इस मसजिद को 'कुब्बत-उल-सख़राह' कहा जाता था। यह ठोस पत्थर की बनी हुई एक महान इमारत थी। इसलामी इतिहास के अनुसार यह मसजिद 'मशहद' यानी साक्षी की जगह है। अपनी पैग़म्बरी के दिनों में इसी जगह से हज़रत मुहम्मद ने 'मेराज' यानी स्वर्ग की सदेह यात्रा की थी। श्रद्धालु यात्री यहाँ आकर इस मसजिद की परिक्रमा करते हैं।

इसलामी निर्माण-कला के इतिहास में इस मसजिद के बाद ही गुम्बदों और घोड़े की नाल की शक्ल की मेहराबों का रिवाज चला। 'कुब्बत-उल-सख़राह' की मसजिद के बाद आठवीं सदी के शुरू में एक दूसरी विशाल मसजिद दमिश्क में तामीर हुई। यूं तो इसलाम के पहले की इमारतों में भी नाल नुमा मेहराबों का रिवाज था लेकिन बाद में वह ख़ास इसलामी चीज़ बन गई।

मसजिद में पहले पहल मीनार का निर्माण मुअज़्ज़िन के ऊँची जगह से अज़ान देने के ख़याल से शुरू हुआ। शुरू शुरू की मसजिदों में केवल एक ही छोटी मीनार होती थी। ऊँची ऊँची चार मीनारों का रिवाज तो बहुत बाद में पड़ा। सबमें पुरानी मीनार तूनिस के निकट 'क़ैरवान' की मसजिद की मीनार है। यह मसजिद ख़लीफ़ा हिशाम (सन् ७२४-७४३) के वक़्त में बनी थी। स्पेन में कारडोवा की बड़ी मीनारों वाली मसजिद की तामीर सन् ७८६ में शुरू हुई।

सामर्रा की मसजिद भी अत्यन्त विशाल और ऐतिहासिक महत्व रखती है। इसमें बहुत बड़ा सहन, मक्के की तरफ़ क़िबला और एक बहुत चौड़ा बरामदा है। सहन के तीनों ओर काफ़ी चौड़े पोर्टिको हैं। मसजिद के बाहर, चारों तरफ़ जो ईंटों का घेरा है, उसमें चारों कोनों में गोल टावर हैं। मसजिद की दक्षिणी दीवार में छोटी छोटी खिड़कियों की एक श्रेणी है। इन खिड़कियों के ऊपर का भाग अर्धेन्दु आकार का है। कई खिड़कियाँ फूल की पँखुड़ियों के आकार की हैं। निर्माण-कला के यह नमूने कारडोवा की मसजिद में भी मिलते हैं। प्रसिद्ध कला-पारखी ई० बी० हैवल के अनुसार इसलाम को कला के यह नमूने बौद्ध भारत की देन हैं।*

तुलन की मसजिद की तामीर सन् ८७६ में शुरू हुई। मसजिद की बाहर की दीवारें बहुत ऊँची और बेहद चौड़ी हैं। ये दीवारें असुरियन क़िले की दीवारों से बहुत मिलती जुलती हैं। १५०० वर्ष बाद असुरियन निर्माण-कला के इस प्रभाव को देखकर इनसान हैरत में पड़ जाता है।

शाम और मिस्र की सैनिक निर्माण-कला ने भी इसलामी निर्माण-कला पर काफ़ी प्रभाव डाला। इनमें क़िले का समकोण प्रवेश मार्ग मुख्य था। दुश्मन के

* E. B. Havell—Indian Architecture, 2 nd Edition, London 1927, PP. 85—6.

फाटक के भीतर घुस आने पर भी समकोण प्रवेश मार्ग होने के कारण वह क़िले के भीतरी हिस्से में सीधा गोलाबारी न कर सकता था। रोम या बाइज़न-टाइन सैनिक विशेषज्ञों को इस तरह के प्रवेश मार्गों का ज्ञान न था। इन दोनों के क़िलों के तमाम फाटक एक ही सीध में होते थे। इन फाटकों के बीच की ज़मीन 'प्रापुगनाकुलम' कहलाती थी। इस तरह के प्रवेश मार्गों का निर्माण पहले पहले बग़दाद में आठवीं सदी में शुरू हुआ। बग़दाद के क़िलों की दीवारों और प्रवेश मार्गों की नक़ल बाद में वेनिस के महलों में भी हुई।

इसलामी निर्माण-कला को हम पाँच प्रमुख श्रेणियों में बाँट सकते हैं—

(१) शाम और मिस्री निर्माण-कला,
(२) स्पेन और मोरक्को की निर्माण-कला,
(३) ईरानी निर्माण-कला,
(४) तुर्की निर्माण-कला और
(५) भारतीय पठान-मुग़ल निर्माण-कला।

किसी भी देश की भौगोलिक परिस्थितियों से निर्माण-कला का आध्यात्मिक सम्बन्ध होता है। धर्म एक हद तक ही उसे प्रभावित करता है। उसमें जीवन और रूप रंग भरने वाली देश की प्राकृतिक स्थिति ही है। भारत घने बनों फूल-पत्तियों, पर्वतों, नदियों, घाटियों और उपत्यकाओं का देश है, इसीलिये यहाँ की निर्माण-कला में विशालता के साथ साथ बाहुल्यता और विविधता भी है। मन्दिर का कोना कोना आपको मूर्तियों, फूल पत्तियों और कंगूरे से लदा मिलेगा। इसके विपरीत अरब एक मरुस्थल है। जिधर देखो उधर विस्तृत नीलाकाश और असीम मरुस्थल। मसजिदों की निर्माण-कल्पना पर भी इसी भौगोलिक स्थिति का असर स्पष्ट दिखाई देता है। मरुस्थल की छाप मसजिद की साफ़ सपाट किन्तु व्यापक असर डालने वाली बनावट पर आपको मिलेगी।

इस्लाम दुनिया के अनेकों सभ्य से सभ्य और उन्नत देशों में गया। अपने साथ साथ वह निर्माण-कला के बुनियादी सिद्धान्त भी ले गया। यह भी सही है कि दुनिया के विविध देशों में इसलामी तामीरों में एक व्यापक एकता और साम्य भी दिखाई देता है; किन्तु यह सब होते हुए भी मिस्र की इसलामी निर्माण-कला, ईरान की इसलामी निर्माण-कला और भारत की इसलामी निर्माण-कला मूल रूप से मिस्री, ईरानी, स्पेनी, चीनी और भारतीय है। इन समस्त देशों की मौलिक निर्माण-कलाओं ने इसलामी निर्माण-कला पर बेहद असर डाला। निर्माण-कला की स्थानीय परम्परायें इसलामी तामीरों पर पूरी तरह हावी हो गईं।

शुरू शुरू में सीधी सादी जामा मसजिदों का रिवाज चला। उसके बाद गुम्बद वाली मसजिदें बननी शुरू हुईं। इसके बाद बारहवीं सदी में क्यूनि-फ़ार्म शकल की मदरसा मसजिदों का काफ़ी प्रचार हुआ। बाद में गुम्बद मुसलिम निर्माण-कला का एक दिलचस्प और ज़रूरी अङ्ग बन गया। क़ाहिरा में उभरे हुये गुम्बद, ईरान और तुर्किस्तान में गोल गुम्बद और कुस्तुनतुनिया की मसजिदों में बाइज़न-टाइन शकल के नीचे गुम्बदों का रिवाज था। गुम्बदों की बाहरी सजावट का तरीक़ा भी जगह-जगह भिन्न भिन्न प्रकार का था। १५ वीं सदी में मिस्र की पत्थर की गुम्बदों पर लेस के पैटर्न की खुदाई और पच्चीकारी होती थी। ईरानी गुम्बदों के ऊपर चमकदार टाइलें लगाई जाती थीं।

इसलामी मीनारों की बनावट में भी बड़ा सौन्दर्यपूर्ण विकास हुआ। कुतुब मीनार भारतीय निर्माण कला के समन्वय के कारण संसार की सब में उत्कृष्ट मीनार समझी जाती है। लाहौर की शाही मसजिद की मीनारें, दिल्ली की जामे मसजिद की मीनारें, औरङ्गाबाद की मीनारें और आगरे की मोती मसजिद की मीनारें कला, सौन्दर्य और ज्यामिति के परिमाणों की दृष्टि से श्रेष्ठ मीनारें हैं। चीन में मसजिदों में केवल मुअज़्ज़िन के लिये एक छोटी मीनार होती है। चौदहवीं और पन्द्रहवीं सदी की क़ाहिरा की मीनारों ने इटली की रेनासाँ डिज़ाइनों

को और यूरोप के, बाद में निर्मित टावरों और रैम्पर्टों को काफ़ी प्रभावित किया।

एलिज़बेथ के समय से और उसके बाद भी इङ्गलिस्तान की इमारतों में कोर्निस के पास या कमरों के निचले हिस्सों में जो लेस की पैटर्न के बेल-बूटों का इस्तेमाल शुरू हुआ, अङ्गरेज़ी में उसे 'अरेबेस्क' (Arabesque) कहते हैं। इस एक चीज़ से पता चलता है कि मध्य युग के अरबों ने इङ्गलिस्तान की निर्माण-कला को सुन्दर बनाने में ज़ाहिरा हिस्सा लिया।

यूरोप में और दुनिया के दूसरे हिस्सों में जिस नोकीली मेहराब (Pointed arch) का रिवाज शुरू हुआ यह कहने के लिये काफ़ी प्रमाण हैं कि इसका उद्गम शाम और दूसरे मुल्कों की इसलामी इमारतों से है। यूरोप की 'ओगी' मेहराबें और 'ट्यूडर' मेहराबें तो साफ़ साफ़ मुसलिम मेहराबों की नक़लें हैं। अर्ध चन्द्राकार और पंखुड़ियाँदार मेहराबें गो इसलाम को भारत की देन हैं ताहम यूरोप ने इनकी नक़ल इसलामी इमारतों से ही की। खिड़कियों के आस पास और फ़र्श पर ज्यामित की रेखायें बनाने का रिवाज भी यूरोप में इसलामी निर्माण-कला के प्रभाव से फैला। आधुनिक इमारतों में कमरों की सीलिंग में जो थालीनुमा गोल डिज़ाइन होती है और ज्यामिति की शक्लों के रूप में जो कटी हुई जालियाँ बनाई जाती हैं वे भी शुरू की मसजिदों की यादगार हैं। गाथिक इमारतों में स्तम्भों के कोनों के पास जो जुड़े हुये बाण के आकार की धज्जियाँ इस्तेमाल की जाती हैं और जो गाथिक निर्माण कला के इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण समझी जाती हैं आठवीं और नवीं सदी की मुसलिम इमारतों की नक़ल हैं।* दीवालों पर बेलबूटे और उभरी हुई कोर्निस का रिवाज ईराक में प्रचलित था। यही चीज़ें बाद में गाथिक निर्माणकला का एक ख़ास अङ्ग बन गईं।

लकड़ी के जालीदार परदे जिन्हें अरबी में 'मशराबिया' कहते हैं, मकानों में ज़नानख़ाने के परदे के काम में या मसजिदों में परदे के तौर पर इस्तेमाल किये जाते थे। बाद में इङ्गलिस्तान में इनकी ख़ूब नक़लें शुरू हुईं।

अरबों ने ज्यामिति के अपने अथाह ज्ञान के कारण, दुनिया के अनेक प्राचीन देशों के संसर्ग में आने के कारण और अपनी जिज्ञासु प्रवृत्ति के कारण निर्माण-कला का एक ऐसा सुन्दर और उपयोगी समन्वय तैयार किया जिसकी छाप आम तौर पर आधुनिक निर्माण-कला पर और विशेषकर यूरोप की निर्माण-कला पर हमें स्पष्ट दिखाई देती है।

*Martin S. Briggs' European Architecture.

गीत

श्री हरिशंकर बी० ए०

यह भारत मेरा अपना है,
यह मानवता का सपना है।

[१]

इसमें रहने वाले मानव,
काले गोरे जितने बसते।
नाटे, लंबे, मोटे, दुबले,
हिन्दू मुसलिम जो भी रहते।

चोटी धारी वे पण्डित जी,
दाढ़ी वाले वे मौलाना।
वे सिक्ख बड़े बालों वाले,
जो ख़ूब जानते हैं मरना॥

हिम की चोटी में रहते जो,
जो वीर पहाड़ी कहलाते ।
काले दक्षिण के अधिवासी,
औ' 'आदि निवासी' मिल जाते ॥

हम सभी निवासी भारत के,
इतना बस हमने जाना है ।
यह भारत मेरा अपना है,
यह मानवता का सपना है ॥

[२]

वह विश्व स्वर्ग, वह विश्व स्वर्ग,
वह काश्मीर सुख का सागर ।
वह डाल लेक, झेलम सुन्दर,
झरने सुन्दरता के जो घर ॥

"हम आज दलित, हम आज पतित,
फिर भी ऊँचा है मेरा सर ।
हिम के सिर पर हम खड़े हुये,
'ऊँचा भारत' कहते हँसकर ॥"

वे देवदार के खड़े पेड़,
पतले नंगे से उठे हुये ।
नंगे भारत के नग्न रूप,
कहते बर्फों से ढके हुये ।

इन पेड़ों की हिमचोटी की,
आवाज़ हमें अब गहना है ।
यह भारत मेरा अपना है,
यह मानवता का सपना है ॥

[३]

है आर्यवर्त की भूमि यही,
है बौद्ध धर्म की यही मही ।
[illegible] का डंका बजा यहीं,
अकबर प्रताप थे रहे यहीं ॥

वह चित्र कला, वह नृत्य कला,
मानव अशोक की लिखित कथा !
क्या नहीं हमें कुछ समझाती,
क्या नहीं हृदय में आज व्यथा !

सौन्दर्य मूर्ति के मन्दिर सब,
वह शाहजहाँ का ताज महल ।
वैशाली के भग्नावशेष
कहते भारत की चहल पहल ॥

भारत का गौरव, सुख दुःख सब,
ये, सभी हमारा अपना है ।
यह भारत मेरा अपना है,
यह मानवता का सपना है ॥

[४]

कण कण की इसकी पृथ्वी में,
कितने वंशों के ध्वंस यहाँ !
वह मौर्य्य वंश, वह गुप्त वंश,
हर्ष औ' अशोक भी हुए यहाँ !!

वह मुग़ल काल का शौर्य्य कहाँ,
वह शाहजहाँ का ताज कहाँ !
सोने हीरे के सिंहासन,
अब नहीं रहे वे ! आह ! यहाँ !!

सोने हीरे से लदी हुई,
'सोने की चिड़िया' गई कहाँ !
वह सर्व युगों का महा श्रेष्ठ,
वह कोहनूर अब कहाँ यहाँ ॥

हैं जहाँ कहीं वे सजे हुए,
वह सभी हमारा अपना है !
यह भारत मेरा अपना है,
यह मानवता का सपना है ॥

समालोचना

"रैन-बसेरा" और "आँख-मिचौनी"

[दो मौलिक और सामाजिक उपन्यास—लेखक, पं० देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त', उप सम्पादक "माया"; प्रकाशक, सुखी जीवन-ग्रन्थ-माला, दारागंज, प्रयाग; पृष्ठ संख्या क्रमशः २०८ और २२४; मूल्य प्रत्येक का सवा रुपया ।]

अंगरेज़ी उपन्यास-लेखिका जेन आस्टिन ने उपन्यास के सम्बन्ध में कहा है "उपन्यास वह कृति है जिसमें मन की महती शक्तियों का प्रदर्शन होता है, जिसमें मानव स्वभाव का विस्तृत चित्रण, उसकी अनेकरूपता का सुखद चित्रण, वाक् चातुर्य और हास्य की सजीव राशियां सर्वोत्तम चुने हुए शब्दों में संसार के समक्ष प्रस्तुत की जाती हैं।"

जीवन की इस अनेकरूपता में ही हमें जीवन-तत्वों का बोध हो सकता है। इसे हृदयंगम करने के लिए जब हम उपन्यास के सुखद चित्रण अथवा उसके कथानक की सजीवता में एक रस होकर उसे समझ लेने के लिए और एकदम आगे बढ़ते हुए उलझने से लगते हैं, तब हम उपन्यास की विचार-धाराओं में अन्त तक बहते चले जाते हैं, और यही उपन्यासकार की महती सफलता है, जो बहुत कम को प्राप्त होती है।

श्री मस्त जी पूरे एक युग से हिन्दी को अपनी ठोस सेवाएँ दे रहे हैं। इस बीच अनेक पत्रों के सम्पादक रहकर साहित्य के विभिन्न पहलुओं को वे देख चुके हैं और वर्त्तमान साहित्यिकों की कठिनाइयों और जीवन-संघर्ष एवं सामाजिक विद्रोह की ज्वालाओं की आँच में तपकर अपने अनुभवों का एक व्यापक कोष संचित कर चुके हैं। एक सफल कवि, यशस्वी कहानीकार और उपन्यासकार के रूप में आज वे किसी परिचय-विशेष के कायल नहीं। हिन्दी संसार उन्हें अच्छी तरह जानता है। और अगर विशेष दलबन्दियों के ज़ोर से कुछ लोगों को ज़बरदस्ती बेहद आगे न बढ़ाया गया होता और कुछ को पीछे ढकेलने का प्रबल प्रयत्न न किया गया होता तो वे भी उन्हीं लेखकों में होते जो प्रथम श्रेणी में हैं। कहानी और उपन्यास के क्षेत्रों में ऐसा ही अन्याय श्री श्रीनाथसिंह, श्री विजय वर्मा और दो चार अन्य लेखकों के साथ भी किया गया था। अब तक 'मस्त' जी के कई कविता-संग्रह, खण्डकाव्य, कहानी-संग्रह और उपन्यास भी हिन्दी संसार के समक्ष आ चुके हैं। और इधर आपके जो दो उपन्यास अभी-अभी प्रकाशित हुए हैं, वे जेन आस्टिन के उक्त विचारों का हमें सहसा स्मरण दिला देते हैं।

सदियों से जो अन्ध विश्वास और कुसंस्कार हम पर और हमारे समाज पर अपना अटल आधिपत्य जमाये रहकर हमें निरन्तर कूप-मंडूक बने रहने देने में सहायक सिद्ध हो रहे हैं, यदि उपन्यासकार अपने विशेष दृष्टिकोण अथच अपनी सीधी-सादी अभिव्यंजना का 'इंजेक्शन' देकर हमें उनसे थोड़ा भी सतर्क करने में सफल हो सके, तो यह उसकी एक बहुत बड़ी सफलता होती है। इस दृष्टिकोण से 'रैन-बसेरा' एक अत्यन्त सुलझा हुआ कथानक लेकर हमारे सामने आता है। इसकी प्रधान नायिका श्यामा, इसका सोहन समाज के उन कर्णधारों की निद्रा भंग कर देने में अवश्य सहायक होंगे, जो स्त्रियों के स्वावलम्बन की बात नहीं सुन सकते और उन्हें परावलंबन की लोह-शृङ्खलाओं में सदा जकड़कर रखना चाहते हैं।

समाज के नाम पर एक आधुनिक शिक्षा-प्राप्त तरुणी श्यामा के जीवन की अनेकरूपता इसमें चित्रित की गई है। 'मंगली' होने के कारण उसका विवाह एक ग्राम्य शिक्षक के साथ होता है; लेकिन वहाँ उसका निर्वाह नहीं हो पाया। शिक्षक की मार-पीट से उत्पीड़ित होकर श्यामा अपने पिता के पास शहर में आ जाती है और स्वयं शिक्षिका होकर

अपना जीवन-यापन करती है। लेकिन वह स्वीकार करती है कि उसकी दशा किसी विधवा से भी गयी-बीती है। कौन कौन सी रंगीनियाँ उसे किस प्रकार विचलित होने को उभाड़ती हैं और किस प्रकार सोहन बाबू उसके जीवन में प्रवेश करने के लिये छटपटाते हैं, लेकिन वह संयमशील रहकर अपनी स्थिति का ध्यान रखती हुई किस प्रकार अपने जीजा के साथ घुल-मिलकर आगे बढ़ना चाहती है; और अन्त में जब वह सोहन बाबू एवं अपने जीजा से भी दूर हो जाती है, तब एक महिला मन्दिर की स्थापना करती है, और वहाँ जब उसके जीवन में एक तरुण पत्रकार प्रवेश करना चाहता है, तब विवश होकर किस प्रकार अपना उत्सर्ग कर देती है, यह सब उपन्यासकार के ही शब्दों में पढ़ने और समझने की वस्तु है।

श्यामा का चित्रण यथेष्ट मनोवैज्ञानिक है और उसके असाधारण चित्र में मस्तजी को बहुत सफलता मिली है। जहाँ दिलचस्पी है वहीं उसमें नारी-जागरण के पहलू पर गम्भीर विवेचना भी दी गई है और नारी-आन्दोलन की सफलता के लिए एक सुलझी हुई रूप-रेखा प्रयुक्त की गई है। अतः इस दृष्टिकोण से भी भारतीय नारी के लिये यह एक मानसिक तुष्टि का साधन बन गया है।

कथोपकथन और शैली उलझाये रखने की कामना समेट कर आगे बढ़ती भाषा का लालित्य स्थल स्थल पर पाठक को मोह सकता है। कहीं-कहीं रूपक और उपमाओं में ही प्रकृति के मनोरम दृश्यों की आकर्षक झाँकी हमारे सामने आ जाती है और कथानक भी उसी के सहारे आगे बढ़ता जाता है। ऐसे स्थलों को पढ़कर हमें प्रेमचन्द जी की शैली की स्मृति अचानक आ जाती है। एक उदाहरण, इस उपन्यास के घटना शिखर से, देखिए—"मानव का जीवन भी तो रैन-बसेरा ही है। जब मिल गये तो साथ-साथ रह लिये; पंक्षियों की भाँति चहक लिये और फुदक लिये अपनी-अपनी भावनाओं की लह-लहाती हुई डालियों पर; लेकिन ज्योंही बिछुड़ गये कि समझ लो, यह सब एक 'रैन-बसेरा' ही तो था।"

'आँख-मिचौनी' में भी 'रैन-बसेरा' की ही समस्त विशेषताएँ और दिलचस्पी ओत-प्रोत हैं। किन्तु सरसता का जहाँ तक सम्बन्ध है, 'आँख-मिचौनी' रैन-बसेरा' से बहुत आगे बढ़ी हुई है। इसमें एक युवक और युवती की प्रेम कहानी है। विनोद और रेखा दोनों आधुनिक नव युवक और युवती के रूप में हमारे सामने आते हैं, लेकिन विनोद के पिता दहेज़ का एक ऐसा व्यवधान सामने लाते हैं कि रेखा का विवाह विनोद से न होकर शेखर से हो जाता है और तब इन दोनों—विनोद और रेखा के—जीवन में एक 'आँख-मिचौनी' होने लगती है। दहेज़ की माँग का और उसकी बुराइयों का विश्लेषण मनोवैज्ञानिक उपन्यास लेखकों के लिये भी सरल नहीं। मस्त जी को इसमें सफलता मिली है। विनोद से बिछुड़ते समय रेखा की विचार धाराएं देखिए—'वह तो अब अपने जीवन में सदा आँख मिचौनी' खेलेगी—हाँ, 'आँख-मिचौनी' जिसमें वह अपनी आँखों पर एक पट्टी बाँध लेगी, और जो कुछ उसकी आँखों के सामने रहेगा, उसे भी वह देख नहीं सकेगी—देखना नहीं चाहेगी।'

रेखा का चरित्र-चित्रण ऐसा है, जो उपन्यास में चार चाँद लगा देता है। इस मनोवैज्ञानिक चित्रण में यह विशेषता है कि उपन्यास की सरसता में कहीं कोई फ़र्क नहीं पड़ता। अवसर पड़ने पर विनोद किस प्रकार अपनी आराध्य देवी रेखा के पति के लिये अपना रक्त-दान देकर, उसके सिन्दूर की रक्षा करता है, और स्वयं अपना जीवन किस प्रकार एक 'सेवा-संघ' खोलकर व्यतीत करता है, यह एक ऐसा विषय है, जो आजकल के आर्थिक-संकट के युग में साम्यवाद की एक रूप रेखा सामने रखता है।

मस्तजी के ये दोनों उपन्यास दिलचस्प हैं, सामाजिक हैं, मनोवैज्ञानिक हैं, और इनमें एक निश्चित विचार-धारा का पुट भी आद्योपांत प्रवाहित है। इन दोनों उपन्यासों को ऐसी सफलता पर हम उन्हें बधाई देते हैं।

—वासुदेव शर्मा

सम्पादकीय-विचार

विनय

'विश्ववाणी' की कठिनाइयों का ज़िक्र करके हम पाठकों को उकताना नहीं चाहते। हम सब ऐसे ज़माने में रहते हैं जब हर एक अपने को क़ैदी महसूस करता है और जीवन एक बंधन प्रतीत होता है। फिर भी आदमी की बुनियादी अच्छाई पर हमारा विश्वास अटल है और यह कैसे मान लिया जाये कि दुनिया में इसी तरह अंधेरा रहेगा और मानवात्मा इसी तरह भटकती रहेगी। 'विश्ववाणी' को पहिले दिन से अपने देश की समस्याओं का केवल एक समाधान याद है—और वह है 'एकता'। इस एकता का अटूट आधार कोई राजनीतिक समझौता नहीं बल्कि कामन कल्चर ही हो सकता है। अनेकताओं में समन्वय, बहदत में कसरत की तलाश का संदेश लेकर इस पत्रिका ने जन्म लिया था और जब तक वह ज़िन्दा है, इसी मंत्र का जाप करती रहेगी। उसे कभी इसका खटका न रहा कि सांप्रदायिकता के नक्कारख़ाने में एकता की आवाज़ किसी के कान पड़ेगी या नहीं। पाठकों और लेखकों ने दो साल के अन्दर 'विश्ववाणी' से जैसा सहयोग किया, उस पर हिन्दुस्तान की कोई भी पत्रिका गर्व कर सकती है। उन्हीं की हमदर्दी पर भरोसा रख कर नामुमकिन हालात में भी इसे निकाला जा रहा है। उन पर हमारा हक़ इसलिए और भी ज़्यादा है कि न हमारे पास सुन्दरलालजी का तख़य्युल है, न विश्वम्भर जी की तन्मयता। हां, इतना आश्वासन ज़रूर दे सकते हैं कि वह जो रास्ता बतला गये हम भी उसी के मुसाफ़िर हैं और उसी पर ईमानदारी से चलते रहेंगे। 'विश्ववाणी' आप ही के योगदान से बनी है और इसे क़ायम रखने के लिये अब आप का सहयोग और भी ज़रूरी है।

—अख़्तर हुसैन

सर मिर्ज़ा इस्माइल और ढाका के छात्र

सर मिर्ज़ा इस्माईल भारत के उन गिने-चुने साफ़ दिमाग़ लोगों में हैं जिन्होंने साम्प्रदायिकता से हमेशा अपना दामन बचाया। पिछले दिनों पटना युनिवर्सिटी में कानवोकेशन-एड्रेस पढ़ते हुए उन्होंने भारतीय एकता पर जो खरी खरी बातें कहीं वह पाकिस्तान-वादियों को बहुत खलीं। उनके कोप का प्रदर्शन यों हुआ कि जब सर मिर्ज़ा ढाका यूनेवर्सिटी के कानवोकेशन के जलसे में गये, तो बहुत से मुस्लिम छात्र उसमें हाज़िर न हुए। अपनी जान में उन्होंने गुस्सा ज़ाहिर करने का बड़ा अच्छा तरीक़ा निकाला। हमें दुख है कि उन्हें यह इसलामी सीख भी याद न रही कि मेहमान का आदर हर हाल में उनका कर्तव्य था। अगर सब पढ़-लिख कर उन्होंने अपनी 'ख़िलाफ़पसन्द' बातों को धीरज से सुनना भी न सीखा, तो यह उनके लिये किसी गर्व की बात नहीं। सर मिर्ज़ा के शब्दों में यह सुनकर "हमें हँसी ही आई।"

पैग़म्बर दिवस में राजा जी

इलाहाबाद युनिवर्सिटी के मुस्लिम छात्रालय की स्वर्ण-जयन्ती दिसम्बर में मनाई गई। एक हफ़्ते का प्रोग्राम था जिसमें से एक दिन पैग़म्बर मुहम्मद साहब की याद के लिये दिया गया। इस मौक़े पर श्री राजगोपालाचार्य ने बड़ा सुन्दर भाषण दिया। कहा कि इसलाम सत्य और बुद्धि का उपासक है। आप लोग अपने धर्म पर चलें और दूसरे धर्मों का भी अध्ययन करें। मैं स्वयं वैष्णव हूँ और मेरा धर्म ईश्वर तक पहुँचने का वही रास्ता सुझाता है जो इसलाम। मुहम्मद साहब ने सचाई का सबक़ दिया और दूसरे पैग़म्बरों ने भी यह राह पकड़ी। अगर उन सब की शिक्षा ठीक ठीक समझी जाती तो हम में हमेशा एकता रहती। अगर मुहम्मद साहब आज ज़िन्दा होते तो वह भी एकता का ही पाठ पढ़ाते। वह

एकतावादियों का साथ देते और कहते कि यह लड़ाई-झगड़ा कैसा, तुम सब को मिल-जुल कर रहना चाहिये।" राजा जी ने यह भी कहा कि विभिन्न सम्प्रदाय एक दूसरे को समझने लगें तो उनमें एका हो जाये, क्योंकि उनकी फूट दिखाऊ है और ग़लत-फ़हमियों के सबब से पैदा हुई है।

हम अपनी तरफ़ से इतना कहेंगे कि अगर राजनीतिक पार्टियां कुछ अर्से के लिये सांप्रदायिक बहसा-बहसी बन्द करा दें और देश भर में आपसी हमदर्दी का वातावरण पैदा होने दें तो उनमें समझौता होते देर न लगे। लेकिन इसके लिये दिलों में सफ़ाई की ज़रूरत है। उजले कपड़े तो सबके तन पर नज़र आते हैं, लेकिन उनके नीचे जो दिल धड़क रहे हैं, उनमें से कितने उजले हैं!

हिस्टारिकल रेकार्ड कमीशन

सरकार ने हमारे देश के इतिहास की छानबीन करने के लिये एक कमीशन बना रखा है जिसके सदस्यों में इस विषय के कई विद्वान शामिल हैं। इसके जलसों में अच्छे अच्छे निबन्ध पढ़े जाते हैं और काम की बातें भी होती हैं। क्या अच्छा हो कि यह कमीशन हमारे स्कूलों और कालेजों में पढ़ाये जानेवाली इतिहास की किताबों पर भी एक नज़र डाले और देखे कि उनका क्या असर छात्रों पर पड़ता है। हमारा ख़याल है कि इन किताबों में साम्प्रदायिकता का विष ख़ासी मिक़दार में मौजूद है। यही नहीं बल्कि इनमें बहुत सी अधकचरी और झूठी-सच्ची बातें मौजूद हैं, जिन्हें पढ़ना या पढ़ाना हर हिन्दुस्थानी का अपमान है। अगर यह कमीशन अपने प्रभाव और साधनों का उपयोग इस दिशा में करे, तो यह देश और ज्ञान दोनों की सेवा होगी।

हिन्दुस्तानी अकेडमी

युक्तप्रांत की सरकार की प्रेरणा से इलाहाबाद की अकेडमी में फिर नई जान पड़ी है। ठीक तौर पर अभी नहीं मालूम कि उसने काम के लिये कौन सी नई तजवीज़ बनाई हैं। हिन्दी और उर्दू का अलगाव बढ़ता जाता है और दोनों भाषाओं की संस्थाएं अपने अपने प्रचार में लगी हुई हैं। थोड़े से लोग इस खाई को पाटने और बोल चाल की आम भाषा यानी हिन्दुस्तानी को संवारने का जतन भी करते हैं। आशा है कि अकेडमी ऐसे लोगों की तरफ़ से लापरवाही न बरतेगी और भरसक ऐसा साहित्य पैदा करेगी जिससे हिन्दुस्तानी ज़बान के रूप और आदर्श दोनों को मदद मिले।

कांग्रेस पर एक झूठा आक्षेप

असोसियेटेड प्रेस को श्री मुंशी ने गत १७ दिसम्बर को निम्नलिखित वक्तव्य दिया है: "डेली हेरल्ड ने कांग्रेस पर जो शर्मनाक ऐतराज़ किया है, उससे मुझे बड़ा सदमा हुआ। कांग्रेस अपनी सफ़ाई में कुछ नहीं कह सकती, क्योंकि वह आज़ाद नहीं है। इस अख़बार ने लिखा है कि कांग्रेस के सहयोग के बदले में जापान सरकार ने वादा किया है कि हिन्दुस्तान की हुकूमत की बागडोर उसके हाथ में दे देगी। हम में से कुछ लोग मसलन मैं या श्री राजगोपालाचार्य कांग्रेस के मेम्बर नहीं हैं, फिर भी महात्मा गान्धी और कांग्रेस के प्रधान नेताओं से हमारी काफ़ी घनिष्ठता है और हम कह सकते हैं कि कांग्रेस पर आज तक इतना झूठा आरोप नहीं लगाया गया। जो लोग महात्मा गांधी और दूसरे कांग्रेस नेताओं से परिचित हैं, वह अच्छी तरह जानते हैं कि उनमें से कोई किसी डिक्टेटरशाही से किसी प्रकार का सम्बन्ध रख ही नहीं सकता था। ब्रिटिश अख़बार अगर चाहें तो कांग्रेस के दमन में ख़ूब हाथ बँटायें, पर इसके लिये कम से कम ओछे हथियारों का उपयोग तो न करें।"

'डेली हेरल्ड' ब्रिटेन की मज़दूर पार्टी का अख़बार है।

काग़ज़ की कमी

काग़ज़ के अभाव पर इससे हास्यास्पद टीका क्या हो सकती है कि आसाम के स्कूलों में केले के पत्तों पर लिखने का आयोजन किया जा रहा है!

इस सिलसिले में जो आँकड़े छपे हैं उनसे मालूम होता है कि हिन्दुस्तान भर में जितना काग़ज़ पैदा होता है उसका नब्बे फ़ी सदी हिस्सा सरकार ख़रीद लेती है। बाक़ी जो खुरचन बच जाती है उसमें प्रेस, प्रकाशक, समाचारपत्र सब का साझा होता है। यह भी पढ़ने में आया कि ईरान, ईराक़ आदि देशों को हज़ारों मन टन काग़ज़ यहीं से जाता है। अगर यह काग़ज़ बाहर न जाता तो केले के पत्तों पर लिखने की नौबत न आती। इस गुत्थी को सुलझाने के लिये सरकार और मिलमालिकों ने अब तक क्या किया है; यह हमें नहीं मालूम। अगर यही हालत रही तो लड़ाई के ज़माने में शिक्षा और संस्कृति की प्रगति यक़ीनन बन्द हो जायेगी। जब माँग है तो ज़्यादा काग़ज़ क्यों नहीं बन सकता और काग़ज़ के मिलों के लिये मशीनरी क्यों नहीं मंगवाई जा सकती, यह भी हमारी समझ में नहीं आया। सम्भव है कि अधिकारियों और मिलमालिकों को लड़ाई की तैयारी में ऐसी मामूली सी चीज़ पर ध्यान देने की फ़ुरसत न मिली हो जिस पर साहित्य और संस्कृति जैसी बेकार बातों का आधार है!

खाद्य सामग्री का अभाव

काग़ज़ तो ख़ैर दिमाग़ और आत्मा का खाजा है, लेकिन रोटी बिना काम कैसे चले, भूखों भजन कैसे गाये जायें। भारत सरकार के व्यापार-सदस्य मि० सरकार का कहना है कि यह देश अपनी ज़रूरत भर का अनाज पैदा कर लेता है; बर्मा से चावल का आयात बन्द हो जाने के कारण थोड़ी सी कमी हो गयी है पर वह डेढ़ दो फ़ी सदी से अधिक नहीं। पर मि० सरकार ने एक औसत साल की बात कही थी, जलाभाव, अतिवृष्टि या टिड्डियों जैसी अनदेखी मुसीबतों का हिसाब नहीं लगाया था। इसके सिवा फ़ौजों के लिये जो स्टाक बनाया जा रहा है, मिडिल ईस्ट के देशों की उदराग्नि शान्त करने का जो जोगाड़ हो रहा है और लड़ाई के कारण बारबरदारी की जो दिक़्क़त हो गयी है, उसे भी मि० सरकार भूल गये। इन सब कठिनाइयों का जोखा कीजिये, तब इस समस्या की महानता का अन्दाज़ा होता है। काग़ज़ी कन्ट्रोल से तो अब तक कुछ नहीं बना। देखना है कि इस मुश्किल को आसान करने के लिये सरकार ने जो नया विभाग बनाया है वह क्या करता है।

वाइसराय की अवधि में विस्तार

हिन्दुस्तान के मौजूदा वाइसराय की मुद्दत बढ़ाने का ऐलान हो चुका है। टाइम्स आफ़ इण्डिया का राजनीतिक सम्वाददाता 'कैंडिडस' इसका सबब यह बतलाता है कि "ब्रिटिश सरकार अपनी नीति को बदलना नहीं चाहती, और यह अन्दाज़ा ग़लत नहीं है कि जब तक कांग्रेस का आन्दोलन कुचल न दिया जाये या वह ख़ुद उसे बन्द न कर दे, तब तक उससे किसी बातचीत की इजाज़त न दी जायेगी।" आगे चल कर "कैंडिडस" कहता है कि "क्योंकि विभिन्न पार्टियों में कोई समझौता नहीं हो सकता, इसलिये विधान या शासन में किसी तब्दीली का सवाल पैदा न होगा।"

उपनिवेशों का भविष्य

अमरीका के महान् नेता मि० वेन्डल विल्की ने लड़ाई के बाद औपनिवेशिक साम्राज्यों को ख़तम कर देने का जो आन्दोलन शुरू किया है, उसने दुनिया में काफ़ी हलचल मचा दी है। ख़ास तौर पर अमरीका में उनके मत का बड़ा प्रचार हो रहा है। इस बहस का केन्द्र भारत की समस्या है। वहाँ की हुकूमत ने सरकारी तौर पर अब तक कुछ नहीं कहा है; हाँ, प्रेज़िडेन्ट रूज़वेल्ट ने 'अटलान्टिक चार्टर' को सारी दुनिया पर लागू करने का वादा किया है।

इस सवाल पर ब्रिटिश सरकार का दृष्टिकोण क्या है, इस पर थोड़ी सी रोशनी लार्ड क्रेनबोर्न के उस बयान से पड़ती है, जो उन्होंने ३ दिसम्बर को लार्ड सभा में दिया। अपने देश की औपनिवेशिक नीति को खोलकर बतलाते हुए उन्होंने कहा कि "मुझे पक्का यक़ीन है कि ब्रिटेन का औपनिवेशिक साम्राज्य

बाक़ी रहेगा ! हमें जो काम करना है, वह तो अब शुरू हो रहा है।"

बहुत से लोगों का ख़याल था कि यह मसला लड़ाई के बाद की सुलह-कानफ्रेंस में पेश होगा। मगर मि० चर्चिल के एक भाषण ने उन्हें चक्कर में डाल दिया है। मि० चर्चिल का अन्दाज़ा है कि लड़ाई शायद यूरोप में पहिले ख़तम हो जायेगी और इसके बाद एक तरफ़ तो सुलह-कानफ्रेंस का काम होता रहेगा, दूसरी ओर जापान पर हमला शुरू होगा। कानफ्रेंस में केवल उन मित्रराष्ट्रों के प्रतिनिधि बुलाये जायेंगे जिनका यूरोप से सम्बन्ध है। इससे यह बात निकलती है कि एशिया के लिये अलग कानफ्रेंस होगी। इनमें से कहाँ किन सवालों का निबटारा होगा और उपनिवेशों का हिसाब किस खाते में लिखा जायेगा, इसका पता नहीं। हिन्दुस्तान के प्रतिनिधि भी कहीं बुलाये जायेंगे या नहीं और इनका चुनाव कौन करेगा, यह सब किसे मालूम !

सर स्टेफ़ोर्ड क्रिप्स

यह महानुभाव ब्रिटेन की जंगी वज़ारत से हटा कर एक मामूली मन्त्री बना दिये गये हैं और अब हवाई जहाज़ों की पैदावार की देखभाल करेंगे। उनकी इस अवनति पर किसी का भी ध्यान नहीं गया, यह कैसे अचम्भे की बात है। अभी साल भर पहले जब वह रूस से घर लौटे, तो हर अंग्रेज़ बच्चे की ज़बान पर उनका नाम था और आम तौर पर कहा जाता था कि वह मि० चर्चिल की गद्दी छीन लेंगे। मालूम नहीं, किस अशुभ घड़ी में इन्होंने हिन्दुस्तान का रुख़ किया कि अपने साथ हमें भी ले डूबे। इतिहास इसकी गवाही देगा कि किसी एक अंग्रेज़ ने आज तक भारत को इतना नुक़सान नहीं पहुँचाया—अनजाने में ही सही—जितना सर स्टेफ़ोर्ड क्रिप्स ने। इसका नतीजा यह है कि वह आस्मान से ज़मीन पर उतर रहे हैं, पर कोई उनकी बात नहीं पूछता। उसूलों से समझौता न करने वालों का यही अंजाम होता है।

रूस में भारतीय साहित्य की चर्चा

सोवियत् रूस के प्रसिद्ध भाषाविद् 'बेरेनिकोफ़' के एक लेख से मालूम होता है कि इन्क़लाब से पहले और ख़ास तौर बाद में रूस में भारतीय भाषाओं और साहित्य का अध्ययन ज़ोर-शोर से होता रहा है, महाकवि टैगोर की बहुत सी किताबों के तर्जुमे हो चुके हैं और बड़े शौक़ से पढ़े जाते हैं। ओल्डनबर्ग और शर्बत्स्की जैसे पुराने विद्वान् संस्कृत और बौद्ध संस्कृति पर संसारप्रसिद्ध पुस्तकें लिख चुके हैं। नये भारतविद् हमारे इतिहास और नवीन साहित्य से ज़्यादा दिलचस्पी रखते हैं। लेनिनग्राड की प्राच्य परिषद् ने हिन्दी, उर्दू, मराठी और बङ्गला भाषाओं के व्याकरण तैयार किये हैं। वैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर इन सबकी डिक्शनरियाँ भी तैयार हो रही हैं। तुलसीकृत रामायण का रूसी अनुवाद भी तैयार हो चुका है। अब हर युनिवर्सिटी में नवीन एशिया के इतिहास की शिक्षा का प्रबंध हो गया है, जिसके कारण हिन्दुस्तान के इतिहास से शिक्षित वर्ग की दिलचस्पी बहुत बढ़ गयी है।

रूस का संस्कृति प्रेम

सोवियट सरकार अंग्रेज़ी में एक अख़बार छापती है जिसका नाम है 'मास्को न्यूज़'। इसकी पिछले जून की एक प्रति हमारी नज़र से गुज़री और यह देखकर हमें हर्ष हुआ कि हालांकि हर रूसी जी-जान होम कर अपने देश के लिये लड़ रहा है, फिर भी वह यह नहीं भूला कि शांति या युद्ध में मनुष्यता के सारे प्रयास का मतलब सिर्फ़ यह होना चाहिये कि आदमी पहिले से बेहतर हो जाये। बड़े बड़े चार पेज के इस अख़बार का कम से कम एक चौथाई हिस्सा संस्कृति और साहित्य की चर्चा से भरा हुआ था। कहीं कला के नमूनों को बचाने के लिये कमिटी बन रही है, कहीं बमों से बरबाद किसी नाटक घर का पुनरुद्धार हो रहा है। पन्द्रहवीं सदी के एक तातार शासक के हस्तलिखित आत्मचरित् का परिचय है, तो उधर बेघरे बच्चों के कैंप का हाल है। इस अख़बार की

अपनी एक आत्मा थी जिसका हर शब्द पुकार पुकार कर मानव-प्रेम का गान गा रहा था।

पिछले दिनों जब हम चितराल रियासत में थे तो हमारे और रूस के बीच में केवल एक पर्वतश्रेणी थी। उसे देख देख कर हमें बस यह ख़याल आता था कि एक ही ज़मीन और एक ही ज़माने में रहने वाले मनुष्यों के जीवन में कितना बड़ा अन्तर है। यह अन्तर ज़मीन या पहाड़ के फ़ासले ने पैदा नहीं किया। बल्कि यह विकास के दो युगों का—शायद सदियों का—अन्तर था।

आवश्यक सूचना

सम्पादन के सिलसिले में पत्र और लेख आदि निम्नलिखित पते पर भेजे जायें।

डाक्टर अख़्तर हुसेन
३, कमिश्नर लेन, दिल्ली

लड़ाई के हालात

इस स्तंभ में हर महीने युद्ध की प्रगति का ख़ाका दिया जायेगा—संपादक

इस महीने लड़ाई के सब मोर्चों में पहिल मित्र-राष्ट्रों के हाथ रही। रूस, उत्तरी अफ्रीका और पैसिफ़िक—हर तरफ़ उन्हीं के क़दम बढ़ते रहे।

दिसम्बर शुरू होते ही रूस में कड़ाके का जाड़ा पड़ने लगा। बिचले मोर्चे में सिपाही कमर-कमर बर्फ़ में घुस कर लड़ रहे थे, डोन के इलाक़े की नदियां जम गई थीं और मैदान पाले से ढके हुये थे, कोह काफ़ के पहाड़ों में बर्फ़ गिरनी शुरू हो गई थी। उधर उत्तरी अफ्रीका में अमरीका व ब्रिटेन के हमलों ने हिटलर का ध्यान बंटा दिया था। इस साल रूस की लड़ाई उतने बड़े पैमाने पर न हुई थी जितनी पिछले साल। ऊपरी और बिचले मोर्चे लगभग ख़ामोश रहे और सारी कटा-छनी दकन में रही। वहां स्टेलिनग्राड के बचाव ने जर्मनों के मंसूबों को ख़ाक में मिला दिया और काकेशिया में उनके हमलों को परिमित कर दिया। हिटलर रूस की सैनिक शक्ति को न तोड़ सका और रूस के पास जवाबी चढ़ाई की ताक़त बाक़ी रही।

इस पश्चादभूमि में रूस के जवाबी हमले शुरू हुए और अब तक जारी हैं। डोन के घुमाव के आख़िरी सिरे और वोल्गा के बीच में पचास साठ मील का मैदान है। जर्मन यहां घुस कर और स्टेलिनग्रेड को तीन तरफ़ से घेर कर सर करने का विफल प्रयत्न तीन महीने से कर रहे थे। अब रूसी कुमक उत्तर से जर्मन घेरे को तोड़ कर स्टेलिनग्रेड पहुँच गई और दकन से बढ़ती हुई दूसरी सेना ने उससे मिलकर जर्मनों को उलटे घेर लिया। पहिले हल्ले में जर्मनों के कोई ७५ हज़ार आदमी क़ैद हो गये और कोई तीन लाख घिर गये। वह अब तक अपने को बचाने का सर तोड़ जतन कर रहे हैं। काकेशिया में तुआप्स और मज़दक के ठिकानों पर जर्मन जहां रुक गये थे वहीं रह गये। और उन्हें यह ख़तरा पैदा हो गया कि अगर डोन की घिरी हुई जर्मन फ़ौज बरबाद हो गई तो रूसी रोस्तोफ़ तक बढ़ आयेंगे और काकेशिया में बढ़े हुए इन जर्मन सैनिकों को लौटने का रास्ता न रहेगा। स्टेलिनग्रेड कृष्णोदर और स्टेलिनग्रेड रोस्तोफ़ रेलवे लाइनों के कट जाने से इन जर्मन सेनाओं को कुमक व रसद मिलने में कठिनाई हो रही है।

डोन के घुमाव के बिचले हिस्से में वोरोनेज़ के नीचे रूसियों ने दूसरा हमला शुरू करके जर्मन क़िलाबंदियों को तोड़ दिया और कुछ कम १५ हज़ार जर्मनों को पकड़ लिया। यह हमला अभी जारी है और मास्को-रोस्तोफ़ रेलवे के कट जाने से जर्मनों की मुश्किल बढ़ गई है। ऐसा लगता है कि इस युद्ध क्षेत्र में उन्हें बहुत नीचे वोरोशिलोफ़ग्रेड तक लौटना होगा। अगर रूसियों के यह दोनों हमले कामयाब हो गये तो रूसी युक्रेन की सीमा पर पहुँच जायेंगे

और जर्मनों को लगभग वह सारा इलाक़ा ख़ाली कर देना होगा जो उन्होंने इस साल लिया था।

इससे भी ऊपर बिचले मोर्चे में 'रेज़ेफ़' के जर्मन क़िले के लिये ज़बरदस्त लड़ाई हो रही है। रूसी वियाज़्मा, रेज़ेफ़ और वेलिकी लुकी को लेकर स्मोलेन्स्क का रास्ता साफ़ कर लेना चाहते हैं। यों तो जर्मन हर जगह सख़्त मुक़ाबला कर रहे हैं, पर यहां उनकी क़िलाबंदी बहुत ही मज़बूत मालूम होती है।

जो भी हो, यह बात तै है कि जर्मनी के पास अब भी काफ़ी कुमक है। रूसी अख़बारों का यह अन्दाज़ा कि अस्सी लाख जर्मनों का सफ़ाया हो चुका है, ठीक नहीं मालूम होता। हाँ, अगर इससे यह मतलब है कि इसमें घायल भी शामिल हैं तो दूसरी बात है क्योंकि आजकल की लड़ाई में प्रति हत पीछे तीन आहत का हिसाब बैठता है। और इन घायलों में से कोई ७५ फ़ी सदी फिर काम के लायक़ हो जाते हैं।

जब तक यूरोप में मित्रराष्ट्र कोई दूसरा मोर्चा क़ायम न कर दें, रूस के मैदान में जर्मनी की कमर नहीं टूट सकती।

दूसरे मोर्चे का ज़िक्र हमें उत्तरी अफ़्रीका की ओर ले जाता है क्योंकि ट्यूनिस की लड़ाई सचमुच में इटली की लड़ाई है और इसके परिणाम पर मेडिटेरेनियन का प्रभुत्व निर्भर करता है। ट्यूनिस में जर्मनी के पास काफ़ी सामान और सिपाही हैं; इसलिये अभी वहां लड़ाई थमी हुई सी है। दोनों तरफ़ से ज़बरदस्त तैयारी हो रही है। लेकिन लीबिया में जनरल रोमेल के आदमी पीछे हट रहे हैं और मिसूराता तक लौट आये हैं जो ट्रिपोली से डेढ़-दो सौ मील पर है। रोमेल बड़ी हद तक अपनी सेना को बचा लाने में समर्थ तो हुआ, पर ऐसा लगता है कि उसे और भी पीछे हटना होगा और अन्त में ट्यूनिस व ट्रिपोली की धुरी सेनाओं को मिल कर दोतर्फ़ा हमलों का मुक़ाबला करना होगा। पीछे समुद्र और दायें बायें शत्रु—यह ऐसा बुरा पोज़ीशन है कि उन्हें अफ़्रीका ख़ाली करना होगा, यह दूसरी बात है कि किसी दूसरे मोर्चे में कोई ऐसी बात हो जो उन पर से दबाव कम कर दे।

यह न समझना चाहिये कि इसकी सम्भावना नहीं रही। हिटलर के तरकश के सब तीर ख़तम नहीं हुए। अभी उसने जर्मनी, इटली और फ़्रांस के नेताओं से जो मन्त्रणा की है, वह अर्थहीन नहीं। वह पहिल छीनने और पाँसा पलटने में कोई कसर न उठा रखेगा। हमला या तो वह स्पेन के रास्ते मराक़श पर कर सकता है और या टर्की के रास्ते काकेशिया और सीरिया-मिस्र पर। टर्की पर हमला उसके लिये हानिकारक होगा, क्योंकि तुर्क मज़बूत भी हैं और फिर उनके पीछे रूसी और अंग्रेज़ सेनाएँ हैं। लेकिन स्पेन के साथ यह बात नहीं। एक तो जनरल फ़्रैंको की हमदर्दी खुल्लमखुल्ला हिटलर व मुसोलिनी के साथ है। हाल ही में अपने भाषण में उसने नाज़ी संगठन का समर्थन करते हुए स्पेन के लिये साम्राज्य की माँग की है। बहुत मुमकिन है कि वह हिटलर को रास्ता दे दे और वह जिब्राल्टर की खाड़ी को पार करके मराक़श में सेना उतार दे। अगर यह हुआ तो अफ़्रीकी युद्धक्षेत्र की परिस्थिति बदल जायेगी।

इस महीने फ़्रांस की हालत में बड़ी तबदीली हुई। एक तो मार्शल पेताँ के उत्तराधिकारी एडमिरल दारलाँ अलजीरिया में मित्रराष्ट्रों से मिल गये और साथ ही साथ अपने को फ़्रांसीसी अफ़्रीका का शासक मुक़र्रर कर लिया। दारलां के मिल जाने से अमरीकन व ब्रिटिश सेना को बड़ा सुभीता हुआ और उत्तरी अफ़्रीका में उनके जल्द कामयाब होने का एक सबब यह भी था। उधर जर्मनों ने विशी के इलाक़े पर क़ब्ज़ा करके तूलों के फ़्रांसीसी जंगी जहाज़ों को हथियाने का इरादा किया। पर फ़्रांसीसी जहाज़ियों ने अपने हाथों से डुबा दिया। यह ठीक तरह नहीं मालूम कि इनमें से कितने डूबे और कितने नाज़ियों के हाथ लगे। अन्दाज़ा है कि कम से कम एक चौथाई जहाज़ जर्मनों के हाथ लगे और बाक़ी में से आधों की मरम्मत हो सकती है। हार के बाद फ़्रांस

के पास उपनिवेशों और जंगी जहाज़ों के सिवा कुछ न रहा था। उपनिवेशों का अधिक हिस्सा मित्रराष्ट्रों के पास है। अगर दाकर, सिकन्दरिया और मार्तिनिक के फ्रांसीसी जंगी जहाज़ों को मिलाया जाय तो समुद्री बेड़े का बड़ा हिस्सा भी उन्हीं के हाथ है। उधर हिटलर के पास फ्रांस का पूरा इलाक़ा, वहाँ के सब साधन और आदमी हैं जिन्हें वह अपने जंगी रथ में जोत सकता है। लावाल की मदद से वह फ्रांस से अधिकाधिक फ़ौजी मदद हासिल करने की कोशिश कर रहा है। उधर एडमिरल दारलाँ और जनरल दे गोल की प्रतियोगिता चल रही है।

यह सब बातें बतला रही हैं कि लड़ाई का पूरा ज़ोर अब देखने में आयेगा। यूरोप में धुरी शक्तियों की पहिल का युग बीत रहा है और यह इस महायुद्ध का चरम बिन्दु है। इस वक़्त लड़ाई जीत नहीं बल्कि पहिल के लिये हो रही है।

सवाल यह है कि यूरोप की लड़ाई पर जापान क्या असर डाल सकता है। साइबेरिया पर हमले का मौसम बीत गया, चीन में लड़ाई ठहर गयी। अब रह गये आस्ट्रेलिया और हिन्दुस्तान। इन मोर्चों पर जापान जो कुछ करेगा उसके पीछे साम्राज्य की आकांक्षा नहीं बल्कि फ़ौजी ज़रूरत होगी। हमारा ख़याल है कि जापान वह सब कुछ ले चुका जो वह चाहता था। उत्तरी चीन, फ़िलीपीन, मलाया, डच ईस्ट इंडीज़ और बर्मा को लेकर उसके पास सबसे संपत्तिशाली उपनिवेश आ गये हैं। अब पिछले साल की जीत को हज़म करने और वहाँ अपने को जमाने का सवाल है। इस वक़्त जापानी साम्राज्य पर मित्रराष्ट्रों की जवाबी चढ़ाई दो तरफ़ से हो सकती है—आस्ट्रेलिया और हिन्दुस्तान। सोलोमन द्वीप समुदाय और न्यू गिनिआ से मित्रराष्ट्रों को न निकाल सकने में जापान की बहुत बड़ी असफलता है। पापुआ और गिदलकनार अगर जापान के हाथ आ जायें तो आस्ट्रेलिया का सारा उत्तरी इलाक़ा ख़तरे में आ जाये। यही नहीं अमरीका व आस्ट्रेलिया के बीच का रास्ता भी ख़तरे में आ जाये।

बर्मा में क्या हो रहा है? जापान पर चीन से हमला हो सकता है और चीन को मित्रराष्ट्र बर्मा से सामान भेज सकते हैं। फ़ौजी सामान के बिना चीन जापान को नहीं निकाल सकता। हिन्दुस्तान के बचाव और चीन की मदद के लिये बर्मा से जापान का निकाला ज़रूरी है। इधर तो मित्रराष्ट्र बर्मा पर हमले की बात सोच रहे थे, उधर जापानी बर्मा में अपनी ताक़त बढ़ा रहे थे। सबसे पहिले उन्होंने चीन के दक्षिणी प्रांत यूनान पर हमले शुरू किये ताकि उधर से बर्मा को खटका न रहे। इतने में ब्रिटिश सेना ने चटगाँव से सलग्न अराकान के इलाक़े में घुसना शुरू किया। इस बीच में उनके हवाई जहाज़ बर्मा के साथ फ़ौजी ठिकानों पर बराबर हमले कर रहे थे। जवाब में जापानियों ने चटगाँव के साथ कलकत्ता पर हवाई हमले शुरू कर दिये। पता नहीं कि यह फ़ौजी और हवाई कार्रवाई किसी बड़ी लड़ाई की निशानी है, या एक दूसरे की रोकथाम है। जो भी हो मित्रराष्ट्रों के समान धुरीराष्ट्रों का युद्धकौशल भी सम्मिलित है। और जर्मनी को संकट से उबारने के लिये जापान कुछ करेगा ही, इसमें सन्देह नहीं।

२३ दिसम्बर १९४२

सम्पादक, मुद्रक और प्रकाशक—विश्वम्भरनाथ, विश्ववाणी प्रेस, साउथ मलाका, इलाहाबाद

संरक्षक
पण्डित सुन्दरलाल (जेल में)

सम्पादक
विश्वम्भरनाथ (जेल में)
अख्तर हुसैन रायपुरी

फ़ र व री   १ ९ ४ ३

इस अङ्क के कुछ लेख

वार्षिक मूल्य ६)   **'विश्ववाणी' कार्यालय, इलाहाबाद**   एक अङ्क का ।≈)

विषय-सूची

फ़रवरी १९४३

नोट—इस अङ्क में 'वेदान्त और तसव्वुफ़' लेख का शेषांश नहीं प्रकाशित हो रहा है। उसके स्थान पर डा० ताराचन्द ने कृपा कर अपना 'हिन्दोस्तानी तहज़ीब और नई समाज' लेख, जो अखिल भारतीय दिल्ली रेडियो स्टेशन से ब्रॉडकास्ट हुआ था, दे दिया है।

युक्तप्रान्त, पञ्जाब, बम्बई, मद्रास, मध्यप्रान्त और बरार, होलकर राज्य, मेवाड़, जोधपुर, मैसूर और काश्मीर के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूल और कालेज लाइब्रेरियों के लिए स्वीकृत

वर्ष ३, भाग ५	फरवरी, १९४३	अङ्क २, पूरे अङ्क २६

आश्वस्त

श्री सियारामशरण गुप्त

कितना यह चारों ओर संकुचितपन है,
कितना यह चारों ओर परापहरण है!
सम्पूर्ण अरक्षित आज यहाँ जीवन है,
किस नये प्रेम से वैर-विरोध वरण है!
इस वसुधा को मैं प्यार करूंगा तब भी,
इस पर जो यह उन्मुक्त असीम गगन है।

इस विषम धूम में साँस नहीं ले पाता,
यह जन दावानल सहठ फैलता आता।
किस अग्निसुरा से मनुज आग मदमाता,
इस कलह काण्ड का छोर जला-सा जाता।
छोड़ूंगा अंचल नहीं धरा का तब भी,
इसकी माटी निर्ज्वलन सिन्धु-सुस्नाता।

हिन्दू-मुस्लिम समस्या

पंडित सुन्दरलाल

शारीरिक बीमारियों की तरह नैतिक बीमारियाँ भी होती हैं, और एक के बीमार पर गुस्सा होना या नफ़रत करना जितना बुरा है, उतना ही दूसरे के बीमार पर। खुद बीमारी से बचने की कोशिश एक अलग चीज़ है। जिस तरह आदमी पैदा होते हैं, तन्दुरुस्ती के मज़े लूटते हैं या बीमार पड़कर मर जाते हैं—उसी तरह ताक़तें पैदा होती हैं, तन्दुरुस्ती का सुख भोगती हैं, बीमार पड़ती और मरती हैं। जो हालत शारीरिक रोगों की है वही नैतिक और आध्यात्मिक रोगों की। हर बीमारी में अगर रोगी के अन्दर रोग के कीड़ों के मुक़ाबले की ताक़त बाक़ी है और ठीक इलाज हो गया तो वह फिर से स्वस्थ हो जायेगा। अगर इन दोनों में से एक की भी कमी रह गयी तो वह मर जायेगा। दोनों बातों की सम्भावना है।

हमारी क़ौम इस समय एक गहरी बीमारी की शिकार है। बिगड़ने या एक दूसरे पर अभियोग लगाने से कुछ न होगा। ठीक इलाज की कोशिश की जाये। अगर इस पुरानी क़ौम में दम (Vitality) बाक़ी हुआ तो सम्भव है कि यह फिर से जी उठे। अगर ईश्वर को यही पसन्द हुआ कि दूसरी ज़्यादा स्वस्थ, ज़्यादा समझदार और ज़्यादा जवान क़ौमों के लिये मैदान ख़ाली कर दिया जाये, तो यही होकर रहेगा। हमें दुनिया से उठ जाना होगा।

शरीर में पित्त, कफ़, लहू आदि ठीक परिमाण में रहें तो इसी का नाम स्वास्थ्य है। अगर कोई चीज़ ज़रूरत से ज़्यादा या कम हो जाये तो यही बीमारी है। यही क़ौमों की विशेषताओं का हाल है। अभिमान जब तक आत्माभिमान की हद तक रहे ठीक है, पर इससे बढ़कर उसमें ढोंग और घमंड की बू आ जाती है। यही हाल परम्परा का है। निज देश, निज धर्म बल्कि सारे संसार की पिछली विभूति का आदर अच्छी चीज़ है। प्राचीन काल की अच्छाइयों को खोने में बड़ा नुक़सान है। हर सभ्य और उन्नत देश में व्यक्ति को धार्मिक स्वतन्त्रता मिलना चाहिये। हर आदमी को अपने तरीक़े से और अपनी ज़बान में अपने ईश्वर को याद करने और धर्म-पालन की आज़ादी का हक़ होना चाहिये। लेकिन अगर किसी क़ौम में अनुदारता और कट्टरपन इस हद को पहुँच जाये कि उस देश के रहनेवाले धार्मिक आज़ादी के बावजूद मिली-जुली समाजी ज़िन्दगी और कामन कलचर का पनपना दूभर कर दें; अगर वह मेलों में, खेलों में, कचहरियों और स्कूलों में, उद्योग-धन्धों में, खाने पीने, पहिनने ओढ़ने में—हर तरफ़ अलगाव की खाई खोदने लगें, तो वह देश न स्वतन्त्र, उन्नत और सभ्य कहा जायेगा और न इस हैसियत से ज़िन्दा ही रहेगा। मुग़लों के राजकाल में हमारा देश ऐसी शान और ख़ूबसूरती से एक मिली-जुली ज़िन्दगी अपने में पैदा कर रहा था, जिसे देखकर दुनिया दंग थी। सबसे ज़्यादा रोना इसका है कि हमें इतिहास भी ग़लत पढ़ाया जाता है। हमारे बड़े बड़े लीडर ऐसे ही ग़लत इतिहास को पढ़ पढ़कर बड़े हुए हैं।

मौजूदा झगड़े का बीज उस समय पड़ा जब पिछली सदी के आख़िर और मौजूदा सदी के शुरू में अनुदारता की बेवक़्त हवा हिन्दुस्तान में चलना शुरू हुई। हमने सदियों के प्रेमपूर्ण जीवन को छोड़ना चाहा और तबीयतें यहाँ तक बहकीं कि एक क़ौम की दो क़ौमें नज़र आने लगीं। नतीजा यह होना ही था कि हमारे दुश्मन इस अनबन से फ़ायदा उठायें। आगे के लिये संयुक्त राष्ट्र का आदर्श नामुमकिन लगने लगा। यह ख़याल किसी को न रहा कि जो

ग़लत खींचातानी एक क़ौम के दो टुकड़े कर रही है, वह अगर बाक़ी रही, तो यहीं नहीं रुकने की। कहीं हमें ऐसा अशुभ दिन न देखना पड़े कि यह देश टुकड़े टुकड़े हो जाये, और इसकी छोटी मोटी रियासतें दूसरे शक्तिशाली क़ौमों के इशारे पर नाचा करें। फिर तो हिन्दुस्तान और हिन्दुस्तानी का नाम तक बाक़ी न रहेगा।

हमारी नैतिक बीमारी का अभी ज़ोर है। दोनों में से कोई बदनीयत नहीं। लेकिन दोनों अपने अपने से मजबूर हैं। जिस धर्म और जिस मज़हब को सार्वभौम होने का दावा है, उसके मानने वालों को डर है कि नुमायश की जगह 'प्रदर्शन' कहा जाने लगा, तो उनका जीवन ख़तरे में आ जायेगा। जिन लोगों ने वह रोशनी नहीं देखी जो हज़ारों रंग-बिरंगी चिमनियों में भी अपनी झलक दिखाती रही है, वह हमेशा खटकते हैं कि चिमनी का रंग बदलते ही रोशनी बुझ जायेगी।

लेकिन हमें निराश न होना चाहिये। हिन्दू और मुस्लिम जनसाधारण के दिल अब तक साफ़ हैं। वह गीता और क़ुरान, कबीर और दादू की साखी या नानक के वचन को अब तक नहीं भूले हैं। अंध-विश्वास के बावजूद उनका धर्म अब तक प्रेम का धर्म है। जो गुत्थी को ज़्यादा उलझाते जाते हैं, उनमें से अधिकतर न सच्चे हिन्दू हैं न सच्चे मुसल्मान। यूरोप में साम्प्रदायिक झगड़े इससे ज़्यादा ख़ौफ़नाक शकल में एक हज़ार साल तक जारी रहे। जापान में बौद्धों और ईसाइयों में सदियों इससे कहीं ज़्यादा बुरी सूरत रही।

यह बादल छटेंगे और हवा बदलेगी। अगर वह दिन न रहे तो यह दिन भी सदा न रहेंगे। यह बहुत ही डरावना सपना है, जिससे यह देश कम से कम एक बार जागेगा। मैं बिलकुल निराश नहीं। बीमार के दिल की धड़कन ठीक है। उसमें ज़िन्दगी की कमी नहीं।

इलाज साफ़ है। रास्ता नज़र आ रहा है। ग़ैरों के आने से पहिले हमने जिस मिले-जुले जीवन की नींव रखी थी, उसी की तरफ़ लौटना है।

सेवाग्राम, जून '४१]

रवीन्द्र-वचन

तुम क्या समझते हो कि फ्रान्स का पतन एक आकस्मिक घटना है ! बेलजियम का हार जाना कोई बड़ा भारी आश्चर्यजनक व्यापार है ! तुमने कभी सोचा है कि इन साम्राज्यवादी क्षुद्र देशों ने कितने पाप किये हैं; दीन, अशिक्षित और शस्त्रहीन कितनी जातियों को हतवीर्य और पंगु बनाया है; कितनों के रक्त को चूसकर अपने आपको स्फीतकाय बनाया है ! सफ़ेद आदमियों के चमड़े पर ज़रा सी खरोंच पड़ती है तो तुम लोग चिल्ला उठते हो कि अत्याचार हो रहा है, अनर्थ हो रहा है, 'बर्बरता का ताण्डव' हो रहा है, पर बेलजियम ने कांगो में जो कुछ किया था वह तुम्हें मालूम है ! हालैण्ड ने जावा को किस बुरी तरह से रौंदा है, उसका तुम्हें कुछ पता है ! मैं जानता हूँ !—

—स्वर्गीय गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर

हिन्दोस्तानी तहज़ीब और नई समाज

डा० ताराचन्द

हमारा देश पुरानी लकीरों को छोड़ कर नये रास्तों पर चल रहा है। यह राहें किधर जाती हैं, और हमें कहां ले जायँगी, हर एक के दिल में इसके समझने और जानने की ख़्वाहिश है। पर हम अपने देश के आनेवाले रूप को इस तरह जान सकते हैं, जब गये ज़माने की तब्दीलियों को जाने। हमारे जीवन का झुकाव किस तरफ़ है, हमारे समाज का कैसा संघठन बनने वाला है, और इस समाज की सभ्यता किस ढङ्ग की होगी, इस सभ्यता की भाषा का कैसा रूप रंग होगा, इसके जानने के लिये हमें गुज़रे ज़माने की जाँच करनी चाहिये।

आइये हिन्दुस्तान की तारीख़ के पन्नों पर निगाह डालें। पहले सफ़े पर हम देखते हैं कि आर्य क़बीले उत्तर पच्छिम की घाटियों से इस देश में घुस रहे हैं। वह पंजाब की नदियों के किनारे बस्तियां बसाते हैं, और गङ्गा, जमुना और सरस्वती की वादियों में फैल जाते हैं। उत्तरी हिन्दुस्तान में इनकी समाजें और राज क़ायम होते हैं। आर्यों और हिन्दुस्तान के पुराने निवासियों में लड़ाइयां होती हैं। लेकिन आख़िर में आर्य, द्रविड़ और मुन्डा नस्लें एक दूसरे में घुल मिल जाती हैं और इससे हिन्दुस्तान के पहले तमद्दुन की दाग़-बेल पड़ती है।

इस तमद्दुन की ख़ूबी यह है कि इसमें सभ्यता की दो धारें इस तरह से मिल गयी हैं, जैसे गङ्गा और जमुना की नदियाँ। आर्यों की निगाह दुनिया के बाहरी रंग रूप पर मोहित थी—धन दौलत, दूध-पूत की चाह इनकी तबीयतों को गुदगुदाती थी। यह मनचले बहादुर और लड़ाके लोग सचाई और निडरता को आदमी का असली जौहर मानते थे। गल्लाबानों की ज़िन्दगी बसर करते थे। दिल चौंचाल थे। हिम्मतें बढ़ी हुई थीं। यह न देवताओं से डरते थे, न आदमियों से दबते थे; हँस मुख, खुले दिल और आज़ाद थे। नाच-गाने के शौक़ीन थे। देवी देवताओं के भजन और गीत बनाते और गाते थे। इनकी भाषा करारी पर लचकदार और रसीली थी। इनके ख़्याल में गहराई और दिलेरी थी।

हिन्दुस्तान के पुराने निवासी खेती का पेशा करते थे। इनके मिज़ाज में नरमी और ज़माने के थप्पड़ों को सहने की आदत थी। इस दुःखभरी दुनिया से मुंह मोड़, आंखें अन्दर की सैर की तरफ़ झुकी थीं। साँस को रोक, ध्यान बांध, इन्द्रियों को क़ाबू में कर, कर्मों के अटल क़ानून, आवागमन के अटूट चक्कर से छुटकारा पाना, इसमें आदमी की ख़ैर समझते थे। इनकी ज़बान मुंह में कलाबाज़ियां खाती थी, मुड़ती तलुवे की छत को छूती लहराती, अनोखी धुनें निकालती थी।

इन दोनों धारों के मिलने से जो सभ्यता पैदा हुई इसका वेदों और ब्राह्मणों में परछांयां दिखाई देता है। उसकी बुनियाद वह समाज थी, जो ज़ातों में बंटी हुई थी। उत्तरी हिन्दुस्तान में इस क़िस्म की कितनी ही समाजें थीं। हर एक का इन्तिज़ाम और राज अलग था और इनमें आपस में लाग डांट रहती थी। इन राज्यों में सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी राजे हुकूमत करते थे। इन फ़िरक़ों में कौशलों और पौरवों का नाम सब से ज़्यादा मशहूर था। अयोध्या और हस्तिनापुर इनके तमद्दुन के गहवारे थे। राम और कृष्ण, जिन्हें आज भी हम प्रेम और भक्ति के साथ याद करते हैं, इस सभ्यता के आदर्श थे। इसकी कोख से दर्शन, फ़लसफ़ा के वह जवाहिर निकले जो उपनिषदों के अमर उपदेशों में जमा हैं और जिनकी ज्योति से हमारे दिलों में रोशनी है।

हज़ार डेढ़ हज़ार वर्ष तक यह नदी बड़े जोश ख़रोश के साथ बहती रही। फिर इसकी चाल मद्धिम पड़ी, इसका निर्मल जल गन्दा होने लगा। महाभारत

की भयानक लड़ाई के बाद इसकी तह घास फूस से भर गई। अब निराई की ज़रूरत हुई। वह लोग जिन्होंने इस तमद्दुन को तरक्क़ी दी थी, पूरब और दक्खिन में फैल चुके थे। इनमें नये ख़ूनों की शुरूआत हो चुकी थी। पुरानी समाजें ज़माने की टक्करों से घिस चुकी थीं। पुराने राज मिट चुके थे। हिन्दुस्तान इन्क़लाब के लिये तैयार था। महावीर और गौतम बुद्ध ने पुरानी दुनिया को पलट दिया और उस नई दुनिया का सन्देशा दिया, जिसकी ज़मीन नई और आसमान नया था। ईसा से ६०० वर्ष पहले वैदिक बुनियादों पर नई सभ्यता की इमारत बननी शुरू हुई। इसके हर खंड में नये और पुराने का मेल था। इसका मसाला एशिया और योरुप से इकट्ठा हुआ। ईरान, यूनान, और रोम, चीन, तूरान और ख़ुरासान से ईंट और चूना, लकड़ी और लोहा आया। इन सब मुल्कों से आदमियों के गिरोह के गिरोह ठट के ठट हिन्दुस्तान में आये, और यहां आकर बसे। हूण और शक, कुशान और बाख़्तरी, जाट और गूजर सब ने यहाँ पनाह ली। इनसे हिन्दुस्तानी क़बीलों की खींचतान हुई जिसका फल हिन्दू तहज़ीब के रूप में दिखाई दिया। इस ज़माने में मौर्यों, सतवाहनों और गुप्तों के साम्राज क़ायम हुए। पहले मरतबा यह कोशिश हुई की सारे देस को एक छत्र की छाया में लाया जाय। लेकिन देस का फैलाव बहुत था और फिरक़ों और कबीलों की जड़ें मज़बूत। एक समाज के जन्म के लिये अभी इन्तज़ार की ज़रूरत थी।

तौभी फिरक़ों की कड़ियाँ ढीली हो चुकी थीं और मुल्क के बड़े बड़े इलाक़ों को एक ही इन्तज़ाम के सिलसिलों में गठे रहने की आदत पड़ रही थी। अमन और शाँति का दायरा बढ़ गया था। धन दौलत और कारीगरी में अनोखी तरक्क़ी हुई थी। व्यापार की मंडियाँ और साहूकारी की साख कुल देस में ही नहीं, परदेसों में फैल रही थी। कला और साहित्य, फ़न और अदब ख़ूब चमक रहे थे। आज भी इनकी आब व ताब हमारे आँखों को चौंधियाती है। अजंता की तस्वीरों, एल्लूरा के मन्दिरों, साँची और सारनाथ, भरहुत और अमरावती की मूर्तियों, अशोक की लाटों की कारीगरी के सामने दुनिया की कला पानी भरती है। इस ज़माने के गुणी, कलावंत और पंडित चीन से रूम और मिस्र तक अपना जवाब नहीं रखते थे। फ़लसफ़ा और अदब में इनके कारनामे सदा के लिये ज़िन्दा हैं। दर्शन, इतिहास, क़ानून, सायन्स और मज़हब के ऐसे धुरन्धर आलिम पैदा हुये, जिनका इस दिन तक इल्म की दुनिया में डंका बजता है। जब तक आदमी के दिल में अदब की क़दर है, तब तक कालिदास का नाम जीता है। हिन्दू तमद्दुन के सूरज को चढ़ने और आसमान की छत तक पहुँचने में १२ सदियाँ लगीं। इसकी रोशनी से हिन्दुस्तान में जगमगाहट और पड़ोस के देशों में नूर फैला। पर दुनिया का क़ायदा है ज्वार के बाद भाटा, बढ़ने के बाद घटने का वक़्त आता है। उतार में भी समय लगता है। ६०० वर्ष तक हिन्दू सभ्यता को राजपूतों ने जीता रक्खा। लेकिन आख़िर में राजपूतों की फिरक़ाबंदियों ने राज की बुनियादों को खोखला कर दिया। ज़ात पाँत के भेद इतने बढ़ गये और कट्टर हो गये कि समाज में शक्ति बाक़ी नहीं रही। मतों के बखेड़ों और करमकांड के जंजाल से आदमी घबरा उठे। बौद्ध और जैन, वैष्णव, शैव और शाक्त के पुजारी एक दूसरे के बैरी हो गये। तारीख़ ने हिन्दू सभ्यता का वर्क़ उलट दिया और हिन्दुस्तान में एक नये दौर की शुरूआत हुई।

पहले तो अरबों ने सिन्ध की वादी में हिन्दू तहज़ीब की कूवत को आज़माया। पर अब भी इसमें जान बाक़ी थी। इसने कुछ जगह तो छोड़ी लेकिन अरबों को बहुत आगे न बढ़ने दिया। ३०० वर्ष बाद अफ़ग़ानिस्तान के तरफ़ से तुर्कों के हमले शुरू हुए, और बारहवीं सदी के आख़ीर तक उत्तरी हिन्दुस्तान राजपूतों के हाथों से निकल गया। नये क़बीलों, नये धर्म और नये तमद्दुन का हिन्दुस्तान में दाख़िला हुआ। राजपाट की लालच ने अमीरों और सरदारों, राजाओं और सामन्तों में लड़ाइयाँ कराईं। लेकिन इसे इस्लाम और हिन्दू धर्म की लड़ाई समझना बड़ी

ज़ाहिर करता है। हिन्दुस्तान में इस्लाम को फैलानेवाले इतने बादशाह और फौजी कमान्दार नहीं थे जितने दरवेश, सूफ़ी, मस्तक़लन्दर थे जिन्हें राजदरबारों से सरोकार न था। यह अल्लाहवाले प्रेम के मतवाले, ग़रीबों, बेकसों और दीन दुखियों के साथी और हमदर्द थे। इनके आपस के बर्ताव का असर हाकिमों पर भी पड़ा और इस तरह मार धाड़ और डराने धमकाने की जगह अच्छे रिश्ते क़ायम हुए। दुश्मनी दोस्ती में बदली। तुर्क अपने साथ अपनी सभ्यता लाये। इनके समाज का ढाँचा और राज का तरीक़ा राजपूतों से कुछ ज़्यादा मुख्तलिफ़ न था। लेकिन धर्मों का फ़र्क़ और ज़बानें जुदा जुदा थीं। अब तक जितनी क़ौमें हिन्दुस्तान में आई थीं, उनके मज़हब कुछ अहमियत न रखते थे। इसलिये उन्होंने हिन्दू मज़हब अख़्तियार कर लिये। लेकिन इस्लाम की हैसियत इनसे बिल्कुल अलग थी। इसके उसूल, पूजा पाठ के तरीक़े, क़ानून, रस्में और रिवाज ख़ास थे। और मुसलमानों की ज़िन्दगी पर इनका गहरा असर था। यह आसान नहीं था कि इस्लाम दूसरे मज़हबों में घुल जाता या उनके दबाव को क़बूल करता। लेकिन हिन्दुस्तान की सृष्टि ही में मेल जोल का गुण है। यह कैसे हो सकता था कि दो तहज़ीबें हिन्दुस्तान में एक साथ रहें, और बिल्कुल एक दूसरे से अलग अलग रहें! हिन्दू और इस्लामी तहज़ीब ने एक दूसरे की देखा देखी रंग बदला। हिन्दुओं के पुराने तरीक़े पलटे और मुसलमानों ने हिन्दी तरीक़ों को अपनाया। हिन्दू और मुसलमानी ज़ेहनों का मेल हुआ। दो अलहदा दुनियायें एक में समो गईं। एक नया तमद्दुन तैयार हुआ। इसके दुनियावी और रूहानी पहलुओं पर ध्यान दें तो इसकी यकसानियत का कुछ अन्दाज़ा हो सकता है।

ज़िन्दगी में हमारी सब से पहली ज़रूरत खाने पीने, कपड़ा पहने और घर ठिकाने की है। इस ज़रूरत को पूरा करने ही के लिए हम खेती बारी, धन्धे, दस्तकारी, बनिज-ब्योपार करते हैं। अगर हम इस छः सौ वर्ष की तारीख़ पर नज़र डालें जो तेरहवीं सदी से शुरू होकर उन्नीसवीं तक ख़त्म होती है तो मालूम होता है कि इस ज़माने में हमारी ज़रूरतों को पूरा करने के तरीक़े हिन्दू मुसलमानों में यकसाँ थे। हम एक तरह से रहते थे, एक से कपड़े पहनते थे, एक से खाने खाते थे। हमारे खेल कूद, दिल्लगी चेहल-पेहल के सामान यकसाँ थे। ज़िन्दगी की मंज़िलों को एक साथ काटते थे और एक ही तरह निभाते थे। बच्चों के जनम, लड़के-लड़कियों की ब्याह शादी, मरने के बाद शोक मनाने के तरीक़े मिलते-जुलते थे। इस ज़माने में हिन्दू और मुसलमानों ने जो तस्वीरें खींचीं, महल मक़बरे, मन्दिर और मस्जिदें तामीर कीं, राग रागनियां बनायीं, बाजे ईजाद किये, इनमें हिन्दू मुसलमान का कोई फ़र्क़ न था। इने गिने मौलवी और पण्डितों, सरकारी दरबारी उहदादारों को छोड़कर जो संस्कृत, फ़ारसी और अरबी सीखते थे, बाक़ी सभी हिन्दू मुसलमान हिन्दी बोलियाँ बोलते थे और इन्हीं में अपने विचार और भाव ज़ाहिर करते थे। उर्दू, ब्रज, अवधी, बंगला, पंजाबी बोलियों में सैकड़ों हिन्दू मुसलमान शायर हुए जिनके कारनामों से इनके ख़ज़ाने मालामाल हैं।

भाषा, साहित्य और कला में किसी क़ौम की आत्मा का परतो दिखाई देता है। इनसे इसके गुणों का और इसकी असलियत का पता लगता है। इनकी यकसानियत क़ौमी आत्मा की एकता को ज़ाहिर करती है। यह एकता ज़िन्दगी के और अंगों में भी दिखाई देती है—मसलन् चाल चलन के उसूलों और सचाई के रास्तों की तलाश में। इन पर ग़ौर करें तो बावजूद मज़हबी फ़रक़ों के एक गहरी समानता पाई जाती है। दुनिया की ख़्वाहिशों से दिल हटाना, जो कुछ मिल गया उस पर सब्र करना, आदमी आदमी से मुहब्बत करना—अल्लाह में लौ लगाना, जिन्होंने दुनिया को तज दिया है और अन्दरूनी शक्ति को पा लिया है उनका सत्संग करना, गुरु या पीर को राह दिखानेवाला मानना और उसकी इज़्ज़त करना। यह ऐसे ख़्याल थे जो हिन्दोस्तान के सभी लोगों में मुश्तरिक थे। साधू-सन्तों और सूफ़ी दरवेशों ने इस

इश्क़ के मज़हब, प्रेम के धर्म का प्रचार किया और कुल हिन्दोस्तान को भाईचारे के रिश्तों से बाँध दिया। इनके दिलों में कैसी सफ़ाई और हिम्मत थी। मुहम्मद अली कुतुबशाह, जो गोलकंडा के बादशाह और अकबर के हम असर थे, यों बेधड़क बयान करते हैं—कुफ़्र रीति क्या दूर इस्लाम रीति—हर एक रीति में इश्क़ का राज़ है। यह था इन चन्द सौ सालों में हाकिमों के तबके और ग़ैर मज़हब के लोगों की तबीयतों का मिलन। कबीर, नानक, दादू, तुकाराम, मुईउद्दीन, बाबा फ़रीद, रज्जब, और बहुतेरे हिन्दू और मुसलमानों ने इन्हीं विचारों को फैलाया है। इस तबीयत से ख़ूबसूरती के वे पुतले तैयार हुए जिनको देखकर आज भी हमारी रगों का ख़ून तेज़ी से बहने लगता है। इसी दिल से वे बच्चे पैदा हुए जिन्होंने हिन्दोस्तान से कुछ दिनों के लिए दुई को मिटा दिया।

अठारवीं सदी के पूरे होते होते इस तमद्दुन ने भी दम तोड़ा। तारीख़ के तीन दौर ख़तम हो चुके थे। उन्नीसवीं सदी ने चौथे दौर का डौल डाला। आज हम तारीख़ के इस दौर में से गुज़र रहे हैं। लेकिन अभी तो मंज़िल की पहली सीढ़ियों पर ही हैं। इस भूल भुलइयाँ में आगे क्या है इसकी जाँच उस धुंधले ख़ाका से हो सकती है जो इस वक़्त हमारी आँखों के सामने है। आज हिन्दोस्तान की आर्थिक ज़िन्दगी एक नये ढङ्ग पर चल रही है। दस्तकारी की जगह कारख़ाने ले रहे हैं। गाँव की शान्त और सादा रविश ख़तम हो चुकी। वह हालत जिसमें हर एक गाँव अपने ऊपर आप भरोसा करता था, उसकी पैदावार उसके लिए काफ़ी थी, उसकी ज़रूरतें कम और इनमें तब्दीलियाँ नहीं होती थीं, अब बाक़ी नहीं। अब तमाम हिन्दोस्तान की एक मंडी है, जिस में दूर और पास के सब गाँव लेन देन करते हैं। सारे देश का व्योहार एक साख पर क़ायम है और कुल कारोबार हुन्डी पर्चों पर चलता है। क़ुदरत ने मुल्क में अपनी नियामतें इस तरह फैलाई हैं कि कोई हिस्सा बिना दूसरे हिस्सों के मदद के ख़ुशहाल नहीं रह सकता—कहीं गेहूँ उगता है तो कहीं चावल, कहीं नमक मिलता है तो कहीं लकड़ी, कोयला; कहीं लोहा निकलता है तो कहीं सोना; और सब मिलकर ही एक दूसरे की ज़रूरतों को पूरा कर सकते हैं।

समाजी ज़िन्दगी में भी इन्क़लाब है। हिन्दू मुसलमानों में ज़ात-पाँत का ज़ोर घट रहा है। क़बीलों और फ़िर्क़ों की तक़सीम तो ग़ायब ही हो गई! आज कौन शरीफ़ है, कौन रज़ील? समाज में इज़्ज़त और सरकार में उहदे पाने के लिए न ब्राह्मण क्षत्री होने की ज़रूरत है, न सैयद और पठान। जन्म और ख़ानदान से कोई ऊँच नीच नहीं बनता। बराबरी का ज़माना है। क़ानून के सामने सब यकसाँ हैं। मर्द ही नहीं औरतों में भी बराबरी की तलब है। रहने सहने के तरीक़े बदल रहे हैं। हम एकसे मकानों और बंगलों में रहते हैं, एकसा फ़र्नीचर इस्तैमाल करते हैं, एकसा लिबास पहनते हैं, एक ढङ्ग से मेज़ कुरसी पर काँटे छुरी की आदत डाल रहे हैं, चाय पीने में मक्खन टोस्ट का नाश्ता करते हैं। बाहर ही नहीं, हमारे अन्दर का फ़र्नीचर भी यकसाँ है। योरप की विद्याओं ने एशियाई इल्मों की जगह ले ली है। सोचने के ढङ्ग गौतम और कणाद, इब्न रुश्द और इब्न सीना से नहीं, कान्ट और हेगेल, न्यूटन और आइन्सटाइन से सीखते हैं। हम आज़ाद स्वाधीन प्रजा राज का स्वप्ना देखते हैं—मनु और अबू हनीफ़ा की कतरब्योंत करते हैं।

यह ज़रूर है कि अभी हमारे मनों में अपनी तरफ़ से दुविधा है, अपने ऊपर पूरा भरोसा नहीं। सहारे की ऐसी आदत पड़ गई है कि इसके हटने का ख़याल दिलों को कँपा देता है। हमें डर लगता है कि कहीं टेक निकल गई तो हम एक दूसरे को गढ़े में न ढकेल दें। पर यह एक भुलावा है जो बहुत दिनों हमें गुमराह नहीं कर सकता। हिन्दोस्तान के कुल बाशिन्दों को कन्धे मिलाकर खड़ा होना है। इनमें से किसी ने कंधा डाल दिया तो सब का काम बिगड़ जायगा।

आने वाले ज़माने का तमद्दुन इन्हीं ज़रूरतों और बुनियादों पर खड़ा होगा। वह बारह खंभा जिन सुतूनों के सहारे दुनिया की तेज़ और तुन्द आँधियों का सामना करेगा वह इस मुल्क की रहने वालों की जमायतें हैं जो इस वक्त बिखरी हुई और उदास दिखाई देती हैं—लेकिन जल्द मिलेंगी और अपनी ताक़त को पहिचानेंगी। वह सभ्यता की ऐसी इमारत बनायेंगी जिसके मुक़ाबले में पुराने महल मन्द पड़ जायँगे। ज़माना इस नये तमद्दुन का बेचैनी के साथ इन्तज़ार कर रहा है।

इस नये समाज और नये तमद्दुन की ज़बान क्या होगी? आइए तारीख़ से मश्विरा करें। यह एक बड़े अचम्भे की बात है कि हमारे देश की तारीख़ के हर दौर में दो तरह की ज़बानों का रिवाज था। एक ज़बान ऊँचे दरजे के लोगों और पढ़े लिखों की होती थी और दूसरी आम लोगों, गाँववालों की। पहले दौर के पण्डितों और दरबारों की ज़बान संस्कृत थी, लेकिन साधारण आदमी देस के जुदा जुदा इलाक़ों में अलग अलग बोलियां बोलते थे जो सीधी सादी और आसान थीं। दूसरे दौर में मज़हबी प्रचार के लिए पाली और अर्द्ध मागधी काम में आने लगी और कुछ महाराजों ने पाली को सरकारी काम में भी इस्तैमाल किया, लेकिन बाद में संस्कृत का बोलबाला हुआ और प्राकृतें बोली-ठोली होकर रहीं। कहीं मराठी प्राकृत बोली जाती थी तो कहीं सूरसेनी और कहीं मगधी। तीसरा दौर आया तो दिल्ली के तुर्क और मुग़ल सम्राटों ने फ़ारसी को दफ़्तरी ज़बान ठहराया। उन्नीसवीं सदी तक यही हालत रही। पढ़ने लिखने में अरबी, फ़ारसी और संस्कृत काम में आती थीं। पर हिन्दोस्तानियों की बहुत बड़ी तादाद हिन्दोस्तानी, ब्रज, अवधी, बंगला, गुजराती, मराठी वग़ैरह भाषायें बोलती थी। इनकी रुचि और स्वभाव का यही तक़ाज़ा था कि वे अपने भाव और विचारों को इन्हीं के ज़रिये ज़ाहिर करें। इसलिए इस ज़माने में हिन्दू और मुसलमान दोनों मिल कर इन भाषाओं का साहित्य बनाते रहे।

उन्नीसवीं सदी से तारीख़ का नया दौर शुरू हुआ। पहले पहल तो इस ज़माने में भी पुरानी लकीरों पर काम चला। लेकिन फ़ारसी और संस्कृत की जगह अँगरेज़ी ज़बान ने ली। पर जैसे जैसे स्वदेसी और स्वराज का ज़ोर बढ़ा परदेसी भाषा की तरफ़ से भी हटने लगा। अब यह सवाल पैदा हुआ कि देस की कौनसी भाषा इस लायक़ है कि उसे कुल हिन्द की बोली माना जाय। इसमें एक यह पेंच था कि आज़ादी और बराबरी के ज़माने में आम और ख़ास की बोली और भाषा में फ़र्क़ नहीं हो सकता था इसलिए फ़ारसी, संस्कृत न पढ़ाई का ज़रिया और न सरकार दरबार के कामों के लिए कुल देस की भाषा मानी जा सकती थी। यह मरतबा किसी देसी बोली को ही दिया जा सकता है। देखा तो हर सूबे की अपनी ज़बान है और इसमें अच्छा ख़ासा अदब है। लेकिन इन सूबाई ज़बानों में एक ऐसी है जिसका फैलाव सबसे ज़्यादा है, जिसकी सीमा उत्तर ही नहीं दक्खिन में भी है। यह ज़बान बहुत पुरानी है। चौदहवीं सदी से आज तक लगातार इसमें साहित्य तैयार होता रहा है। हिन्दोस्तान के सभी मज़हबों ने इसमें प्रचार किया है और सब ने इसकी तरक़्क़ी में हिस्सा लिया है। अठारहवीं सदी के शुरू तक यह ज़बान जिस तरह बोली और लिखी जाती थी वह एक मिला जुला तर्ज़ था। इसमें ठेठ हिन्दी का ठाठ भी था और फ़ारसी का भी चटख़ारा। लेकिन जब मुहम्मदशाही दरबार का असर पड़ा तो इसके तर्ज़ में नया रंग पैदा हो गया। ईरानी, तूरानी, नये पुराने विलायती अमीरों को यह रंग ऐसा भाया कि उन्होंने पुरानी ज़बान को बदल डाला। अवध के शौक़ीनों ने इसे और शोख़ किया। कुछ नादान दोस्तों और कुछ दाना दुश्मनों ने इफ़रातज़गी से फ़ायदा उठाया और ज़बान का एक दूसरा ही तर्ज़ ईजाद कर डाला। फ़ारसी के लफ़्ज़ों को निकाल संस्कृत की ठूँस ठाँस शुरू की। नतीजा यह हुआ कि एक ज़बान के दो ढङ्ग चल पड़े और इनमें आपस में खींच तान होने लगी। इस झगड़े का फ़ैसला क्यों कर हो? जवाब

यह है कि तारीख़ के पुराने और नये दौरों पर ध्यान दीजिए और इनसे सीख लीजिए। हर ज़माने में दो शक्तियों का अमल दिखाई देता है—एक तरफ़ फ़िरक़ों, नस्लों, रस्मों और रिवाजों की बहुतायत है तो दूसरी तरफ़ एकता की ताक़त, जो इन्हें मिलाकर एक सभ्यता पैदा करती है। हर दौर में यही अमल जारी रहा है। कसरत में वहदत का तमाशा होता नज़र आता है। आज भी वही कशमकश है। हिन्दोस्तान रक़बा और आबादी में एक बहुत बड़ा देस है। इसमें कई नस्लों के आदमी बसते हैं, कितने ही मज़हब हैं, कुछ की जन्म भूमि हिन्दोस्तान है, कुछ की बाहर के देस। इनकी रीतें और रस्में अलग हैं, रवायतें जुदा हैं, ज़ाती क़ानून, धर्म के ठिकाने न्यारे हैं। लेकिन यह सब कुछ होते हुए भी एक तारीख़ी क़ूवत है जो कड़ियों को जोड़ कर एक मज़बूत ज़ंजीर डाल रही है। मालूम नहीं कब से, लेकिन तारीख़ के ज़माना से बहुत पहले से, क़िस्मत का यही फ़ैसला है।

हम हिन्दोस्तान को आज़ाद देखना चाहते हैं। इसकी हुकूमत की बाग अपने हाथों में लेना चाहते हैं। अपना राज क़ायम करना चाहते हैं। दुनिया में न किसी ज़माने में, न किसी मुल्क में कोई भी राज बहुत दिन चला है, जो एक समाज की बुनियादों पर न खड़ा हो। एक समाज का आसरा हमारे दिलों का मेल मिलाप है। दिलों में मुहब्बत एक दूसरे के तरीक़ों, ख़्यालों और भावों की इज़्ज़त से, अपने में सब देश वालों को और सब देशवालों में अपने को देखने से पैदा होती है। यही वजह है कि हमारी समाज मिलवाँ होगी, जिसमें हिन्दोस्तान के कुल बाशिन्दे साझी होंगे। इस मिलवाँ समाज से जो तहज़ीब पैदा होगी वह एक मुश्तरका ख़ान्दान की मुश्तरका जायदाद होगी। इस नई समाज, नई सभ्यता की ज़रूरतों को एक मिलवाँ ज़बान ही पूरा कर सकती है। यह वही ज़बान हो सकती है जो अपने पुरखों का आदर और मेहमानों का स्वागत करती है। इसका देस की किसी बोली से बैर नहीं, लेकिन इस पर किसी ख़ास फ़िरक़े का ठीका नहीं। यह ज़बान पुरानी भी है, नई भी। इसमें वह ध्वनियाँ भी हैं जिन्हें हमारे कान वैदिक काल से सुनते चले आये हैं और वह भी जिन्हें हमारे भाई तारीख़ के तीसरे दौर में अपने साथ लाये। पर इसके क़ानून क़ायदे अपने हैं और यह कभी दूसरी ज़बान की हुकूमत मानने को तैयार नहीं। यह ज़बान भूखी नंगी नहीं, क्योंकि यह लफ़्ज़ों के लिये संस्कृत, अरबी, फ़ारसी, अंग्रेज़ी, सभी से ख़िराज ले सकती है। इसके अदब का भण्डार भरा है। पर इसके आनेवाले अदब के सामने इसके पुराने कारनामे ऐसे ही फीके दिखाई देंगे जैसे सूरज के सामने सबेरे के तारे। अगर नया हिन्दोस्तान आता है तो इसमें शक नहीं कि इसकी यही ज़बान होगी जिसे हम हिन्दोस्तानी कह कर पुकारते हैं।
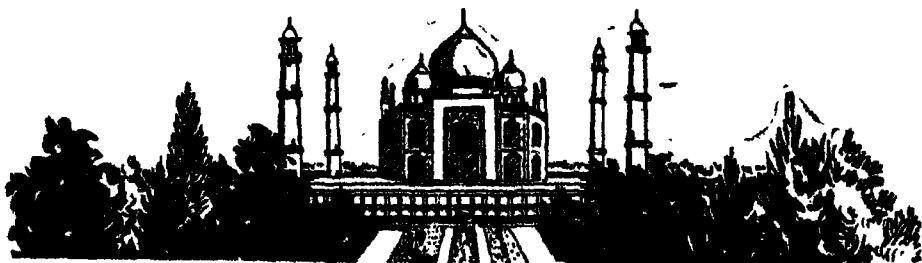
रोलां कहां है ?—रोमां रोलां ?

श्री महादेवप्रसाद साहा

यह विश्वविख्यात मनीषी आज अपने ही देश में जर्मन फ़ासिस्टों का बन्दी है।

मानव सभ्यता के इस महा संकट के समय रोलां की बात बारम्बार याद आती है। रोलां दुनिया की प्रगतिशील बुद्धिजीवी समाज के प्रतिनिधि हैं। दुनिया में जहां कहीं भी जनता पर जुल्म हुए हैं, उन्होंने निडर होकर उसका विरोध किया है। जहां कहीं भी जनता की विजय हुई है, हम उन्हें उसका अभिनन्दन करते हुए पाते हैं। हिन्दुस्तान की आज़ादी की लड़ाई के वे प्रबल समर्थक हैं। रोलां ही ने साहित्यिक दुनिया की ओर से सबसे पहले रूस की नवम्बर क्रान्ति का अभिनन्दन करते हुए लिखा—" ७ नवम्बर दुनिया के सामाजिक इतिहास में महान दिन है।" क्रान्ति के कई साल बाद भी जब पूंजीवादी देशों में बुद्धिजीवियों ने बोल और लिखकर सोवियत् के विषय में झूठा प्रचार शुरू किया तो रोलां ने इसका ज़ोरों से विरोध किया। प्रत्येक क्रान्ति में कुछ ख़ूनख़राबी हो ही जाती है। लेकिन क्रान्ति-विरोधियों के लिए तो उसमें इसके सिवा कुछ दिखाई ही नहीं पड़ता है। रोलां ने उस समय घोषित किया—One must live, first of all Live, at any cost. One can restore afterwards the reasons for leaving the eternal values......This new order is entirely blood-stained, entirely soiled, like the human fruit that is torn from the womb of its mother. Inspite of the disgust......I go to the infant, I pick up the new born, he is the only hope, the wretched hope of humanity. It is yours······"

× × ×

सोवियत् रूपी यह शिशु जिसमें बढ़ने न पावे, इसके लिए इसके जन्म दिन से ही साम्राज्यवादी देशों में गुप्त षड्यन्त्र होने लगे। यह साज़िश तरह तरह के छल बल कौशल से की गई थी। जान बूझकर या ग़लती से अनेक लेखकों, कलाकारों तथा अख़बारों ने इसमें भाग लिया। रोलां ने इस समय सभी को, ख़ासकर लेखक समाज को समय रहते सावधान होने के लिये कहा—"······Throughout the world an insolent mobilisation of public opinion against revolutionary Russia, under the daily excitation of a press attached to international commerce····· is frantically endeavouring to blow out the inconvenient torch of the Russian Revolution" इस बात से बहुतेरे तो उस साज़िश से हट गए और दूसरे अपने घृणित काम में लगे रहे। फ्रांस और ब्रिटेन के पूंजीपतियों की मदद और हमदर्दी हासिल कर, जनता की अज्ञता तथा बुद्धिजीवियों की उदासीनता से लाभ उठाकर फ़ासिज़्म ने धीरे धीरे अपनी जड़ जमा ली। आगे चल यह दुनिया का किस तरह से सर्वनाश करने की कोशिश करेगा, इसे रोलां अच्छी तरह जानते थे। उनकी अथक क़लम जनता को इससे बचने के लिए जगाने के काम में लगी रही। उन्होंने लिखा- Fascism is installed everywhere in Europe, either victoriously, axe in hand—or where it is not seen like a snake in the grass."

× × ×

इस 'आस्तीन के सर्प' को रोलां ने पहचान लिया था। वह यह भी समझ गए थे कि इससे केवल सोवियत् पर ही नहीं बल्कि सारी दुनिया पर मुसीबत

जायेगी। अन्यथा, संस्कृति को नष्ट करने का प्रयत्न किया जायगा। इस सर्वनाश से दुनिया को बचाने के लिये साहित्यिक, विचारक आदि को इसके खिलाफ़ आवाज़ बुलन्द करनी होगी। रोलां ने अपने संकल्प को घोषित करते हुए लिखा—As for me, here is my hand. If the U. S. S R. is threatened, whoever her enemies may by, I range myself by her side. Europe, if you start that monstrons struggle, I will march against you, against your despotism, and your rapacity, for my brethren in India, of Indo-China, of China and of every oppressed and expl ited nation."

× × ×

रोलां के लिये सोवियत की रक्षा का सवाल हिन्दुस्तान, इन्दो-चीन, चीन तथा दूसरे पराधीन मुल्कों की आज़ादी की लड़ाई से अलग नहीं है। दुनिया की पराधीन, शोषित जनता की लड़ाई के दुश्मन सोवियत के मित्र नहीं कहे जा सकते हैं। एशिया और अफ्रीका में शासन और शोषण कायम रखने के लिए यूरोप के साम्राज्यवादी मुल्कों तथा अमरीका के लिये तथा उनके पूर्वी चेले जापान के लिए सोवियत "Inconvenieut torch" है। किसान और मजदूरों के इस लगातार जलते हुए एक ही मशाल ने अन्तर्राष्ट्रीय पूंजीवाद के सभी षड्यन्त्रों से जनता को होशियार कर दिया था। आज से उन्नीस महीने पहले जर्मन फ़ासिस्तों ने इस पीड़ितों के आशा-प्रदीप को बुझाने के लिए हाथ बढ़ाया। सोवियत के संकट के साथ पराधीन हिन्दुस्तान का स्वार्थ, सभी शोषित और भूखे देशों का स्वार्थ, संकट में पड़ गया है। सोवियत की रक्षा के साथ हिन्दुस्तान का कौन सा लाभ-नुक़सान जुड़ा हुआ है, इसे भारत-मित्र रोलां ने बहुत पहले ही हमें बतलाया है। I Will Not Rest नामक पुस्तक रोलां के व्यक्तिगत जीवन के मानसिक संघर्षों का इतिहास नहीं है, इसमें अपनी सारी ज़िन्दगी कठिन प्रश्नों का सुलझाव ही लिपिबद्ध नहीं है—इस पुस्तक को दुनिया के सभी देशों के प्रगतिशील कवि, साहित्यिक, कलाकार के संकटकालीन कर्त्तव्य को बतलाने के लिए Guide Reference Book कहना अत्युक्ति नहीं है।

× × ×

रोमां से हिन्दुस्तान की मित्रता पुरानी है। महात्मा गांधी, श्री रामकृष्ण तथा स्वामी विवेकानन्द की जीवनियों के लेखक के रूप में हमें उनका एक परिचय मिलता है। और I will not rest के लेखक के रूप में हमें उनके जीवन के दूसरे रूप का परिचय मिलता है। बम्बई के कपड़ों की मिलों में होनेवाले हड़तालों में किस साल कितने मज़दूरों ने भाग लिया, गिरनी कामगर यूनियन (कपड़े की मिलों में काम करने वाले मज़दूरों की यूनियन) कब स्थापित हुई और किनके प्रयत्न से, मेरठ षड्यन्त्र में कितने लाख रुपयों को स्वाहा करके साम्राज्यवाद के किन साज़िशों का पता चला, इसका इतिहास,—हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ी राज ने कितने ज़ुल्म किये और कितनी लूट की, हिन्दुस्तानियों ने किस प्रकार से इससे छुटकारा पाने के लिए अपना संगठन किया है और करते आ रहे हैं, उसकी छोटी मोटी बातें भी रोलां के नख-दर्पण में हैं। केवल जानकारी के लिये उन्होंने कठिन परिश्रम करके इन तथ्यों का संग्रह नहीं किया था। हिन्दुस्तान की जनता की ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासन विरोधी भावना का उन्होंने अभिनन्दन किया है—वे खुश हुये हैं पराधीन हिन्दुस्तान के भविष्य की निश्चित सम्भावना से।

× × ×

हिन्दुस्तान का वह मित्र आज रुद्धकंठ है—हिटलर के हुक्म से आज वह बन्दी बना लिया गया है। लेकिन बड़े अचरज की बात है कि आज तक किसी भी हिन्दुस्तानी अख़बार में इसके विषय में एक भी पंक्ति लेखक के सामने नहीं दिखाई पड़ी। क्यों?

जो लोग किसी समय इस देश में रोमां का परिचय कराते हुए खुद ही पाठक समाज में सुपरिचित हुए थे, जिन्होंने पत्रिकाओं में महीनों रोमां की रचनाओं को प्रकाशित कर अपने को धन्य माना और साथ ही व्यापारिक दृष्टिकोण से भी कुछ घाटे में नहीं रहे, वे सभी आज रोमां के सम्बन्ध में चुप हैं। मौजूदा लड़ाई के कई साल पहले ही—१९३३ ३४ के बाद से ही—धीरे धीरे रोमां के सभी समादर के मंच मिट गये। इसका कारण क्या है? क्या रोमां रोलां पहले की तरह हिन्दुस्तान के मित्र नहीं रहे? या अपने हिन्दुस्तानी मित्रों के मनोनुकूल रोलां अब कुछ दूसरे रोलां हो गए? किस अपराध में? वह हिन्दुस्तान के मित्र, सोवियत के मित्र तथा दुनिया के सभी आज़ादी-पसन्द देशों के मित्र हैं। क्या रोमां रोलां के इतने दिनों के हिन्दुस्तान के हितैषी होने का यही कृतज्ञता-पूर्ण प्रतिदान है?

× × ×

भारतबन्धु रोलां के पुराने मित्र भले ही भूल सकते हैं, लेकिन असल भारत उन्हें कभी नहीं भूल सकता है। रोलां की उदार उदात्त वाणी में उन्हें आगे बढ़ने की प्रेरणा मिली है।

इस मुल्क का गौरव, इसका निस्तार, इसकी सलामती, इसकी आज़ादी का राज़ और इस के ज़रिये दुनिया का कल्याण न इस रूढ़ि या कर्मकाण्ड में है और न उसमें, न इस वेष भूषा या लिबास में है और न उसमें, न इस तरह के संकीर्ण माइनों में इस ख़ास संस्कृति को चिपटे रहने में है और न उसको। भारत और संसार दोनों का कल्याण उस सम भाव, उस सौहार्द हक़ीक़ी में है जो भिन्नता में एकता को देख सके, जो रूढ़ियों और कर्मकाण्डों से ऊपर रहकर सबके अन्दर से उसी तरह अपनी रोशनी की किरणें दुनिया पर फेंक सके जिस तरह रंग बिरंगे शीशे में से लैम्प की रोशनी, और जो आर्य संस्कृति और द्रविड़ संस्कृति, बङ्गाली संस्कृति और पञ्जाबी संस्कृति, हिन्दू संस्कृति और मुसलिम संस्कृति के बजाय उस सुन्दर, सर्वांगिक भारतीय संस्कृति की रचना में अपनी सच्ची सफलता समझे, जो भारतीय संस्कृति आख़िर में उस व्यापक मानव संस्कृति में अपने को लीन करदे, जिसके बनाने में दुनिया इस समय बड़ी मेहनत और तकलीफ़ के साथ लगी हुई है, और जिसके लिये मानव समाज की टुकड़े टुकड़े हुई आत्मा बेचैनी के साथ तड़प रही है।

—पण्डित सुन्दरलाल

मुसलिम राष्ट्रवाद और हमारा भविष्य

गुरुमुख निहालसिंह

मुसलिम लीग अब जो कुछ मांगने लगी है, वह इस वसूल को मानने का लाज़मी नतीजा है कि विभिन्न संप्रदायों के अलग अलग राजनीतिक हक़ हैं और उनका संरक्षण ज़रूरी है। इस सिद्धांत के मान लिये जाने के बाद यह होना ही था कि सब फ़िर्के अपने को सांप्रदायिकता के ढर्रे पर संगठित करें और एक दूसरे के बीच में अलगाव की दीवारें खड़ी करें। मुसलिम लीग की दाग़बेल रखी गई तो सिख लीग की नींव पड़ी, फिर हिन्दू महासभा की बेल मुंढे चढ़ी। मद्रास के अब्राह्मणों ने इनकी देखा देखी अपनी जस्टिस पार्टी बनाई और ईसाइयों ने भी एक कानफ़रेन्स गढ़ डाली। यूरोपियनों और एंगलो-इंडियनों की सभा समितियां तो पहले से मौजूद थीं ही। इन सब में एक महत्त्वपूर्ण बढ़ती दलितों के संगठन की हुई। इनमें से हर एक की ज़िद थी कि उसे कौंसिलों और नौकरियों में तादाद से ज़्यादा जगह मिले और उसके सांप्रदायिक स्वत्व के संरक्षण का विशेष प्रबन्ध किया जाये।

सिरफिरी नौकर शाही या लार्ड बर्कनहेड जैसे बड़बोले साम्राज्यवादी की किसी भूल-चूक के कारण इस देश में कभी एकता का वातावरण पैदा हो जाता है—जैसे साइमन कमीशन की ख़ालिस सफ़ेद रंगत पर। लेकिन उसी समय हर सम्प्रदाय में फूट पड़ जाती है। एक दल तो कहता है कि क़ौमी समझौते में ही अपना और सब का भला है। दूसरा कहता है कि अंगरेज़ों के सहयोग से अधिक लाभ होगा। यह तमाशा पिछले शासन-सुधार के यवनिका-पतन के समय (सन् १९२७ से १९३५ तक) देखने में आया। मुसलमानों के एक दल और दूसरी जातियों के नेताओं के बीच बातचीत शुरू हुई। मुसलमानों की मांगें बढ़ती गयीं और मि० जिन्ना की १४ शर्तों के रूप में ज़ाहिर हुईं। इलाहाबाद मिलाप कानफ्रेंस में बङ्गाल के सांप्रदायिक प्रश्न के सिवा और सब बातों का निबटारा हो चुका था। इस बचे हुये सवाल के बारे में तय हुआ कि इसका फ़ैसला बङ्गाल में होना चाहिये। उधर मुसलमानों का एक जत्था साइमन कमीशन से सहयोग कर रहा था। लार्ड बर्कनहेड वायसराय और सर जॉन साइमन को बराबर फूट फैला कर राज करने का पाठ पढ़ा रहा था। भारत मन्त्री ने वायसराय को एक चिट्ठी में लिखा: "साइमन को मेरी यह नसीहत है कि जो लोग कमीशन का बायकाट नहीं कर रहे हैं उन से ख़ूब पेंग बढ़ायें—ख़ास तौर पर मुसलमानों और हरिजनों से। मुसलमान प्रतिनिधियों से उनकी मुलाक़ातों का अधिकाधिक प्रचार होना चाहिये।" इससे सारी पॉलसी बेपरदा हो जाती है। वह यह कि हिन्दू जाति को डराया जाये कि मुसलमान कमीशन को हाथ में लेने की कोशिश कर रहे हैं और कहीं ऐसा न हो कि उनका पूर्ण सहयोग प्राप्त करने के लिये कमीशन ऐसी रिपोर्ट तैयार कर डाले जो हिन्दुओं के लिये घातक हो।

साइमन कमीशन के बाद गोलमेज़ कानफ्रेंस हुई। अप्रेल १९३१ में दिल्ली में अखिल भारतीय मुसलिम कानफ्रेंस हुई। इसका ज़िक्र Robert Bernays ने अपनी किताब Naked Fakir में इस तरह किया है: "एक ऐसी तहरीक चल रही थी कि मि० चर्चिल के दल और भारत की मुसलिम पार्टी में कोई सम्बन्ध पैदा किया जाये। एक शाम को मैंने मुसलिम नेताओं के साथ दिल्ली के मैडन होटल में चाय पी और दूसरी बातों के साथ चर्चिल से नाता जोड़ने का भी ज़िक्र किया।

अगर गोलमेज़ कानफ्रेंस कामयाब न हुई तो यह ख़तरनाक संभावना सच उतर सकती है। हिन्दुस्तान आयर्लैंड बन जायेगा और वहां बहुत अर्से सांप्रदायिकता का दौरदौरा रहेगा।"

मिस्टर Edward Thompson अपनी किताब Enlist India for Freedom में लिखते हैं: मैं साबित कर सकता हूं कि यह धारणा बड़ी हद तक ठीक है कि गोलमेज़ कानफ्रेंस के दिनों में कई कट्टर-पंथी मुसलिम प्रतिनिधियों और कुछ प्रतिक्रियावादी ब्रिटिश राजनीतिक दलों में मिलीभगत थी।"

जो भी हो, इसमें शक नहीं कि इलाहाबाद मिलाप कानफ्रेंस में क़ौमी समझौता होते होते इस लिये रह गया कि सर सेमुअल होर ने ऐन मौक़े पर अड़ंगा लगा दिया। कानफ्रेंस ने दो सब से कठिन गुत्थियां सुलझा दी थीं यानी मुसलमान ब्रिटिश भारत की नुमायंदगी का ३२ फ़ी सदी लेने पर तैयार हो गये थे। सिंध के बारे में यह तय हुआ था कि वह अलग सूबा बना दिया जाये जिसमें हिन्दुओं को रिआयतें हासिल हों और साथ ही सिंध केन्द्रीय सरकार से आर्थिक सहायता न ले। बङ्गाल की समस्या को हल करने के लिये एक कमिटी कलकत्ता रवाना हो चुकी थी। इसी समय बिजली गिरी। सर सेमुअल होर ने लन्दन में ब्रिटिश सरकार के इस फ़ैसले का ऐलान कर दिया कि ब्रिटिश भारत की ३३⅓ सीटें मुसलमानों को मिलेंगी, और सिंध अलग सूबा होगा जिसे केन्द्रीय बजट से काफ़ी सहायता मिला करेगी। इस तरह एक बार फिर यह दलील सच साबित हुई कि मुसलमानों का सहयोग प्राप्त करने के लिये अगर कांग्रेस ब्रिटिश सरकार से प्रतियोगिता करे तो ज़रूर हार जायेगी।

सन् १९३६ के चुनाव ने बतला दिया कि आम जनता पर कांग्रेस का कितना गहरा असर है। इससे मि० जिन्ना और उनके साथियों ने अन्दाज़ा लगाया कि अगर हम नये सिरे से अपना संगठन न करेंगे और कोई ऐसा प्रोग्राम न बनायेंगे जो गिने-चुने पढ़े लिखों (जो नौकरियों और कौंसिल की कुर्सियों के प्रेमी हैं) के अलावह मुसलिम जन साधारण को पसन्द न हुआ, तो पृथक निर्वाचन-प्रथा की जड़ कट जायेगी। यही नहीं बल्कि उन्हें घबराहट हुई कि अपने आर्थिक प्रोग्राम के कारण कांग्रेस कहीं मुसलिम जनता को न मोह ले। मेरी राय में इसी डर ने मुसलिम लीग के पृथक राष्ट्रवाद के सिद्धांत को जन्म दिया।

सन् १९३७ तक मि० जिन्ना और दूसरे मुसलिम नेता सारे हिन्दुस्तान की आज़ादी को अपना मक़सद बतलाते थे और मुसलमानों को 'जाति' (Community) मात्र से बड़ी हैसियत न देते थे। उसी साल मुसलिम लीग के लखनऊ वाले अधिवेशन में मि० जिन्ना ने कहा था: "हम हिन्दुस्तान की क़ौमी और जम्हूरी आज़ादी के हक़ में हैं।"

इन शब्दों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अक्टूबर १९३७ तक मि० जिन्ना सारे देश की आज़ादी चाहते थे, अलग और स्वतन्त्र मुसलिम रियासतों की कल्पना उनके सामने न थी। उस समय मि० जिन्ना का आदर्श स्वतन्त्र भारतीय जनतन्त्र था यानी अब की तरह तब वह 'जमहूरियत' को भारत के लिये बुरा न समझते थे।

एकाएक मुसलिम लीग को यह आकाशवाणी सुनाई दी कि केन्द्र में और उन प्रान्तों में जहां उसका अल्पमत होगा मुसलमानों पर हमेशा ज़्यादती होती रहेगी और वह अपने हक़ से महरूम किये जायंगे। लाख समझाने बुझाने पर भी लीग यह मानने के लिये तैयार न हुई कि उसका अन्दाज़ा ग़लत भी हो सकता है। उसे तो केवल एक समाधान सूझता है— वह यह कि उत्तर और पूर्व में आज़ाद मुसलिम राज हो और देश में किसी क़िस्म की केन्द्रीय सत्ता न हो। दूसरी अल्पसंख्यक जातियां भी कांग्रेस के खिलाफ़ हो चलीं। क्योंकि भारत की विशेष परिस्थिति की परवाह किये बिना कांग्रेस की अड़ थी कि ब्रिटिश पार्लमेंट के ढंग पर यहां भी एक पार्टी का शासन हो इसीलिये उसने विभिन्न पार्टियों की मिली-जुली वज़ारत बनाने से इनकार कर दिया।

कांग्रेस सरकारों ने मुसलमानों को खुश करने की बड़ी तदबीरें कीं। लेकिन मुस्लिम लीग का विरोध बढ़ते बढ़ते इस हद को पहुँच गया कि कांग्रेस मंत्रियों के इस्तीफ़ा देने पर उसने 'मुक्ति-दिवस' मनाकर बड़े संतोष का प्रदर्शन किया। हालांकि देश विदेश के

निरपेक्ष लोग एक राय थे कि बड़े मुश्किल हालात में और तीन-साल की छोटी सी मुद्दत में कांग्रेस ने बड़ा काम किया।

उस मौक़े पर जब राजनीतिक अधिकार में साझा न मिलने के कारण मुस्लिम लीग का दृष्टिकोण कटुता-पूर्ण हो गया था, यूरोप में कुछ ऐसी घटनाएँ हुईं जिन्होंने मुस्लिम लीग के भावी कार्यक्रम सुझा दिया। मेरा इशारा चेकोस्लोवेकिया के स्वेडेटन आंदोलन की ओर है जिसके फलस्वरूप जर्मनी ने अक्टूबर १९३८ में उस इलाक़े को हज़म कर लिया। डा० बेनीप्रसाद ने हिन्दू मुस्लिम प्रश्न पर अपनी सारगर्भित पुस्तक में लिखा है: "स्वेडलैंड के जर्मनों ने पहिले शासन में साझा माँगा। फिर अल्पसंख्यक जाति होने से इनकार कर दिया और पृथक राष्ट्रीयता का दावा किया। चेकोस्लोवेकिया की अखंडता का विरोध किया, अत्याचार और दमन के झूठे इलज़ाम लगाये, सीमा के संशोधन की माँग की, फिर देश के दो टुकड़े करने और केन्द्रीय सरकार में ५० फ़ीसदी हिस्सा लेने का चर्चा किया। सन् ३६ से ३८ तक स्वेडेटन आन्दोलन इन मंज़िलों से गुज़र गया। इसकी नक़ल उन प्रस्तावों में मिलेगी जो मुस्लिम लीग ने सन् ३९ और ४१ के बीच में पास किये हैं। यही नहीं बल्कि प्रस्तावों की इबारत तक मिलती-जुलती है।"

भारतीय मुसलमानों की पान-इस्लामी भावनाओं को पाकिस्तान का समाधान बहुत पसन्द आया। उन्हें यक़ीन हो गया कि पाकिस्तान क़ायम होने के बाद पश्चिमी एशिया के मुस्लिम संघ का स्वप्न पूरा हो जायेगा।

यह हैं वह ख़ास कारण जिन्होंने मुस्लिम लीग को भारत के खंडन और पाकिस्तान की स्थापना की माँग ओर ढकेल दिया! सन् १९३८ के आख़िर से इस मांग के पक्ष में मुस्लिम लीग स्वेड जर्मनों की तरह धुआँधार प्रचार कर रही है।

मुस्लिम लीग के इस रवय्ये का घोर विरोध हिन्दुओं और सभी राष्ट्रवादियों ने किया, जिनमें मुस्लिम राष्ट्रवादी भी हैं। चार साल से पाकिस्तान को लेकर देश में बहुत बड़े पैमाने पर तर्क-वितर्क चल रहा है। देश के कोने कोने में पाकिस्तान के पक्ष या विपक्ष में सभायें होती हैं और बड़ी गरमा-गरमी हो जाती है। एक ओर से तो कहा जाता है कि भूगोल और नस्ल के दृष्टिकोण से भारत अखंड है। यहाँ के रहने वालों की फ़ौजी, राजनीतिक और आर्थिक समस्याएँ भी समान हैं। इसलिये उसका बँटवारा असम्भव है। यही नहीं बल्कि एक ज़माने से 'संयुक्त स्वतन्त्र भारत' लोगों का लक्ष्य रहा है और विभाजन का नाम सुनना भी वह पसन्द नहीं करते। इन दलीलों के जवाब में दूसरी ओर से कहा जाता है कि हिन्दू और मुस्लिम दो विभिन्न राष्ट्र हैं। उनके धर्म, भाषाएँ और संस्कृतियाँ अलग हैं। उनकी ज़िन्दगी अलग है और आईन-क़ानून, तौर-तरीक़े भी जुदा हैं। इन हालात में यही अच्छा है कि वह एक दूसरे से बिदा लें, अलग अलग अपने घर बनायें और एक दूसरे से कोई सम्बन्ध न रखें। इसके जवाब में अकाट्य तर्क से कहा जायेगा कि पाकिस्तान हिन्दू-मुस्लिम समस्या को ख़तम न कर देगा और न अल्पसंख्यक जातियों की मुसीबत हमेशा के लिये दूर हो जायेगी। क्योंकि किसी दूसरे राज में रहनेवाले सहधर्मियों से होने वाले व्यवहार की ज़िम्मेदारी अपने राज की अल्पसंख्यक जातियों पर रखना—सभ्यता से बर्बरता की ओर जाना है। कुछ का ख़याल है कि मुसलमानों का अधिक मत पाकिस्तान के पक्ष में नहीं है और जिन सूबों में मुसलमानों का अधिक मत है उनमें मुस्लिम लीग का दौरदौरा नहीं है। फिर उन उलझनों को किस तरह सुलझाया जायेगा जो पाकिस्तान के साथ ख़ुद ब ख़ुद पैदा हो जायेंगी—मसलन सरहदों का ठीक ठाक और हिन्दुस्तान व पाकिस्तान के बीच तिजारत, आवागमन आदि का प्रबन्ध?

सवाल यह है कि भारतीय समस्या के इस अध-कचरे समाधान के सिवा क्या और कोई रास्ता नहीं है? मुस्लिम लीग के सभापति मि० जिन्ना की राय में तो पाकिस्तान के सिवा कोई समाधान नहीं है।—

मि० टामसन के इस सवाल के जवाब में कि : क्या इस देश के हर सूबे, हर शहर और हर गाँव में दो राष्ट्र एक दूसरे के मुक़ाबले में खड़े रहेंगे—मि० जिन्ना ने कहा, कि हाँ यही सूरत है। यह समाधान दुःखपूर्ण है, पर इसके सिवा कोई चारा नहीं।'

यह सच है कि ब्रिटिश सरकार हालात और साम्राज्य की ज़रूरत के मुताबिक़ पल्ला उठाती झुकाती रहती है। वायसराय ने १७ दिसम्बर १९४२ को कलकत्ता में जो भाषण दिया उससे स्थिति और भी जटिल हो गयी है। इसमें देश के लिये केन्द्रीय सत्ता और एकता पर ज़ोर दिया गया था। राजनीति के कई होशियार विद्यार्थियों का ख़याल है कि विदेशी पौलिसी की मसलहतें ब्रिटिश सरकार को मजबूर करेंगी कि भारत के बँटवारे की माँग को ठुकरा दे। मेरा अन्दाज़ा है कि मुस्लिम लीग को उस ब्रिटिश सरकार की सहायता पर अखंड विश्वास है जिसमें मि० चर्चिल प्रधान मन्त्री और मि० अमेरी भारत मन्त्री हैं।

फिर निकट भविष्य में भारत के लिये क्या संभावनायें रह जाती हैं! अफ़सोस कि मैं बड़ी बड़ी उम्मीदों के तिलस्म नहीं बाँध सकता। अभी तो बड़ी बड़ी लड़ाइयाँ और मार्के आने को हैं। पाकिस्तान की सीमा का निश्चय बड़ी टेढ़ी खीर होगी। मुमकिन है कि पंजाब और बंगाल के सिखों और हिन्दुओं को भी अलाहदा क़ौमियतों का दर्जा और हिन्दुस्तान से मिलने का हक़ देना पड़ेगा। यह तो कुछ नहीं; देसी रियासतों और उनके रक्षकों की तरफ़ से सबसे बड़ा अड़ंगा लगेगा।

अकेला पाकिस्तान भारत की अल्पमत-समस्या को हल नहीं कर सकता। यह दूसरी बात है कि मुस्लिम लीग के राजशक्ति के लोभ को पूरा करके वह किसी सन्तोषपूर्ण समाधान का रास्ता साफ़ कर दे। मेरे ख़याल में भारत का भविष्य इस पर निर्भर करेगा कि हिन्दुस्तान में अल्पसंख्यक जातियों से कैसा बर्ताव किया जाता है और विभिन्न उपादानों में समन्वय का कैसा प्रयास किया जाता है। इसकी शुरुआत तो इस तरह हो सकती है कि मिली जुली वज़ारतें बनायी जायें, पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता का ऐलान कर दिया जाये और अल्पसंख्यक जातियों की भाषा और संस्कृति की पूरी पूरी गारंटी दी जाये। सबसे ज़रूरी बात यह है कि जनकार्य में विशुद्ध इहलौकिक दृष्टिकोण से काम लिया जाये और हर तरह के छूआछूत से तौबा की जाये। क़ानून या राजनीति में निजी, मुक़ामी या फ़िर्क़ेवाराना तअस्सुब से काम लेने की आदत भी छोड़ देना चाहिये। अगर यह हो गया, तो भटके हुये राज भारतीय संघ में लौट आयेंगे और सब मिलकर 'हिन्दुस्तानी सोशलिस्ट लोकतन्त्र संघ' की बुनियाद रखेंगे।

आज की दुनिया में यह कोरा सपना जान पड़ेगा। पर अगर इस महायुद्ध में सोवियत् रूस की जीत हुई और लड़ाई के बाद दुनिया के दूसरे हिस्सों में समाजवाद फैल गया, और हम में किसी लेनिन या स्टालिन का जन्म हो गया—तो यह अन्दाज़ा सच साबित होते ज़्यादा देर न लगेगी।

शतरञ्ज की बाज़ी

डाक्टर एन. एस. वर्धन

ऐसे व्यक्ति से बातें करने में बेहद लुत्फ़ आता है जिससे सोच समझकर बातें न करनी पड़ें, जिससे नपे तुले शब्दों का व्यवहार न करना पड़े, जो बात पकड़ कर न बैठ जाय, जिसके पास समाधान करने के लिये शंकायें न हों, जिसे आपके साथ पूरी हमदर्दी हो और जिसके साथ यदि आप किसी की बदनामी या वेश-भूषा पर बातें न करें तब भी वह बग़ैर ऊबे दिलचस्पी से आपकी बात सुनता रहे और जिसमें इतनी बुद्धि हो जो कही हुई बात के बिनकहे अर्थ को भी पूरी तरह समझ सके। और तुमसे यह स्वीकार करने में मुझे कोई आपत्ति नहीं कि मेरी श्रीमती जी इसी कोटि की मेरी साथी हैं। दूध से स्वच्छ काग़ज़ पर मेरी क़लम उस समय तक कालिमा फेरने के लिये तत्पर नहीं होती जब तक उसे श्रीमती जी का आदेश नहीं मिलता। मन के अन्तराल से निकली हुई विचार-धारा श्रीमती जी की हृदय-सरिता की त्रिवेणी में एक रस होकर जो नया रूप और नया वेग प्राप्त करती है उसे देखकर मैं अपने भाग्य को सराहने लगता हूँ और सोचने लगता हूँ काश हमारे साथी लेखकों को यह सहयोग प्राप्त हो सकता तो उनकी बहुत सी आलोचना बन्द हो जाती।

मैंने अस्तव्यस्त रूप में बहुत कुछ पढ़ा है—अधिकतर उपन्यास और यह देखकर मुझे बड़ा कोफ़्त हुआ कि अजब बेतुकेपन से कहानीकार अपनी रचनाओं को ख़त्म करते हैं। प्रायः पुस्तकें ख़ासी अच्छी तरह शुरू होती हैं। जैसे-जैसे कथानक आगे बढ़ता है कहानी दिलचस्प होती जाती है। क्लाइमैक्स के क़रीब कहानी में ज़ोर भी आ जाता है। और इसके बाद कहानियों के बेचारे अभागे पात्रों से हर तरह की रुचिकर और अरुचिकर बातें कराकर कहानीकार इन कठपुतलियों को क़ज़ा के हवाले करने को उतावले हो उठते हैं। बग़ैर कुछ पात्रों का जनाज़ा निकले, और बग़ैर कुछ की शादी कराये कहानीकार मानो इतिश्री कहना ही नहीं चाहता। उसे यह भय सा रहता है कि नानी की कहानियों के परिणाम से असन्तुष्ट बालक की तरह कहीं कोई पाठक यह न पूछ बैठे कि—'उसके बाद उसका क्या हुआ?' तसवीर पर सुन्दर फ्रेम जड़िये, उस पर वार्निश कीजिये और फिर उसे लटका दीजिये। तसवीर की तरह कहानियां भी किसी प्रमुख पात्र की शादी कराकर और किसी को सूली चढ़ाकर कील पर टांग दी जाती हैं। एक को प्राणों का वरदान और दिल की मुराद मिलती है और दूसरे को विफल इच्छाओं का उपहार और मृत्यु का आलिंगन। लेखक सोचता होगा, माना कहानी सपाटादार हुई पर पाठक तो सन्तुष्ट हुए। यह वह भूल जाता है कि किसी भी अच्छे चित्र के लिये कुशल रेखाङ्कन और सुन्दर पार्श्वभूमि उतनी ही ज़रूरी है जितना रङ्गों का कलापूर्ण चयन और धूप छांह का उपयुक्त विस्तार। इस तरह की कहानियों से क्या वास्तव में पाठक सन्तुष्ट होता है? बहुधा सन्तुष्ट होता है, अन्यथा नहीं होता। इस पिछली श्रेणी के पाठक पुस्तक को अत्यन्त अरुचि और निराशा के साथ बन्द करते हैं। वे सोचते हैं आख़िर लेखक पाठक की बुद्धि और कल्पना का इतना निर्णायक अपमान क्यों करता है? अपनी कहानी का अन्तिम पटाक्षेप वह इस अधिकार के साथ करता है कि पाठक की कल्पना के लिये कुछ भी छोड़ना नहीं चाहता। इसके लिये वह सत्य का तिरस्कार करता है, सम्भावनाओं का उपहास करता है और कहानी के मुंदते पृष्ठों में पण्डित जी या जल्लाद अथवा विष का प्याला या रिवाल्वर पेश कर देता है। परिणाम यह होता है कि कहानी के मोहक दृश्यों, और लुभावनी व दिलचस्प बातचीत का सारा मज़ा किरकिरा हो जाता है।

तुम्हारी लखनवी जबान में "मुझ नाचीज़ की राय में" लेखक की इस असफलता के दो कारण हैं। एक यह कि लेखक अपने कथानक का आधार या तो किसी वास्तविक घटना को बनाता है, या उसका उल्लेख उसे इतिहास या समाचार पत्रों में मिलता है, या फिर उसका या उसके किसी मित्र का अनुभव ही उसकी क़लम को गतिशील बनाता है। यदि कथानक का आधार निरा ऐतिहासिक नहीं होता तो लेखक को अपनी कहानी का अन्तिम अध्याय स्वयं अपनी कल्पना से गढ़ने को विवश होना पड़ता है। उसका कारण यह है कि या तो ऐसी घटनाओं में अन्तिम अध्याय नहीं होता और या यदि होता है तो लेखक उसका उपयोग नहीं कर सकता। हम सब के अनुभवों में, जिसने थोड़ी बहुत भी दुनिया देखी है, क्या ऐसे नाटकीय या दुखान्त अवसर नहीं आये कि जिन्होंने हमारे दिलों पर गहरे भाव बना दिये हैं? और क्या इस तरह के अनुभवों को चतुर लेखक अत्यन्त आकर्षक कहानी का रूप नहीं दे सकता? किन्तु निरन्तर चलते रहते परिवर्तन का नाम ही जीवन है। वास्तविक जीवन में अग्नि के चारों ओर सात फेरों या निकाह के बाद से ही भाग्य का नाटक शुरू होता है। विवाह जीवन नाटक का प्रारम्भ होता है, सुखकर अन्त नहीं। जब एक के बाद एक कष्टकर घटनायें वस्तुस्थिति को उलझाने लगती हैं तो उनसे बचने का सहज रास्ता विष का प्याला या बुलेट नहीं होता। माना कि ये चीज़ें आसानी से मिल सकती हैं किन्तु कहानियों में इनका जितना उपयोग होता है उतना वास्तविक जीवन में नहीं। मैं स्वयं एक व्यक्ति की बात जानता हूँ जो पूरे तीन दिन तक जेब में रिवाल्वर रखकर, अपने ऊपर उसके इस्तेमाल का मुनासिब मौक़ा खोजते रहे और अन्त में उन्होंने उसे ज्यों का त्यों किसी गिरहकट या चोर के ख़िलाफ़ इस्तेमाल करने के लिये रख दिया। जब अपने जीवन का प्रश्न नहीं होता तब दूसरे की जान सस्ती मालूम होती है। लेकिन अपने जीवन में हम कठिन से कठिन आघात को सहने की क्षमता दिखाते हैं; दुख-दर्द को मन ही मन झेलते रहते हैं और विश्वासघात की ज्वाला में कलेजा भूनते रहते हैं। हमारी इस मार्मिक पीड़ा की कोई बाहरी स्थायी रूप रेखा नहीं बनती और न इसका विज्ञापन ही होता है। इसीलिये जो कहानी जीवन के साथ सच्ची होती है उसके प्रति हम आकर्षित होते हैं और कलाकार के चरित्र-चित्रण का कमाल हमारी प्रशंसा को कम या ज़्यादा करता है; लेकिन कहानी का असम्भव क्लाइमैक्स हमारे दिल में उससे अधिक कौतूहल नहीं पैदा करता जितना पाँच पैर की गाय को देखकर होता है। यह तो प्रकृति का एक भ्रष्ट चित्र है। मानव-गर्भ क्या अमानुषिक जीवों को जन्म नहीं देता? किन्तु ऐसे जीव क्षण-जीवी होते हैं और जन्म के साथ ही उनका विनाश हो जाता है।

सम्भव है तुम इन कहानीकारों की प्रतिभा की बात कहो। किन्तु प्रतिभा मानवी होती है दानवी नहीं। प्रतिभा अमानुषिक रूप में कभी विकास नहीं पाती। ऐसे कलाकारों से प्रतिभा उतनी ही दूर है जितना दिल्ली से ध्रुवतारा। यदि कल्पना की दूरबीन लगाकर हम देखें तो सम्भव है हमें इनकी प्रतिभा के दर्शन हो जाँय; किन्तु वह भी नियम के रूप में नहीं, अपवाद के रूप में।

तुम कहोगे वास्तविक जीवन में भी तो कभी कभी दुर्घटना, या आत्महत्या से सहसा जीवन-प्रदीप बुझ जाता है। मैं इस सम्बन्ध में केवल यही कहूँगा कि दुर्घटना या आत्महत्या जीवन से साम्य रखती हो और स्वाभाविक हो। कहानी को म्युनिसिपैल्टी का बूचड़ख़ाना न बनाया जाय! यह दूसरी बात है कि कहानीकार की कल्पना ख़ून की प्यासी होने पर भी हत्या के वे प्रयोग नहीं कर सकती जो रोज़ लन्दन, पैरिस और न्यूयार्क की सड़कों में वास्तविक हत्यारे करते हैं। उपन्यासकार प्रायः एक ही तरह की दुर्घटनाओं का आयोजन करते हैं और यह देखकर उनकी कल्पना शक्ति पर हिक़ारत होने लगती है। हमारे ये कलाकार जीवन में रोमान्स का सृजन

तो कर सकते हैं किन्तु मृत्यु में रोमांस की भावना नहीं ला सकते। हम और आप जिस तरह मरते हैं उसी तरह इनकी कहानियों के पात्र भी मरते हैं। उनके लिये यह कल्पना से परे की बात है कि कोयले की खान के धड़ाके में आपके चिथड़े उड़ें और मैं बैलून में उड़कर ग़ायब होऊँ। हम और आप यदि उपन्यासकार के पल्ले पड़ जाँय तो या तो डूब कर मरना पड़ेगा और या फिर किसी रेलवे दुर्घटना को यम-पुरी का वाहन बनना पड़ेगा। आत्महत्या के लिये भी उपन्यासकार ख़ासा सस्ता नुसख़ा बरतते हैं। पुरुष आम तौर पर गोली मार कर मरते हैं और स्त्रियाँ, यदि वे तैरना नहीं जानतीं तो डूब कर मरती हैं। जो स्त्रियाँ विष के प्याले की शरण जाती हैं वे आम तौर पर तैराक होती हैं। उपन्यासों में एक और आम बात होती है। एक उदार हृदय पुरुष किसी स्त्री को प्यार करता है और वर्षों के परस्पर तीव्र प्यार के बाद वह यह महसूस करता है कि वह अपनी प्रेयसी के पथ का काँटा बन गया है (यानी उसके सजातीय वर्ग का कोई दूसरा प्राणी उन दोनों के बीच में आ गया है) और वह चूंकि उदार है इस-लिए अपने को अपनी प्रेयसी के रास्ते में कांटा बना कर रखना नहीं चाहता, यानी अपने सूक्ष्म को स्थूल से अलग करने के लिये उत्सुक है। फिर भी मुझे एक भी कहानी का प्रमुख पात्र ऐसा नहीं याद पड़ता जिसने सन्तोषजनक तरीक़े से आत्महत्या की हो। मरने के बाद वह अपनी प्राणहीन काया को अवश्य ऐसी जगह छोड़ जाता है जहां लोगों का ध्यान उसकी ओर आकर्षित हो और समाचार पत्रों में उसके शव की चर्चा हो। अपनी जिस प्रेयसी के प्रेम-पथ को निर्द्वन्द करने के लिये वह इस प्राणान्त-नाटक का अभिनेता बनता है उसी के लिये भयंकर मानसिक कष्ट का आयोजन कर जाता है! जिन तिरस्कृत प्रेमियों में सचमुच आत्मत्याग की भावना है उन्हें न केवल अपने जीवन-दीपक को इस तरह बुझाना चाहिये बल्कि उन्हें अपने शव को भी इस तरीक़े से ठिकाने लगाना चाहिये जिससे बेचारी महिला की कम से कम बदनामी हो और उसके अपने मित्रों को कम से कम सन्ताप पहुँचे।

अपनी जान-पहचान के एक व्यक्ति के लिये मेरे हृदय में वास्तविक प्रशंसा के भाव हैं। उसने आत्महत्या का निश्चय किया। इस काम के लिये उसने एक रिवाल्वर ख़रीदा, अपने सारेमामले मुक़दमे तय किये, फिर श्मशान के निकट एक मकान किराये पर लेकर वहाँ रहना शुरू किया। इसके बाद उसने अपनी मृत्यु की निश्चित तिथि और समय की सूचना देते हुए मैजिस्ट्रेट, कारोनर और पुलिस को पत्र लिखे। फिर अपना क़र्ज़ा चुकाया, मकान मालिक को पेशगी किराया दिया और काफ़ी रुपया अपनी मय्यत के ख़र्च के लिये छोड़कर आत्महत्या करली। लेकिन यह व्यक्ति न तो किसी उपन्यास का पात्र था और न उसकी आत्महत्या के पीछे कोई महिला थी।

यदि मैं आत्महत्या के सहज, और मानवीय तरीक़ों को छापकर वितरण के लिये सुलभ करदूँ, तो मुझे विश्वास है बहुत से व्यक्ति गाव तकिये के सहारे बैठकर या आराम कुर्सी पर लेटे लेटे लाल-नीली पेन्सिल हाथ में लेकर अपने लिये उपयोगी वाक्यों पर निशान फेर सकेंगे। आत्महत्या पर न तो कोई साहित्य ही है और न छपी हुई हिदायतें ही हैं। नतीजा यह है कि अनेक बेचारे लोगों को इस नश्वर जगत में घोर बुढ़ापे तक जीवन ढोने के लिये मजबूर होना पड़ता है। ये ग़रीब 'सकल दुःख विनाशनी' रामबाण औषधि का प्रयोग ही नहीं कर पाते।

आत्मोत्सर्ग की यह भावना सस्ती भावुकता के साथ उनके हृदय में उठती है। वे शहीदाना अन्दाज़ से अपनी निष्ठुर प्रेयसि को सूचना देते हैं—"मेरे बाद शायद तुम मेरी क़द्र करो!" अपने इस वक्तव्य के असर से वे स्वयं इतने प्रभावित और सन्तुष्ट होते हैं कि उसे बार बार दोहराने में उन्हें आध्यात्मिक शान्ति मिलने लगती है।

आत्महत्या करने वालों के तरीक़े भी बँधे हुये हैं—ज़हर का प्याला, पिस्तौल की गोली, नदी में डूब मरना, तिमञ्ज़िले की खिड़की से अपने को नीचे

गिरा देना, रेल के इञ्जन के नीचे आ जाना, आदि। लेकिन सुनने वाले पर आत्महत्या के जिन तरीक़ों का ज़्यादा असर पड़ता है, वे ये हैं—'मैं अपने भेजे को पिस्तौल से उड़ा दूँगा', या 'मैं उस्तरे से अपना गला काट लूँगा', आदि। हालांकि इनके अमल में आने की सम्भावना कम होती है फिर भी इनकी कल्पना मात्र से ही सुनने वाले का ख़ून ठण्डा हो जाता है। और कहने वाले का मक़सद भी केवल यही होता है।

× × ×

मेरे एक मित्र हैं जो अच्छे क़िस्म के साहित्यिक हैं। उनका पेशा ही यह है कि वे अमरीकन उपन्यासों के सम्बन्ध में जनता की साहित्यिक अभिरुचि की जानकारी रखें। हम लोग कहानियों के एक संग्रह की आलोचना कर रहे थे। मित्र ने कहानीकार की सफलता पर हर्ष प्रकट किया और यह आशा ज़ाहिर की कि इसी तरह की कहानियों के और संग्रह भी प्रकाशित होंगे। मैंने उन्हें यह सुझाने का साहस किया कि रक्तपात की कहानियों से पाठक ऊब जायेंगे, चाहे वे कहानियाँ अपने पाठकों को नई परिस्थितियों, नई समस्याओं, निवृत्तियों और प्रवृत्तियों के ज्ञात और अज्ञातरूप और नये समाज का परिचय भले ही क्यों न करायें। मित्र ने कहा, नहीं, इससे डरने की ज़रूरत नहीं। मानव अपनी हिंसक प्रवृत्तियों के बाह्य रूप को देखकर सन्तुष्ट होता है। जो व्यक्ति रक्त की कल्पना मात्र से काँप जाते हैं वही जीवन की कल्पित या वास्तविक दुर्घटनाओं की सूक्ष्म से सूक्ष्म बारीकियों में इतनी दिलचस्पी लेते हैं कि मालूम होता है कि उस दुर्घटना के वास्तविक प्रणेता वही रहे हैं। समाचार पत्रों और उपन्यासों में इस तरह की घटनाओं की रेलमपेल रहती है। ज्यों ज्यों शिक्षा की परिधि बढ़ती जाती है वैसे पाठकों का वर्ग भी बढ़ता जाता है जो सुरुचि, कुरुचि और अरुचि की विवेचना में तनिक भी रुचि नहीं रखते, वे कहानियों के गूढ़ तत्वों और उत्तम शैली को भी नहीं समझते और इसीलिये वे कहते हैं—"हमें प्रकाश नहीं—रक्त चाहिये।"

मुझे नहीं मालूम तुम इस पर क्या सोचते हो। यदि मुझे यह पता चल जाय कि भीषण घटनाओं में तुम्हारी ज़रा भी रुचि है तो मैं 'विश्ववाणी' के पृष्ठों को लाल रंग दूं। मैं दुनिया में ऐसी ऐसी जगह गया हूँ जहाँ मानव जीवन इतना सस्ता था कि हत्याओं का कोई महत्व ही नहीं था। गलियों में लाशें मैंने इस तरह पड़ी देखी हैं मानो केले के छिलके पड़े हों। वहाँ दानवी शैतानियत से सैकड़ों जुर्मों की योजनायें तैयार की जाती हैं और उन्हें इतनी ख़ूबी के साथ पूरा किया जाता है कि सुनकर भयंकर से भयंकर हत्यारों के रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

जो व्यक्ति प्रकृति के मनहर दृश्यों को देखकर नाच उठता है, उसके बारे में यह सोचने का साहस नहीं होता कि वह रक्त की मानसिक शिक्षा पर जीता है। मगर यह भी सच है कि व्यक्ति के जीवन में, समाज के जीवन में और राष्ट्रों के जीवन में हिंसा शक्ति और गहराई के साथ पैवस्त हो गई है। हिंसा ने अपने चारों ओर एक संस्कृति, एक फ़िलासफ़ी, एक आध्यात्मिक आनन्द और नैतिक शक्ति संग्रह कर ली है। वह हमारे अन्तराल का एक परिचित और स्वाभाविक अङ्ग बन गई है। राष्ट्रों की हिंसा का भयंकर रूप आज इतिहास में पिरोया और छन्दों में गूँथा जा रहा है।

सीवर (शहरों में सड़कों के नीचे बहते गन्दे नाले) सभ्यता की उपज हैं, किन्तु वे कला के ख़ुशनुमा नज़ारे नहीं हैं। उस ख़्वाहिश को कोई क्या कहे जो हमें सीवर के अन्दर घुसकर उसके भीतर के अन्धकार और गन्दगी को छानबीन करने के लिये प्रोत्साहित करती है। लन्दन की गलियों में दिन में और रात में असंख्य और अवर्णनीय अपराधों का सृजन होता है; लेकिन सस्ते साहित्य के रूप में इन अपराधों का सच्चा और विस्तृत वर्णन शायद लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक पहुँचाता है।

भूमिका की इस रोशनी में मैं तुम्हें एक घटना सुनाना चाहता हूँ। इस घटना ने मुझ पर ख़ासा असर डाला है। वास्तविक जीवन की यह दुःखान्त

घटना इतनी बारीकियों और इतनी परिपूर्णता के साथ सम्पन्न की गई कि सुनने में वह बिलकुल कल्पित और औपन्यासिक मालूम होती है और ख़ास बात यह है कि सुनने के बाद सुनने वाले पर इससे कोई दुःखपूर्ण प्रतिक्रिया नहीं होती।

× × ×

अपनी उगती जवानी में मलाया में रहते हुये मैंने मैक्सिको की बेहद चर्चा सुनी थी। भारतीय सभ्यता का जो प्रभाव स्याम, बाली, जावा, सुमात्रा और हमारे मलाया में पड़ा वह तो आँखों के सामने था। किसी समय हमारे ये देश 'वृहत्तर भारत' ही समझे जाते थे। किन्तु एक ज़माना था जब मैक्सिको की 'मय' जाति तो बिलकुल ही भारतीय थी। उनकी इमारतें, उनकी निर्माण-कला, उनके प्रस्तर-चित्र, उनकी वेश-भूषा सब इस बात के साक्षी हैं कि 'मय' भारत से ही वहाँ पहुंचे थे। एक इतिहासलेखक, हीवट के अनुसार—"हिन्दू व्यापारी मैक्सिको में पाण्डवों का अठारह महीनों वाला वर्ष, व्यापारी मण्डियों का तरीक़ा और कारीगरों का जन्मजात संगठन भी ले गये।" 'महाभारत' के अनुसार पाण्डवों का महल मय दानव ने ही बनाया था। इन मयों के बनवाये हुए विशाल मन्दिरों और महलों के खण्डहर उनकी सभ्यता की महानता के साक्षी हैं। युकतान के एक मन्दिर में उसी तरह के एक हज़ार खम्मे थे जिस तरह मदुरा के मीनाक्षी मन्दिर में हैं। युकतान का यह मन्दिर 'सहस्र स्तम्भ मन्दिर' कहलाता था। मैक्सिको इन मयों के समय में दुनिया के अग्रगण्य राष्ट्रों में से था।

फिर इसके बाद धीरे धीरे मैक्सिको के अनेकों जनपद बौद्ध धर्म से प्रभावित हुये। अभी हाल में मैक्सिको के पुरातत्व विभाग ने एक प्राचीन नगर 'गौटेमाला' को खोद निकाला है। यहाँ बौद्ध धर्म सम्बन्धी अनेकों अवशेष मिले हैं। वास्तव में यह गौटेमाला मैक्सिको के बौद्ध धर्म का प्रसिद्ध केन्द्र 'गौतमालय' ही था। मैक्सिकोवासी स्वभाव से नम्र, शान्त और अहिंसा के प्रेमी थे। उनमें वे सभी गुण थे जो महान सभ्यता के उत्तराधिकारियों को विरसे में मिलते हैं।

इसके हज़ार वर्ष बाद पश्चिम के ईसाइयों ने मैक्सिको पर धावा किया। वहाँ चमचम सोने को देखकर यूरोपीय स्पेनियों के दिल लालच और ईर्षा से भर गये। धोखे से, दग़ा से, हिंसा से उन्होंने न केवल मैक्सिको और वहाँ की अनन्त धन राशि पर ही क़ब्ज़ा कर लिया बल्कि मैक्सिको की महान सभ्यता का नाश करके उसकी जगह स्पेन की बर्बर, पतित और ख़ूनी सभ्यता का झण्डा खड़ा कर दिया। 'मय' सभ्यता का सौन्दर्य नष्ट होकर मैक्सिको को स्पेन से मिली घोर पैशाचिकता। शराब के दौर चलने लगे, नृत्य-शालाओं में अर्धनग्न स्पेनी युवतियाँ पुरुषों की लिप्सा-ज्वाला को तीव्रतर करने के काम में लगीं, क़त्ल और ख़ून का बाज़ार गर्म हुआ और इन सबके अतिरिक्त शुरू हुआ अत्यन्त ख़ूंरेज़ किन्तु साँड़ों का घृणित मृत्यु-युद्ध। यूरोप की इस अग्रगण्य स्पेनी सभ्यता और समाज की छाप आज तक मैक्सिको के रमणीक देश पर कलङ्क की तरह पड़ी हुई है। बर्बर सभ्यता के इस शिकंजे में जकड़ी हुई मैक्सिको की प्राचीन आत्मा तड़पती है और करवट लेती है मगर यह यूरोपीय दानव ऐसा भी नहीं जो जल्दी उतरे।

मैक्सिको की प्राकृतिक शोभा और मैक्सिको की आत्मा की खोज मुझे बरबस मैक्सिको खींच ले गई। यह एक अजीब आश्चर्यजनक सचाई है कि मनुष्य के भीतर आसानी से पतन के अंकुर उग आते हैं। वह धीरे धीरे कमज़ोर हो जाता है, अपनी कलाओं को खो बैठता है, नई बीमारियों और नई परिस्थि-तियों का शिकार हो जाता है—जबकि और दूसरे प्राणी और पौधे नये जीवन के लिये ज़िन्दगी और मौत की लड़ाई लड़ते रहते हैं। मनुष्य शायद इसी लिये मरता है चूंकि प्रकृति उसकी निस्पृह दासी है। वह उसे कोई काम करने ही नहीं देती। यहाँ तक कि उसे अपने अस्तित्व की लड़ाई भी लड़ने नहीं देती।

× × ×

और वह घटना जिसका मैंने तुमसे ऊपर ज़िक्र किया है उस समय घटी जब मैं जवानी की उमङ्ग में मैक्सिको में घूम घूमकर उसके प्राणों की तड़पन खोज रहा था। वहाँ के एक प्रसिद्ध नगर में एक डाक्टर रहते थे। इस डाक्टर की शादी एक उच्च घराने की मारचेशा नाम की अत्यन्त सुन्दर महिला से हुई थी। इत्तफ़ाक़ से अपनी उभरती जवानी में इस महिला ने अपना दिल एक फ़ौजी कप्तान के सुपुर्द कर दिया था। शादी के बाद भी वह अपना दिल उससे वापस न माँग सकी। कप्तान तलवार का धनी और पिस्तौल का अचूक निशानेबाज़ था। यह एक ख़ास वजह हो सकती है जिसके कारण डाक्टर अपने दम्पति-गृह की इस सेंध को उपेक्षा से देखने के लिये विवश हुआ।

लेकिन इस तरह के मामलों की चर्चा आंधी के वेग की तरह फैलती है। कप्तान और मारचेशा का अनियमित प्रेम उस शहर के प्रतिष्ठित समाज में विषम चर्चा का विषय बन गया। मारचेशा का एक भाई उसी शहर के अग्रगण्य वकीलों में से था। उसने अपने डाक्टर बहनोई के कई बार इस मामले में उसकी चुप्पी का अनौचित्य बताया, कई बार उसकी भर्त्सना की और उसकी मर्दानगी पर प्रकट शब्दों में सन्देह प्रकट किया। मगर वह जो डाक्टर था और बायोलाजी का ज्ञाता था, स्त्री के प्यार की उचित और मुनासिब क़ीमत ही आँकता था। फिर उसके कान भी क्या थे जो उन पर जूं तक न रेंगती थी। लाचार और मजबूर भाई ने अपने प्राचीन परिवार की प्रतिष्ठा और बहिन के सतीत्व की रक्षा का निश्चय किया। वकील को न तो तलवार की मूठ से कोई रग़बत थी और न पिस्तौल से। अब उसने अपनी बहिन की मान-रक्षा का निश्चय किया तो यह समझकर किया कि उसे क्या क़ीमत चुकानी पड़ेगी। बदनामी की यह कैफ़ियत थी कि बर्दाश्त से बाहर। काफ़े और नृत्यशालायें उसकी बहिन की चर्चा से गूंज रही थीं। 'यदि पति अपना कर्तव्य पालन करने में झिझकता है तो पत्नी के परिवार का ही कोई व्यक्ति अपराधी को द्वन्द-युद्ध के लिये ललकारे।' जनमत की यही माँग थी और इस तरह की माँग को पूरा करना हर नागरिक का धर्म समझा जाता था। द्वन्द-युद्ध ही मैक्सिको में अनियमित प्रेम के निपटारे का साधन था।

अपने कर्तव्य के पूरा करने का निश्चय करते ही भाई ने एक भरे हुये काफ़े में सबके सामने कप्तान के मुंह पर चाँटा लगाकर उसे अपमानित किया। क़ुदरती तौर पर इसके बाद द्वन्द-युद्ध की ललकार हुई। कप्तान ने वकील के ऊपर ही हथियार के चुनाव का फ़ैसला छोड़ा। वकील के लिये सभी हथियार बराबर थे। फिर भी उसने पिस्तौल की माँग की। अपनी असमर्थता को देखते हुये उसने यह शर्त रखी कि प्रतिद्वन्दी केवल एक क़दम की दूरी पर खड़े हों। दोनों पहले शतरंज की एक बाज़ी खेलें। जो व्यक्ति जीते उसे गोली चलाने का हक़ हो। यदि उसका निशाना चूक जाय तब दूसरे व्यक्ति को गोली चलाने का अधिकार हो। शर्तें दोनों पक्षों के लिये एकसी थी इसलिये कप्तान को एतराज करने की कोई वजह न थी। दो मित्रों ने पंचों के तौर पर राइफलें लेकर मौक़े पर खड़े होने की हामी भरी जिसमें कोई पक्ष शर्तों का उल्लंघन न करे। उन्हें आदेश दिया गया कि जो भी पक्ष बेईमानी पर उतारू हो उस पर वे फ़ौरन गोली दाग दें।

यह सारी कार्रवाई गुप्त रूप से करने का फ़ैसला किया गया। इस काम के लिये गौटेमाला शहर के बाहर एक सुनसान जगह निश्चित की गई। एक दिन जनवरी के सर्द प्रभात में चारों व्यक्ति गौटेमाला के बाहर एक खण्डहर में इकट्ठा हुये। सङ्गमूसा की एक क़ब्र के ऊपर शतरंज की बाज़ी बिछा दी गई। खेल शुरू हुआ। बाज़ी धीरे धीरे और बराबर की चल रही थी कि अचानक वकील ने कप्तान के घोड़े को पीट कर बादशाह को शह दी। पर कप्तान भी एक खिलाड़ी था। उसने वकील के वज़ीर को पीट कर बादशाह पर धावा किया। वकील का बादशाह ऊँट, प्यादे और फ़रज़ी सबसे घिर गया था। वकील

के माथे पर पसीना आ गया पर शतरंज के अभागे बादशाह को बचाने का कोई रास्ता न था। खेल ख़त्म हुआ और बाज़ी कप्तान के हाथों रही।

एक लकीर खींच दी गई। प्रतिद्वन्दियों के हाथों में पिस्तौल दे दी गईं और उन्हें लकीर के दोनों ओर खड़ा कर दिया गया। दोनों मित्र भी कुछ गज़ की दूरी पर अपनी राइफ़लें सम्हाल कर खड़े हो गये। इशारा किया गया। वकील संयत और गंभीर भाव से खड़ा हो कर अपने भाग्य की प्रतीक्षा कर रहा था। कप्तान ने कुछ इञ्चों की दूरी से वकील के मस्तक पर अपना निशाना लगाया। गोली दिमाग़ के आर पार होगई। बिना ओठ हिलाये या चेहरे पर ज़रा भी शिकन लाये अभागा भाई बहिन की अस्मत के लिये क़ुरबान हो गया।

× × ×

दूर गौटेमाला के नगर में चिमनियाँ कुण्डलीकार धुआँ उगल रही थीं और पश्चिमी क्षितिज के पास दुबली पतली पहाड़ी के चरणों पर एक विशालकाय मैदान पत्नीभक्त पति की तरह साष्टाङ्ग पड़ा हुआ था। उषा इस भीषण दृश्य को देखकर वातायन में मुंह छुपाये पड़ी थी और सूर्य भगवान मारचेशा के भाई के पोस्टमार्टम में व्यस्त थे। पास बहती हुई टिलगोथा उतावली होकर ढेकों, चट्टानों और रेणुका से वकील के त्याग की कहानी सुना रही थी कि सहसा उत्तरी वातास ने क्षण भर रुककर नारी के इस संक्षिप्त महाभारत में कौरवों की विजय-कथा पर एक सर्द आह भरी और क्षोभ ने विचलित होकर फूलों से इस विपरीत मर्म की बात पूछी। क्षण भर में कानों कान, पेरू से पनामा तक, सागर की लहरों ने, गौतम की नगरी की, इस घटना को सुन लिया।

× × ×

जनमत की आहत आत्मा मानव-बलि पाकर तुष्ट हो गई; किन्तु सभी दिशाओं में उसके अनुकूल परिणाम नहीं हुये। बाद में एक मैक्सिकन मित्र ने मुझे लिखा था कि वकील के रक्त ने मारचेशा और कप्तान के दिलों को सीमेण्ट की तरह जोड़कर और भी अधिक दृढ़ कर दिया।

एकता का मूलाधार : मध्यकालीन सन्तों की ऐक्य साधना

ब्यौहार राजेन्द्रसिंह

वेदान्त और सूफ़ी मत का समन्वय :—जब आक्रमणकारी मुसलमान तथा आक्रान्त हिन्दू अपनी जय और पराजय को भूलकर एक देश की सन्तान के नाते रहने लगे तब उनमें एक दूसरे के धर्म और साहित्य को समझने और उसे हृदयङ्गम करने की इच्छा उत्पन्न हुई। एक धर्म के सिद्धान्तों का दूसरे से आदान प्रदान तथा आकलन होने लगा। इसके फलस्वरूप धार्मिक उदारता तथा सहनशीलता का प्रसार हुआ। एक ओर सूफ़ी मत तथा दूसरी ओर अद्वैत प्रधान निर्गुण सन्त मत का उदय हुआ। किसी किसी की सम्मति में[1] "सन्त काव्य और सूफ़ी कवियों के प्रेम काव्य हमारे साहित्य में मुसलमानी राज्य के विकार हैं।" किन्तु असल में ये दोनों ही दो महान जातियों की विचार धाराओं के स्वाभाविक सम्मिश्रण तथा सामञ्जस्य विधान के प्रयत्न हैं।

कबीर के विचारों पर हिन्दू व मुसलमान दोनों धर्म के उदारचेता सन्तों की छाप पड़ी थी। एक ओर सुधारक स्वामी रामानन्द[2] दूसरी ओर सूफ़ी मत के आचार्य शेख़ तकी का प्रभाव उन पर पड़ा।[3] इन दोनों की प्रेरणा और अपनी सुधारवादी प्रतिभा के

१—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृष्ठ १७०

२—'काशी में हम प्रगट भये हैं रामानन्द चिताये।'
३—'घट घट है अविनासी सुनहु तकी तुम शेख़।'
[कबीर ग्रन्थावली]

योग से कबीर ने ऐसे साहित्य का निर्माण किया जिसमें दोनों धर्म के मूल तत्व मौजूद थे किन्तु दोनों की बुराइयों का निषेध था। उसमें इस्लाम के एकेश्वरवाद के अनुकूल हिन्दू अद्वैतवाद की प्रधानता है। निराकार निर्गुण ब्रह्म की उपासना ही के द्वारा दोनों एकत्र हो सकते थे। धार्मिक कट्टरता, छुआछूत आदि कुप्रथाओं तथा व्रत उपवास रोजा नमाज़ आदि बाहिरी बातों का उसमें कोई स्थान नहीं।

कबीर का कार्य—मूर्तियों के खण्डन से हिन्दू समाज में एक ओर मूर्तिपूजा पर अविश्वास और दूसरी ओर नास्तिकता के भाव उत्पन्न होने लगे थे। अतः कबीरदास ने मूर्तिपूजा का विरोध तक निर्गुण ईश्वरवाद का प्रतिपादन कर हिन्दू समाज को निराशा के गड्ढे में गिरने से बचा लिया। डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल के अनुसार "कबीर के नायकत्व में इस नवीन निर्गुणवाद में समय की सब आवश्यकताओं की पूर्ति का आयोजन हुआ। इतना ही नहीं इसमें भारतीय संस्कृति का बड़े सौम्य रूप में सारा निचोड़ आ गया। इस आन्दोलन ने अपनी सारग्राहिता के कारण भारत की समस्त आध्यात्मिक प्रणालियों के सार भाग को खींचकर ग्रहण कर लिया। सामाजिक व्यवहार तथा पारमार्थिक साधना दोनों के क्षेत्र में पूर्ण साम्य तथा समानता प्रचार करने वाली समस्त आध्यात्मिक प्रणालियों के सार स्वरूप इस आन्दोलन का नायकत्व कबीर के बाद सैकड़ों उदारचेता सन्तों ने समय समय पर ग्रहण किया।"[४]

कबीर ने सचमुच इस समता तथा एकता की 'झीनी झीनी चदरिया' को खूब ठोक ठोक कर बुना है। अन्त में—'बहुत बरस तप किया काशी, मरन भयो मगहर को वासी।' किन्तु मरते मरते भी अन्धविश्वास का खण्डन करते गये—

'हृदय कठोर मरा बनारसी नरक न वंच्या जाई।
हरि का दास मरे मगहर में सेना सकल तिराई॥'

कबीर संसार के दुःख से दुखित थे और उसकी चिन्ता में चिर जागरूक थे:—

सुखिया सब संसार है खावै अरु सोवै।
दुखिया दास कबीर है जागै अरु रोवै॥

यही कारण है कि इस अपढ़ जुलाहे की छन्द-पिङ्गल हीन रूखी सूखी खरी खरी बोल चाल की अटपट बानी से भरी हुई 'पंचमेल खिचड़ी' और 'अक्खड़ गँवारू कविता' होते हुए भी रवीन्द्र सरीखे कवीन्द्र भी उन्हें रहस्यवाद के आचार्य तथा समन्वय और सुधारवाद के आदर्श मानते हैं।

कबीर के ही शब्दों में हम कह सकते हैं:—

'हम न मरैं मरि है संसारा,
हमको मिला जियावन हारा।'

सचमुच जिस समाज को इन सरीखा 'जियावनहारा' मिला है वह कभी नहीं मर सकता। इस बात की पुष्टि के लिये कबीर, दादू, धरनीदास आदि निर्गुण सन्तों के सिद्धान्तों का दिग्दर्शन कराना आवश्यक है।

(१) ईश्वर एक है:—

'रामानन्द रमै इक ब्रह्म' (रामानन्द)
'दुई जगदीश कहाँ ते आये, कहु कौने भरमाया।
अल्लह राम करीमा केशो, हरि हजरत नाम धराया।'
'गहना एक कनक तें कहना, तामें भाव न दूजा।
कहत सुनन को दोइ कर राखे, सोई नमाज
सोई पूजा॥' (कबीर)

वह सर्व व्यापक है:—

'घीव दूध सम रमि रहा व्यापक सबही ठौर।'

इस कारण जगत् और जगदीश एक रूप हैं:—

'खालिक खलक खलक मँह खालिक
सब घट रहा समाई।'

अनेक नामों से पुकारे जाने वाले उसी एक के नाम के मंत्र ने सब भेद भावों को उड़ा दिया।—

'दास मलूक कहाँ भरमौ तुम
राम रहीम कहावत एकौ।'—मलूकदास

× × ×

[४]—नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग १५ अंक १

कृष्ण करीम राम हरि जब लगि एक न पेखा।
वेद कतेब कुरान पुराननि तब लगि तुम ही देखा॥
—रैदास

× × ×

'अलख इलाही एक तू तूही राम रहीम।' दादू
राम कहौ रहिमान कहौ कान्ह कहौ, महादेव-री।
पारस नाथ कहौ कोउ ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयमेवरी
—बनारसी

राम रहीम करीम केशवा अलह राम सहि सोई।
वेद कुरान पुरानी एकै और न दूजा कोई॥
—कबीर।

(२) वह निराकार निर्विकार और अचिन्त्य है :—
अवरण अकल एक अविनासी
घट घट आप रहै। (कबीर)
रूप वरण कछु नहीं, सहजो रंग न देह।
(सहजोबाई)

(३) आत्मा उसी का अंश और माया आवरण है; जिसके दूर होते ही जीव ईश्वर रूप हो जाता है :—

जब दिल मिला दयाल सों,
तब अन्तर कछु नाहीं।—दादू।
अथवा—साहिब मिल साहिब भये
कछु रही न तमाई।—मलूकदास।

(४) वह सब में होकर भी सब से परे है :—
वाणी मेरे पीव की, न्यारी जो संसार।
निराकार वे पार थैं, तिन पारहु के पार॥—दादू।

एकेश्वरवाद ही के आधार पर दोनों धर्मों की एकता का प्रतिपादन किया गया।

एकता सम्बन्धी :—हिंदू मुसलिम के सम्पर्क में आने से दोनों धर्म भी पास पास आये तब उनकी महत्ता भी एक दूसरे की समझ में आने लगी। संत कवियों में गुरु गोरखनाथ ने सर्व प्रथम इस एकत्व भावना को साहित्य में प्रगट किया—

"जिस पाणी से कुल आतम उतपान।
ते हिन्दू बोलिये कि मुसलमान॥
हिन्दू मुसलमान खुदाइ के बन्दे।
हम जोगी ना रहै किन्ही के छन्दे॥"*

नानक ने भी इसी एकता पर ज़ोर दिया—
'जहँ देखौं तहँ एक ही साहिब का दीदार।'

और कबीर ने तो अपने धर्म पट को हिन्दू का ताना और मुसलमान का बाना डालकर एक सुदृढ़ वस्त्र ही बना डाला—

तुरुक मसीद देहुरे हिन्दू दुहुँठा राम खुदाई।
जहाँ मसीत देहुरा नाहीं तहँ का की ठकुराई॥

दादू दयाल—दादू दयाल ने एक ब्रह्म की एकता के आधार पर सब धर्मों व पंथों की एकता का प्रचार किया। उनकी राय में जो इस एकता में भेद मानते हैं वे मानो एक अखण्ड ब्रह्म के टुकड़े टुकड़े कर उसे आपस में बांट लेना चाहते हैं :—

"खण्डि खण्ड कर ब्रह्म को,
पखि पखि लीया बाँटि।
दादू पूरण ब्रह्म तजि,
बँधे भरम की गांठि॥"

बहुत पन्थों की निन्दा करते हुए वे पूछते हैं :—
दादू ये सब किस के पंथ में,
धरती अरु असमान।
पानी पवन दिन रात का,
चंद सूर रहमान॥
महमद किसके दीन में,
जिबराइल किस राह?
इनके मुर्शिद पीर को,
कहिये एक अल्लाह॥

और अन्त में अपना निर्णय देते हैं—
दादू किस के ह्वै रहै,
यह मेरे मन मांहि।
अलख इलाही जगत गुरु,
दूजा कोऊ नाहिं॥

बहु पंथ तथा सम्प्रदायवाद के विषय में दादू का अध्ययन करने वाले बंगाली विद्वान श्री क्षिति मोहन सेन लिखते हैं :—

* काफ़िर बोध

"सम्प्रदाय सत्यद्रष्टा महा पुरुषों का कब्रिस्तान है। चेला लोग गुरु के नाम पर अटारी खड़ी करना चाहते हैं। अगर गुरु मरें न हों तो भी लोग गुरु व उनके सत्य को वध करके इस अट्टालिका को खड़ा करेंगे। जीवन में गुरु की आग ग्रहण करो। बुझे हुए मसाल व अग्नि के उच्छिष्ट का संग्रह मत करो। गुरु को वध कर संप्रदाय की अट्टालिका खड़ी मत करो"।*

अपनी अपनी राह या सम्प्रदाय के आग्रह से दुखी होकर दादू कहते हैं—

"हिन्दू मारग कहैं हमारा,
तुरक कहैं रह मेरी।
कहाँ पन्थ है कहो अलहका,
तुम तो ऐसी हेरी॥"

किन्तु ईश्वर को यह द्वैत का झूठ प्रिय नहीं है, उसे तो एकता का सत्य ही प्यारा है—

"दुई दरोग लोग कौं भावै,
साईं सांच पियारा।
कौन पन्थ हम चलै कहौ धौं,
साधौ करौ विचारा॥"

अंत में वे दोनों झगड़ने वालों को गँवार समझ कर ऊपर उठने का उपदेश करते हैं :—

दादू दूनूं भरम है, हिन्दू तुरक गँवार।
जे दुहु वां में रहित हैं, जो गति तत्व विचार॥
अपना अपना कर लिया, भंजन मांहै चाहि।
दादू एकै कूप जल, मन का भरम उठाहि॥

धरनीदास :—धार्मिक उदारता संतों की विशेषता है—हिन्दू या मुसलमानों दोनों में ऐसे सन्त हुए हैं जिनमें धार्मिक पक्षपात छू नहीं गया था। उन्होंने दोनों धर्मों की आन्तरिक एकता का अनुभव कर हिन्दू मुस्लिम एकता का प्रचार किया।

बाबा धरनीदास भी ऐसे ही सन्तों में से थे (संवत १७१३)। इन्होंने ईश्वर की एकता के आधार ही पर मनुष्यों की एकता का प्रतिपादन किया। जब इन्होंने अनुभव कर लिया :—"ठाकुर एक है सिरजनहारा" तब फिर उसकी संतान में भेद कैसा? फिर तो यही निश्चय हो जाता है कि—

"जाहिर जीव जहान जहाँ लगि,
सब मौं एक खोदाई।"

उस एक सिरजनहार को वे कभी राम तो कभी अल्लाह के नाम पुकारते हैं :—

"करता राम करै सो होय।"

अथवा—"एक अल्लाह दोस्त है मेरा,
अवर मान बेगाना।"

उनकी राय में जब तक इस एक तत्व की पहिचान नहीं तब तक तीर्थ-व्रत, रोजा नमाज़ सभी व्यर्थ हैं—

'जौलों मन तत्तु हि नहिं पकरै।
काहे के तीरथ वरत भटकि भ्रम
थाकि थाकि थहरै।
मन्दिर मसजिद सुरति मुरति करि
धोखहि ध्यान धरै॥"

यह परम तत्व प्रेम के सिवाय और कोई नहीं—

'धरनी प्रेम मगन जब कोई
सोई सूर सुभागा।'

इस प्रेम का प्रकाश दिल में दया या दर्द के द्वारा होता है जिसके बिना वह दिल का मालिक मिल नहीं सकता—

'दूर नहीं है दिल का मालिक,
बिना दरद नहिं पै हो।
धरनी बाँग बुलंद पुकारै,
फिर पाछे पछितैहो॥"

परस्पर प्रेम ही के द्वारा हिन्दू मुस्लिम एकता का साधन हो सकता था। जब दोनों का मालिक एक है और दोनों का हाड़ माँस एक ही जल-थल से बना हुआ है तब बिना दोनों की एकता स्थापित हुए सन्तों का मन कब मान सकता है? धरनीदास कहते हैं—

*क्षिति मोहन सेन—दादू [बँगला] तथा 'सन्त साहित्य' [विशाल भारत]

"हिन्दू से राम, अल्लाह तुरक से
बहु विधि करत बखाना।
दुहुँ को संगम एक जहाँ,
तहँवां मेरो मन माना॥"

बाह्य उपचार सम्बन्धी—बाहिरी उपचारों को बिना त्यागे मूल तत्व का ग्रहण असम्भव समझकर इन सन्तों ने मन्दिर, मसजिद, रोजा-नमाज, व्रत उपवास, तथा काबा-काशी के ऊपर सबसे परे रहने वाले एक ब्रह्म की उपासना का प्रचार किया—

हिन्दू लागे देहरे, मुसलमान मसीत।
हम लागे एक अलख सों, सदा निरन्तर प्रीत॥
(दादू)

इन सन्तों ने इन क्रिया कलापों से केवल मनुष्य को ही मुक्त नहीं किया वरन् मिट्टी पत्थर के भवनों से ईश्वर को मुक्त कर दिया। उन्होंने मनुष्य निर्मित मानव देह तथा उसके अन्तर में जगमगाती अलख की ज्योति का मान करने का आग्रह किया—

'मसीत सँवारी माग सा, तिसकूं करै सलाम।
ऐन आप पैदा किया, सोठा है मूसलमान॥'
(मलूकदास)

अप्रत्यक्ष देवता की अपेक्षा प्रत्यक्ष मानव देवता की पूजा का आयोजन किया—

'हिन्दू पूजै देहरा, मुसलमान महजीद।
पलटू पूजै बोलना, जो खाय दीद वर दीद॥'
(पलटूदास)

ये सन्त बाह्य पूजा की अपेक्षा अन्तर पूजा के प्रचारक थे—

"यह मसीत यह देहरा, सतगुरु दियो दिखाय।
भीतर सेवा बंदगी, बाहिर काहे जाय॥"

वर्ण सम्बन्धी—बाहरी आक्रमण की ओर से देश के सुरक्षित हो जाने पर आन्तरिक सुधारों की ओर ध्यान आकर्षित हुआ। हिन्दू धर्म के भीतरी अनाचार, अन्ध विश्वास और कट्टरता उसे भीतर ही भीतर घुन के समान खाये जा रही थीं उन्हें दूर करने के लिये कबीर आदि संत कवियों ने अपनी वाणी द्वारा प्रबल प्रयत्न किया। तामिल देश के आल-कर संतो ने बहुत पहिले ही ईश्वर की एकता तथा मनुष्य की समता के आदर्श को घोषित किया था। तिरुमूलर (११०० ई०) ने घोषित किया था—"ईश्वर एक है और जाति भी एक ही है।" नम्मल-कर ने भी प्रतिपादित किया था कि—"वर्ण से मनुष्य ऊँच नीच नहीं हो सकता। ईश्वर ज्ञान ही से एक हो सकता है।" जब तिरूपन्नौलकर को नीच जाति का होने के कारण श्री रंग के मन्दिर में जाने से रोका गया तब एक भक्त ब्राह्मण उन्हें कंधे पर उठा-कर भीतर ले गया था।

बारहवीं शताब्दी से लेकर पंद्रहवीं शताब्दी तक भारत में अद्भुत धर्म जागृति का समय था। वैष्णव संतों ने देश को रूढ़ि विकारों से भरे धर्म से शुद्ध कर नवीन आधार स्थापित किया। कबीर, नानक, रैदास, दादू, पलटू, आदि संतो ने धर्म को हिन्दू, मुसलमान, स्त्री-पुरुष तथा जाति-पाँति आदि के भेद से ऊँचा उठाकर उसकी काया पलट कर दी। इसलाम की समता के विरुद्ध हिन्दू धर्म की जाति पांति तथा छुआछूत की विषमता संतों को बहुत खटकी और उन्होंने उसके विरुद्ध आवाज़ उठाई :—

एक बूंद एकै मल मूत्तर, एक चाम एक गूदा।
एक जाति में सब जग उपजा, को ब्राह्मण को शूदा॥

× × ×

एकै पवन एक ही पाणी, करी रसोई न्यारी जाती
माटी सू माटी लै पोती, लागी कहो कहां यूं छोती॥

× × ×

धरती लीपि पवित्तर कीन्ही।
छोति उपाय लीकि बिच दीन्हीं।
याका हमसूं कहो बिचारा।
क्यूं भव तरिहो रहि आचारा॥

जन्म ही के कारण ब्राह्मण शूद्र का भेद उन्हें मान्य नहीं था। कबीर ने इसकी कड़ी आलोचना की है—

जो तू बाँमन बम्हनी जाया।
आन बाट ह्वै क्यों नहीं आया॥

जो तू तुरक तुरकनी जाया।
भीतर खतना क्यों न कराया ॥

इसलिए अन्त में वे अपील करते हैं:—

काहे को कीजै पाखंडे छूत विचारा।
छूतहि तें उपजा संसारा ॥
हमारे कैसे लोहू, तुम्हारे कैसे दूध।
तुम कैसे बाँमन हम कैसे शूद ॥
छोति छोति करता तुम जाये।
गर्भ वास काहे को भाये ॥
जन्मत छोति मरत पुनि छोती।
कहै कबीर हरि निर्मल जोती ॥

जब संत जन एक ही मालिक के रचे हुए भिन्न धर्मावलम्बियों में भेद नहीं मानते तो वे हिन्दू-हिन्दू में कैसे भेद भाव कर सकते हैं! वे तो तुलसीदास के अनुसार सब जग को सीताराम मय मानते हैं। समर्थ रामदास के शब्दों में जगत ही को जगदीश (जगत तोचि जगदीश) मानते हैं; भक्त तुकाराम के साथ में—विट्ठल को "विश्वजन व्यास" समझते हैं और स्वामी रामानन्द की अमर वाणी में "पूरि रहे हरि सब समान" और उनके शिष्य कबीरदास की अमर साखी में—"सब हम माँहि सकल हम मांही" में विश्वास करते हैं।

इतनाही नहीं बल्कि इससे भी आगे बढ़कर सन्त धरनीदास के शब्दों में यह मानते हैं कि जो इस बात में विश्वास न करे वही असल में चाण्डाल है—जन्म-जात चांडाल चांडाल नहीं है—

"जगत माँहि जगदीश पियारा।
जो बिसराये सो चंडारा ॥"

यही विचार कर उन्होंने करनी ही पर ज़ोर दिया है और जाति पांति को बिलकुल महत्व नहीं दिया—

करनी पार उतारि है, धरनी कियो विचार।
साकित ब्राह्मन नहि भला, भक्ता भला चमार ॥
माँस अहारी ब्राह्मना, सो पापी बहि जाउ।
धरनी शूद्र वैरनवा, ताहि चरन सिर नाउ ॥

जाति भेद के सम्बन्ध में दादू कहते हैं:—

"पानी के बहु नांव धरि, नाना विधि की जाति।
बोलन हारा कौन है, कहौ श्री कहाँ समाति ॥"

उन्होंने आत्म दृष्टि से सब को एक तथा देह दृष्टि से ही भिन्नता मानी है—

"जब पूरन ब्रह्म विचारिये
सकल आतमा एक।
काया के गुण देखिये,
तौ नाना बरन अनेक ॥"

जो एक भाव देखते हैं उनमें भेद-भाव कैसे उपज सकता है:—

सदा लीन आनन्द में, सहज रूप सब ठौर।
दादू देखै एक को, दूजा नाहीं और ॥
दादू देखो दयाल को, रोकि रहना सब ठौर।
घटि घटि मेरा साइयां, तू जिन जानें और ॥

इसी कारण इन सन्तों ने इस जाति भेद के आधार वर्णाश्रम धर्म तक पर आघात किया है—

चारि वरन को मेटि कै, भक्ति चलाई मूल।
गुरु गोविन्द के बाग में, 'पलटू' फूले फूल ॥

इस मूलतत्व को ग्रहण करने के भयंकर परिणाम को कबीर रूपक में प्रगट करते हैं—

चलती चक्की देखि के, दिया कबीरा रोय।
दो पाटन के बीच में, सावित बचा न कोय ॥

इसका समाधान करने के लिये मलूकदास उत्तर देते हैं—

इधर इधर देई फिरै, लेई पीसे जांहि।
जो मलूक की लीग है, जिनको भय कछु नांहि ॥

भक्त रैदास जी के लिये तो नाभा जी सरीखे वैष्णव का सिर श्रद्धा से झुक जाता है—

वर्णाश्रम अभिमान तजि पद रज बन्दै जासु की।
पाखंड वृन्द खण्डन करन वानि विमल रैदास की ॥

एकता का आधार—यह प्रेम की नदी परिवार, जाति तथा संकीर्ण धर्म की सीमा पार कर सारे समाज में व्याप्त हो गई और उसमें नीच ऊँच का भेद भाव भी लुप्त हो गया। "मानिय सबहिं राम के नाते" के अनुसार समाज के सभी व्यक्तियों के साथ एक नवीन नाता स्थापित हो गया। रवीन्द्रनाथ कहते हैं—

"भारत के मरमिया (मर्मज्ञ) कविगणों ने शास्त्र निर्मित पत्थर के बोझ से भक्तों के मन को मुक्त कर दिया है। प्रेम के अश्रु जल से देव मन्दिर के आँगन से रक्त पात की कलंक रेखा को धो देना ही उनका काम था। अपने भीतर के आनन्दालोक से मनुष्य के सकल भेद मिटा देना ही इन रामदूतों का मुख्य कार्य था।"

एक अंग्रेज़ कवि कहता है "विश्व की अधिष्ठात्री देवी आनन्द लक्ष्मी ही मनुष्य को सब बन्धनों से मुक्ति देगी। उनके आनन्द से ही मनुष्य की भेद-बुद्धि दूर हो सकती है।" भारतवर्ष में प्रचलित बहुत से मत मतान्तरों के बीच इन सन्तों की मर्म वाणी ऐसे ही ऐक्य सूत्र का काम देती है। रवि बाबू ने कहा है—"भारत में जो महापुरुष हुए उन्होंने सदा मनुष्य मनुष्य के बीच आत्मा की एकता का सेतु निर्माण किया है। भारत की श्रेष्ठ साधना है—बाह्य अनाचार को अतिक्रम करके अन्तर के सत्य को स्वीकार करना। परम्परा से महापुरुषों का आश्रय लेकर यह साधना की धारा चिरकाल से चलती आई है, यद्यपि भारतीय समाज की बाहिरी अवस्था के साथ इस अन्तर साधना का विरोध भी रहता आया है, जिस प्रकार नदी के स्रोत को पत्थर बाँध देते हैं; किन्तु इस बाधा को पार करके बहुत से आघात प्रत्याघातों के भीतर से विस्तृत बालुका राशि को चीर कर रास्ता बनाती हुई, यह वाणी सत्य-समुद्र संधान के लिये चली जाती है। यही स्वच्छ किन्तु प्रच्छन्न धारा बाहर की विभिन्नता के भीतर ऐक्य सूत्र के समान है।"

फ़ारसी पर हिन्दी का असर

सिराजुद्दीन आज़र

तुर्क और मुग़ल जब हिन्दुस्तान में आये तो ऐसा मालूम होता था कि उनके और हिन्दुस्तानियों के कलचर में कोई समानता नहीं है। दोनों बोल चाल, रंग-ढंग, रहन सहन में एक दूसरे से बिलकुल अलग थे। फिर भी धीरे धीरे उन्होंने एक दूसरे पर जैसा गहरा असर डाला, वह इस बात की दलील है कि क़ौमें अपनी विशेषताओं को अलग अलग खानों में नहीं बन्द कर सकतीं। इस आपसी लेन-देन की एक मिसाल हिन्दी पर फ़ारसी का और फ़ारसी पर हिन्दी का असर है।

फ़ारसी में हिन्दी शब्दों की मिलावट महमूद ग़ज़नवी के ज़माने से शुरू हो गयी थी। उस युग के बड़े बड़े कवियों और लेखकों—जैसे फ़िरदौसी, उन्सरी, फ़रखी, असदी और सनाई—ने इन हिन्दी शब्दों का प्रयोग किया है:

कोतवाल, नौबहार (विहार), लगन, कतारा (कटार) चन्दन और पानी।

ग़ज़नवी घराने के शाह मसऊद के समकालीन कवि रूनी ने दंद (दंत), जौहर और जत (जाट) का इस्तेमाल किया है।

मसऊद साद सुलेमान के यहाँ हिन्दी के यह शब्द मिलते हैं—कत (तख़्त), मारामार, बर्शगाल (वर्षा-काल)।

ताजुद्दीन रेज़ा ने 'सेर' और 'मन' का प्रयोग किया है।

तबक़ात नासरी तेरहवीं सदी ईस्वी में लिखी गयी थी। उसमें हिन्दी के यह शब्द मिलते हैं: सील (शिला) लक (लाख)।

अमीर ख़ुसरो की फ़ारसी में हिन्दी की पुट मिलना कोई अजीब बात नहीं। इनमें से कुछ की बानगी देखिये: साग़र (सागर), रावत (राजपूत), पायक (पियादा), धानुक (तीर-अंदाज़), बसीठ (एलची), सेवती, मौलसरी आदि।

तारीख़ फ़ीरोज़शाही में, जो चौदहवीं सदी में लिखी गयी थी, हिन्दी शब्दों की भरमार है। इनमें से चन्द एक सुन लीजिये : मंदा (मंडी), औधार (उधार), लादी (सामान ढोने वाला), सुख-आसन (पालकी), मंडल (जलसा)।

सैरुल-औलिया में, जो इसी ज़माने की किताब है, हिन्दी के कई शब्द आये हैं, जैसे : लांघन, जागसी (क़ैदख़ाना)।

यह शब्दावली इतनी लम्बी हो सकती है कि पाठक पढ़ते पढ़ते उकता जायेंगे। मतलब यह है कि फ़ारसी और हिन्दी में शासक-शासित का नाता न था। दोनों ने एक दूसरी का प्रभाव ग्रहण किया; हाँ, इससे पहिले शब्दों के अपने अपने साँचों में ढाल लिया। हिन्दी जिस तरह ज़, ख़, और क़ के हज़म न कर सकती थी, फ़ारसी 'ट' 'ड' 'ड़' की ताब न ला सकती थी।

मुग़ल बादशाहों के ज़माने में तो हिन्दुस्तानी फ़ारसी पर हिन्दी का रंग रच गया था। शाहजहाँ के दरबारी कवि अबू तालिब कलीम के कुछ मिसरों में हिन्दी की घुलावट देखिये :

मना बर बादए तंबोलियाँ दिल······
ज़ हुस्ने शुस्तए धोबी चे गोयम······
बुताने राजपूत वो शेख़ज़ादा······
चे चंवर शोलए शमअ-स्त बेदूद······
के वस्फ़े मौलसरी रा बर निगारम······

फ़ारसी व्याकरण का अटल नियम है कि संधि केवल फ़ारसी शब्दों में ही हो सकती है। पर 'झरोकए दर्शन' जैसी तरकीबें भी देखने में आती हैं। बहुत से हिन्दी मुहावरे भी फ़ारसी में घुल-मिल गये, जैसे : बीड़ा तंबूल गिरफ़्तन (बीड़ा उठाना)।

नयी उर्दू कविता के नमूने

सोच

फ़ैज़ अहमद 'फ़ैज़'

क्यों मेरा दिल शाद[1] नहीं है? क्यों ख़ामोश रहा करता हूँ?
छोड़ो मेरी रामकहानी, मैं जैसा भी हूँ अच्छा हूँ।
मेरा दिल ग़मगीन[2] है तो क्या, ग़मगीं यह दुनिया है सारी।
यह दुख तेरा है ना मेरा, हम सब की जागीर है प्यारी।
तू गर मेरी भी हो जाये, दुनिया के ग़म यों ही रहेंगे।
पाप के फन्दे, ज़ुल्म के बन्धन, अपने कहे से कट न सकेंगे।
ग़म हर हालत में मोहलिक[3] है, अपना हो या और किसी का।
रोना धोना, जी को जलाना, यों भी हमारा, यों भी हमारा।
क्यों न जहाँ[4] का ग़म अपना लें, बाद में सब तदबीरें सोचें।
बाद में सुख के सपने देखें, सपनों की ताबीरें सोचें।
बेफ़िकरे, धन दौलत वाले, यह आख़िर क्यों ख़ुश रहते हैं।
इनका सुख आपस में बाँटें, यह भी आख़िर हम जैसे हैं।
हमने माना जंग कड़ी है, सर फूटेंगे, ख़ून बहेगा।
ख़ून में ग़म भी बह जावेंगे, हम न रहें, ग़म भी न रहेगा।

१—सुखी २—उदास ३—जान लेवा ४—संसार।

चुभन

स्वर्गीय अजमतुल्लाह

जान की तह में कोई बैठा है, एक बेचैनी खटका है।
चुटकियाँ बैठा कोई लेता है, एक खटकता काटा है।
एक खलिश[१] सी, एक चुभन सी, जिसमें मज़ा भी मिलता है।

इस बेचैनी से सरगर्दां[२], इनसान सदा ही रहता है।
इस अनजान खटक से हैरॉं, सुख ढूंढ़ता और दुख सहता है।
ज़ीस्त[३] के तूफ़ाँ जिस्म की किश्ती में बेक़ाबू बहता है।

डंक इसे ही भूख का जाना, पेट का धन्धा फैलाया।
जीना ठहरा खाना खाना, पेट से बढ़ कर जब पाया—
माल बनाया, ऐश मनाया, और दुनिया से चैन मिटाया।

तीर इसे ही इश्क़ का जाना, दिल चोटी में अटकाया।
हुस्न का बन कर एक दीवाना, इश्क़ का अफ़साना[४] गाया।
हिज्र[५] की रातें वस्ल[६] की घड़ियाँ, फिर भी चैन न पाया।

हक़[७] की तलब भी इसको ही माना, मज़हब का रंग जमाया।
मन्दिर, मस्जिद, गिरजा, कलीसा में जा सिर को झुकाया।
दिल को टटोला, रूह को छाना, चैन न पाना था ना पाया।

इल्म की चेटक इसको समझा, अक़्ल का जाल बिछाया।
क़ुदरत[८] के भेदों को फाँसा, जग की हर एक चीज़ पे छाया।
बर्क़[९] को बाधा पवन को जीता—फिर भी चैन न आया।

साँस के झोकों से यह शगूफ़ा[१०], जान का जब तक खिलता है।
सुख-दुख का है गोरखधन्धा, दिल का लंगर हिलता है।
एक खटक सी एक चुभन सी, जिसमें मज़ा भी मिलता है।

१—जलन २—भटका हुआ ३—जीवन ४—कहानी ५—वियोग ६—मिलन ७—सत् ८—प्रकृति ९—बिजली १०—कली।

खोटी दुअन्नी

[प्रोफ़ेसर राजनाथ पाण्डेय]

युवक हँसोड़ और अल्हड़ था। अपने मेल जोल के जवानों को जुटा लेने का जैसे उसमें आकर्षण था। उस डिब्बे में पैर रखते ही सब से पहिले उसी पर हमारी निगाह गई। गाड़ी खड़ी थी। चढ़ने-उतरने की कशमकश जारी थी। फिर भी बी० एन० डब्लू० रेलवे के तीसरे दर्जे के तंग तख़्ते पर बैठे बैठे उसने ताश के "कोट-पीस" खेल का आयोजन कर रखा था और खेल अपनी पूरी रफ़तार में जारी था। उसके रंग ढङ्ग से साफ़ ज़ाहिर होता था जैसे वह सब जगह मस्तानों के गोल का नेता हो! गाड़ी पूरब से पच्छिम को जा रही थी।

इधर गाड़ी खुली और उधर नई बाज़ी शुरू हुई। उस नौजवान के एक विपक्षी की बग़ल में एक दूसरा नवयुवक बड़ी देर से बैठा था। अपने पड़ोसी का ताश देखना और रह रह कर उसे सलाह भी देता था। एक बार तो ऐसा हुआ कि उसके चले हुए पत्ते को उसने उठा लिया। इस पर वह अल्हड़ युवक झुंझला उठा और अपने पत्ते नीचे पटक कर बोला—"साहब! आप ख़ुद अपने हाथ में पत्ते ले लीजिये। दो चार हाथ हमारे आप में बाज़ी लगाकर होजाँय। उस तरफ़ से आप और इस तरफ़ से हम बाज़ी लगायेंगे।" उसकी यह बात जैसे सारे समाज को रुच गई। उस युवक ने भी चुनौती स्वीकार करली। डिब्बे के सब लोगों का ध्यान इस नये "युद्ध" की तरफ़ आकर्षित हो गया। बाज़ी एक आने की बदी गई।

थोड़ी ही देर में उसने पहिली बाज़ी जीत ली और बिचारे को एक आने पैसे देने पड़े। दूसरी बाज़ी और भी बुरी शुरू हुई। अगले स्टेशन पर गाड़ी पहुँचते-पहुँचते उस अल्हड़ ने अपने विपक्षी पर एक "कोट" ही लाद दी। इस बार उसे दो आने देने पड़े। जिस संकोच और हिचक से धोती के फाँड़ में कस कर बाँधी हुई गाँठ से एक दुअन्नी उसने निकाल कर दी उसी से सिद्ध होता था कि उसे तीन आने पैसे का हारना कितना अखर रहा था। उसने गाँठ को कुरते के नीचे छिपा कर खोला था। शायद उस गाँठ में कोई और भी ऐसी रहस्यमयी चीज़ बँधी हुई थी जिसे वह ज़ाहिर नहीं होने देना चाहता था। पर जिस समय वह दुअन्नी देने लगा उसके नाख़ून में से हल्दी में रंगे चावल के दो पीले कन गिर पड़े जिसे किसी ने देखा या नहीं उसे मालूम न पड़ा। शायद उस दुअन्नी के साथ पूजा के अच्छत बँधे थे और वह पूजित दुअन्नी थी। उधर उस अल्हड़ युवक पर उसके उस विपक्षी की विवर्णता का और ही प्रभाव था। उसने जीत वाले पैसों में से चार पैसों की पान-बीड़ी लेकर आस पास के साथियों में बाँट दी। फिर सिर पर अपनी पुरानी मैली बालदार ऊँची टोपी टेढ़ी करके रखी और मुंह में बीड़ी दबाये जैसे अपने विजय की सूचक वह दुअन्नी कान में खोंसे डिब्बे से बाहर निकला। बड़ा स्टेशन था। वहाँ गाड़ी कुछ अधिक रुकती थी।

सामने ही चायवाले की दूकान थी। उसकी मेज़ पर दुअन्नी फेंक कर उसने दो पैसे के बिस्कुट लिये और दो पैसे वाला चाय का कुल्हड़ माँगा। बिस्कुट ख़तम करके उसने ज्योंही कुल्हड़ की तरफ़ हाथ बढ़ाया गाड़ी ने सीटी दी। उधर चायवाले ने जल्दी जल्दी अपने पैसों के सन्दूक और तमाम जेबों को टटोल कर घोषणा की कि उसके पास चवन्नी के नीचे कुछ था ही नहीं। तब तक गाड़ी सरकने लगी। मेज़ पर एक टूटा बरतन पड़ा था। अल्हड़ युवक ने चाय के जलते कुल्लड़ को लिये लिये अपने डिब्बे में पहुँचना असंभव जान उस पर कुल्हड़ रख लिया

और डिब्बे में आ बैठा। कुल्हड़ की चाय उसने ज्योंही होंठों से लगाई कि चायवाले ने डिब्बे के बाहर खड़े हो खिड़की के भीतर से सिर अन्दर करके कहा "बाबू जी! हमारा बरतन दे दीजिये और अपनी दुअन्नी यह लीजिये! चार पैसे से बाज़ आना हमको मंजूर है।" उसने दुअन्नी लेली और टूटा बरतन दे दिया। उसकी इस नई जीत का हाल सब लोगों ने बड़ी उत्सुकता से सुना और डिब्बे भर के लोग खिलखिला कर हँस पड़े। वह जो हारा हुआ था वह भी हँसा। उसने कान में फिर दुअन्नी खोंसली और चाय पीना आरम्भ किया और ऐसी मस्ती में वह कुल्हड़ समाप्त किया जैसे वह चाय नहीं दुनिया का सब से क़ीमती पेय हो!

अगला स्टेशन कम ही दूरी पर था। आ गया। गाड़ी रुकी। जंकशन स्टेशन था। आधे से अधिक मुसाफ़िर उतर गये। वह जो हारा था वह भी उतरनेवालों में था। जितने उतरे उससे ज्योढ़े सवार हुये। बड़ी धींगामुश्ती रही। देर तक गाड़ी रुकी रही।

चाय का खाली कुल्हड़ फेंक कर उस युवक ने कान में से दुअन्नी निकाल कर उसे ग़ौर से देखा! जैसे उसके मन में कोई प्रश्न उठ रहा था और वह उसका उत्तर पाना चाहता था। क्षण भर दुअन्नी को और ग़ौर से देखते ही जैसे उसे उत्तर मिल गया। चायवाले के लिए उसके टूटे बरतन से भी उसकी दुअन्नी क्यों सस्ती थी यह वह जान गया, उसने पल भर के लिये अपनी आँखें उस स्थान पर दौड़ाई जहाँ उसका विपक्षी बैठा था। वह तो कभी का डिब्बे से उतर कर चला गया था। बल्कि जाते समय उसे सलाम भी किया था। उसे अब यह बात याद आई। उसने गर्दन नीची करली जैसे यह सोचकर कि सलाम के बहाने मानों वह यह कहता गया हो कि 'हारा मैं नहीं हूँ; हारे तुम हो!' उसने दुअन्नी को फिर वहीं कान में खोंस लिया और मुंह मोड़ कर दूसरी तरफ़ की खिड़कियों के बाहर उदास हो बहुत दूर देखने लगा। उसकी मनोदशा के उस परिवर्तन को देखकर मन बहुत खिन्न होता था। दीपावली की आशा भरी रात के आगमन के दो दिन पूर्व वह अपनी विजय का आरम्भ देख आनेवाले वर्ष भर के जीवन को सफलता की आशा में मस्त हो गया था; किन्तु उसकी वह आशा एकाएक खोखली हो गई। दुनिया के व्यवहार के खोटेपन को सोचकर उसका हृदय हताश हो उठा। वही जो कुछ ही देर पहिले ताश के खेल में पुरुषार्थ और काट-छाँट का ऐसा पुतला बना हुआ था मानो उसके लिये वह कोट-पीस का खेल ही स्टालिनग्राड का मुहासिरा हो और जो डिब्बे के बाहर चाय पीने के लिये विजय के उल्लास में इस तरह अकड़ कर उतरा था मानो विजय के बाद चर्चिल और रूज़वेल्ट को मिलनेवाले महा आनन्द को उसने ही पहिले से झपट लिया हो—इस समय मानमर्दित पेतों की तरह उदासीन बैठा था!

अकस्मात् उसी समय गाड़ी के बाहर उसी ओर ज़मीन पर कहीं से रेंगती हुई एक मूर्ति उसके सामने आकर खड़ी हुई। उस मूर्ति में दो आँखें थीं—उदास, सजल और मटमैली—जो उसे मानवी बतलाती थीं। शेष कोई बात उसमें मनुष्य कहलानेवाले चेहरे की न थी। कुछ क्षण शान्त एकटक वे आँखें उसे देखती रहीं। मानव जीवन की समस्त पराजय, दयनीयता और घृणा मानो उसी मूर्ति में एक साथ आकर पैठी हुई थीं! तब उन आँखों के पास पहुँच कर दो पंगुल गले हुये हाथ जुड़े। फिर उस कोढ़ी भिखारी के होंठ भी याचना के लिये खुले—उसकी अंगुलियों और चेहरे की ही तरह लाल लाल! तब न जाने किस करुणा, घृणा, वेदना या बेबसी से प्रेरित हो उस युवक ने उस खोटी दुअन्नी को उसकी ओर फेंक दिया। वह उस भिखारी की हथेली पर ज़ोर से लगकर नीचे गिर पड़ी। भिखारी के मन में चोट के भावको खुशी और कृतज्ञता के भाव ने उमड़ कर दबा दिया जिससे उसने यह न जाना कि उसकी हथेली का वह भाग फट कर कैसा हो गया था! उसने ज़मीन पर से उस दुअन्नी को उठा लिया। उसकी हथेली का घायल भाग दुअन्नी में उस जगह पड़ा जहाँ बादशाह का ताज था। बादशाह का ताज लहू-

लोहान हो गया ! उस कम्बख़्त भिखमंगे ने अभी यह न जाना कि उसने अपनी कैसी दुर्दशा कर ली थी और सम्राट के मुकुट के साथ क्या ग़ज़ब किया था। दाता को सलाम करने के लिये उस दुअन्नी सहित अपनी आरक्त हथेली को उसने अपने शिर तक उठाया और दुआ देकर वहाँ से चला गया। उस युवकने इस भयावने दृश्य को देखकर शिर नीचा कर लेने का प्रयत्न किया, किन्तु सम्राट औरंगज़ेब की आज्ञा से थाल में सजाये हुये दारा के बेबस शिर की भाँति उसकी गरदन नीचे न झुक सकी। तब वह एकटक उसी तरफ़ देखता रहा जैसे इनसान के व्यवहार की खोटाई की उमड़ी हुई ख़ून की नदी में किसान के हल से लेकर शाहन्शाह के ताज तक संसार की समस्त अनमोल वस्तुएँ वह डूबती-उतराती हुई देख रहा हो !

× × ×

नन्दन साव अपनी हौली में गद्दी पर आज शाम कान में इत्र के फाहे खोंसे, अंगुलियों में चार पाँच अंगूठियाँ कसे, चिकन का कुर्ता डाटे कुछ ऐसी विशेष सजधज से बैठे थे और भीतर ऐसे ख़ुश लगते थे कि आज उधार पीने वाले और भुक्खड़ भी उनकी फटकारें भूल जायँ और बोहनी बट्टे के समय का ख़याल तक न करके उनकी दूकान पर आ उमड़ें! बात यह थी कि अभी दो दिन ही पहिले उन्हें एक नया ठेका और मिला था। बाबू दुर्गासिंह इन्सपेक्टर उन पर काफ़ी मिहरबान थे। अभी कल ही उन्होंने आबकारी के नये डिप्टी मिस्टर ओपनरायन से नन्द साव की काफ़ी तारीफ़ की थी। डिप्टी साहेब ने कुर्क अमीनी से तरक्क़ी करके यह भारी दरजा पाया था और अभी चार ही दिन पहिले उनके डिप्टी कलक्टरी में मुस्तक़िल होने का परवाना आया था। उनकी स्त्री पवित्री देवी उनकी हर तरक़्क़ी में सत्यनारायण की कथा सुनती थीं। इस दिन भी उन्होंने इस भारी ख़ुशी में कथा का आयोजन किया था और डिप्टी साहेब से बिना कहे ही आबकारी के चपरासियों के मार्फ़त शहर के समस्त ठेकेदारों को कथा सुनने का निमंत्रण दे दिया था। वे ऐसे शुभ कर्मों में किसी की राय नहीं लिया करती थीं। नन्दन साहु को भी कथा सुनने जाना था। जब वे घर से दूकान के लिये चले थे पुरवा हवा बड़े ज़ोरों से झकोर रही थी और आकाश में बादल जल्दी जल्दी दौड़ रहे थे। नन्दन साव थोड़ी ही देर दुकान खुली रखकर थोड़ी सी बेंचने के बाद बन्द कर देना चाहते थे। अफ़सरों के ख़ुश रहने के कारण अब ज़रा समय से पहिले-पीछे दूकान बन्द कर देने में उन्हें डर न था।

बोहनी के लिये प्रथम गाहक के आगमन की वे जब प्रतीक्षा करने लगे थे उसी समय हौली के फाटक के सामने कुछ दूरी पर इंजिन-विहीन मालगाड़ी के अकेले ढुलकाए हुए डिब्बे की तरह चुपचाप वेग से अपनी ओर उन्होंने उस आदमी को आते देखा जिसे आज स्टेशन पर किसी यात्री ने एक दुअन्नी दी थी। पिछले तीस वर्षों में जब से उसकी यह दशा हुई थी उसके पास कभी दुअन्नी नहीं हुई थी। तीस वर्ष के इस लम्बे अवकाश में, जिसमें कभी कभी कोई बहुत बड़ी गुलाम और पस्त क़ौम भी आज़ाद और सरसब्ज़ हो जाती होगी, उस बिचारे के जीवन में क्षण भर के इतने सुख का अवसर भी कभी नहीं आया था। बहुत दिनों से वह आशा करता आ रहा था कि उसके जीवन में भी कभी सुख का समय आयेगा।

नन्दन की हौली में वह कोढ़ी कभी-कभी आता था किन्तु जिस दिन आ जाता किसी तरह टाले न टलता। फाटक के बाहर हाथ जोड़े खड़ा, मांगता, बिनती करता, गिड़गिड़ाता रहता था और न पाने पर सारी रात जागता, रोता, कराहा करता। अगर अधीर होकर क्षण भर के लिये वह हौली के फाटक के अन्दर पैर रखता तो कई पीनेवाले अपनी नशा उखड़ जाने की शिकायत करने लगते और उस दिन नन्दन साव अन्तिम पीनेवालों के चुक्कड़ में बँच गई दस पाँच जूठी बूंदें भी न छूने देते। उसको आज एक दम बोहनी-बट्टे के समय इस तरह आते देख नन्दन मन ही मन क्रुद्ध हो गये। उधर से मुँह

फेर लिया। तब तक वह निधड़क फाटक पार कर आंगन में आ गया। उसकी इस ढिठाई पर नन्दन साव अपने भाव स्थिर भी न कर पाये थे कि उसने ललकार कर कहा—"मालिक! लाख कहिये मैं आज वापस जाने के लिये नहीं आया हूँ। आज तीस साल के बाद यह दिन आया है! आज मैं ख़रीद कर पीने आया हूँ" और कान में खुंसी हुई दुअन्नी को नन्दन के पास फेंक दिया। दुअन्नी नन्दन के पांव के पास जाकर गिरी परन्तु उन्होंने उसकी तरफ़ न देखकर अपने उस अनोखे गाहक की ही तरफ़ ग़ौर से देखा। उन्होंने देखा जैसे उसके शरीर का रोआँ-रोआँ पक कर फूट रहा था! जैसे शराब पीने के पहिले ही उसकी आँखों में बोतलों शराब का नशा छा गया था!

नन्दन ने वह दुअन्नी उठा ली पर हाथ में लेकर देखते ही वह झल्ला उठे। नये बादशाह के कम चमक वाले सिक्कों में खोटे-खरे की पहिचान कठिन है पर वह पुराने बादशाह की दुअन्नी थी। पलक मारते ही नन्दन ने देख लिया कि वह दुअन्नी खोटी है। उसे उन्होंने उसके मुंह पर फेंक मारा और बिगड़ कर कहा—"निकल जा बेईमान यहाँ से। खोटी दुअन्नी लेकर ठगने आया है!" थोड़ी देर के लिये उस भिखारी के चेहरे के भाव से ऐसा जान पड़ा कि उसके नये आबाद हुए आनन्द देश का ऊर्ध्वगामी सूर्य मानो प्रातःकाल ही उग कर सदा के लिये अस्त हो जाना चाहता हो। मानो समुद्र में नया नया उतारा हुआ "टाइटैनिक" जहाज़ पहिले ही दिन की यात्रा में यात्रियों समेत डूब रहा हो! परन्तु वह दिल जिसमें कुछ घन्टों के लिये वर्षों के खोये आत्मसम्मान को पा जाने के कारण दीपावली रात के दो दिन पहिले ही मानो समस्त विश्व को प्रकाशित कर देने वाली दीपावलियाँ जगमगाने लग गई हों इतनी जल्दी कैसे बुझ सकता था! उसने बड़ी नम्रता से कहा—"साबजी! खोटी भी तो आप ही लोगों में चला करती है। अगर मैं जानता कि यह खोटी है तो आँख मूंद कर कुँए में डाल देता। आप को धोखा देने न आता। पर अब आ गया हूँ तो इस दुअन्नी को लेकर दो आने की न सही एक ही आने की दे दीजिये। देखते नहीं हैं आज कैसी प्राण-लेवा पुरवा बह रही है! जब यह बहती है तो मेरे तन का रोआँ रोआँ भभर उठता है और पीड़ा असह हो जाती है। आप जानते हैं कि मैं ऐसे ही बुरे वक्त आपकी शरण में आता हूँ।"

नन्दन ने कुछ सोचकर एक खाली बोतल में घूंट भर बची शराब ज़मीन पर एक कुल्हड़ रख कर उसमें ढाल दी और दुअन्नी लेली। उसे धोकर अपनी रूमाल के टोंक में बाँध लिया। कथा के लिये बताशा और फूल-माला वह ख़रीदते आये थे। इत्तिफ़ाक़ से आरती में देने के लिये उनके पास इकन्नी या दुअन्नी नहीं थी। वह भी बड़े मजे में उनके पास हो गई! उस बोहनी के बाद वह अधिक देर बैठना नहीं चाहते थे। इधर आकाश में बादल भी मँडरा रहे थे। दूकान झटपट बढ़ाकर वह कथा सुनने चले।

नन्दन जिस समय साहेब के बँगले पर पहुंचे कथा क़रीब क़रीब समाप्त हो चुकी थी। अपना चढ़ावा चढ़ाकर वह दुअन्नी थाल में डालकर उन्होंने आरती ली। साहेब के बँगले में आँगन नहीं था। पानी गिरने की भी सम्भावना थी। इसलिये बगल के एक कमरे में कथा का आयोजन था। उस कमरे को थोड़ी ही देर बाद 'केलनर' की ओर से आये हुये बावर्चियों के लिये अंडे-बिस्कुट व बोतल-गिलास का गोदाम बनना था क्योंकि तमाम अफ़सरों को अंगरेज़ी ढंग के खाने-पीने की दावत दी गई थी। अतः सब काम जल्दी-जल्दी समाप्त हो रहा था। एक नौकर रह रह कर जल्दी जल्दी के लिये कह जाया करता था। कथा समाप्त होते ही कुछ लोग प्रसाद लेकर और कुछ लोग बिना लिये ही जल्दी जल्दी वहाँ से चले गये।

पंडित जी को चार आने ऊपर पाँच रुपये मिले थे। पाँच रुपयों को तो उन्होंने बहुत कस कर गाँठ में बाँध लिया और दो दुअन्नियाँ उन्होंने घर लौटते

समय बाज़ार में सत्यनारायण-कथा की एक नई पुस्तक मोल लेने के लिये ऊपर ही रखीं। उनकी फटी पुस्तक का डिप्टी साहेब ने मज़ाक़ उड़ाया था और उन्हें यह बात लग गई थी। उन दो दुअन्नियों में से एक को उन्होंने ज़रा शंकित निगाह से देखा जैसे वह कभी उनके हाथ में आ चुकी हो। फिर दोनों को एक साथ हाथ में लेकर उसे अधिक ग़ौर से देखा और तब जान गये कि दग़ैल साँड़ की तरह उस पर भी जान बूझकर कस्या के दाम निर्भय विचरण में सहायक होने के लिये लगाये गये थे।

रास्ते में पंडित जी को बाज़ार में किसुनदास अग्रवाला ने प्रणाम किया। पंडित जी ने उन्हें आशीर्वाद देकर आश्चर्य से सांकेतिक भाषा में पूछा—"अरे क्या लौट आये! रोज़गार कुछ हुआ या नहीं?" किसुन दास ने कहा—"जो व्यापारी आने-वाले थे आये ही नहीं। मैं भी आज दोपहर ही लौट आया। आपने जो अच्छत-सुपारी दी थी वह भी रास्ते में कहीं खसक गई।" पंडित जी ने कहा—"फ़िक्र मत करो! इस बार मैं जो पूजित सिक्का दूँगा उसे साथ रखने से "व्यापार" में हज़ारों का लाभ होगा। मैं आज ही रात पूजा करके उसे बाँध रखता हूँ। कल तड़के आकर ले जाना।" पंडित जी किसुन-दास को फिर अच्छत सुपारी के साथ वही खोटी दुअन्नी बाँधकर देने का विचार कर इस चिंता से बच गये कि वह सत्यनारायण की कथा की पुस्तक का मोल बन सकेगी या नहीं।

गीत

श्री 'विनोद'

मादक पवन, विमोहक अम्बर, जीवन मय जन-गण वाणी।
मुक्त मुदित मानव प्राणी।
रजत हिमानी धौत धरातल,
शुभ्र सरित सरिता में कलकल,
घोर निशा अवसाद विगत भव—
प्रकृति स्वगति में चल अपने बल,
जन-मन मयी मनुज-प्रज्ञा अब भाव विभव जन कल्याणी।
मुक्त मुदित मानव प्राणी।
तरु जन जन से बोल रहे हैं,
सुमन हास से तोल रहे हैं।
जन-जीवन से तान मिलाकर—
प्राण-सुधा-रस घोल रहे हैं,
परिणय-विमुध प्रकृति का कण कण पाकर मुक्त मुदित प्राणी।
मुक्त मुदित मानव प्राणी।
दूर गगन के झिलमिल तारे,
बात बताते किरन सहारे,
नभ ने राह दिया मानव को—
नक्षत्रों ने आज पुकारे,
अणु-परिमाणु त्वरित गति संस्कृति सब में जय-जन वाणी।
मुक्त मुदित मानव प्राणी।

अनाम स्वामी

श्री जैनेन्द्रकुमार

श्री जैनेन्द्रकुमार हिन्दी साहित्य के अग्रगण्य औपन्यासिक और कहानीकार हैं। उनके अनेक उपन्यास और कहानी-संग्रह काफ़ी प्रसिद्धि और कीर्ति पा चुके हैं। प्रस्तुत उपन्यास 'अनाम स्वामी' जैनेन्द्र जी की नवीनतम कृति है और हमारे अनुरोध पर उन्होंने इसे 'विश्ववाणी' में धारावाहिक रूप से देना स्वीकार किया है। इससे पूर्व जैनेन्द्र जी का 'त्यागपत्र' नामक उपन्यास प्रकाशित होकर पाठकों में विशेष ख्याति प्राप्त कर चुका है। एक तरह से इस उपन्यास को हम उसी 'त्यागपत्र' का उत्तरार्ध कह सकते हैं। सर पी० दयाल 'त्यागपत्र' पुस्तक में हरिद्वार जा बसे हैं। उसमें जो आवर्तन और परिवर्तन चलते हैं प्रस्तुत उपन्यास में उन्हीं का चित्रण है। उपन्यास के उपलक्ष से इसमें एक प्रकार के जीवन तत्व की चर्चा है। —सम्पादक

प्रारम्भिक

हाईकोर्ट की प्रधान जजी से सर पी० दयाल के त्यागपत्र की कथा छप गई है। अनन्तर हरिद्वार-प्रवास में उनकी अनाम स्वामी से भेंट हुई। स्वामी उनके पुराने सहपाठी थे। वह फिर जहाँ तक बना हर सप्ताह स्वामी के पास जाते रहे। स्वामी के साथ उनकी बातचीत का विवरण हाल में ही उनके काग़ज़ों में मिला है।

आगे वही सम्वाद हैं। कुछ को यहाँ स्थान नहीं दिया जा रहा है। वे गूढ़ थे और सबके काम के न होते। स्व० सर दयाल के पौत्र के सौजन्य से ये हमको प्राप्त हो सके हैं। कहीं कहीं व्यक्तिगत विगत को कम करने के अतिरिक्त हमने उन्हें नहीं-जितना छुआ है।

(१)

आज मैं अपना भाग्योदय मानूं। प्रबोध को कितना याद किया है। पर छुटपन का साथ छूटा कि हम एक दूसरे के लिये खो गये। दुनिया में सब को अपना भँवर है, अपनी कहूँ कि मेरे भाग्य की रेख ने मुझे जज की कुर्सी पर पहुँचाया। अभाग्य का व्यंग देखिये कि मुझे दहशत होने की जगह उस पद में गर्व भी हुआ। हाय रे! जीव की यह कैसी क्षुद्रता है! आज उस दम्भ की याद भीतर से मुझे खा रही है। और प्रबोध—वह अनाम स्वामी है! प्रभु की कृपा मानूं कि प्रबोध अंत में मुझे मिल गया और अनाम स्वामी के रूप में मिला। जीवन भी क्या लीला है! दुनिया के लोग जो चाहते हैं मैंने वह सभी कुछ पाया। पर आज मैं ही भीतर से कितना दीन हूँ। दीखता है कि प्रबोध को वह कुछ नहीं जुटा, पर अकिंचन होकर वही कैसा ऐश्वर्यशाली है! आज उसके आगे मैं याचक हूँ और वैसा होकर धन्य हूँ।

पर अब प्रबोध न कह सकूँगा। अब तो मेरे लिये भी वह अनाम स्वामी हैं, जैसे सबके लिये हैं। वह मुझसे बराबरी का नाता मानें, पर मैं ढीट कैसे बनूं। मुझ पर संसार की जकड़ है। वह उसके बीच अनासक्त हैं। क्या मैं उनका बीता वृत्त जान सकूँगा? उन्होंने विवाह किया? सन्तति हुई? इस हालत में कब से और क्यों हैं? पहले उनका जीवन क्या था? बीच के झमेले क्या हुए? संसार से ऐसी उत्तीर्णता किस भाँति पायी?

मुझे और भी जानना है। मुझे बहुत कुछ जानना है। मुझ में प्रश्न हल नहीं होता। मैं जीवन के दिन ढो रहा हूँ। दिन मुझे ढो रहे हैं। या तो कभी आत्म-गर्व था, या अब आत्मग्लानि है। सोचता हूँ समभाव भी कभी मुझे मिलेगा? ईश्वरमय जीवन की कल्पना तो मुझ में उठती है। इन स्वामी से तो वह और मूर्त हो रहती है। पर अपनी ज़िन्दगी

का क्या करूँ जो श्रद्धा पर नहीं, धन पर चल रही है? कोठी है, स्वजन-परिजन हैं, नौकर-चाकर हैं, मान-प्रतिष्ठा है, पत्र-पुस्तकें हैं। क्या यह सभी कुछ बाधा नहीं है? परिग्रह नहीं है? मेरी भारी लाइब्रेरी जिसकी विद्वान सराहना करते हैं, मेरे उतने ही भारी लोभ और अज्ञान का प्रमाण नहीं है? किताबें मुझे घेरे हैं। घेरे क्या वह ज्ञान है? ज्ञान क्या मुक्ति नहीं देता? पर कपड़े मेरी लज्जा को और किताबें मेरी मूर्खता को ढाँपती हैं। पर कहाँ, अब तो मेरे निकट वे उसे उघारती ही हैं। तो भी क्या हो, मैं अवश हूँ। परमात्मा को मानता हूँ, लेकिन क्या सचमुच मानता हूँ? तो फिर अपने को और पैसे को मानने की ज़रूरत में क्यों हूं? अर्जी क्या सत्कर्म था? क्या उसका प्रायश्चित ही मुझे नहीं उठाना चाहिए? पर मैं उल्टे उसी की आय पर सब सुख-सुविधा अपने चारों ओर जुटा कर बैठा हुआ हूँ। क्यों इस सबको मैं लुटा नहीं देता? क्यों वह बटोर रखा है जो यहाँ कूड़ा है, कहीं और होकर खाद की तरह पोषक होता? लाखों भूखे हैं, अपाहिज हैं; अनाथ हैं। जितना मुझ एक पर ख़र्च हो रहा है उससे जाने कितने अधमरे बालक जी उठते। पर क्या वह मुझसे हो सका है? उन सबके दुख के बीच मैं अपने को सुविधा से घेर कर जिए चला जा रहा हूँ। किताबों की मोटी मोटी जिल्दें हैं; कोठी की मोटी मोटी दीवारें हैं; स्वजन परिजन हैं; नौकर-चाकर हैं। इसीलिये न कि बीच में ये आ रहें और दुखियों का दुख और भूखों की भूख मुझे छू न पाये! सृष्टि से मुंह मोड़कर मैं स्रष्टा को पाना चाहता हूँ। सन्तान का तिरस्कार करके मैं पिता का सत्कार पाना चाहता हूँ। नर से मुंह मोड़कर मैं नारायण को पा जाऊँगा। बुद्धि को फुसला कर मैं किताब में शान्त हो लूँगा। सबसे बचकर अपने में पूर्ण हो रहूँगा। हाय रे, मेरी अहंता! मैं एक ही साथ क्यों नहीं जान लेता कि पूर्ण होकर शून्य हो रहता है।

मैंने अनाम स्वामी से अपना दर्द कहा। वह बोले "दर्द को दूर करना क्यों चाहो? वही तो आदमी का हक़ है। इस इकले अपंग स्वत्व को खोकर आदमी कमाल ही न बन जायगा? जड़ हैं जो सुखी हैं। जो है सो विधना का विधान है। उसे झेलो क्यों सम्पन्न करो। झुंझलाओ मत। भीतर दर्द है तो जान लो कि उसकी कृपा भी है। फिर क्या चाहिये?"

किन्तु स्वामी की सन्तोष की सीख क्या मैं अपना रहूँ? नहीं, इतनी ठगी अपने साथ न कर सकूँगा।

सोचा है कि तब एक काम करूँ। स्वामी के समीप चित्त शान्ति पाता है। उनमें विरोध लय है। बौद्धिक से अधिक मैं क्या हो सकता हूँ? समर्पण विसर्जन की मुझमें सामर्थ्य नहीं। इससे मौखिक चर्चा कर लेने के ही मैं योग्य हूँ। वही फिर लिख लिया करूँगा। मन में 'क्यों' और 'क्या' का प्रश्न चुप हो पाता नहीं है। बुद्धि की शान्ति श्रद्धा में है। कर्म स्वभाव में से और सात्विक कर्म श्रद्धापूर्वकता में से जागेगा। उस बारे में मैं निराश हो चुका हूँ। अतः बुद्धि की अशान्ति तो मेरी मिटनेवाली नहीं। अशान्त है, तब तक वह वंध्या भी है। तो भी क्या किया जाय। यही है कि बात करूँ, ताकि ख़ुद ही सुनूं। लिख लेने से यह सुविधा होगी।

(२)

स्वामी के आश्रम को लोग जानते हैं। सुनकर मैं भी जानता था। अनाम वहाँ आकर बसे तब एक दम सुनसान था। अब तो वहाँ आश्रम है और बस्ती है और व्यवस्था है। स्वामी ने यह किया नहीं, हो गया है, जैसे बीज से वृक्ष होता है। उनकी जगह अब भी वही अकेली कुटिया है। फूस की है और छोटी है। आस-पास ज़रूर पक्के और बड़े कुछ मकान खड़े हो गये हैं। क्योंकि उन्हें अकेला नहीं रहने दिया गया, न उन्होंने आ गये को बाहर किया। आया और जम रहा, वह रह गया। नहीं झेल सका वह लौट गया। इस तरह स्वामी का कुनबा आज अजब बन गया है। नाना नमूने उसमें हैं। कुछ एकदम अपढ़ हैं, तो कोई चोटी के विद्वान। कोई अनाथ तो कोई राजपुत्र। सब की विषमता उन

स्वामी में सम हो जाती है। सब अपने को उनके एक से पास पाते हैं। पर वह भक्त सबसे दूर भी है। सब में होकर अलग, अनेक के बीच एक। मैं इसका भेद नहीं पकड़ पाता हूँ।

पहुँचा तब शाम थी। अपनी कुटिया के बाहर गौ नन्दिनी के गले पर हाथ फेरते हुए उसे सानी दे रहे थे। झुककर मैंने चरण रज लेनी चाही। पर अध-बीच उन्होंने हाथों पर ले लिया और मुझे देखा—

मैंने संभ्रम से कहा, "सिर्फ़ दर्शन की चाह से आया था। बाधा के लिये क्षमा करें।"

हँसकर बोले—"बाधा तो नहीं, पर बाहर मोटर आकर रुकने की आवाज़ के इतने साथ कोई आ जायगा, यह आशा न थी—करुणा! नन्दिनी को देखना, मैं चला।"

कहकर उन्होंने सानी को हाथ डालकर ठीक किया। एक हाथ से गौ को थपथपाते, सानीसने हाथ को नाँद पर झटक कर, मुड़कर मेरी ओर देखते हुए बोले—"दर्शन ही क्यों? बात भी हो सकती है। अन्दर चलें?"

कहकर प्रतीक्षा नहीं की और मुझे लेकर चल दिये। देखा कि एक युवती, करुणा, गौ की ओर आ रही है।

स्वामी बोले—"अब डरती तो नहीं हो न?"

युवती डरने के अभियोग को सिर झुकाकर इन्कार करती हुई, सादा मुंह से बिना कुछ उत्तर दिये हमारे पास से बढ़ती चली गई।

कुटिया के द्वार पर एक पेड़ के इर्द-गिर्द गोल चबूतरा बना था। वहाँ बोले—"बैठो, मैं आया।"

हाथ धोकर वह लौटे। मैं भी उठकर खड़ा हो गया। खड़े ही खड़े हँसकर पूछने लगे, "यहाँ अभी शायद और कुछ नहीं देखा। देखोगे?"

निवेदन किया कि मैं तो आपके पास आया हूं।

"तो और कुछ नहीं देखना चाहते?"

कहा कि यहाँ सब आप ही की तो छाया है।'

शीघ्रता से के बोले—'नहीं नहीं, आश्रम ख़ुद अपना है। सब का स्वत्व अपना है।

"आश्रम आपही ने तो—आपकी छाया—"

बोले, "नहीं, तो क्यों छाया सब ईश्वर की है। मैंने कुछ स्थापित नहीं किया। मेरा संसार इतना [कहकर उन्होंने अपनी कुटिया की मर्यादा दिखलाई] है। बाक़ी वहाँ जो है, उनका है।"

मैंने कहा, "मुझे केवल आपके दर्शन की लालसा थी।

बोले, "वह तो हो सकती है। अख़बार बहुत कुछ कर सकते हैं। लेकिन क्या तुम सचमुच मुझे नहीं जानते? अच्छा, बैठो तो।"

यह कहकर एक हाथ से कंधा दाब कर मुझे फिर उसी चबूतरे पर बैठा दिया। मैं बैठ तो गया, पर उनको सामने देखकर अविनय जान फिर उठने लगा। तब बोले, "मैं खड़ा हुआ क्या इतना बुरा लगता हूँ कि तुम शरमाओ? तो तुम सचमुच मुझे नहीं पहचानते?—अजी छोड़ो, यह तो बुरा नहीं हुआ, पर हरिद्वार में तुम्हारे रहने की जगह कहाँ है? और क्या विचार है?"

मैं जीवन में पहली बार उनसे मिला था इसे सुनकर मुझे असमंजस हुआ।

स्वयम् ही बोले—"तुम सोचते होगे कि यह स्वामी जाने कौन है। तुम शायद कभी यह भी सोचते हो कि वह तुम्हारा साथी प्रबोध क्या हुआ? क्यों, नहीं सोचते?"

सुनकर मैंने ऊपर देखा। देखा, और याद किया। कुछ सहारा मुझे नहीं मिला। समझ उन महात्मा की गम्भीर मुद्रा को देखकर कि वह इतना कुछ सहज जान सकते हैं। पर लाख चेष्टा करने पर भी उस मूर्ति में महात्मा के अतिरिक्त और कुछ मैं न देख सका।

वह बँधी दृष्टि से कुछ देर मुझे देखते रहे। अनंतर बोले, "उस प्रबोध को तुम न पहचान सकोगे, यह शायद तुमने अपने लिए कभी सम्भव न माना होगा। पर सच जानो।"

एक क्षण तो मैं स्तब्ध रह गया। फिर आँखें मान गईं और उठकर एकदम मैं उनके गले लग

गया। पर इतने पर उनकी सौम्य मूर्त्ति देख, अपने इस साहस पर मैं लज्जित भी होने लगा।

उस समय एक ही साथ मैंने बहुत जान लेना चाहा। यह क्या, कैसे, क्यों घटित हुआ? प्रबोध कहाँ रहा? इन महात्मा में वह किस विधि विलीन हो गया? बीच के लम्बे लम्बे तीस-चालीस बरसों का क्या हुआ?...तब क्या इनको संसार नहीं लगा? उसकी आधि-व्याधि नहीं व्यापी? उसका परिणाम—परिग्रह नहीं छुटा? बंधु-बांधव, इष्ट-मित्र, अपने-सगे—तीस-चालीस बरसों के जीवन व्यापार से क्या यह कुछ जगजाल इन्हें बाँधने के लिए नहीं खिंचा? मैंने जानना चाहा कि इनमें वह कहाँ है जिसको भव-बाधा कहते हैं? माया का खटराग बीच में से कहाँ तिरोहित हो गया है? बाल-बच्चे, नाती-पोते, धन दौलत, मान-बड़ाई—यह सब कुछ कहाँ छूट गया है? इस पुरुष की हिसाब-बही क्या एकदम साफ़ और बेबाक है? नहीं-नहीं, पचास-पचपन साल की ज़िन्दगी की खाता-बही रोकड़-बाकी और देना-पावना से इस तरह एकदम साफ़ कैसे हो सकती है!

सो ही मैंने जाना चाहा। पर उन्होंने कहा कि भाई, सब ईश्वर का है और जिसके अर्थ भविष्य शेष हो वह भी क्या याद रखने के लिए अपना भूत पास रक्खे?

मैंने साग्रह पूछा कि अनाम स्वामी का यह चोला कैसे ऊपर आ गया?

बोले कि मैंने कहाँ कुछ ऊपर लिया? यहाँ अकेला आ बसा था। लोगों ने नाम तक नहीं पूछा। कुछ बाद आप ही वे स्वामी कहने लगे। फिर वे ही अनाम स्वामी कहने लगे। इस तरह यह बेनाम का नाम मुझे मुफ़्त में ही मिल गया है।

"और प्रबोध का क्या हुआ?"

"मैंने उसका भी कुछ नहीं किया। वह मुझसे आप ही छूट गया। अब तुम हो जो मुझे प्रबोध जानते हो। दूसरा शायद नहीं ही है। सो तुम प्रबोध कहो और बाकी से भी प्रबोध कहलाओ तो मैं तो आज भी प्रबोध बना हुआ हूं। पर छोड़ो, अचरज न खाओ। विधि की करनी अपार है। उसे कुरेदने में कुछ नहीं है—हाँ, आज यहाँ रहोगे न?"

"अभी तो जाऊँगा।"

"अच्छा, पता पाया कि तुम इतने पास हरिद्वार आ गये हो तो सोचता था कि तुम्हें अपनी ख़बर दे दूँ और तुम्हारी भी ख़बर ले लूँ पर फिर विधि पर सब छोड़ दिया। सो चलो, आज तुम्हीं आ गये।"

मैंने कहा कि आप साथ चल कर मेरे स्थान को पवित्र कर सकें तो मैं कृतार्थ होऊँ।

बहुत हँसकर वह बोले कि धर दयाल, अदालती भाषा तो एक दीन की कुटी पर मत बोलो। 'आप' कहकर तुम्हारी यही न मंशा है कि तुम्हारे निकट तक मैं तनिक प्रबोध न रह पाऊँ। क्यों नाहक इतने कठोर होते हो? पर मुझे वहाँ कहाँ ले जाओगे? यहाँ देखो, कितना खुला है।

मैंने कहा कि अच्छा, तो मैं आया करूँगा।

मैं चला आया और उस दिन से उनके ढिग पहुँच सका तब तक बेचैन ही रहा।

(३)

मैंने पूछा—"पचास बरस की ज़िन्दगी के संस्कार मुझ में गहरे बिंध गये हैं उनसे छुटकारा कैसे मिले?"

बोले—"छुटकारा क्यों मिले?"

अचरज में उनकी ओर देखकर मैंने कहा—"हाईकोर्ट का जज होकर आरामपसन्द कोई न हो तो हो जाय। तनख़्वा ज़रूरत से इतनी ज़्यादा जो मिलती है। अब हाईकोर्ट में नहीं हूँ, पर आराम की आदत बाक़ी है। उससे कैसे छूटूं?"

स्वामी बोले—मैं समझा। पर आराम बुरी चीज़ तो नहीं है। मैं दिन में सोता हूँ। तुम चाहते क्या हो? तप तपना चाहते हो?

मैंने कहा—"हाँ। बर्त्तन को रगड़ कर माँजते हैं, तब चमकता है। आदमी मंजने से निखरेगा।"

स्वामी हंसकर बोले, "हाँ, शायद। पर बर्तन कब कुछ चाहता है? मालिक का काम मालिक देखेगा। अरे भाई, बर्तन जो मांजता है सो इसलिये कि फिर उसे चूल्हे पर रखे। वहाँ काला होगा कि

फिर माँजा जायगा। और उजला होगा कि फिर चूल्हे के सौंपा जायगा कि काला पड़े। सुना नहीं कि तप का फल भोग है। जो भोग चाहे वही तप चाहे। पात्र का काम पात्र रहना है। उजले-काले की बात जाननेवाला जाने।"

मैं समझा नहीं। मैंने कहा—"तो क्या मैं आराम में भूला रहूँ और समझूं कि सब ठीक है?"

बोले, "भूलने को नहीं कहता हूँ। भूले तो न रहो। तो भी जो है उसको तो आरम्भ के लिये ठीक सही मान ही लो। यों ज़िन्दगी क्या मंज़िल है जो सही या ग़लत हो। वह तो सफ़र है। जारी है तो ठीक, रुका कि ग़लत। असल में तो परमात्मा से दूसरा यहाँ सही क्या है?"

मेरा कांटा न गया। मैंने कहा—तो सब बखेड़ा साथ रखूं! कोठी मोटर! नौकर-चाकर! पैसा-जायदाद!

बोले "नहीं तो क्या—"

"तब भी कि मैं जानता हूँ कि वह मेरा हक़ नहीं है?"

वह हँसे, बोले, "तुम जानने वाले कौन? तो भी अगर जानते हो कि वह हक़ नहीं है और इस जानने से छुटकारा नहीं पा सकते, तो इसी घड़ी सब तुम से छूटा हुआ क्यों नहीं है। पर मैं कहूँ कि तुम अभी यह नहीं जानते। जान लिया कि यह अंगारा है तब भी क्या कोई उसे पकड़ेगा? भ्रम है कि यह लाल रतन है, तभी तक उसमें तृष्णा हो सकती है। सुनो, तुम अभी यह नहीं जानते कि जिसे धन-दौलत कहते हैं, वह बोझ है। अभी तुम उसे धन-दौलत ही जानते हो। इसी से छोड़ने की बात करते हो। दौलत को दौलत मानकर उसे छोड़ नहीं सकते। उसे कोस सकते हो और उसके लिये अपने को कोस सकते हो। पर जब तक वह दौलत बनी है, तुमसे नहीं छूटेगी। मैल को छोड़ने के लिये तुम मुझसे नहीं पूछोगे। पैर में तुम्हारे कीचड़ लग जाय तो मुझ तक आने के लिये ठहरोगे क्या कि इसे धो दूं? इसीसे कहता हूँ कि दयाल, धन छोड़ने की बात न सोचो। धन छोड़ने से नहीं छूटेगा, सिर्फ़ क्लेश ही हाथ आयेगा। हाँ, मैल आदमी अपने से उतारता है और ऊपर लदा बोझ भी फेंकना चाहता है। जो तुम्हारे लिये अभी बोझ और मैल और मुसीबत नहीं बन गया है—जिसके लिये तुम्हारे मन में है ही कि वह धन है—न, उसे छोड़ने के लिये मैं न कह सकूंगा। उसे छोड़ते भी तुमसे बनेगा नहीं। बस, ऐसे अपने से झगड़ा ही मोल लेते रहोगे। और जिस पल धन तुम्हारे लिये मिट्टी हो रहेगा, तब इतना भी नहीं कि तुम उसे छोड़ने की सोचो। वह आप ही छूट रहेगा, धन छोड़ना कोई इसीलिये चाहता है कि अभी उसे उसमें तृष्णा है। और तुम्हारे छूटने का जब क्षण आएगा तब छोड़ने की बात तक सोचने का तुम्हें अवकाश न रहेगा। विष्ठा वस्त्र पर पड़ जाय तो क्या उसके बारे में सोचना पड़ता है?—"

"धन विष्ठा है?"

स्वामी ने हँसकर कहा—पर विष्ठा तो धन है। अरे भाई, धन और विष्ठा में अन्तर मानकर खाद में से तुम कंचन न उपजा सकोगे। पर कैसी बात करते हो? धन यदि मल हो तो उसे छोड़ने की बात क्या तुम किसी से पूछने बैठो? और तब मैं ही क्या सलाह दूं कि उसे न छोड़ो? मैं यही कहता हूँ कि तुम जहाँ हो वहाँ धन धन है और विष्ठा नहीं है। इसी से कहता हूँ कि तुम्हारे लिये उसे छोड़ने की बात वृथा है। आओ उसके उपयोग की ही बात करो। दूषण ही किसी से छूटता है, गुण नहीं छूटता। भले भाई, धन का गुण तुम्हारे मन से मिटा नहीं है। तुम तो ख़ुद जानते हो कि वह उपयोगी होता है। यह ज्ञान रखते हुये वह तुम से कैसे छूटेगा? इससे उपयोगिता के दायरे में ही उसका विचार करना उचित है। उसकी अनुपयोगिता की बात मेरे लिये छोड़ दो। मैं हूँ इतना अज्ञान कि उस अनुपयोगिता को समझ सकूं। धन मुझे आश्रम में असह्य है, लेकिन यहाँ की विष्ठा को अकारथ नहीं जाने देता हूँ। मुझे धन पाप और श्रम सत्य मालूम होता है। धन में उपयोगिता है तो इस अपेक्षा कि यह श्रम का प्रतीक

है। श्रम का साथ छूटा कि सिक्का कोरे झूठ का साधन हो जाता है। आज बहुत कुछ वैसा है। पर वह मेरी बात है। तुम तो उपयोगिता के मार्ग में ही उसकी बात सोचो।"

कुछ देर मैं चुप रहा। फिर पूछा, "तो मैं कुछ न छोड़ूं?"

"न।"

"कभी नहीं?"

"कभी नहीं।"

"ऐसे क्या मुक्ति हो सकेगी?"

"न, नहीं हो सकेगी। पर भलाई हो सकेगी। यह सही है कि एक जगह भलाई भी मुक्ति में बाधा है। पर उस जगह तक तो भलाई भली ही है।"

मैंने कहा—"यानी एक दिन जाकर सब छोड़ना होगा, यही न?"

बोले, "हाँ, पर छोड़ने का दिन आयगा तब पूछने का दिन जा चुका होगा। इसी से पूछते हो तो मैं यही कहूँगा न छोड़ो। जब तक पूछोगे यही उत्तर होगा। यदि परमात्मा है तो उसको पाने के लिए किसी को छोड़ने की बात कैसे सोची जा सकती है? उसको पाना सबको सब कहीं पाना और सब उसको पाना है। उस पाने की राह में ही कुछ छूटे तो छूट सकता है। अंश इसलिये छूटे कि पूर्ण मिले। माला के मनके हाथ से एक-एक छूटते हैं तभी जप चलता है। मनके को पकड़ना जाप को छोड़ना है। पूर्ण पुरुष तपस्वी नहीं होता। तपस्वी पूर्णता का प्रार्थी होता है। इससे त्याग और तप की बात जो तुम करते हो सो मैं नहीं जानता। जो दीखने में आता है वह हिंसा त्याग और तप है। उसके अंतरंग में तो है प्राप्ति और रस। त्याग आत्मप्राप्ति का और तप आत्म-रसोपलब्धि का बाह्य है। फल के छिलके पर लोभ क्यों? फल के सार के लिए छिलके को छील देना होता है। इससे इष्ट त्याग का भी त्याग है। अन्तरंग साधो तो बहिरंग अनायास सिद्ध होगा। सिद्धि के साथ वह व्यर्थ भी हो रहेगा। यही कहता हूँ कि त्यागो मत, तपो मत। ब्रह्म लाभ करो और ब्रह्मानन्द चाखो। निषेध के पीछे पड़ने को तुम्हें कैसे कह सकता हूँ। इन्कार में से आलोचना जन्म लेगी। प्रेम स्वीकार में से जनमेगा। आत्मघात पाप है। मैं कैसे कहूँ कि तुम अपने को काट कर छोटा कर लो। विशद बनने के लिये अपनी ओछाई को ही काटो। पर ओछाई को काटने के बारे में क्या दो रायें हैं कि कोई किसी से पूछने बैठे?"

...यह सब बातें मैं एक साँस में लिख गया हूं। अभी स्वामी के पास से लौटा हूं और उनके वचन ताज़ा हैं। मैं उनके भाव को पूरी तरह भीतर ले सका हूँ सो आश्वास मुझे नहीं है। उनकी बातें कुछ पकड़ में नहीं आतीं। जैसे उनके सब ओर फल है, बेंटा तो है ही नहीं! चार किसी ओर नहीं है कि दूसरी तरफ़ से पकड़ने से बुद्धि न कटे। चारों तरफ़ पैने किनारे हैं कि बुद्धि किसी ओर से उसे छूती है कि क्षत-विक्षत हो रहती है। बँधी और रुकी कोई धारणा उनका परस पाकर अपनी कुंठा और आग्रह में सुरक्षित बच नहीं सकती। ऐसी निर्गुण और निराकार बातों को सहारा कैसे जाय? रोका कैसे जाय? कुछ भी जैसे वह नहीं कहतीं। पर उनमें चैतन्य ऐसा है कि जीती बिजली। सुननेवाला स्फूर्ति से सिहर रहता है। पर सोचते चलो तो उन पर कुछ सोच नहीं मिलता। शब्दों की वह परस्पर संगति ही स्मृति में फिर जुट नहीं पाती। स्वामी में कुछ है जो शब्दातीत है। शब्द के सहारे वही कुछ चिन्मय तत्व हम तक पहुँचता है। पर पहुँचता है कि शब्द भीतर खो रहते हैं और प्रभाव प्राणों में लय हो जाता है। बाद फिर किसी भी अर्थ के सहारे उस प्राणोपलब्धि को पकड़ने की कोशिश वृथा होती है।

आज मैंने आश्रम भी देखा। उस बारे में मुझे कुछ नहीं कहना है। बत्ती पर चिमनी देते हैं तो समझा जाता है कि रोशनी उजली होती है। होती हो, पर एक तरह ऐसे वह घिरती भी है। तो भी निरे प्रकाश से हमारा काम कैसे चले? दिये-बत्ती के साधन से उसे बांध लेते हैं, तभी काम चलता है।

इसी तरह सम्भव है कि अपनी संस्था द्वारा स्वामी हमें सह्य बनते हैं। ऐसे वह हमारे निकट बनते हैं। पर यह भी सच है कि संस्था उन्हें हमसे छेकती है। संस्था वह दल है जिसमें से पार होते-होते स्वामी की किरनें तिरछी पड़कर नाना रूपमयी बनती हैं। धरती के चारों ओर धूल भरी वायु का पटल न हो तो सूरज की किरणों से तबाही हो जाय। धूल का पटल जड़ है; रोशनी को छेकता है; उसकी बहुतेरी विशेषताओं को चुका और चूस लेता है। ऐसे ही वह हमारी सहायता करता है। अन्यथा तो सूर्य के सत्य-दर्शन में वह धूल-वलय बाधा ही है। संस्था के कारण उस भक्त की अग्नि उपयोगी होकर जगत को मिलती है, यह सही। पर मैं संस्था को बीच में लेकर उनको न पा सकूंगा। संस्था नैमित्तिक अधिक और चिन्मय कम है। इसी से वह भक्त के प्रभाव को सह्य और धीमी और इसलिए किंचित प्रयोजनीय बनाने में सफल होती है। तभी है कि उनके आश्रमवासी खुद उस ज्योति से जल नहीं जाते, न उजलते हैं, जो दुनिया को उजाला दे रहा है। सचमुच मुझे अचम्भा है कि प्रकाश-पुंज की शक्ति उन्हें अधिक काल उनके निकट टिकने ही कैसे देती है, भस्म क्यों नहीं कर देती? पारस के परस से जो सोना नहीं हुआ, समझना होगा कि वह लोहा तक नहीं है।

सूरज से आग लेकर धरती दूर आ पड़ी। तभी वह अपने क्षेत्र में अपने उपग्रहों के बीच सूरज का काम पूरा कर रही है। धूल जो सूरज का ताप बीच में सोख जाती है सो आदमी का उपकार करती है। पर बची-खुची धूप का ताप फिर भी तो आदमी को असह्य हो जाता है और वह छत बनाकर अपने को बचाता है। तथापि वह ताप की शक्ति को जानता और उस सूर्य-ताप से तरह-तरह के काम लेने की चेष्टा करता है। मनुष्य की चेतना और धूल की जड़ता का यही प्रमाण है। चेतन के लिए थोड़ा भी बहुत है। जड़ के लिए बहुत भी कुछ नहीं है।

आश्रम देखकर मुझमें हुआ कि क्यों इन आश्रमवासियों में इतनी सामर्थ्य नहीं है कि स्वामी के पास से स्फूर्ति लें और फिर निकल पड़ें कि ऊसर हरियाले हो जायें। वहाँ से लें कि जग भर को दें। क्यों ये लोग यहीं के यहीं धूप में सिंक सिंक कर अपने सिकने के गर्व में ही बेकाम बने जा रहे हैं?

मैंने इस तरह का अभिप्राय स्वामी पर भी प्रकट किया। बोले, "बहुत होगा तो मैं यहाँ से आसन समेट एक दिन चल पड़ूंगा। पर हूँ, तब तक जो आयें उन्हें कैसे न आने दूँ? सबको अपनी बिथा है। हम किसी के न्यायाधीश कैसे बनें? और अब तो भाई तुम भी जजी छोड़ चुके हो।"

आशय कि आश्रम के सम्बन्ध में मैं उन्हें न जगा सका। कारण, वह पहले से सजग थे। इसी से संस्था के सब कुछ होकर वह उससे साफ़ अलग भी दीखते हैं।

पर अब मैं वहाँ के प्रभाव को अपने से बिखराऊँगा नहीं। इससे उधर जाने के अगले अवसर तक उनके उपदेश का मनन चाहे करूँ, उसके विश्लेषण में न पड़ूंगा।

[क्रमशः]
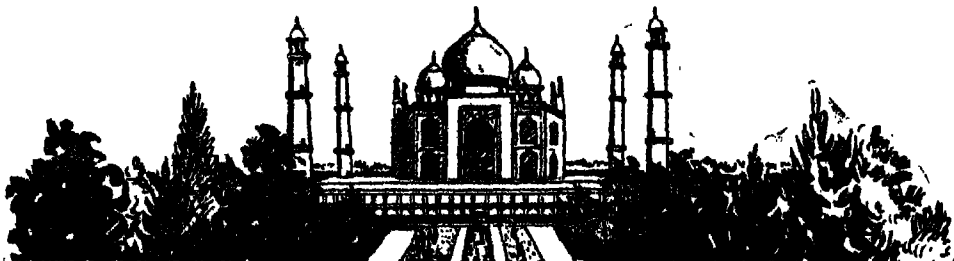
जीवन-चित्र

श्री अम्बिकाप्रसाद वर्मा "दिव्य"

मैंने अपना चित्र बनाया
सम्यक रूप मिलाया अपना
देख मुकुर में छाया।

छाया से भी, अपने से भी,
छवि के कल्पित सपने से भी,
चित्र लगा वह मुझको सुन्दर,
हुआ प्राण से भी अति प्रियतर,
मस्त हुआ अपने कौशल में,
जग को उसे दिखाया।

शैशव बीता, यौवन बीता,
बदल गई जीवन की गीता,
मैंने चित्र उठाया फिर से,
अपना रूप मिलाया फिर से,
देखा, इतना बुरा लगा वह,
फ़ौरन उसे मिटाया।

अपना ही वह लगा व्यंग सा,
लगा न कोई अंग-अंग सा,
ढाँचा था सब ऐंचकताना,
ढीला सा सब ताना बाना,
रंग पड़े थे फीके सारे,
भोंडी सी थी काया।

उसे मिटाते दया न आई,
अणु भी ममता मया न आई,
हानि लाभ भी कुछ न विचारा,
सुख दुख भी कर गये किनारा,
नहीं प्रश्न भी पाप पुण्य का
मन में उठा उठाया।

अन्तर से पर आई वाणी,
तू भी चित्र किसी का प्राणी!
कभी तुझे भी इस सपने से,
भिन्न तुझे पाकर अपने से,
कर अवहेला इसी तरह वह
देगा मिटा अमाया।

दिल का अंधेरा

अख़्तरहुसेन रायपुरी

[यूरोप से मैं यह महायुद्ध छिड़ने के कोई छः महीने बाद लौटा। इसके थोड़े दिन बाद ही फ्रांस की हार हो गयी। कहानी युद्धकालीन फ्रांस के वातावरण से प्रभावित होकर लिखी गयी थी, और पहिले उर्दू मासिक 'एशिया' में प्रकाशित हुई। प्रकाशन के बाद दिल्ली की हिन्दी पत्रिका 'माँ' ने इसका अनुवाद करने का इरादा किया, और मेरे मना करने पर भी इसे तोड़-मरोड़ कर बिना कोई नाम दिये छाप डाला। मुझे इसकी शिकायत है। अब यह कहानी अपने असली रूप में हिन्दी पाठकों की सेवा में पेश की जा रही है—लेखक]

जब रेल की चाल एकाएक सुस्त पड़ गयी और किसी ने हवा में नीली कंदील हिला कर "गार देस्त-पारी"* की आवाज़ लगायी, तो आंद्रे चौंक पड़ा। खिड़की से उसने सिर निकाल कर देखा कि चारों ओर अंधेरा घुप है, और उजाले के नाम पर बस बर्फ़ के वे गाले हैं जो आकाश से लगातार टपक रहे हैं।

आंद्रे को विश्वास न हुआ कि यह उस पेरिस का स्टेशन है जिसे ज्योति नगरी† कहा जाता था। माना कि लड़ाई के दिन हैं। उसे यह याद दिलाने की ज़रूरत न थी, क्योंकि वह ख़ुद लड़ाई के मैदान से हफ़्ते भर की छुट्टी पर आ रहा था। पर यह सदा-रोशन शहर निरन्तर अंधकार में किस तरह जीवन-यापन कर रहा था। आंद्रे को आप ही आप अपनी उस पड़ोसिन का ध्यान आया जो प्रेम के समान सुन्दर थी। पर कई साल बाद जब उसे देखा तो उसकी जवानी ढल चुकी थी, कौमार्य के साथ सौन्दर्य भी विदा हो चुका था, झुर्रियाँ चेहरे पर चलचलाव की झंडी हिला रही थीं। अपने नगर के सन्नाटे और अंधेरे को देख कर आंद्रे को वैसा ही झटका लगा और वह देर तक दम साधे खिड़की का सहारा लिये खड़ा रहा। महीनों बन्दूक़ छतियाये वैरी के सामने खड़े हुए भी जो बात उसकी समझ में न आयी थी वह इस अंधे और अंधेरे शहर को देखते ही साफ़ हो गयी। हाँ, यह सचमुच का युद्ध था—आदमियों के दो जत्थे के बीच, जो एक खिंची हुई लकीर के आर-पार खड़े उस क्षण की प्रतीक्षा कर रहे थे जब उन्हें एक दूसरे को मारने का हुक्म मिलेगा। और उनमें सब से बड़ा कर्त्तव्यपरायण वह होगा जो सबसे ज़्यादा आदमियों को मार डाले।

रेल धीरे धीरे चलती और रुकती हुई देर के बाद प्लेटफ़ार्म पर आकर खड़ी हो गयी। स्टेशन में गहरा धुंधलका था। इधर उधर बिजली के लैम्प नीली ओढ़नियों में सिर छिपाये पड़े थे। आने जाने वाली गाड़ियों का कोई समय नियत न था, जिसे जब मौक़ा मिलता, आ जाती।

फिर भी बड़े दिन आ रहे थे, और थोड़े से सौभाग्यवान सिपाहियों को इस अवसर पर घर आने की अनुमति मिली थी। उनके नातेदार यह तो न जानते थे कि वे कब आयेंगे और अगर आये भी तो अंधेरे में किस तरह पहिचाने जायेंगे। फिर भी वे आस बांधे हर फाटक पर खड़े बाहर जाने वाले यात्रियों को टार्च की रौशनी में निहार रहे थे।

आंद्रे इस भीड़ में घुसकर बड़ी कठिनाई से बाहर निकला। सूखे पेड़ों और सपाट छतों पर बर्फ़ की परतें जम गयी थीं। इस साल सड़कों को साफ़ करने का कोई प्रबन्ध न था, इसलिये बर्फ़ के ढेर हर तरफ़ जमा थे और आँख चूकते ही पथिक फ़िसल कर मुंह के बल गिर पड़ते थे।

---

* पेरिस का पूर्वी स्टेशन।

† City of Light—पेरिस का उपनाम।

हिमपात् का सिलसिला था कि टूटने का नाम न लेता था। स्टेशन के बाहर मौत की सी ख़ामोशी थी। पहिले तो आंद्रे के जी में आया कि कोई सवारी ले और अपने मुहल्ले की राह पकड़े, पर पास से सेन नदी की गीत-लहरी सुनायी दे रही थी। वह उसके बचपन की कहानी गुनगुना रही थी, जब वह नदी-किनारे के एक गाँव में रहता और उसके पानी में नहाया करता था। आंद्रे सूट-केस हाथ में उठाये और कम्बल कंधे पर डाले हुए उस ओर चला और पुल की एक बेंच पर बैठ गया। नदी का पानी बेरंग था और उस पर बर्फ़ की पपड़ियाँ तैर रही थीं। नदी की लहरों पर सदियों का इतिहास लिखा हुआ था, और आसपास के अंधेरे को देखकर उस पर उदासी और हैरानी का कोहासा छाया हुआ था। अभी कुछ महीनों की बात है कि सड़कों और इमारतों से रंग-बिरंगी किरणें निकल कर उसकी लहरों पर तैरा करती थीं। चांदनी रातों में नौकाएं उसकी गोद में नाचतीं और तट पर आश्रयहीनों या प्रेमियों का मेला लगा रहता था। देखते ही देखते यह क्या हो गया। जो भी हो यह अनश्वर नदी काल की गति से भली-भांति परिचित थी। जिस देश के हृदय को चीर कर उसकी राह गुज़रती थी, उसे वह प्रथम दिन से जानती थी। और बहते बहते जब उसकी गहराइयों से ख़ून की वे बूंदें छलक आतीं जो यहां के रहने-वालों की तलवार से टपकी थीं, तो दरिया जोश में आता और उसका प्रवाह तेज़ हो जाता।

आंद्रे बहते हुए पानी की रागिनी को ख़ूब समझ सकता था, क्योंकि उसके अपने शरीर की महक, उसकी अपनी आवाज़ की लहक इसमें छिपी हुई थी। तबीयत के भारीपन को झटक कर उसके दिल ने कहा—नहीं, यह नगर अमर रहेगा क्योंकि उसकी काया चाहे ईंट पत्थर से बनी हो, पर उसकी आत्मा अमर ज्योति में सनी हुई है और अगर वह आज बिगड़ गया तो कल फिर बनेगा।

जब उसकी आखों को अंधेरे में देखने का अभ्यास हो गया, तो आसपास कुछ और लोग दीख पड़े जो उसी के समान नदी से बातें करने आये थे। वे सब पुल के खम्भों को थामे सिर झुकाये खड़े थे, और उनके मौन में अथाह व्यथा सिसक रही थी। अचानक आंद्रे को उस वादे की याद आयी जिसे पूरा करने के लिये वह यहाँ आया था। पेड़ों के झुरमट में उसके पाँव के पास एक लाश पड़ी है। अपनी टोली के साथ वह वैरी की टोह लेने निकला था। हवा बर्फ़ में घुली हुई, चांदनी कोहासे में सनी हुई। बहुत दूर जहां धरती व आकाश में गलबहियाँ होती है, वैरी ताक लगाये बैठा है। दोनों चाहते हैं कि मौक़ा मिलते ही एक दूसरे पर टूट पड़ें और ज्यादा आदमियों को कम से कम समय में मार डालें। उनकी सारी तत्परता बरबादी के हथियारों के उपयोग में लगी हुई है। अगर उनका बस चले तो वे अपने नाख़ूनों को बढ़ा लें, अपने दांतों को तेज़ कर लें और चौपायों की तरह एक दूसरे को फाड़ खायें। आंद्रे की समझ में न आया कि ऐसा क्यों होता है। बन्दूक़ पर उसकी उँगली हिलती है। एक गोली हवा को चीर कर किसी अनजान आदमी की देह में घुस जाती है। वह मर जाता है और उसके संगे-सम्बन्धियों के नाम युद्ध देवता की ओर से धन्य-वाद का सन्देश आता है। पड़ोसी उन्हें देखकर समवेदना से सिर हिलाते हुए कहते हैं कि बेचारे देश के लिये दुःख झेल रहे हैं।

यह अधमरी लाश जिसकी थी आंद्रे उससे अपरि-चित था। वह अभी नवयुवक था। उसकी आंखों में अरमानों की दुनिया बसी हुई, आशा उसके होठों पर मुस्कुराती हुई। जब रात को वे पहरे पर निकले, तो नवयुवक अपना हाल सुनाने लगा। पेरिस के अमुक स्थान पर उसकी दूकान है। अन्दर वह घरवालों के साथ रहता है। घर में बूढ़ी माँ और नववधू के सिवा कोई नहीं। बड़े दिनों में उसे घर जाने को छुट्टी मिलेगी, कप्तान ने उसकी दरख़ास्त पर सिफ़ारिश कर दी है। इतने में एक गोली उसके सिर पर लगती है, और वह घड़ी भर तड़फ़ कर मर जाता है। मरते मरते वह हसरत भरी निगाहों से अपने संगी को

देखता है और वह उसके मूक आह्वान को समझ जाता है। मरनेवाले के हाथ में हाथ देते हुए आंद्रे यह सोचने के लिये विवश हो जाता है कि सर्वशक्तिमान मृत्यु भी कैसी तुच्छ वस्तुओं में रहती है—लोहे के टुकड़ों में, ज़हरीले कीड़ों में। और जीवन कहां रहता है—एक हिचकी में, सांस के एक झटके में।

रात भीग रही थी, हवा में ठंड की काट बढ़ गयी थी। आंद्रे उठकर आगे चलने लगा। अब भी जीवन पथ के कई थके हुए यात्री नदी के पास बैठे हुए वर्त्तमान के अंधकार में अतीत के प्रकाश को घूर रहे थे। जब सबेरा होगा तो इन में से कई नदी की गोद में सोते होंगे। जीवन के झमेलों से उन्हें सदा के लिये छुटकारा मिल जायेगा। उनका मांस मछलियां खा जायेंगी और फिर इन मछलियों को मनुष्य निगल जायेंगे।

मकानों और दूकानों के दरवाज़े बन्द—केवल खाने-पीने और नाचने गाने के ठिकाने खुले हुए। उनके भीतर से हँसने बोलने की आवाज़ आती हुई। हँसी में उन्माद का अन्दाज़। आंद्रे एक कैफ़े में दाखिल हुआ और कोने की एक मेज़ पर बैठ गया।

स्त्री-पुरुष सरसाम के बीमारों के समान कोलाहल मचा रहे हैं। जैसे किसी जलप्रलय से बचने के लिये किसी टूटी हुई नौका पर बैठ गये हों। उन्हें नहीं मालूम कि इस नौका को किनारा मिलेगा या नहीं। तब वे सोचते हैं कि आओ, कुछ ऐसा करें कि जीवन और मृत्यु की याद भूल जायें।

आंद्रे को हंगरी के उस गाँव की याद आयी जिसके चारों ओर वैरी ने आग लगा दी, और जब लोगों के लिये बचने का रास्ता न रहा तो वे सब एक जगह इकट्ठा हुए। शराब के पीपे खोल दिये गये, बाजों ने 'मृत्यु-गान' की दर्द-भरी तान छेड़ी। मतवाले होकर लोग दो दो एक दूसरे से लिपट गये और जब आग उन्हें जलाने आयी तो किसी को उसकी परवाह न हुई।

सभ्यता और संस्कृति की पुकार कैसी ही गगनभेदी क्यों न हो, फिर भी आदमी वही दोरँगा 'आदम' है जो अदन के बाग़ में औरत और खाने की तलाश में रहता था। आदम और आदमी में हाथ और जीभ की चलत फिरत का अन्तर है और बस!

आंद्रे के आगे लड़ाई के मैदान का नक़्शा फिर गया। सिपाही वहाँ कीचड़ से लथपथ खाई में जीते-मरते हैं। वही उनका घर और वही उनकी क़ब्र है। जब नगरवासी जाड़ों में कम्बलों और कोयलों की कमी का रोना रोते हैं, तो सैनिक आकाश तले, हिम भार से दबे हुए, उस तार पर खड़े रहते हैं जो जीवन और मृत्यु के बीच सीमा बनाता है। वे धर्म, राष्ट्र या देश के लिये लड़ने भेजे जाते हैं। और इन भारी-भरकम शब्दों का अर्थ केवल इतना होता है कि थोड़े से आदमियों की वासना की भट्ठी में ईंधन पहुँचाया जा सके।

आंद्रे को आप ही आप हंसी आई, पर यह हँसी विष में बुझी हुई थी। बीयर के चौथे गिलास का अन्तिम घूंट पीते हुए उसने मन ही मन में कहा: और जब ऐसे लोग मर जाते हैं तो उनकी देह सड़ कर खाद बन जाती है। फिर इस खाद से अनाज उगता है जिसे आदमी और जानवर सभी खाते हैं।

जब वह बाहर निकला, तो उस पर विषाद का भारी बोझ था। उस निरपराध नवयुवक ने इसलिये जान दी थी और भविष्य में वह स्वयं भी इसलिये मारा जायेगा कि कैफ़े में बैठे हुए निठल्लों की 'मनोकामनाएँ' पूरी हो सकें। और इन कामनाओं का सार अच्छे खाने के बाद की एक डकार और संतोषपूर्ण ख़र्राटों के सिवा क्या है।

× × ×

दिन चढ़ चुका था, जब आंद्रे की आंख खुली। महीनों बाद वह ऐसी गहरी नींद सोया था। खिड़की का परदा खींच कर उसने बाहर देखा। नीले आकाश पर सूरज जगमगा रहा था और धूप जमी हुई बर्फ़ पर चांदी लुटा रही थी।

आंद्रे तैयार होकर उस पते पर चला जहां एक बूढ़ी मां और उसकी जवान बहू अपने प्यारे की

प्रतीक्षा कर रही थीं। उन जैसी कितनी औरतें अपने पुत्रों या पतियों की बाट दिन-रात ताका करती हैं।

आंद्रे उस घर के जितने समीप पहुँचता गया, उसके दिल की धड़कन उतनी ही तेज़ होती गयी। लड़ाई के मैदान में कई बार उसे जोखम का सामना करना पड़ा था। पर अब तक वह कभी इतना बेकस न हुआ था। सख्त सर्दी थी, फिर भी उसका माथा पसीने से भीगा हुआ था। रास्ते में एक जगह ठहर कर उसने शराब पी और सोचने लगा कि क्या यह अच्छा न होगा कि तार या डाक से शोक समाचार भेजकर पीछा छुड़ा ले। लेकिन उसकी जेब में ब्याह की अंगूठी है जो मरने वाले ने अपनी दुल्हन को लौटायी है और चांदी के चौखटे में जड़ी हुई ईसा की तस्वीर जो मां ने अपने बेटे के साथ की थी। उन दुखियारियों को यह यादगारें भी तो लौटाना है। आंद्रे ने अपने बटुवे को खोल कर देखा और अचानक उसकी दृष्टि उस लोहे की ज़ंजीर पर पड़ी जो हर सिपाही की कलाई से बंधी होती थी। इस पर उसका नाम और उसकी फ़ौज का निशान खुदा होता था। जब कोई मर जाता, तो यह ज़ंजीर उसके घर भेज दी जाती थी। आंद्रे की जेब में मरने वाले की ज़ंजीर पड़ी हुई थी। तीनों चीज़ों को रूमाल में लपेट कर वह सोचने लगा कि किसी दूसरे की मौत का समाचार उसकी माँ को पहुंचाना अपनी मौत से भी अधिक कष्टदायक है। और उसे उन लोगों के जीवट पर आश्चर्य हुआ जो लाशों के पास बैठकर सियापा गाते हैं। इस समय अपनी हालत का अंदाज़ा लगा कर आंद्रे को उन लोगों की सहानुभूति पर संदेह होने लगा। क्योंकि मौत का सन्नाटा हम सब को ख़ामोशी का सबक़ देता है!

अब उसे अपने साहस पर भरोसा न रहा। उसका रोष और तीखापन मोम बन कर बह गया। इन औरतों ने तो जीवन से कुछ अधिक नहीं मांगा था। दोनों का सहारा एक मर्द था जिसने जान-बूझ कर कभी किसी का कुछ नहीं बिगाड़ा। एक छोटी सी दूकान में वे तीनों अख़बार और किताबें बेचा करते थे। इतने में एक दिन उनके देश पर युद्ध के बादल घिर आते हैं। शत्रु-सेना का एक दूकानदार सिपाही दूर बैठ कर हवा में बन्दूक चलाता है। और उसकी गोली इस अभागे को मार डालती है। अब वह बूढ़ी किसके सिरते जियेगी, वह प्रेम प्यासी दुल्हन किसका सहारा लेगी!

आंद्रे अपने भाग्य को सराहता है कि संसार में उसका कोई नहीं है। न वह किसी का है और न कोई उसका। जब संसार में शांति थी, तो यह जीवन कितना निरर्थक था। पर आज यह सब से बड़ा सौभाग्य है। कोई उसके मर जाने पर आंसू न बहायेगा। मरने से पहिले उसे यह पछतावा न होगा कि जीवन की अमुक धरोहर लौटा देना है—और यह परिस्थिति मृत्यु से कम शांतिदायिनी तो नहीं है।

वह दूकान में दाख़िल होता है। कोने में कुर्सी पर एक बृद्धा ऊनी मफ़लर बुन रही है। अन्दर के कमरे से बरतन धुलने की आवाज़ आ रही है। वहां शायद उसकी बहू है। आंद्रे अन्दर जाकर ठिठक जाता है। उसकी समझ में नहीं आता कि क्या कहे। वह अलमारी से किताबें निकाल कर देखने लगता है।

बूढ़ी अपनी जगह से उठती है और ग्राहक को सलाम करती है। "कैसा सुहावना प्रभात है। पर ईसा की मौत के दिन मौसिम बहुत उदास था... आप कैसी किताबें चाहते हैं? अगर मुझे धोखा नहीं हुआ तो आज मोर्चे से छुट्टी पर आये हैं। यही बात है ना? जी? तो फिर ऐसी किताबें पढ़िये जिनसे आत्मा को शांति मिले। सान फ्रांसिस के उपदेश? रेनाँ का लिखा हुआ ईसा-चरित्र?"

बुढ़िया ख़ुश है। उसे विश्वास है कि उसका बेटा भी आजकल में आता होगा। किताबें निकाल कर मेज़ पर रखती हुई वह कहती जाती है: व्यापार बहुत मंदा पड़ गया है। नगर उजाड़ पड़ा है, बिक्री हो तो किस चीज़ की। हाँ, अख़बार अधिक बिक जाते हैं। लेकिन—"इस 'लेकिन' के साथ उसका मुखड़ा उज्जवल भविष्य की कल्पना से दमक उठता है।" युद्ध के बाद मोरिस सारा काम संभाल लेगा।

यह मेरा इकलौता बेटा है। काश आप जानते होते कि वह कितना समझदार और मेहनती है। आपने भला उसे कहां देखा होगा। ऊंचा डील, भूरी नीली आंखें, सुनहरे बाल। वह भी आजकल में दस दिन की छुट्टी पर आने वाला है। मैं तो उसके लिये मफ़लर के सिवा कुछ न बुन सकी, पर उसकी दुल्हन ने—ओह, अगर आप उसके बनाये हुये स्वेटर और मोज़ों को देखें—

आंद्रे का जी भर आया। बहुत दिनों के बाद उसकी आंखें डबडबा आयीं। वह चुप यह सब सुनता रहा और पीठ फेर कर किसी अलमारी से किताबें निकालने लगा। भर्राई हुई आवाज़ में वह केवल इतना कह सका—

"इनके क्या दाम हुए?"

जब बुढ़िया नोट भुनाने के लिये संदूकचे की ओर गई, आंद्रे ने फ़ौरन जेब से वे तीनों चीज़ें निकाल कर मेज़ के कोने पर रख दीं। "ईश्वर आपकी रक्षा करे"—यह कह कर वह झट दूकान से बाहर निकल आया। वह लपकता हुआ पास की गली में इस तरह घुस गया जैसे बेसोचे समझे उससे घोर अपराध हो गया हो। पीछे मुड़ मुड़ कर देखते हुये वह अंधाधुन्ध भागता गया। उसका विवेक डरा कि कहीं यह असहाय स्त्रियां उसका दामन थाम कर जीवन की भीख मांग बैठें तो वह क्या देगा।

आकाश का नीलापन निखर गया था; सूरज की कांति अधिक खिल गई थी। पर दिलों में अंधेरा था और अंधेरे में उदासी थी। हर घर से एक नीरव प्रार्थना, एक शब्दहीन विनय उठती और उस ओर देखती जहां मनुष्यों के झुंड सभ्यता के आदेश पर मरने-मारने के लिये जमा थे।

बच्चे आंद्रे की ओर उँगली उठा कर आपस में कुछ कहने लगे। शायद उनका मतलब यह था कि उनके बाप या भाई, इसी सैनिक के समान लड़ रहे हैं। सिपाही और लड़ाई के खेल वे आपस में रचाते हैं और ईर्ष्या से सोचते हैं कि हम छोटे न होते तो बड़ों की तरह सिपाही बन कर लड़ते। आंद्रे इस विचार से कांप गया कि नई पौद की सब से बड़ी अभिलाषा यह है कि एक दिन वह भी हिंसा और युद्ध को अपना लक्ष्य बनाये। पर माएं उसे देखकर पसीज जाती हैं और सहम कर आपस में कहती हैं कि बहुत दूर इसी युवक जैसे बेटे युद्ध-देवता की वेदी पर अपने प्राण होम रहे हैं। जवान औरतें उसे ललचायी हुई चितवनों से ताकती हैं और उन्हें अपनी जवानी पर रोना आता है जो सूनी बीत रही है।

गलियों का सिलसिला एक पार्क के सामने आकर समाप्त हो जाता है और आंद्रे थक कर एक बेंच पर बैठ जाता है। एक आध सप्ताह में वह रणक्षेत्र में होगा और फिर शायद उसे इतना अवकाश न मिले कि यों अकेला बैठ कर धरती और आकाश को इस निगाह में देख सके।

भरी दोपहर में गिरजा घर का घण्टा बज रहा है। बस इसलिये बज रहा है कि हमेशा से बजता आया है। बजानेवालों और सुननेवालों को कुछ नहीं मालूम कि इस नाद में आशा है या निराशा, हर्ष है या विषाद।

आंद्रे देर के बाद अपनी जगह से उठता है। उसे कहीं नहीं जाना है। उसे कुछ नहीं करना है। उसे सब कुछ भूल जाना है। जब जीवन का लक्ष्य मृत्यु के सिवा कुछ नहीं तो उसकी गुत्थियों को क्यों सुलझाया जाये, उसकी पहेलियों पर क्यों सिर खपाया जाये। चलते चलते वह गिरजा घर के सामने पहुँचता है और बेइरादा उसके अन्दर चला जाता है। हलका हलका सा अंधेरा, गहरी गहरी सी ख़ामोशी। आर्गन एक गम्भीर करुण राग बजा रहा है। यहां वहां इहलोक की मरुभूमि में परलोक की माया-मरीचिका ढूढ़ने वाले घुटने टेके या हाथ बांधे खड़े थे। जगह जगह ईसा और मरियम की मूर्त्तियों के आगे मोमबत्तियां जल रही थीं। अगर और ऊद की सुगंधि से हवा बोझल थी।

थोड़ी देर इस हवा को सूंघ कर आंद्रे की समझ में आया कि आदमी के लिये रणक्षेत्र से अधिक

गिर्जाघर क्यों जानलेवा है। इसलिये कि वहां आदमी अपने वास्तविक व काल्पनिक शत्रुओं से लड़ता नहीं बल्कि उन्हें भूल जाने के लिये आता है। आदि काल से धर्म की अफ़ीम पिला कर अत्याचार मानवता पर नश्तर चलाया करता है।

आंद्रे को इन दर्द के मारों पर दया आई। वे प्यासे हैं और जीवन की मरुभूमि में मारे मारे फिर रहे हैं। रूपहली रेत पर इन्हें पानी का धोखा हो जाये तो आश्चर्य ही क्या।

इतने में वह क्या देखती है कि वही बुढ़िया लाठी टेकते अन्दर आ रही है। उसकी बहू काली नक़ाब और काला लबादा ओढ़े हुए उसकी बाहों पर झुकी हुई है। दोनों निढाल हैं जैसे दो कोमल पौधों को पाला मार गया हो। दोनों जाकर एक मूर्ति के आगे जा कर खड़ी हो जाती हैं।

यकायक सारा गिरजाघर कांप उठता है, और इससे पहिले कि आंद्रे की समझ में कुछ आये, वह अपने को उस बूढ़ी के पास पाता है।

बूढ़ी की आंखों में आंसू नहीं हैं; उसकी ज़बान पर प्रार्थना नहीं है और न उसका मस्तक उपासना में नत है। उसने मरियम की मूर्ति के मुंह पर थूक दिया है और वह थूक ईश्वर की मां के गालों पर बह रहा है। लुटी हुई मानवता की जननी ने ईश्वर की जननी को उसके सिंहासन से नीचे गिरा दिया है।

आंद्रे बूढ़ी मां को एक हाथ से लिपटा लेता है और दूसरे हाथ में रूमाल लेकर मूर्ति का मुंह साफ़ करने लगता है।

प्यारे मग़रिब के रहनेवालो, ख़ुदा की बस्ती दुकाँ नहीं है,
खरा जिसे तुम समझ रहे हो, वही ज़रे कम अयार होगा।
तुम्हारी तहज़ीब अपने ख़ंजर से, आप ही ख़ुदकुशी करेगी,
जो शाख़े नाज़ुक पे आशियाना बना वो, नापायदार होगा।

—डाक्टर इक़बाल

× × ×

यह दुःख वहन कर मेरे मन
सुन अरे एकता की पुकार।
भय और लाज, कर विजित आज
हो दूर सभी अपमान भार।
हो सब दुःसह दुःखावसान,
पायेगा जन्म विशाल प्राण।
है बीत रही रजनी, जननी
जागी है वृहद् नीड़-भीतर,
मेरे इस भारत के महान् मानव के सागर के तट पर।

—श्री रवीन्द्र
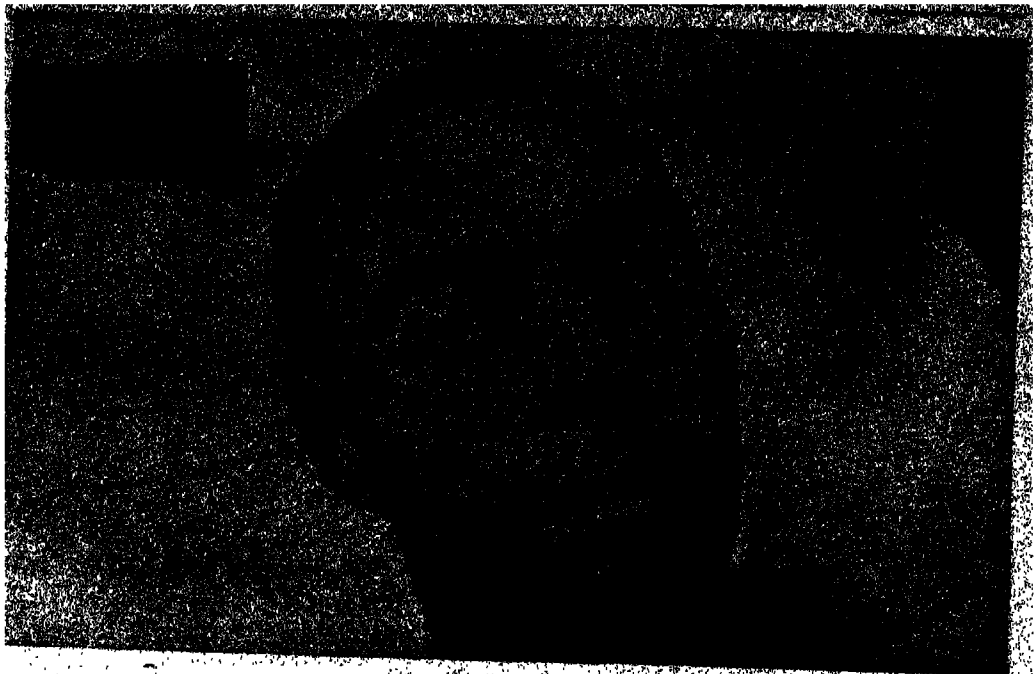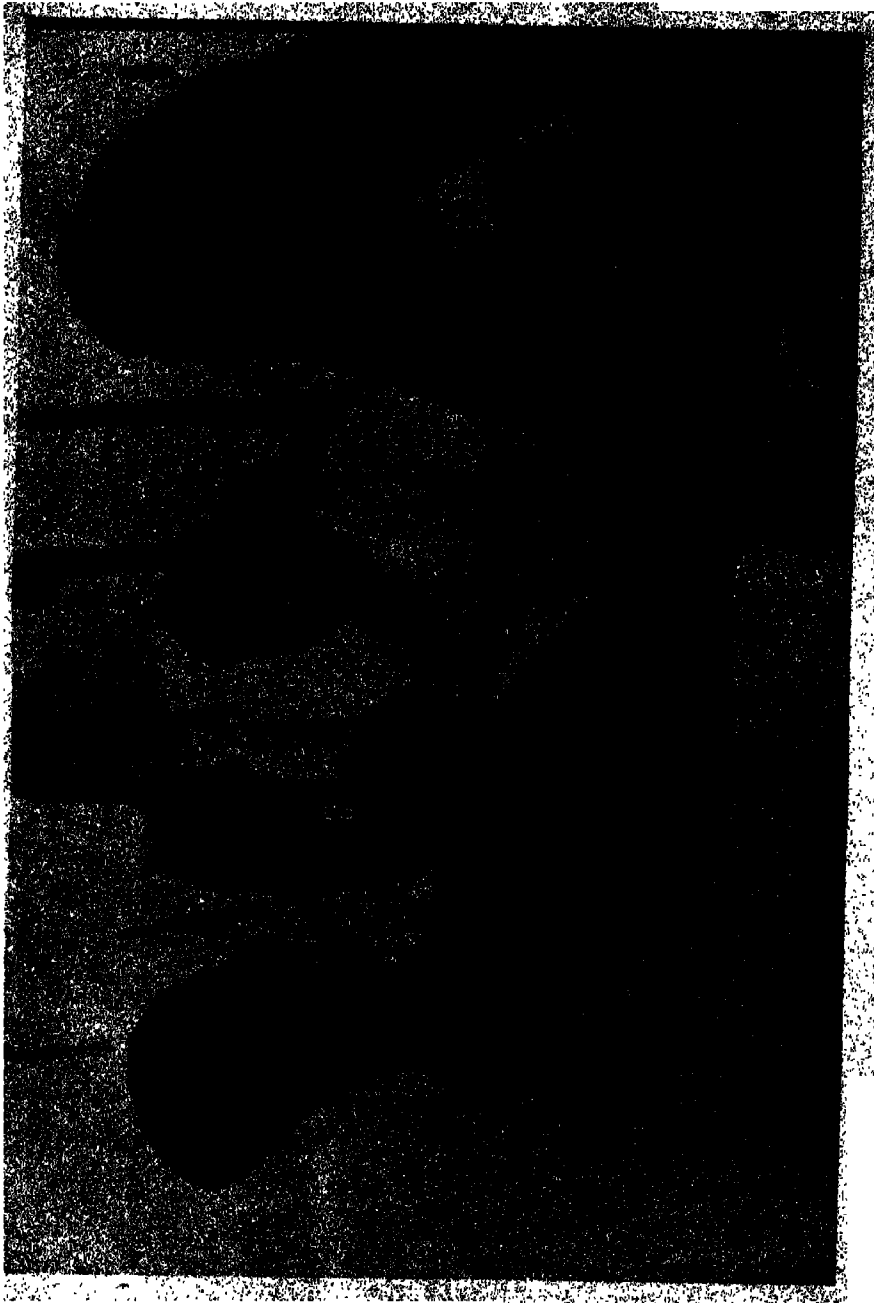
तपस्वी भंसाली की कठोर साधना

['यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः' के आदर्श की स्थापना]"

श्री सत्यदेव विद्यालंकार

"चांगली, मोठ, शुद्ध, स्वस्थ आणि सुन्दर"—ये शब्द थे, जो सहसा तपस्वी भंसाली के मुख से तब निकले जब कि श्रीमती अनसूया बाई काले, डा० खरे और श्री कन्हैय्यालाल माणिकलाल मुन्शी के सत्प्रयत्नों के परिणाम स्वरूप मध्यप्रान्त की सरकार के साथ समझौता होकर त्रेसठवें दिन की दुपहर को आपने अनशन-भंग करने का निश्चय किया और डा० त्रिवेदी तथा डा० वन्हाड़ थंपड़े आपके स्वास्थ्य की परीक्षा करने आये। उपवास किस प्रकार भंग किया जाय,—इसकी चर्चा और तय्यारियाँ होने लगीं। फिर, तपस्वी भंसाली ने बड़ी दृढ़ता के साथ कहा कि "डाक्टर मेरी गुस्ताखी माफ़ करना और इसे अभिमान मत समझना कि मैं आज भी कच्चा आटा घोलकर पी सकता हूं।' ईश्वर की मुझ पर कृपा होगी, तो मुझे कुछ भी नुक़सान न होगा और मैं उसको पचा लूंगा।" त्रेसठ दिन की तपस्या से पेट पिचक कर पीठ से आ लगा था और सारी पसलियाँ इतनी उभर आईं थीं कि उनको बहुत आसानी के साथ काफ़ी दूरी से गिना जा सकता था। शरीर का भार १४० पौण्ड से सिर्फ़ ६७ पौण्ड रह गया था। लेकिन, मुख की आकृति, आंखों की ज्योति, मन की चेतना और हृदय की अनुभूति में तनिक भी अन्तर नहीं आया था। शुरू से जो आपके साथ हैं, उनका कहना तो यह है कि चेहरे की आभा दिन पर दिन बढ़ती ही गई है। बाक़ी बदन के ढक देने के बाद सिर्फ़ चेहरे से यह पता नहीं लगता था कि यह महा-पुरुष दो महीने तीन दिन से अनशन पर है। बात चीत में वही जागरूकता, हँसी-मज़ाक़ में वही स्वाभाविकता और चिमूर के सम्बन्ध में वही गम्भीरता आज भी बनी हुई थी। तपस्वी जीवन की जो गाथायें वैदिक ग्रन्थों और पुराणों में पढ़ने को मिलती हैं, उनकी एक जीती जागती मिसाल प्रो० भंसाली ने उपस्थित कर दी। दधीचि के बाद ऐसा कोई और उदाहरण मिलना मुश्किल है।

× × ×

दिल्ली से चलते हुये 'वीर अर्जुन' के सम्पादक भाई रामगोपाल जी विद्यालंकार का भी साथ आने का विचार था। लेकिन, वे न आ सके। उन्होंने कहा था कि वर्धा जाने से क्या लाभ होगा ! कहीं ऐसा न हो कि वहाँ जाने पर भी भंसाली के अन्तिम दर्शन ही भाग्य में न लिखे हों।" मैंने कहा कि "यदि ऐसा ही हुआ, तो अपनी परवशता और असमर्थता की एक याद सदा के लिये हृदय पर अंकित हो जायगी।" न केवल मध्यप्रान्तीय सरकार ने, बल्कि अन्य प्रान्तों की सरकारों ने भी समाचार-पत्रों पर जो कठोर प्रतिबन्ध लगाये थे, उनके रहते हुये चिमूर काण्ड और श्री भंसाली की तपस्या की चर्चा करनी तो दूर रही, उनकी ओर संकेत तक करने पर भी रोक थी। निर्वाण को प्राप्त होनेवाले, दीप की बत्ती और तेल के समान तिल तिल करके जीवन का उत्सर्ग करने वाले महान तपस्वी के नाम तक का उल्लेख पत्रों में नहीं किया जा सकता था। 'मेरी अन्तिम इच्छा' के रूप में दिया गया आपका सन्देश सभी समाचार पत्रों के पास पहुँच भी न पाया था कि सम्पादकों के पास सरकार का यह आदेश पहुंच गया कि न तो उसको प्रकाशित किया जा सकता है और न उसकी चर्चा ही की जा सकती है। 'भंसाली' और 'चिमूर' दोनों शब्द सरकार के लिये इतने असह्य हो गये कि उनका पत्रों में प्रकाशित तक होना सहन नहीं कर सकती थी। हम पत्रकार, जो जनता के पथप्रदर्शक, नेता तथा समय के निर्माता होने का इतना दावा करते हैं और देश की आज़ादी

के लिये जूझना ही जिन्होंने अपना जीवन-व्रत बना लिया है, गूंगों और बहरों की तरह परवश एवं असहाय बने हुये हैं। द्रौपदी के चीरहरण पर पांडवों ने जिस दीन, हीन एवं पराधीन वृत्ति का परिचय दिया, उससे कहीं अधिक दीन, हीन एवं पराधीन भारत के पत्रकार साबित हुये। छः जनवरी को हड़ताल मनाते हुए भी हम यह नहीं कह सके कि वह किन ज्यादतियों के प्रतिवाद में की गई थी! यह विवशता और असहाय अवस्था कैसे भुलाई जा सकती है!

× × ×

लेकिन मृत्यु को जीतने और मृत्यु से अमृत-पद की प्राप्ति करनेवाला महान तपस्वी जब संसार मे ऊपर उठकर शरीर का मोह त्याग बैठता है, तब वह ऐसी परवशता और असहाय अवस्था को पार कर जाता है। इसीलिये तपस्वी भंसाली ने 'एकाकी' होते हुए भी जो कर दिखाया, वह अद्भुत और आश्चर्यजनक है। महात्मा गान्धी की महान तपस्या के चमत्कार भी कई बार देखने में आये हैं। लेकिन, उन छाया यरवडा में की गई तपस्या और साधना के बाद यदि किसी तपस्या ने सरकार के हृदय-परिवर्तन का ऐसा कोई चमत्कार कर दिखाया है, तो प्रो० भंसाली की यह तपस्या है, जिसका स्मरण भारत के इतिहास और महिलाओं की मान-रक्षा के सिलसिले में सदियों तक किया जाता रहेगा। भंसाली की इस साधना और तपस्या के लिये 'एकाकी' शब्द सर्वांश में ठीक बैठता है क्योंकि उनके पीछे न तो समाचार पत्रों का आन्दोलन था और न थी जनता की आवाज़। दोनों को कठोर सरकारी प्रतिबन्धों के नीचे ऐसा दबा दिया गया था कि न तो समाचार-पत्र एक शब्द लिख सकते थे और न जनता ही आपकी माँग के समर्थन में छोटी-मोटी कोई सभा करके प्रस्ताव तक पास कर सकती थी। लेकिन, सारे देश की मूक भावना ज़रूर आपके साथ थी। मूक भावना की शक्ति कितनी अजेय है,—यह किसे पता था? जो लोग आज तक राजनीति में 'सत्य,' 'अहिंसा' का कोई स्थान न मानकर उसका मज़ाक करने में नहीं चूकते हैं, जिनके लिये आत्मिक बल, अध्यात्म शक्ति का राजनीति के इस जीवन में कुछ भी महत्व नहीं है और जो सेगाँव के नंगे सन्त के इन और ऐसे सब परीक्षाओं अथवा प्रयोगों को शक्ति का अपव्ययमात्र मानते हैं उनके माने हुये नेता डाक्टर एन० बी० खरे तक ने आपकी इस साधना की महानता को स्वीकार किया। जहाँ भगवान् ने एक महान् आदर्श को जनता में फिर से प्रस्थापित करने के लिये तपस्वी भंसाली को अपना निमित्त बनाया, वहाँ भगवान् की विरोधी आसुरी सम्पदा की प्रतिनिधि बनी हुई सरकारी सत्ता के निमित्त डा० खरे बने। कैसा सुन्दर यह सुयोग था! श्री भंसाली यदि गान्धीवाद के प्रतिनिधि माने जा सकते हैं, तो डा० खरे को गान्धीवाद के विरोधी उन सब वादों का प्रतिनिधि मानना चाहिये, जिनका हमारे सार्वजनिक जीवन में प्रायः संघर्ष होता रहता है। इस सुयोग का सौन्दर्य भी वर्णन अथवा विवेचन की अपेक्षा कल्पना, भावना एवं अनुभूति से ही अधिक सम्बन्ध रखता है। यह तय है कि स्वराज्य की त्रिवेणी पर सारी विचारधाराओं एवं वादों का संगम इसी प्रकार बने बिना न रहेगा। लेकिन, यह कौन जानता है कि वह कब और कहाँ बनेगा?

× × ×

जनता की भावना को मूक बनाये रखने के लिये सरकार ने क्या नहीं किया? यहां तक कि बजाजवाड़ी पर सिर्फ़ इसलिये पुलिस बिठा दी गई थी कि शहर से कोई आपके दर्शनों तक के लिये वहाँ न आ सके। उसने शायद यह मान लिया था कि इसी प्रकार इस बारे में होनेवाली चर्चा को रोका जा सकता है। लेकिन, भावना को मूक बना देने पर भी उसकी गति एवं प्रवाह को कौन रोक सका है? जिन पुलिस वालों में इन विषयों की शायद ही कभी चर्चा होती हो और जिनको बलपूर्वक ऐसे वातावरण से दूर रखा जाता है, वे भी आते और अत्यन्त विनीत भाव से आपके सामने आकर माथा टेकते। उनको स्वभाव ही ऐसे वातावरण के प्रभाव में आने का अवसर

मिल गया। साधारण जनता की भावना को इससे जो बल मिला, उसका तो कहना ही क्या है! भाई कमलनयन बजाज का नाई एक साधारण-सा आदमी है। लेकिन, इस पुलिस के बिठाये जाने के बाद उसने पूरे विश्वास के साथ उनसे कहा कि "अब बाबा के प्राण अवश्य बच जायेंगे।" जब उससे पूछा गया—'क्यों?' उसने और भी अधिक दृढ़ता के साथ कहा कि—"ये काली वरदी वाले मृत्यु को आपके मकान में नहीं आने देंगे।" अपनी इस भविष्य-वाणी के सत्य सिद्ध होने पर उसकी प्रसन्नता का पारावार न रहा।

× × ×

एक बूढ़ी आस्तिक मारवाड़ी महिला ने अपने ऐसे ही विश्वास को और भी अधिक दृढ़ता के साथ प्रगट किया। माता जानकीबाई बजाज अत्यन्त सरल हृदय की साधारण पढ़ी-लिखी महिला हैं। लेकिन, भावना और विचार बहुत पवित्र और ऊंचे हैं। आप रह रह कर कह उठती थीं कि "बाबा अब नहीं बचेंगे।" उस बूढ़ी महिला ने कहा कि "ईश्वर का अदृश्य हाथ जिसके सिर है, उसका कोई बाल बांका भी नहीं कर सकता।" एक दूसरे भगवद्भक्त पण्डित ने कहा कि मृत्यु मनुष्य के चेहरे पर छः महीने पहिले ही आ विराजती है। बाबा के चेहरे पर ऐसा कोई चिन्ह नहीं है, जिससे इनकी मृत्यु की कल्पना तक की जा सके। पढ़े-लिखे पण्डितों, अनपढ़ महिलाओं और साधारण जनता में फैली हुई भावना का परिचय देने के लिये ये घटनायें बस हैं। जिस दिन अनशन-भंग किया गया, उस दिन भी चाँदा और चिमूर तक से कई महिलायें अनशन-भंग के लिये प्रार्थना करने आईं। सार्वजनिक चर्चा एवं प्रदर्शन पर सब तरह की रोक लगा देने के बाद भी भावना के वेग और प्रवाह को सरकार न रोक सकी। इसी प्रकार नेताओं को जेलों, नज़रबन्द कैम्पों और सुदूर अज्ञात स्थानों पर बन्द करके भी स्वराज्य के लिये जनता के हृदयों में पैदा हुई भावना और आकांक्षा को कुचला नहीं जा सकता। उसकी गति और प्रवाह को संसार की कोई भी ताक़त रोक नहीं सकती।

× × ×

लेकिन, इस भावना को जगाने के लिये कितने महान् एवं सम्पूर्ण उत्सर्ग की आवश्यकता है! गवर्नर से मिलने के बाद डाक्टर खरे जब तपस्वी भंसाली से मिलने आये, तब उन्होंने आप से अनशन-भङ्ग करने का आग्रह किया। आपने बड़ी दृढ़ता के साथ कहा—"डाक्टर, मुझे तो आश्चर्य है कि मेरे इस शरीर का अन्त चिमूर में ही तब क्यों नहीं हो पाया, जब वह रोमांचकारी वर्णन पहली बार सुना था। अपने दो लड़कों की गिरफ़्तारी के बाद मिलने वाली फांसी की कल्पना मात्र से एक बिचारी बुढ़िया का शरीरान्त हो गया और मेरा यह शरीर इतने दिन के अनशन के बाद आज भी क्यों बना हुआ है? ज़रूर मुझे शरीर का मोह है।" डाक्टर खरे आये थे अनशन-भङ्ग के लिये अनुरोध करने; लेकिन, तपस्वी भंसाली ने पानी के भी त्यागने पर विचार करना शुरू कर दिया। माता जानकीबाई के हज़ार समझाने पर भी आपने उनकी बात न मानी। जब पता चला कि डाक्टर खरे और श्री मुन्शी अपने प्रयत्नों में सफल नहीं हुये, तब १२ जनवरी को आप ने पानी का भी त्याग कर दिया। शरीर का इतना मोह त्यागने वाला महान् तपस्वी ही उस भावना को जान सकता है जिसने सरकार के पाषाण से भी अधिक कठोर हृदय को मोम की तरह पिघला दिया।

× × ×

कहने को यह त्रेसठ दिन का उपवास था। लेकिन, इसका सिलसिला कई दिन पहले शुरू हो चुका था। अगस्त मास में आन्दोलन के साथ ही आपके इस अनशन का भी एक प्रकार से श्रीगणेश हो गया था। वर्धा में गिरफ़्तार किये जाने के बाद अकोला जेल से ही इस निर्जल अनशन का प्रारम्भ हो गया था। वहां से जब आप बिना शर्त छोड़ दिये गये, तब वह अनशन भी छूट गया। फिर जब दिल्ली

आकर श्रीयुत अणे से मिले तब दुबारा अनशन का श्रीगणेश हुआ। बीच में एक बार बन्द होने के बाद जब ११ नवम्बर को इसे शुरू किया गया, तब यह १२ जनवरी तक जारी रहा। निर्जल अनशन के आठवें दिन आपने चिमूर की लगभग ६०-६२ मील की पैदल यात्रा की। फिर पन्द्रहवें दिन दुबारा प्रस्थान किया। तब भी निर्जल अनशन जारी था। आत्मविश्वास, संयम और साधना की कितनी पूँजी भंसाली भाई के पास जमा है। इस साधना के बाद सत्याग्रह के मैदान में उतरने वाला सिंह पुरुष भला कब 'सत्य' एवं 'अहिंसा' के प्रयोग में विफल हो सकता है? यदि एक सत्याग्रही को चिमूर-काण्ड में सरकार के हृदय को पलटने के लिये इतनी कठोर साधना की ज़रूरत है, तब स्वराज्य के लिये तो निश्चय ही उससे कई गुना अधिक साधना की आवश्यकता है। तलवार और बन्दूक में अनभ्यस्त सिपाही युद्ध के मैदान में पराजित होने के बाद यदि अपने अस्त्रों की निन्दा करने बैठ जाय, तो यह तय है कि सारी दुनिया उसको मूर्ख कहे बिना न रहेगी। इसी प्रकार 'सत्य' और 'अहिंसा' की जिसने साधना नहीं की है, वह उनका प्रयोग क्या करेगा? ऐसे लोगों द्वारा की जाने वाली इस मार्ग की निन्दा का भी क्या अर्थ है? भंसाली भाई का यह प्रयोग स्वराज्य के लिये किये जा रहे महा प्रयोग का एक नमूना है, जिससे हमें कुछ प्रेरणा मिलनी चाहिये और 'सत्य' एवं 'अहिंसा' की साधना में हमारा विश्वास कुछ अधिक ही दृढ़ होना चाहिये।

× × ×

सेवाग्राम की तपोभूमि से वर्धा का गौरव बहुत बढ़ गया है। गान्धी जी की तपस्या से भी बड़ी तपस्या स्वर्गीय सेठ जमनालाल जी बजाज की समझी जानी चाहिये, जिनके प्रेम-पाश से गान्धी जी खिंचकर वर्धा चले आये और वर्धा को देश की दूसरी राजधानी बनने का गौरव प्राप्त हुआ। आज वर्धा की हालत वैसी ही है, जैसी कि राम के वनवास के बाद अयोध्या की थी। वर्धा के दशरथ सेठ जी का स्वर्गवास हो चुका है और रामरूप गान्धी जी वनवास में हैं। लेकिन, धन्य हैं माता जानकी देवी और उनकी सन्तान, जो सब की सब उसी रंग में रंगी हुई हैं। सेठ जी द्वारा प्रतिपादित परम्पराओं को क़ायम रखने में ये सब तत्पर हैं। उनके शारीरिक अभाव में भी उनकी आत्मा के अभाव को न खटकने देने का इनका सत्प्रयत्न है। सेठ जी ने 'रायबहादुरी', 'आनरेरी मजिस्ट्रेटी' और 'रईसाना ठाठबाट' का परित्याग कर आज के वर्धा का जब निर्माण करना शुरू किया था, तब १९२० में इन पंक्तियों के लेखक को वर्धा आने और ७-८ वर्ष उनके चरणों में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। प्राचीन वैदिक मर्यादा में दो पिता माने गये हैं। एक जन्म देने वाला और दूसरा शिक्षा देने वाला। लेकिन, आज हमारे देश को सार्वजनिक सेवा में अपने को होम देने वाले युवकों की जब आवश्यकता है, तब दूसरा पिता उसे मानना चाहिये, जो युवकों को सार्वजनिक जीवन और सेवा की दीक्षा देता है। सेठ जी इस नाते न मालूम कितने युवकों के पिता हैं! लेकिन, इन पंक्तियों के लेखक को शुरू दिनों में ही इस नाते उनकी गोद में आने का सौभाग्य मिला था। इतने महान् सौभाग्य के बाद भी आज उसको पन्द्रह-सोलह वर्षों बाद वर्धा आने का अवसर मिला है। इस बीच वर्धा का जो नया निर्माण हुआ है, उसके बारे में तरह तरह की कल्पनायें और अनुमान बाँधता हुआ वह वर्धा आ रहा था। लेकिन, जैसे ही वर्धा स्टेशन आया और वहाँ से बजाजवाड़ी पहुँचा कि वे सब अनुमान और कल्पनायें काफ़ूर हो गईं। बजाजवाड़ी की एक कुटिया में भंसाली भाई के अनशन-व्रत का अनुष्ठान हो रहा था। अनशन का बासठवाँ दिन था। वे पानी का भी त्याग कर चुके थे। बंगले के चारों ओर पुलिस का कड़ा पहरा होने पर भी काफ़ी भीड़ जमा थी। भाई कमलनयन बजाज खड़े भाषण दे रहे थे। ऐसा जंचा, जैसे स्वर्गीय सेठ जी ही खड़े हों। वही आकृति, वही रूपरंग, वही हृदय, वही वाणी, वही

भावना और वही वातावरण था। सेवापरायणा माता जानकी बाई उसी प्रकार सेवा में लीन थीं। न कोई मलीनता थी और न था कोई अभाव। पन्द्रह वर्ष पुराने वर्धा की वही आत्मा जाग रही थी और चारों ओर चैतन्य का प्रकाश फैला रही थी। गान्धी जी को अज्ञात स्थान में बन्द कर देने वाले भी आज आश्चर्य के साथ यह देखते होंगे कि भंसाली भाई की इस तपस्या ने उनके प्रभाव की भी पूर्ति कर दी और देश के सार्वजनिक जीवन का आज भी वर्धा वैसा ही केन्द्र बना हुआ है।

× × ×

अनशन की समाप्ति का दृश्य कितना सुन्दर, कितना भव्य, कितना गम्भीर और कितना पवित्र था! जीवन में जिसे 'वीतरागभयक्रोध' कहा है, उसकी साक्षात् प्रतिमा भंसाली भाई दधीचि के समान केवल अस्थिपंजर के रूप में विराजमान थे। चारों ओर स्त्री-पुरुषों की भीड़ जमा थी। दो-एक छोटे-मोटे भाषण हुये। श्रीयुत मुंशी ने महिलाओं के सतीत्व-रक्षण की पुरानी मर्यादा को फिर से क़ायम करने के लिये भंसाली भाई का आभार माना। श्रीमती अनसूया बाई काले ने मातृजाति की ओर से श्रद्धांजलि अर्पित की। भाई कमल नयन बजाज ने अत्यन्त विनीत भाव से जनता से आशीर्वाद माँगते हुये भावनापूर्ण शब्दों में कहा कि स्वर्गीय पिता जी की परम्पराओं को जीवित बनाये रखने की इच्छा तो कम से कम हम लोगों में बनी रहे और उसके लिये जो भी थोड़ा-बहुत हम से बने, उसके लिये हम यत्नशील रहें। माता जानकीबाई ने जैसे ही मोसम्बी के रस का चमचा भंसाली भाई के मुंह में दिया, सहज सी स्वभाव से प्रेरित होकर अत्यन्त करुणापूर्ण शब्दों में कहा—"बाबा जी, मुझे आशीर्वाद दो कि मेरे जीवन का अन्त अत्यन्त सुख और शान्ति के साथ हो।" पत्नी और पुत्र दोनों में स्वर्गीय सेठ जी के पदचिह्नों पर पैर रखते हुये आगे बढ़ने की जो इच्छा और आकांक्षा है, वह इन शब्दों में किस प्रकार झलक रही है! सेठ जी के जीवन का जो सुखपूर्ण अन्त हुआ, वह किसी बिरले को ही प्राप्त होना सम्भव है।

× × ×

भाई कमलनयन की प्रकृति जैसी गम्भीर है, स्वभाव वैसा ही विनयी भी है। अनशन की समाप्ति का निश्चय हो जाने के बाद भी मुंशी कुछ गम्भीर विनोद करने में लगे हुये थे। उन्होंने कहा कि "सेवाग्राम की तपस्या एवं साधना से यदि एक भंसाली भी पैदा हो गये, तो और क्या चाहिये?" भाई कमलनयन सहसा बोल उठे—"अभी तो एक ही बाबा ने दर्शन दिये हैं। गुदड़ी में न मालूम ऐसे कितने लाल छिपे हुये हैं।" सेवाग्राम के नंगे फ़क़ीर की तपस्या एवं साधना से भारतीय राष्ट्र के हृदय में जो नवचैतन्य पैदा हुआ है, उसका हिसाब कौन लगा सकता है!

तपस्वी भंसाली की तपस्या

२७ अक्टूबर—वर्धा से दिल्ली के लिये विदा।

३० अक्टूबर—दिल्ली पहुँचे।

१ नवम्बर—श्री अणे से उनके मकान पर मुलाक़ात। उनके घर पर सवेरे १० बजे अनशन शुरू। रात को ९॥ बजे गिरफ़्तारी। सात दिन दिल्ली जेल में। बलात् भोजन दिया जाता रहा।

६ नवम्बर—दिल्ली से पुलिस लेकर रवाना हुई।

७ नवम्बर—शाम को सेवाग्राम-वर्धा छोड़ गई। अनशन भंग किया।

९ नवम्बर—सेवाग्राम से वर्धा चिमूर जाने के लिये। उस दिन आग्रह करके रोक लिया गया।

१० नवम्बर—चिमूर के लिये प्रस्थान।

११ नवम्बर—बालाजी के मन्दिर में निवास। जिला मजिस्ट्रेट चाँदा को सूचना। निष्पक्ष जांच की मांग। श्रीयुत अणे अथवा बापू जी के आने तक अनशन करने का निश्चय और निर्जल उपवास प्रारम्भ।

१२ नवम्बर—तीन घण्टे में चिमूर छोड़ने का नोटिस।

१३ नवम्बर—पुलिस द्वारा चिमूर से सेवाग्राम लाये गये।

१६ नवम्बर—सेवाग्राम से चिमूर के लिये पैदल प्रस्थान। निर्जल अनशन जारी।

२२ नवम्बर—चिमूर पहुँचे। स्वास्थ्य की अवस्था चिन्ताजनक। नाड़ी की गति ४०। पेशाब का रंग लाल।

२३ नवम्बर—पुलिस बस द्वारा चिमूर से स्टेशन लाई। स्ट्रेचर पर गाड़ी में लाया गया। सेवाग्राम पहुँचाया गया।

२५ नवम्बर—सेवाग्राम से चिमूर के लिये फिर पैदल प्रस्थान। १५ मील पर वायगाँव में श्री मुन्शी मिले। बड़े आग्रह के बाद पानी लेने को तैयार किया। १५ दिन तक निर्जल अनशन जारी रहा।

२६ नवम्बर—यहाँ से ५ मील चलने के बाद अशक्त होकर गिर गये। बैलगाड़ी पर आगे प्रस्थान किया।

२७ नवम्बर—सेवाग्राम से ५० मील चलने बाद वर्धा जिले से चांदा जिले की सीमा पार करने को थे कि वर्धा के जिला मजिस्ट्रेट के वारेण्ट पर गिरफ़ार किये गये। हिंगणघाट तक बैलगाड़ी पर, वहां से ट्रेन से वर्धा लाये गये और सेवाग्राम पहुंचा दिये गये।

२९ नवम्बर—सेवाग्राम न छोड़ने का नोटिस। उसी दिन शाम को पास के बरोरा गाँव जाकर नोटिस भङ्ग किया।

३१ नवम्बर—वर्धा में बजाजवाड़ी में लाये गये।

७ दिसम्बर—सेवाग्राम न छोड़ने का नोटिस रद्द किया गया।

१ जनवरी—अवस्था चिन्ताजनक। 'अन्तिम इच्छा' सन्देश लिखा गया।

८ जनवरी—डा० खरे पधारे। सरकार से समझौता कराने के प्रयत्न शुरू हुये।

११ जनवरी—इन प्रयत्नों की असफलता पर पानी का त्याग कर दिया गया।

१२ जनवरी—मध्यान्ह समय में ये प्रयत्न सफल हुये। शाम ४-३५ पर श्रीमती जानकीदेवी बजाज के हाथों से मौसम्बी का रस लेकर अनशन भङ्ग किया।

विचार-तरंग (४)

श्री चारवाक

शासनकर्ता शासितों के स्वत्व और स्वतन्त्रता का अपहरण करते हैं। इसीलिये विचार स्वातन्त्र्य के पुजारी कहते हैं कि शासन और स्वतन्त्रता में वैमनस्य है। वे अराजकता (अनार्किज़्म) को समाज की आदर्श स्थिति बताते हैं। इस धारणा में तत्व कितना है?

यह मानी हुई और इतिहाससिद्ध बात है कि मानव जीवन के आदिम काल में शासक कोई नहीं था। 'अपनी अपनी डफली और अपने अपने राग' का बोलबाला था। मनुष्य स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण करते, खाते पीते और रहते बसते थे। अराजकता का वह एक प्रकार से आदर्श युग था। उस समय यह नामुमकिन था कि एक देश दूसरे देश पर या एक मानव समाज दूसरी ऐसी समाज पर शासन करे। लोगों की संख्या थोड़ी थी और वे शिकार करके और जंगली फलों को खाकर रह सकते थे।

इसके बाद मत्स्य न्याय का युग आरम्भ हुआ अर्थात् बलवान लोग कमज़ोरों को दबाने और हड़पने लगे। बड़ी मछली छोटी को निगल लेती है। इसी को मत्स्य न्याय कहते हैं। बड़ी मछली को छोटी मछलियों को निगलने से रोकने के लिये ही शासन-पद्धति आरम्भ हुई। बलवानों के एक समूह ने अपने संगठन से जनसाधारण की रक्षा का भार लिया। पर और बलवानों ने भी समाज के लिये प्रत्येक व्यक्ति के लिये नियम बनाये। प्रत्येक व्यक्ति की आज़ादी छीनकर शासनकर्ता (कहीं संघ, कहीं कोई व्यक्ति विशेष) के सुपुर्द कर दी गई। वह समाज के हित के लिये नियमानुसार शासन करने लगा। धीरे धीरे ये नियम भी मनमाने बनने लगे। जो व्यक्ति उसके शासन के इन नियमों में बाधा डालते उनको दण्ड मिलता। शासन पद्धति के विरोधी निर्वासित किये जाते या मार दिये जाते।

मनुष्य ने स्वयं समाज के हित के लिये अपनी व्यक्तिगत आज़ादी को ख़ुशी से खोया। इसीलिये रूसो ने कहा था—"मनुष्य जन्म से स्वतन्त्र है परन्तु सर्वत्र वह परतन्त्र है।" पर सार्वजनिक हित में शासनकर्ताओं का समुदाय कभी ठीक तरह नहीं लग सका। इस समय डारविन आदि के सिद्धान्तों और मशीनों का दुरुपयोग कर यूरुप आदि में तो मनुष्यों को भी मशीन के टुकड़े ही बना डालने वाली शासन पद्धतियों का विकास उन्नति और सभ्यता की पद्धति के नाम से हुआ!

शासनकर्ता चाहे विष्णु (ईश्वर) के अवतार के रूप में सर्वशक्तिमान राजा हो, बादशाह हो, या प्रजा का मनोनीत राष्ट्रपति हो, या प्रजा का सेवक सर्व-शक्तिमान तानाशाह (डिक्टेटर) हो, इन सब की चेष्टा यही होती है कि उनके शासन में रोड़ा अटकाने वाले लोग दूध में गिरने वाली मक्खी की तरह निकाल कर बाहर फेंक दिये जायं। जब एक व्यक्ति की प्रभुता का पद पाकर यह दशा हो जाती है तब किसी समाज या देश के दूसरों पर शासन का क्या कहना; चाहे वह धर्म के आधार पर अपने को शक्ति-शाली समझें या जाति से श्रेष्ठता मानकर या रंग, शासनकला में दक्षता, सभ्यता आदि की दलीलें देकर। उदाहरण के लिये चीन सरकार की मिसाल लीजिये।

चीन की स्वाधीनता के लिये चीनी (कम्यूनिष्ट) जी जान से लड़ रहे हैं। कम्यूनिष्ट सेना को अष्टम-पथ-सेना (एटथ-रूट-आर्मी) कहते हैं। जिस लगन के साथ वे जापानियों का सामना कर रहे हैं उस दृढ़ता के साथ चीनी शासक, चियांग-काई-शेक, की सेना नहीं लड़ रही है। ताहम चीन के शासक कम्यूनिष्टों की लाल सेना को वेतन राज्य के कोष से नहीं देते। यही नहीं वरन् जो दवाइयां बाहर से दान के रूप में

[शेष १३६ पृष्ठ पर]

सम्पादकीय-विचार

साम्प्रदायिकता—साम्प्रदायिक सङ्गठनों की अकर्मण्यता—खाकसार और क़ौमी एका—भारत में तुर्क पत्रकार—करेंसी का सस्तापन और सामान की महँगी—पंचों का फ़ैसला—यहूदियों का क़त्ले-आम—रूस का संस्कृति-प्रेम—भारत के दरिद्र लेखक।

साम्प्रदायिकता

'सच कह दूँ अय बिरहमन, गर तू बुरा न माने।
तेरे सनमकदों के बुत, हो गये पुराने।'

श्री गुरुमुख निहालसिंह ने राजनीति-विज्ञान कान्फ्रेंस के सभापति की हैसियत से जो अभिभाषण दिया था, उसका एक हिस्सा इसी अङ्क में छप रहा है। इसके पहिले अंश में उन्होंने बतलाया था कि अंग्रेज़ों के इशारे पर हिन्दुस्तानी मुसल्मानों में किस तरह फ़िरक़ा-परस्ती फैलायी गयी। उन्होंने जो कुछ कहा उससे हम सहमत हैं, पर यह ज़रूर कहेंगे कि यह तस्वीर का एक रुख़ है। हमारे देश में राष्ट्रवाद का रूप सन् ५७ के ग़दर के बाद निखरा। शुरू में यह हिंदू अभिजातों तक परिमित रहा और इसने अंग्रेज़ों और मुसल्मानों के खिलाफ़ दोरुख़ी लड़ाई शुरू की। बाद में मुसल्मानों का विरोध कम हो गया, पर हमारी राष्ट्रीय कांग्रेस का नेतृत्व बराबर हिन्दू सुधारकों के हाथ में रहा। राजनीति के साथ वह हिंदू समाज के सुधार का काम करते रहे। यह अच्छी बात थी; पर हिन्दुस्तान की सब से बड़ी समस्या 'हिन्दू-मुस्लिम एकता' थी और इसी पर कम ध्यान दिया गया। मुसल्मानों को उनके सांप्रदायिक नेताओं के सुपुर्द कर दिया गया। अगर यह सच है कि आम तौर पर मुसल्मानों में राजनीतिक तङ्गख़्याली है, तो यह भी सच है कि हिन्दुओं में उतनी ही सामाजिक तंगख़्याली और अनुदारता है। यह हम नातरफ़दार की हैसियत से कह रहे हैं, क्योंकि मानव धर्म के सिवा हम किसी दूसरे धर्म को नहीं मानते। हमारे हिन्दू दोस्त अपने सीने पर हाथ रखकर फ़ैसला करें कि उनमें से कितने हैं जो हिन्दू-मुसल्मान में भेद-भाव नहीं करते। छूत-छात की कुरीति पुरानी सही, पर क्या दूसरों को अपनाने के लिये इतना कह देना काफ़ी है? अंग्रेज़ी और हिन्दी के राष्ट्रीय पत्रों में मुस्लिम लीग के ख़िलाफ़ बहुत कुछ लिखा जाता है। पर क्या उनका यह कर्त्तव्य नहीं कि इसी तीखेपन से हिन्दू महासभा के भी कान खुलवायें? दिल्ली में हम अपनी आंखों से देखते हैं कि हिन्दू मालिक-मकान भरसक मुसल्मानों को किराये पर मकान नहीं देते। यही बात आज से बारह साल पहिले हमने कलकत्ता में देखी थी। ऐसी छोटी छोटी सैकड़ों बातें हैं।

ज़िम्मेदारी किसी एक की नहीं। इस हम्माम में सब नंगे हैं। स्टेशनों पर 'हिन्दू चाय' और 'मुसल्मान चाय', 'हिन्दू पानी' और 'मुसल्मान पानी' की आवाज़ सुन कर हम में से कितनों को शर्म आती है, और जिन्हें शर्म आती है वह इस बेहूदगी को क़ानूनन बन्द कराने के लिये क्या करते हैं? बहुत कुछ देख-सुनकर अब हम इस नतीजे पर पहुँचे कि सांप्रदायिकता का ज़हर या तो कबीर की प्रेम-वाणी से मिट सकता है और या कार्ल मार्क्स की पैनी तलवार से। इसके सिवा तीसरा रास्ता नहीं है।

सांप्रदायिक संगठनों की अकर्मण्यता

हमारे देश में चार राजनीतिक शक्तियाँ काम कर रही हैं: साम्राज्यवाद, राष्ट्रवाद, समाजवाद और सम्प्रदायवाद। राष्ट्रवाद की मुख्य-संस्था ग़ैरक़ानूनी क़रार दे दी गयी है और देश की समाजवादी पार्टियाँ और मज़दूर आन्दोलन लड़ाई के नाम पर सरकार की नीति का अमली तौर पर समर्थन कर रहे हैं।

रह गये सम्प्रदायवादी संगठन। इनमें मुस्लिम लीग और हिन्दू महासभा दो प्रधान हैं। दोनों का काम हिन्दू-मुसल्मानों के भेद-भाव को बढ़ाना और अपनी अपनी संस्कृति के नाम पर जनता को इधर-उधर भटकाना है। नतीजा यह हुआ है कि साम्राज्यवाद मनमानी कर रहा है, और लोग हाथ पर हाथ दिये बैठे हुए हैं। हमारी सरहद पर जापानी मुंह बाये हैं और देश के अन्दर अंधेर नगरी फैली हुई है पर सम्प्रदायवादी नेता टस से मस नहीं होते। 'पाकिस्तान' और 'अखंड-हिन्दुस्तान' के दो पाटों के बीच में बेचारे हिन्दुस्तानी घुन की तरह पिस रहे हैं।

ख़ाकसार और क़ौमी एका

नज़रबन्दी से रिहाई के बाद अल्लामा मशरिक़ी ने हिन्दू-मुस्लिम एकता की ज़रूरत पर जो कुछ कहा, उसे पढ़कर हमें ख़ुशी हुई। ख़ाकसार आंदोलन पहिले ख़ासा मज़बूत था; पर अल्लामा साहिब ने इसे सबसे अलग रखा और किसी की हमदर्दी हासिल न की। नतीजा यह हुआ कि समाजवादी उन्हें फ़ासिस्ट कहने लगे और हिन्दू राष्ट्रवादी समझे कि वह मुस्लिम राज क़ायम करना चाहते हैं। मुस्लिम लीग ख़ाकसार संस्था को प्रतियोगी समझती थी और उसी के एक नेता सर सिकन्दर हयात के हाथों ख़ाकसार कुचल दिये गये। मालूम होता है कि अल्लामा साहिब को एकांतवास से बड़ा फ़ायदा हुआ है। वह समझ गये हैं कि जब तक हिन्दू-मुसलमानों में एका न होगा, दोनों ग़ुलाम रहेंगे। क्या अच्छा हो कि अपनी अद्भुत संगठन-शक्ति को वह यहाँ-वहाँ न फेंकें, बल्कि राष्ट्रीय एकता के महा यज्ञ में लगायें।

भारत में तुर्क पत्रकार

भारत सरकार के निमंत्रण पर कुछ तुर्क पत्रकार हमारे देश आये हैं। हम उनका स्वागत करते हैं। पांच हफ़्ते की छोटी सी मुद्दत में वह इतने बड़े देश में भला क्या देख सकेंगे। फिर सरकारी मेहमान होने के कारण उनका अधिक समय जलसों और बेकार दौरों में बीत रहा है। ख़ैबर की क़िलाबन्दी और कपूरथला के महाराज के सत्संग के बदले वह हमारे गांवों में जाते, हमारी संस्कृति के केन्द्रों को देखते और आज़ादी से चल-फिर कर हमारी समस्याओं को समझने की कोशिश करते तो एक बात होती। अब तक तो उनका कार्यक्रम बहुत बंधा-बंधाया सा रहा। यों, एक आम उसूल के तौर पर भी पत्रकारों को किसी सरकार का मेहमान होकर कहीं न जाना चाहिये; क्योंकि मेहमान के हाथ-पाँव बंध से जाते हैं।

जो भी हो, अगर हम पत्रकारों ने वापिस जाकर तुर्कों में हमारे लिये थोड़ी सी भी हमदर्दी पैदा की तो यह बड़ा काम होगा। कई नौजवान तुर्क हमारे निजी दोस्त हैं और उनकी मनोवृत्ति के आधार पर हम कह सकते हैं कि अब तक तुर्कों की सारी दिलचस्पी का केन्द्र यूरोप रहा है। हमारे बारे में तो वह कुछ नहीं जानते।

हिन्दुस्तानी मुसलमानों को यह देखकर बड़ा अचम्भा हुआ कि इन तुर्क मेहमानों ने उनसे किसी ख़ास भाई-चारे का सुबूत नहीं दिया। वह सोच भी नहीं सकते कि दुनिया कितनी बदल गई है।

करेंसी का सस्तापन और सामान की महंगी

सरकारी बयानों से मालूम होता है कि अगस्त १९३१ में जहां १ अरब ७९ करोड़ के काग़ज़ी नोट हिन्दुस्तान में चले हुए थे अब उनकी तादाद ६ अरब तक पहुँच गई है। करेंसी की तो यह बहुतायत है पर बाज़ार में मिलने वाले सामान की मिक़दार घट गई है। इस घटती के तीन सबब हैं। एक तो सरकार की ओर से युद्ध-सामग्री की ख़रीद, दूसरे निर्यात की बढ़ती और तीसरे लोगों का यह विश्वास कि करेंसी की बजाय सामान जमा कर रखना ज़्यादा फ़ायदेमन्द है। इन सब बातों का यह असर हुआ है कि ख़रीद का सामान बाज़ार से ग़ायब होता जाता है, बाज़ार भाव बढ़ता जाता है और इसी परिमाण से करेंसी का वास्तविक मूल्य गिरता जाता है। इस बढ़ते हुए ख़तरे को सरकार क़ाबू में नहीं ला सकी

है। उनकी कन्ट्रोल पॉलिसी बिलकुल नाकाम रही है और गेहूं पर से कन्ट्रोल हटा कर उसने इसका इक़रार भी कर लिया है। पर इससे जनता को कोई संतोष न होगा।

करेंसी की इस बहुतायत का एक ख़ास सबब यह भी है कि ब्रिटिश सरकार हिन्दुस्तान से जो माल मंगवा रही है, उसकी क़ीमत लंदन में पौंड की सूरत में जमा की जा रही है और बदले में यहां काग़ज़ी नोट दिये जा रहे हैं। यानी एक तरह यह माल ब्रिटेन को उधार दिया जा रहा है और यह रक़म अब अरबों रुपये तक पहुँच चुकी है। यह रक़म किस तरह हिन्दुस्तान को लौटाई जाये, इसे लेकर ख़ासी बहस चल रही है। इसका कुछ हिस्सा तो रेलवे स्टाक का भारतीयकरण करके अदा किया जा रहा है। बाक़ी हिस्सा सोने, चांदी, मशीनों और डालर की सूरत में दे दिया जाये तो इस दरिद्र देश का लाभ होगा। इस फ़ैसले का हक़ ब्रिटेन को नहीं बलकि हिन्दुस्तान को है, क्योंकि ब्रिटेन ऋणी है और उसे उस अर्थनीति पर नहीं चलना चाहिये जो नाज़ी जर्मनी अपने ग़ुलाम देशों से बरता करता है। यह नीति जर्मनी के भूतपूर्व अर्थ-मन्त्री डा० शाख़्त ने चलाई थी। वह दूसरों से उधार पर माल मंगवा कर बाद में ऋणदाता को मजबूर करते थे कि जर्मनी जिस सूरत में क़र्ज़ वापिस करे, उसी सूरत में क़ुबूल करें।

पंचों का फ़ैसला

अमेरिका के प्रसिद्ध विचारक प्रोफ़ेसर शूमिंग ने इस प्रस्ताव को दोहराया है कि रूस, चीन और अमेरिका भारतीय समस्या का निबटारा करें। पहिले भी इसी क़िस्म की बात सुझाई गई थी पर ब्रिटेन ने इस ओर कोई ध्यान न दिया। देशों की आज़ादी और खेतों की मिलकियत में बड़ा अन्तर है और वह ऐसी चीज़ नहीं कि पंच चौपाल में बैठकर उसका फ़ैसला करें। फिर भी अगर मित्र-राष्ट्र अपनी युद्ध-कालीन समस्याओं को अखंड समझते हैं तो उनकी शांति-कालीन समस्याएं अखंड क्यों नहीं हैं? अगर भारत में ब्रिटिश सत्ता का कुछ भी नैतिक आधार है तो इसका फ़ैसला ब्रिटेन अपने साथियों पर क्यों नहीं छोड़ देता? हाल ही में ब्रिटेन के शासक-दल ने भारत में अपने सत्कार्यों का यशगान शुरू किया है और इस कोरस में वहां के मज़दूर नेता मि० मारीसन ने भी हिस्सा लिया है। इन लम्बे चौड़े दावों की असलियत मालूम करना है तो एक अन्तर्राष्ट्रीय कमीशन आकर अपनी आंखों से यहां की हालत देखे।

पर इस लीपापोती का मक़सद तो कुछ और ही है। फ़्रांस के बहुत से उपनिवेशों पर मित्रराष्ट्रों का अधिकार है। आज तक इनकी आज़ादी का नाम भी नहीं लिया गया; बल्कि सरकारी तौर पर यही कहा जाता है कि लड़ाई जीतने के बाद वह फ़्रांस को लौटा दिये जायेंगे। जब हारा हुआ फ़्रांस अपने उपनिवेशों को पा सकता है तो जीते हुये ब्रिटेन से उसके उप-निवेश कौन ले सकता है?

यह नितान्त सम्भव है कि साम्राज्यवाद का नया युग बराए नाम देशों की राजनीतिक स्वतन्त्रता को मान लेगा पर उन पर अपना आर्थिक शासन बाक़ी रखेगा। इस समय भी ब्रिटेन, जर्मनी और जापान इसी नीति पर चल रहे हैं। पिछड़े हुए देशों के सुधार के नाम पर यह सब हो रहा है और होता रहेगा। पंच जो भी फ़ैसला करें, अगर उपनिवेश-वासियों को यही मन्ज़ूर हुआ कि वह मवेशियों की तरह इस बाज़ार से उस बाज़ार में हांके जायें, तो उनकी क़िस्मत को कोई नहीं बदल सकता।

यहूदियों का क़त्ले आम

यहूदी, हबशी और हरिजन—इन पर सदियों से जैसे ज़ुल्म होते चले आये हैं, उसकी मिसाल संसार के इतिहास में नहीं मिलती। पर पिछले दस वर्ष में नाज़ियों ने यहूदियों के साथ जो कुछ किया, वह अत्याचार की चरम सीमा है। हाल ही में जर्मनी की सरकारी समाचारवाहक एजेंसी ने ऐलान किया कि

पोलैंड के १६ लाख यहूदी लापता हो गये हैं ! इनका ख़ून नाज़ियों के सिर है।

हर जाति की तरह यहूदियों में अच्छाइयाँ भी हैं और बुराइयाँ भी। अगर उन्होंने सूदख़्वार और देशद्रोही पैदा किये हैं तो कार्लमार्क्स और आइन्स्टाइन भी उन्हीं की औलाद हैं। एक पूरी जाति को दुनिया से मिटाने का इरादा, परले दर्जे की पाशविकता है। पर जो तलवार से बनता है, वह तलवार से ही मिटता है। नाज़ी जल्लादों के गले में रूस फाँसी का फन्दा डाल रहा है।

जब तक संसार में जाति, रंग, देश या धर्म के नाम पर आदमी में भेद-भाव रहेगा, इस तरह की बर्बरता बाक़ी रहेगी।

रूस का संस्कृति-प्रेम

आदमी के संस्कृत या असंस्कृत होने का परिचय सङ्कट के समय मिलता है। यों तो बरसात में हर नत्थू ख़ैरा मल्हार गा लेता है। रूस को आज अपनी आज़ादी के लिये जितनी बड़ी क़ुर्बानी करनी पड़ रही है, किसी को नहीं। पर सोवियत् संस्कृति ने कितनी गहरी जड़ पकड़ ली है। इसकी बानगी देखिये। कामरेड स्ट्रूफ़ (struve), रूस के माने हुए पूर्व-ज्ञानी हैं और वहाँ की एशियाटिक परिषद के प्रधान भी हैं। इन्होंने बतलाया है कि इनकी परिषद एशिया का जो इतिहास तैयार कर रही है, उसका पहिला हिस्सा छप रहा है। साथ साथ भारत के इतिहास और एशिया में यूरोप वालों की कूटनीति का कच्चा चिट्ठा भी तैयार हो रहा है। परिषद के सदस्यों में एशिया के सब देशों के विशेषज्ञ शामिल हैं। ईरान, सीरिया और एशिया माइनर के प्राचीन इतिहास पर अलग अलग किताबें लिखी जा रही हैं। प्रोफ़ेसर केलयानोफ़ रामायण का अनुवाद कर रहे हैं।

भारत के दरिद्र लेखक

पाठकों ने उर्दू के प्रसिद्ध लेखक अज़ीम बेग चुग़ताई का नाम सुना होगा। हाल ही में उनका स्वर्गवास हो गया। बहुत दिनों से वह क्षय-रोग के शिकार थे और वह उनकी जान लेकर टला। हमने उनकी मौत के जो हालात सुने और पढ़े, उनसे आत्मा रो उठी। न उनके पास इलाज के लिये पैसे थे, न देख-भाल या खाने-पीने का कोई प्रबन्ध। उनकी किताबें बहुत लोकप्रिय हुईं पर पबलिशरों ने उनसे बड़ी बेईमानी की। मरते समय सगे-सम्बन्धियों ने भी साथ छोड़ दिया और जब वह एड़ियाँ रगड़ रगड़ कर मर गये तो सारे जीवन की साहित्य-सेवा का पुरस्कार चन्द अख़बारों के रस्मी आँसुओं के सिवा कुछ न मिला।

लेखकों और कलाकारों से दुनिया यही बर्ताव करती आई है। इस समाज को तराज़ू पर तौलकर आटा-दाल बेचिये; शब्दों या लकीरों की भला क्या क़ीमत लग सकती है। पर सौभाग्य या दुर्भाग्य से जो दुनियादार नहीं बल्कि साहित्यसेवी हैं, उन्हें अपनी दुर्गति पर तरस क्यों नहीं आता ? यह अपने ग़रीब भाइयों को संकट से उबारने के लिये सहयोग क्यों नहीं कर सकते ? हिन्दी साहित्य सम्मेलन और नागरी प्रचारिणी सभा के उद्योग से ग़रीब लेखकों का फ़ण्ड बन सके और इससे और कुछ नहीं तो हिन्दी के निराश्रय लेखकों को बीमारी के समय मदद मिल सके, तो कितना अच्छा हो। अगर इन सभाओं के कर्ता-धर्ताओं को ग़रीबों से हमदर्दी नहीं, तो मंगलाप्रसाद पारितोषिक और ऐसे ही साहित्यिक इनामों के रुपये इस काम में लगाये जायें। अच्छे लेखकों को इनाम देने से ग़रीब लेखकों को भूख और बीमारी से बचाना कहीं ज़्यादा पुण्य का काम है।

लड़ाई के हालात

आज से कई साल पहिले अर्नेस्ट हेनरी नायक युद्धकला-विशारद ने Hitler Over Russia नामी एक किताब लिखी थी। इसमें उसने जर्मनी और रूस की आने वाली लड़ाई का नक़्शा खींचा था। उसके ख़याल में इस लड़ाई को तीन मंज़िलों से गुज़रना चाहिये। पहिले तो जर्मन सेना रूसियों को ढकेलती हुई आगे बढ़ती जायेगी। फिर रूसी उसके बढ़ते हुए क़दमों को रोक देंगे और आख़िर में रूसियों की जवाबी चढ़ाई शुरू होगी जो अपनी सीमा से गुज़र कर शायद जर्मनी के अन्दर जा पहुँचे।

जर्मन और इटेलियन दोनों रूस की धुरी सेना की कठिनाइयों का ज़िक्र कर रहे हैं। सरकारी तौर पर ऐलान हुआ है कि रूस के युद्ध-क्षेत्र का विस्तार कम कर दिया जायेगा। उधर रूसी दावा कर रहे हैं कि अपने हमलों में उन्होंने लगभग ढाई लाख फ़ैसिस्टों को क़ैद कर लिया है और पांच लाख को बेजान या घायल कर दिया है। इससे यह साफ़ हो जाता है कि दकनी रूस में जर्मनों का अभियान असफल रहा और यह इस महायुद्ध में उनकी सब से बड़ी हार है। बर्लिन रेडियो के बयान के मुताबिक़ स्टेलिनग्रेड के मोर्चे में फंसी हुई जर्मन सेना विनाश के मुंह में आ रही है। इनकी तादाद दो लाख से घट कर ६०-७० हज़ार रह गई है और इनके आगे मरने या लड़ने के सिवा कोई चारा नहीं है। उत्तरी काकेसिया में रूसियों ने अपने बैरियों को डेढ़ दो सौ मील पीछे ढकेल कर निलचिक और अर्मवीर जैसे ठिकानों पर क़ब्ज़ा कर लिया। डान के नीचे उन्होंने सालस्क के महत्त्वपूर्ण रेलवे जंकशन को ले लिया। उनके सिपाही डोनेट्स को पार करके एक आध जगह युक्रेन के इलाक़े में धंस पड़े हैं। इसी तरह ऊपर वोरोनेज़ का सारा इलाक़ा और डोन का पूर्वी घुमाव उनके हाथ में आ गया है। इस समय उनके हमलों का रुख़ (१) तोखोरेत्स्क के जंकशन की ओर है जो काकेशिया की जर्मन सेना की वापसी का आख़री दरवाज़ा है। (२) रोस्तोफ़ की ओर है जो दकनी रूस में जर्मन प्रगति की चाबी है। (३) ख़ारकोफ़ और कुर्स्क की ओर जिनके चले जाने से जर्मनी को नीपर नदी के पार चले जाना होगा।

इसमें शक नहीं कि रूसियों की यह चढ़ाई पिछले जाड़ों की चढ़ाई से ज़्यादा ज़बर्दस्त है और इसने जर्मनों के भविष्य को संकट में डाल दिया है। अंकारा रेडियो का ख़याल है कि रूसियों ने अपनी सारी ताक़त इस चढ़ाई में लगा दी है। पिछले मोर्चे में रूसियों ने वेलिकी लुकी का जंकशन ले लिया है, पर जैसा कि हमने पिछली बार कहा था, यहां जर्मनों के पंजे मज़बूत जमे हुए हैं और वह सख़्ती से मुक़ाबला कर रहे हैं। लेनिनग्रेड डेढ़ साल से घिरा हुआ था। अब जाकर पूर्व की ओर से रूसियों ने यह घेरा तोड़ दिया और यह उनकी महत्त्वपूर्ण जीत है। इससे फ़िनलैंड और जर्मनी की सेनाओं का एका टूट गया और इस पिछलगुवे देश में बड़ी परेशानी फैली हुई है। स्वीडेन के जानकारों को ख़याल है कि उत्तर की ओर से मित्रराष्ट्र नार्वे पर और रूसी फ़िनलैण्ड पर हमला करेंगे। इस सूरत में जर्मन स्वीडेन को हथियाने की कोशिश करें तो अजब नहीं। यह बात भी याद रखने की है कि अमेरिका का एलची फ़िनलैंड वापिस जा रहा है। इससे मालूम होता है कि फ़िनलैंड के लिये समझौते का दरवाज़ा अभी बन्द नहीं हुआ।

पर जैसा कि पेरिस रेडियो ने कहा जर्मनी के लिये अब डूबने या उबरने का सवाल है। यह उसकी ज़िन्दगी और मौत की बाज़ी है। रूस पर हमला करके नेपोलियन ने जो ग़लती की थी, ऐसा लगता है कि हिटलर ने ज़्यादा बड़े पैमाने पर वही ग़लती की है।

रूसी हमले ने लड़ाई का नक़शा बदल तो दिया है, पर इसे सफल तभी समझना चाहिये जब अमेरिका और ब्रिटेन यूरोप में दूसरा मोर्चा क़ायम करके जर्मनी की जवाबी चढ़ाई की ताक़त को तोड़ दें। उत्तरी अफ़्रीका में जो कुछ हो रहा है, उसे रूसी दूसरे मोर्चे की भूमिका मात्र समझते हैं। यह सच है कि ट्रिपोली लेकर अंग्रेज़ों ने अफ़्रीका से फ़ासिस्ट साम्राज्य का नाम मिटा दिया। लेकिन ट्यूनिस में जर्मनी की फ़ौजी ताक़त बराबर मज़बूती पकड़ रही है और लिबिया से लौटे हुए सिपाहियों की कुमक उसकी शक्ति बढ़ा देगी। बिचले मैडिटरेनियन के दोनों किनारों पर जर्मन जमे हुए हैं और उन्हें हटाना हंसी-खेल नहीं। स्पेन और क्रीट—इन दोनों दिशाओं से जर्मनी तोड़ कर सकता है। लेकिन अगर ट्यूनिस पर मित्रराष्ट्रों ने जल्दी अधिकार कर लिया, तो मेडिटेरेनियन के सारे इलाक़े में हिटलर को बचाव पर आ जाना होगा और सारा दक्खिनी यूरोप ख़तरे में आ जायेगा।

कुछ लोगों को सन्देह है कि यूरोप पर अमेरिका और ब्रिटेन तब तक हमला नहीं करेंगे, जब तक उनके शासकवर्ग को यह भरोसा न हो जाये कि वहाँ के देशों में क्रांति न होगी। यही लोग कहते हैं कि परदे ही परदे में फ़्रांस और इटली में प्रतिक्रियावादी शासन जमाने के लिये जोड़-तोड़ हो रहे हैं। (पीपुल्स-वार १० जनवरी)। उत्तरी अफ़्रीका की राजनीतिक परिस्थिति को जिस तरह छिपाने की चेष्टा की जा रही है, उससे तो यही लगता है कि दाल में काला ज़रूर है। एडमिरल दारलाँ का ख़ूनी कौन था और उसने अदालत के आगे क्या बयान दिया, इस पर अभी तक रोशनी नहीं डाली गयी। उनके उत्तराधिकारी जनरल ज़ीरो से भी जनरल दे गोल ख़ुश नहीं हैं। इनमें से एक का समर्थन अमेरिका और दूसरे का समर्थन ब्रिटेन कर रहा है। मि० एटली ने पार्लमेंट में यह बात मान ली है कि फ़्रांस की समस्याओं पर यह दोनों देश एक राय नहीं हैं।

जो भी हो, जर्मनी को हराने के लिये और रूस की ताक़त को बाक़ी रखने के लिए दूसरा मोर्चा फ़ौरन बनना चाहिये। सोवियत् युद्ध-विशारदों की राय में इसमें कोई रुकावट न होना चाहिये। पर अमेरिका और ब्रिटेन की ओर से अब तक कोई सुन-गुन नहीं मिली। हाँ, उनके नेता रूस से अपनी शुभाकांक्षा जिस तरीक़े से ज़ाहिर कर रहे हैं, उससे अन्दाज़ा होता है कि वहाँ के साहूकारों पर अब तक बोल्शेविज़्म का भूत सवार है। इस लाल भूत को सीमाबद्ध करने के लिये मध्य यूरोप में पोलैंड, चेकोस्लोवेकिया आदि का संयुक्त राज्य बनाने की योजना हो रही है। ऐसा लगता है कि ब्रिटेन और अमेरिका के शासकदल में कुछ लोग ऐसे ज़रूर हैं जिनके आगे यूरोप में एक की बजाय दो समस्याएँ पैदा हो गयी हैं। जर्मनी का पराभव तो उनका लक्ष्य है ही। साथ ही साथ रूस के प्रभाव को सीमाबद्ध करना और यूरोप में कहीं क्रांति न होने देना भी—उनका मक़सद बन गया है।

ख़ैर; पहिल बराबर मित्र राष्ट्रों के हाथ में है। केवल सबमेरिनों की लड़ाई में उनका पल्ला हलका है। कहते हैं कि धुरी राष्ट्रों के सबमेरिन हर महीने दस लाख टन के जहाज़ डुबा देते हैं। जर्मन बड़ी तेज़ी से सबमेरीन बना रहे हैं और अब तक पूरी तरह उनकी रोकथाम नहीं हुई है।

ऊपर आस्ट्रेलिया के उत्तर-पूर्व के द्वीपों में छोटे पैमाने पर लड़ाई जारी है। न्यूगिनिया के पूर्व से जापानी निकाल दिये गये हैं और सालोमन द्वीप समुदाय पर अमेरिकनों ने हमले शुरू कर दिये हैं। इससे ऊपर राबोल की बन्दरगाह में जापानियों ने बड़ी नौ शक्ति जमा कर रखी है और आस्ट्रेलियावाले घबरा कर अमेरिका से ज़्यादा मदद करने की अपील कर रहे हैं। जापानी जो कुछ कर रहे हैं उसका हाल हमें नहीं बतलाया जाता, पर आस्ट्रेलियन नेताओं की परेशानी से गुमान होता है कि वह भी किसी घात में हैं। पापुआ के बाद अगर अमेरिकनों ने गदल-कनार और पूरे सालोमन द्वीप-

समुदाय को खाली करा लिया तो आस्ट्रेलिया का संकट टल जायेगा और उत्तर की ओर जापानी ठिकानों पर आक्रमण हो सकेगा। आस्ट्रेलिया के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री, मि० मेन्ज़िस का यह ख़याल है कि एक एक द्वीप पर जापानियों से लड़ने में उम्र बीत जायेगी। इन्हें तो ठिकाने की जगहों पर चोट पहुंचायी जाये। ऐसी जगह, उनके मत में, बर्मा है। क्योंकि बर्मा चीन का दरवाज़ा है, और चीन से ही जापान पर निर्णयात्मक हमला हो सकता है।

२६ जनवरी

नोट--यह लेख छप रहा था, जब अफ्रीका में मि० चर्चिल और प्रेसिडेण्ट रूज़वेल्ट के मिलने की ख़बर आई। इससे युद्ध की परिस्थिति में बहुत कुछ तबदीली होने की सम्भावना पैदा हो गयी है। पहिली नज़र में सरकारी बयानों का यह मतलब नज़र आता है:

(१) अमेरिका और ब्रिटेन—रूस पर से जर्मनी का दबाव हटाने के लिये इसी साल यूरोप में फ़ौजी कार्रवाई करेंगे।

(२) आज़ाद फ्रांसीसियों के आपसी झगड़े बन्द हो जायेंगे।

[१२९ पृष्ठ का शेष]

लाल-फौज के लिये भेजी जाती हैं वे उनको दिये जाने के बदले चियांग काई शेक की सेना को पहुंचाई जाती हैं!

कराका की चुंककिंग दिनचर्या में यह बात पढ़ने से ही आज मेरा ध्यान अराजकता की ओर गया। शासनकर्ता चाहे कितना ही भला मानुस, दयावान, अथवा प्रतापी पुरुष क्यों न हो पर वह उन लोगों के साथ उदारता का बर्ताव नहीं करता जिन को वह अपनी शासन-पद्धति का विरोधी समझता है। जब चियांग काई शेक के राज्य में, जहां कम्यूनिष्ट सेना सरकारी सेना के साथ जी तोड़कर जापानियों से लोहा बजाते हुये अपनी जान पर खेल रही है, इस तरह का बर्ताव किया जा रहा है तो सहसा कहना पड़ता है कि सभी सरकारें बुरी हैं। आज कल के राजनीति के पश्चिमी पण्डितों में से भी अनेक ने सरकार को एक 'आवश्यक बुराई' ही कहा है और कितने ही विद्वानों ने यह प्रमाणित करना चाहा है कि विज्ञान का विकास चाहे जितना हो जाय मनुष्य और मानवी शासन-पद्धति का विकास कभी ऐसा नहीं हो सकता कि सब लोगों को अपने पूर्ण विकास का एकसा अवसर मिल सके। इसीलिये वे यह मानते हैं कि किसी भी सरकार के हाथ में कम से कम शासन-शक्ति रहनी चाहिये। पर युद्धों और महा युद्धों ने इसे असंभव कर दिया है। इन युद्धों में भी मत्स्य-न्याय ही देखा जाता है। यूरुप और अमरीका के भी अनेक दल ऐसा ही कहते हैं। और चीन की इन करतूतों को देखने से विचारवान लोगों का ध्यान अराजकता (अनार्किज़्म) के सिद्धान्त की ओर जाये बिना नहीं रहता।

सम्पादक, मुद्रक और प्रकाशक—विश्वम्भरनाथ, विश्ववाणी प्रेस, साउथ मलाका, इलाहाबाद

इस अंक के कुछ लेख

इनके अतिरिक्त श्री जैनेन्द्रकुमार का धारावाहिक उपन्यास, अनेक सुप्रसिद्ध कवियों, कहानी लेखकों और विचारकों की कवितायें, कहानियाँ और विचार-धारायें।

वार्षिक मूल्य ६) 'विश्ववाणी' कार्यालय, इलाहाबाद एक अङ्क का ॥=)

विषय-सूची

मई १९४३

युक्तप्रान्त, पञ्जाब, बम्बई, मद्रास, मध्यप्रान्त और बरार, होलकर राज्य, मेवाड़, जोधपुर, मैसूर और काश्मीर के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूल और कालेज लाइब्रेरियों के लिए स्वीकृत

वर्ष ३, भाग ५ | मई, १९४३ | अङ्क ५, पूरे अङ्क २९

गीत

डा० श्यामसुन्दरलाल दीक्षित

क्या ऐसे ही तुमने रहीम पहिचाने,
दोनो बैठे अपनी - अपनी ज़िद ठाने !

है राम - रहीम न दूर, न काशी काबा,
है मज़हब के झगड़ों का झूठा दावा
वह हमला करता, यह करता है धावा
दो बेटे एक पिता के, लड़ते बाबा !

पहनो सच्चे मालिक के सच्चे बाने।
वह प्रेम सिखाता, लड़ना नहीं सिखाता
अपनी क़ुदरत में सब को खेल खिलाता
वह सब का मालिक और सभी का दाता
वह पिता सभी का, जननी भारत - माता
लो, बढ़ो, चलो आज़ादी को ले आने।

— —

वेदान्त और तसव्वुफ़

डा० ताराचन्द

रामानुज का समय हमें अपने इतिहास के उस ज़माने में ले आता है जब कि उत्तरी हिन्दोस्तान इसलाम के प्रभाव में आ चुकता है और हिन्दू धर्म में इसलामी विचार और संस्कार मिलने लगते हैं। लेकिन इसके साथ ही साथ इसलाम धर्म भी हिन्दू-शास्त्र और दर्शन के तरीक़ों और ख़्यालों को ग्रहण करता है जिससे दोनों एक दूसरे के निकट आ जाते हैं। इसलिए, इन दोनों का मेल जोल किस तरह शुरू हुआ यह जानना बहुत ज़रूरी है।

तसव्वुफ़ या इसलामी रहस्यवाद की नींव क़ुरान के उपदेशों पर ही रखी गई है। सूफ़ी सम्प्रदाय अपने सिद्ध पुरुषों की चरितावली हज़रत मुहम्मद से ही शुरू करते हैं और उनमें से बहुत से हज़रत अली को उनका पहला ख़लीफ़ा मानते हैं। यहां पर सूफ़ी धर्म के आरम्भ काल के उल्लेख की कोई ज़रूरत नहीं; लेकिन मन्सूर-ऊल-हल्लाज, जिनका जन्म ८५८ ईस्वी में ईरान में इस्तख़ के पास तूर नामक गांव में हुआ था, के विषय में कुछ कहना आवश्यक है। उनकी जीवनी से मालूम होता है कि वह हिन्दोस्तान में आकर गुजरात और काश्मीर में ठहरे थे और फिर उसके बाद ख़ुरासान गए। आख़ीर में बग़दाद जाकर रहने लगे और वहीं पर उपदेश देने लगे। इनके विचार पुराने ख़्यालवाले लोगों को पसन्द न आए और इब्न दाऊद उल इस्फ़हानी ने जो ज़ाहिरिया सम्प्रदाय के आलिम थे उनके ख़िलाफ़ फ़तवा दे दिया। वज़ीर के सामने मुक़द्दमा हुआ और ९२२ ई० में उनको फांसी दी गई। मन्सूर के इस ऐलान से कि 'मैं' और 'हक़' एक ही है (अनलहक़) उस वक्त भी जनता पर काफ़ी असर पड़ा। इसी के साथ उनकी राय कि हज वग़ैरह पाँचों फ़रज़ों की जगह और संस्कार ले सकते हैं बड़े वाद विवाद का सबब बनी। मन्सूर की शिक्षा थी कि ईश्वर (ख़ुदा) सृष्टि की सारी सीमाओं के परे है और ईश्वर और आदमी की आत्मा दोनों आख़ीर में एक हो जाते हैं। इस सिद्धान्त को 'हुलूले लाहूत फ़ी अलासूत' कहते हैं।

मन्सूर के २०० साल बाद इमाम मुहम्मद ग़ज़ाली हुए। उनको 'हुज्जत्-उल इसलाम' यानी 'इसलाम का सबूत, कहा जाता है और वे मुसलमानों में सबसे ऊंचे दर्जे के पंडित समझे जाते हैं। फ्रांसीसी लेखक रेनाँ, जिसने मुसलिम विचार-धारा का काफ़ी अनुशीलन किया था, उनको अरब के दार्शनिकों में सबसे मौलिक मानता है। इन्होंने इसलामी दर्शन पर यूनान का जो प्रभाव पड़ा था उसको इस तरह से उखाड़ कर फेंक दिया कि वह पूरब में फिर न पनप सका।

ग़ज़ाली का जन्म १०६६ ईस्वी में तूस नामक जगह में हुआ था, उन्होंने अपना जीवन एक धर्म-शास्त्री और भाष्यकार की हैसियत से शुरू किया लेकिन बाद में फ़लसफ़े की ओर उनका मन झुका। बग़दाद के मशहूर निज़ामिया कालिज के वह प्रोफ़ेसर मुक़र्रर किए गये। कुछ समय के बाद उनके दिमाग़ में एक इनक़लाब हुआ और उनकी आत्मा में उथल पुथल मचा। फ़लसफ़े की तरफ़ से विश्वास हट गया और वह नास्तिक हो गए। अपनी जगह से इस्तीफ़ा देकर उन्होंने तपस्या के द्वारा शान्ति हासिल की। मक्का आदि तीर्थ स्थानों की यात्रा करके उन्होंने ध्यान में मन लगाया। आख़िरकार उनकी परेशान आत्मा को शान्ति मिली। वह नैशापुर वापिस आए और वहाँ कालिज में पढ़ाने लगे। इसके थोड़े ही समय बाद वह अपने जन्म स्थान तूस लौटे जहाँ सन् ११११ ईस्वी में उनका देहान्त हो गया।

ग़ज़ाली का 'इह्या-उल-उलूम' उनका सब से उत्तम रचनात्मक ग्रन्थ है। इसमें उन्होंने धर्म और

फ़लसफ़ा सम्बन्धी सारी समस्याओं पर विचार किया है। ज्ञान या इल्म के बारे में उनका कहना है कि यह दो प्रकार का है—अक़्ली-यानी अक़्ल या बुद्धि से सम्बन्ध रखने वाला और दीनी-यानी आत्मा से सम्बन्ध रखने वाला। पहिले तरह का इल्म वैज्ञानिक इल्म है और प्रत्यक्ष प्रमाण, तर्क, और अध्ययन इसके हासिल करने के साधन हैं। एक ओर औषधि-शास्त्र, गणित, ज्योमेट्री, ज्योतिष शास्त्र और दूसरी ओर धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र तथा व्याकरण आदि इसकी शाखाएँ हैं। दूसरी तरह का ज्ञान इल्मे मकाशिफ़ा यानी आत्मा के साक्षात्कार का ज्ञान है। इसका मक़सद उस ईश्वर की प्राप्ति है जिसके सिवा सब असत् है। यह मनुष्य को सारे फंदों से छुड़ाकर सत् का साक्षात्कार कराता है। मन (ख़ातिर) में चञ्चलता पैदा करनेवाली इन्द्रियों को स्थिर करना, हृदय की शुद्धि (तज़किया-ए-नफ़्स) और गूढ़ तत्वों पर चिंतन (मराक़बा और मकाशफ़ा) इसके लिए पहली शर्त है। पहली तरह के दुनियावी इल्म की सचाई अनिश्चित है, किन्तु आत्मिक ज्ञान की निश्चित, क्योंकि यह सचमुच ईश्वर ही का सामना करा देता है। पहिली तरह का ज्ञान दूसरी तरह के ज्ञान से नीचे दर्जे का है, इसलिए जब तक यह दूसरे प्रकार के ज्ञान के विकास में साधक है तब तक तो ठीक है वरना बिल्कुल बेकार।

इन दोनों प्रकार के ज्ञानों के बीच में फ़र्क़ दिख लाने के लिए ग़ज़ाली ने दो उदाहरण दिए हैं। पहिला—किसी खेत में एक कुआं खोदा गया। इसमें पानी दो तरह से भरा जा सकता है एक तो ज़मीन की सतह पर नालियाँ खोदकर किसी दूसरे कुंड से इसमें पानी लाया जा सकता है या फिर उसी कुंए की तह की ज़मीन को इतना और खोदा जाय कि अन्दरूनी सोते से ख़ुद ब ख़ुद फूट कर पानी ऊपर आ जाए। दूसरी तरह का आया हुआ पानी पहिली तरह से आए हुए पानी के मुक़ाबले में अधिक निर्मल, वाफ़िर और स्थायी होगा। ठीक इसी तरह मनुष्य का मन (क़ल्ब) एक कुआँ है, नालियां पांच इन्द्रियां, और उनके द्वारा लाया गया पानी, तजरुबे और अनुभव (प्रत्यक्ष ज्ञान) पर आश्रित ज्ञान की तरह है। लेकिन दूसरे तरह का ज्ञान वह है जो छिपे हुये सोते से कुएं की तह की मट्टी के हट जाने पर अपने आप निकल आता है। यह वह सीधा ज्ञान है जो लौहे-महफ़ूज (सुरक्षित पट्टी) पर लिखा हुआ है, और यह उस दैवी सत् का ज्ञान है जो ईश्वर की दया से खोजने वाले की आत्मा में प्रकाशित होता है।

दूसरा उदाहरण—एक राजा से कहा गया कि रोमन और चीनी बड़े अच्छे चित्रकार हैं। उन दोनों की चतुराई की तुलना करने की ग़रज़ से राजा ने अपने कमरे की एक दीवार चीनी कलाकारों और सामने वाली रोमन कलाकारों को दी। दोनों के बीच में एक पर्दा डाल दिया गया। रोमन लोगों ने तरह तरह के रङ्ग इकट्ठे किए। लेकिन चीनियों ने बिला किसी रङ्ग के ही अपना काम शुरू किया। जब दोनों ने अपना काम ख़तम कर लिया तो उनकी चित्रकारी का मुआयना करने के लिए राजा बुलाया गया। रोमन लोगों की सुन्दर तस्वीरों को देखकर राजा बहुत ही ख़ुश हुआ और फिर चीनियों की दीवार की ओर मुड़ा जिस पर कोई भी रंग इस्तेमाल नहीं किया गया था। राजा ने आश्चर्य से पूछा 'चित्र कहाँ हैं?' तब चीनियों ने बीच का पर्दा हटा दिया और रोमन चित्र की सारी सुन्दरता की परछांई उस चीनी दीवार पर पड़ी। इतना ही नहीं बल्कि चीनियों ने अपनी दीवार पर ऐसी अद्भुत पालिश की थी कि परछांई असली तस्वीर से भी कहीं ख़ूबसूरत लगी और उसकी जगमगाहट के सामने तस्वीर फीकी पड़ गई।

ईश्वर के भक्त इन चीनियों की तरह से ही हैं। वे अपने दिल के आईने को इस तरह शुद्ध और निर्मल कर लेते हैं कि सनातन सत्य उसमें अपने पूरे प्रकाश के साथ चमकने लगता है, लेकिन पोथी पढ़ने वाले पण्डित रोम वालों की तरह से हैं; उनका ध्यान सिर्फ़ बाहरी दुनिया की शोभा तक ही सीमित रहता है।

इस्लामी रहस्यवाद के फ़लासफ़े के विकास में शहाबुद्दीन सुहरावर्दी (११४५—१२३४ ईस्वी) ने एक बड़ा भारी हिस्सा लिया। इस विषय पर उनकी लिखी हुई पुस्तक 'अवारिफ़ुल मआरिफ़' एक पूर्ण ग्रन्थ है। सुहरावर्दी ने इल्मों के फ़र्क़ को और भी भली भांति से जांचा है। उन्होंने बतलाया है कि इन्द्रियों और बुद्धि से प्राप्त (इद्राकी, हिस्सी, अक़्ली) अनुभव इल्म या ज्ञान से जुदा है। इस अनुभव के दो पहलू हैं—एक अक़्ले हिदायत यानी बनाने वाले के विषय की जानकारी और दूसरा अक़्ले मआश, बनाई हुई चीज़ों के विषय की। इल्म तीन तरह का है—१—इल्मे-तौहीद-यह ज्ञान कि ईश्वर एक है, २—इल्मे मआरिफ़त—ख़ुदा के कार्यों का ज्ञान; और ३—इल्मे-शरियत ख़ुदा के हुक्मों का ज्ञान। लेकिन इस इल्म के भी परे एक भीतरी दीठ है जिसे मआरिफ़त कहते हैं "मआरिफ़त इबारत अज़ बाज़ शिनाख़्तने उलूमे मुजमिल दर सूरते तफ़ासील।" (दीठ उस जानने का नाम है जो ज्ञानों में साधारण और विशेष की पहचान से हासिल होती है)। वह बतलाते हैं कि भीतरी दीठ (मारिफ़त) समाधि (वज्द) से मिलती है, और इसीलिये ज़बान में ताक़त नहीं कि वह इसे बयान कर सके। अनुभव और ज्ञान इसके लिये केवल भूमिका के समान हैं। इसलिए इल्म के बग़ैर दीठ (मारिफ़त) नामुमकिन है, और इल्म दीठ के बिना एक बोझा है। सबसे ऊँची दीठ (मारिफ़त), मारिफ़ते इलाही (ईश्वर की दीठ) है, जो आत्मा की पहचान पर निर्भर करती है। कहा है—"मन अरफ़ा नफ़सहि अरफ़ा रब्बिहि।"

"जो आत्मा में दीठ रखता है वही परमात्मा को पहचानता है।"

ईश्वर क्या है, उसका मनुष्य से क्या सम्बन्ध है—इन विषयों पर सुहरावर्दी के विचार उनकी इल्म और मारिफ़त (ज्ञान और दीठ) के सिद्धान्तों में शामिल हैं। उनके विचार से ख़ुदा पूर्ण, सत् और शुद्ध तत्व है जो गुण और विशेषणों से परे है। "अल्लाह, अहद, समद, मुनज़्ज़ा अज़ वालिदो वलद, व मऊनतो मदद, व मुक़द्दस अज़ शबीहो नज़ीरो वज़ीरो मशीर।"

ख़ुदा एक और सनातन है। उसका न कोई पैदा करने वाला है और न ख़ुद उससे ही कोई पैदा होता है। उसको न कोई मदद देता है और न वह किसी की मदद चाहता है। न उसका कोई सानी है, न कोई उसके समान है, न कोई उसका सहायता देने वाला वज़ीर है और न कोई सलाह देने वाला मन्त्री! देश, काल, गुण, आकार, संख्या, परिमाण, आदि से उसे कोई सम्बन्ध नहीं। वह तर्क, अनुभव, इन्द्रिय-ज्ञान, और अनुमान आदि से अप्राप्य उनसे दूर और स्वतन्त्र है। "हरचि दर अक़्लो फ़हमो हवासो क़यास गुंजद ज़ाते ख़ुदावंदे सुबहान अज़ां मुनज़्ज़हो मुक़द्दस अस्त।"

लेकिन यह पूर्ण चेतना वह चमकता दमकता तेज है जो हमेशा के लिये छिपा नहीं रह सकता। सुहरावर्दी का कथन है—"मुराद अज़ तज्जली इन्कशाफ़े शम्से हक़ीक़ते हक़ अस्त, तआला व तक़द्दुस अज़ ग़यूमे सिफ़ाते बशरी व ग़ैबते आं।"

'इन्सानी गुणों के बादलों को हटा कर, ऊँचे और विशुद्ध ईश्वर के परम सत्य रूपी सूरज को प्रकाश करना ही तजल्ली (आत्मा की ज्योति) है। यह प्रकाश तीन प्रकार का है—१—तजल्ली-ए-ज़ात-ईश्वर के तत्व का प्रकाश २—तजल्ली-ए-सिफ़ात उसके गुणों का प्रकाश और ३—तजल्ली-ए-अफ़आल उसके कार्यों का प्रकाश। पहली अवस्था को मुशाहदा, दूसरी को मुकाशफ़ा, और तीसरी को मुहाज़रा कहते हैं। मुशाहदा की सबसे ऊँची अवस्था वह है जब कि देखने वाला (द्रष्टा) देखी गई वस्तु (दृष्ट) में अपने को मिला देता है।

परमात्मा और मनुष्य के सम्बन्ध को बतला कर सुहरावर्दी सूफ़ियों के रीति रिवाज, शिष्टाचार और आदर सत्कार पर अपने विचार ज़ाहिर करते हैं। इसके बाद वह उनके कर्त्तव्यों और सद्गुण को बतलाते हैं, आख़ीर में अन्तिम लक्ष्य तक पहुंचने के लिये रास्ते की मंज़िलें और अवस्थाएँ बयान करते

हैं। उनके मत के अनुसार यह बहुत ज़रूरी है कि शरियत (धर्म) में बताए गए नियत कर्म (विधि) किए जाएँ और जिन कामों को करने से मना किया गया है (निषेध) वे न किए जाएँ। मसलन पांच फ़र्ज़ अवश्य करने चाहिये। सद्गुणों में वे सब्र, धीरज, विनय, उदारता, मित्रता, क्षमा, स्नेह और प्रेम पर ज़ोर देते हैं। पश्चात्ताप, तप, त्याग, दीनता, समर्पण, कृतज्ञता, भय, आशा, ईश्वर में विश्वास और उसकी इच्छा का पालन—यह सब उस मार्ग की मंज़िलें हैं। इन सब गुणों से युक्त सूफ़ी ईश्वर प्रेम और आकर्षण की भिन्न भिन्न अवस्थाओं का अनुभव करता है और अन्त में फ़ना व बक़ा (मोक्ष) के मंज़िले मक़सूद पर पहुंच जाता है।

इब्न अरबी जो 'शेख़-उल-अकबर' के नाम से मशहूर हैं, सुहरावर्दी से छोटे लेकिन उनके समकालीन थे। उनका जन्म स्पेन देश के मुरचिया स्थान में सन् ११६५ ई० में हुआ लेकिन वह अपने जीवन को बिताने के लिये पूर्वी देशों में आये और कई मुल्कों का सफ़र करते हुए दमिश्क़ में बस गए। सन् १२४० ई० में उनका जीवन समाप्त हो गया।

ईश्वरी तत्त्व की खोज के साथ उनके फ़लसफ़े का आरम्भ होता है। उनका विचार है कि ईश्वर को न तो केवल सबके परे (तन्ज़ीह) और न सिर्फ़ सबके अन्दर (तशबीह) माना जा सकता है, क्योंकि वह दोनों ही है। क़ुरान का कहना है "हूउल अव्वल हूउल आख़िर हूउल बातिन हूउल ज़ाहिर।" 'वह सबसे पहिला और सब के आख़िर है; वह अन्दर वाला है, और बाहर वाला भी।' यह भी कहा गया है "सनरीहुम आयतना फ़िलाफ़ाक़ि व अन्फ़ुसहुं हत्ता यतबीन लहुं इन्नहुलहक़्क़े" 'मैं आसमान में और उनके प्राणों में अपने चिह्नों को ज़ाहिर करूँगा ताकि उनको साफ़ साफ़ मालूम हो जाए कि वही सत्य है।' जब कि यह कहा जाता है कि "उसके समान कोई चीज़ नहीं है", तो उसके तन्ज़ीह या परा रूप से तात्पर्य है, और जब कहा जाता है कि 'वही सुनने और देखने वाला है' 'हू उस्समी हू उल बसीर" तो उसकी 'तशबीह' या अन्तर्य्यामी अवस्था से मतलब है। जहां एक ओर वह बुद्धि के परे है वहां दूसरी ओर वह अपने को हब्ल्-उल-वरीद यानी गरदन की नाड़ी से भी पास बताता है।

इसीलिए परम सत् का बयान केवल ऐसे ही शब्दों में किया जा सकता है जो आपस में विरोधी हों। लेकिन यदि वह परम सत् संपूर्ण है तो इसका एक नियत रूप भी होना चाहिये। ब्रह्मांड का विकास इसी नियत रूप से सम्बन्ध रखता है।

प्रवृत्ति का सिद्धान्त ईश्वर के नियत रूप से बंधा है। इससे सृष्टि के विकास-क्रम का पता चलता है। इस विकास की पांच अवस्थाएँ हैं। पहली अवस्था वहदत यानी पूर्ण ऐक्य या अद्वैत की है जिसमें बाह्य जगत् और अन्तर्जगत् बिलकुल एक होते हैं। दूसरी अवस्था वह है जिसमें ऐक्य टूट जाता है और अन्तर्जगत् (बुतून) और एकत्व का सामना होता है। इसको वहिदियत कहते हैं। इसके बाद अहदियत यानी बहुत्व में एकत्व वाली अवस्था आती है, इस अवस्था में गुणों (सिफ़ात) में तत्त्व और तत्त्व में गुण प्रकट हो जाते हैं। चौथी अवस्था वह है जब विचार नाम (एयान) उत्पन्न होते हैं और आख़िरी वह जबकि रूप (अजसाम) पैदा होते हैं। मनुष्यों, चीज़ों और जगत् के इस बहुत्व के पीछे, दर असल, एक ही तत्त्व है, जैसा कि क़ुरान में कहा गया है. "ऐ लोगों अपने रब का आदर करो, जिसने एक प्राण से सारी ख़लक़त को पैदा किया। "या ऐयहा उन्नास उत्तिक़ू रब्बिकुं अल्लज़ी ख़लक़कुं मन नफ़्सहि वाहिदतुन्"

बाहरी जगत् के स्वभाव के बारे में इब्न अरबी ने अजीब विचार ज़ाहिर किए हैं। 'फ़ुसूस्-उल-हिकम' में वह कहते हैं कि मनुष्य और ख़ुदा का सम्बन्ध पदार्थ और उसकी परछांई का सा है; और मनुष्य का जीवन स्वप्न समान है। और भी कई विषयों पर इब्न अरबी के विचार बिलकुल मौलिक थे। उदाहरण के तौर पर मूर्ति पूजा के बारे में उनका विरोध साधारण रूप से कहे जाने वाले मतों से भिन्न विचारों पर मुनहसर था। वह कहते थे

कि हर पूजा की चीज़ में, चाहे वह पत्थर, पेड़ या कुछ भी क्यों न हो, ईश्वर या उसके गुणों का प्रकाश होता है. लेकिन उपासना के यह साधन ईश्वर को एक ही वस्तु में सीमित कर देते हैं और उसकी असली संपूर्णता और एकत्व निकाल देते हैं जो ठीक नहीं। (फ़स्से-हारूनी)

अब्दुल करीम जीली जो इब्न अरबी के ही सम्प्रदाय का था, १४ वीं सदी के आख़री हिस्से में फ़ारस में रहता था। ऐसा मालूम होता है कि उसने जवानी में हिन्दुस्तान का भ्रमण किया था। उसका फ़लसफ़ा अधिकतर इब्न अरबी के ही सिद्धान्तों से मिलता जुलता है, इसलिए उसके यहां बयान करने की कोई ज़रूरत नहीं। जहां तक पूर्ण ब्रह्म का अपने शुद्ध अन्तर्जगत से जिसे जीली काला बादल (अल अमा) कहता है, बाह्य जगत् के अनिगनत रूपों में बदलने (अवतरण) का विषय है, जीली और इब्न अरबी के मत एकसां हैं। लेकिन गुणों वाली दुनिया किस प्रकार फिर शुद्ध और सरल तत्व में लौट जाती है—इस पर भी जीली विचार प्रकट करता है, और सत असत के चक्र को पूरा करता है। इस चक्र के बीचों बीच आदमी का स्थान है, क्योंकि उसकी आत्मा एक ओर ब्रह्म और दूसरी ओर प्रकृति से मिल जाती है।

आदमी सत और असत के बीच में पुल बांधता है। आत्मा में सत्ता के सारे गुण एक हो जाते हैं इसीलिए उसके द्वारा बहुत्व में फँसा हुआ एक अपने एकत्व के बारे में सचेत हो जाता है। जिस मनुष्य में इस एकत्व के ज्ञान का उदय हो जाता है वह इन्साने कामिल, पूर्ण पुरुष (परम हंस) कहलाता है। इस ज्ञान के उदय की तीन अवस्थाएँ हैं—नाम की ज्योति, गुणों की ज्योति और तत्व की ज्योति। यह अवस्थाएँ ब्रह्म के प्रकृति में उतरने की तीन मंज़िलें हैं। इन्हें अहदिय्यत (एकता), हुविय्यत (तदीयता) और अनिय्यत (अस्मदीयता) के नामों से पुकारते हैं।

बाद के सूफ़ी लेखकों ने इन अवस्थाओं के दूसरे नाम रखे हैं। जैसे साधारण चेतना की अवस्था को नासूत कहते हैं और इससे आगे वाली तीन अवस्थाओं को क्रम से मलकूत, जबरूत और लाहूत नाम देते हैं। मलकूत अवस्था में जो चेतना होती है उसकी स्वप्न से तुलना की गई है। इसको सूक्ष्म जगत और अमिट रूपों का जगत भी मानते हैं। दूसरी अवस्था बेखुदी या तल्लीनता की है जो सुषुप्ति के तुल्य है। यह वह गहरी नींद है जिसमें सपने नहीं दिखाई देते। सबसे ऊँची अवस्था सत्य, तत्व और एकत्व की अवस्था है। इन हालतों की मनोवैज्ञानिक विशेषताओं की जाँच करें तो मालूम होता है कि मनके विषयों का धीरे धीरे इस प्रकार नाश होता है, कि अन्त में एक अवस्था ऐसी आ जाती है जब चेतना में कोई भी दूसरी वस्तु न रहकर वह अकेली रह जाती है। पहली अवस्था वह है जिसमें विषयी, विषय और उन दोनों के आपस के सम्बन्ध मौजूद रहते हैं; दूसरी वह है जिसमें विषयी और विषय रह जाते हैं सम्बन्ध टूट जाते हैं, और आख़िरी वह है जिसमें केवल विषयी ही रह जाता है, विषयों का अन्त हो जाता है। यह फ़ना (मोक्ष) की मुख्तलिफ़ सीढ़ियां हैं जिन पर चढ़ कर आत्मा परमात्मा को पहुँच जाती है और उसकी यात्रा पूरी हो जाती है।

यही यात्रा जिसे 'तरीक़ा' कहते हैं एक संयम है, जिसके दो हिस्से हैं। पहिले हिस्से को 'मुजाहिदा' (अभ्यास) और दूसरे को 'मराक़बा' (ध्यान) कहते हैं। मुजाहिदा या अभ्यास का ध्येय हृदय की शुद्धि (तज़कियाए नफ्स) है और इसमें शरियत के नियमों विधि और निषेधों, को मानना है। दूसरे हिस्से के अन्दर शारीरिक और मानसिक क्रियायें हैं जिन्हें ज़िक्र (ध्यान) कहते हैं। ज़िक्र (ध्यान) की कई क़िस्में हैं, इनमें जली ख़फ़ी अधिक मशहूर हैं। इन क्रियाओं के लिए ख़ास ख़ास आसन हैं और इनके साथ साथ प्राणायाम (हब्से दम) भी किया जाता है जिसमें ईश्वर का परम नाम 'ला इला इल-अल्लाह'

जपा जाता है। यह क्रियाएँ एक गूढ़ प्रभाव पैदा करती हैं जिसमें अनदेखे रङ्ग और अनसुने शब्द दिखाई और सुनाई देते हैं। मौलाना रूम इसी की तरफ़ इशारा करते हैं और कहते हैं—"दर लबश क़ुफ्लस्त व दर दिल आवाज़ए। लब ख़मोश वो दिल पुर अज़ आवाज़ए" होंट पर ताला लगा है, और दिल में एक नाद है, होंट चुपचाप हैं लेकिन दिल नाद से भरा है।

इसलामी रहस्यवाद के विकास का बयान यहीं ख़त्म हो जाना चाहिये। क्योंकि इसके बाद वाले इतिहास में हमें इससे आगे और कोई नए विचार नहीं मिलते। इसलिए अब यहां पर वेदान्त और तसव्वुफ़ दोनों में क्या समानता है यह जानने के लिये दोनों की तुलना करना चाहिये। सबसे पहिले हम ज्ञान के सिद्धान्तों को लें। उस विषय में वेदान्त और तसव्वुफ़ दोनों ही मानते हैं कि विद्या दो प्रकार की होती है, एक का विषय सत्य है दूसरी का जगत। एक अपरा है, और दूसरी परा, एक दीनी और दूसरी दुनियावी। पहली प्रकार की विद्या का लक्ष्य अपने को जानना आत्म-प्राप्ति है यानी 'साक्षात्कार' या 'मुशाहदा' 'अनुभव',—'समाधि' 'वज्द' 'जमा-उल-जमा'—यानी परमानन्दमय अनुभव इसके साधन हैं। 'अभ्यास' या 'रियाज़त' 'योग' या 'ज़िक्र' 'संयम' और 'ध्यान' या 'मुजाहदा' और 'मराक़बा' आदि मानसिक साधन इसकी क्रियाएँ हैं।

दोनों ही मत उस पूर्ण 'तद्' 'हू' 'धातु' 'ज़ात' को एकसा मानते हैं। हिन्दू और मुसलमान दोनों की दृष्टि से वह दूर से दूर और पास से पास है। वह परम या मुतलक़; सत्यस्य सत्यम् या हक़ीक़त-उल-हक़ायक़, ज्योतिषम् ज्योति या नूरुन-अला-नूरिन; सर्व व्यापी या मुहीत है। दोनों मानते हैं कि सिर्फ़ बुद्धि या अक़्ल के ज़रिए इसका बोध नहीं हो सकता। जहां एक ओर उपनिषद् कहते हैं कि "वह न मन से, न वाणी से और न आंखों से पाया जा सकता है, 'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मना' वहाँ जामी साहब फ़रमाते हैं 'परम प्रकाशित सत्य का तत्व न इल्म से पाया जा सकता है और न दृष्टि से।'

'हक़ीक़ते हक़े सुबहान न दर इल्म गुंजद व न दर अयान।"

दोनों ही ब्रह्म के जगत-रूप में बदलने को विकार कहते हैं और इसकी कई सीढ़ियां मानते हैं। इस क्रम का लक्षण उस गूढ़ अद्वैत में नाम और रूप या इस्म और सिफ़ात का पैदा हो जाना है। दोनों ही मानते हैं कि जगत का बाहुल्य उसकी इच्छा का फल है। उपनिषद में आया है।

'उसने सोचा कि अब मुझे जगत की रचना करना चाहिए।'

हदीस में आया है, "कुन्तो कनज़न् मख़फ़ीयन् फ़ाहबबतो अन उरिफ़ो फ़ख़लक़तो अल ख़ल्क़ो"

'मैं एक छिपा हुआ ख़ज़ाना था, फिर मैंने इच्छा की कि लोग मुझे जानें। इसलिए मैंने सृष्टि की रचना की।'

वेदान्त और तसव्वुफ़ दोनों ही मनुष्य को परमेश्वर का ख़ास कृपा पात्र मानते हैं, क्योंकि उन दोनों के अनुसार मनुष्य की बुद्धि या क़ल्ब चेतन (ख़ुदा) और जड़ (प्रकृति, दुनिया,) के मिलने की जगह है। जहाँ हिन्दू मनोवैज्ञानिक इस प्रकृति में सत्व, रजस और तमस तीन गुण पाते हैं वहाँ ग़ज़ाली भी उसमें इद्राक (सत्व), क़ुदरत (रजस), और शहवत-ओ-ग़ज़ब (तमस) यह तीन तत्व बतलाते हैं।

इसी तरह आत्मा के फिर ईश्वर में लय हो जाने के बारे में दोनों सम्प्रदायों के एक से विचार हैं। एक ही मार्ग से दोनों एक ही मंज़िल पर पहुंचते हैं। दोनों ही में समान संयम है, समान गुणों की आवश्यकता है, और दोनों के अनुभव एकसा हैं। रास्ते की मंज़िलें और अवस्थाएँ एक ही हैं। केवल नामों का फ़र्क़ है। मामूली से मामूली आदमी से यह बात नहीं छिप सकती कि दोनों सम्प्रदायों के विचार और लक्ष्य एक हैं। यदि परमात्मा की कृपा और प्रसाद की एक तरफ़ ज़रूरत है तो दूसरी तरफ़ भी उतना ही ज़रूरी है कि उसका फ़ैज़ और लुत्फ़ हो। न तो हिन्दू बिना गुरू के इस पवित्र यात्रा को पूरा कर सकता है

और न मुसलिम पीर या मुरशिद के बग़ैर; और दोनों ही दशाओं में शिष्य या मुरीद का गुरू पर पूरा पूरा आसरा होना चाहिये। परमार्थतः प्रेम या इश्के हक़ीक़ी की ताक़त ही दोनों को रास्ते पर चलने के लिए प्रेरित करती है।

जब तसव्वुफ़ और वेदान्त हिन्दुस्तान की ज़मीन पर मिले तो इन्होंने दोनों हिन्दू और मुसलमानों में, ईश्वर की तलाश करने वाले लोगों के हृदय में उत्साह भरा। दोनों में इतनी साफ़ साफ़ समानताएं थीं कि दोनों ही ने उन्हें पहिचान कर अपना लिया। दोनों सूफ़ी और सन्तों ने मालूम कर लिया कि उनके लक्ष्य और साधन एकसां हैं। आपस के इसी मिलाप से विचार की वह गहरी धारा बह निकली, जो मध्यकालीन हिन्दोस्तान की संस्कृति का आधार बनी। इस समय के अनेकों मज़हबी नेताओं और सुधारकों ने इस आत्मिक ऐक्य के विचार ज़ाहिर किए। मिसाल के तौर पर हम उनमें से कुछ यहाँ देते हैं। 'गुलशने-राज़' के लेखक शहाबुद्दीन मुहम्मद शबिस्तरी, जिनकी १३२० ई० में मृत्यु हुई, मूर्तिपूजा और इसलाम के फ़र्क़ को बतलाते हुए कहते हैं :

बुत ईंजा मज़हरे इश्क़ अस्तो वहदत,
बूअद ज़ुन्नार बस्तन अक़्दे ख़िदमत।
चू कुफ़्रो दीं बुअद क़ायम ब हस्ती,
शवद तौहीद ऐने बुत परस्ती।
चू अशिया हस्त हस्ती रा मज़ाहिर
अज़ा जुमला यके बुत बाशद आख़िर।
मुसलमां गर बिदानिस्ते कि बुत चीस्त
बिदानिस्ते कि दीं दर बुत परसतीस्त।
वगर मुश्रिक ज़िबुत आगाह गश्ते
कुजा दर दने ख़ुद गुमराह गश्ते।
नदीद ऊ अज़ बुत इल्ला ख़ल्क़े ज़ाहिर
बदीं इल्लत शुद अन्दर शिर्क काफ़िर।
तू हम गर अज़ू न बीनी हक़ पिनहां
ब शरअ अन्दर न ख्वानंदत मुसलमां।

मूर्ति इस दुनिया में प्रेम और अद्वैत को प्रगट करने वाली है। और जनेऊ बांधने का मतलब सेवा का प्रण करना है। चूंकि कुफ़्र और दीन (हिन्दू और मुसलिम धर्म) दोनों ही दुनिया के अस्तित्व पर क़ायम हैं इसलिए तौहीद (अद्वैत धर्म) मूर्ति-पूजन का असली तत्व है। चूंकि जगत की सारी वस्तुएं अस्तित्व को प्रगट करती हैं, इन सब ही वस्तुओं में मूर्ति भी एक वस्तु है। अगर मुसलमान जानता कि मूर्ति सचमुच क्या है, तो समझ जाता कि मूर्तिपूजा ही धर्म है। और अगर मूर्ति पूजने वाला मूर्ति की असलीयत जानता तो वह अपने धर्म से न विचलता। उसने मूर्ति में केवल बाहरी प्रकृति को देखा और इस कारण उसने ईश्वर को न पहचाना और काफ़िर हुआ।

तू भी अगर उसमें सत्य को छिपा हुआ नहीं देखता तो तुझे भी शरअ (धर्म शास्त्र) के हिसाब से मुसलमान नहीं कहेंगे।

मिर्ज़ा जान जानान मज़हर जिनका जन्म १६९९ ई० में हुआ अपने एक पत्र में हिन्दू धर्म के बारे में यूं लिखते हैं :—

बुत परस्ती व ईं अमल मुशाबहत
ब ज़िक्रे राब्ता दारद कि मामूले
सूफ़िया अस्त, व ईं मानी मुनासिबत।
ब अक़ीदए कुफ़्फ़ार अरब न दारद
कि आंहा बुतां रा मुतसरिफ़ बिलज़ात
गुफ़तन्द न आला ए तसर्रुफ़ इलाही

मूर्तिपूजा उस प्रयोग से समानता रखती है जिसे ज़िक्र राबता (मिलाने वाला ध्यान) कहते हैं। यह प्रयोग सूफ़ियों का मामूल (अभ्यास) है। इस अर्थ में मूर्तिपूजा का कोई सम्बन्ध काफ़िर अरबों के मत से नहीं है क्योंकि अरब मूर्तियों को स्वयं शक्ति-मान मानते थे न कि ईश्वर की शक्ति के साधन।

[अनुवादित] समाप्त

राजा और ऋषि

महात्मा भगवानदीन

यह बात ठीक नहीं है कि किसी धर्म की लीक से हटकर चलना अधर्म है। किसी धार्मिक तत्व में गहरे जाना ही धर्म की तरक्की करना है। हाँ, उस धर्म के तत्व ज्यों के त्यों रहें। बदलाव जीवन है, वह धर्म का भी जीवन है। धर्म-अनादि है मगर सारे धार्मिक विचार सादि हैं। महा त्यागी बेटे में महा परिग्रही बाप की कुछ न कुछ बात रहती है। बग़ैर परिग्रह के त्याग की क़दर ही नहीं। बेटा बाप से बड़ा हो सकता है और बहुत बड़ा हो सकता है पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि वह अपने बाप से पैदा है। धार्मिक विचार कितना ही उत्तम क्यों न हो पर उसकी जड़ उन निकृष्ट विचारों में मिलेगी जो उससे पहले मौजूद थे। प्रेम और हिंसा का भी यही हाल है। प्रेम की शोभा ही हिंसा से है। हिंसा प्रेम की जननी है, इस नाते वह उसको प्यार करती है और उसके उत्थान में जी जान लड़ा देती है। हिंसा समझे बिना प्रेम समझ में नहीं आ सकता। मनुष्य के मन के दो और केवल दो ही पहलू हो सकते हैं—एक यह कि वह जगत का हो रहे, दूसरा यह कि जगत उसका हो रहे। मन क़ाबू में कर लेने से जगत का आधिपत्य प्राप्त होता है। जीवन में किसी भी प्रकार की सफलता के लिए मन पर क़ब्ज़ा करना ज़रूरी है। नायक इसी क्रिया का सर्वोच्च पर्याय है। यहाँ इतना और समझ लेना चाहिए कि जिसने मन पर क़ाबू पा लिया है उसने आत्मा को भी समझ लिया है, यह ज़रूरी नहीं है। हाँ, यह हो सकता है कि मन पर क़ाबू पाने वाला अपने उन सब अनुभवों को जो सीधे उसकी आत्मा को हुए हैं एक ओर रख दे और सांसारिक उन्नति में बढ़ता चला जाय। मन पर क़ाबू पाने वाले नायक की तुलना हम फ़ौलाद से कर सकते हैं। वह समय पाकर स्थिरता या मुहब्बत की शरण लेता है। अपनी आत्मा में पैठने की बात उसे कभी सूझती ही नहीं। पुराने रूमी सरदार और चंगेज़ ख़ां जैसे चीनी साहसी इसी कोटि में आते हैं।

मन पर क़ाबू पाने वाली प्रवृत्ति की जननी है घोर बर्बरता और मन पर क़ाबू पाने वाली प्रवृत्ति ने जन्म दिया अन्तर्मुखी प्रवृत्ति को। यह अन्तर्मुखी प्रवृत्ति, जब इसकी जननी जगत में ऊँचा स्थान पाये हुए थी, लोगों के हृदय में जगह बना चुकी थी और कुछ ही दिनों में इसने अपनी माँ के सारे राज्य पर अपना क़ब्ज़ा जमा लिया। एक समय था जब बर्बरता ही सब कुछ थी और उसी की पूजा होती थी। उसके बाद न्यायप्रिय, संयमी नायकों की पूजा हुई। इसके बाद यह आवाज़ जगत में गूँजने लगी कि "वह आदमी ही क्या, जिसने जगत तो जीत लिया लेकिन आत्मा को मैला कर लिया।" पुराने समय के नायक आत्मा के मैले होने की बात सोचते ही न थे। उनके सामने दृश्य जगत था, उसी का जीतना, चक्रवर्ती बनना, उनका काम था। वे योग्यता, कर्मण्यता, विजय के पुजारी थे, कायरता और मृत्यु को अपना दुश्मन समझते थे। उनके जीवन मन्दिर का कलश था, प्रसिद्धि। उन्हें इस बात की रत्ती भर परवाह नहीं थी कि उनकी अन्तरात्मा में क्या द्वन्द चल रहा है और क्या क्या अनुभव हो रहे हैं। उनका अपना क्या बनेगा इसकी भी उन्हें परवाह न थी। उनका बलिदान बहुत ज़बरदस्त होता था। वे जीवन का बलिदान ही नहीं करते थे किन्तु प्रसिद्धि की वेदी पर अपनी आत्मा को बलि चढ़ा देते थे। इससे ही तो पता चलता है कि कोरा नायकत्व बुरी चीज़ है। मगर यह कथन सापेक्ष है, बर्बरता की अपेक्षा यह अच्छी चीज़ है, आत्मोन्नति, आत्मदर्शन की अपेक्षा यह यह बुरी चीज़ है।

बिगड़ना, बनना (उत्पादन, व्यय, सृष्टि, प्रलय) जीवन के दो पहलू हैं पर बिगड़ना बिगड़ना ही

रहेगा और बनना बनना ही। हम खाते भी हैं और टट्टी भी जाते हैं, दोनों हमारे जीवन के लिये जरूरी हैं। फिर भी टट्टी से हम घृणा करते हैं और बुरा समझते हैं। जीवन-क्रम में बुराई (पाप) एक आवश्यक चीज़ है। एक ओर तो वह जीवन में काम करती है प्रलय का, जो वास्तव में सृष्टि भी है और प्रलय भी, और दूसरी ओर वह काम करती है हद बाँधने का और रोक खड़ी करने का। जीवन-क्रम के लिये बुराई कितनी जरूरी क्यों न हो, बुराई रहेगी बुराई ही। जो भी बुराई के बुराई होने से इन्कार करता है वह बुराई के सीधे अर्थों से बुराई को वंचित करना चाहता है। जैसे जैसे बुराई की जरूरत बढ़ती जाती है वैसे वैसे बुराई का बुरापन चमकने लगता है। एक दार्शनिक के लफ़्ज़ों में बहिर्मुखी प्रवृत्ति वाला मनुष्य एक शिकारी जानवर है। शिकारी जानवर उन तमाम प्राणियों के दुश्मन होते हैं जो उनके खाने के काम आते हैं। अपने उत्थान के दिनों में रूमी लोगों का यही हाल था। यह जानने के लिये कि रूमी लोग असल में क्या थे उनसे पूछने की ज़रूरत नहीं। वे विजेता थे, यह तो उन लोगों से पूछने से पता लगेगा जो उनके द्वारा जीते गये थे। प्रजा सरकार की कसौटी होती है; प्रजा जैसा समझे सरकार वैसी मानी जाएगी। सरकार जैसा कहे वैसी वह नहीं हो सकती। रूमी लोगों को उन दिनों की प्रजा सचमुच शिकारी जानवर समझती थी। बहिर्मुखी मनुष्य आत्मा की छानबीन के बाद भले का नहीं, बुरे सिद्धांत का ही प्रतीक साबित होगा। यह अटल सच है। बहिर्मुखी को अन्तरात्मा की कौड़ी भर परवाह नहीं होती और यही बात उसके बुरे होने का सच्चा प्रमाण है। जितने अंशों में वह अपने अन्तरात्मा की ओर से बेपरवाह होता है उतने ही अंशों में वह उन सब चीज़ों को छोड़ता जाता है जो आत्मोत्थान में सहायक होती हैं। बहिर्मुखी मनुष्य में इस बुराई का बाहरी रूप यह होता है कि जितने अंशों में वह दूसरों की तरफ़ से बेपरवाह होता है उतने ही अंशों में वह उन सब चीज़ों को छोड़ता जाता है जो आत्मोत्थान में सहायक होती हैं। यही तो कारण था कि पुराने यूरुप के लोग बड़े क्रूर और बड़े पाषाणहृदय होते थे और यहूदी ख़ास तौर से इतने एकांगी होते थे कि उनको यदि इस बहिर्मुखी प्रवृत्ति का देवता माना जाए तो अत्युक्ति न होगी। एक तरह से वे ही लोग इस नवीन जगत के जनक हैं। किस तरह बहिर्मुखी प्रवृत्ति बुराई के महत्त्व को और उसकी उत्तमता को दुनिया से मनवा लेती है, उसकी ज़िन्दा मिसाल है आजकल का अमरीका, जहाँ का हर एक आदमी मुसकराते हुए इस बात के अधिकार को स्वीकार करता है कि वह करोड़ों आदमियों को अपने आर्थिक लाभ के लिए दुख में डाल सकता है और मौत के घाट उतरने के लिए भेज सकता है और जहाँ सिर्फ़ संसारिक सफलता के लिए आत्मा का इतने दर्जे तक पतन किया जा सकता है जितना पहले कभी देखने में नहीं आया था। और यही बात यह बताकर कि कि बॉलशेविज़्म आत्मा का कितना बड़ा दुश्मन है रूस ने भी साबित करदी है। वहाँ करोड़ों आदमी मार डाले गये और धर्म की ऊँची बातों में विश्वास करने वाले जेल में ठूंस दिए गए। पाठकों को यह सुनकर अचरज होगा कि बॉलशेविज़्म जैसे ऊँचे और उदार नवीन धर्म को बहिर्मुखी क्यों बताया जा रहा है। पर है बात वैसी ही। बॉलशेविज़्म बहिर्मुखी ही है। और अगर बहिर्मुखी नेता बुराई की मूर्त्ति है तो रूसी लोगों ने उस क़िस्म की सबसे बड़ी मूर्त्ति पैदा की है। हाँ, और मुल्कों ने भी छोटी छोटी मूर्त्तियाँ पैदा कीं। जैसे चीन ने चंगेज़ ख़ाँ, यूनान ने सिकन्दर, क़ाबुल ने बच्चासक्का, वग़ैरा। साहसी लोग जो न कभी अपने फ़ायदे को सोचते हैं न दूसरों की, बार बार अपनी जान को जोखों में डाल देते हैं। सूदख़ोर अपने सूद को वसूल करने में कितनी बार जान से हाथ धो बैठते हैं और कोरे तार्किक तर्क में जीतने की ख़ातिर सिर हथेली पर लिए फिरते हैं। लेकिन ऊँचे से ऊँचा और अच्छे से अच्छा बहिर्मुखी (अप्रव्य) बुराई के सिद्धांत का ही प्रतीक रहता है।

सिपाही कितना ही शुद्ध मन वाला क्यों न हो, मारता और नाश ही करता है और उसे किसी तरह यह नहीं समझाया जा सकता कि तेरा यह विनाशकारी कर्म बुरा है। पुराने नायकों का ज़िक्र करते हुए आजकल हर प्रकार का आत्मवाद अहंकारवाद बताया जाता है और मरना मारना एक मामूली बात कही जाती है, अमरत्व का प्रश्न एक ओर रख दिया जाता है। यही इस बात का सबूत है कि इस क्रूर, निर्दयी, बहिर्मुखी प्रवृत्ति पर कितना ज़ोर दिया गया है। इसके ख़िलाफ़ ईसा के यह लफ़्ज़ कि 'आत्मा को मत खो बैठो क्योंकि उसकी कमी दुनिया की किसी चीज़ से पूरी नहीं की जा सकती।' बड़े मार्के का असर पैदा कर सके, यह अचरज की ही बात है।

उस समय जब बहिर्मुखी प्रवृत्ति अपने सर्वोच्च शिखर पर थी ईसा की आत्मवाद की आवाज़, जिसको उसी तरह बढ़ने का अधिकार था जैसे कि बहिर्मुखी प्रवृत्ति को, पहले पहल उन्हीं को कुछ ऊँची जो आत्मा की ओर बढ़ रहे थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस प्रकार की चेतनता बहुत पहले से पूरब में जाग चुकी थी तो भी यूरूप में फैली हुई बहिर्मुखी प्रवृत्ति को सामने रखते हुए पहले लफ़्ज़ का इस्तेमाल बेजा न होगा। अब मनुष्य समाज को यह पता चला कि दुनिया पर राज्य करने से भी ज़्यादा ज़रूरी है अपने आपको इसलिए बदलना कि हम अपनी आत्मा को ऊंचा उठा सकें। मगर इसके लिए चाहिए बहिर्मुखी प्रवृत्ति से बिल्कुल विपरीत प्रवृत्ति। इस वृत्ति से हमारा ध्यान अपनी और दूसरी आत्माओं की ओर फिरेगा और अपनी ओर दूसरी आत्माओं के प्रति हमारी श्रद्धा बढ़ेगी और आत्म महत्व को स्थापना होगी। इन बातों का बहिर्मुखी प्रवृत्ति में कोई स्थान ही न था। मगर आत्मा की ओर बढ़ने का रास्ता विजय की राह नहीं गया, वह तो आत्मसमर्पण की राह गया है, जहाँ सारे मनोभावों को आत्मा की वेदी पर चढ़ा देना पड़ता है।

एक दार्शनिक का कहना है कि मानव संस्कृति इस तरह नहीं बढ़ी कि उसने एक विचार से दूसरा विचार बनाया किन्तु इस तरह बढ़ी कि उसने एक तरह के मनोभाव को दूसरे तरह के मनोभाव के लिए दबाया और इसी तरह संस्कृति की धार निरन्तर बिना रुके बढ़ती रही। सिद्धान्त, जिनके ज़रिए से जगत की क्रियाशीलता पर अधिकार किया जाता है, उन विचारों का अन्तिम रूप है जो जीवन में पहले से ही मौजूद थे। हर बात, जो कुछ दिनों के बाद बड़ा विचार या मुख्य सिद्धान्त नाम पाने वाली है, पहले पहल अचानक और बिना समझे ही मन में उत्पन्न होती है। चाहे समय के लिहाज़ से लीजिए, चाहे मुल्कों के लिहाज़ से लीजिए, मनुष्य एक ही ओर बढ़ता हुआ, एक ही विचार के कभी किसी पहलू को और कभी किसी पहलू को अपनाये रहता है। किसी ख़ास क़िस्म के मनोभाव बढ़ जाने से उससे पहले की संस्कृति पुरानी हो जाती है। इसीलिए भिन्न भिन्न समय में मानव समाज भिन्न भिन्न देवताओं की पूजा करता आया है, कभी जानवरों की कभी पौदों की, कभी सूरज चांद तारों की और कभी ईंट पत्थरों की। यह सब देवता उसके मनोभावों के संकेतमात्र थे। एक मर्तबा इस चक्कर में फँसकर मानव समाज इस बात के लिए अयोग्य हो गया कि वह इस लोक से हटकर कोई दूसरी बात सोच सके। बाद में जो कुछ सोचा गया उसकी जड़ में पुराने देवता किसी न किसी रूप में ज़रूर मौजूद रहे मगर जैसे ही वह चक्र टूटा वैसे ही ख़ास प्रकार की संस्कृति की जड़ें हिल गईं और वह ढह पड़ी। यही वजह है कि जीवन के भिन्न भिन्न विचारों में कहीं कहीं एक साफ़ दीवार खड़ी मालूम होती है। बहिर्मुखी प्रवृत्ति की विचार-धारा अन्तर्मुखी प्रवृत्ति की विचार-धारा से बिल्कुल भिन्न है। आज कल का पच्छिमी मनुष्य घटनाओं के जाल में फँसा हुआ है। नए अर्थों में अठारहवीं शताब्दि से पहले घटनाओं की ओर बहुत कम क्या, बिल्कुल ध्यान नहीं दिया जाता था। किन्तु उन्नीसवीं शताब्दि से उन्होंने (घटनाओं ने) मनुष्य के ध्यान को इतना अपनी ओर खींचा जितना जादू भी पहले समय में मनुष्य का ध्यान न खींच सका था। केवल घटनाओं

मे शासित होना ही इस बात का प्रमाण है कि हम मशीन युग के चक्र में फँस गये हैं। वास्तविक बौद्धिक उन्नति हमारी नहीं हो पाई। अब जैसे ही हम इस घटना चक्र में से निकलेंगे वैसे ही अठारहवीं सदी के सारे प्रश्न हमारे सामने से हट जाएंगे और हम ठीक रास्ते पर आ लगेंगे।

बहिर्मुखी प्रवृत्ति वाला मनुष्य सारी दुनिया पर पर क़ब्ज़ा करना चाहता है। इस काम में सच उसके लिए कोई चीज़ नहीं रह जाता। हाँ, सच से अगर उसे इस काम में मदद मिलती हो तो वह उसे ज़रूर अपना लेगा। यही कारण है कि राजनेता और सेनापति ज़रूरत के वक्त झूठ बोलने में ज़रा भी नहीं झिझकते, उनके लिए झूठ बोलना मामूली चीज़ हो जाती है। आत्मा सदैव सच के झण्डे के नीचे ही बढ़ता है। आत्मा की तुलना ज्योति से की जाती है। आत्मिक सत्य की भित्ति विज्ञान पर या विज्ञान के धरातल पर नहीं है, वह तो सचाई पर है। यही कारण था कि पश्चिम में ईसा ने पहले पहल इस बात पर ज़ोर दिया कि वह स्वयं सत्य है। हरेक आदमी जिसे अपनी आत्मा का ज्ञान है अपनी आत्मा की पुकार पर उन सब अनुभवों मे ऊपर उठता ही है जो उसे अब तक होते रहे हैं। उसके अन्दर यह तीव्र इच्छा होती है कि वह अपनी आँखों यह देखे कि जीवन है क्या चीज़। सचाई के रूप में वह अपने भीतर की तराज़ू की डन्डी को सीधा रखना चाहता है क्योंकि बग़ैर उसके उसे शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए शुरू शुरू में गहरे से गहरा आदमी पूरा पक्का साबित नहीं होता। जो कुछ वह अपने अन्दर चाहता है उसके लिए उसमें एक बड़ी तबदीली की ज़रूरत है, उसकी ख़ातिर उसे दूसरा ही आदमी बनना होता है। इस क्रिया मे उसे कष्ट होता है। यही कष्टसहन का तत्व तपस्या के नाम से प्रसिद्ध है। कष्ट सहना भर कोई अर्थ नहीं रखता, उससे आत्मा को कोई फ़ायदा नहीं होता। सचाई की ख़ातिर कष्ट सहने के लिए तैयार रहना और कष्ट पड़ने पर उसे सहना तपस्या है। पहले पहल तो जीवन स्वयं कष्टप्रद अनुभवों का पुंज है और सत्य को पाने के लिये कष्ट ज़रूरी है और दूसरी बात जो सबसे ज़्यादा ज़रूरी है वह यह है कि सच के जानने पर ही ज़ोर दिया जाय क्योंकि आत्मा की उन्नति के लिए सच की जानकारी अत्यन्त ज़रूरी है। ईसा और बुद्ध में ज़मीन आसमान का फ़र्क़ था। बुद्ध ईसा की अपेक्षा आत्मा की जागृति के लिहाज़ से कहीं ऊँचा था और इसलिए वह सारे मनुष्य समाज को राह बताने के लिए आज के दिन तक सबसे बड़े नक्षत्र का काम कर रहा है। फिर भी उसने कष्ट सहन के लिए तैयार रहने का प्रचार नहीं किया, उसने जो कुछ किया वह मनोभावों को जानकर कष्टों के दूर करने की बात थी। यही कारण है कि बुद्ध अपने समय में कोई ऐतिहासिक उन्नति की नींव नहीं डाल सका। इसी सिलसिले में कुछ जर्मन लोगों को, जो ईसा को 'हीरो' (Hero) मानते हैं, ग़लती भी साफ़ समझ में आ जाती है। कष्टों को सहन करने की हिम्मत और सलीब (Cross) को अपने कन्धे पर ले चलने की बात ऊँचे दर्जे की हिम्मत है सही, पर अगर शब्दों का यह काम है कि विवेक में मनुष्य की सहायता करे तो ईसा 'हीरो' नहीं था किन्तु बिल्कुल उससे उलटा था। उसने कष्ट सहे, वह ऐसा आदमी था जो दुःखों से दबा हुआ था। हाँ, वह आत्मा के लिहाज़ से 'हीरो' था, किन्तु आजकल के आत्मा की ओर से अन्धे आदमियों की राय के अनुसार वह दुनियावी 'हीरो' नहीं था। वह कमज़ोर नहीं था और न वह इस किस्म का आदमी था कि तकलीफ़ों से भागे। किसी भी दामों शान्ति को मोल लेने को वह इच्छुक नहीं था। ओडीसीयस (Odysseus) की अपेक्षा ईसा भिन्न प्रकार का कष्ट सहन करने वाला था। ओडीसीयस (Odysseus) को वास्तव में ऐसे कष्टों में से गुज़रना पड़ा जो उसे अच्छे नहीं लगे। उसे उनकी शिकायत थी। वे कष्ट उसमें कोई परिवर्तन नहीं कर सके और यह भी नहीं माना गया है कि उसके कष्टसहन में कोई उद्देश्य था। यूनानियों

की राय में 'बेमतलब का दुख कष्ट' कहलाता है। ईसा की राय में 'सचाई की ख़ातिर कष्ट सहन इस बात का प्रमाण है कि अन्दर कोई क्रियात्मक परिवर्तन हो रहा है।'

इसी बात से ईसा की कथा उन सब कथाओं से भिन्न हो जाती है जिनमें कष्टसहन, मरने और देवताओं के अवतरण का ज़िक्र है। वास्तव में ईसा को कथा में पुराने ज़माने की वे सारी कथाएँ आ मिली हैं जो उस समय प्रसिद्ध थीं। नतीजा यह हुआ है कि अब यह मुश्किल हो गया है कि उन कथाओं को अलग अलग किया जाय। ईसाइयों ने मरने वाले और शहीद देवताओं की कथाओं को कुछ इस तरह से समझाया है जिससे यह पता चलता है कि बुराई और पाप भी आत्मदर्शन में पूरे सहायक होते हैं और यही वजह है कि ईश्वरभक्त घृणित से घृणित मौत के कष्ट को सहने में घृणा नहीं करते। पुराने कष्ट सहन करने वाले और मरने वाले देवता सब ईश्वर की राह में कष्ट सहन करने वाले थे। जर्मन ईसाइयों की दृष्टि से वे ईसा के समान ही दुख सहन करने वाले 'हीरो' (Hero) थे। अब यह इन्कार नहीं किया जा सकता कि न सिर्फ़ पाल बल्कि ईसा ख़ुद भी इसी तरह सोचता था। यानी ईसा के लिए सबसे ज़रूरी बात यह थी कि मनुष्य समाज का छुटकारा हो और उसका सारा प्रयत्न इसी के लिए था। साफ़ ही है कि इस मामले में धार्मिक और आध्यात्मिक विश्वासों को बहुत कम महत्व दिया गया है। हमें ज़रूरत है आत्मा में विश्वास की। यह ज़रूरी नहीं है कि आत्मविश्वासी अपनी आत्मा को पहचाने। हर आदमी, जिसमें बड़े से बड़े आदमी शामिल हैं, उन रिवाजों में बँधा रहता है जिनमें उसने जन्म लिया है। जो कुछ भी हो, न सिर्फ़ पाल ने बल्कि ईसा ने भी अपने बारे में ऐसा ही सोचा होगा। सच्चा और असली मानों में मौलिक और तात्विक ईसाई सत्य वह था जो शताब्दियों से अपनी ख़ासियत को ज्यों का त्यों बनाए बड़े रूप में अपनी सत्ता को बनाए रहा। आज यह बात ज़ोर से नहीं कही जा सकती क्योंकि ईसा-युग की सारी उन्नति का भविष्य इसी पर टिका हुआ है। यहूदियों या ईसा से पहले के धर्मतत्वों पर ईसाई-सत्य का आत्मा नहीं टिका हुआ है! मुक्ति के मान लेने से या प्रायश्चित करके शुद्ध हो जाने से भी ईसाई धर्म का समर्थन नहीं होता। किन्हीं ख़ास सिद्धान्तों पर भी ईसाई धर्म का दारमदार नहीं है। सारे सिद्धान्त ईसाइयत के अनुभव की जड़ में पहुँचने के प्रयत्न मात्र हैं। विचार का इसके सिवाय और प्रयास हो भी क्या सकता है! इसके अलावा सब विशेष शिक्षाएँ पुराने रूपों में नए अर्थों की खोज हैं। हरेक आदमी जानता है कि नाटक लिखने वाले कवि को एक ऐसे प्लाट (Plot) की ज़रूरत होती है जो पहले से मौजूद हो, वह उसी में ग़ोता लगाता है और उसमें तन्मय होकर एक मौलिक सृष्टि की रचना करता है जिसमें किसी को यह कल्पना भी नहीं होती कि इसमें कोई पुरानी चीज़ भी शामिल है। उस हर आदमी का मार्ग इस नाटक लिखने वाले जैसा ही होता है जो अपने आपको जानने की कोशिश करता है। आत्मा अपने आप को देह के द्वारा ही पहचानती है क्योंकि वह इसके सिवाय और कुछ कर ही नहीं सकती। जितनी ज़्यादा अपनी खोज के लिए आत्मा देह को अपनाती है उतनी ही ज़्यादा वह अपने को पाती है, किसी ग़ैर को नहीं पाती। यही कारण है कि समय समय पर मनुष्य समाज में किसी ख़ास किताब के ज़रिये से अपने अपने अनुभवों का वर्णन किया गया है। यहाँ मेरा मतलब किसी ख़ास किताब से नहीं है; बल्कि इस तरह की सब किताबों से है जिसमें होमर की 'ओडेसी' और हिटलर की 'मीन-केम्फ़' जैसी पुस्तकें भी शामिल हैं। ऐसी किताबों के लोग भिन्न भिन्न अर्थ लगाकर विपरीत दर्शन पैदा कर लेते हैं और विपरीत धर्म बन बैठते हैं। इसका यह मतलब नहीं है कि इस तरह की प्रथा को रोकना चाहिए; किन्तु बहुत से आदमियों के लिए यह बिल्कुल ज़रूरी है कि वे किसी ख़ास पुस्तक से अपना नाता जोड़ें वरना वे अपने को पहचान ही नहीं सकते।

आजकल की भाषा में ईसाई धर्म और पुराने धर्म का अन्तर यों बताया जा सकता है कि सचाई की ख़ातिर कष्टों को स्वीकार करना, झेलना और उनके लिए तैयार रहना, इन सब बातों से मनुष्य में एक परिवर्तन होता है और इस तरह मनुष्य की पहुँच आत्मा तक हो जाती है। ईसाई धर्म पुराने धर्म का दूसरा पहलू नहीं है किन्तु उसके बिल्कुल विपरीत है। पुराना धर्म कष्टों में पड़ने से बचता है जबकि ईसाई धर्म जान बूझकर अपने लिए कष्टों को स्वीकार करता है। जातीय अनुभवों को एक ओर रखकर संसारिक विजय प्राप्त हो सकती है किन्तु आन्तरिक उन्नति तब तक नहीं होती जब तक आन्तरिक उन्नति की रीति पर पूरे तौर से अमल न किया जाय। आन्तरिक उन्नति ही ईसाई धर्म का उद्देश्य है। संसार के सब धर्मों की अपेक्षा ईसाई धर्म आत्मोन्नति पर सबसे ज़्यादा ज़ोर देता है। जिससे इस काम में सहायता मिले वह अच्छा और जिससे रुके वह ख़राब। इससे यह सिद्ध हुआ कि विजय से कष्टसहन कहीं बड़ी चीज़ है, क्योंकि केवल वही आदमी जो अपनी अन्तरङ्ग प्रवृत्ति पर ध्यान देता है केवल वही आदमी जो अपने भीतर के अनुभवों पर सबसे ज़्यादा ज़ोर देता है, वही आत्मदर्शन का अधिकारी होता है या उसको पहले से ज़्यादा साफ़ कर पाता है। कष्ट-स्वीकृति, बिना किसी अपवाद के, दुख दर्द से भरी हुई होती है। आत्म विश्लेषण, भीतर की खोज, अन्तर्द्वन्द, आत्म दमन, पश्चाताप यह भीतर की ऐसी क्रियाएँ हैं जिनमें दुख होता ही है और केवल वे ही सत्य मार्ग को पा सकते हैं जो दुख से नहीं डरते, किन्तु सत्य की ख़ातिर हर प्रकार की आपत्ति में पड़ने को तैयार रहते हैं।

इसलिए कष्ट और केवल कष्ट के लिए तैयार रहना ही वह मार्ग है जिससे आत्मोन्नति हो सकती है। इस उल्टी बात का भेद अपने आप समझ में आ जाता है कि क्यों समय समय पर यूरुप में बेइज़्ज़ती, बदनामी, दुख, महामारी और कुरूपता को बड़ी आदर की दृष्टि से देखा गया। यह सब काम पुराने धर्म की प्रतिक्रिया रूप नहीं थे किन्तु सत्य पर बहुत ज़्यादा ज़ोर देने की शक्ल में थे। इनका यह भी मतलब था कि पूरे तौर से दुनिया की ओर से बेपरवाह हो जाने में व्यक्ति के अन्दर एक क्रियात्मक शक्ति जाग जाती थी जिससे बड़ा काम हो जाता था। अपने ऊपर यह कष्टसहन की बीमारी ईसाई वातावरण में कभी कभी ख़ूब फैली, चाहे वह आत्मपीड़न की शक्ल में रही हो या कष्टसहन की शक्ल में और यही कारण था कि कष्ट सहने वाले प्रचारक कभी कभी बड़ी प्रसिद्धि पा जाते थे चाहे उनका सम्बन्ध ईसाई धर्म से हो या न हो। हिन्दुस्तान और तिब्बत में जो तपस्या करने की रीति है वह इससे बिल्कुल भिन्न है। ऐसी तपस्या कष्ट की ख़ातिर कष्टसहन नहीं कहलाती, ऐसी तपस्या से इच्छा-शक्ति प्रबल हो जाती है, आत्मा आज़ाद हो जाती है, और ख़ास रीति में निकलने से आत्मा ऊँची उठ जाती है। योगी और जेसूइट (Jesuit) दोनों ही कष्टसहन पर ज़्यादा ज़ोर नहीं देते किन्तु ईसा इसके विपरीत सलीब (Cross) को कन्धे पर उठाकर ले चलने से इस बात पर ज़ोर देता है कि कष्ट को कष्ट के लिए सहन करना चाहिए और यही मुक्ति का मार्ग है।

यहाँ यह ज़रूर जान लेना चाहिए कि मनुष्य का आत्मा प्रकृति से बिल्कुल भिन्न है। जैसे जैसे आदमी आत्मोन्नति करता जाता है वैसे वैसे ही आत्मेतर (जड़) से उसका झगड़ा बढ़ता जाता है और यह आत्मेतर होता कौन है? उसकी अपनी देह, जिसको वह अपने आदर्श के अनुसार रूप नहीं दे पाता। पवित्र, उत्तम और महान को उस सबसे घृणा होगी ही जो अपवित्र, भोंडा, नीच और पर है। इस नियम का अपवाद नहीं मिलता।

पश्चिमी इतिहास में ईसाई धर्म-तत्व की यह व्याख्या व्यक्ति के बारे में है। इसका सामाजिक रूप यह है कि व्यक्ति के कष्टसहन से समाज में दूसरों के प्रति कष्टसहन की ताक़त पैदा होती है, सहानुभूति की मात्रा बढ़ती है और संसार के ऊंचा उठाने की इच्छा

उत्पन्न होती है। एक आदमी हैरान रह जाता है जब उसको यह पता चलता है कि अफ़लातून और अरस्तू जैसी ऊँची आत्माएं भी ग़ुलामी को बेजा नहीं समझती थीं, फिर चाहे वह ग़ुलामी उन लोगों की ही क्यों न हो जो कल राजकुमार थे। उन्होंने यह प्रश्न तक नहीं उठाया की ग़ुलामों के साथ कम से कम ऐसा व्यवहार तो न हो जो मनुष्यों के साथ उचित नहीं समझा जाता। यह विचार तो उस वक़्त जागे हैं जब आदमी ने जान बूझकर कष्टसहन स्वीकार किया। अच्छे से अच्छे और ऊँचे से ऊँचे आदमी उन आदमियों पर कड़ा ज़ुल्म करते हैं जिन्हें वे अपने से नीचा समझते हैं। अपने से नीचों के प्रति दया या बराबरी के भाव पैदा ही नहीं हो सकते जब तक हम अपने आप कष्ट सहने को स्वीकार न करें। आज कल छोटी छोटी क़ौमें, जिनका जीवन बड़ा कठिन हो रहा है और जो ज़िन्दा रहने की ख़ातिर दूसरों से लड़ भिड़ रही हैं, अपने भाइयों के प्रति सबसे ज़्यादा बेरहम होती हैं। वे अपने भाइयों को बीमार पड़ने का हक़ भी नहीं देतीं, वे उन्हें बहुत ही कम माफ़ करती हैं और जब उनमें से कोई बेरोज़गार हो जाता है तो खाने तक को नहीं पूछतीं। आमतौर से ग़रीब दुतकारे और फटकारे जाते हैं और जहाँ तक क़ानून इजाज़त दे उनके साथ ऐसा बर्ताव किया जाता है मानो इस दुनिया में उनका कोई हक़ ही नहीं है। छोटी क़ौमों की यह सख़्ती ऊँची जाति वालों की सख़्ती से भी कहीं ज़्यादा होती है क्योंकि ऊँची जाति वाले आम आदमियों को अपने बराबर का न समझें तो भी वह उनसे डाह तो नहीं करते बल्कि कभी कभी दया करके उनके साथ भलाई भी करते हैं। ऊँची जाति वाले आम आदमियों के साथ ज़ालिम और सख़्त होते हैं तो अपने लिये भी ज़ालिम और सख़्त होते हैं। ऊँची जाति के विद्वान जिस तरह एक दूसरे के साथ व्यवहार करते हैं वह बहुत ही अमानुषिक दृश्य होता है। आपस की उदारता जैसी चीज़ उनमें देखने को नहीं मिलती। बेशर्मी के साथ वे एक दूसरे से डाह करते हैं। हाँ, वे उस वक़्त एक हो जाते हैं जब उन्हें किसी तीसरे से लड़ना होता है और उस वक़्त शायद यह भावना कि हम एक ही हैं उनके डाह को कम कर देती है और इस तरह उनकी जीत भी हो जाती है। इस ख़्याल से जर्मनी के बहुत से विद्वानों की हालत बहुत ही भयानक है क्योंकि नीट्शे (Ni^tzsche) और उसके शागिर्दों ने मनोविज्ञान के ऐसे हथियार तैयार कर दिये हैं जिनकी मदद से वे हर बाहरी विचार के साथ भीतर बैठी हुई बुराई का जोड़ मिला सकते हैं और हर भलाई को बुराई का रूप दे सकते हैं और हर दैवी घटना को सांसारिक घटना के रूप में वर्णन कर सकते हैं। ऊँची आत्माओं के कष्टसहन को ठीक समझना है तो ठीक, पर साथ ही साथ बड़ा अधार्मिक भी है क्योंकि ऐसा समझने वाला उस कष्टसहन में भाग नहीं लेता बल्कि अपना दिल सख़्त कर लेता है। वह यह मानता है कि जो कष्ट सह रहा है उसको उस कष्ट के फ़ायदा होगा। इसलिए वह कष्ट उठाकर उस फ़ायदे से वंचित रह जाता है जिसका वह हक़दार था और इस तरह अपनी आत्मा के साथ सख़्ती कर बैठता है। वह अपनी वास्तविक अवस्था को भी नहीं पहचानता और इसलिए उसे बहुत से दुष्परिणामों का शिकार होना पड़ता है जैसे बीमारी, क़त्ल, भूकों मरना, देश निकाला इत्यादि। हार्दिक भावनाओं और सहानुभूति के जगाने का एक ही मार्ग है और वह है कष्टों को स्वीकार करना। सच्ची स्वीकृति में पत्थर भी पिघल जाता है।*

---

* एक जर्मन विचारक के लेख के आधार पर यह लेख लिखा गया है—लेखक

उस दिन

श्री शरदेन्दु

था सुषमित फूलोद्यान खड़ा,
था कुसुमित फूलोद्यान खड़ा,
था सुरभित फूलोद्यान खड़ा,
जिससे मधु-रस सञ्चित कर कर
थीं बना रहीं कुछ मधु-मक्खीं
वृक्षों पर अपना जीवन-घर।
कुछ मधुलोलुप,
मधु के प्रेमी,
आये मधु को बरबश लेने,
जिस पर न रहा अधिकार उन्हें
पर फिर भी जिनकी आँख लगी
मधु-सञ्चय पर,
वे सहसा झपटे मधु लेने
मधु-सञ्चय पर।
पर मानव को प्यारा निज घर,
पशु-पक्षी को प्यारा निज घर,
मधु-मक्खी को प्यारा निज घर।
कोई कैसे फिर ले सकता
जीवन के रहते हमसे घर?
वे क्रोध भरी मधु-मक्खीं थीं,
प्रतिशोध भरी मधु-मक्खीं थीं,
वे टूट पड़ीं उन पर मिल कर
जो मधु पर डाका डाल रहे,
जो चिर-सञ्चित मधु लूट रहे।

सारे मधु-ग्राहक भाग उठे,
सारे पथ-चालक भाग उठे,
औ' क्षण भर में
हो सारा पथ सुनसान गया।
पर मधु-मक्खी क्या शान्त हुईं?

भन भन करतीं,
शायद कहतीं,
'प्रतिशोध न लें यह कायरपन,
उन को छोड़ें यह कायरपन,'
वे टूट पड़ीं उन पर भी तो
जो सजातीय थे बैरी के।
मधु-मक्खी भी क्या सह सकतीं
अपने घर का अपमान कभी?
आज़ादी का अपमान कभी?
वे थीं मानव को बता रहीं,
'अपना अधिकार न खो जाए,
अपना सम्मान न खो जाए,
इन चिर-विनाश की लहरों में
अपना घर-बार न खो जाए।'

भन-भन करतीं,
शायद कहतीं,

'प्रतिशोध न लें यह कायरपन,
उनको छोड़ें यह कायरपन।'

शान्तिनिकेतन के शिल्पगुरु—श्री नन्दलाल वसु

आचार्य गुरुदयाल मल्लिक

मानव के व्यक्तित्व के दो रूप हैं—एक कर्मकार और दूसरा शिल्पकार-कलाकार। कर्मकार के रूप में वह अपने कर्म-कौशल से रोटी कमाता और आजीविका चलाता है। और शिल्पकार के रूप में वह अपनी पैनी दृष्टि से विश्व के निगूढ़ सौन्दर्य को मूर्त-रूप प्रदान करता है। उसकी वे कृतियां सदा आनन्द-देने वाली होती हैं। सच पूछा जाय तो मनुष्य की आत्मा ही शिल्पी होती है, प्रबुद्ध आत्मा ही यथार्थ में सर्जक बन सकती है। बाक़ी इस मोहक और लोभी संसारस्थली में अन्य लोग जो कि कलाकारों की श्रेणी में परिगणित होते हैं, वे सभी बाज़ार में चलने वाले जाली सिक्कों की तरह होते हैं।

शांतिनिकेतन के शिल्पगुरु श्री नन्दलाल वसु पावन और प्रशान्त प्रभावाले कलाधर हैं। वे आनुधिक भारतीय शिल्प परिपाटी में प्राणप्रतिष्ठा करने वाले शिल्पाचार्य श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के प्रसिद्धतम शिष्यों में से हैं। इसके अतिरिक्त वे दक्षिणेश्वर के उस प्रभुभक्त संत राम-कृष्ण परमहंस के भी एक दीक्षित शिष्य हैं—यह बात बहुत कम लोगों को ज्ञात है। इसी कारण नन्द-बाबू उस अद्भुत मादकता में निमग्न रहते हैं, जिसे रहस्यवादी लोग "उन्मत्त चेतना"—"Drunken consciousness"—कहते हैं। उनके चित्त में वह "दैवी नम्रता" विद्यमान है, जिसमें व्यक्ति प्रभु के प्रति अपनी अकिंचनता के भाव को सदा जाग्रत रखता है।

नन्दबाबू की इस दिव्य नम्रता के विषय में एक घटना उल्लेखनीय है। एक बार एक संभावित अतिथि गुरुदेव रवीन्द्रनाथ जी की स्वप्नभूमि और प्रयोग स्थली—शांतिनिकेतन आश्रम—को देखने के लिये आए। इस शांतिनिकेतन में ही गुरुदेव ने नन्दबाबू को कला मन्दिर का प्रधान पुरोहित बनाया है। अतिथि महोदय ने आश्रम की परिक्रमा करके सभी विभागों का अवलोकन किया। चित्रालय (Art Gallary) दिखाने के लिये ठिगनें क़द वाला,

आचार्य नन्दलाल वसु

वर्गाकार कन्धे वाला, सादी पोशाक वाला, खुले मस्तक वाला, नंगे पैर वाला, उपनेत्र वाला, उज्ज्वल मस्तक और तेजस्वी नयनों वाला एक व्यक्ति अतिथि को मार्ग-दर्शन कराने लगा। पथदर्शक ने क्रमशः चित्रों का परिचय कराया और चित्रकारों के नाम से भी प्रेक्षक को परिचित किया। पथ-दर्शक

ने केवल अपने बनाए हुए "शिव का नृत्य" नामक चित्र का प्रेक्षक अतिथि को परिचय नहीं दिया। प्रेक्षक उस चित्र के आकर्षक सौन्दर्य को निहार कर मुग्ध सा रह गया तथा चित्रकृति के रचयिता का नाम पूछना भी भूल गया !

शांतिनिकेतन के अतिथिगृह से बोलपुर स्टेशन के लिए बिदा होते समय आगन्तुक ने मुझसे वार्तालाप करते हुए कहा—"इस ज्ञानतीर्थ को निहार मैंने अपार आनन्द पाया है। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ जी के साथ वह वार्तालाप, छात्रों की वह मनोमुग्धकारी संगीत-गोष्ठी तथा कलाभवन में रंगों की वह मनोहर मजलिस, मुझे चिरकाल तक प्रमोद, प्रसाद और प्रेरणा का मानसिक भोजन देती रहेगी। परन्तु खेद का विषय है कि मैं शिल्पस्वामी नन्द बाबू से नहीं मिल सका।

"आपने उन्हें ज़रूर देखा है" मैंने उत्तर दिया —"वे श्री नन्द बाबू ही थे, जिन्होंने गत अपराह्न काल में आपको चित्रशाला के चित्रों का परिचय कराया था।"

प्रेक्षक महोदय के विस्मय का ठिकाना न रहा। उनको इस बात का बड़ा अनुताप रहा कि वे उस विश्रुत और विनम्रचेता शिल्पकार को नहीं पहिचान सके! सच तो यह है कि नन्द बाबू आत्मगोपनशील व्यक्ति हैं, और सच्चे गुणी कलाकार की यही विशेषता होती है कि वह कला की प्रतिष्ठा चाहता है। उसे अपने सम्मान की परवाह कम ही होती है!

नम्रता तो नन्द बाबू का प्रधान गुण है, उनके चरित्र का आभूषण है। आज कल के आत्म-प्रचार लोलुप शिल्पियों के लिए उनका यह गुण कितना अच्छा बोधपाठ है।

नन्द बाबू का जन्म सन् १८८३ में दरभंगा राज्य के खड़गपुर ग्राम में हुआ था। इनके पिताजी राज्य के एक कुशल एञ्जीनियर थे। वे अपनी सत्यता और साधुता के लिए बहुत प्रसिद्ध थे। वे अपने अवसान के समय अपने बालकों को "अपना बहिरंग और अन्तरंग सदा पवित्र रखने के लिए" अनुशासन कर गए थे। नन्द बाबू की माता भी बड़ी धार्मिक और भक्तिपरायण महिला थीं। नन्द बाबू को हस्त-कौशल और प्रभु प्रीति के सद्गुण अपने माता पिता से उत्तराधिकार में मिले हैं। नन्द बाबू कालेज में उपस्नातक श्रेणी की पढ़ाई तक पहुँचे होंगे कि उनके भविष्य निर्माण के जीवन देवता गुरुदेव रवीन्द्रनाथ जी ने उनको ग्रंथ शिक्षा छोड़कर तूलिका की तालीम प्राप्त करने को प्रेरित किया। उन्हीं की उपकारी प्रेरणा का यह परिणाम आया कि नन्द बाबू शिल्पस्वामी अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के निकट संपर्क में आए! उसके कुछ वर्ष पूर्व ही अवनीन्द्र बाबू भी भारतीय कला को पाश्चात्य शिल्पकारों के अन्धानुकरण से बचाने की सुदिशा और सत्प्रेरणा प्राप्त कर चुके थे। इस समस्त दिशादर्शन और सत्यप्रेरणा का श्रेय एक सहृदय अंगरेज़ महानुभाव को है जो कि उन दिनों कलकत्ते की सरकारी कलाशाला के प्रिन्सिपल थे। भारतवर्ष में आधुनिक कला जागरण के इतिहास में गुरू और शिष्य (श्री० ई० बी० हैवल और श्री अवनीन्द्र बाबू) का यह सम्मिलन एक महत्त्वपूर्ण और युगप्रवर्तक घटना है!

इस छात्रकाल में अवनीबाबू के तेजस्वी प्रभाव के नीचे नन्द बाबू की केवल कला और सौन्दर्य विषयक प्रसुप्त शक्तियों ने ही अपना विकास साधा हो ऐसा नहीं। दक्षिणेश्वर की छाया में उनकी आध्यात्मिक अनुभूतियों ने भी बहुत विकास सिद्ध किया। इस प्रकार नन्द बाबू के भाग्यविधायक प्रभु ने मानों उनके अन्दर इस सचाई को प्रकाशित करके बताया कि कला और धर्म जीवन रूपी ढाल के दो पार्श्व हैं। आगे जाकर यही सचाई शांतिनिकेतन की शान्त एकान्त छाया में पल्लवित और पुष्पित होने लगी। नन्द बाबू कलकत्ते की उस द्रव्य पूजक, प्राणपीड़क और कोलाहल पूर्ण राजधानी को छोड़कर कवि ऋषि रवीन्द्रनाथ जी के शान्त पावन तपोवन में आ गए। कोई बीस वर्षों से नन्द बाबू विश्वभारती के कला-विभाग के संचालक हैं। उनके शांतिनिकेतन आ जाने से कवीन्द्र की चिरवांछित इच्छा पूरी हुई।

शांतिनिकेतन आकर नन्द बाबू ने केवल वहाँ की कला और सौन्दर्य-दृष्टि को ही प्रोज्वल और प्राणवान् नहीं बनाया। साथ ही उन्होंने गुरुदेव के बनाए हुए नाट्यप्रबन्धों के अभिनय के लिए वहाँ के नाट्य-मंच को भी अपनी प्रतिभा और कल्पना के रंगों से अनुरंजित और अनुप्राणित किया है।

कलाकार और कलाशिक्षक के रूप में उनके अपने ध्येय को समझने के लिए यही उचित है कि उनके अपने शब्द प्रयुक्त किए जाएँ। कुछ वर्ष पूर्व इस विषय में अख़बारों में नन्द बाबू ने अपना अभिमत निम्नलिखित शब्दों में प्रकट किया—

"हम अज्ञात की ओर प्रयाण कर रहे हैं, क्योंकि केवल वर्तमान ही हमारे लिए सत्य है—अतीत और भविष्यत नहीं। हम भारतीय हैं क्योंकि हम भारत की आत्मा को पाने के लिए प्रयत्नशील हैं। शैली और रीतियों की परवाह न करते हुए हम लोग प्राणवान् का स्वागत करते हैं। हम उसे श्रद्धा पूर्वक स्वीकार करते हैं, जिसे हमारे पास आनेवाले, हमारे लिए लाते हैं। इसी कारण हम रीति और विधान को अधिक महत्वशाली नहीं समझते। हम जीवन की पूजा करते हैं, प्राण की उपासना करते हैं, जो कि जीवित की आत्मा है!

हमारा अतीत हमें प्रेरणा देता है। प्रकृति हमें प्रेरणा देती है। विश्व के पुरातन अनुभव हमें मार्ग दर्शन कराते हैं।

हमने अपने आन्तरिक आनन्द को प्रकट करने का प्रयत्न किया है—क्योंकि जीवन के आनन्द के प्रगटीकरण का नाम ही कला है।"

उपरोक्त शब्दों में उपनिषद् के संदेश की प्रति-ध्वनि गूंज रही है, जिस ध्वनि को नन्द बाबू ने अश्रान्त साधना द्वारा अपने जीवन में अनुप्राणित किया है।

नन्द बाबू की सर्जक कला और उनके दैनिक आचार का ध्यानसूत्र है—हम जीवन की उपासना करते हैं, प्राण की पूजा करते हैं। इसीलिए वे वास्तव-वाद के विरुद्ध हैं। अपने छात्रों के प्रति नन्द बाबू का मुख्य आदेश यही रहता है कि आकृति के पीछे रहने वाले आत्मा को, भाव को, देखने का प्रयत्न करो। घटना के पीछे रहने वाली यथार्थता को निहारो। सामान्य के पीछे रहने वाले विशेष को पहिचानो। इस विषय में दो प्रासंगिक घटनाएं यहाँ प्रस्तुत की जाती हैं।

एक नवागन्तुक विद्यार्थी—प्रत्येक नए छात्र के मन में इसी प्रकार का प्रश्न बहुधा जागता है—ने नन्द बाबू से पूछा कि वह किस विषय को लेकर चित्रांकन करे। नन्द बाबू तुरन्त बोले—"जो भी विषय तुम्हारे नयनों के सामने आए, उसका अंकन कर सकते हो। यथा—पुष्प, पत्ता, गधा आदि।"

नवागत छात्र गुरुजी की ओर ज़रा विस्मय-दृष्टि से निहारने लगता है, मानो वे कुछ परिहास कर रहे हों! शिल्पगुरु ने उसका मनोगत भाँप लिया। शीघ्र ही अपनी जेब से एक खाली काग़ज़ और पेन्सिल—जो कि उनकी जेब में सदा मौजूद रहते हैं—निकाल कर समीपस्थ खेत में चरते हुए एक गधे का जीवित रेखांकन (स्केच) कर बताया। छात्र चित्रांकन को ध्यान से निहारता रहा। अंकन समाप्त होते ही वह भावावेश में बोल उठा—"मास्टर महाशय, क्या गधा इतना सुन्दर हो सकता है?"

"निःसंदेह, यदि किसी के पास अवलोकन की दृष्टि हो।"—गुरुजी ने उत्तर दिया। और इस प्रकार की आश्चर्यवाहिनी दृष्टि तो उनके पास प्रभूत मात्रा में है। नन्द बाबू की इस विशिष्ट प्रतिभा के विषय में कविगुरु रवीन्द्रनाथ जी ने अपनी "शिल्पी के प्रति" नामक कविता में अच्छा संकेत किया है।—

"हे चित्रकार, हे चिरयात्री, तुम आस पास की सभी वस्तुओं पर अपनी दृष्टि का जाल फेंकते हुए चले जा रहे हो। उन दृष्ट वस्तुओं को तुमने रेखाओं में अंकित करके देश परदेश भेज दिया है। यह जो कुछ भी, जैसा तैसा भी है, वह तुम्हारी दृष्टि में द्विज और चाण्डाल के भेद से विहीन है।"

प्रत्येक व्यक्ति के लिये नन्दबाबू तक पहुँचना बहुत सरल है; चाहे वह कलाकार हो या न हो। किसी भी मानवबन्धु के साथ असौजन्य और औदासीन्य को वे सहन नहीं कर सकते।

एकबार उन्होंने देखा कि एक उच्च पदाधिकारी व्यक्ति जो कि उनका मित्र था, तथाकथित बड़े लोगों के साथ तो विशेष शिष्टता का व्यवहार करता था और छोटे लोगों के आतिथ्य आदि में उपेक्षा रखता था। नन्दबाबू ने सोचा कि अनजाने में ही इस प्रकार मनुष्यता का अपमान करने की अपने मित्र की इस वृत्ति का कुछ इलाज करना चाहिए। मित्र को ठीक राह पर लाने के लिये वे उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा करते रहे।

एक दिन वह पदाधिकारी मित्र अपने कमरे में बैठा हुआ कार्य निमग्न था। मकान के बाहर मैदान में एक गधा खड़ा हुआ था। दुपहरी का समय था। अफ़सर महाशय अपने काग़ज़ पत्रों में तल्लीन थे। नन्दबाबू ने अन्दर आकर सूचित किया कि एक प्रेक्षक अतिथि उनसे मिलने के लिए बाहर प्रतीक्षा कर रहा है। इतना कहकर नन्दबाबू स्वयं पिछले दरवाज़े से चुपके से सरक गए। अफ़सर मित्र शीघ्र ही खड़े हो गये और अपने वस्त्रों को व्यवस्थित करके बड़े वेग से आगन्तुक के सत्कार के लिये बाहर निकले। बाहर जाकर उन्होंने क्या अनुभव किया होगा इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है। परन्तु उन्होंने उस संकेत को ठीक प्रकार अवगत कर लिया जिसे वह विनोदप्रिय शिल्पी बताना चाहता था। इस घटना के बाद वह संभावित महानुभाव अपने व्यवहार में बहुत विनयशील बन गये।

नन्दबाबू की विनोद चर्चा बहुत चोखी और परिष्कृत होती है। बहुधा उसमें एक बालक की सी स्वाभाविक चपलता होती है। यह मनोहर विनोदशीलता उनके स्केचों, चित्रों और ऑटोग्राफ़ संपुटों (स्वाक्षरी की पोथी) में भी निहारी जा सकती है। विनोद के मज़ेदार मसालों से उनके कलाविषयक वार्तालाप और चर्चाएँ सुस्वादु बन जाती हैं। इसके सिवाय नन्दबाबू में एक ओर यदि बाल सुलभ वशंवदता और प्रभावग्राहिता विद्यमान हैं तो दूसरी ओर एक प्रौढ़ और दक्ष पुरुष की सहज स्फूर्ति और तेज भी विद्यमान हैं। उनकी कला भी उनकी मानवता की तरह सर्वग्राही है। वे "सुंदर" के उपासक हैं—चाहे वह सौन्दर्य तत्व कहीं से भी, आँखों की खिड़की से या कानों के झरोखे में से होकर, उदात्त आत्मा के रूप में, एक सुंदर दृश्य के रूप में, एक स्केच के रूप में या एक मधुर गीत के रूप में, उनके पास आता हो।

यह एक विस्मय और दया का विषय है कि जिस पुरुष का समस्त व्यक्तित्व प्राणों के प्रबोध से तालबद्ध और तरंगित हो रहा है, उसने संगीत विद्या नहीं साधी है। अन्यथा यह निश्चय है कि वह एक सिद्ध गायक बन सकते थे।

नन्दबाबू की कला कृतियों (विशेषतः बुद्ध-महाभिनिष्क्रमण, उमा का संताप, शिव का विषपान, पार्वती के लिये शिव का अनुताप, चैतन्य महाप्रभु आदि) को देखने से आत्मा को रसायन की मात्रा मिलती है, प्राण को प्रोत्साहन मिलता है, हृदय को एक अविस्मरणीय अनुभूति प्राप्त होती है।

सचमुच वे प्राणों के पूजक हैं और प्राण कभी पुरातन नहीं होते! इसीलिये हम कह सकते हैं कि नन्दबाबू शिल्पी के साथ साथ योगी भी हैं। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ जी ने नन्दबाबू को समर्पित की हुई एक कविता में क्या ही उत्तम कहा है—

"तुम एक ऐसे मकान में पैदा हुए थे, जिसके बाहर रंगों का रहस्य खड़ा होकर उसकी चौकसी कर रहा था। उस भवन में बैठकर तुमने जीवन पथ पर चलकर थके हुए यात्रियों की विश्रांति के लिए एक रूप का घोंसला बनाया! उसमें तुमने अपनी रेखाओं द्वारा "सनातन आश्चर्य" को बन्दी कर दिया। भगवान् करे तुम्हारी तूलिका शंकर की आर्द्र जटा की तरह, जीवन के जलों का स्रोत बनी रहे!"

भारत माता के इस तरह के शिल्पस्वामी ने अभी हाल में ही अपने जीवन की षष्ठी पूर्ति करके ६१ वें वर्ष में पदार्पण किया है। प्रभु करें इस शिल्पऋषि को आर्य ऋषियों का "शत शरदों" का तेजोमय आयुष्य प्राप्त हो और इनके कुशलकरों से आर्य-शिल्प की विजय-वैजयन्ती दिग्दिगन्त में फहराती रहे।

अनुवादक—श्री शंकरदेव विद्यालंकार

दो दृश्य

श्री प्रेमलता 'कौमुदी'

चीन, टर्की, रूस, युरुप,
में भरा यश-गान तेरा।
भूल सकता है भला क्या,
विश्व, अतुलित दान तेरा?
आर्य-भूमि, सुधीर जननी,
विश्व पालक, पूज्य है तू।
विश्व-कण-कण में छिपा है,
कीर्तिशालिन, मान तेरा॥

× × ×

आज किस के मुस्कुराने में,
छिपा वह हास तेरा।
वेदना के रक्त-दीपों से,
भरा आकाश तेरा।
धरा को, तम-पुंज को,
यश-चन्द्रिका तूने दिखाई।
एक अनुचर व्यंग से, हा!
कर रहा परिहास तेरा!

अनाम स्वामी

श्री जैनेन्द्रकुमार

[अनाम स्वामी की सर पी० दयाल से ब्रह्मचर्य पर बातें हो रही थीं। उसी विषय पर आगे और भी विवेचन है।]

वह कहते गये, कहते गये, जैसे गिरिशिखिर से एकाएक झरना झर रहा हो। मैं उसमें नहाता रहा।

'स्त्री में पुरुष के और पुरुष में स्त्री के प्रति राग के साथ द्वेष का सम्मिश्रण है। तभी तक उनमें आकर्षण है और भोग बुद्धि है। राग अकेला होता ही नहीं। द्वेष के साथ जुड़वां होता है। यह तो हर एक के अनुभव में आने वाली बात है। काम में जो एक भास है, उसका नहीं तो दूसरा क्या मतलब है? वह हिंस भावना ही है। डाह कामुक कामना के साथ चलती ही है। कहोगे कि डाह कामना में नहीं, समाज के कारण है। यानी समाज में जो इन बातों में रोक थाम और मेरे-तेरे की भावना है उस कारण ईर्ष्या बन गई है। रोक-थाम हटी और संबंध स्वच्छन्द हुए कि ईर्ष्या मिट जायगी। मुझे ऐसा नहीं लगता। राग बिना द्वेष के जी नहीं सकता। कोई तीसरा न हो तो भी दो यदि सम्भोग में मिलेंगे तो उनमें अविश्वास भी रहेगा। घृणा और प्रेम सम्भोग में अभिन्न होकर चलते हैं। जिसमें घृणा नहीं उस प्रेम में सम्भोग असम्भव है। अपने को न सहारा पाकर प्राणी भोग में प्रवृत्त होता है। निष्कामता निषेधक स्थिति नहीं, वह तो परिपूर्ण मनःस्थिति की द्योतक है। इसी तरह ब्रह्मचर्य भी निषेधक भाव नहीं है। वह तो परिपूर्णता का भाव ही है। हमारे अन्दर द्वन्द्व चलता रहता है। मैथुन को शास्त्रों में द्वन्द्व नाम भी दिया है। स्थिति हमें द्वन्द्वातीत पाती है। वही फिर भोग-युक्त कैसे हो सकती है? व्यक्तित्व को हमें विभक्त रखना है अथवा कि उसमें एक संयोजन और ऐक्य लाना है? हम अपने ही भीतर तीव्रता से विभक्त हो रहते हैं तब वह अवस्था उन्माद अथवा विक्षिप्तता की ही कहलाती है। भीतर हमारे युद्ध तो छिड़ा ही है। उसे धर्म-अधर्म या देवता-दानव का युद्ध भी कहा जाता है। वह हमारी शक्ति को क्षीण करता है। नशा उस युद्ध से अपने को टलाने की, भगने की कोशिश है। ब्रह्मचर्य उसकी समाप्ति का उपाय है। समाप्ति पराजय में नहीं, समन्वय में है। असल ब्रह्मचर्य भी समन्वय रूप है। उसकी साधना से व्यक्तित्व असंदिग्ध बनता है। उसको एक प्रबलता, एक निश्चित, एक श्रद्धा प्राप्त होती है। तब वह अपने को चहुँ ओर खर्च नहीं करता, प्रत्युत लक्ष्य की ओर गति करने में समर्थ होता है। भोग द्वारा आदमी अपने को बिखराता है; ब्रह्मचर्य आत्म-संचय का प्रयोग है।

'अङ्गरेज़ी में जिसको self-integration कहें, ब्रह्मचर्य वही योग है। अपने इन्द्रिय, मन, प्राणों को ब्रह्मनिष्ठा में पिरो रखना है। व्यक्ति समाजहित में शून्यवत् होता दीखे, वह निरी इकाई ही होता जाय, तो वहां ब्रह्मचर्य असिद्ध मानना चाहिये। ब्रह्म तो समष्टि का सार है। उसकी समीचीन चर्या व्यक्ति को स्वल्प नहीं, विशद ही कर सकती है। इस तरह ब्रह्मचर्य मनुष्य-समाज ही नहीं, बल्कि सचराचर विश्व के आत्महित के साथ योग पाने की साधना का नाम है। इसमें व्यक्ति के समाज से कटकर अलग हो पड़ने की तो बात ही नहीं की जा सकती......'

सहसा रुके। मुझे देखा। अनन्तर बोले "तुम्हारी कठिनाई मैं समझता हूं। पर बाहर दीखता हो उससे विभ्रम में न पड़ो। ऊपर के टीके से किसी को ब्रह्मचारी मानोगे तो फिर मन में शंका आये बिना कैसे रहेगी? यह मुझसे सुन लो कि ब्रह्मचर्य का सारांश प्रेम है। वह प्रेम जो घृणा की अपेक्षा नहीं रखता और जो स्वयम् प्रतिष्ठ है वह सेवामय है। अभाव

मूलक वह राग जो द्वेष के बिना चलता ही नहीं, उसकी परिणति भोग है। इससे अधिक कुछ और मानने की ज़रूरत नहीं है। भोग से जीवन की सामर्थ्य या उपयोगिता कैसे बढ़ सकती है! फिर भी संसारी लोग जो दुनिया को हरियाला बनाये हुये दीखते हैं और वीतरागी जो उसे उजाड़ते हुये प्रतीत होते हैं वह इसलिये कि ऊपरी बातों मे असलियत नहीं जानी जाती। संसारी विरागी हो सकते हैं और एकांतसेवी घोर संसारी हो सकते हैं। पर तुम तो उस फेर न पड़ो। शुद्ध मानव-सहानुभूति को आत्म-धर्म यानी ब्रह्मचर्य की पहचान मान रखो। जहाँ वह वस्तु सूखी है, वहां मान लो कि धर्म नहीं है। और जहाँ उस प्रकार आर्द्रता है, वहां जान लो कि चित्तत्व यानी आत्मा भी है।

फिर कुछ रुक कर बोले—भाई दयाल, मृणाल तुम्हारी बुआ थीं। पर मैं भी उन्हें जानता था। इतिहास मत पूछो। बेशक उन्होंने बहुत बिपता उठायीं। पर यह भी सच है कि मरते मर गईं, पर उन्होंने हार नहीं मानी। कुछ लोग उजागर जगत को उजेला करते हैं, कुछ अंधेरी सीली कोठरी में अपनी नन्हीं लौ लेकर पहुँचते हैं। सूरज आस्मान में से चमकता है और धरती पर धूप फैलाता है। धूप दे, इसके लिये सूरज धरती से दूर रहेगा। लेकिन धरती के भीतर कोयले की काली खानों में काले कपड़ेवाले जो मज़दूर घुसते हैं वे धुंधली लालटेन से अपना काम चलाते हैं। वहां सूरज की सामर्थ्य नहीं कि पहुँचे। पर लालटेन अपनी, यानी उसी का, काम वहां करती है। क्या हम उसकी धुंधली रोशनी को रोशनी न कहें? उसमे धौली धूप नहीं मिलती, फिर भी उजेला मिलता है। लेकिन सूरज को समझने के लिये उसे लालटेन के भीतर भी नहीं देखा जा सकता। यही बात है। तुम्हारी मृणाल बुआ में ब्रह्मचर्य के आदर्श को देखने में मैं असमर्थ हूं। पर क्या मैंने उनकी श्रद्धा को नहीं देखा? क्या मैंने घोर अंधकार से घिरी हुई होकर भी, दीप-शलाका की भांति, उन्हें पल पल जलते हुये भी नहीं देखा? सन्देह नहीं कि जो अपने को जलाता है वह प्रकाश भी करता है। तुम्हें विश्वास दिला सकता हूँ कि उन की बिपता में मैं उनके तुमसे कम काम नहीं आया। पर तुम आत्मग्लानि के कारण सत्य और धर्म के बारे में मतिभ्रम मत पैदा कर लो। जो भूल है, वह मृणाल में भी भूल ही थी। करुणा के कारण भी आत्म-विमुख आचरण नहीं किया जा सकता। उनकी प्रेरणा करुणा की थी, यह बात बेशक छोटी नहीं है। तो भी आत्म-विरोधी आचरण समर्थित नहीं हो सकेगा······"

इस जगह मैं अपने को दाब नहीं सका। मैंने जानना चाहा कि मृणाल बुआ को कैसे, कहां वह पा गये? और ख़ुद क्या उनके जीवन में किसी ओर से किसी रूप में कोई नारी नहीं आई?

पर वह नहीं घिर सके। आगे मैं नहीं जान सका।

तब मैंने तर्क किया कि व्यक्ति का जीवन क्या विधि की ही भाषा नहीं है? आदमी उस भाषा को समझना चाहेगा ही। हमारा सब ज्ञान उस अन्तिम नियम को पाने की शोध है जो हमारे समूचे जीवन का अधिष्ठाता है। विकास उसी की निरन्तर चाह है। इस तरह व्यक्ति-जीवन खुली पुस्तक की भांति हो तो उसमे सत्यशोधक जीवन-वैज्ञानिकों के काम में सहायता मिले। जीवनचरितों से यही लाभ है। ऊँचे आत्मचरितों से तो और भी इसमें सहायता मिलती है। व्यक्ति अब व्यक्तिगत नहीं रहता जा रहा है। यहां तक कि समूह यानी सरकार उससे खर्च का हिसाब भी मांगती है। इसी तरह व्यक्ति को अपने जीवन-ग्रन्थ को पूरी तरह हर एक के लिये प्राप्य बना रखना ज़रूरी है। ख़ास तौर से वे जीवन जो असाधारण हों, जिनके प्रति लोगों में जिज्ञासा हो, खुली पुस्तक होने ही चाहिये। आप भेद से ढके क्यों रहते हैं?

हँसकर बोले—"चोर अपनी चोरी खोलता है?"

मैंने कहा, "नहीं खोलता, इससे क्या बाकी सबकी कठिनाई बढ़ ही नहीं जायगी?"

बोले, "सो तो है। चोरी करने से उसे छिपाना बुरा है। पर चोरी है, इसीसे तो छिपाना पड़ता है। पाप-कथा नहीं उघाड़ता, सो इसलिए नहीं कि पापी मशहूर होने में मुझे सुख नहीं है; बल्कि इसलिये कि उससे सिवाय मेरे और किसी का भला होने की आशा नहीं है।

मैंने पूछना चाहा कि तो क्या आप—

बोले, "नहीं, वह छोड़ो। छिपा यहाँ क्या है! जाननहार सब जानता है। विधि की लिपि से कुछ नहीं छूटता। शोधक के लिये आसानी करने की जो बात कहते हो, उसमें सचमुच सार मालूम होता है। मैं उस पर सोचूंगा। पर इतना तो है कि सार-भूत सब कुछ जगद्गति को प्राप्त होता रहता ही है। वह खोया जा नहीं सकता। नाम-धाम, पता-ब्यौरे जो बीच में से खो जाते हैं सो इसलिये कि उन्हें खोया जाना ही चाहिए। गन्ने का छूंछ भी सदा रहना चाहे तो फिर रस कैसे प्राप्त होगा? रसलाभ के लिये छूंछ को नष्ट होना ही चाहिये। इसीसे मेरे सम्बन्ध का घटनात्मक कुछ भी रहने और जाने लायक होगा, यह मैं नहीं मान पाता हूं। और जो मुझमें सारवान है, वह तो आज भी मेरा नहीं है और वह विश्वांत:करण को अनायास उपलब्ध है। मैं नहीं रह जाऊँगा मेरे शब्द रहेंगे, इस भूल में भी मैं नहीं हूँ। अन्त में कुछ भी नहीं रह जायगा। बस, मुझसे जिस अंश में अहिंसा की प्राप्ति होगी और सत्य की निष्ठा फूटेगी, वही मेरा स्थायी मूल्य होगा।"

मैंने प्रयत्न और किया। पर इस आशा से अधिक नहीं ही पा सका कि वह अपने जीवन के इतिवृत को खुली पुस्तक की भांति बांचे जाने के लिये दे जाने पर विचार करेंगे। मैं इतने के लिये उनका कृतज्ञ हूँ। भगवान जाने की इस सौध की बुनियाद में क्या मिलेगा! मुझे आशंका और आस्था है कि इस दीप्त भव्यता के आधार में कोई गहरी मनोव्यथा अवश्य ही है। मुझ में स्थिर हो गया है कि सच्चे जीवनोत्कर्ष के नीचे एक गम्भीर आत्मव्यथा होनी ही चाहिए। दूसरी किसी नींव पर खड़ी ऊँचाई नहीं तो टिकी किस भांति रह सकेगी?

परिचय

श्री ब्रह्मदत्त विद्यार्थी

[युवक कवियों के ऐसे 'परिचय' पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने को आते रहते हैं। हम जानते हैं कि इन लोगों में से किसी समय भी ऐसे अनेक व्यक्ति निकल आते हैं जो ऐसे 'परिचय' को चरितार्थ कर देते हैं। इसी सच्ची आशा के साथ हम इसे प्रकाशित कर रहे हैं—सम्पादक]

हम भरे हुए वह सागर हैं,
तह में मोती दिखला देंगे।
हम भरे हुए वह गागर हैं,
प्यासे की प्यास बुझा देंगे।

× × ×

हम पड़े हुए वह बीज हैं जो,
मिट्टी से पेड़ उगा देंगे॥
हम खड़े हुए वह भूधर हैं,
गंगा सी नदी बहा देंगे।

× × ×

हम कटे हुए से तरुवर हैं।
कोपल से फिर लहरा देंगे।
एक वृक्ष की जगह अनेकों,
वन-वृक्षों की धूम मचा देंगे।

× × ×

हम कुम्भकार की मिट्टी हैं,
यों नचा नचा कर अपने को।
औ तपा-तपा कर अग्नी में,
निज रूप अनेक दिखा देंगे।

× × ×

ऋतुओं में बस ऋतुराज हैं हम,
जो ऋतु का राजा कहलाता।
बौरे आमों की डाली पर,
कोकिल का राग सुना देंगे।
× × ×
हम जीवन की अभिलाषा हैं,
जग-जीवन का परवाह नहीं।
नव जीवन जीवन में भर कर,
नभ जीवन-ज्योति जगा देंगे।
× × ×

हम निडर शल स्तम्भ रूप,
हैं खड़े हुए बहु बाधा में।
दृढ़ आशा है अपने मन को,
सब भय का भूत भगा देंगे।

× × ×

जीवन की ज्योति जगा देंगे,
मर-मर हम अमर बना देंगे।

एकता का आधार

श्री रघुवीरशरण दिवाकर, बी० ए०, एल० एल-बी

हिन्दुओं और मुसलमानों में ऐसा कोई भेद-भाव नहीं है जो हिन्दुओं में ही आपस में न हो। यदि उन भेदभावों पर से हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच आत्मीयता के सम्बन्ध को स्वीकार करने के लिए हम तैयार नहीं हैं, तब हमें हिन्दुओं में भी परस्पर आत्मीयता के बंधन को अस्वीकार करना होगा। फिर हिन्दू और मुसलमान अलग-अलग दो क़ौमें ही नहीं रह जायंगी, ये हिन्दू ही कई क़ौमों में बँट जायँगे और आगे चल कर छोटे-छोटे से बाड़ों में 'क़ौमियत' घिर कर यह देश एक दो नहीं सैकड़ों क़ौमों से भर जायगा।

हिन्दू और मुसलमान दोनों ही एक ईश्वर को मानते हैं लेकिन हिन्दुओं में ही जैनी और बौद्ध ईश्वर को नहीं मानते। हिन्दू मूर्तिपूजक हैं, मुसलमान मूर्ति-विरोधी हैं लेकिन हिन्दुओं में ही आर्य-समाज, ब्रह्मसमाज आदि अनेक पंथ मूर्ति-पूजा के सख़्त ख़िलाफ़ हैं। हिन्दुओं और मुसलमानों में परस्पर खान-पान शादी-बिवाह का रिवाज नहीं है लेकिन हिन्दुओं में ही ऐसे एक दो नहीं सैकड़ों हज़ारों बाड़े हैं जिनमें आपस में खान-पान और शादी-बिवाह का कोई सम्बन्ध नहीं होता। हिन्दू और मुसलमान में ही छुआछूत का विचार नहीं है स्वयं हिन्दुओं में भी आपस में है। रस्म-रिवाज, वेषभूषा आदि की दृष्टि से भी हिन्दुओं में परस्पर हिन्दुओं और मुसलमानों की अपेक्षा यदि ज़्यादह अन्तर नहीं है तो कम भी हरगिज़ नहीं है।

पंजाबी हिन्दू के दिल में बंगाली हिन्दू के प्रति, राजपूत के दिल में मद्रासी हिन्दू के प्रति, बिहारी हिन्दू के दिल में बंगाली हिन्दू के प्रति और गुजराती हिन्दू के दिल में महाराष्ट्रीय हिन्दू के प्रति-स्नेह और सहानुभूति अधिक नहीं है, सिक्ख और मराठे में आत्मीयता नहीं है, न गुजराती को मारवाड़ी से और न मारवाड़ी को गुजराती से प्यार है। हिन्दू तो हिन्दू, अलग अलग प्रान्तों के एक ही वर्ण के लोगों में भी कोई आत्मीयता नहीं है। भला देखिए, कहां आगरा और दिल्ली के आस पास का भिखमंगा अपढ़ रसोइयां ब्राह्मण और कहां महाराष्ट्र का उच्च शिक्षित विद्वान सम्पन्न ब्राह्मण! कहां उत्तरी भारत के परहेज़गार पण्डितजी और कहां झींगर, कीड़ी, मकौड़ी सब हज़म कर जानेवाले लेकिन अछूत की छाया से भी नापाक हो जाने वाले मद्रास के ब्राह्मण देवता! कहां मछलियों भरी जाली को देख कर कांपने और उलटी करनेवाले संयुक्त प्रान्त के

ब्राह्मण और कहाँ डेढ़ डेढ़ हाथ की मछलियाँ कच्ची "सटक नारायण" करने वाले बंगाल के ब्राह्मण!

रही ख़ून की बात। पंजाबी मुसलमान और पंजाबी हिन्दू में और यू० पी० के मुसलमान व यू० पी० के हिन्दू में—किसी भी प्रान्त के हिन्दू या मुसलमान दोनों में—एक ही ख़ून बह रहा है। यही नहीं, पंजाबी ब्राह्मण और मद्रासी ब्राह्मण की अपेक्षा पञ्जाबी ब्राह्मण और पञ्जाबी मुसलमान में तथा मद्रासी ब्राह्मण और मद्रासी मुसलमान में ख़ून की घनिष्टता कहीं ज़्यादह है। यूं अगर सब हिन्दुओं का एक ख़ून माना जाय, तब यह देखते हुए कि ये दस करोड़ मुसलमान हिन्दू पूर्वजों की ही संतान है, सब हिन्दुओं का ही नहीं, सब हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों का ही एक ख़ून मानना पड़ेगा।

भाषा भी अलग-अलग प्रान्तों के हिन्दुओं और मुसलमानों की एक ही है। पञ्जाब में दोनों हिन्दू और मुसलमान पञ्जाबी बोलते हैं, सिंध में सिंधी, गुजरात में गुजराती, महाराष्ट्र में मराठी और बंगाल में बङ्गाली बोलते हैं। यह तो सिर्फ़ बड़े बड़े शहरों और क़स्बों में ही अब कुछ हद तक मुसलमानों को उर्दू तथा हिन्दुओं को हिन्दी बोलते देखा जा सकता है लेकिन क़स्बों में ही बहुत हद तक और क़स्बों से बाहर गांवों में तो पूरे तौर पर हिन्दू और मुसलमान दोनों की एक, सिर्फ़ एक ही, भाषा है। सब प्रान्तों के हिन्दू ही नहीं ब्राह्मण भी यदि एक स्थान में जमा किये जायँ तब या तो वे एक दूसरे का मुंह ही ताकेंगे या अपनी अपनी बगलें ही झांकेंगे। यही बात मुसलमानों व उनके किसी भी एक वर्ग के विषय में सत्य है।

यदि हम 'पाकिस्तान' और शेष हिन्दुस्तान पर एक-एक नज़र डालें तो देखेंगे कि इनमें से हर एक में कई-कई भाषाएँ होंगी। उत्तर-पश्चिम में ही सिंधी, बलोची, बहुई, मुल्तान, पञ्जाबी, पश्तो, दरदी, बलती, हुजा और काश्मीरी ये दस भाषाएँ बोली जाती, उत्तर पूर्वी बङ्गाल में अपनी एक जीवित भाषा बंगाली है ही और वह रहेगी ही, फिर हिन्दुस्तान में तो शायद कई दर्जन भाषाओं के होने में संदेह को कोई स्थान ही नहीं है। यदि भाषा को जातीयता का आधार माना जाय, और सचमुच धर्म की अपेक्षा भाषा की एकता एक जातीयता के लिये ज़्यादह ज़रूरी है, तो 'पाकिस्तान' के बाशिन्दों को ग्यारह जातियों में और शेष हिन्दुस्तान के निवासियों को कई दर्जन जातियों में बाँटना पड़ेगा। अतः भाषा के आधार पर हिन्दुओं को अलग एक क़ौम और मुसलमानों को अलग एक क़ौम मानना निरर्थक है। यह हमें न भूलना चाहिये कि भाषा का धर्म से सम्बन्ध नहीं है। अपनी भाषा वह है जिसे मां के दूध के साथ बच्चा सीखे। जिस भाषा के व्याकरण को पुस्तक पढ़ कर सीखा जाय वह मातृभाषा नहीं है। जब माँ के दूध के साथ भाषा सीखी जाती है तब उसके साथ ही साथ व्याकरण ख़ुद आता जाता है।

यदि हम धर्म की दृष्टि से देखें तो भी हमें ऐसा कोई विशेष भेद या विरोध दिखाई नहीं देता है जिस के कारण दोनों को सम्प्रदाय न कह कर दो क़ौम कहने की इच्छा हो। हिन्दू धर्म और इसलाम में परस्पर विभिन्नताओं के होते हुए भी दोनों ही धर्म इतने उदार हैं कि इनमें परस्पर संघर्ष तो दूर, किसी और धर्म से भी कभी इनकी टक्कर नहीं हो सकती।

दोनों ही धर्म मनुष्य को नेकी और पाकीज़गी का सबक़ देते हैं। दोनों ही धर्म मनुष्य को पाप की ओर से हटा कर पुण्य की ओर लाने के लिए प्रयत्नशील है। दोनों ही धर्म मानवता के दृढ़ स्तम्भ हैं।

किसी भी धर्म या उसके संस्थापक की इसलाम ने बुराई नहीं की है। क़ुरान में एक लाख पैंतीस हज़ार पैग़म्बर माने गये हैं और यह कहा गया है कि ऐसी कोई क़ौम नहीं और ऐसा कोई मुल्क नहीं, जहां ख़ुदा ने पैग़म्बर न भेजे हों। हज़रत ईसा मूसा वग़ैरह पैग़म्बरों का ज़िक्र करते हुए वहां यह साफ़ लिख दिया गया है कि यद्यपि सब पैग़म्बरों के नाम यहां नहीं दिये जा सके हैं लेकिन हर मुसलमान के लिये यह लाज़िमी है कि वह सब पैग़म्बरों की इज़्ज़त

करे। क़ुरान में किसी भी धर्मवाले से झगड़ना मना किया गया है। वहां हरएक धर्म के पूजा-पाठ के जुदा-जुदा तरीक़ों में भी कोई विरोध नहीं बताया गया है। अल्लाह के सभी नामों को ख़ुदा, अल्लाह, रब, रहीम, रहमान, ईश्वर, परमात्मा, भगवान, गॉड, अहुरमज़्द, पाक बताते हुये नाम पर लड़ना जहालत कहा गया है। ऐसे मुसलमान कवियों की कमी नहीं है जो कृष्ण-भक्ति के ही नहीं, दुर्गा और भैरव तक के गीत गाने में किसी हिन्दू कवि से पीछे नहीं रहे हैं।

यही बात हिन्दू धर्म के विषय में भी है। गीता में यह स्पष्ट उल्लेख है कि संसार में जितनी भी महान विभूतियां हैं वे ईश्वर से पैदा हुई हैं। हर मज़हब के पैग़म्बर और देवी देवता को वहां स्थान प्राप्त है। ईश्वर में अगाध भक्ति रखने वाले और ईश्वर के नाम तक से चिढ़ने वाले, रास्ते में पड़े हुए पत्थरों व मील खम्बों को देवता समझ कर पूजने वाले और मन्दिर की मूर्तियों को भी पत्थर कहकर उनका उपहास करनेवाले, राजसिंहासन पर बैठकर न्याय अन्याय का निर्णय करने वाले और जंगलों में जाकर बेसरो-सामान नंगे अधनंगे घूमने-वाले, सभी हिन्दू धर्म में आ जाते हैं। सच तो यह है कि हिन्दू धर्म कोई एक धर्म ही नहीं है, वह धर्मों का एक अजायब-घर (Museum) है।

हिन्दू धर्म और इस्लाम में जो कुछ अन्तर है वह स्वाभाविक है। हर एक के इतिहास को देखकर हम उसके आज के विकास को देखें तो हमें पता लगेगा कि दोनों एक ही ईश्वरीय तेज़ की दो किरणें हैं, एक अरब में चमकी और एक भारत में जग-मगायी, दोनों एक ही नदी की दो धाराएँ हैं, एक अरब में बही और एक भारत में बही, दोनों एक ही आसमान से गिरा हुआ शुद्ध जल है जो वहां अरब में गिरा, यहां भारत में गिरा। कुछ कम या ज़्यादा यही बात सब धर्मों के विषय में है।

आज छोटी-छोटी निकम्मी बातों को लेकर दोनों लड़ते हैं, एक दूसरे का सिर फोड़कर, समझते हैं कि वे हिन्दुत्व व मिल्लत की सेवा कर रहे हैं। सच यह है दोनों ही अपने अपने धर्म को भूलकर, हिन्दू दानवता की पूजा कर रहे है और मुसलमान शैता-नियत की नमाज़ पढ़ रहे है। क्या यह हिन्दुओं का अपराध नहीं है कि जिस हिन्दू धर्म के आंगन में तैंतीस करोड़ देवताओं को स्थान प्राप्त हो सका वहाँ ईसा और मुहम्मद इन दोनों के लिए अब भी कोई आसन खाली नहीं है ? गीता के शब्दों में विश्व की सब महान विभूतियाँ ईश्वरांश हैं लेकिन भारत के इन दस करोड़ मुसलमानों का, दुनिया के मुसलमानों की बात जाने दीजिये जो हिन्दुओं से बहुत ही ज्यादह हैं, आराध्य मुहम्मद उनके लिए ईश्वरांश नहीं बन सका ! यह मुसलमानों का क़सूर नहीं तो क्या है कि ख़ुदा ने हर मुल्क और हर क़ौम में पैग़म्बर भेजे और हर पैग़म्बर की इज़्ज़त करना हर मुसलमान का फ़र्ज़ बताया तो भी इन बाईस करोड़ हिन्दुओं के आराध्य राम और कृष्ण के सामने वे सिर झुकाने में असमर्थ हैं ? पतन यहाँ तक हो गया है कि एक हिन्दू मुसलमान को राम-राम करेगा, मुसलमान हिन्दू को सलाम करेगा, दोनों परस्पर एक दूसरे का सम्मान करेंगे, लेकिन दोनों एक दूसरे के आराध्य महात्माओं का आदर तो दूर उनके प्रति शिष्टाचार का पालन भी न करेंगे।

दोनों ही भूल कर रहे हैं। दोनों ही अपने पैरों में कुल्हाड़ी मार रहे हैं। हमें चाहिए यह कि दोनों को दोनों की भूल बताएँ, उनकी ग़लत-फ़हमियों और ख़ाम ख़यालियों को दूर करें। लेकिन हम दोनों को अलग-अलग क़ौम कहकर जुदा-जुदा करने, हिन्दू-संगठन और तनज़ीम के नाम पर लड़ाने, परस्पर ग़ैरियत और दुश्मनी के भाव भरने तथा धर्मान्ध बनाकर दोनों एक-दूसरे के खून का प्यासा बनाने का ही काम करते हैं।

कहा जाता है कि दोनों ही हिन्दू धर्म और इसलाम व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन तक ही सीमित न रहकर उसके सामाजिक पारिवारिक जीवन में इतने इतने गहरे उतर गये हैं कि दोनों मिलकर एक

नहीं हो सकते। पर यह भी एक भूल है। निःसन्देह हिन्दू लॉ और मुस्लिम लॉ अलग-अलग हैं पर हिन्दुओं में ही ऐसे कई क़ानून हैं। जैन लॉ तो हिन्दू लॉ से बहुत विभिन्न है। स्वयं हिन्दू लॉ ही कई तरह की विभिन्न व्यवस्थाओं से भरा हुआ है जो अलग-अलग समुदायों पर लागू होती हैं। मुसलमानों में अनेक समुदाय ऐसे हैं जिन पर हिन्दू लॉ अभी भी पूरे या अधूरे रूप में लागू होता है, यहाँ तक कि स्वयं जिन्ना साहब जिस खोजा समुदाय के अंग हैं उसे मुस्लिम लॉ की अपेक्षा हिन्दू लॉ से ही ज़्यादा अपेक्षा है।

सच तो यह है कि दोनों ही क़ानून अपने अपने देश की और अपने अपने समय की अपेक्षा को लिये हुए हैं। वे अनन्त-कालीन नहीं हैं। किसी भी क़ानून को इस बदलती हुई दुनिया में अनन्त-कालीन मानना भूल है। यदि हिन्दू और मुसलमान समय की परिस्थिति को ध्यान में रखकर अपने अपने क़ानूनों में सुधार कर लें, अथवा एक नये क़ानून का ही निर्माण कर लें तो इससे न हिन्दुत्व की मर्यादा का भंग होगा और न इस्लाम की शान में फ़र्क़ आयगा। लेकिन यदि दोनों ही अपने अपने आग्रह को छोड़ने के लिए तय्यार न हों तब हिन्दू अपने लिये हिन्दू लॉ सुरक्षित रखें, और मुसलमान मुस्लिम लॉ पर आंच न आने दें, दोनों अपने अपने समुदाय में अपना अपना क़ानून लागू रखें। इसमें लड़ने की क्या बात है? इसमें राष्ट्रीयता के बन्धन की उपेक्षा कहां है जो दोनों को एक दूसरे से पृथक् कर दिया जाय? दोनों हिन्दू और मुसलमान प्रेम के साथ मिलकर बैठें और यह तय कर लें कि उन्हें तो मिलकर एक होना है तब कोई कारण नहीं है कि क़ानून के विषय में अपने अपने पृथकत्व को रखते हुये भी दोनों मिलकर एक मार्ग का निर्माण न कर सकें।

क़ानून ही नहीं, कहीं-कहीं मुसलमानों में हिन्दू उपनाम, शादी-विवाह के हिन्दू रस्म-रिवाज आदि भी अभी तक मान्य हैं। कई फ़िरक़े तो ऐसे हैं कि उनके रहन सहन खान पान से यह जान सकना असंभव है कि वे मुसलमान हैं पर वे मुसलमान हैं। इस तरह के दृश्यों को धर्मपरिवर्तन की अपूर्णता का कार्य कहने से ही नहीं अविचारणीय नहीं ठहराया जा सकता। इससे तो यही पता लगता है कि जब कोई धर्म किसी अन्य धर्म व उसके अनुयाइयों के सम्पर्क में आया करता है तो उसका एकांगी दृष्टिकोण व रूप स्वभावतः बदल जाता है। भारत में महात्मा बुद्ध ने जिस रूप में बौद्ध धर्म को जन्म दिया था, चीन और जापान में जाकर उसी बौद्ध-धर्म ने बिलकुल भिन्न रूप धारण कर लिया है। यह स्वाभाविक ही है। धर्म-परिवर्तन की अपूर्णता को लेकर ऐसे स्वाभाविक को अस्वाभाविक कैसे कहा जाय?

धर्म का बन्धन ऐसा नहीं है कि एक ही धर्म के अनुयायी भी शांति और प्रेम के साथ-साथ रह सकें, आपस में न लड़ें। हम इतिहास के पन्नों को उलट कर देखें तो पता लगेगा कि वहां ऐसी घटनाएँ भरी पड़ी हैं जिनमें साम्राज्यवादी धनलोलुपी व महत्वाकांक्षी लोगों ने अपने ही सहधर्मियों पर आक्रमण किया है। पहिला हिन्दू साम्राज्य छोटे-छोटे हिन्दू राज्यों को हथिया कर ही बनाया गया था और हिन्दू राज्यों की आपस की लड़ाई ही उसके विनाश में मुख्य कारण रही है। मुसलमानों का इतिहास तो ज़्यादह पुराना भी नहीं है। कट्टर मुसलमान मुग़ल-सम्राट औरंगज़ेब तो बीजापुर और गोलकुंडा के मुसलमान राज्यों पर ज़िन्दगी भर हमले ही करता रहा। उसके राजपूत मित्रों ने अपने ही राजपूत भाइयों पर बड़े-बड़े हमले किए। योरप के ईसाई राष्ट्रों के भयंकर युद्ध तो हमारे सामने ही हैं। यह भी हम देख ही रहे हैं कि बौद्ध धर्मानुयायी जापान अपने सहधर्मी चीन पर कैसे-कैसे ज़ुल्म ढा रहा है।

जब धर्म का बन्धन ऐसा नहीं है कि उसके सब अनुयायी प्रेम के साथ रह सकें, तब धर्म के आधार पर ही जातीयता की कल्पना कर बैठना कहां की अक़लमन्दी है? हम देख रहे हैं कि एक ही धर्म और वह भी वही इस्लाम होते हुए भी मिस्र तुरकिस्तान, अरब, फ़ारस और अफ़ग़ानिस्तान मिल

कर अब तक एक क़ौम नहीं बन सके। जिस तरह भारत की भौगोलिक एकता जिन्ना साहब की राय में अलग-अलग हिन्दू मुसलमान इन दो क़ौमों को एक नहीं बना सकती, इसी तरह एक मुसलमान क़ौम को भौगोलिक विभिन्नताएँ—प्राकृतिक सीमाएँ—भी तो अलग अलग क़ौम नहीं बना सकतीं। फिर मुसलमान अलग अलग इन देशों में अलग अलग क़ौम क्यों बने हुए हैं? क्यों सब मिल कर एक क़ौम के दृढ़ संगठन में आबद्ध नहीं हैं? कारण स्पष्ट है और वह यह कि इसलाम का—ठीक इसी तरह किसी भी धर्म का—बन्धन अब ऐसा नहीं है जो उसमें बँधे हुए सभी प्राणियों को एक क़ौम बना सके।

यदि यह कहा जाय कि भाषा, जलवायु आदि की विभिन्नता के कारण वे मिलकर एक क़ौम नहीं बन सके तब तो हिन्दुस्तान के मुसलमानों को भी प्रान्त-प्रान्त के अनुसार कई क़ौमों में बांटना पड़ेगा। और यदि यह कहा जाय कि भौगोलिक विभिन्नता के कारण वे एक क़ौम नहीं बन सके, या यूँ कहिए कि जहां भौगोलिक एकता रही वहीं सब को मिलकर एक क़ौम बन सकी तब तो भारत की भौगोलिक एकता को देखते हुए यहां के सब हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, पारसी, जैनी, बौद्ध आदि को मिला कर एक क़ौम ही कहना होगा।

ख़ून, भाषा, और भूमि, इन तीन से हिन्दुओं और मुसलमानों में ऐसा कोई भेद-भाव नहीं है जो स्वयं हिन्दुओं में हो, मुसलमानों की बात अभी जाने दीजिये, न हो, यह ऊपर बताया जा चुका है। यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि धर्म की दृष्टि से एक तो कोई ऐसी विशेष विभिन्नताएँ हैं ही नहीं जो हिन्दुओं में ही परस्पर न हों और जिनको लेकर हिन्दुओं और मुसलमानों को दो क़ौम कहने की हिम्मत हो, दूसरे यदि हैं भी, तो धर्म का बंधन ऐसा बन्धन नहीं है जो उसमें बँधे हुए सभी प्राणियों को एक जातीयता के प्रेम-सूत्र में आबद्ध कर सके। यह सब इतना प्रत्यक्ष है कि डाक्टर अम्बेडकार सरीखे व्यक्तियों को भी स्वीकार करना पड़ा है और इसीलिये हिन्दुओं और मुसलमानों को दो क़ौम सिद्ध करने के लिए उन्हें नए कारणों का आश्रय लेना पड़ा है। उनका कहना है कि ख़ून, भाषा, और भूमि की एकता से एक क़ौमियत का निर्माण नहीं होता उसके लिए एक तो यह ज़रूरी है कि दोनों हिन्दुओं और मुसलमानों की भूत काल की स्मृतियाँ ऐसी हों जिनमें प्रतिस्पर्द्धा, जय-पराजय, व शत्रुता की कोई अनुभूति न हो, और दूसरे यह कि दोनों में एक दूसरे से मिलने की—एक दूसरे के साथ रहने की—वास्तव में इच्छा हो।

जहां तक भूतकाल की स्मृतियों का सम्बन्ध है सचमुच एक तरफ़ महमूद ग़ज़नवी और औरङ्गज़ेब आदि की स्मृतियां और दूसरी तरफ़ गुरु नानक, शिवा जी, बंदा बैरागी आदि की स्मृतियां दोनों में काफ़ी कड़वाहट पैदा करने वाली हैं। लेकिन हमें यह न भूलना चाहिये कि जिस तरह मनुष्य का विकास होता है उसी तरह क़ौमें और राष्ट्र भी विकसित होते हैं, इसलिये इन पुरानी स्मृतियों को कषाय रूप में भूलकर, मान-अपमान, हिंसा-प्रतिहिंसा, के भावों के साथ याद न रखकर, दोनों हिन्दू और मुसलमान आनेवाली संतानों के लिये नई स्मृतियां छोड़ें तो इसमें क्या आश्चर्य है? दो व्यक्तियों में संघर्ष होता है, वैर होता है, तब क्या उनमें फिर मेल नहीं हो सकता है? स्वयं हमारे और हमारे प्रिय पाठकों के जीवन में ऐसी घटनाएँ भरी पड़ी होंगी जब वैर के बाद मित्रता हुई है, द्वेष के बाद प्रेम हुआ है और पहिली स्मृतियां कषाय रूप में भुला दी गई हैं। जो व्यक्ति के लिये सत्य है वही समाज के लिये सत्य है, क्योंकि व्यक्ति समाज की ही एक इकाई है या समाज व्यक्तियों का ही एक समूह है। लेकिन व्यक्तिगत जीवन में ही नहीं, सामाजिक व राष्ट्रीय जीवन में भी इस तरह के दृष्टांत हमारे सामने हैं। इङ्गलैण्ड और स्काटलैण्ड के भूतकाल के नेता अलग अलग हैं और प्रायः एक का नेता दूसरे का शत्रु है, और एक की विजय दूसरे की पराजय है, फिर भी इङ्गलैण्ड और स्काटलैण्ड के निवासी मिलकर आज एक

राष्ट्र और एक क़ौम के रूप में दिखाई दे रहे हैं। आर्यों और अनार्यों की घटना तो हमारे ही देश की है। इस तरह के दृष्टांतों के साथ इधर अकबर और कबीर सरीखी महान् विभूतियों की स्मृति भी तो हिन्दू मुसलमान दोनों के दिलों में है। भविष्य को उज्ज्वल बनाने के लिये भूत को कषाय रूप में हमेशा ही भुलाया जाता रहा है। भूत से ही नहीं, बल्कि पैदा होने वाले भविष्य से भी मनुष्य-समुदाय प्रोत्साहन पाया करते हैं। आदान-प्रदान की पद्धति ने भूत के चिन्हों तक को मिटाया है, पुराने रूप नष्ट हुए हैं, नए रूप प्रकट हुए हैं, पुरानी व्यवस्था मिट गई हैं और नई व्यवस्थाओं ने जन्म लिया है। इस अनादि काल से चले आए हुए इस प्राकृतिक नियम को देखते हुए यदि यह आशा की जाय कि हिन्दू और मुसलमान भी भूत को न देखकर, भविष्य को ध्यान में रखकर, वर्तमान में एकता के प्रेमसूत्र में बँधने के लिये प्रयत्नशील हों, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है?

रहा साथ-साथ रहने और घुलमिल कर एक हो जाने की इच्छा का प्रश्न। स्वयं जिन्ना साहब व पाकिस्तान की मांग करने वाले अन्य मुसलमान बन्धु बार-बार यह कहते सुने जाते हैं कि हिन्दू और मुसलमान दोनों में एकता स्थापित करने के अब तक के सभी प्रयत्न असफल हुए हैं, इसलिये हिन्दू मुस्लिम समस्या का सबसे अच्छा हल यह है कि दोनों अलग-अलग हो जायँ। उनकी यह पाकिस्तान की स्कीम, जैसा कि वे कहते हैं, इसलिये नहीं है कि वे अलग होना चाहते हैं, बल्कि इसलिये है कि मिलकर एक होने के विषय में उन्हें कोई आशा नहीं रह गई है। किसी कार्य की पूर्ति में निराशा होना एक बात है और उसकी इच्छा न होना दूसरी बात है।

भारतवासियों में एकता की लगन नहीं है, यह कहना राष्ट्र का ही अपमान नहीं, सत्य का भी अपमान है। अङ्गरेज़ों के आने के पहिले के इतिहास को हम देखें तो हमें मालूम होगा कि एक लम्बे समय के पारस्परिक संघर्ष के पश्चात् दोनों एक दूसरे के पास आ रहे थे और यदि इन अङ्गरेज़ों के सख्त क़दम इस ज़मीन पर न पड़ते तो आज के इस कलियुग में वे बहुत-कुछ मिलकर इस दुनिया के इतिहास के निर्माण में इतना अधिक भाग लेते कि आज हम उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते। लेकिन अभागे भारत के भाग्य में तो कुछ और ही बदा था। गौरांग प्रभु तशरीफ़ लाए और अपनी कूटनीति, छल व पशु शक्ति के बल पर इस विशाल देश के भाग्य-विधाता बन बैठे और स्वाभाविक व प्राकृतिक रूप से होने वाली आदान-प्रदान-जन्य सामाजिक सांस्कृतिक व धार्मिक एकता—अङ्गरेज़ों की पशु शक्ति के दम पर दिखने वाली यह बाहरी एकता नहीं जिसका ज़िक्र लीग के नेता बार-बार किया करते हैं, बल्कि दोनों के जीवन को बांधने और दिलों को मिलाने वाली भीतरी और स्थायी एकता—खटाई में पड़ गई।

इस बाहरी एकता के बीच में ही पिछले पचास साल में जो भारत के कोने कोने में एक राष्ट्रीय भावना जाग्रत हुई है, जो आज़ादी की लगन पैदा हुई है, जो प्रान्तीयता और साम्प्रदायिकता की संकुचित सीमाएँ भीतर ही भीतर नष्ट हुई हैं, उन्हें देख कर यह कैसे कहा जा सकता है कि भारतवासियों में एकत्व की भावना नहीं?

मुस्लिम लीग को छोड़ कर शेष विशाल मुस्लिम जन-समुदाय साथ-साथ रहने और मेल-जोल बढ़ाने के हां पक्ष में है। हिन्दू महासभा तथा कुछ दकियानूसी हिन्दुओं के अतिरिक्त सभी हिन्दू मुसलमानों के साथ मेल जोल बढ़ा कर भाई-भाई की तरह रहने के लिए उत्सुक हैं। भले ही कुछ वर्षों की राजनीति के कारण सामूहिक दृष्टि से इस तरह की भावना को ठेस पहुँची हो, लेकिन यह एक क्षणिक आवेश व तत्कालीन फल की उच्छृंखल भावना का ही, जो आजकल की राजनीति का मुख्य अंग है, कार्य है। यह कड़वाहट दूर होने पर जब हिन्दू और मुसलमान ठंडे दिल से सोचेंगे, अपने-अपने मन को टटोलेंगे, तो वे देखेंगे कि दोनों के दिलों में राष्ट्रीय एकता की

आग धधक रही है, दोनों ही एक दूसरे से मिलने के लिए परस्पर प्रतियोगिता व ईर्ष्या तक करने के लिये लालायित हैं।

देश के राजनैतिक जीवन की ऊपरी सतह पर होनेवाली इन क्षणिक व अस्थायी हलचलों पर से हमेशा के लिये होने वाली व्यवस्था का निर्णय नहीं किया जा सकता। उसके लिये तो इस भारत भूमि और विश्व के इतिहास को देखना होगा—मानव और उसकी वृत्तियों को परखना होगा और करना होगा, भूत को भुला कर तथा वर्तमान की इन क्षणिक विचार-धाराओं को ताक में रखकर, दिल और दिमाग़ से हर तरह के पक्षपात और तअास्सुब को निकाल कर, भविष्य पर, निकट भविष्य पर नहीं दूर भविष्य पर अर्थात् आने वाले एक दो तीन कल पर नहीं बल्कि असंख्य कलों पर, गम्भीर विचार।

मुस्लिम लीग ही नहीं, हिन्दू महासभा का भी यही दावा है कि हिन्दू अलग एक क़ौम हैं और उसके समर्थन में वे प्राचीन इतिहास की दुहाई देते हुए कुछ ऐसे ही कारण दिया करते हैं जैसे कि मुस्लिम लीग मुसलमानों को एक क़ौम कहने के लिये दिया करती है। मुसलमानों को अलग क़ौम मान कर भी सभा यह पसन्द नहीं करती कि भारत का कोई भाग पूर्ण रूप से मुसलमानों के अधिकार में दिया जाय। वह भारत को हिन्दुस्तान—हिन्दुओं का स्थान—मानकर अखिल भारतवर्ष को हिन्दुओं के आधीन ही बनाए रखना चाहती है और मुसलमानों को छोटे साथी या सहयोगी के रूप में देखने की आशा करती है। इस सम्बन्ध में सावरकर जी ने हिन्दू महासभा के बार-बार होते जाने वाले सभापति की हैसियत से बार-बार बहुत कुछ कहा है लेकिन उन सब बातों की ओर आलोचना करने के लिये यहाँ स्थान व अवसर नहीं है।

लीग को मुसलमानों का जितना प्रतिनिधित्व प्राप्त है, हिन्दू महासभा को उतना हिन्दुओं का प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं है लेकिन इस पर से ही एक को सम्मान व दूसरे को असम्मान की दृष्टि से देखा जाय, ऐसी हमारी भावना नहीं है। दोनों ही अलग अलग हिन्दुओं और मुसलमानों की साम्प्रदायिक संस्थाएँ हैं और दोनों के दृष्टिकोण अपनी-अपनी अपेक्षा से एक-सरीखे हैं। इसलिये ऊपर जो लीग के दृष्टिकोण की आलोचना की गई है उससे सहज ही महासभा के दृष्टिकोण की भी आलोचना हो जाती है। फिर भी यदि हो सका तो कभी अलग किसी निबन्ध में उसकी भी विस्तृत आलोचना कर दी जायगी। अभी तो यह कहना ही काफ़ी है कि जहाँ तक लीग और सभा का सम्बन्ध है हम पूर्ण रूप से समभावी हैं।

निराश होने का कोई कारण नहीं है। यह विश्वास रखिये कि आप विजयी होंगे और अपने मुल्क में ही नहीं सारी दुनिया में एक ऐसी नई व्यवस्था का—इस पुरानी सड़ी गली दुनिया में से एक ऐसी नई तरोताज़ा दुनिया का—निर्माण कर सकेंगे, जहाँ राजनैतिक व सामाजिक रंगमंच पर कूटनीति का नृत्य न हो सकेगा, जहां कोई भी दूसरों के न्यायोचित अधिकारों को छीन कर गुलछर्रे न उड़ा सकेगा, जहां शैतान फरिश्ते का जामा पहिन कर दुनियां की आंखों में धूल न झोंक सकेगा। उस समय यह दुनिया स्वर्ग का-सा एक नन्दन निकुंज होगी जिसका मालिक फरिश्ता होगा, जहां सत्य, अहिंसा और न्याय के वृक्ष उगेंगे और फले फूलेंगे, जहां सेवा व प्रेम की सुन्दर क्यारियों में त्याग और बलिदान के सुमन खिलेंगे और जहाँ मानवता की मधुर सुरभि फैल कर दिल व दिमाग़ को मस्त बनाएगी। आइए, संगठित होकर, परस्पर एक बन कर, इसके लिये कुछ करिये, कुछ करिये।*

* इस लेख में आर्थिक और औद्योगिक एकता को मिलन का आधार नहीं माना गया। और इस बीसवीं सदी में यही जनता के मिलन के लिए सच्चा आधार है।—सम्पादक

क्यों ?

श्री देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त'

अग - जग सारा आज प्रकम्पित, महाकाल ने मुँह फैलाया;
मानव ने ही दानव बनकर, महा प्रलय का ज्वार जगाया।
युद्ध - क्षेत्र का सूना आलम, रणचण्डी ने आज सजाया;
मानव - आविष्कारों ने ही, मानव का संहार दिखाया।
नील क्षितिज पर जहरीले से, गैसों का गुब्बार समाया;
जग के कोने - कोने पर अब, आज मृत्यु ने जाल बिछाया।
भौतिक चकाचौंध ने देखो, जीवन का चिर सत्य दबाया;
अग - जग सारा आज प्रकम्पित, महाकाल ने मुँह फैलाया।

वायुयान पर्वत पर पहुँचे, बम - वर्षा का खेल रचाया;
और समुद्रों की छाती पर, जलयानों ने जाल बिछाया।
मानव का संहार नित्य ही, बलि - बकरों - सा होता जाता;
रणचण्डी का खप्पर भी तो, और लबालब भरता जाता।
किन्तु युद्ध का सृष्टा मानव, नहीं स्वार्थ पूरा कर पाया;
अग - जग सारा आज प्रकम्पित, महाकाल ने मुँह फैलाया।

अगणित बहिनों के मस्तक से, लाल - बिन्दु अब धुलते जाते;
माताओं की गोदी भी तो, सूनी कितने करते जाते।
कितने ही परिवार उजड़ कर, भिखमङ्गों से बनते जाते;
जीवित रहने के भी साधन, धीरे - धीरे मिटते जाते।
किन्तु युद्ध की ताण्डव गति में, कहाँ तनिक भी अन्तर आया?
अग - जग सारा आज प्रकम्पित, महाकाल ने मुँह फैलाया।

गर्हित राज्य - वृद्धि के पथ पर, कैसा संयम, कौन विरागी?
निम्न स्वार्थ की पृष्ठ भूमि पर, मानव की पशुता यों जागी!
एक चाहता शहंशाह बन, सब जग का शासक कहलावे;
और गुलाम बनाकर जग को, निज इंगित पर नाच नचावे।
मानवता, ममता, समता को, इस प्रभुता ने तुरत भगाया;
अग - जग सारा आज प्रकम्पित, महाकाल ने मुँह फैलाया।

संहारक यह कांक्षा देखो, और अमर - सी उनकी वाणी;
ईसा, बुद्ध, मुहम्मद, गान्धी, बतलाते जो जग - कल्याणी!
कितना अन्तर दोनों में है, कौन किसे अब यह बतलावे?
महानाश की चकाचौंध में, कौन किसे सत्पथ दिखलावे?
निशा - गर्भ में कहाँ उषा - सा, इस विनाश में प्रात समाया?
अग - जग सारा आज प्रकम्पित, महाकाल ने मुंह फैलाया।

रजनी का यह कुहू अँधेरा, स्वर्ण - प्रात की किरण बनेगा;
मानव की इस दानवता से, मानवता का प्राण जगेगा!
आज खून जिनका है बहता, वही खून कल बदला लेगा—
मानव की इस दानवता का, नग्न चित्र क्या यहीं रुकेगा?
आने वाले युग के सृष्टा! किसने क्यों खून यह न बहाया?

वर्तमान समाज की एक करुण कहानी

ज्योत्स्ना

श्री सरस्वती देवी

'बड़ी गरमी है।'

चारपाई पर करवट लेते रहने पर भी बसंत को नींद न आई। बिजली के पंखे से गर्म हवा आने लगी थी। उठकर पङ्खा बंद कर दिया। एक गिलास ठंडा पानी पिया और व्याकुल हो निखरी चाँदनी में टहलने लगा।

सहसा उसकी निगाह पास के मकान में गई। उसने देखा कि इतनी असह्य गर्मी में भी वह माँ बेटी लालटेन के क्षीण प्रकाश में कुछ सी रही हैं। उस धधकती हुई ज़मीन पर एक छोटा बच्चा चिथड़ों पर सोया है। उसकी आत्मा काँप उठी। वह वहीं रैलिंग थामकर ठिठका खड़ा रहा।

रात आधी से ज़्यादा बीत चुकी थी। गरमी से तड़पते तड़पते कुछ लोग निद्रा देवी की गोद में जा चुके थे। पथ पर सन्नाटा छाया हुआ था। दिन भर के थके माँदे लोग विश्राम कर रहे थे पर इतनी सख्त गरमी में भी इस समय यह बाला अपने काम में तन्मय है। उसे शायद यह भी खबर नहीं कि रात कितनी गई। धीमी चाँदनी उस के मुख पर पड़ रही है। इससे उसके शान्त सरल सुन्दर मुख की शोभा द्विगुणित हो रही है। उसकी कोमल उँगलियाँ फुर्ती से अपना काम कर रही हैं। शायद उन सुन्दर उँगलियों को उस भोले मुख पर दया आ रही है। और वे काम खतम करने के लिए उत्साहित हैं। पसीने की बूँदें आ आकर उसके कपोल पर ढुलक रही हैं।

बसंत ने विवशता से उत्पन्न दरिद्रता के इस दृश्य को देखा। सहानुभूति और दया से उसका हृदय भर आया। हृदय ने एक अजीब दर्द का अनुभव किया। वह भावावेश की अधिकता के आवेश में खड़ा सोचता रहा।

कुछ देर बाद इस षोडसी की माँ बोली—अब सो रह ज्योत्स्ना! रात बहुत हो गई है।

'सो रहूँगी माँ, थोड़ा और है पूरा करलूं। सुबह बाबू साहब के यहाँ दे आऊंगी। कुछ पैसे मिल जायेंगे मैया के दवा के लिए और कुछ खाने के लिए हो जायगा।' कुछ कंपित कंठ से ज्योत्स्ना बोली।

माँ ने एक आह भर कर कहा—भगवान की इच्छा! क्या यह तेरी उमर थी—तेरे पिता जी मुझे कितना प्यार करते थे—वह होते तो क्या तुझे······

बीच में ही ज्योत्स्ना बोल उठी—भूल जाओ अम्मा, उस बीती हुई कहानी को। मैया को भगवान अमर करें। यही हम दुखियों की आत्मा की पुकार है।

बच्चा रो उठा। माँ उसे चुप कराते हुए आँखों में उमड़े आँसुओं को पोंछ कर बोली—कैसे भूल जाऊं ज्योति उन अतीत की बातों को? एक क्षण के लिए भी वे नहीं भूलतीं। इस बालक को देखती हूँ तो कलेजा टूक टूक हो जाता है। इसने पिता का मुँह भी नहीं देखा। कुछ शान्ति तब भी होती जब तेरे पिता जी की इच्छानुसार किसी योग्य और सम्पन्न घराने में तेरी शादी कर पाती। पर हा दैव, ऐसा भाग्य भी नहीं!

एक फीकी हँसी हँस कर ज्योत्स्ना ने कहा—माँ, ऐसी बातें सोच कर मन को ख़राब मत करो। हम लोग पहिले जो थे, थे, किन्तु अब उन बातों को भूल जाना होगा। हर वक्त यही सोचना चाहिए कि हम लोग अति दीन प्राणी इस संसार में हैं। हम लोग गरीब हैं। ग़रीब होकर महलों का स्वप्न न देखना चाहिए।

माँ, फूलवाला, बेटी की यह गंभीर बात सुन एक निश्वास त्याग चुप हो रही।

पर फूलवाला का मन व्यथित हो उठा। उसने ज्योत्स्ना की ओर सजल नेत्रों से देखा। वहाँ से उठ कर वह उसी ओर चली आई जिधर बसन्त की छत थी। बसन्त आड़ में हो गया। वह अपने आप कह उठी—क्या इस सुकुमारी, गुणसम्पन्ना, सरल बालिका को योग्य वर के साथ ब्याह न सकूंगी? क्या इसका भाग्य मेरे भाग्य के समान ही बड़ा खोटा है? पर मैंने तो अच्छे से अच्छे दिन भी देखे, सुख भी भोगा! ओह, रामशरण की बातों पर मेरा मन सिहर उठता है। कहाँ ज्योत्स्ना और कहां वह वर! एक अभी इस दुनियाँ में खिलने की तैयारी में है तो दूसरा यहाँ से जाने की। दैव, इस निर्दोष को तू ने मेरे पेट से क्यों जनमाया? इस देश और इस समाज में क्या अब दुखियों को कहीं आश्रय नहीं मिल सकता?

फूलवाला कातर दृष्टि से आसमान की ओर निहारने लगी मानो अपनी मूक भाषा में कुछ कह रही हो।

बसंत ने सब बातें स्पष्ट रूप से सुनीं। उसको रोमांच हो आया। लड़खड़ाते पैरों से अपने पलंग की ओर बढ़ा।

× × ×

लाला शंकरदयाल लखनऊ के सम्पन्न व्यक्तियों में थे। सूबे के प्रसिद्ध एडवोकेट थे। अच्छा सम्मान था। कुछ वर्षों से प्रैक्टिस छोड़ दी थी। 'ईश्वर-आराधना' और 'समाज सेवा' में लग रहते थे।

बसंत लाला जी का एकलौता पुत्र था। धन और सम्मान लाला जी को प्राप्त था पर बसंत ऐश्वर्य तथा माता पिता के असीम लाड़ प्यार में पलने पर भी सादगीपरस्त था। वह देखने में जितना सुन्दर था उसका हृदय उतने ही स्वच्छ और उच्च विचारों से शराबोर था। दुखी को देख कर उसके नेत्रों से आँसू निकल आते थे। मन, प्राण उसके कष्ट को दूर करने के लिए विकल हो जाते। कालेज में अनेक ग़रीब छात्रों की फीस अपने पास से दे देता।

समाज, देश और दुनिया के कष्टों के मूल कारणों और इन कष्टों के दूर करने के उपायों के बारे में वह विशेषज्ञों की पुस्तकें पढ़ने का कोई अवसर न खोता था। पिता की इच्छा थी कि पुत्र खूब सज धज कर रहा करे। बंगले, मोटर, बाग बागीचे सभी तो उसी के थे। परन्तु वह जानता था कि यह सब ऐश की सामग्री कैसे मिलती है। वह सदा सादगी पसन्द करता। सोचता, मैं सज धज कर निकलूंगा तो मेरे गरीब भाई क्या सोचेंगे? यही न कि मुझे लूट और चोरी के पैसों का अभिमान है! न, न, यह मुझसे न होगा। दूसरों को उन्नति का अवसर न देकर उनसे तरह तरह से सब चीजें एंठ लेना कोई मानवोचित गौरव का काम नहीं है!

× × ×

'माँ! माँ कहाँ हैं?'

बड़े ही मधुर शब्दों में ज्योत्स्ना बोली।

'अरे सुनती हो! कहाँ हो! ज्योत्स्ना आई है।'

वकील साहब को देख ज्योत्स्ना सकुचा गई थी। झिझकती हुई सर का कपड़ा ज़रा और खींच-कर शर्म से खड़ी रही।

भीतर से कौशिल्या देवी ने आकर स्नेहसिंचित स्वर में कहा—ओह बेटी, कब से खड़ी हो?

ज्योत्स्ना दोनों हाथ जोड़ धीरे से बोली—अभी तो आई हूँ, माँ!

कपड़ा हाथ में लेते हुए कौशिल्या ने कहा—इतनी जल्दी की तो ज़रूरत न थी। तुमने इतना परिश्रम क्यों किया? सुविधानुसार बना लेतीं।

'बहुत परिश्रम तो नहीं किया माँ! हाँ, भैया बीमार हैं, उसकी दवा की ज़रूरत है।

आगे ज्योत्स्ना कुछ कह न सकी! वह अपनी करुण दशा किसी को बतलाना नहीं चाहती थी।

बाहर से आते आते बसन्त के कानों में उसकी आवाज़ पड़ी। माता के पास आकर वह खड़ा हो गया।

कौशिल्या ज्योत्स्ना की बातों से बहुत दुखी हुई। उसका मातृत्व उसका दुख दूर करने के लिए अन्दर ही अन्दर तड़प उठा।

ज्योत्स्ना के हाथ से उसने कपड़ा ले लिया। देखा कि फ़ीरोज़ी रंग के स्वदेशी रेशम पर कारचोबी का काम बहुत ही होशियारी और सफ़ाई के साथ किया गया है। एक एक मोर इतनी उत्तमता के साथ बने हैं मानो उड़ा चाहते हों। नन्हीं-नन्हीं फूलों की पंखुड़ियाँ सुकुमार उँगलियों की कला को ही नहीं व्यक्त कर रही थीं, बल्कि कलाकार के जीवन की करुण कहानी भी व्यक्त कर रही थीं। उसने आर्द्र कण्ठ से पूछा—क्या दूँ बेटी ?

'मैं क्या जानू माँ ! जो समझो दे दो। जल्दी जल्दी में कुछ बना भी न पाई।' आँखें नीची कर कम्पित स्वर में ज्योत्स्ना ने कहा—

बसन्त को उस कम्पित कंठ में बड़े ही दर्द का अनुभव हुआ। इतने में लाला शंकरदयाल बोल उठे—पाँच रुपये दे दो।

यह सुन बसन्त चौंक कर बोल उठा—इतने परिश्रम का मूल्य पाँच ही रुपये ?

बसन्त के मुख से यह सुन ज्योत्स्ना का हृदय भर आया।

कौशिल्या ने एक बार बसन्त की ओर देखा, फिर स्नेह से ज्योत्स्ना के सिर पर हाथ फेरते हुए कहा—अच्छा बेटी, तुम घर जाओ। मैं अभी रुपया लेकर स्वयं आऊँगी।

ज्योत्स्ना के जाते ही बसन्त ने माँ से कहा—माँ, यह लोग बहुत ग़रीब हैं।

कौशिल्या—हाँ. ये लोग अभी हमारे पड़ोस में आये हैं। किसी समय इनका ज़माना बहुत अच्छा था बेटा ! इसके पिता मनमोहन जी की मासिक आमदनी ढाई तीन सौ रुपये थी। यह ज्योत्स्ना बड़े ही लाड़ प्यार में पाली जाती थी। पर इन लोगों का वह सुख यकायक ग़ायब हो गया। इसके पिता मनमोहन जी खुलकर देश का काम करने लगे। सब आमदनी बन्द हो गयी। कष्ट पर कष्ट आये। इस बार क़रीब नौ माह हुए पकड़ कर जेल में डाल दिये गये थे। उन पर राजनीति का मुक़दमा चलने लगा था। पर चार मास के भीतर ही उनका स्वर्गवास हो गया। यह जो छोटा बच्चा है उसका जन्म भी तब नहीं हुआ था। पाँच मास का पेट में था। अभागे ने अपने देशभक्त बाप मनमोहन जी का मुंह तक न देखा। अब ये माँ बेटी इसी तरह सिलाई व दस्तकारी करके किसी तरह गुज़र कर रही हैं।

बसन्त ने कहा—मनमोहन जी ! तब तो मैं इनके पिता के बारे में बहुत कुछ जानता हूँ माँ ! देशभक्तों के बारे में जानना मैं भी अपना कर्तव्य समझता हूं।

ज्योत्स्ना ने यह सब सुन लिया।

वह घर आई—हृदय में एक भारी तूफ़ान लेकर। अपने को एक छोरविहीन दरिया में बहते हुए पाया जहाँ कोई सहारा ही नज़र न आता था। बसन्त के सहानुभूति के शब्दों ने उसके दिल पर बहुत असर डाला।

दिन भर उसका जी उचटा उचटा रहा। किसी काम में मन न लगा। रात में भी बहुत देर तक उसे नींद नहीं आई। उसके कानों में बसन्त के मधुर स्वर गूंज रहे थे। आँखों में वही सुन्दर सूरत झूल रही थी। पर यह ग़रीब है, वह धनवान है। उस बाला का मन एक वेदना से कराह उठा। माँ के सो जाने पर ज्योत्स्ना धीरे धीरे उठी और छत पर जाकर आकाश की ओर देख बोली—मेरे पिता ने कोई बुरा काम नहीं किया। देशभक्ति मनुष्यमात्र का परम कर्तव्य है। इस कर्तव्यपालन करने वाले के प्रति हमारी श्रद्धा होनी चाहिए, हम में त्याग का भाव होना चाहिए। क्या उनमें ऐसा ही भाव है ?

उसे पता न था कि दूसरी छत पर किसी ने उसके इन शब्दों को कितनी प्रसन्नता के साथ सुना।

× × ×

बसन्त फ़र्स्ट डिवीज़न एम० ए० पास हो गया। लाला जी के घर में आज आनन्द का वारापार नहीं, माता पिता सभी बहुत प्रसन्न हैं।

यह ख़बर सुन ज्योत्स्ना के दिल में भी विशेष प्रसन्नता का संचार हुआ। उसे क्यों ऐसी ख़ुशी हुई, इसका उत्तर वह बार बार अपने मन से पूछती है पर उसका मन क्या उत्तर देता ? बात तो हृदय की थी।

रात में सोते समय लाला जी ने कौशिल्या से कहा—बसन्त एम० ए० पास हो गया, अब उस की शादी ज़रूर करनी चाहिए।

कौशिल्या ने स्वामी की बात का समर्थन करते हुए कहा—हाँ, उसकी शादी हो जाय, एक यही मेरी भी अवशेष लालसा है।

'तो फिर कल जज साहब, श्रीकान्त, के पत्र का उत्तर दे दूँ ? उन्होंने कई बार पत्र लिखा।'

कौशिल्या—किस बात का उत्तर ?

लालाजी—यही बसन्त की शादी के लिए।

कौशिल्या—वह अपनी लड़की गिरिजा से करना चाहते है ?

लालाजी—लड़की तो तुमने देखी है ?

कौशिल्या—हाँ, देखने में लड़की बहुत सुन्दर है। किन्तु मुझे वहाँ की शादी पसन्द नहीं।

लालाजी कौशिल्या की बात से चौंक उठे; बोले—क्यों ?

कौशिल्या—कुछ—यों ही।

लालाजी—नहीं, नहीं, साफ़ साफ़ कहो न। जब लड़की अच्छी है तो नापसन्द होने का क्या कारण ?

कौशिल्या—लड़की देखने में अच्छी अवश्य है पर रूप ही तो नहीं देखा जाता। रूप का आकर्षण स्थायी नहीं हो सकता।

लालाजी—वह उद्दण्ड है, क्या ?

कौशल्या—माता पिता के धन पर उसे अभिमान है और अपनी ख़ूबसूरती पर नाज़ है। इसी से स्वभाव तेज़ है। भला ऐसी लड़की के साथ क्या बसन्त सुखी हो सकेगा ?

लालाजी—लेकिन अपने जोड़ की ऐसी रिश्तेदारी न मिलेगी। लड़की अच्छी, दहेज अच्छा। दस पन्द्रह हज़ार से कम नहीं मिलेगा। बसन्त चाहे तो अच्छा पद भी मिल जावेगा।

कौशल्या—उँह, ऐसी रिश्तेदारी लेकर क्या करना होगा कि जीवन दुखमय हो जावे ! मेरे क्या नहीं है, जो मैं दूसरे के धन पर लोभ करूँ ? यदि किसी ग़रीब की लड़की आयेगी तो इस बँगले की, मोटर की, धन दौलत की क़दर करेगी। जिसके घर में बचपन से ही इन सब का योग हो वह हमारे यहाँ आकर क्या नई चीज़ देखेगी ? और ऐसी लड़की लेना ही जानती है, देना तो जानती ही नहीं। धनवान की बेटी के लिये कितने ही वर तैयार हैं। उसके फ़ैशन, नाज़, आदि के प्रशंसकों और स्वार्थी चापलूसों की कमी नहीं। ग़रीब की बेटी के लिये वर कहाँ, चाहे वह कितनी ही गुणवान क्यों न हो ? और क्या यह तुम्हें नहीं मालूम कि बसन्त कितने उदार हृदय का लड़का है, उसके हृदय में ग़रीबों के लिये बेहद ममता है। जिसका दिल बनाव सिंगार और धन की ही ओर झुका है उसे वह नहीं चाहेगा। यह जानते हुए भी क्या हमारा यह धर्म है कि किसी जज साहब या और साहब की लड़की उसके जीवन के साथ बाँध दें ? क्या बसन्त की सादगी को वह पसन्द करेगी ? क्या वह बसन्त के साथ सब तरह सहयोग कर सकेगी ? नहीं, मुझे तो इसका ज़रा भी विश्वास नहीं है।

कुछ देर लालाजी चुप रहे, फिर अन्यमनस्क भाव से बोले—अपनी हैसियत भी तो देखनी चाहिए।

कौशल्या—हाँ, हैसियत ज़रूर देखनी चाहिए, पर हैसियत के लिये यह जरूरी नहीं कि शादी-ब्याह धनी घर में ही हो।

इस बार लाला जी कुछ खीझ उठे। व्यंग के स्वर में बोले—तो फिर ज्योत्स्ना से ही न कर लो!

कौशिल्या—मेरा जी तो यही चाहता है। ज्योत्स्ना बड़ी ही सुशीला, निरभिमानिनी, समझदार और गुणी है। चार पांच वर्ष से उसको देख रही हूं जब वह ग्यारह बारह साल की निरी बालिका थी। पर आज तक उसमें कोई अवगुण न देख पाई। वह बड़ी ही…………

लाला जी बीच में ही बात काट कर बोल उठे—क्या बकती हो! भला ज्योत्स्ना का हमारा क्या संबंध! एक मिहनत मज़दूरी कर पेट पालने वाली की कन्या से बसंत का व्याह! असम्भव बात।

कौशल्या—नहीं, असम्भव तनिक भी नहीं। अभी चार दिन पहले जब ज्योत्स्ना के पिता जीवित थे तब उनकी हालत क्या थी? रुपये-पैसे से बड़प्पन या प्रतिष्ठा का आधार यह देश नहीं मानता था अब मानने लगेगा तो बुराई ही होगी, यह स्पष्ट दिखाई देने लगा है। उन लोगों ने अच्छे दिन देखे हैं। हमेशा से ऐसे नहीं रहे। लक्ष्मी का क्या भरोसा? आज मेरे ही यहाँ से रूठ जाये तो हम क्या कर सकते हैं?

लाला जी—लेकिन………

कौशिल्या—लेकिन वेकिन की क्या बात है? मैं कहती हूं कि ज्योत्स्ना और बसंत की अनुपम जोड़ी होगी। इस घर में वह लक्ष्मी सी सुशोभित होगी। आपके सुयोग्य पुत्र की बधू होने के लिए मुझे ज्योत्स्ना में सभी योग्य लक्षण दीखते हैं। फिर ऐसा क्यों हो कि एक गुणवती कन्या के निर्धनी होने से उसे अपनाया न जाये? बसन्त धनवानों के धन को 'लूट का माल' कहता और समझता है। वह विरक्त होकर इस धन को किस तरह फेंक दे सकता है, यह भी तो सोचना चाहिए।

लाला जी इस बार कुछ गर्म होकर बोले—नहीं, नहीं, वहाँ शादी हर्गिज़ नहीं हो सकती। वहाँ शादी करके क्या अपनी बदनामी कराना है?

कौशिल्या—बदनामी क्यों होगी?

चिढ़कर लाला जी बोले—एक कंगाल के साथ शादी करके क्या बड़ाई होगी! बरात को ठीक तरह खाना-पीना तक तो मिलेगा नहीं! हमें तो कभी कुछ मिलेगा ही क्या? मिलने जुलने वाले बड़े आदमी अलग चिढ़ जावेंगे।

कौशिल्या—मुझे उन बड़े आदमियों से मिलने वाली नेकनामी बदनामी से मतलब नहीं। मैं अपना लड़का व्याहूँगी, उनकी समाज का नहीं।

लाला जी—तुम्हें मतलब नहीं, मुझे तो है। मैं तो उन्हीं की समाज का हूँ। वहाँ शादी हर्गिज़ नहीं होगी।

कौशिल्या—लेकिन मेरी समाज तो वही है जो ज्योत्स्ना, उसकी माँ और उसके पिता की है।

'मेरी समाज वह नहीं है।' लाला जी की यह बात सुनकर कौशिल्या ने उस समय चुप रहना ही उपयुक्त समझा। पर उसका दिल ज्योत्स्ना को पुत्र-बधू बनाने को और भी लालायित हो गया।

× × ×

अभी अभी बसन्त सोकर उठा तो उसके कानों में यह शब्द पड़े—'बहिन, सुशील और गुणवती होने से क्या लाभ, जब भाग्य ही खोटा है।' स्वर बड़ा ही करुण था।

बसन्त चौंक उठा। आवाज़ों से उसने समझ लिया कि बगल के कमरे में उसकी माँ और ज्योत्स्ना की माँ फूलबाला बातें कर रही हैं।

बसंत उत्सुक होकर सुनने लगा।

कौशिल्या देवी स्नेह भरे स्वर में बोली—ऐसा न कहो बहिन! वह लक्ष्मी है, बहुत समझदार और सीधी सादी है।

फूलबाला—हाँ, यों तो वह बहुत समझदार है, जब से उसके पिता का अंत हुआ तभी से यह देख समझ रही हूँ। आज तक किसी चीज़ के लिए उसने ज़िद नहीं की। दिन रात परिश्रम करके भी वह ऐसी संकोच प्रकट करती है मानों कहती हो, कुछ भी नहीं किया, सारी दुनिया का काम मैं करलूँ और माँ

तथा भाई के कष्ट हरलूँ; पर उसकी विवाह की बात सोचती हूँ तो कलेजा फटने लगता है।

ज्योत्स्ना का विवाह !

बसंत का हृदय जोरों से धड़कने लगा।

कौशिल्या—कहीं बातचीत की है बहिन ?

फूलबाला—एक लम्बी सांस लेकर बोली—हाँ, यहाँ के जो लाला मनोहरदास हैं उन्हीं......।

कौशिल्या—उनके लड़के से ?

इस बार फूलबाला रो उठी। रोते रोते बोली—उनके लड़के तो सब व्याहे हैं और बाल बच्चे वाले हो रहे हैं।

कौशिल्या—तो ख़ुद उन्हीं से ! वे अब फिर विवाह करना चाहते हैं !—'अंग शिथिल हो गये, पर मन शिथिल न हुआ !' उनके साथ ज्योत्स्ना के विवाह की बात सोचना भी पाप है !

फूलबाला—पाप ! किसका पाप ? इस समाज का, इस देश का, नीच, स्वार्थी युवकों का, जो मेरे परिवार और इस लड़की को ऐसी उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं या मेरा ? किसका पाप है बहिन, यही तो मैं पूरी तरह समझ नहीं पाती। और देशों में तो देश-भक्त परिवार के साथ या किसी भी लड़की के साथ ऐसा अन्याय नहीं हो सकता।

कौशिल्या—सिवा तुम्हारे और तुम्हारे ऐसे परिवारों के हम सबका पाप है ! हिन्दुस्तानी रियासतों तक में समाज-सुधार के—अनमिल विवाह, वृद्ध-विवाह और दहेज के विरुद्ध—क़ानून बन गये। यहाँ जूं नहीं रेंगती।' और उसने अपनी आँख का आँसू पोंछ डाला।

फूलबाला—ज्योत्स्ना का मुख देखती हूँ तो कलेजा मुंह को आ जाता है। कहाँ पाऊँ इस अभागी के लिए योग्य वर ? कौन मुझ निर्धन और उपेक्षित के घर सम्बन्ध करने को राज़ी होगा ? कौन सम्पन्न पिता अपने योग्य पुत्र को मुझ निर्धन की बेटी से व्याहेगा ! इस समाज में कौन ऐसा है जो मेरी बेटी के गुण देखेगा ? चारों तरफ़ से 'लड़की सयानी हुई, व्याह दो—चाहे जिसे व्याह दो—बुड्ढे से, रोगी से, किसी से व्याह दो'—बस ऐसी आवाज़ें आती हैं। मनोहरदास ने हमारी ग़रीबी पर दया करके ही लड़की का उद्धार और मेरे परिवार भर का उद्धार करने के उच्च विचार से यहाँ अपना विवाह करने की कृपा करनी चाही है!

कौशिल्या चुप रही। उसके हृदय में यह जान कर बड़ी व्यथा थी कि इस फूल सी सुकुमार नव बाला से वह जर्जर बूढ़ा ब्याह करना चाहता है ! अब उस पर उसे क्रोध आया और घृणा हुई समाज भर के प्रति और साथ ही ज्योत्स्ना के प्रति उसका ममत्व भीतर ही भीतर उमड़ पड़ा। गला भर आया। वह कुछ बोल न सकी।

ज्योत्स्ना उसको बहुत भाई है; वह सुशीला है, उसमें दया-क्षमा का भाव भरा हुआ है, वह धन को सार्थक कर सकती है, पति को सच्चा प्रेम दे सकती है, सच्चे अर्थ में उसकी जीवनसंगिनी हो सकती है। उसे पाकर उसका परिवार सफल हो सकेगा। ठीक तरह सफल हो सकेगा !

फूलबाला फिर बोली—कौन जानता था कि ये दिन भी देखने होंगे ? क्या मालूम था कि इसके पिता इतनी जल्दी चल बसेंगे ! वह ज्योति को कितना चाहते थे। ज्योति सचमुच उनके आँखों की ज्योति थी। उन्होंने ही उसे अपने ढंग से दीक्षा-शिक्षा दी थी ! वह चले गये। मैं इसका बलिदान संकीर्ण स्वार्थ में सने और क्षुद्रता को बड़प्पन समझने वाले समाज की बलि-वेदी पर करने के लिए जीवित हूँ !' इतना कह फूलबाला फूट फूट कर रो उठी। उसका हृदय अगाध वेदनाओं, अपमानों और यंत्रणाओं से भरा हुआ था।

कौशिल्या सान्त्वना भरे स्वर में बोली—रोओ मत बहिन ! जब तक यहाँ ऐसे ऐसे स्वार्थी और ऐसी सड़ी समाज-पद्धति मौजूद हैं तब तक एक हमारी ही ज्योति नहीं वरन् सैकड़ों ज्योति का प्रतिदिन बलिदान होता है। रोओ मत, रोना इसका इसका इलाज नहीं है।

[शेषांश अन्त में]

विचार-तरङ्ग

श्री चारवाक

"उनका भारत"

उनके भारत के गरयमान्य लोग दो वर्गों में विभाजित हैं। ये दो वर्ग अथवा कक्षा या दल भारतीय चक्की के दो पाट हैं। इञ्जिन के दो पत्थरों के बीच इस देश की जनता गेहूं सी पीसी जाती है और उसी से लोगों की उदर पूर्ति के लिये आटा तैयार होता है।

एक वर्ग (इस चक्की का नीचे का पत्थर) है—राजे, महाराजे, नवाब, रईस, ज़मीन्दार, महाजन, सेठ-साहूकार, बड़े पूंजीपति, मुल्ला, पुजारी, पण्डे, पण्डित, महन्त, सन्यासी, फ़क़ीर इत्यादि। और दूसरा वर्ग (चक्की का ऊपर का पाट) है—इस साम्राज्य की शक्ति, शासनकर्ता, शासकों के अनुचर, कर्मचारी, विदेशी पूंजीपति, कारख़ानों के मालिक, और विदेशी तिजारती लोग।

प्रथम वर्ग के अधिकांश लोग वर्तमान स्थिति से सन्तुष्ट हैं। धनी लोग और पूंजीपति कहते हैं, हम कुबेर के वंशज हैं, इस देश की समृद्धि के लिये धन कमाते हैं। राजे महाराजे कहते हैं, हम विष्णु के अवतार हैं, सूरज और चांद के वंशज हैं। भारत की प्राचीन शासन शक्ति और राजत्व के उदाहरण व साक्षी हैं। तालुक़ेदार, नवाब और रईस लोग कहते हैं—हम जनता के जन्मसिद्ध पथदर्शक नेता हैं। महन्त, पुजारी, पण्डित, पण्डे, सन्यासी, फ़क़ीर, मुल्ला लोग कहते हैं—हम भारतवर्ष के धर्म के स्तम्भ और रक्षक हैं, भारत की संस्कृति और कीर्ति की पताका फहराते हैं।

दूसरे वर्ग के लोगों में से इस साम्राज्य की शक्ति का कहना है—हम इस देश की रक्षा करते हैं, अन्य धन लोलुप राष्ट्रों को भारत को हड़पने से रोके हुये हैं। इस शासकवर्ग का कहना है—हम देश में अमन क़ायम किये हैं, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा करते हैं। एक जाति को दूसरी पर आतंक व ज़ुल्म करने से रोकते हैं। एक दूसरे को परस्पर लड़ने नहीं देते। सबसे समानता का व्यवहार करते हैं। छोटे-बड़े, ऊँच-नीच के साथ समान न्याय करते हैं। सबके अपराधों के लिये एक सा दण्ड देते हैं। विदेशी पूंजीपति और कारखानों के मालिक तथा व्यापारी लोग कहते हैं—हिन्दुस्तानी धनी लोग अपने धन को ज़मीन के नीचे गाड़े रखते हैं। उसका उपयोग तिजारत या शिल्पीय कारखानों में लगाकर नहीं करते। हम अपना द्रव्य लगाकर पुतलीघर, कारख़ाने, शिल्पशाला खोलते हैं। यहाँ के ग़रीब मज़दूरों को मज़दूरी देकर उनसे काम लेते हैं। यहाँ उनकी उदरपूर्ति का साधन देते हैं। यहां का अनाज व कच्चा माल विदेशों में भेजते हैं और उसके बदले वहाँ से बना बनाया माल यहाँ के लोगों के इस्तेमाल के लिये लाते हैं। हमारी पूंजी इस देश की रेल, तार सड़क, पुल इत्यादि पर लगी है। हम भारत की सरकार को इन यातायात के कामों के लिये रुपया क़रज़ देते हैं। रेलगाड़ी व सड़कों के द्वारा एक सूबे से अनाज दूसरे प्रदेश में फ़ौरन् पहुंच जाता है। देश की हिफ़ाज़त के लिये सिपाही भी इन्हीं साधनों के द्वारा फ़ौरन् ज़रूरत के वक़् जहाँ ज़रूरत हो पहुंच जाते हैं। हिन्दुस्तान में ऐसी एकता भी इसी आने जाने के सुभीते के कारण हुई है।

उपरोक्त दो वर्गों के सदस्यों का चोलीदामन का साथ है। वे एक दूसरे के सहकारी, सहयोगी और मददगार हैं। एक के बिना दूसरे का काम नहीं चल सकता। वास्तव में वे दोनों वर्ग उनके भारत के अंग प्रत्यंग हैं। इन दोनों वर्गों को एक ही वर्ग, शोषणशक्ति, कहा जाय तो उपयुक्त होगा। एक के बिना दूसरे का काम कैसे चले? नीचे के पाट पर

ऊपर के पाट का दारमदार है और नीचे का पत्थर ऊपर वाले पत्थर की सहायता के बिना टिक नहीं सकता।

पहले वर्ग का वह भाग, जिसको गौरव के साथ उनके भारत के लोग, भारतीय भारत (इण्डियन इण्डिया) कहा जाता है, यह समझता है कि भारतवर्ष का जनसमूह, ज़मीन, धन, रत्न सब उसी वर्ग के ऐशोआराम, ऐश्वर्य और उपभोग के लिये हैं। दूसरा दल कहता है, हम अपनी 'सेवा' के एवज़ में भारत-शोषण करते हैं। उसकी रक्षा, शासन और सम्वृद्धि के लिये अपना ख़ून और पसीना बहाते हैं। इसके बदले तनख़्वाह और मुनाफ़ा लेते हैं। दोनों दल जानते हैं कि भारतीय जनता में यथेष्ट जागृति और सार्वजनिक शिक्षा के प्रसार से उनकी शोषणशक्ति में अड़चन पड़ेगी। अतः जनता की मानसिक और शारीरिक उन्नति करना उनका ध्येय कैसे हो सकता है ? उनको स्वार्थ के लिये देश व समाज की वर्तमान अवस्था की ही रक्षा करना नितान्त ज़रूरी है।

"उनका भारत" क़ाबिले तारीफ़ चीज़ें रखता है। वे संसार का ध्यान इस देश के प्राकृतिक सौन्दर्य-पर्वत, नदी, मठ, मन्दिर, मसजिद, मक़बरे, विशाल भवन, प्रासाद, ताज सरीखे दर्शनीय दृश्यों—की ओर आकर्षित करते हैं। भारतवासियों के अनोखे रीति-रिवाज व रस्म, विचित्र आभूषणों इत्यादि को क़ायम रखना वे अपना कर्तव्य समझते हैं ताकि "उनका भारत" संसार के लिये एक अजायब घर बना रहे। शासकों का कहना है—यदि हम न हों तो यहाँ की मूढ़ जनता भारत के वैभव के स्तम्भों को चकनाचूर करदे, देश की काया पलट दे, हिन्दुस्तानी आपस में कट मरें। जात पात, धर्म-कर्म पर आघात होने लगे। और अन्त में भारत की ये विशेषतायें, सब ख़ूबियां संसार से लोप हो जायँ !

प्रथम श्रेणी के लोग कहते हैं—भारतीय समृद्धि और संस्कृति के संरक्षक, पोषक, प्रदर्शक और गुणग्राहक हम ही हैं। उनका कहना है, उनके पूर्वज गंधर्व विद्या, नृत्यकला, चित्रकला, शिल्पकला इत्यादि को अपने प्रासादों में आश्रय देते थे। उनका भरण-पोषण, रक्षा करते थे। अब नवीन सभ्यता को अपना कर संसार की सभ्य जातियों को वे जताना चाहते हैं कि नई रोशनी, नवीन सभ्यता की दौड़ में किसी से कम नहीं। अस्तु, ये बढ़िया से बढ़िया, बेश क़ीमती, सैकड़ों मोटरें रखते हैं। बड़े बड़े महल आनन फानन में तय्यार करवाते हैं जिनमें गरमी की मौसम में शरदी और जाड़े की ऋतु में तपिश मशीन और यन्त्रों के द्वारा, लाखों रुपया लगाकर उत्पन्न करते हैं। यानी लक्ष्मी के बल से सृष्टिकर्ता की निर्माण की हुई ऋतुओं के प्रभाव तक को बदल देते हैं। पुरानी पौराणिक और मजहबी तसवीरों के बदले पाश्चात्य चित्र, प्राकृतिक और शारीरिक सौन्दर्य को दर्शाने वाले ये अपने महलों में सजाते हैं। इनके पूर्वज अपने धन को दान-पुण्य, तीर्थ-यात्रा, यज्ञ, औषधालयों, विद्वानों की पाठशालाओं आदि में लगाते थे। महाराजा श्रीहर्ष प्रति वर्ष अपने साम्राज्य की सारी आय को प्रयागराज (इलाहाबाद) जाकर दान-पुण्य में ख़र्च कर दिया करते थे। अब उनके उत्तराधिकारी अपनी आय को विलायत यात्रा, हॉलीउड, मोटर, सिनेमा, डांस इत्यादि इत्यादि मनोरंजन के साधनों में, बड़े बड़े शासनकर्ताओं की आवभगत, ख़ातिरदारी और दावतों आदि में ख़रच करते हैं।

क्या लोग इन दो वर्गों के ऐशोआराम, शानो-शौक़त और वैभव के साधन जुटाने को ही जन्मे हैं !

अब समय आगया है कि हमारी भी सुध ली जावे। हमारी ओर भी देखा जावे। भारतीय जनता जीती है—वह भी इस दुनिया का रंग ढंग समझने लायक़ हो रही है। लोगों को यह महसूस करना चाहिए कि भारतीय जनता में जान है; शक्ति है। वही भारत की असली शक्ति और पूंजी है। बिना किसी परोपकारी शक्ति की सहायता और प्रोत्साहन के 'उनके भारत' की जनता का उत्थान नहीं हो सकता, न वह संसार के जन समूह की किसी तरह सहायता ही कर सकती है। पर हमारा भारत ऐसा नहीं है। काश कि शीघ्र "उनका भारत" "हमारा भारत" बन सकता ! बनेगा अवश्य। आज न सही तो कल।

मुझे जाने दो

अख्तरहुसेन रायपुरी

"मुझे जाने दो"—उसने कहा। और जब तक मैं उसे रोकूं, वह हाथ छुड़ा कर जा चुकी थी। अँधेरे में उसकी आँखों की एक झपक और चौखट पर पायल की एक झनक सुनाई दी। वह चली गई और मैं कोठरी में अकेला रह गया।

मैं वहां जाना न चाहता था। कई बार मैं उस मकान के सामने से गुजरा था और शाम को कुछ जवान लड़कियों को उसके आगे खड़ा पाया था। जाड़े की रातों में बांह-खुले जम्पर पहिने यह छोकरियां राहचलतों को लुभाने की जुगत किया करती थीं। कोई भी आँखों वाला पौडर की लाली में स्त्रीत्व के लहू की झलक देख सकता था। उनके शरीर का हर रोवां थरथरा कर कह रहा था—'हमें ले लो, एक रुपये के बदले'!

इनमें से कोई सिगरेट का धुवां बड़ी नजाकत से किसी रंगीले के मुंह पर फूंक देती थी और कोई मनचली किसी बेडौल मारवाड़ी के जूते पर पान की पीक थूक देती थी। जब वह पलट कर देखता तो लड़कियाँ आँख मार कर खिलखिला पड़ती थीं। उनकी हर अदा से यह बात निकलती थी—हमें ले लो, एक रुपये के बदले!

ट्रामों और मोटरों पर सम्भ्रान्त महिलाओं के खेप के खेप गुजरा करते थे। इन टकैती वेश्याओं पर निगाह पड़ते ही यह देवियाँ भौं चढ़ा कर दूसरी ओर देखने लगती थीं। इन कलमुहीं कलङ्क-कुमारियों का सत्यानास हो! चंद टकों के लिए, शराब की एक बोतल या सिगरेट की एक डिबिया के लिए अपना तन हर ऐरे-ग़ैरे को सौंपते इन्हें कोई सङ्कोच नहीं होता। और हम?—फिर वे अपने पतियों को याद करने लगती थीं, जिन्होंने उन्हें ऊंची हवेलियां, रेशमी सारियाँ और छः छः बच्चे भेंट किये थे!

इस वेश्यालय के समीप एक छोटी सी काली-बाड़ी थी। उसकी काली-कलूटी और नंग-धड़ंग देवी अपनी पथराई हुई आँखों से दुनिया का तमाशा देखा करती थी। शाम को जब आरती शुरू होती और निर्बोध कुमारियां उसके आगे नाचने लगतीं तो मिट्टी के दियों की धुंधली जोत में उसका राग-रूप अधिक भयावह और रहस्यमय हो जाता। भान होता कि औरत की आत्मा काला कफ़न ओढ़े हुए अपनी समाधि से उठी है और पल भर में मर्द को कुचल कर रख देगी। जो लोग दर्शन के लिये आते, हाथ बाँधे हुए ललचाई हुई दृष्टि से इन नर्तकियों को ताका करते थे। जब वे आँख उठा कर भी न देखतीं, तो वे बेधड़क उन वेश्याओं को घूरने लगते जो पुजारी के डर से सीढ़ी के पास सिर झुकाए खड़ी रहती थीं।

इनमें से एक का हाव-भाव सब से निराला था। उसके मन को पूजा की महिमा का ज्ञान न था। वह सिगरेट पीती हुई लापरवाही से आरती का तमाशा देखती और रह रह कर कीर्तन की लय पर पैरों से टेक देने लगती थी। जब कोई बूढ़ा अपनी घटी हुई आवाज़ से संगीत को बेसुरा कर देता तो वह खिलखिला कर हँस पड़ती और पनवाड़ी को पुकार कर कहती—'अरे, ज़रा सी सुरती तो बनाना!' और पूजा के गीत देर तक पङ्खहीन पतिंगों के समान तड़फा करते थे।

जब मैंने पहिली बार उसे, देखा तो मेरा दिल डरा, झिझका और आप ही आप उसकी ओर झुक गया। मैं भागते भागते भी उसके निकट पहुँच गया।

पर उसने अनमनेपन से मुझ पर उचटती हुई दृष्टि डाली और अपनी एक सखी से पूछने लगी—"अरी, उस लँगड़े से कितने ऐंठे?"

अब मैं हर शाम को उस फ़ुटपाथ पर से गुज़रने लगा। जब वह बाहर खड़ी होती, तो कुछ हैरानी से मेरी ओर देखती और फिर होठों होठों में मुस्कुरा कर अपनी सहेलियों से बातचीत करने लगती। कभी वह वहाँ नहीं भी होती थी और मैं समझ जाता था कि वह कहां है। दिल पर चोट सी लगती, रगों में लहू तेज़ी से बहने लगता और माथे पर पसीने की बूंदे आ जातीं। दूर हट कर लैंप के खंभे का सहारा लिए घंटों खड़ा रहता था—इतनी देर कि पैर सुन्न हो जाते थे। मैं यों ही टकटकी बांधे उस फाटक को ताकता रहता था। समाज के बहुतेरे धनी-धोरी उसके अन्दर से निकलते और दाहिने बायें देखकर लपकते हुए भीड़ में गुम हो जाते थे। लम्बी लम्बी चोटियों और घनी डाढ़ियों वाले बीसियों सदाचारी इस चकलाघर से बरामद होकर भीगी बिल्लियों के समान पंजे दबाये भागते नजर आते थे।

मुझे याद है कि मैंने उससे बातचीत करने का साहस कैसे किया था। उस दिन मैं एक प्यारे दोस्त को समाधिस्थ करके लौटा था। वह घुल घुल कर मर गया क्योंकि इलाज के लिये रुपये न थे। जब वह मर गया तो हमने उसे मिट्टी के नीचे दबा दिया। गोया आदमी समाज की समाधि में चांदी के ढेलों के नीचे दब गया और उसने मरते मरते कहा—"मेरी पीप तुम्हारी देह को सड़ायेगी, मेरे आँसू तुम्हारी हड्डियों को गलाएँगे, मेरा ख़ून तुम्हारी रगों को गरमायेगा।"

जब मैं क़ब्रिस्तान से लौटा तो विवेक की जगह कोई चीज़ भांय भांय कर रही थी। दिया जले न जाने किसने मुझे उस कोठे के आगे पहुँचा दिया। और मैंने बे कुछ कहे सुने हाथ पकड़ कर उसे अन्दर घसीट लिया।

कड़वेपन से एक एक शब्द को चबा कर वह बोली—कालीबाड़ी के पीछे की गली में कल्लाल की दूकान है, वहां से ठर्रे का एक अद्धा तो ले आना।

जादू से बँधे हुए ग़ुलाम की तरह मैं कल्लाल की दूकान में घुसा जो मिट्टी के बड़े बड़े मटकों से अटाटूट भरी हुई थी और उनकी ताड़ी व हँडी में मक्खियाँ और मकोड़े तैर रहे थे। अन्दर मतवाले गा रहे थे—

"एक था नम्बर वन का···आ—बहा दे नाला"

मैंने जल्दी से एक अद्धा ख़रीदा और दोअन्नी की चाट—चटपटी, मसालेदार।

उसने देखते देखते मुंह लगाकर आधी बोतल ख़ाली कर दी। फिर चुपचाप एक सिगरेट सुलगाया। और अपने पाँव फैलाकर टूटी हुई आराम कुर्सी पर लेट गयी।

एकाएक वह ज़ोर से हँसी और मुझ पर आँखें गाड़ कर पूछा—"तुम यहाँ क्यों आये हो?"

हवा बन्द थी। खिड़की से आकाश का एक छोटा सा टुकड़ा नज़र आ रहा था, जिसमें दो तीन तारे चमेली के फूलों के समान खिले हुए थे।

मैंने कोई जवाब न दिया। ऐसे सवाल का जवाब भी क्या हो सकता था?

"बोलते नहीं? मैं पूछ रही हूँ कि तुम यहाँ किस लिये आये हो? मुझे उस मर्द से घिन आती है जो औरत के पास बैठकर अपना मतलब आँखों आँखों में बयान करता है और उस घड़ी की प्रतीक्षा करता है जब तंग आकर औरत ख़ुद अपने मुंह से पूछेगी कि तुम चाहते क्या हो?"

उसने बोतल की बची हुई शराब भी अपने गले के नीचे उतार ली और सिगरेट का एक कश लेकर बाहिर देखने लगी। मेरे मुंह पर चुप्पी की मुहर लगी हुई थी। ख़ुद मुझे भी नहीं मालूम था कि यहां क्यों आया हूँ और चाहता क्या हूँ।

फिर वह उठकर कमरे में टहलने लगी। टहलते टहलते आईने के आगे रुक गयी और उसमें अपनी सूरत देखने लगी। जब वह दोबारा हँसी तो ऐसा लगा कि कोई मुर्दा हँस रहा है।

"यह मेरी ही सूरत है। अगर मैं पौडर, काजल और लाखे को धो डालूं तो क्या रह जाये—पिचके हुए गाल, सूखे हुए होंठ, धँसी हुई आँखें! तीन साल में क्या से क्या हो गया। मेरे बदन को घुन लग

चुका है। मैं अन्दर से खोखली हो गयी हूँ। मुझे ऐसे ऐसे रोग लग गये हैं जिनकी कल्पना मात्र से तुम सहम जाओगे और यहाँ एक क्षण भी न ठहरोगे।"

देर तक वह कुछ सोचती रही। अब उसका मुंह क्रोध के मारे तमतमाने लगा। मुझे घूर कर वह गरज उठी—"और यह रोग मुझे कहां से लगे! यह तुम जैसे चाहने वालों की ही भेंट है। मर्द!—सूज़ाक और आतशक के कीड़ों का बाप!

'तुम अभी इस कुंज-गली की रीति-रस्म को नहीं जानते। यदि तुम्हें अपने दूसरे भाइयों की तरह मालूम होता कि औरत मिट्टी का एक खिलौना है और बस—तो तुम आते ही उसे तोड़ देते—इस प्रकार अचम्भे और घबराहट से मुझे न ताका करते फिर भी तुम उन लोगों से अच्छे हो जो भूखे भेड़िये के समान देखते ही हमारे सीनों पर आते हैं. हमें कुत्तों के समान भँभोड़ते हैं और हमारे पल्लों में दो चार टिकल्लियाँ बाँधकर चले जाते हैं।

'फिर बाड़ी वाली आती है।' गाँठ से एक एक छदाम निकाल कर ले जाती है और इसके बदले खाने के लिए रोटियां और सिंगार के लिये काजल की सलाई दे जाती है।

'दिन के उजाले में जब भूले-भटके तुम्हारा इधर से जाना होता तो आकाश की ओर नाक उठाकर कहते हो कि 'यहाँ व्यभिचार है। इन टकैती वेश्याओं को स्त्रीत्व की लेशमात्र लाज नहीं। इन्हें शहर से निकाल देना चाहिये।

'पर रात के अँधेरे में तुम चुपके चुपके आते हो और मानवता के इस मरघट को आबाद करते हो। मुंह काला करके अपनी हराम की कमाई की चन्द कौड़ियां हमें थमाते हो और फिर अपने रनवास को यह चिंता लिये हुये भागते हो कि—श्रीमती तो कुशलपूर्वक हैं!"

वह हाँफने और खाँसने लगी। उसकी साँस फूल गयी और वह चारपाई पर गिर पड़ी। उदासी से उस काजल की कोठरी को निहार कर वह धीरे धीरे कहने लगी—अधिक देर नहीं है। कोई कानों में कह रहा है कि इस नाटक पर शीघ्र परदा गिर पड़ेगा। अब तो सब कुछ सपना जान पड़ता है।

'जब मैं मर जाऊँ और मेरी लाश अनाथों के विस्मृतिगर्त्त में फेंक दी जाये तो तुम अलीगढ़ के मौलवी— से मिलना। उस समय उनके पास जाना जब वे मस्जिद के सुखासन पर अड्डा जमाये नैतिकता की महिमा बखान रहे हों। और जब वे नारी की कुचाल पर चोंच खोलें तो आगे बढ़कर कहना—मौलवी साहिब, अब आप अनैतिकता की जान को अधिक न रोवें, क्योंकि, कलकत्ते में उस बेचारी की अकाल मृत्यु हो गयी।

'और जब सब बुड्ढे नमाज़ी ऐनकें खिसका कर और डाढ़ियां फर्श कर तुम्हें घूरें कि क्या बकता है तो कहना—मैं आपकी बेटी की शवयात्रा का तमाशा देखकर आ रहा हूँ—वही जिसे एक 'हरामी' बच्चा पैदा करने के अपराध में आपने घर से निकाल दिया था, जिसे समाज ने आश्रय देने से इनकार करके वेश्या बनने के लिये लाचार कर दिया। समाज-सेवा का बदला उसे घिनौने रोगों के रूप में मिला और जब वह मर गयी तो एक मुल्ला ने उसकी लाश पर अल्लाह मियां का गुणगान किया।' जब तुम यह कह चुकोगे तो लोग तुम्हें बहुत पीटेंगे, पर अपने प्रेम के नाते इतना कष्ट उठा लेना।'

मेरा दिल बैठा जा रहा था। मैं चाहता कि वहां से भाग जाऊँ पर पैरों में जैसे ज़ंजीर पड़ गयी थी।

वह फिर खांसने लगी। जब उसका जी था कुछ सँभला तो वह फूट फूट कर रोने लगी—"तुम लोग जानवरों पर दया करते हो। उन्हें कोई सताता है तो सज़ाएँ देते हो। साँडों और बन्दरों का मनुष्यों से अधिक सत्कार करते हो। पर औरत!—आह, औरत पर इतना अत्याचार क्यों करते हो! और स्त्री पत्नी बनकर पुरुष से अधिक वेश्या से घृणा करती है। वह नहीं जानती कि वेश्या न हो तो

पुरुष की बर्बरता किसी स्त्री के सतीत्व को ठिकाने न रखेगी।"

अब हवा चल रही थी, और ताड़ के पत्ते दर्द-भरी आवाज़ में कराह रहे थे। सड़कों पर ट्रामों और मोटरों का शोर कम हो गया था। हां, इक्के-दुक्के रिक्शा की घंटी कभी-कभी बज उठती थी। बादलों ने आकाश के उस टुकड़े को घेर लिया था और इनमें कभी कभी बिजली चमक उठती थी।

वह फिर बोलने लगी—"मैंने केवल एक बार प्रेम किया है और अब भी इस मोह में मग्न हूं कि वह प्रेम अकपट था। यह मोह कभी न टूटेगा क्योंकि प्रेम-परीक्षा से पहिले ही वह मर गया। वह अपनी बड़ी-बड़ी आँखें उठाकर किस आतुरता से मुझे देखता था। उसी की याद संसार में मुझे सबसे प्यारी है। मैंने सब कुछ उसे सौंप दिया और इससे पहिले कि वह इसकी क़ीमत लौटाये, प्लेग में मर गया। उसने मुझे जो बच्चा दिया, वह 'हरामी' था। काश, हमारे प्रेम को नैतिकता की मोहर मिल जाती और उस बच्चे की जान बच जाती।"

इन भूली हुई बातों की याद से उसका दिल भर आया और रोते रोते उसकी हिचकी बँध गयी। मेरी समझ में न आया कि उसे किस तरह दिलासा दूं। जिस माँ के आगे उसके बच्चे की लाश पड़ी हुई हो और जिस औरत के आगे उसके प्रीतम की अर्थी, उसे सन्तोष देने का ढब कोई भाषा पैदा नहीं कर सकती।

जैसे वह अदालत के आगे बयान दे रही हो। "मेरी सौतेली माँ ने अन्धेरी रात में उस बच्चे को आँगन में ज़िन्दा गाड़ दिया। बिछौने पर लेटे लेटे बिजली की रोशनी में मैंने यह हृदयबेधक दृश्य देखा और फिर चीख़ कर बेसुध हो गयी।

'एक दो सप्ताह बाद सौतेले मामा ने मुझे गाड़ी में बिठाकर इलाहाबाद का टिकट थमा दिया। दूर के एक सम्बन्धी का घर······बलात्कार······बदनामी का डर और घर निकाला······कलकत्ता······ यह चकलाघर—"

अस्फुट स्वर में वह यह उखड़े हुए शब्द दोहराती रही और पल भर के लिये उसकी आँख झपक गयी।

मैं दबे पाँव उठा और निकल भागने के इरादे से जूते पहिनने लगा। इतने में वह चौंक कर उठ बैठी: "क्या तुम जा रहे हो?" उसने उदासी से पूछा। अब उसकी आवाज़ निढाल पड़ गयी थी।

मैं खड़ा का खड़ा रह गया। अब भी कुछ न कह सका। "अच्छा तो जाओ। अब न आना। मैं तुम से बदला लेना नहीं चाहती। और कोई होता तो ख़ुशी ख़ुशी सुज़ाक का उपहार देती, वह किसी और को देता, फिर यह विष उसके बच्चों में जाता। धीरे धीरे सारी दुनिया इन विषैले रोगों का शिकार हो जाती। तब शायद समाज के ठेकेदारों को होश आता कि इस विष-वृक्ष की जड़ कहां है।

'कभी कभी आकर पूछ जाओगे कि मेरे मरने में कितनी देर है? कोई भरी जवानी में मरता है तो लोग दुख मनाते हैं कि जीवन ने इसे अभी दिया ही क्या था। पर मुझे देखो कि जीवन से मौत के सिवा और किसी चीज़ की भीख नहीं मांगती। तुम क्या जानो कि हम आप अपनी दृष्टि में कितनी पतित हैं। हम ऐसी लौंडियां हैं जिनके मालिक हर रोज़ बदलते हैं।—क्यों, किस ध्यान में गुम हो गये? जाओ, ईश्वर के लिये चले जाओ।"

तब भी मैं न जा सका। मुझे उससे कुछ नहीं लेना था, फिर भी पङ्खबद्ध पक्षी के समान अपने स्थान से न टल सका।

"मैं नहीं जाऊँगा"—यह कहकर अपना सिर मैंने उसकी गोद में रख दिया। वह एक बेजान लाश की तरह यों ही पड़ी रही। उसके दिल की धड़कन को मैं साफ़ सुन सकता था, उसकी आत्मा का विलाप मेरे कानों में गूंज रहा था।

"तो फिर मुझे जाने दो"—उसने कहा और वह चली गयी।

हैदराबाद—जुलाई १९३७

महावीर

श्री हरनारायण शर्म्मा 'किङ्कर'

[अलवर में महावीर जयन्ती पर पठित]

मानवता क्लान्त हुई,
जनता सब भ्रान्त हुई,
अवनी अशान्त हुई,
जीवन-रस बूंद बूंद, सूख चला—
फैल गया, घोर तम चारों ओर
क्षुब्ध हुए,
लुब्ध हुए,
बुद्ध स्वार्थ मद से।
हिंसा-नद
पारावार बनकर उमड़ पड़ा
दर्पोन्मत्त मानव सब
डूबे से जाते थे।
छाया दुख, दैन्य, क्लेश
जग में, अशेष—और
भड़क उठी दावानल
विकट विनाश की।
उसका प्रकाश
शवदाह के प्रकाश सा,
फैला दिगन्त में
कालानल कोप सम,
होती थी बलि नित्य
उसमें जीवधारियों की।
उसको ही कहते थे
यज्ञ, हवन, पुण्य कर्म्म
जिसमें आहूत-पशु-होते
निरीह, मूक, बेबस, बेचारे
निरे निरवलम्ब, निर्बल थे।
करते थे चीत्कार, हाहाकार
दुर्निवार-विश्ववेदना का
उमड़ा था पारावार,
पुण्य के अन्तर में पाप—
छिपा पाप था।
आंसू में आकुलता,
विवशता रोदन में,
भय का अवाक् रोर,
हिंसा का नंगा नाच,
हायरे, अरोष—
हुआ दोष, मूक प्राणी का।
मानव बन दानव
चला अनीति पथ पर क्यों ?
जग के श्रेष्ठ प्राणी का—
अमृत सन्तान का
यह क्रूर, निर्मम, कठोर,
हा, शिला का उर ?
उदर—क़बर
मुख-ज्वालामुखी-सा हा !
लपटें बनी हैं—साँस,
कैसी यह छलनी है
हिंसक यदि पशु हैं तो
यह फिर कौन है ?
यह है यदि रक्षक तो
भक्षक है कौन भला ?
किस पशु की प्रवृत्ति
दीखती न इसमें ?
बचा कौन
पड़ काल कोटर में इसके !
धरती जा रही है दबी
इसके गुरू भार से,
क्रूर - व्यवहार से,
अनीति अनाचार से,
यह ही वह मुक्ति पथी—
महत् उदार यही

यह ही वह देव मूर्ति
ज्ञानी, तपपूत बड़ा,
वसुधा का भूषण और
मोक्ता इस जगती का ?
कालनगरी का यह
निशङ्क यमराज सा
महा नीच, दम्भी है
सबसे ही घृण्य यह,
बधिक सम रहता है—
घात में प्राणियों की,
चाट लग गई है जिसे नित्य रक्त चाट की।
मानवता रोती थी,
हँसती थी दानवता,
क्रूरता पिशाचिनी का
वन्य व्यवहार देख,
जाग उठी तुम में एक
दिव्य चेतना की ज्योति।
हिंसा की हिंसा हुई
ह्रास हुआ ह्रास का
मिटा तम तोम इस उगते दिवाकर से
भासमान आसमान धरती सब हो उठे।
तप्त जगती को मिली शान्ति
महा क्रान्ति से।
महावीर—महावीर !
तुमने स्वात्म बल से
बदल दिया चोला ही
धर्म और जीवन का।
मानव ने पाया प्राण,
त्राण मूक प्राणियों ने।
सत्य शिव सुन्दर का
रूप हुई मानवता;
मृत्यु से पाया अमरत्व-बल
जगती ने।
ढीला हुआ बन्धन
मदमत्त पशु सत्ता का।
परिणत से हुई मानो
अमंगल की मंगल में,
हिंसा की अहिंसा में,
बन्धन की मुक्ती में;
पाप हुआ पुण्य—और
अशुभ हुआ था शुभ।
फूंका वह प्राण मन्त्र
प्राणियों के प्राण में;
जीवन में शान्ति, सुख, शक्ति
शुचि साधना दे,
अभय किया था इस सारे आर्त्त जग को।
धन्य तुम, धन्य, धन्य !
धीरता तुम्हारी वह,
तुम ही थे सच्चे एक
धर्मवीर, कर्मवीर,
ज्ञानवीर, दानवीर,
महावीर—महावीर !
आज भी तुम्हारी ज्योति
जगती है गान्धी में।
वह ही चिर शान्ति कभी
देगी विश्व भर को।

संजय उवाच

"संजय ! अब तुम्हें अपनी दिव्य-दृष्टि से क्या दिखलाई देता है ? एक दिन तुमने मुझ नेत्रहीन के पास बैठकर उस 'महाभारत' के बारे में सब कुछ बतलाया था जिसमें उस समय के 'सभ्य' समझे जाने वाले संसार के अधिकांश भागों से शक्तिशाली लोग यहाँ के युद्धक्षेत्र में आये थे। वह युद्ध भी मानवता और दानवता, सभ्यता और बर्बरता, धर्म और अधर्म, लोकशक्ति और निरंकुश शक्ति के बीच एक महायुद्ध कहा गया था। जान पड़ता है, सभी बड़े युद्धों के लिए दोनों ओर के दल ऐसा ही कहा करते हैं। फिर भी उनमें तुलनात्मक दृष्टि से एक ओर ही कुछ प्रगतिशीलता होती है। पर संजय, इतना बड़ा युद्ध तो कभी नहीं हुआ ! विज्ञान ने सारे संसार को एक छोर से दूसरे छोर तक बेहद जोड़ दिया है किन्तु मानव हृदयों को जोड़ने में वह समर्थ क्यों नहीं हो सका ? संसार के लोग किधर बढ़े जारहे हैं ? फ़ौजी शासन की ओर ? सोने की शासन की ओर ? मैशीनों द्वारा शासित होने की ओर ? या सच्चे और विशाल हृदय वाले व्यक्तियों के शासन की ओर ?"

संजय ने कहा—क्षमा कीजिएगा, कुरुक्षेत्र के युद्ध के समय से अब तक इतना परिवर्तन होगया है कि मैं आज आपको 'महाराज', या 'राजन्' न कहना चाहूँगा। विकास, क्रान्ति और प्रतिक्रिया—इन तीनों—के नियम संसार में व्यक्ति के लिए और समूह के लिए, देश के लिए और दुनिया के लिए, प्राय: एक से ही काम कर रहे हैं। हाँ, उनका लोगों का वैसा ही बहुत अपूर्ण ज्ञान है जैसा अन्य नियमों का। दानव और मानव, खूंख्वार जानवर और आदमी में एक ओर बहुत अधिक अन्तर है और दूसरी ओर बहुत थोड़ा। जिस प्रकार कोई युग ऐसा नहीं हो सकता जिसमें लोगों को तरह तरह की तालीम देने की ज़रूरत न रहे, वैसे ही कोई युग ऐसा नहीं होता, न हो सकता है, जिसमें सम्पूर्ण मानव समाज विश्व-बन्धुत्व के योग्य बन जावे। फिर भी हमारा यह विश्वास अनुचित नहीं कि चाहे जितनी प्रबल प्रतिक्रियायें हों, अन्त में व्यक्ति और समाज—दोनों—को प्रगतिशीलता की ओर बढ़ना ही पड़ता है जो सीधी तरह नहीं बढ़ पाते उन्हें मजबूरी के साथ ऐसा करना पड़ता है। इस दृष्टि से हम संसार को देखें तो सभी 'महाभारतों' के रहस्य हम बहुत कुछ समझ सकते हैं। तब इस महायुद्ध के फल के बारे में भी ऐसी बेचैनी न रहेगी।'

"पहेली मत बुझाओ संजय ! बिल्कुल सीधी सादी भाषा में ऐसी बातें बतलाओ जिन्हें जानकर साधारण लोग अपने उद्धार का कुछ उपाय कर सकें। उन्हीं बातों को जानकर मुझे भी धीरज हो जावेगा !"

"बातें बतलाने वालों की कमी नहीं है सच पूछा जाय तो इस युग का सब से बड़ा दुर्भाग्य यही है कि बातें बतलाने वाले बेहद हो गये हैं। अगर किसी मरीज़ को सैकड़ों डाक्टरों के सिपुर्द कर दिया जावे और उन डाक्टरों की चिकित्सा-प्रणाली ऐसी अलग अलग क़िस्म की हो कि वे किसी तरह एक मत न हो सकें तो उस मरीज़ की कैसी दुर्दशा होगी ? अगर किसी फ़ौज के कई सिपहसालार बना दिये जावें और उन सबकी युद्ध-योजना अलग अलग प्रकार की हो, तो उस फ़ौज की क्या हालत होगी ? आज 'स्वतन्त्र विचार' के नाम से लोकतन्त्र की, संघतन्त्र की, जन्मजात वर्णाश्रम समाज की, पाकिस्तानी समाज की, विशेष विशेष धर्मों और समाजवादों की विशेषज्ञता के नाम से ऐसी ही धाँधलीबाज़ी सब जगह मची है। इसमें भी जो देश स्वतन्त्र नहीं हैं, या जो चीन की भाँति, दुनिया के और मुल्कों से कहीं बड़े हैं, उनमें तो ऐसे डाक्टरों, ऐसे सिपहसालारों और ऐसे विशेषज्ञों की बाढ़ आई हुई है। उनमें सबसे बड़ी कोशिश यही हो रही है कि किसी तरह उस मुल्क के कुल आदमी एक झण्डे के नीचे न खड़े हो

जावें, किसी एक को ही अपना सबसे बड़ा नेता न मान लें क्योंकि ऐसा होते ही फिर इन सब लोगों की दाल कैसे गलेगी ?

"लेकिन ये बड़े बड़े देश यूरुप और अमरीका के बनिस्बत बहुत पिछड़े हुए भी तो हैं। सम्पूर्ण यूरुप और अमरीका मशीन-युग के साथ है, पर ये बड़े मुल्क अभी उन्नीसवीं सदी की तरक़्क़ी में भी नहीं पहुंच पाये।"

"वे इस तरह कभी बीसवीं सदी की वैज्ञानिक उन्नति में तो पहुंच ही नहीं सकते, क्योंकि सारी कोशिश तो यही है कि वे ऐसा न कर पावें। पहले विजेता जाति दूसरी जातियों को उन्नति का अवसर न देती थी, अब विजेता देश दूसरे देशों को ऐसा अवसर नहीं देते। विज्ञान की कोई सीमा नहीं है। जरमनी कह सकता है कि वह विज्ञान में यूरुप के अन्य देशों से बढ़ा चढ़ा है इसलिए कुल यूरुप पर उसी का शासन होना चाहिए। वह वहाँ अमरीका की तरह ही संघ-शासन स्थापित करने का मनमाना प्रचार कर सकता है। वह यूरोपियन तो है ही। ऐसे ही जापान भी चीन में संघ-शासन स्थापित करने की बातें बना सकता है। वह भी चीन की तरह एशियाई तो है ही। अमरीका संसार भर को सोने के सिक्के में बाँधने की बात कहता है, क्योंकि उसके पास संसार का 'साठ फ़ीसदी' सोना मौजूद है और उसे दूसरे देशों से सोना लेने की ही इच्छा है—दूसरे चीज़ें बहुत कुछ वह स्वयम् पैदा कर लेता है; बल्कि गेहूँ आदि जिन्सों को जला देने की भी नौबत आ जाती है। वह अपने को संघ शासन का विशेषज्ञ भी मानता है। इंगलैण्ड अपने को 'लोकतन्त्र की माता' कहता है—यद्यपि संसार में उसके लोकतन्त्र के हज़ारों साल पहले उससे कहीं अच्छे लोकतन्त्र मौजूद थे। यद्यपि उस छोटे से टापू की आबादी पाँच करोड़ के क़रीब ही है पर दुनिया के वाणिज्य, व्यवसाय की कुंजियाँ उसी के हाथ में सौ सवा सौ साल से रही हैं। उसका साम्राज्य आधी दुनिया के क़रीब पर फैला रहा है। अब इन कुंजियों के दावेदार दूसरे हो रहे हैं, उसके साम्राज्य के विरोधियों की संख्या भी बहुत बढ़ गई है। यह युग साम्राज्यवाद का विरोधी है। साम्राज्यवाद राजनीति के विज्ञान के अनुसार फैसिस्टवाद की चरम सीमा है। इंग्लैण्ड ने अब साम्राज्य को अपने 'कामनवेल्थ' में शामिल कर उसे अपनी समझ के अनुसार प्रगतिशीलता की सीमा तक पहुँचाने का निश्चय कर लिया है, पर उसके इस निश्चय का लोग तात्कालिक प्रमाण चाहते हैं। उसे व्यवहार में दूसरी ओर जाते देख लोग उसके इस 'निश्चय' पर सन्देह और अविश्वास करते हैं।

"पर यह तो लड़ाई का समय है, संजय! ऐसे समय में कोई प्रमाण कैसे दिया जावे?"

"लोग इसका उल्टा समझते हैं। उनका कहना है कि यही अवसर इसके लिए सबसे अच्छा है। वे भी जी जान से फासिस्टी शक्तियों से लड़ने को तैयार हैं, पर जब अपने यहाँ पूंजीपति-प्रणाली का लोकतन्त्र (Capitalish Democracy) और अनुदार दल की पार्टी का आधिपत्य रखकर भी यहाँ के लिए प्रत्येक ऐसे देशभक्त पूंजीपति को—जिनकी संख्या अमरीका, इंग्लैण्ड आदि के मुक़ाबले नगण्य सी ही है—फैसिस्टी ठहराया जाता है और प्रत्येक ऐसे देश-भक्त नेता को जिनके त्याग से और कष्ट सहन से लोग प्रभावित हैं प्रतिक्रियावादी कहा जाता है, तब जन साधारण किसी बात का विश्वास करने योग्य अपने को नहीं पाते। अब भी समय है कि ऐसा अदूरदर्शी व्यवहार तुरन्त बन्द कर दिया जावे।"

"किन्तु संजय, जापान ने जो नया मन्त्रि-मण्डल बनाकर जरमनी और रूस से और जापान और चीन से सुलह करवा देने की आयोजना करनी चाही है, इसका उचित उत्तर क्या यह नहीं है कि सम्पूर्ण एशिया, सम्पूर्ण यूरुप और सम्पूर्ण अमरीका फासिस्टी शक्तियों के विरोध के लिए तुरन्त एक हो जावें?"

"यही तो मैं भी कह रहा हूँ, पर कठिनाई तो यही है कि यहाँ सभी शक्तिशाली एक दूसरे को लुटेरा कह रहे हैं और अपने को बचाने को दूसरों को उल्लू बना रहे हैं। इस पर अब मैं दूसरे दिन निवेदन करूंगा।

अमरीका क्या चाहता है ?

श्री विजय वर्मा

आज सारी दुनिया की आँखें अमरीका की ओर लगी हुई हैं, सभी यह जानना चाहते हैं कि अमरीका क्या चाहता है। राजनीतिक विज्ञान (Political Science) प्रत्येक देश को मानव शरीर के समान एक शरीर समझता है और जिस प्रकार हम अपने आपसे या किसी दूसरे व्यक्ति से यह प्रश्न करते हैं कि हमारा या उसका लक्ष्य क्या है, इसी प्रकार आज प्रत्येक देश अपने आपसे और दूसरे देशों से यह प्रश्न पूछ रहा है। किन्तु जिस तरह व्यक्ति के लिये उसी तरह समष्टि एवं देश के लिए भी इस प्रश्न का उत्तर एकसा या साधारण नहीं हो सकता। सभी देशों के सामने अपनी भीतरी और बाहरी जटिलतायें और उनसे उत्पन्न अनेक समस्यायें हैं। अमरीका में यूरुप के सभी देशों से लोग आकर बसे और उन सबने अपने में अमरीकन भाव तथा अभिमान उत्पन्न कर लिया है, फिर भी वहाँ के डेढ़ करोड़ हब्शियों के प्रति और आपस में भी एक दूसरे के प्रति पूरी तरह सभी स्वार्थों का एक्य वहाँ भी नहीं हो पाया। हाँ, इस मशीन युग में यूरुप के छोटे छोटे देशों की कमियों और एशिया तथा अफ़रीका के कई देशों की पराधीनता से उन्हें ऐसा अवसर मिल गया कि वे संसार में सबसे बढ़े चढ़े धनी हो गये हैं—दुनिया का अधिकांश सोना अपने यहाँ जमा कर सके हैं और कई एक वस्तुओं पर एकाधिपत्य सा प्राप्त कर लिया है। जो लोग यह समझते थे कि सभी देशों में सब कामों में मशीनों का प्रयोग होने लगे तो जनता को स्वतन्त्रता और ऐश्वर्य प्राप्त हो जावेंगे वे ग्रेट-ब्रिटेन और जापान, तथा यूरुप और अमरीका में मशीनों के प्रयोग और उनके द्वारा दुनिया भर में अपनी अपनी बनाई वस्तुओं का आधिपत्य प्राप्त करने के लिए जो कुछ हो रहा है वह सब देखकर डा० ओसवाल्ड स्पेंग्लर (Dr. Oswald Spengler) आदि विद्वानों की बातों पर ध्यान देने को मजबूर हो रहे हैं, जो यह स्वीकार करते हैं कि 'हम अपनी आत्मा को शैतान के हाथ बेंच रहे हैं।' इतना ही नहीं, मशीनों ने देहातों को उजाड़ कर शहरों को ऐसा बना कर दिया है कि इसमें भी अनेक समस्यायें उत्पन्न हो गई हैं; किन्तु अब बमों की लगातार वर्षा होने पर कितने ही शहर फिर टूट गये और कई कल कारखानों को कई हिस्सों में अलग अलग जगहों में बँट जाना पड़ा है। फिर भी इंग्लैण्ड ऐसे छोटे और व्यवसायप्रधान देश के लिए अब भी यह असम्भव ही है कि वह अपने खाने भर का सामान अपने यहाँ के गाँवों में उत्पन्न करले। अमरीका अपने को खाने-पीने आदि में 'पूर्ण' समझता है। इसलिये वह बाहर के देशों से अधिकतर सोने की ही माँग करता है। पर इससे और भी कठिनाई उत्पन्न हो गई है; यदि दूसरे देश अपना अपना सोना अमरीका को दे दें तो वे अपनी साख कैसे रखें और अपना काम किस तरह चलावें ? इन सबसे बढ़कर एक ओर साम्राज्यवाद और दूसरी ओर समाजवाद की समस्यायें हैं जिन पर सभी देशों को गम्भीरता से विचार करना पड़ रहा है। साम्राज्यवाद कुछ मुल्कों को 'स्वशासन' के योग्य नहीं समझता, वह वहाँ की क़ौम या क़ौमों को दुनिया की 'सभ्य' और स्वराज्य के योग्य क़ौमों के बनिस्वत पिछड़ी हुई कहता है और उनमें एकता करने, उन्हें सभ्य तथा स्वशासन के योग्य बनाने का 'बोझा' उठाने के योग्य कुछ ख़ास मुल्कों को ही मानता है। इसके विरुद्ध रूस का समाजवाद साम्राज्यवाद को फ़ासिस्टीवाद तथा नाज़ीवाद का अन्तिम रूप मानता है और इसका एकमात्र इलाज उन पराजित देशों में वहाँ की ही जनता की शक्ति से जनता की सरकार की स्थापना करना समझता है। किन्तु ऐसा करना कोई ठट्ठेबाज़ी

की बात नहीं है। अच्छाई की तरह बुराई भी जीवित रहना चाहती है और इसके लिए तरह तरह के साधनों का उपयोग करती है। ये ही सब कारण हैं जिससे अमरीका भी अपने शान्ति-उद्देश्यों को बहुत स्पष्ट कर उनके अनुसार तुरन्त कार्य करने को तैयार नहीं है। वहाँ के भूतपूर्व प्रेज़िडेन्ट हूवर साहब ने छः 'शान्ति-उद्देश्य' बताये हैं—(१) विचारों की बेहद असमानता न हो (२) आर्थिक दबाव से कोई देश दूसरे को लूट न सके (३) फ़ौजी दबाव या अत्याचार से कोई देश दूसरे देश को न लूट सके, न दूसरे देश पर आधिपत्य जमा सके (४) साम्राज्यवाद न रहे (५) संकीर्ण राष्ट्रीयता न रहे (६) एक दूसरे के प्रति भय और अविश्वास के भाव न रहें। वर्तमान प्रेज़िडेन्ट रूजवेल्ट साहब ने 'जेफ़रसन-मन्दिर' खोलते समय अपनी योजना की बातें बतलाईं। और अभी मेक्सीको के तेल के प्रश्न पर बोलते हुए स्पष्टतः कहा कि अब कोई देश दूसरे देश का शोषण नहीं कर सकता। फिर भी इससे अगर हम यह आशा करें, जैसा कि कुछ लोगों ने की है, कि अमरीका हिन्दुस्तान को वही पद दिला सकता है जो स्वतन्त्र राष्ट्रों को प्राप्त है तो यह वैसी ही भयानक भ्रमपूर्ण भूल होगी जैसी यह समझ कि रूस की लाल फ़ौज या अन्य देशों की इस्लामी या बुद्धमत वाली, या स्वस्तिका झण्डावाली फ़ौजों में से कोई ऐसा कर सकती है या करना चाहती है।

विज्ञान के द्वारा अपने अपने यहाँ की मशीनों से तैयार करा कराके सैकड़ों, हज़ारों वस्तुओं को हमारे गले मढ़ना ही आज सभी 'उन्नत' और 'शक्तिशाली' समझे जाने वाले देशों का लक्ष्य है। इसी की दौड़ में भाँति भाँति के संघर्षों और युद्धों का सामना उन्हें करना पड़ रहा है। हमें तो 'मज़दूर राज्य' के नाम से भी पूरी तरह मज़दूर बना देने की ही कोशिशें हो रही हैं। सफ़ेद जाति को अन्य जातियों का बोझ उठाना चाहिए, यह सिद्धान्त अभी तक सफ़ेद 'शक्तियों' के हृदय और मन में अपना आधिपत्य जमाये हुए है। इसीलिए दक्षिण अफ़रीका में दिन दहाड़े हिन्दुस्तानियों को उस जगह से अलग कर देने का क़ानून बन गया जो हिन्दुस्तानियों के हाथ अधिक से अधिक मूल्य में बेंची गई थी। अंग्रेज़ बहादुर या अमरीका इसमें दख़ल क्यों नहीं दे सके? अफ़रीका के अधिकारियों ने डाट कर कहा—'हिन्दुस्तान के भूतपूर्व एजेन्टों का यह ख़्याल सर्वथा ग़लत है कि वे इस बात में हस्तक्षेप करने या इस बात की आलोचना करने के अधिकारी हैं कि दक्षिण अफ़रीका का समाज किस तरह का हो और उनसे कैसा बर्ताव करे।' वे हमारे एजेन्टों को यह आलोचना करने तक का अधिकारी नहीं मानते कि हमसे वहाँ कैसा व्यवहार किया जावे! उनकी 'यूनियन' (इत्तिहादी या सम्मिलित) गवर्नमेंट है और हम में ऐसे ऐसे नेता हैं जो अपने को एक राष्ट्र या एक देश का निवासी भी नहीं समझना चाहते। इसी का लाभ उठाकर वे मन माना काम करते हैं। अंग्रेज़ या अमरीकन लोग इसमें कुछ दख़ल नहीं दे सकते—दूर दूर से चाहे जो कह लें।

अमरीका ऐसे मामलों में पूरी तरह बोलता है जैसे चीन में अन्य मुल्कों की गवर्नमेंटों की कितनी और कैसी शक्ति रहे।* यूरुप के छोटे छोटे देशों या 'राष्ट्रों' को किस तरह 'स्वतन्त्र' रखा जाये। पर इनमें भी अब वहाँ विशेष मतभेद हो गया है। अमरीका के बीच में पड़ने से ही जरमनी पर पिछले युद्ध के बाद जब जरमनी के सिक्के, मार्क, की क़ीमत एक पौंड स्टरलिंग में एक हज़ार तक पहुँच गई और बराबर गिरती ही गई, तब डौज़ स्कीम (Dawes Scheme) के अनुसार १४४० लाख पौंड की जुरमाने की रक़म घटते घटते १२५ लाख पौंड (125 millions of pound) पर आ गई। इतना ही नहीं, जरमनी के पास क़र्ज़ अदा करने को इतना भी धन न था, अतः अमरीका ही उनका 'महाजन' बना और क़रीब चार अरब पौंड तक उसे दे दिया।

(शेष 'सम्पादकीय' के अन्त के बाद)

* इस पर पिछले लेख, 'राजनैतिक शतरंज की चालें'—द्वारा काफ़ी प्रकाश पड़ चुका है—लेखक
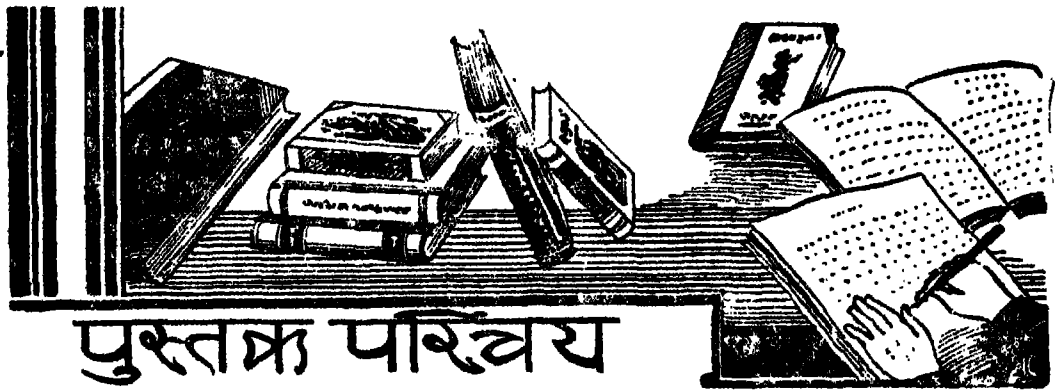
पुस्तक परिचय

'आवारा'—नाटककार पाण्डेय बेचन शर्म्मा 'उग्र', प्रकाशक सत्साहित्यिक सेवक-समाज, भारती-भवन, उज्जैन (मालवा) पृष्ठ संख्या १२८ मूल्य १)

श्री 'उग्र' जी का यह नाटक 'हृदय'—श्रद्धाञ्जलि का पहला 'सुमन' है। इस श्रद्धाञ्जलि में १२ पुस्तकें 'उनके परिवारियों को भेंट की जायगी।' ऐसा श्री उग्र जी ने अपनी 'भूमिका और झपकी' में लिखा है। इस भूमिका की तारीख़ १९ मार्च १९४२ है। पर अब तक और कोई पुस्तक प्रकाशित नहीं हो सकी। श्रीमती महादेवी वर्मा, श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', डा० रामकुमार वर्मा, डा० हेमचन्द्र जोशी, पण्डित हरिभाऊ उपाध्याय, पण्डित देवीदत्त शुक्र और श्री प्रभाकर माचवे के नाम इसमें और 'सुमनों' के लिए दिये हुए हैं। ये सभी लोग बधाई के पात्र हैं, क्योंकि हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में यह अपने प्रकार की पहली ही योजना है। सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली ने अपनी देखरेख में पुस्तकें छपाकर निजी निरीक्षण में इनकी बिक्री और विस्तार की व्यवस्था की है।

उग्र जी का नाटक सामयिक है। पहले अङ्क में हिन्दू मुसलमान बच्चों के लड़ने-झगड़ने के बाद तुरन्त मिलकर खेलने और इस तरह अपने बिगड़े हुए 'बुज़ुर्गों' को लड़ाई बढ़ाने से बचा लेने का सुन्दर पहला दृश्य है। दूसरे दृश्य के अन्त में एक पात्र, दयाराम, कहता है—'मैं ग़रीबों, नासमझों को लालच से बहका कर किसी भी मज़हब में मिलाने के ख़िलाफ़ हूँ। हद से हद अच्छी तरह समझाकर आदमी को इस लायक़ बनाना चाहिए कि वह अपना धर्म या मज़हब अपने दिल से पहचान सके।' तीसरे दृश्य में यह और स्पष्ट किया गया है कि 'रोटियों के लिए 'हम अपने ख़ुदा, मज़हब और ईश्वर को हरगिज़ नहीं छोड़ सकते।' और इसको स्पष्ट कराने वाला पात्र 'बच्चों का पेट, बूढ़ों के दान्त दिखाकर' 'ईमान की भीख' माँग कर अपने दल की गुज़र करता है! वह कहता है—'मैं सत्रह भाषाओं में भीख माँग सकता हूं और माँगता हूँ। कहूँ तो मैं आर्टिस्ट भिखारी हूँ।' फिर इसी दल की अपने रूप और यौवन पर रिझा कर राहगीरों से पैसे गाँठने वाली पन्द्रह वर्ष की एक लड़की लाली और चन्द्रसेन गवैया की लड़की, लीला के कामों के दृश्य हैं। ये भिखारी ऐसे वैसे नहीं; एक दृश्य में दिखाया है कि एक 'सात कोने का बाँका मुंह बना, पशुओं की तरह विचित्र आवाज़ में बोलता है—मुझको दे, तुझ को अल्ला देगा।' दूसरा झटपट अपनी रान में नकली ज़ख़्म बनाता है और ज़मीन पर बैठकर रोने लगता है और तीसरा 'जब चले शिवा जी रण को, लोहा देने दुश्मन को, रखने हाँ—हिन्दूपन को।' आदि गाता है। इनके नेता 'आर्टिस्ट भिखारी' जी सार्टिफिकेट देते हैं—'ख़ूब! घी खाना शक्कर से,

और सबको ठगना मक्कर से।' दयाराम जी, जो एक ऐसे ज़मींदार के छोटे भाई हैं जिनकी सब सम्पत्ति उनका मुनीम ठग रहा है, इसी लाली पर मोहित हो जाते हैं और लाली उन पर। इस मुनीम के यहाँ से पचीस हज़ार की गिन्नी उड़ाने में ये सब भिलमँगे और लाली अपने नेता को मदद देते हैं। दयाराम रुपये लौटालने जाता है पर उन्हें लेकर वापस आ अपनी भाभी को दे पुलीस द्वारा पकड़े जाकर जेल में चला जाता है। लीला को उसका बाप इसलिये निकाल देता है कि महाजन क़र्ज़ के बदले उसे पकड़ ले गया और रात भर वह वहीं रहने को मजबूर हुई। अन्त में दयाराम जेल से लौटते हैं, उनके भाई को ख़ज़ाना मिल जाता है और यह सब दल दयानगर में 'सुख के सब साधनों के साथ' रहता है। पर दयाराम एक दिन चल खड़ा होता है, क्योंकि बुद्ध, ईसा, राम, कृष्ण के बावजूद आदमी ज्यों का त्यों 'फौलादी ठोस' बना हुआ है। वह मनुष्य के प्रति खोये हुए विश्वास को प्राप्त न कर सका—यह न समझ सका कि बुद्ध कैसे लोग हममें कभी न होते तो मानव समाज न जाने कब कैसे दानव समाज में परिणत हो गया होता।

'उग्र' जी ने अपने देश और अपनी समाज को करुणापूर्ण, भावुक हृदय से आँख खोलकर देखा है, और अनेक धक्के भी सहे हैं। वे हिन्दी के इने-गिने प्रतिभाशाली लेखकों में हैं। ऐसे लेखकों से हम यह आशा कैसे न करें कि वे इस समय की सबसे बड़ी दुर्दशा—एक ओर अति संकीर्ण राष्ट्रीयता और दूसरी ओर देश की तनिक भी परवा न करने वाली अति उदार अन्तर्राष्ट्रीयता—पर भी लिखेंगे, और दिल खोलकर अपनी पूरी शक्ति के साथ लिखेंगे ?

अर्चन—लेखक श्री हरगोविन्द गुप्त, प्रकाशक प्रेम मन्दिर चिरगाँव, झाँसी।

यह २४ पृष्ठों की पुस्तिका, प्रतापी 'प्रताप' के अमर शहीद सम्पादक श्रद्धेय गणेशशंकर विद्यार्थी के प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने को लिखी गई है। विद्यार्थी जी के एक ऐसे मित्र जो आज भी यह विश्वास नहीं कर सकते कि विद्यार्थी जी का देहावसान हो गया है, श्री वृन्दावन लाल वर्मा, ने इसकी भूमिका लिखी है। श्री जैनेन्द्रकुमार की लिखी कुछ पंक्तियाँ प्रारम्भ में हैं और श्री सियारामशरण गुप्त के 'दो शब्द' तथा एक कविता भी हैं। 'हिन्दू-मुस्लिम एक्य की मानवता की वेदी पर अपने नश्वर शरीर की आहुति भेंटकर अमरता को प्राप्त हुए बारह वर्ष बीतने आये, जिसकी एक अवधि मानी जाती है।' इस 'विशाल' देश के चालीस करोड़ सन्तानों की ग़ुलामी ज्यों की त्यों बनी है। पर क्या इसीलिए ऐसे शहीदों को भी हमें अभी ऐसी ही श्रद्धाञ्जलि देकर सन्तोष कर लेना चाहिए ? कवितायें अच्छी हैं, यद्यपि उनमें देशभक्ति की ओर उतना ध्यान नहीं दिया गया जितना दिया जाना चाहिए।

—वि०

लड़ाई के हालात

मार्च और अप्रैल के महीनों में रूसी हमले की रफ़्तार सुस्त रही। दकनी रूस में, वक्त से पहिले बर्फ़ पिघलनी शुरू हो गयी और तब रूसियों के क़दम उत्तर में बढ़ने लगे। उन्होंने रेज़ेफ़ और वियाज़्मा की ज़बर्दस्त फ़ौजी चौकियों को ले लिया और स्मोलेन्स्क की ओर बढ़ना शुरू कर दिया। यह जर्मनों का सबसे बड़ा क़िला है और इसके बचाव का प्रबन्ध बहुत ही मज़बूत है। एक एक चप्पा ज़मीन के लिये लड़ाई हुई और उस पर लाल सेना के अधिकार की अभी कोई सम्भावना नहीं। इस मोर्चे की सैनिक स्थिति यह है कि स्टार्या-रूसा—स्मोलेन्स्क—ओरयल यह कमानी जर्मनों के हाथ में है और कालूगा-वियाज़्मा—वेलिकी-लुकी यह कमानी रूसियों के पास। मास्को का बचाव रूसियों की पिछली प्रगति से ज़्यादा आसान हो गया है, इसमें शक नहीं।

उधर दकन में जर्मनों ने पलट कर जो हमला किया है, उसमें ख़ारकोफ़ का महत्त्वपूर्ण ठिकाना फिर उनके क़ब्ज़े में आ गया। जाड़े का मौसम इतनी जल्दी ख़त्म होने से रूसी घाटे में रहे। वह नीपर नदी की तरफ़ बढ़ ही रहे थे कि जर्मनों ने उन्हें दोनेत्स नदी के पार धकेलना शुरू कर दिया। अब तक जर्मन दोनेत्स पार पहुंचने में कामयाब नहीं हुए हैं। यों समझिये की रूसी मोर्चे पर आज क़रीब क़रीब वही स्थिति है जो साल भर पहिले थी। अगर रूसियों ने मास्को के मैदान में अपना पोज़ीशन सुधार लिया है तो उधर काकेशिया में काले समुद्र के किनारे नेवोरोसिस्क की बन्दरगाह के आसपास जर्मनों के पाँव जमे हुए हैं। अब हर तरफ़ लड़ैत गर्मी के अभियान के लिये कमर कस रहे हैं। लेनिनग्रेड में लड़ाई ज़ोरों से चल रहा है। इसे और स्टार्या रूसा, स्मोलेन्स्क, ओरियल, दोनेत्स की घाटी और नेवोरोसिस्क—इन छः मोर्चों को अगली लड़ाइयों के केन्द्र समझना चाहिए।

रूसियों का कहना है कि मौसम के उलट फेर से उनके मन्सूबे में कोई अन्तर न पड़ा और उनमें अपना हमला जारी रखने की सकत बाक़ी है। इस दावे का समर्थन किसी हद तक जर्मन भी कर रहे हैं। उनके एक पत्रकार ने लिखा है कि रूस की ताक़त बेहदो हिसाब है, उसे कुचलने के लिये जरमनी को एड़ी चोटी का ज़ोर लगाना होगा।

जो भी हो, जर्मनी इस समय उस सङ्कट से निकल आया जिसने हिटलर, गोरिंग और गोबल्स के औसान उड़ा दिये थे। नाज़ियों की महान् सङ्गठन-शक्ति आड़े आयी और सारा यूरोप अपना जानो-माल बलि देने के लिये मजबूर हो गया। हिटलर का यह कथन झूठ नहीं कि इस प्रयास के कारण लाखों नये सैनिक उसे मिल गये। इस तबदीली का दूसरा खुला हुआ सबब मित्र-राष्ट्रों की किंकर्तव्यविमूढ़ता प्रतीत होती है। रूस की असली मदद में वह जितनी देरी कर रहे हैं, जर्मन अपनी बिगड़ी हुई हालत को उसी तेज़ी से सुधार रहे हैं। और उनकी तैयारी का रंग बतला रहा है कि गर्मियों में वह तीसरी बार रूस पर हल्ला बोलेंगे। रूस किस हद तक इस हमले को सह सकेगा यह तभी कहा जा सकता है जब यह मालूम हो सके कि जापान और मित्रराष्ट्र कुछ करेंगे या अलग बैठे यूरोप की लड़ाई का तमाशा देखते रहेंगे। इंगलिश चेनल के किनारे की फ्रांसीसी आबादी को जर्मन जिस तरह ख़ाली करा रहे हैं उससे पता चलता है कि वे दूसरे मोर्चे के खटके को भूले नहीं।

रूस के शुभचिंतकों को यह देखकर दुःख हुआ कि उस महीने उनके साथी देशों में उनके विरोध की हवा चल पड़ी। दकनी अफ्रीका की पार्लमेंट में रूस के ख़िलाफ़ प्रस्ताव पेश हुआ जो पास तो न हुआ पर

उसके पक्ष में दो तिहाई वोट आये। उधर मास्को के अमेरिकन एलची एडमिरल स्टेंडले ने बैठे बिठाये रूस पर कड़ी टीका-टिप्पणी कर डाली। उन्हें यह शिकायत है कि रूसी जनता को यह नहीं बतलाया जाता कि उसे अमेरिका से क्या मदद मिल रही है। इस शिकायत के बेबुनियाद होने का सुबूत मास्को के ब्रॉडकास्ट हैं जो बाक़ायदगी से अमेरिका की भेजी हुई तोपों से लेकर मक्खन के डिब्बों तक का हिसाब गिनाते रहते हैं। लेकिन अगर यह एलची रूसियों से यह कहलाना चाहता है कि लड़ाई के मैदान में कोई और उनके साथ लड़ रहा है तो यह बड़ी बेकार बात है। न अमेरिकन पांचवे शहीदों में अपना नाम लिखाना पसंद करेंगे और न रूसी उन्हें यह पद दे सकते हैं। सबसे अफ़सोसनाक हरकत पोलैंड की उस उस पार्लमेंट की तरफ़ से हुई जो लंदन में पाई जाती है। उसने वही दावा दोहराया कि लड़ाई जीतने के बाद पोलैंड उन रूसी इलाक़ों पर भी राज करेगा जो उसने सन् १९२० में रूस से ले लिये थे। इसका मुंहतोड़ जवाब मास्को की ओर से दिया गया है। लेकिन पोलैंड की प्रतिक्रियावादी सरकार पर इसका कोई असर न हुआ और उसके नेता जनरल सिकोर्स्की ने पोलैंड की अखंडता का राग फिर अलापा है। हम सबको यूरोप के पददलित लोगों से हमदर्दी है लेकिन उनकी सरकारों से कोई सहानुभूति नहीं हो सकती। अपनी जन-विरोधी नीति से इन्होंने अपने देशों को मुसीबत में फँसाया और आज भी इनकी औंधी खोपड़ी उसी जगह है। एक और मिसाल यूगोस्लाविया के जनरल मितलोविच की है जिनकी वीरता के गीत रायटर गाया करता था। कहा जाता था कि यूगोस्लाविया में विजेताओं के विरुद्ध जो छापामार आन्दोलन चल रहा है यह जनरल उसका नेता है। सोवियट सरकार ने इस पर यह सनसनीपूर्ण अभियोग लगाया है कि वह जर्मनों से मिल गया है। और छापामारों को कुचलने में उनकी मदद कर रहा है।

यह सब बातें बतला रही हैं कि हवा का रुख़ किधर है। खुद मित्रराष्ट्रों के कैंप में फ़ेसिस्ट ताक़तें मौजूद है और फल-फूल रही हैं। दूसरे मोर्चे और अटलांटिक चार्टर की जनप्रिय माँगों का ज़िक्र अब बहुत कम हो गया है और जब होता भी है तो सैकड़ों अगर-मगर के साथ।

ट्यूनिस में इस समय मित्र-सेनाएँ आगे बढ़ रही हैं और कड़े मुक़ाबले के बावजूद जर्मन पीछे हट रहे हैं, उनकी बचाव की लाइन संकुचित होती जाती है और ऐसा लग रहा है कि अगर मेडिटेरिनियन में हिटलर कोई नया पाँसा न फेंक सका तो वह देर-सवेर ट्यूनिस की लड़ाई हार जायेगा।

कूटनीति की बिसात पर भी मोहरे चल-फिर रहे हैं, प्रेज़िडेन्ट रूज़वेल्ट के दोस्त न्यूयार्क के आर्क-बिशप कोई ख़ुफ़िया सन्देसा लेकर पोप के पास रोम पहुँचे। इसी समय गोरिंग और रिबेनट्रप भी वहाँ आये और शायद पादरी साहिब से मिले। पोप के राजनीतिक महत्त्व का अन्दाज़ा इससे लगाया जा सकता है कि मुसोलिनी का दामाद चियेनी अब धर्म-गुरु के पास इटली के एलची की हैसियत से रहेगा। इस गुप्त मन्त्रणा का अर्थ समझ में न आया। पादरी साहिब भारत होते हुए चीन भी जायेंगे पर रूस जाने का अवकाश उन्हें न मिलेगा। उधर ब्रिटेन के परराष्ट्र-सचिव मि० ईडन अमेरिका गये हुए थे।

मि० ईडन ने एक भाषण में चीन को यक़ीन दिलाया कि उसके हितों के विरुद्ध कोई गुप्त अभि-सन्धि नहीं हो रही है। पर यह अभियोग किसने और क्यों लगाया यह छपी हुई ख़बरों से न मालूम हो सका। जनरल तोजो ने कहा कि लड़ाई की कड़ी मंज़िलों से गुज़रना है पर उसे इसी साल ख़तम करने की कोशिश की जायेगी। प्रसिद्ध अमेरिकन पत्रकार मि० एडगर स्नो ने अपने एक लेख में उस तैयारी का थोड़ा सा हाल बतलाया जो जापान अपने साम्राज्य को अजीत बनाने के लिये कर रहा है। उनका बयान है कि जापान ने रंगून से रबौल तक जल-थल में क़िलाबन्दी का ज़बर्दस्त सिलसिला शुरू कर रखा है। अपने नये साम्राज्य में जापानी रेलों और सड़कों का जाल बिछा रहे हैं और उपनिवेशों

सम्पादकीय-विचार

कांग्रेस बनाम साम्राज्यवाद—फ़ेडरल कोर्ट का फ़ैसला—दक्षिण अफ्रीका का काला क़ानून—कागज़ी नोटों की भरमार—मुस्लिम लीग का अधिवेशन—अमेरिका और भारत—अमेरिका और ब्रिटेन—तीसरे महायुद्ध की तैयारी—हमारे तुर्क मेहमान—साहित्य और नैतिकता—एकता का रास्ता।

कांग्रेस बनाम साम्राज्यवाद

भारतीय समस्या के समाधान के लिये जो लोग सरकारी दफ़्तरों के चक्कर काटा करते हैं, उनके सीधेपन पर हर प्रत्यक्षवादी को तरस आता है। जब तक काल के महाबली हाथ दस्तक न देंगे, इनके दरवाज़े न खुलेंगे। अगर किसी सुबूत की ज़रूरत हो तो 'निर्दल-सम्मेलन' के प्रतिनिधियों को वायसराय का जवाब और मि० फ़िलिप व मि० जिन्ना के बयान पढ़िये। निर्दल सम्मेलन सिर्फ़ यह चाहता था कि जेल के अन्दर कांग्रेस नेताओं से उसके प्रतिनिधि मिल सकें। इस मामूली सी दरख़ास्त को ठुकरा दिया गया। इसी तरह अमेरिका के एलची मि० फ़िलिप को भी महात्मा जी से मिलने की इजाज़त न दी गयी।

मि० जिन्ना ने अपने अभिभाषण में यह माकूल सवाल किया कि अगर ब्रिटिश सरकार को अपने इस दावे पर यक़ीन है कि कांग्रेस के साथ देश का बहुमत नहीं है, तो राजनीतिक गुत्थी को सुलझाने के लिये उसने ख़ुद कुछ क्यों नहीं किया। और अगर उसका यह दावा ग़लत है तो वह कांग्रेस से दूसरों को बातचीत करने का मौक़ा क्यों नहीं देती।

सच्ची बात यह है कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद युद्धकाल में—और हो सके तो इसके बाद भी—उपनिवेशों का मुंह बन्द रखना चाहता है। उसे मालूम है कि भारतीय राजनीति की रौनक़ कांग्रेस के दम से है, और उसके दमन से साम्राज्यवाद का रास्ता बड़ी हद तक निष्कंटक हो जाता है। इस सूरत में हर हिन्दुस्तानी का कर्त्तव्य यही है कि कांग्रेस से अपने उचित या अनुचित मतभेद को इस समय भूल कर उसके नेताओं की रिहाई के लिये काम करे। क़ौमी एके का एक यही रास्ता है।

फ़ेडरल कोर्ट का फ़ैसला

हम इस उसूल के क़ायल नहीं कि कोई क़ानून इसीलिये न्यायपूर्ण है कि उसे अमुक सरकार ने बनाया है। दुनिया की सब हुकूमतें सङ्गठित हिंसा पर क़ायम हैं और शासकों के स्वार्थ के लिये क़ानून गढ़ा करती हैं। लेकिन आमतौर पर यही आशा की जाती है कि क़ानून बन जाने के बाद सरकारी कारिन्दे उस पर अमल करें।

युद्धकाल में नई दिल्ली की धारा परिषद ने सरकार के कहने से 'डिफ़ेंस आफ़ इण्डिया' नामी क़ानून बनाया है। इसके मुताबिक़ वायसराय को ख़ास हालात में आर्डिनेन्स बनाने का हक़ दिया गया है। ऐसे ही एक आर्डिनेन्स की २६ वीं धारा के नाम पर कोई आठ हज़ार आदमी महीनों से नज़रबन्द किये गये हैं। अब भारत की सबसे बड़ी अदालत फ़ेडरल कोर्ट ने अपने फ़ैसले में कहा है कि यह दफ़ा क़ानूनन नाजायज़ है। यानी यह आठ हजार हिन्दु-

---

की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए उनसे अच्छा बर्त्ताव कर रहे हैं। उनकी फ़ौजें भी बनायी जा रही हैं और मलायी सिपाही को कोरिया में और कोरिया के सिपाही को मलाया में रखने की नीति पर अमल हो रहा है। पत्रकार ने उन लोगों को ख़ूब लताड़ा है जो जापान की ओर ध्यान नहीं देते।

इस पश्चाद्भूमि में यह महायुद्ध अपने चरम बिन्दु को पहुँच रहा है। ऐसा लग रहा है कि अगले चन्द महीनों में धुरी राष्ट्र अपना सर्वस्व होम कर कोई निर्णय प्राप्त करने का यत्न करेंगे।

स्तानी—जिनमें से अधिकतर कांग्रेस नेता और कार्यकर्त्ता हैं—ग़ैरक़ानूनी तौर पर जेलों में बन्द हैं। इसी फ़ैसले का हवाला देते हुए कलकत्ता हाईकोर्ट के आगे एक दरख़ास्त आई है। जज ने बंगाल सरकार के लिखा है कि अमुक अमुक नज़रबन्दी या तो बाक़ायदा अदालतों के आगे पेश किया जाये और या रिहा किया जाये। आशा है कि इस तरह की बहुत सी दरख़ास्तें हर हाईकोर्ट के आगे आयेंगी। जब भारत सरकार मौक़ा बेमौक़ा 'क़ानून' की दोहाई देती है, तो यही सही। ऐसी हालत में हमें भी बिला-तकल्लुफ़ क़ानून की दोहाई देना चाहिए।

दक्षिण अफ्रीका का काला क़ानून

दक्षिण अफ्रीका और 'भारतीयों का अपमान' यह दोनों शब्द समानार्थक हो गये हैं। जब से महात्मा गान्धी ने वहाँ सत्याग्रह आंदोलन आरम्भ किया था, यही सुना जाता है कि वहाँ की सरकार ने असहाय हिन्दुस्तानियों के तंग करने के लिये कोई नई हरकत की है। दक्षिण अफ्रीका के प्रधान मन्त्री मार्शल स्मट्स आये दिन नाज़ियों के जाति द्वेष और रंग द्वेष पर जो बातें बनाया करते हैं, अगर उन्हें जमा किया जाये तो एक पोथी तैयार हो जाये। पर ख़ुद उनकी सरकार एशिया वालों के लिये जो मन्सूबे रखती है, उसका थोड़ा सा अन्दाज़ा उस काले क़ानून से होता है जो दक्षिण अफ्रीका में रहने वाले भारतीयों पर नये प्रतिबन्ध लगाने के लिये बनाया जा रहा है। भारत-सरकार का बस तो हम ग़रीबों पर चलता है, दक्षिण अफ्रीका वालों को उसकी क्या परवा। वह अगर चाहे तो उन्हें तुर्की ब तुर्की जवाब दे सकती है। हम प्रतिकार और प्रतिहिंसा के क़ायल नहीं; पर क्या किया जाये जब कि इस ज़माने में दो देशों का सम्बन्ध उनकी ताक़त के अनुपात पर निर्भर है। हमें ग़ुलाम देखकर सभी धुतकारेंगे और हमारी चीख़ पुकार से कुछ न होगा। शक्तिहीन लोकमत सिरफिरी सरकारों को सीधे रास्ते नहीं ला सकता।

काग़ज़ी नोटों की भरमार

करेंसी नोटों की बहुतायत किसी देश की ख़ुशहाली का पैमाना नहीं। अगर ऐसा होता तो पिछले महायुद्ध के बाद हर जर्मन को करोड़पति हो जाना चाहिये था—क्योंकि दीवालिया जर्मन सरकार ने अन्धाधुन्ध नोट छापना शुरू कर दिया था और एक एक डबल रोटी दस लाख रुपये का काग़ज़ी नोट देने पर भी न मिलती थी। सिक्का हो या नोट उसकी असली क़ीमत उसकी क्रय-शक्ति पर निर्भर करती है। इस नज़र से देखिये तो हमारे दरिद्र देश में काग़ज़ी नोटों की भरमार ने क़यामत मचा रखी है। उनकी क्रय शक्ति आमतौर पर चवन्नी रह गयी है; इसी ऐतबार से लोगों की आमदनी भी एक-चौथाई रह गयी है।

देश के बीस अर्थ-नीतिज्ञों ने सरकार की करेन्सी-नीति के ख़िलाफ़ एक बयान निकाला है। इसमें कहा है कि धड़ल्ले से नोट छापकर सरकारी ख़र्च पूरा करने के बदले, टैक्स और क़र्ज़ के ज़रिये आमदनी बढ़ाना चाहिये। पर वह यह कहना भूल गये कि लगभग तीन अरब रुपये के नोट उस माल के बदले छापे गये हैं जिसका मोल ब्रिटेन में पौंड की सूरत में जमा है। अगर यह सोना नहीं तो माल की ही शकल में लौटा दी जाये तो करेन्सी की क्रय-शक्ति सुधर जाये। रह गयी नये टैक्स की बात। हमारी राय में यह उन लोगों पर लगाया जाये जो लड़ाई से बेहिसाब फ़ायदा उठा रहे हैं। इन पर जो अतिरिक्त इनकम टैक्स लगाया गया है वह बिल्कुल काफ़ी नहीं। ख़ुद इनकम टैक्स के मोहकमें की रिपोर्ट बतलाती है कि यह लोग टैक्स से बचने के लिये कैसे दाँव-घात करते हैं। इसके साथ उन लोगों पर 'मृत्यु-कर' भी लगाया जा सकता है जो अपने सामयिकों को लूटकर, पोतों पड़पोतों को लखपती बनाने का प्रबन्ध किया करते हैं।

मुस्लिम लीग का अधिवेशन

यह ग़नीमत है कि मुस्लिम लीग ने इस बार देश की समस्याओं पर भी सोच-विचार करने की मेहरबानी की। मि० जिन्ना के अभिभाषण के सिवा प्रस्तावों के तेवर भी बदले हुए थे। इस परिवर्तन के कई सबब हैं। एक तो यह कि लीग समझ गयी है कि ब्रिटेन का मुंह ताकने से कुछ न होगा, अपनी सूबाई सरकारों की मदद से उस पर दबाव डाला जा सकता है। दूसरे, लीग की अकर्मण्यता से मुस्लिम जन-साधारण तंग आगये हैं। पाकिस्तान की रट और हिन्दुओं को भला बुरा सुनते उनके कान पक गये हैं। वह यह देख रहे हैं कि पूर्वी एशिया, अरब और उत्तरी अफ्रीका के मुस्लिम उपनिवेशों की क़िस्मत हिन्दुस्तान से बँधी हुई है। आज़ादी मिलेगी तो सबको वरना किसी को नहीं। 'सूत न कपास जुलाहों में लट्ठमलट्ठा' की कहावत को चरितार्थ करने से किसी को कुछ न मिलेगा। अगर मुस्लिम लीग सरकार की दमन-नीति का समर्थन न करके कांग्रेस नेताओं की रिहाई का समर्थन करती, तो केवल मुस्लिम जनता ही नहीं बल्कि दूसरों की भी प्रशंसा-पात्र बनती। अभी तो उसमे भी वही शिकायत हो सकती है जो वह दूसरों से कर रही है—यानी राजनीतिक सङ्कट से लाभ उठाकर वह सूबों में अवसरवादी मंत्रिमंडल क़ायम करा रही है।

अमेरिका और भारत

मि० वेन्डल विल्की ने One World के नाम से एक नयी किताब लिखी है जिसमें सभी उपनिवेशों, विशेषतः हिन्दुस्तान की आज़ादी की माँग की है। उन्होंने लिखा है कि—अफ्रीका और एशिया के दौरे के बाद मुझे पता चला कि भारत से बुरा बर्ताव करके ब्रिटेन ने मित्र राष्ट्रों की नैतिक स्थिति को कितना नुक़सान पहुँचाया है। इसमें शक नहीं कि भारतीय प्रश्न को लेकर इस युद्ध में प्रजातंत्रों की आज़ादी के दावे उपहासप्रद होकर रह गये। उनके आदर्शवाद पर से लोगों का भरोसा उठ गया। जैसे ही उनकी सैनिक शक्ति में मशीनों की कमी पूरी हो गयी, उन्हें इंसानों के नैतिक बल की कोई परवा न रही।

यह सच है कि अमेरिकन जनता को भारत से हमदर्दी है, पर वहाँ की सरकार ने अब तक कोई ऐसी बात नहीं कही जिससे इस हमदर्दी का आभास मिल सके। मि० समनर वेल्स ने प्रोफ़ेसर पेरी को साफ़ लिख दिया है कि उनकी सरकार इस मामले में दख़ल न देगी। सभापति रूज़वेल्ट ने दुनिया के दिमाग़ को आज़ाद कराने की क़सम खायी है—काश वह हमारे जिस्म की तरफ़ ध्यान देते तो देखते कि साम्राज्यवाद की जोंक ने इसमें लहू की एक बूंद भी नहीं छोड़ा।

अमेरिका और ब्रिटेन

अमेरिका के एक समाचार पत्र 'शिकागो ट्रिब्यून' ने इंग्लैंड, कनेडा और आस्ट्रेलिया को राय दी है कि वे संयुक्त राज्य अमेरिका के संघ में शामिल हो जायें। ऐसे कनेडा और आस्ट्रेलिया पर तो अमेरिका का आर्थिक प्रभुत्व पहिले से है; इस लड़ाई ने ब्रिटेन को भी अमेरिका का आर्थिक आश्रय लेने के लिये मजबूर कर दिया। अब कई अमेरिकन कहने लगे हैं कि अगर ब्रिटेन अमेरिका की ताक़त से फ़ायदा उठाना चाहता है, तो वह उसका एक हिस्सा क्यों नहीं बन जाता!

एक विचारधारा यह भी है कि इस युद्ध के बाद जब संसार का पुनर्संगठन हो, तो छोटे छोटे देशों की सत्ता ख़तम कर दी जाये और एक भाषा, एक संस्कृति, एक राज्य के सिद्धान्त पर उन्हें संघबद्ध कर दिया जाये। ब्रिटेन, कनेडा आदि देश अमेरिका, भारत, रूस और चीन के मुक़ाबले में छोटे छोटे देश हैं। वे अमेरिकनों की तरह अंग्रेज़ी बोलते हैं और धर्म व संस्कृति में भी उनके निकट हैं। इसलिये वे अगर संयुक्त राज्य अमेरिका में घुल-मिल जाने का निर्णय करें तो उनका और सभी का कल्याण हो।

तीसरे महायुद्ध की तैयारी

बर्नर्ड शा ने 'न्यू लीडर' अख़बार में भविष्य-वाणी की है कि धुरी राष्ट्रों के हराने के बाद अमेरिका और ब्रिटेन—रूस और चीन से लड़ने की तैयारी करेंगे।

ट्राटस्की ने अपने आत्म-चरित में कहा है कि जो लोग बीसवीं सदी में शान्ति की आकांक्षा करते हैं, उन्होंने बड़े ग़लत मौक़े पर जन्म लिया—यानी जब तक संसार भर में सामाजिक क्रांति न हो जायेगी, लड़ाइयों का सिलसिला जारी रहेगा। एक महायुद्ध ख़तम होते ही दम लेने और अगली लड़ाई के लिये तैयारी करने के लिये 'शांति' की घोषणा कर दी गयी। अब दूसरा महायुद्ध अपने चरमबिंदु पर पहुँच रहा है और लड़ाई इसलिये हो रही है कि दुनिया पहिले जैसी बुरी रहेगी या उससे भी बदतर हो जायेगी।

बर्नर्ड शा की भविष्यवाणी का समर्थन अमेरिका के उपसभापति मि० वेलेस ने भी किया है। उन्होंने एक लम्बे-चौड़े भाषण में कहा कि अगर मित्र राष्ट्रों ने अपनी साम्राज्यवादी नीति न तज दी तो कुछ समय बाद फिर तीसरा महायुद्ध होकर रहेगा।

यह कितनी बड़ी ट्रेजेडी है! किसी ज़माने में आदर्शों और विचारों के लिये मानवता ने इतना बलिदान नहीं किया जितना पिछले बीस वर्षों में। पर आज आदर्शवाद कहाँ है, मानवता का विवेक कहाँ है? फ़ासिस्ट और साम्राज्यवादी शासकवर्ग की हिंसा का ताण्डव-नृत्य देखते देखते दुनिया थक गयी है और उसे अपने भविष्य पर भरोसा नहीं रहा है।

पोलेण्ड और रूस

पोलिश सरकार और सोवियट रूस के मतभेद पर हम पहिले प्रकाश डाल चुके हैं। अब इसी सरकार ने—जिसके पास फ़िलहाल कोई रिआया नहीं है और जो ब्रिटेन के आश्रय में रहती है—रूस से एक नई छेड़ शुरू की है। जर्मन रेडियो ने ऐलान किया कि स्मोलेन्स्क के पास दस हज़ार पोलिश अफ़सरों की क़ब्रें मिली हैं जिन्हें रूसियों ने मार कर समाधिस्थ कर दिया था। हालांकि ख़ुद यह सरकार जर्मनों पर लाखों पोलेण्ड-निवासियों की हत्या का अभियोग लगा चुकी है, पर रूस का नाम आते ही उसने बर्लिन रेडियो की बात पर ऐतबार कर लिया। और रेड क्रास से इस मामले की छानबीन की प्रार्थना की। रेड क्रास ने इस दरख़ास्त को रद्द कर दिया और यह अच्छा हुआ। जब तक स्मोलेन्स्क का इलाक़ा जर्मनों के क़ब्ज़े में है, कोई निरपेक्ष तहक़ीक़ात नहीं हो सकती। लड़ाई ख़तम होने पर इस क़िस्म के अत्याचारों की छानबीन उन सब देशों में होगी जिन पर ज़बर्दस्ती क़ब्ज़ा कर लिया गया है—

जो चुप रहेगी ज़बाने ख़ंजर
लहू पुकारेगा आस्तीं का।

हमारे देश ने जो दूसरों की सहायता में आगे और निज हित के मामले में पीछे रहने का आदी है, पोलेंड से हमदर्दी का अमली सुबूत दिया है। पर उसकी सरकार दुनिया के सबसे प्रगतिवादी देश रूस का जैसा विरोध कर रही है, उससे हर भारतीय को दुःख हुआ है। क्या पोलेंड ने इतिहास से कोई सबक़ नहीं सीखा?

हमारे तुर्क मेहमान

हाल ही में भारत सरकार के निमन्त्रण पर कई तुर्क पत्रकार यहाँ आये थे। सरकारी मेहमान होने पर भी जनता ने उनका हार्दिक स्वागत किया क्योंकि वे नवीन तुर्कों के प्रतिनिधि थे। जब वे लौट गये तो हमें इंतज़ार रहा कि देखें, वे हमारे विषय में क्या कहते और लिखते हैं। पर रायटर या सरकार के प्रचार-विभाग ने अब तक इसकी सूचना न दी। यह तो असम्भव है कि इन पत्रकारों ने अपने दौरे का हाल तुर्कों को न बताया हो। अन्दाज़ा यही होता है कि उनकी कही हुई बातें सरकारी संसार और रायटर के लिये रुचिकर न थीं। चार लाइन की इस ख़बर के अलावह कि उनमें से किसी ने हिन्दुस्तानी प्रेस की आज़ादी को सराहा, आज तक और कुछ

न बताया गया। सरकार को कम से कम आतिथ्य-धर्म का ही ध्यान रखकर इनके भारत-सम्बन्धी लेखों को हम तक पहुँचा देना चाहिए।

साहित्य और नैतिकता

'विश्ववाणी' के इसी अङ्क में हमारी एक कहानी छप रही है। एक भाई की राय में वह नैतिकता के आदर्श से गिरी हुई है। यह बात हमारी समझ में न आयी, शायद इस सबब से कि नैतिकता के विषय में हम दोनों का दृष्टिकोण विभिन्न है। यह तो सब मानेंगे कि वेश्यावृत्ति एक शर्मनाक संस्था है। साहित्यकार की नज़र उस पर जायेगी और वह उस पर लिखेगा, यह भी कोई अजीब बात नहीं। देखना यह है कि लिखता क्या है? अगर उसकी कृति ऐसी है जिसे पढ़ने के बाद इस संस्था को मिटा देने का जी चाहता है तो बेशक वह नैतिकता और समाज की सेवा कर रहा है और उसका प्रयत्न स्तुत्य है। अगर ऐसा नहीं हुआ और पाठक पर इसका विपरीत प्रभाव पड़ा तो यह 'घासलेटी साहित्य' है। वेश्या-वृत्ति पर रूसी उपन्यासकार कुपरिन की 'यामा' और फ्रांसीसी नाविल 'लेडी आफ़ कमेलिया' में यही अन्तर है।

हमारी समझ में आधुनिक हिन्दी साहित्य की अवनति का कारण वह सन्यासवाद है जो लेखक या कवि को कुछ लिखने से पहिले यह सोचने के लिये मजबूर करता है कि पढ़ने वाले क्या कहेंगे। अगर लेखक अपनी आत्मा से कह सके कि उसने ईमान-दारी और सचाई से लिखा है तो उसे किसी से न डरना चाहिए। इसके बाद लोगों का जी चाहे उसे पढ़ें या न पढ़ें।

एकता का रास्ता

हमारे आदरणीय मित्र पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी ने एक निजी पत्र में यह प्रश्न छेड़ा है कि सांप्रदायिक समस्या वास्तव में राजनीतिक समस्या है और कामन कल्चर के थोथे तीरों से उसका समाधान नहीं हो सकता।

जवाब में यही कहा जा सकता है कि 'विश्व-वाणी' किसी समझौते के पक्ष या विपक्ष में नहीं। सबब जो भी हो, यह सच है कि लोग आज एक दूसरे की बात सुनने को भी तैयार नहीं। हम ऐसा वातावरण पैदा करना चाहते हैं जिसमें लोग एक दूसरे को बेईमान समझे बिना ठण्डे दिल से अपने रोग और उसके निदान पर विचार कर सकें। अगर अपने काम में हमें कबीर और अकबर की लिबरल मानवतावादी मिसाल से मदद मिलती है तो क्या हर्ज है। सूफ़ियों की प्रेमवाणी से समाजवादियों को जिस जगह मतभेद हो सकता है, वह सांपदायिकता के क्षेत्र से हट कर है। वहाँ रहस्यवाद और भौतिक वाद के सिद्धान्तों में टक्कर होती है। 'विश्ववाणी' सूफ़ियों की पत्रिका नहीं; समाजवाद के लिये उसका दरवाज़ा खुला हुआ है। अगर समाजवादी अपने मत का प्रचार न करके जंगी प्रोपेगेंडा करने लगें तो कोई क्या कर सकता है? 'विश्ववाणी' की ओर से तो उन्हें यही आश्वासन दिया जा सकता है कि जब वह क्षणिक आवश्यकताओं को छोड़कर मुक्ति-मार्ग की ओर आयेंगे, तो उन्हें हमारा सहयोग प्राप्त होगा।

रह गया यह सवाल कि एकता के सन्देश को कोई सुनेगा या नहीं। जवाब में कविवर 'जोश' का यह शेर पढ़ देना काफ़ी होगा—

कल बफ़ैज़े अक़्ल हो जायेगा ख़ालिस आदमी।
आज हिंदू है तो क्या परवा मुसलमा है तो क्या?

राज-हठ

भारत मंत्री ने पार्लमेंट में साफ़ कह दिया कि सरकार की नीति नहीं बदलेगी। गृह मंत्री की कार्यावधि बढ़ने का मतलब यह है कि उनकी पालिसी की उम्र भी बढ़ गयी है। उपनिवेश मंत्री मि० स्टेनली ने दो टूक बात कह दी कि ब्रिटिश साम्राज्य के मामलों में किसी को दख़ल देने का अधिकार नहीं। यह ब्रिटेन का काम है। वह जैसे चाहे निबटे और

उपनिवेश भुगतें। कितने ही लोग इसे उसी क़िस्म की दलील करेंगे जो कसाई मुहल्ले वालों को सुनाया करते हैं। जब वह घरों में भेड़ों को काटते हैं और उनकी चीख़-पुकार से पसीज कर पड़ोसी कुछ कहते हैं तो कसाई कहते हैं कि घर मेरा और भेड़ मेरे बाप की, आप दख़ल देने वाले कौन होते हैं? मि० स्टेनले के इस ऐलान को मि० चर्चिल ने पार्लमेंट में सराहा और कहा कि अंग्रेज़ों को दब्बूपन की नीति छोड़ देना चाहिये!

ग़रज़ यह कि भारत की हालत को लड़ाई के ज़माने में न बदलने की नीयत साफ़ हो जाती है। तब तक हमारे नेता जो भी करें पर सरकार का दरवाज़ा न खटखटायें। जब तक काल के बली हाथ आकर दस्तक न देंगे यह दरवाज़ा न खुलेगा।

मि० फ़ज़्लुलहक़

जिन प्रान्तों में मुसलमानों का बहुमत है, वहाँ मुस्लिम लीग की सरकार क़ायम करने के लिये नई दिल्ली के धनीधोरी आतुर हो उठे हैं। मि० अल्लाह-बख़्श और मि० फ़ज़्लुलहक़ अलग अलग क़िस्म के आदमी हैं पर दोनों का अंजाम एक ही हुआ। जब वोटों की गिनती में उन्होंने हारी मानने से इनकार कर दिया तो गवर्नरों ने उन्हें निकाल बाहिर किया। और इस तरह दुनिया ने फिर पार्लमेंटरी हुकूमत का खोखलापन देख लिया। बहुत से सूबों की तरह बंगाल पर भी वहाँ के गवर्नर का राज हो गया। तीन हफ़्ते के बाद वहाँ मुस्लिम लीग की सरकार बन सकी। फिर भी पार्लमेंटरी शासन-पद्धति का स्वांग तो बेनक़ाब हो गया।

हमें इस क़िस्से के क़ानूनी पहलू से कोई दिल-चस्पी नहीं। सवाल यह है कि हुकूमत मुस्लिम लीग को वज़ारत की गद्दी दिलाने के लिये बेचैन क्यों है। क्या यह किसी राजनीतिक समझौते का परिणाम है? यानी अगर मुस्लिम लीग कुछ न करने और कुछ न होने देने की नीति चलाती रहे, तो इनाम के बतौर उसे उन सूबों का शासनसूत्र मिल जायेगा जिसे वह चुनाव के मैदान में न ले सकी थी!

अपने बारे में

'विश्ववाणी' के प्रधान सम्पादक, भाई अख़्तर-हुसेन रायपुरी, एम० ए० ओ० कॉलेज अमृतसर के वाइस-प्रिंसपल हो गये हैं। पिछले मास दिल्ली से वहाँ जाकर उन्होंने चार्ज ले लिया। मास के अन्त में उनकी तबीयत ठीक न थी। इसी से उनके लिखे 'लड़ाई के हालात' और 'सम्पादकीय' समय पर न आ पाये। इस मास 'लड़ाई के हालात' में कोई ख़ास तब्दीली नहीं हुई इसलिए पिछले मास जो कुछ उन्होंने लिख भेजा था उसे ही दे दिया गया है। सिर्फ़, पहिली लाइन में 'अप्रेल' बढ़ा दिया गया है। और लेनिनग्रेड में लड़ाई ज़ोरों से होने की बात जोड़ दी गई है। इस मास उन्हीं का लिखा 'सम्पादकीय' है। इसमें उनके 'राजहठ' और बङ्गाल के मन्त्रि-मंडल संबन्धी नोट शामिल कर दिये गये हैं।

हमें हर्ष कि 'विश्ववाणी' से उनका सहयोग ज्यों का त्यों बना हुआ है। यह सहयोग हमारे लिए विशेष शुभकर, अत्यन्त आवश्यक और सर्वथा अमूल्य है, इसे सब समझते जा रहे हैं। उनका पता अब है—

डा० अख़्तरहुसेन,
वाइस प्रिंसिपल, एम० ए० ओ० कॉलेज,
ब्रजमोहन विला, मक़बूल रोड,
अमृतसर

२—'विश्ववाणी' के सम्पादक, भाई बैजनाथ सिंह 'विनोद' नैनी सेन्ट्रल जेल से छोड़ दिये गये और वे फिर हम में से उनमें आ मिले जो इन सरकारी जेलों के बाहर हैं। श्रद्धेय पण्डित सुन्दरलाल जी और भाई विश्वम्भरनाथ जी नैनी जेल के भीतर हैं—बस—उनके बारे में और एक शब्द भी नहीं।

'विनोद' जी ने इस छै मास के जेल-प्रवास में अपनी अनुभूति के लिए खुला क्षेत्र पाकर अनेक कविताओं की रचना की है। इनमें से कुछ का रसास्वादन अगले मास से 'विश्ववाणी' के पाठकगण भी कर सकेंगे।

३—श्री रघुवीरशरण दिवाकर जी ने लिखा है कि उनका जो लेख इस अङ्क में प्रकाशित हो रहा

है वह उनकी पुस्तक 'पाकिस्तान' का एक अंश है। यह पुस्तक शीघ्र ही प्रकाशित होगी और इसमें आर्थिक तथा अन्य पहलुओं पर भी काफ़ी प्रकाश डाला गया है।

४—'विश्ववाणी' की नीति के बारे में दो साल बाद अब भी किसी के मन में सन्देह उठना आश्चर्य की बात है। इसके सबसे पहले अङ्क में ही इसकी सुनिश्चित नीति के बारे में यथेष्ट लिख दिया गया था। उस मूल नीति में कोई हेर-फेर नहीं हो सकता। जिस नीति के अनुसार यह पत्रिका प्रारम्भ से चलती आई है वैसी ही चलेगी। हाँ, मत-भेद को उचित स्थान देने में वह सदैव उदार रही है और रहेगी। 'विश्ववाणी' के लेखकगण और पाठकगण इसका विश्वास रखें। इन पंक्तियों के लेखक को, पिछले एक युग—बारह साल—से अधिक पण्डित सुन्दरलाल और भाई विश्वम्भरनाथ के घनिष्ठ सम्पर्क में रहने के फल स्वरूप स्वयं ऐसा विश्वास न होता तो वह 'विश्ववाणी' के पास भी न फटकता या 'माया' की भाँति इससे भी अपना सम्बन्ध बिल्कुल अलग कर लेता।

जो लोग जान बूझकर या अनजान में आजकल के किन्हीं एक पक्षीय एवं कट्टर विचारों के अनुयायी हो गये हैं और वेदान्त या तसव्वुफ़ के नाम से ही परेशान हो जाते हैं, क्योंकि उन्होंने इनको वैज्ञानिक ढङ्ग से समझने की कभी सहानुभूति के साथ कोशिश नहीं की, उन्हें यह विश्वास कैसे दिलाया जावे कि ये किसी संकीर्ण धर्म या सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के नहीं, बल्कि सम्पूर्ण मानवता के आवश्यक और अनिवार्य सिद्धान्तों के पृष्ठपोषक हैं? उनसे 'सांस्कृतिक एकता' के महत्व के बारे में भी क्या कहा जावे? 'विश्ववाणी' के प्रधान सम्पादक स्वयं 'कम्यूनिस्ट' विचारों के हैं और इसे सदैव प्रकट करते आये हैं किन्तु वे कट्टरता के शत्रु हैं। ऐसा न होता तो उन्हें 'विश्ववाणी' में इन महीनों में धर्म, ईश्वर—ख़ुदा—धार्मिक नैतिकता आदि के, या कबीर, सन्तों, अकबर आदि के बारे में जो कुछ गया है वह सब रोक लेने को मजबूर होना पड़ता। मौलाना आज़ाद, सर राधाकृष्णन्, पण्डित सुन्दरलाल, श्री मज़रअली सोख़्ता आदि आदि के दृष्टिकोण को तो तब किसी तरह इस पत्रिका के ज़रिये प्रकट ही न किया जा सकता, न भारतीय राष्ट्र के बारे में इस तरह कुछ लिखा जा सकता। 'विश्ववाणी' ईश्वर या ख़ुदा को अर्थ-शास्त्र का विषय नहीं मानती। अगर 'ईश्वर' 'धर्म' 'संन्यास' आदि शब्दों का दुरुपयोग हुआ है तो 'लोकतन्त्र' 'सोवियत्' 'जनतन्त्र', 'कम्यूनिज़्म' 'मानवता' आदि की भी ऐसी ही दुर्दशा हो रही है। हम ऐसे 'शब्दों' के विरोधी कहाँ तक बनेंगे?

५—'विश्ववाणी' का आगामी विशेषांक 'भावी संसार' के बारे में रखने को हम लोग सोच रहे हैं, क्योंकि भूतकाल और वर्तमान के बारे में जितना प्रकाशित हो चुका है उसमें बिना भविष्य के विचार के हम अपने आप में वैसा सामञ्जस्य कैसे ला सकते हैं जिसकी हमें सबसे अधिक ज़रूरत है? महात्मा भगवानदीन जी 'संस्कृति' को 'मंझन' कहना ठीक समझते हैं। (इसके बारे में वे 'विश्ववाणी' में एक लेख लिख चुके हैं।) अगर 'भावी मंझन' पर ही हमारा यह विशेषांक रहे तो कैसा हो? आशा है, 'विश्ववाणी' के विद्वान् लेखक और पाठक गण इस पर अपने विचार प्रकट कर हमें उचित सहायता देने की कृपा करेंगे।

—विजय वर्मा

'ये बात ग़लत कि दायरे इस्लाम है हिन्द,
ये झूठ कि मुल्के लछमनो राम है हिन्द,
हम सब हैं मुती वो ख़ैरख़्वाहे इंगलिश,
यूरुप के लिए बस एक गोदाम है हिन्द ॥'

(३१० पृष्ठ से आगे)

'हिटलरी गवर्नमेंट' क़ायम होने पर इस सब धन को देने से इन्कार कर दिया गया !

अब दुनिया में भारत की आर्थिक स्थिति 'सबसे मज़बूत' समझी जाती है। चाँदी में तो यह 'देश' अमरीका की बराबरी करता है। शायद इसीलिए यहाँ की जो चाँदी इंग्लैण्ड में जमा है उसमें से मनमानी ख़रीद वहाँ हो रही है और वह भी यहाँ के आधे भाव पर !

सोना यहाँ से तीन अरब से ऊपर अमरीका गया था। अमरीका में दुनिया भर के साठ फ़ी सदी टेलीफ़ोन, रेडियो सेट आदि बनते हैं। इनके अलावा तरह तरह की १ करोड़ ९९ लाख ५४ हज़ार मोटरें आदि प्रति वर्ष बन रही हैं। इन्हें कौन लेगा ? अपने यहाँ के लिए तो वे लोग पहले ही काफ़ी से अधिक संख्या में सब बना चुके हैं। अब अगर पिछड़े हुए देश अपनी अपनी केन्द्रीय शक्ति बना लें, उसे यथेष्ट प्रभावशाली कर लें और अपने यहाँ स्वयं मशीनें बनाने लगें तो फिर इन मशीनों और वस्तुओं का क्या हो ? यह तो उनकी 'सभ्यता' के लिए वास्तव में 'महान विपत्ति' ही होगी। इसी लिए नोबल पुरस्कार विजयिनी श्रीमती पर्ल बक ने स्पष्टतः कहा है—'धुरी राष्ट्रों के ऊपर विजय पाने से ही फ़ासिज़्म (निरंकुश शक्तियों) पर विजय नहीं मिल जाती। हमें इसे स्वीकार करना चाहिए। यदि हम इस युद्ध को स्वतन्त्रता का युद्ध न बना पाये तो हमारा जीवन दूभर हो जावेगा। यदि ऐसा ही होना हो तब भी हमें कायरता और चुप्पी का सहारा न लेकर वीरता के साथ सत्य को प्रकट करते रहना चाहिए। हमारे लिए शब्द ही शस्त्र हैं। ('For us words are weapons'.)

जनता में वास्तविक संगठन और शक्ति सत्य के अधिक से अधिक प्रसार के द्वारा ही सम्भव हैं। हमें जनता को यह बता देना चाहिए कि दूसरे देशों की ओर ऐसी सहायता की आशा से देखने से काम नहीं बन सकता—अमरीका की ओर देखने से भी न बनेगा। वहाँ हमारे विरुद्ध जो कुछ कहा जाता है—हममें सैकड़ों दल हैं, हज़ारों भाषायें और धर्म हैं, हम कभी एक नहीं हो सकते, उस सब का उत्तर हमें ऐसा कहने वालों में भी जो ये सब बातें मौजूद हैं और फिर भी आर्थिक और समस्त देश के स्वार्थ से वे एक हो गये हैं उसे दिखलाकर अवश्य देना चाहिए पर अपने आप में एक केन्द्रीय शक्ति के आधार पर काम करने के लिए ही हमें असिल में बहुत कुछ करना धरना है। इसके लिए हूवर साहब ने जो छः बातें कही हैं उन्हें हमें भी अपनाना पड़ेगा।

'भूलता जाता है यूरुप आसमानी बाप को
बस ख़ुदा समझा है उसने बर्क़ को और भाप को;
बर्क़ गिर जायेगी इक दिन और उड़ जायेगी भाप
देखना 'अकबर' बचाये रखना अपने आप को !'

× × ×

'क्या नाज़ हो ऐसी साअ़त पर,
अफ़सोस है ऐसी हालत पर।
या झूठ कहे या कुछ न कहे,
या कुफ़्र करे या कुछ न करे !'

(२९८ पृष्ठ से आगे)

एक मर्मभेदनी निश्वास त्याग कर कौशिल्या चुप हो रही। पर उसकी आँखें बहुत कुछ कह रही थीं।

बसन्त छटपटा रहा था। वह पचास साल का बूढ़ा ज्योति का पति! ज्योत्स्ना का पति! वह तेज़ी से अपने कमरे में घुस रहा था!

× × ×

बसन्त के हृदय में बड़ी व्यथा है। उसका हृदय उसे धिक्कार रहा है, तू व्यर्थ ही अपने को उदार कहता है। व्यर्थ ही तू दीन दुखियों का कष्ट दूर करने वाला अपने को समझता है। तेरे देश में, तेरे मुहल्ले और पड़ोस में ही प्रतिदिन कितने नंगे भूखे रहते हैं। तू ने आज तक उनमें से कितनों को अन्न या वस्त्र दिया? अच्छा से अच्छा प्रतिदिन खाना और सुख की नींद सोना! तुझे क्या पता कि संसार में कितना अन्याय हो रहा है, कैसे कैसे जाल लोगों को तरह तरह से लूटने और चूसने के लिये बिछाये गये हैं और और भी फैलाये जा रहे हैं। फिर भी तू अपने को उदार-हृदय कहता है! किसके साथ आज तक तैंने 'उदारता दिखाई? तेरे सामने ही एक बेकस गुनाह का बलिदान हो रहा है और तू क्या कर रहा है? क्या तुझ में साहस नहीं कि तू उसकी सहायता करे? उसके प्रति मानवोचित्त कर्तव्य पालन करे? 'धिक' 'धिक' उसके कानों में गूंजने लगा। वह बूढ़ा धन के बल से, समाज के अन्याय से, ज्योत्स्ना का पति होना चाहता है। यदि वह इस अन्याय से, युवकों की इस बुज़दिली से आत्महत्या कर ले, या घर से भाग खड़ी हो? जैसा कि अनेक बालायें ऐसी अवस्था में कर चुकी हैं, तो यह दोषी समाज उल्टा उसे ही दोषी कहने का दुस्साहस करेगा और इसका फल? टिकटिक करती हुई घड़ी मानो करुण स्वर में यही प्रश्न दुहरा रही थी।

बसन्त ने अपने कानों पर हाथ रख लिया। आँखें भी बन्द कर लीं। उसे जान पड़ा वह ज्योत्स्ना के पास खड़ा है और वह करुणा की मूर्ति उसके सम्मुख खड़ी है। इतने में कोई कह उठा—बसन्त और ज्योत्स्ना की युगल जोड़ी क्या ही अच्छी होती! काश बसन्त उससे ब्याह करने का साहस करता!

बाजे बजने लगे, लोग इकट्ठा होने लगे, एक सजे सजाये मोटर पर दूल्हा बैठकर आया। ज्योत्स्ना के द्वार पर मोटर रुक गई। बाजे और ज़ोर से बजने लगे। बसन्त किसी अज्ञात शक्ति से वहीं गया। धड़कते हृदय से देखा, वह बूढ़ा दूल्हा मोटर से उतरा। कई स्त्रियाँ मिलकर ज्योत्स्ना को लाईं और दूल्हे के गले में जयमाल डालने का संकेत किया। ज्योंही ज्योत्स्ना ने जयमाल पहिनाने के लिए हाथ उठाया उसके नेत्र भी उठे। उसने उस वर को देखा और उसके पास ही बसन्त को खड़े देख कर उसने बसन्त के ही गले में जयमाल डाल दी। सब लोग चिल्लाते हुए उनकी ओर दौड़े। वह भी वीरता से चिल्ला उठा।

नेत्र खोलकर देखा—सामने माँ खड़ी है!

माँ ने स्नेह से उसके सर पर हाथ फेरते हुए कहा—कोई बुरा स्वप्न देख रहे थे क्या बेटा? क्यों चिल्ला पड़े?

आँख मलते मलते बसन्त उठ खड़ा हुआ; बोला—माँ, एक स्वप्न देखकर मैं चौंक उठा, पर स्वप्न बुरा न था!

बसन्त ने माँ से ज्योत्स्ना का स्वप्न नहीं बतलाया, पर उसका हृदय स्वप्न को याद कर ज़ोरों से धड़कता रहा।

बसन्त के सुस्थिर होने पर माँ बोली—बेटा! बाबू जी तेरी शादी करना चाहते हैं।

बसन्त चुप रहा।

माँ फिर बोली—बेटा, शरमाने की कोई बात नहीं। यदि तू छोटा होता तो पूछने की बात न थी, हम लोगों की इच्छा पर सब कुछ होता। पर नहीं, अब तू बड़ा और समझदार है। अपना उत्तरदायित्व समझता है। तुझसे पूछना हम लोगों का कर्तव्य है। तेरे पिता जी तेरी शादी श्रीकान्त जज की लड़की,

गिरिजा से करना चाहते हैं, जिसे शायद तूने देखा होगा। ख़ूब पढ़ी लिखी है, देखने में बहुत ही सुन्दर है।

बसन्त फिर भी चुप रहा।

माँ—शर्म मत कर, तेरा सुख ही हम लोगों के जीवन का एक मात्र लक्ष्य है, अपनी इच्छा तू निः-संकोच होकर कह।

इस बार बसन्त ने माँ की ओर देखा, फिर नत-मुख होकर बोला—विवाह के लिए जल्दी क्या है माँ!

माँ—नहीं, अब विलम्ब करने का समय नहीं है, तू पढ़ लिखकर अब योग्य हो गया है, हम लोग शादी करके निश्चिन्त हो जायेंगे।

'माँ, मैं जैसा योग्य या अयोग्य हो गया हूँ, उसे मैं ही नहीं, सब देख रहे हैं। एम० ए० ही नहीं, एम० एस-सी० और फिर एल०एल-बी० कर कर के अत्यधिक दौड़ धूप और परेशानी के बाद पैंतीस चालीस रुपयों की जगहें लोग पा सकते हैं—वे भी थोड़े से ही। माँ, मैं ऐसी लड़की से तो शादी कर ही न सकूंगा।

'क्यों?'

'इतने बड़े धनी घराने की लड़की का बोझ मैं सँभाल न सकूंगा!'

माँ—सँभाल क्यों न सकेगा? आख़िर तुझे क्या कमी है? उनसे कहीं अधिक वैभव ईश्वर ने तुझे प्रदान किया है।

बसन्त—धन से किसी को सन्तुष्ट नहीं किया जा सकता। माँ, तुम मेरा स्वभाव जानती ही हो, मैं बनाव शृङ्गार को तुच्छ समझता हूँ, धन-गरिमा को तुच्छ समझता हूँ, मैं अपना जीवन ग़रीबों की सेवा में लगाना चाहता हूँ। सादा खाना, सादा पहिनना पसन्द करता हूं। बताओ माँ, मेरे साथ ऐसी लड़की सुखी रह सकती है? फिर, जिसने कभी यह जाना ही नहीं कि दुख क्या चीज़ है, वह लड़की क्या मेरा साथ दे सकेगी?

माँ—तो किसी ग़रीब लड़की से शादी ठीक करना चाहते हो?

'अभी जल्दी कुछ नहीं है माँ! मैं तुम से ख़ुद ही बता दूँगा और तुम्हारी ही सहायता से कुछ हो सकेगा। धनी लड़की आयेगी तो बँगले की क़दर करेगी। सिनेमा, मोटर-यात्रा आदि का सुख भोगना चाहेगी। वैभव में ही जीवन का रस समझेगी। वह तुम्हारे निर्मल स्नेह का क्या आदर करेगी? क्या मूल्य समझेगी? वह दुःख और कष्ट में मेरा साथ देने की कल्पना तक न सह सकेगी। जिसके पैरों पर वैभव लोट रहा है, जिसको इसीलिए अनेक लोगों के स्नेह का आदान प्रदान मिल रहा है, वह हम लोगों की क्या क़द्र करेगी? हमारे यहाँ आकर उसे क्या नई चीज़ मिलेगी? मैं तो उसे कुछ दे न सकूंगा।

कौशिल्या को ये बातें रुचीं। सुनकर चुप रही।

× × ×

टन टन टन—

ज्योत्स्ना ने गिना तीन बज गये।

'ओह, अभी तक मुझे नींद न आई।' वह करवट बदलकर सोने का उपक्रम करने लगी। किन्तु फिर भी उसे नींद न आई। उसके हृदय में एक तूफ़ान मचा हुआ था।

'ख़ूब! समाज और शासन के अधिकारियों ने प्रत्येक परिवार को कैसी बुरी तरह कस दिया है। मेरे पिता ने अपना सारा जीवन उच्च आत्म सम्मान और मानवता से प्रेरित होकर इस देश के लिए, इसके चालीस करोड़ लोगों को पराधीनता से उद्धार पाने के लिए ही दे दिया था—'वह रुक गई—'तो क्या मैं उनकी सेवाओं के बदले में यह चाहती हूँ—

'नहीं, यह तो प्रत्येक देश के प्रत्येक जाग्रत अंग का कर्तव्य होता है कि वह ऐसी उपेक्षा न दिखावे जिसका फल हानिकारक हुए बिना नहीं रह सकता! उसके 'युवकों का—' वह फिर रुक गई। जान पड़ता है कुछ निकम्मे किन्तु भड़कीले युवकों के चित्र उसके मानस-पट पर खिचकर मिट गये—और तब बसन्त

का चित्र आया। वह अपने आप फिर बोली—परिस्थितियाँ—हाँ, क्या ये भी परिस्थितियों को ही दोषी ठहरा स्वयं निर्दोष नहीं बने रह सकते हैं?

'माँ के आँसू तो अब थमते ही नहीं। मुझसे छिपा कर माँ एकान्त में रोया करती हैं। उनको देखने से ऐसा मालूम होता है कि मानो वर्षों की बीमार हो। ऐसा दुखी चेहरा तो पिता जी की मृत्यु के बाद भी न था। भगवान्, मैं अभागिनी हूँ, पर तुम तो कष्ट हरण करने वाले हो। हम लोगों का कष्ट हर लो।' ज्योत्स्ना रो उठी। बिछौने पर चुपके रोते रोते न जाने कब सो गई।

उसने स्वप्न देखा—वह अथाह जल में बही जा रही है। एक सौम्य सुन्दर मूर्ति दिखलाई दी। उसने सहायतार्थ अपना हाथ बढ़ा दिया। उस मूर्ति ने भी अपना हाथ बढ़ाकर उसका हाथ अपने हाथों में ले लिया। धीरे धीरे किनारे की ओर बढ़ने लगे। किनारे पहुँचकर उसको कुछ चैतन्यता आई। उसने अपने रक्षक को पहचाना। अपना हाथ छुड़ाना चाहा। बसन्त ने उसके दोनों हाथों को दृढ़ता से पकड़ लिया और कहा—मैं इन हाथों को कभी न छोड़ूंगा।

माता की आवाज़ ने उसे चौंका दिया। वह जग पड़ी। देखा काफ़ी दिन निकल आया है। अपने आप से पूछा—क्या यह स्वप्न सत्य होगा?

दिन भर उसके कानों में इसी स्वप्न की बातें गूँज रही थी—"मैं इन हाथों को कभी न छोड़ूंगा।"

× × ×

ब्याह को केवल एक मास रह गया। फूलबाला का दिल ज्यों ज्यों ब्याह का दिन निकट आता जा रहा है, त्यों त्यों बैठा जा रहा है। उसे न रात को नींद आती है न भूख लगती है। दिन दिन भूखी प्यासी रहने से क्लान्त हुई जा रही है। एक तो ग़रीबी की मार दूसरे समाज की यह क्रूरता। 'मैं अपनी फूल सी बेटी को बलि देने जा रही हूं। उसने अभी तक दुनिया का मर्म भी न जाना। उसी का भविष्य अन्धकार में डूब रहा है। मैं माँ होकर उस अबोध का सर्वनाश कर रही हूँ।

'उसका मुंह देखते ही कलेजा मुंह को आ जाता है, उसका गुलाब सा सुन्दर मुख मुरझा गया है। ओह, कितनी सहनशील लड़की है वह, कभी किसी बात के लिए एक शब्द भी न कहा। पर हाय, जननी होकर मैं उसकी हत्या करने जा रही हूं। किसने हमें ऐसी विवशता में डाल दिया है? क्यों हम में इसे समझकर इस अन्याय के मूल को चकनाचूर कर देने की शक्ति नहीं है?

बच्चा रो उठा; फूलबाला की विचारधारा टूट गई।

× × ×

बसन्त बहुत खिन्न रहने लगा, उसे रह रह कर स्वप्न याद आने लगता। वह दिन रात इसी उधेड़-बुन में पड़ा रहता कि जब मुझे शादी करनी ही है तो क्यों न तुरन्त ज्योत्स्ना के ही साथ करूँ। यदि उसकी शादी मनोहरदास के साथ हो गई तो क्या वह सुखी रह सकेगी? क्या यह उसके पिता के प्रति हमारी घोर कृतघ्नता, अत्यन्त नीचता न होगी? उसके पिता के प्रति ही नहीं बल्कि अपने प्रति! नहीं, नहीं, मैं ऐसा न होने दूंगा। मैं माँ से कहूँगा, पिता जी तो शायद राज़ी न होंगे। ख़ैर, इसकी चिन्ता नहीं, माँ का हृदय ऐसे लोगों के प्रति ममत्व से भरा है। वह सब ठीक कर लेगी। मेरे सामने कर्तव्य आया है मैं उससे विमुख न होऊँगा। मैं कायर न बनूंगा। जो मैंने स्वप्न में देखा है वही प्रत्यक्ष हो जावेगा।

ऐसा सोचते सोचते बसन्त ज़ोर से टहलने लगता।

एक दिन वह अपनी ऐसे ही उधेड़बुन में था, उसे यह भी पता न चला कि माँ कब आई। कौशिल्या के शब्दों ने उसे चौंका दिया—बेटा, क्या सोच रहे हो?

अप्रतिभ सा बसन्त माँ का मुख देखने लगा।

'बेटा ! मैं तुमसे कुछ कहने आई हूँ। तुम्हें अवकाश है ?

बसन्त ने कहा—क्या है माँ, ऐसी विह्वल सी क्यों हो ?

एक कुर्सी पर बैठते हुए कौशिल्या ने कहा—कोई विशेष बात नहीं, पर हाँ तुम सुस्थिर होकर बैठ जाओ।

माँ के सामने बसन्त एक कुर्सी पर बैठ गया।

गंभीर भाव से कौशिल्या कहने लगी—बेटा, मैंने तुमसे एक दिन शादी का प्रसंग छेड़ा था। तुम्हारे उत्तर से मैं तुम्हारा भाव जान गई थी। तुम जैसी सहधर्मिणी चाहते हो वैसे ही पा लेने का उपयुक्त अवसर तुम्हारे सम्मुख आया है। तुम असहाय की सहायता करना चाहते हो। और इस देश में ऐसे असहायों की कमी नहीं है। तुम्हारे आँखों के सामने एक बाला का बलिदान हो रहा है। क्या तुम उसे बचा नहीं सकते ?

बसंत का हृदय ज़ोरों से धड़कने लगा। उसने प्रश्नसूचक दृष्टि से माँ की ओर देखा।

कौशिल्या ने उसी शान्त स्वर मे कहा—मैं तुमको अधिक उत्सुकता में क्यो डालूं ? मैं चाहती हूँ तुम ज्योत्स्ना की बाँह पकड़ो। वह ग़रीब होगई है। इसीलिए इस समाज का कोई युवक उसका पाणिग्रहण करने को तैयार नहीं हो रहा है। धन ही उनका सर्वस्व हो गया है। चार दिन के बाद इस निर्दोष लड़की का जीवन भविष्य के अंधकारमय पर्दे में ढक जायगा। फिर हम क्या कर सकेंगे ? इसके पिता को तुम नहीं जानते, मैं जानती हूँ। इसका सर्वनाश न होने पाये ऐसा काम बेटा, तुम्हें स्वीकार है ?

बसंत—तुम्हारी आज्ञा मुझे कब स्वीकार नहीं है माँ ! सच तो यह है माँ, कि तुम्हारा गौरव मैं तुम्हारा पुत्र होकर भी कुछ समझ नहीं पा सका ! पर पिता जी—

इसके लिए तुम चिन्ता न करो। मैंने उन्हें समझा बुझाकर राजी कर लिया है। बेटा, तुमने मेरा मुख उज्ज्वल कर दिया। तुमसे मुझे ऐसी ही आशा थी। आज मेरा हृदय आनन्द से पुलकित है कि मैं तुम्हारे ऐसे सच्चे विचारवाले पुत्र की माता हूँ। तुम पर मुझे गर्व है। ज्योत्स्ना को तुम अपनी जीवनसंगिनी बनाकर मानव हृदय का परिचय दो। वह सब तरह तुम्हारे योग्य है।

सच्ची श्रद्धा की दृष्टि से बसंत ने माँ की ओर देखा। फिर मधुर शब्दों में बोला—माँ, यह सब तुम्हारी ही देन है। आशीर्वाद दो माँ, जिससे अपनी जीवन-यात्रा हम सफल कर सकें। हम भी उस पथ पर चलने में समर्थ हो सकें जो एकमात्र जीवन-पथ है।

उसने झुककर माँ के पैर छू लिये।

× × ×

'ज्योत्स्ना रानी, इधर देखो, मेरे साथ कष्ट उठाते हुए जीवन-पथ पर चल सकोगी ? इस सब सम्पत्ति का कोई भी भाग मैं अपना नहीं मानता।' प्यार से बसंत ने ज्योत्स्ना से कहा। ज्योत्स्ना लज्जा से गड़ी जा रही थी। उसका हृदय हर्षातिरेक से वेग के साथ धड़क रहा था।

उसको चुप देखकर बसंत ने उसके लज्जा से झुके मुख को अपने हाथों से ऊपर उठाया और उसके दोनों हाथों को अपने हाथों में लेकर स्नेहविगलित स्वर से कहा—डरती हो रानी ! देखो तो मेरी ओर। मैंने एक स्वप्न देखा था ज्योति ! उसकी तुमने पूर्ति कर दी।

इस बार ज्योत्स्ना हँस पड़ी। कृतज्ञता भरी दृष्टि से बसंत की तरफ़ देखा। फिर धीरे से बोली—मैंने भी एक स्वप्न देखा था। मैं आपके साथ साथ अवश्य चलूंगी।

—

मुद्रक और प्रकाशक—विश्वम्भरनाथ, विश्ववाणी प्रेस, साउथ मलाका, इलाहाबाद

संरक्षक
पण्डित सुन्दरलाल (जेल में)

सम्पादक
विश्वम्भरनाथ (जेल में)
अख्तर हुसेन रायपुरी

जून १९४३

इस अंक के कुछ लेख

इनके अतिरिक्त श्री जैनेन्द्रकुमार का धारावाहिक उपन्यास, अनेक सुप्रसिद्ध कवियों, कहानी-लेखकों और विचारकों की कवितायें, कहानियाँ और विचार-धारायें।

वार्षिक मूल्य ६) 'विश्ववाणी' कार्यालय, इलाहाबाद

विषय-सूची

जून १९४३

जो सज्जन 'विश्ववाणी' के नये ग्राहक बनें वे अपने पत्र में 'नया ग्राहक' लिखने की कृपा करें। हमारे पुराने ग्राहक, पत्र व्यवहार करते समय अपने पत्र में अपना ग्राहक नम्बर और 'पुराना ग्राहक' लिखने की कृपा करें

[illegible] अपने पत्र का उत्तर चाहते हों वे कृपया जवाबी कार्ड भेजने की कृपा करें।

—मैनेजर

युक्तप्रान्त, पञ्जाब, बम्बई, मद्रास, मध्यप्रान्त और बरार, होलकर राज्य, मेवाड़, जोधपुर, मैसूर और काशमीर के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूल और कालेज लाइब्रेरियों के लिए स्वीकृत

वर्ष ३, भाग ५	जून, १९४३	अङ्क ६, पूरे अङ्क ३०

गीत

डा० श्यामसुन्दरलाल दीक्षित

मैं सोया देश जगाता हूँ।

द्वेष, दम्भ को दूर भगाकर, प्रेम का राग सुनाता हूँ।

गले मिलें हिन्दू से मुसलिम, ऐसी ईद मनाता;
होली के दिन वैर-भाव को, होली बीच जलाता,
शत्रु-बरात को मन ठाकुर की करता हूँ मैं शादी—
दीपावलियों से घर-घर में, जीवन-ज्योति जगाता।

मैं नवयुग, नवजीवन लाता; मंज़िल तक पहुँचाता हूँ।

मेरी मसजिद की मीनारें, गातीं प्रेम-तराने;
मेरे मन्दिर की दीवारें, स्नेह-भरे नव गाने,
रुनझुन-रुनझुन नाच रहे हैं, मेरी दुनिया वाले—
मेरा है संसार निराला, सब जाने-पहचाने।

मैं क़ुरान को, मैं पुराण को, साथ-साथ ही गाता हूँ॥

कौन भला मेरे स्वदेश के सन्मुख आ पाता है?
मेरा गढ़ चित्तौर आज भी अनुपम कहलाता है,
मेरा है कश्मीर 'जगत का स्वर्ग' जिसे कहते हैं—
मेरा 'ताज' आज 'दुनिया का ताज' कहा जाता है।

मेरी काशी, मेरा काबा, सबको यही बताता हूँ॥

नैतिक विश्व-व्यवस्था और अर्वाचीन दृष्टि

श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी

चारों ओर पशुबल अपना अधिकार जमा कर बैठा हुआ है। कोई नहीं कह सकता कल क्या होगा। देश देश के फूल से कोमल बालकों का आर्त क्रन्दन सुनकर कलेजा काँप उठता है। जगत् भर के नौजवान मृत्यु के मुख में धँसे जा रहे हैं। विनाश की तरंगे, प्रलय की लहरों की तरह चारों ओर घूम चुकी हैं। जगत् का नरोत्तम कारावास में पड़ा पड़ा सड़ रहा है। मुझे प्रतीत होता है कि इस समस्त विनाशकता, इस समग्र दुःख, और इस सारी अशांति का मूल पाश्चात्य संस्कृति की भूमिका में निहित दृष्टि-स्वरूप में ही है।

रेल, तार, डाक और रेडियो द्वारा संसार संकीर्ण हो गया है। इन समस्त साधनों द्वारा अर्वाचीन यूरोप ने सारे जगत् पर आक्रमण किया है। जगत् की स्वतन्त्रता पर नहीं, बल्कि सारे संसार की संस्कृति पर! सण्डासी में जकड़े हुए पिल्ले की तरह हम तड़प रहे हैं, चीख मार रहे हैं, परन्तु सण्डासी में से छूटने का मार्ग नहीं मिल रहा। जब तक इससे हम मुक्त नहीं होते तब तक तड़पना ही पड़ेगा।

तो हमें यूरोप की संस्कृति की पृष्ठभूमिका में निहित दृष्टिकोण का दर्शन करना चाहिए और उसके कलंक का निरूपण करना चाहिए। किसी अज्ञात अन्धकार की ओर हम धँसे चले जा रहे हैं। जब तक उस दृष्टिकोण के भयानक परिबलों का हमें ज्ञान नहीं हो जाता, तब तक हमें त्रस्त रहना ही पड़ेगा।

यूरोप प्रारम्भ से ही प्रचण्ड पशुत्व की लीला-भूमि रहा है। रोमन साम्राज्य के समय से इसने विनाशकता को प्रसारित करने की वृत्ति पर शायद ही अंकुश रक्खा हो।

[illegible] यूरोप के प्रारम्भ होने से पूर्व वहाँ पर [illegible] ईसाई सम्प्रदाय की प्रबलता थी। [illegible] के ऊपर ईश्वरीय नियमों की सर्वोपरिता मानी जाती थी। धर्म, नीति, नियमन आदि को मानवशक्ति से परे और अधिक बलिष्ट माना जाता था। इस मान्यता के कारण पशुता कुछ अंशों में वश में रहती थी। उन दिनों नीति (सदाचार) को सुविधा की वस्तु नहीं माना जाता था। राजा और प्रजा, देव और दानव—सभी को योग्य आचार और व्यवहार में रखने वाली विश्वव्यवस्था विद्यमान थी।

युद्ध होते थे, विनाशक उपक्रम होते थे, दुःख देने वाले दुःख देते थे, सहन करने वाले को सहना पड़ता था, परन्तु सर्वव्यापी और अनियन्त्रित विनाशकता के मार्ग में आकर यह विश्वव्यवस्था की भावना खड़ी हो जाती थी और निर्दोष बच जाते थे।

यह विश्वव्यवस्था कुछ एक अंशों में भारतवर्ष में प्रवर्तित दशा की प्रतिकृति थी। हमारे यहाँ राजा

लोग लड़ते थे परन्तु गाँव के बाहर। न वे ब्राह्मण को छूते थे, न वे मन्दिर तोड़ते थे और न वे गाय तथा स्त्री का बाल बाँका होने देते थे। स्वच्छन्दी लोग भी थे, परन्तु आचार पर नीति का अंकुश विद्यमान था। नैतिक विश्वव्यवस्था सनातन मानी जाती थी। इस व्यवस्था की मर्यादा में से भले ही बहुत से निकल भागें, परन्तु भाग निकलने में सुख है या मोक्ष है—ऐसा कोई नहीं मानता था। दुष्ट से दुष्ट राजाओं को भी धर्म द्वारा निर्मित व्यवस्था को स्वीकार करना पड़ता था। निष्ठुरता थी, महत्वाकांक्षा थी, परन्तु उनको कोई मोक्ष का साधन नहीं मानता था।

ईस्वी सन् १५०० के आसपास की बात है कि इस विश्वव्यवस्था के आधाररूप ईसाई संप्रदाय का प्रभाव घटने लगा और अर्वाचीन यूरोप का दृष्टिस्वरूप पहली बार व्यक्त हुआ। इस परिवर्तन का नतीजा यह हुआ कि इस नैतिक विश्वव्यवस्था में से लोगों की श्रद्धा विचलित होने लगी। सत्य और असत्य को तौलने का आधार पशुबल को माने जाने लगा। इस नवीन दृष्टिस्वरूप के प्रतिनिधि रूप दो व्यक्ति उल्लेख योग्य हैं—मेकियावेली और फ्रान्सिस बेकन।

मेकियावेली ने राज्यशक्ति के पशुबल को जीवन-व्यवस्था की अन्तिम कक्षा माना। राजा की इच्छा को ही सर्वशक्तियों का मूल मान लिया—अनियन्त्रित शक्ति ही न्यायासन! रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय में उसने अधर्म को देखा, नीति में केवल सुविधा को निहारा।

पुराने ज़माने में छोटे बड़े सब ईश्वर के आधीन थे। अर्वाचीन यूरोप में थोड़े से मनुष्यों ने इन्द्र का वज्र प्राप्त करके अन्य मनुष्यों को अपना गुलाम बनाना प्रारम्भ किया। राजा लोग नैतिक व्यवस्था को स्वीकार तो करते थे, परन्तु केवल लोगों को वश में रखने के एक इन्द्रजाल के रूप में। वह नैतिक व्यवस्था एक राजा तथा दूसरे राजा में या अपने तथा अपनी प्रजा के बीच में नहीं थी।

नैतिकता एक विश्वव्यवस्था के बदले पाशव-शक्ति का एकमात्र शस्त्र बन गई! इस प्रकार अर्वाचीन यूरोप का प्रारम्भ हुआ।

फ्रान्सिस बेकन भी अर्वाचीन यूरोप का एक सूत्रधार है। वह अर्वाचीन युग का अधिष्ठाता है—ऐसा हमें कॉलेजों में सिखाया जाता है। इस युग के बड़े से बड़े प्रतिभाशाली महापुरुष के रूप में उसकी पूजा आज चार सौ वर्ष से हो रही है।

इसने प्रतिपादन किया कि संयमवाद भीरु लोगों का वाद है। यह मानता था कि शरीर को स्वच्छन्दता और संयम, दोनों का समान अनुभव कराना चाहिए। सत्य और असत्य, दोनों का बुद्धिमतापूर्ण मिश्रण करते रहना चाहिए। अर्वाचीन विज्ञान के इस पैग़म्बर ने घोषित किया कि मैं सम्प्रदाय को नहीं स्थापित करना चाहता। मुझे तो उपयोगिता और शक्ति प्राप्त करने के साधन प्राप्त करने हैं। विज्ञान को मनुष्य के उपयोग में लाना चाहिए, जिस से प्रकृति पर विजय प्राप्त हो और मनुष्य का बल बढ़े। यह उसके समस्त जीवन का स्वप्न था। इसने जगत् को सिखाया कि वैज्ञानिक प्रयोगपद्धति ही सत्यान्वेषण का एकमात्र सीधा मार्ग है। यह मानता था कि जिस वस्तु को मैं प्रयोगशाला में ला सकूँ, जिस पर मैं वहाँ प्रयोग कर सकूँ और दूसरे को स्पष्टतया विश्वास करा सकूँ, उसी में सत्य विद्यमान है।

इसने मेकियावेली के सिद्धांत-सूत्रों को अपनाया! इसके अतिरिक्त इसने बाह्य जगत् पर प्रभुत्व प्राप्त करने में ही मानवशक्ति की आत्मसिद्धि को निहारा। मनुष्य स्वयं कैसा भी हो, परन्तु यदि वह प्रकृति के नियमों को वशवर्त्ती बनाकर उनका उपयोग कर सके तो वह सचमुच शक्तिशाली बन सकता है—इस सिद्धांत को उसने वेगवान् बनाया।

ईसा मसीह ने कहा था कि जगत् का राज्य मिल जाय और आत्मा चला जाय तो उससे क्या लाभ? जीवन में ईसा मसीह को जुडा ने धोखा दिया। [illegible] सौ वर्ष बाद ईसा मसीह को बेकन ने फिर से [illegible] दिया। उसने कहा—आत्मा जाय तो [illegible]

जगत् का राज्य जीतना ही मुझे अभीष्ट है। अन्य वस्तुओं से मुझे क्या?

बेकन ने तथा बेकन सदृश अन्य विचारकों ने यह दृष्टिस्वरूप प्रस्तुत किया कि जीवन की सार्थकता आत्मसिद्धि में नहीं बल्कि साधन-प्राप्ति में है।

इस दृष्टिस्वरूप का मर्म जानना चाहिए। जहाँ तक नैतिक विश्वव्यवस्था में श्रद्धा थी, वहाँ तक विनाशकता एक गले पड़ी विपत्ति के समान थी! जब शक्ति ही व्यवस्था की अन्तिम कक्षा बन गई तब विनाशकता ही सत्यासत्य की अन्तिम कक्षा बन गई!

इस प्रकार अर्वाचीन यूरोप में वैज्ञानिक युग शुरू हुआ। मैं झूठा होऊँ, पापाचारी होऊँ तो कोई परवाह नहीं, मैं अपने रागद्वेष को पुष्ट करने के लिए जो कुछ भी करूं उसमें किसी विश्वनियम को अन्तराय नहीं डालना चाहिए। मुझे तो इस नवीन दृष्टि द्वारा इतना ही देखना है कि विज्ञान की सहायता से मैं इतनी शक्ति प्राप्त कर सकूँ कि मैं अपनी इच्छा का भार समस्त जगत् पर डाल सकूँ!

इस प्रकार नियम के बदले स्वेच्छा प्रकट हुई। नैतिक विश्वव्यवस्था के स्थान पर पाशविक प्रभुता की कक्षाएँ प्रकट हुईं। इसके परिणाम में दो मान्यताएँ उत्पन्न हुईं। (१) राज सत्ता की इच्छा ही जीवन व्यवहार का नियम है (२) जिस राजसत्ता के पास विनाशकता के साधन अधिक हों, उसकी इच्छा ही अन्तिम विश्वनियम है।

आत्मा की सिद्धि छोड़कर मनुष्य विज्ञान के बल से प्रकृति को शस्त्र बनाने लगा। बारूद का आविष्कार हुआ। तोप गोले बने। बन्दूकें बनीं। तोपों के माप अधिक हुए। विनाशकता की सीमा बढ़ी। जल, स्थल और वायु को वशवर्ती बनाने वाले साधन के आविष्कार हुए। विमानों ने दूरी को कम कर दिया! टैंक और बम्बड्राईवर ने सहस्रार्जुन से भी अधिक विनाशकता फैलाने की शक्ति प्राप्त कर ली। यूरोप की प्रजाएँ आज चार सौ वर्षों से शान्त- [illegible] नहीं सकी हैं। उन्होंने शेष संसार को भी शान्त भाव से बैठने नहीं दिया। विनाश के साधनों को लेकर महाभारतस्थल रचा रक्खा है। निर्दोषों को चकनाचूर कर दिया है। नैतिक विश्वव्यवस्था का परिहास करना सिखाया है। मनुष्य के आत्मा का नीलाम किया है और कराया है।

इस दृष्टिस्वरूप का एक अंग है—जड़वाद। खाना पीना और मौज उड़ाना—इसी को जीवन की सिद्धि माना गया है। इतिहास का भी जड़वादात्मक स्पष्टीकरण किया जाने लगा है। पारस्परिक वर्गविग्रह में ही जीवन का रहस्य विद्यमान है ऐसा माना जाने लगा। कौन किसकी अपेक्षा अधिक अच्छा खाना खाता है और पीता है, इसी में श्रेष्ठता मानी जाने लगी।

मनुष्य स्वयं क्या है, उसकी अपेक्षा वह क्या कर जाता है, क्या भोग भोग सकता है, इसी में उस की महत्ता मानी जाने लगी। खूब कमाना, खूब खर्चना, खूब मदिरा पीना, खूब घोड़े दौड़ाना, बड़ा जुआ खेलना, पैसे द्वारा जगत् को खरीदना—बस इन्हीं बातों में जीवन की सिद्धि मानी जाने लगी। देश अन्य देशों को खाने लगे। सन्धि वचनों को तोड़ने में नीति, स्वाधीनता छीन लेने में राजनीतिज्ञता, तथा झूठे प्रचार में कुशलता समझी जाने लगी।

मोण्टेकार्लो अर्वाचीन यूरोप का पुण्यधाम है, अमरपुरी सा सुन्दर। वहाँ पर प्रतिदिन करोड़ों का जुआ खेला जाता है। रूपवती स्त्रियों का नीलाम होता है। विषयलालसा बढ़ाने में तथा प्रवर्धमान लालसा को अतृप्त रखने में ही जीवन का साफल्य खोजा जा रहा है! यही आधुनिक यूरोप का धर्म हो गया है।

राज्य स्थापित करना, राज्य सत्ता की विनाशता को बढ़ाना, उसके द्वारा साम्राज्यों की प्रतिष्ठा करना, जगत् के निर्दोष और निर्बल मनुष्यों की शांति को लूटना, समस्त जगत् की समृद्धि का दोहन करना अपनी अतृप्य क्षुधा को परितुष्ट करना, या उसके द्वारा विनाशकता को फैलाने वाले साधनों को एकत्र

करना—बस इन्हीं में यूरोप के राजनीतिज्ञों ने अपनी इतिकर्त्तव्यता मान ली है। चार सौ वर्ष के इस दृष्टिस्वरूप ने आज समस्त जगत् को नष्टभ्रष्ट कर डाला है।

इस अर्वाचीन दृष्टि का नवीन स्वरूप आज हमको नया नहीं प्रतीत होता, क्योंकि हम बाल्य काल से मानते आए हैं कि यही सच्ची दृष्टि है। परन्तु इस दृष्टि में समाया हुआ भ्रम आज धीरे धीरे हमारी समझ में आ रहा है। भविष्य में और अधिक स्पष्टता के साथ समझ में आयेगा।

इस दृष्टि को आधुनिक यूरोप ने आज़माया। उसका अनुकरण करके समस्त संसार ने इसे आज़माया! क्या मानव इसके द्वारा अधिक सुखी हुआ है? इसका उत्तर सुनना चाहते हो तो जाकर पूछो जेकोस्लोवेकिया के दलितों से, पूछो समरांगण में विनाश के विकराल मुख में धँसते हुए देश देश के असंख्य युवकों से, पूछो अपने आस पास के विशीर्यमाण जीवन कुसुमों से, पूछो निर्दोष स्त्रियों और बालकों से, और पूछो उससे जो अँधेरी रात्रि में मानवबन्धु के हाथ से राख हो रही है!

चार सौ वर्ष तक बेकन के पथ पर चलकर क्या मनुष्य स्वतन्त्र हुआ है? कहाँ है पोलैण्ड आदि की स्वाधीनता? मनुष्य-व्यवस्था की निर्दय शृङ्खला में कौन बद्ध नहीं है? कहाँ है आज जर्मनी, जापान, इंगलैण्ड या अमेरिका के मनुष्यों का स्वातन्त्र्य? हमको कॉलेज में पढ़ाया जाता था कि प्राचीन भारत में स्वातन्त्र्य नहीं था। बेकन द्वारा हम जो कुछ पढ़े हैं उसके परिणाम में भी आज भारत में स्वातंत्र्य कहाँ है। मनुष्यमात्र आज एक निर्जीव और छोटा सा चक्र बनकर, आत्म विहीन होकर, पिसा चला जा रहा है।

क्या मनुष्य आज उदात्त है? उसमें कहीं भी विश्वप्रेम दिखाई देता है? आज तो एक मानव दूसरे के गले पर छूरी रखकर बैठा हुआ है। जाति-विग्रह, वर्ग-विग्रह, राष्ट्र-विग्रह, और साम्राज्य-विग्रह के रूप में द्वेष सारे जगत् का आवरण बना हुआ है!

क्या आज सत्य कहीं पर भी दृष्टिगोचर होता है? क्या आज के अख़बार सत्य बोल सकते हैं? दिन और रात को भयंकर बनाने वाला रेडियो क्या असत्य के सिवाय कुछ और बोलता है? जब विग्रह का दावानल प्रकट होता है, तब सबसे पहली मृत्यु तो सत्य की होती है!

क्या मनुष्य ने आज अस्तेय को प्राप्त किया है? आज ग़रीबों और निरपराधियों के धनों को लूटने में कौन संकोच करता है? विज्ञान को वश में करने वाली प्रजाएँ (राष्ट्र) आपस में विनाश साध रही हैं। राष्ट्रों की चोरी करना तो उनके लिए साहूकारी हो गई है! धन हरने और निर्दोषों की शक्ति को हरने में तो उनके कीर्तिगान होते हैं।

कैसे कहें कि चार सौ वर्ष के इस प्रयोग से मनुष्य उदात्त बना है? मिट्टी में से जन्मा हुआ मनुष्य मानता है कि उसने जगत् को जीता है! सच पूछो तो उसने जगत् को खोया है, साथ ही उसने अपना आत्मा भी खो दिया है!

मनुष्य को आज न तो सुख मिला है, न वह स्वातन्त्र्य का भोग कर पाया है और न उसके पास नैतिक विश्वव्यवस्था के अनुकूल रहने वाला दिव्यांश रहा है! न तो उसके पास आत्मगौरव रहा है, न उसको आत्मसिद्धि मिली है। वह आज जंगली स्वच्छन्दी वानर सा हो गया है। यह सच है कि उसके हाथ छोटे हो गए हैं, परन्तु उन छोटे हाथों में उसने विज्ञान द्वारा विश्व विनाशक वज्र पकड़ा है। इसके सामने सहस्रार्जुन और रावण निर्दोष बालक जैसे प्रतीत होते हैं। अपना स्वरूप निहारने की उसकी शक्ति नष्ट हो गई है।

एक सुन्दर दृष्टान्त याद आता है! गगन-चुम्बी हिमालय के शिखरों के बीच में, तिब्बत में, एक वृद्ध बौद्ध भिक्षु रहता था। साठ वर्ष की तपश्चर्या द्वारा उसने शान्ति प्राप्त की थी! पल पल में "बुद्धं शरणं गच्छामि" रट रट कर उसने पाशवता को वश में किया था। सतानत हिम का दर्श[illegible] उसकी दृष्टि निर्मल हो गई थी। वह सु[illegible]

था, भावनामय जीवन का आनन्द उसने प्राप्त किया था! द्रवीभूत अनुकम्पा से उसने सब जगत् को लपेट लिया था।

उसके पास इक्कीस वर्ष की दृढ़ाङ्गिनी एक आस्ट्रेलियन विमानविहारिणी नवयुवती आई। बाल्यावस्था से ही उसने विज्ञान को तथा विज्ञान द्वारा प्राप्त शक्ति को अपना लिया था। गर्व के साथ वह वृद्ध साधु के पास आई! वह समझ रही थी कि पाषाण सा जड़ वह साधु निकम्मा है। वृद्ध की ओर तिरस्कारपूर्वक निहारते हुए इस युवती ने अपना परिचय दिया—

"मैं इक्कीस वर्ष की तरुणी हूँ। मैं विमान विहारिणी हूँ! इस विषय में मेरे इतना योग्य और कोई नहीं।"

वृद्ध ने पूछा—तुमने क्या किया?

तरुणी ने कहा—मैं उन्नीस वर्ष की थी तब एक घण्टे में दो सौ मील की गति से मेलबोर्न से उड़कर मुम्बई आई थी। बीस वर्ष की हुई तब तीन सौ मील प्रति घण्टे की चाल से मेलबोर्न से लन्दन गई। और अब चार सौ मील प्रति घण्टे के वेग से समस्त संसार के आसपास उड़ आई हूँ।"

शान्त और संयमी वृद्ध ने साठ वर्ष के भावनामय जीवन से प्रेरित होकर प्रश्न किया—"इतनी शीघ्रता किस लिए?"

इस प्रश्न द्वारा मेकियावेली और फ्रांसिस बेकन द्वारा रचे हुए चार सौ वर्षों का बुलबुला फूट जाता है। इतना उतावलापन किस लिए? एक दूसरे का विनाश करने के लिए? मानव का स्वातन्त्र्य और स्वाभिमान छीन लेने के लिए? जगत् के प्रभु ने मानव को जो सुख दिया है उसे हर लेने के लिए? मैं भी उस वृद्ध भिक्षु का प्रश्न पुनः पूछ लेता हूँ—

"यह सब किस लिए?"

जो जो साधन हैं, जो कुछ समृद्धि है, उसमें बड़ी [illegible] केवल एक का ही नाम कहें तो वह [illegible]मारी मानवता! एक लक्षण ऐसा है जिसके द्वारा हम पशु की भूमिका छोड़कर देवांश को स्पर्श कर सकते हैं—वह है हमारा आत्म गौरव!

जगत् का नाथ तो वह है जो अपनी मानवता का मालिक हो, जो अपने जीवन का विश्वकर्मा बन सके—स्वधर्म के पन्थ पर विचार कर स्वयं अपना शासनकर्ता, स्वमेव अपना नियन्ता बन सके। बाकी तो सब झूठ मूठ है!

जिस संस्कृति या साधन सम्पत्ति को मानव गौरव के लिये मान न हो, जिसकी बनाई व्यवस्था में मानव-गौरव स्वतन्त्रता पूर्वक स्वधर्म का आचरण न कर सके, उस व्यवस्था को "संस्कृति" कहना भ्रम है। वह तो देवों को पशु बनाने का यन्त्र है। मनुष्य के उद्धार के लिए उसका विनाश करने में ही समग्र मानव जाति की मुक्ति समाई हुई है!

आइए, हम क्षण भर के लिए रुककर अपने अन्तर में दृष्टिपात करें। जिसके द्वारा मानव को सुख नहीं मिला, आत्मशक्ति न मिली, उसका आत्म गौरव न बढ़ा, नैतिक विश्वव्यवस्था का साम्राज्य न स्थापित हुआ, वह विज्ञानवाद तो मानव का कट्टर शत्रु है! प्राचीन आर्यों ने मानव देह को देवों के लिए भी दुर्लभ माना है। दुर्लभ इस कारण माना है क्योंकि इस देह से ही आत्म-सिद्धि शक्य है।

यह किया, वह किया, इस प्रकार सन्तोष मानने में मनुष्यत्व नहीं है। मनुष्यत्व तो मानव बनने में है। करने की अपेक्षा बनने में ही मोक्ष है।

मानव-प्रयत्न का ध्येय मानव ही है, वह साधन नहीं। उसकी आत्मनिष्ठ महत्ता जगत् की बड़े से बड़ी समृद्धि है। विज्ञान उस महत्ता का दास हो सकता है, ब्रह्मराक्षस बनकर उसको निगल नहीं सकता! यह सचाई जब समझ में आ जायगी तब अर्वाचीन यूरोप का ज़हर उतर जायगा और मानव जाति देवत्व के पन्थ की ओर मुड़ जायगी।

इस विज्ञान के बिना भी गौतम बुद्ध और ईसा मसीह ने मानवता की चोटी का स्पर्श किया था। इस विज्ञान के साहाय्य से आज जगत् के पशुश्रेष्ठ एक दूसरे को फाड़कर खाये जा रहे हैं। आज हम

विज्ञान को भूल तो नहीं सकते, परन्तु विज्ञान के इस प्राबल्य की विषमता को अवश्य तोड़ सकते हैं!

निःसन्देह मनुष्य सृष्टि का स्वामी है, यदि वह मानवता का साम्राज्य सुरक्षित रख सके, यदि वह नैतिक विश्वव्यवस्था को पहचान सके।

इस विज्ञान का विष उतारना सरल है। मानव व्यक्तित्व का गौरव हम दुर्जेय रख सकते हैं। उसकी रक्षा के लिए अपने प्राण अर्पण कर हम मानवता की सर्वोपरिता सिद्ध कर सकते हैं!!*

अनुवादक—श्री शंकरदेव विद्यालंकार

* साहित्य संसद्, मुम्बई का वार्षिक व्याख्यान।

परिवर्तन

श्री लक्ष्मण भट्ट, साहित्य रत्न

यह कैसा परिवर्तन आया

जब अचेत निष्प्राण पड़ा था,
जग घुटनों पर चलने वाला,
प्राणों का पीयूष मिलाकर,
जिसने उसमें जीवन डाला,
क्रूर बन्धनों में वह जकड़ा, यह कैसी दुर्दिन की माया!

पशुता भी स्वच्छन्द खेलती,
जग - प्रांगण में जीवन - होली,
नृत्य कर रही है बर्बरता,
रँगे रक्त से अपनी चोली,
जहाँ जीव ने जीना सीखा, उस पर दुख-दानव की छाया!

मानवता के दीन पुजारी,
आज शून्य आँखों से रोते,
दलित हृदय के घावों को नित,
खारे पानी से हैं धोते,
सहज मनुजता पर पशुबल ने है निर्मम अधिकार जमाया!

कहाँ शेष मानव में ममता?
आज कहाँ वह भाई-चारा?
जीवित अरे प्राणमय मानव—
टुकड़ों पर है मारा मारा!
शान्ति? कहाँ है शान्ति? अभागे, जब तक जग की कलुषित काया!
जग में नव - परिवर्तन आया!

सोवियत् विज्ञान और उसका प्रयोग

श्री महादेव साहा

नाज़ी आक्रमण के खिलाफ़ सोवियत् के लोग जिस दृढ़ता, हिम्मत और कामयाबी से लड़ रहे हैं उसकी कितनी ही वजहें हैं। राजनीतिक, सामाजिक, सामरिक कारणों को छोड़कर यहाँ हम उसके एक विशेष अंग पर ही रोशनी डालना चाहते हैं, और वह है सोवियत् में विज्ञान की प्रगति और उसका प्रयोग। इस बात को सभी जानते हैं कि विज्ञान की उन्नति और प्रयोग के बग़ैर उस विशाल कृषिप्रधान महादेश के लिए सिर्फ़ पन्द्रह सालों में दुनिया के पहिले दर्जे के उद्योगप्रधान देशों के बराबर हो जाना, और किसी किसी बात में तो उन्हें पीछे भी छोड़ जाना, सम्भव नहीं हो सकता था!

साम्यवाद "शुद्ध मानव" का नारा लगा कर दुनिया की समस्याओं को हल करने का दावा नहीं करता है। वह मानता है कि आज तक विज्ञान की जितनी उन्नति हो चुकी है, उसे अगर व्यक्तिगत या वर्ग स्वार्थ के लिये नहीं बल्कि जनता की उन्नति के लिये नियुक्त किया जाय, तो सभी लोगों का जीवन शान्तिपूर्ण और सुखमय बनाना कोई बड़ी बात नहीं है। मार्क्स से लेकर स्तालिन तक सभी लोगों ने विज्ञान के प्रयोग की ओर काफ़ी ध्यान दिया है। लेनिन ने १९२० में लिखा था—"सोवियत् शासन के साथ सारे देश को बिजलीमय बना देना ही साम्यवाद है।......जब हम देश के कोने कोने में बिजली का प्रचार कर देंगे—जब उद्योग धन्धे, खेती-बारी और आवागमन के साधनों को आधुनिक विशाल उद्योग-धन्धे के आधार हम क़ायम कर सकेंगे, तभी हमारी आख़िरी जीत होगी।"

आज के युग में सामरिक शक्ति विज्ञान और उसके प्रयोग पर निर्भर करती है। आज सोवियत् जनता जिस बहादुरी से नाजियों की सेना के छक्के [illegible] है, वह सिर्फ़ मार्क्सवाद के महान सिद्धान्तों से ही कदापि सम्भव न होता। सोलह महीने तक घिरे रहने पर भी लेनिनग्राड का बाल बाँका नहीं हुआ, मास्को के बीस मील के अन्दर हिटलरी सेनाओं के पहुंचने और तीन तरफ़ से शहर को घेर लेने पर भी 'मास्को के चित्र से ही हिटलर को सन्तुष्ट रहना पड़ता', (लोजोवस्की)* । सेवास्तोपोल के ध्वंसस्तूप के लिये तीन लाख जर्मनों का सफाया किया जाना और आठ महीने वीरता के साथ उसकी रक्षा करना, कोहकाफ़ से तेल के कुओं पर क़ब्ज़ा करने के नाज़ी सपने को चूर करना वोल्गा के किनारे चालीस मील तक फैले हुए स्तालिनग्राद को सवा तीन लाख सेनाओं से हाथ धोकर भी नहीं ले सकना, ये सब बातें कैसे सम्भव हुईं! 'दस हफ़्तों' में ही सोवियत् ख़त्म क्यों नहीं हुआ!

आज से एक साल पहिले प्रो० हाल्डेन के सभापतित्व में लन्दन में प्रसिद्ध वैज्ञानिकों का एक सभा हुई थी। इसमें अधिकारी विद्वानों ने सोवियत् विज्ञान की चतुर्मुखी उन्नति और उसके प्रयोग पर प्रकाश डाला था।

भौतिक विज्ञान की प्रगति के बारे में प्रो० जे० डी० बार्नल ने कहा कि सोवियत में इस विषय में बहुत से बुनियादी काम किये गये हैं और रास्ते में आने वाली क़रीब सभी रुकावटों को दूर किया गया है। १९२० में सारे देश में सिर्फ़ बीस ट्रेनिंगशुदा भौतिक वैज्ञानिक थे। अब उनकी संख्या हज़ारों तक पहुँच गई है। भौतिक विज्ञान ने देश की उन्नति की साधारण योजना तथा आक्रमण से देशरक्षा की तैयारी के लिये भी काफ़ी काम किया है। सोवियत् अर्थनीति की आवश्यकताओं ने ही इसका अध्ययन

* Lenin 1920, Selected works Vol. VIII, P. 276.

अनिवार्य बना दिया है। उदाहरण के लिये बिजली को एक जगह से दूसरी जगह ले जाने के सवाल को ही लीजिये। रंच मात्र नुक़सान का मतलब है करोड़ों किलोवाट का नुक़सान—क्योंकि सोवियत् में जितनी बिजली ख़र्च होती है, उतनी दुनिया के किसी भी देश में नहीं। इससे बचने के लिये पृथग्न्या-सकों (Insulators) के अध्ययन की ज़रूरत थी, इसके लिये मणिओं (Crystals) के अन्दर से बिजली के जाने की क्रिया और घन स्थिति के क्वान्तम सिद्धान्त को जानने की आवश्यकता थी। धातु के उद्योगों में भी समस्यायें दिखाई पड़ीं जिससे जोफे के नेतृत्व में मणिभ भौतिक विज्ञान का विकास हुआ और नभ्र के अनिर्माण के गतिशील सिद्धान्त की स्थापना हुई। आस पास के माध्यम के अनुसार धातुओं की कठोरता बढ़ती है। रेबाइण्डर का यह सिद्धान्त बुनियादी है। इससे धातु सम्बन्धी अनु-सन्धान पद्धति में कितने ही परिवर्तन हुए हैं।

सोवियत् में विज्ञान को अर्थनीति के एक अंग के रूप में इस आधार पर योजनायुक्त बनाया जाता है, जिसमें किसी भी विशेष क्षेत्र में प्रयास के अनुपात में सफलता भी अवश्य मिलती है। अपेक्षित सामग्री दे दी जाती है और सोवियत् विज्ञान परिषद् अपने ढंग से काम शुरू कर देता है। हर एक गवेषणालय के कार्यकर्त्ता अपने अपने सवालों और उन्हें हल करने के तरीक़ों का फ़ैसला ख़ुद करते हैं। आज समग्र सोवियत् में विज्ञान को लड़ाई जीतने के लिये काम में लाया जा रहा है; उसका उत्पादन की समस्याओं, नये हथियारों, नये अंचलों में उद्योग धन्धों के निर्माण, नई सामग्रियों के आविष्कार और पूर्ति के साधनों का पता लगाने में उपयोग किया जा रहा है।

एच० पी० वावेलेस ने सोवियत् में बिजली के प्रसार के सम्बन्ध में कहा कि विशेष परिस्थितियों में मार्क्सवादी सिद्धान्तों को प्रयोग करने की अद्भुत प्रतिभा लेनिन में थी। उद्योग धन्धों की पिछड़ी हुई दशा में सोवियत् को भीतर बाहर दोनों से ख़तरा था। बिजली के फैलाव के बिना विशाल उद्योग-धन्धों का निर्माण सम्भव नहीं था। इसीलिये लेनिन की तत्परता से बिजली प्रसार परिषद् बना और विशाल उद्योगों की ओर सोवियत् ने पहिली सफलता प्राप्त की।

आगे वावेलेस ने कहा कि फ़ी आदमी के हिसाब से दुनिया में सबसे अधिक बिजली बनती है संयुक्तराष्ट्र अमरीका में। लेकिन बिजली के प्रसार और उन्नति की बहुत सी बातों में सोवियत् उसकी बराबरी में है और बिजली के विस्तार की गति, उत्ताप और बिजली-उत्पादन केन्द्रों के निर्माण, खेतीबारी में मशीनों और बिजली के प्रयोग, तथा योजना के अनुसार बिजली के उत्पादन और खपत में तो सोवियत् ने संयुक्त राष्ट्र से भी बाज़ी मार ली है। बिजली बनाने की प्रक्रिया सोवियत् ने अधिकांश में संयुक्तराष्ट्र से ही सीखी। लेकिन बीस ही साल के अन्दर इसने इतनी उन्नति कर ली है कि आज संयुक्त राष्ट्र भी इस विषय में उससे बहुत कुछ सीख सकता है।

डा० एन० एफ० एम० हेनरी ने भूगर्भ विज्ञान की उन्नति पर प्रकाश डाला। ज़ारशासित रूस में कई विश्वविख्यात भूगर्भवैज्ञानिक थे। फिर भी रूस में १५ फ़ीसदी भूमि का भी ½ इंच प्रति मील के पैमाने पर नक़्शा नहीं बन पाया था। बिजली और उद्योग धन्धों के प्रसार के लिये कोयले, लोहे तथा दूसरी धातुओं की ज़रूरत थी। विशाल देश होने के कारण जगह जगह पर पूर्ति के केन्द्रों का निर्माण ज़रूरी था। ब्रिटेन में १०० सालों में हर एक वर्ग मील ज़मीन की जाँच पड़ताल की गई थी। लेकिन ८० लाख वर्ग मील के सोवियत् देश में या तत्काल सम्भव नहीं था। सोवियत् के भूगर्भशास्त्रियों ने नौजवान भूगर्भशास्त्रियों को शिक्षित किया और उन्हें काम में लगाया। इस काम के लिये उन्होंने भूगर्भ-रसायन के सिद्धान्त का निर्माण किया। सोवियत् भूगर्भशास्त्रियों ने अपनी सभी समस्याओं को सफलता के साथ सुलझाया। यह कोई संयोग की बात नहीं है कि आज सोवियत् के वैज्ञानिक भूगर्भ-रसायन शास्त्र में दुनिया का नेतृत्व कर रहे हैं।

सोवियत् अर्थनीति को इसकी उन्नति की सख्त ज़रूरत होती है।

१९३६ में भूगर्भशास्त्र सम्बन्धी काम के लिये ५७ करोड़ रुपये ख़र्च किये गये। मार्च १९३८ में सरकारी तौर से घोषित किया गया है कि यह रक़म दूनी की जायगी। केन्द्रीय भूगर्भशास्त्रपरिषद् में ५०० आदमी काम करते हैं। लेकिन इसके नियन्त्रण में काम करने वाले भूगर्भशास्त्रियों की संख्या दस हज़ार है। इससे इसके महत्व का पता चल जाता है। स्कूलों के लाखों विद्यार्थी मैदानों तथा 'पाओनीयर महलों'[१] के गवेषणालयों में अध्ययन करते हैं। आम लोग भी भूगर्भशास्त्र सम्बन्धी आधुनिक आविष्कारों के बारे में पढ़ते हैं और मुख्य भूगर्भशास्त्री लोग बहुत ही जनप्रिय हैं।

एच० रोज़ ने रसायन की इञ्जीनियरिंग, विशेष रूप से कोयले के गैस बन जाने की क्रिया और रबड़-उद्योग के विषय में कहा कि मेण्डेलीफ ने इस विषय में सबसे पहिले गवेषणा की और सर विलियम रैमज़े ने ब्रिटेन में इसके अनुसार काम किया, लेकिन लेनिन ने ही पहिले पहिल इधर पूरा ध्यान काम में लगाया। १९४० में कैपीतजा को इस सम्बन्ध में आविष्कार के लिये स्तालिन पुरष्कार[२] दिया गया।

नई उन्नति का अर्थनैतिक और सामाजिक महत्व भी महान है। अब एक कोयला खोदने वाला दस का काम कर सकता है। रोज़ साहब का विश्वास है कि इस्पात के ब्लैस्टफर्नेस की उन्नति के धातुओं के गलाने के लिये 'कोक' कोयले की भी ज़रूरत नहीं पड़ेगी और तब ज़मीन के अन्दर पैठ कर कोयला खोदने का भी अन्त हो जायगा।

कोंडाकोफ और लेबेडफ ऐसे महान विद्वानों ने ज़ार के ज़माने में रबड़ के बारे में गम्भीर अध्ययन किया था। लेकिन क्रान्ति के बाद ही इस दिशा में भी व्यापक उन्नति हुई और रसायनिक प्रक्रिया से विशाल पैमाने पर १९३१ से रबड़ बनाना सम्भव हुआ। आज सोवियत् ही दुनिया में सबसे अधिक रसायनिक रबड़ तैयार करता है, और उसकी ८०% आवश्यकता रसायनिक रबड़ से ही पूरी होती है। इसके अलावा कोक-सागिज़ और तौ-सागिज़ में प्राकृतिक रबड़ भी ज़ोरों से पैदा हो रहा है।

डा० एम० रुहेमैन* ने मन्दताप के अनुसन्धान-सम्बन्धी गवेषणा और उसके विकास के विषय में बोलते हुये प्राकृतिक और औद्योगिक गैसों पर प्रकाश डाला। उन्होंने बताया कि अब गैसों के कठोर और द्रव मिश्रणों पर वहाँ काफी अनुसन्धान हो चुका है। अब इन अनुसन्धानों का प्रयोग गैस के कोयले वाले चूल्हे में किया गया है और सफलता भी मिली है। अब ९७% शुद्ध ऑक्सिजन और क्रीप्टन का निकालना सम्भव है। इन अनुसन्धानों का ही फल है कि आज दुनिया में सबसे अधिक गैस विभाजन उद्योग सोवियत् में ही है। भारी रसायनिक उद्योगों के लिये यह बहुत ज़रूरी है।

प्रो० हालडेन ने बताया कि सोवियत् में जीव-विज्ञान की कैसी उन्नति हुई है। बायोकेमिस्ट्री सम्बन्धी अनुसन्धानों में प्रोटीन के "स्वतः अनुकरण" की प्रक्रिया के विषय में अध्ययन किया गया है। भेड़ों के प्रजनन विज्ञान में सोवियत् सबसे आगे है और अब भेड़ों के क्रोमोसोम नक्शे के प्रारम्भ का पता चल गया है। नये तरह के पौधे उत्पन्न किये गये हैं तथा उपजाये जाने वाले पौधों का सम्बन्ध वैवीलफ के अनुसन्धानों के अनुसार अब ऐसे पौधों का निर्माण सम्भव है जो उस विशाल देश के विभिन्न भागों के लिये उपयुक्त हैं।

उमान्स्की ने आविष्कार किया है कि कैन्सर की झिल्लियाँ संगठनकारी का काम कर सकती हैं

१ सोवियत् किशोर किशोरियों की एक संस्था

२ यह पुरष्कार क़रीब दस लाख रुपये का होता है और प्रति वर्ष विज्ञान साहित्य तथा कला के विभिन्न [illegible] पर दिया जाता है।

* डा० रुहेमैन लिखित सोवियत् में विज्ञान की योजना और संगठन नामक एक पाण्डित्यपूर्ण लेख 'विश्ववाणी' के 'सोवियत् अङ्क' में छपा है—लेखक।

और इस विषय में अनुसन्धान जारी है चिकित्सा-विज्ञान की पद्धतियों में भी बहुत प्रगति हुई है। कैडेवर के ख़ून को दूसरे शरीर में अब आसानी से प्रवेश कराया जा सकता है और देखा गया है कि ज़िन्दा लोगों के ख़ूनों से यह अधिक काम का होता है। मृत लोगों की झिल्लियों को अब जीवित लोगों पर चढ़ाया जा सकता है। इस प्रक्रिया से फिलातोफ़ तथा उनके सहकारियों ने इतने लोगों को आँख से देखने के लायक़ बनाया है जितना कि दुनिया के सारे सर्जनों ने मिलकर भी नहीं बनाया होगा।

सोवियत् जीव विज्ञान कृषि से ही सम्बन्धित नहीं हैं। बल्कि मछली मारने, शिकार करने, लकड़ी के उद्योग तथा दवाइयों से भी इसका गहरा सम्पर्क है।

डा० एल० फाइफ ने प्रजनन विज्ञान सम्बन्धी सोवियत् में होने वाले तर्क-वितर्कों पर प्रकाश डाला। प्रजनन शास्त्रियों तथा शरीर वैज्ञानिक लाइसनेको में विचार-संघर्ष की उत्पत्ति का कारण यह है कि विज्ञान तथा प्रयोग सम्बन्धी आवश्यकता में घनिष्ट सम्बन्ध है। सोवियत् में पौधों को जलवायु, तापमान आदि के अनुकूल बनाने की ख़ास ज़रूरत पौधों के कलमों से भी अधिक है। १९३१ में स्तालिन ने कहा था कि सोवियत् उन्नतिशील देशों से पचास या सौ वर्ष पिछड़ा हुआ है, दस साल में हमें इस कमी को पूरा करना होगा। फाइफ साहब ने प्रजनन-विज्ञान तथा लाइसेनको के विचारों का वर्णन किया। ये बातें प्रजनन विज्ञान के कितने ही मौलिक सिद्धान्तों के विरुद्ध हैं। लेकिन यह विशेष महत्व की बात है कि हाल का प्रजनन विज्ञान भी बहुत कुछ वैसा ही कर रहा है।

श्रीमती बियात्रिस किंग ने सोवियत् के स्कूलों में विज्ञान की पढ़ाई पर प्रकाश डाला। स्कूलों की शिक्षा में ऐतिहासिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से काम लिया जाता है। विज्ञान का आर्थिक और सामाजिक समस्याओं से सीधा सम्बन्ध है। अतएव बच्चे छोटी अवस्था से ही वैज्ञानिक तरीक़े से सोचना सीख लेते हैं। वे विज्ञान को एक अलग अलग विषय नहीं समझते हैं। विज्ञान की प्रयोगात्मक शिक्षा उन्हें दी जाती है। स्कूल के अतिरिक्त असंख्य संस्थाओं के अन्दर से करोड़ों बच्चे गवेषणालयों, पायनीयर भवनों, सफ़रों आदि में विज्ञान की शिक्षा पाते हैं।

डा० रुडेमैन ने 'सोवियत् समाज और विज्ञान के कार्यकर्ताओं' के विषय में कहा—सोवियत् के वैज्ञानिक कार्यकर्त्ताओं का अन्य जनता से घनिष्ट सम्बन्ध है। वे एक दूसरे से कितनी ही बातें सीखते हैं। चुनीदे विद्यार्थी अनुसन्धान का काम करते हैं। एक ही जगह काम करने वाले वैज्ञानिक कार्यकर्त्ता, दफ़्तर का काम करने वाले तथा दूसरे लोग एक ही ट्रेडयूनियन के सदस्य होते हैं और उनका पारस्परिक सम्बन्ध समानता का होता है। सोवियत् का कर्ममय जीवन, अमली सवालों को हल करने के लिये अबाध सुविधायें, समाज की उत्पादक शक्ति को बढ़ाने वाली मार्क्सवादी वैज्ञानिक धारणा तथा पद्धति वैज्ञानिक कार्यकर्त्ता को चेतनामय तथा उत्साहपूर्ण नागरिक बना देती हैं।

लेख के प्रारम्भ में हम सोवियत् की अजेयता के सम्बन्ध में विचार कर रहे थे। अब ऊपर के विद्वानों के कथनों से इस पर किंचित् प्रकाश पड़ा होगा। इसके अलावा हम सोवियत् के सैकड़ों आविष्कारों की बात कह सकते थे। विज्ञान ने सोवियत् का निर्माण किया है और सोवियत् ने विज्ञान का क्योंकि वहाँ वास्तविक जनतंत्र है।

साम्यवादी विज्ञान को जीवन का अभिन्न अंग मानते हैं। पिछले २०-२२ वर्षों में जिस वैज्ञानिक उन्नति और प्रयोग ने सोवियत् को इतना महान बनाया है, वही आज नाज़ियों को ध्वंस करके पुनः शान्ति और समृद्धि की स्थापना करने की गैरण्टी है। इसीलिये आज सोवियत् को कितना भी नुक़सान क्यों न उठाना पड़ा हो विज्ञान उसको विजयी बना सकता है।

नन्दी का मोह

श्री हरिशंकर बी० ए०

"काका !" कहता हुआ आठ वर्ष का बुद्धू अपने पिता के सामने खड़ा हो गया !

खेलावन अपने झोपड़ी के आगे बैठा हुआ था।

"काका !" बालक ने दुहराया।

"क्या है रे !" खेलावन बोला !

"काका ! तुम लाये नहीं न !"

"क्या !"

"भूल गये काका !"

"बोलेगा भी क्या !"

"काका, तुम तो हर बार भूल ही जाते हो; तुम्हीं ने तो कहा था काका, कि तुम्हारे लिये एक अच्छी सी छोटी सी गाय ला दूँगा।" कहकर बालक ने गाल फुला दिया।

"ला देंगे बेटा, ज़रा हाथ में पैसे तो आने दे।" खेलावन ने ढाढ़स दिया।

"तुम तो आज चार साल से ऐसा ही कर रहे हो, काका ! पता नहीं कब तुम्हारे हाथ में पैसा आयेगा।"

"चार रुपया तो चार साल में बचा लिया है बेटा ! दो तीन रुपये और हो जायें, बस तुम्हारे लिये एक अच्छी बछिया ला दूंगा।"

"ला दोगे न काका !"

"ज़रूर ला दूंगा बेटा।"

"काका, तुम बड़े अच्छे हो।" कहकर बुद्धू चला गया !

खेलावन चुपचाप बैठा रहा।

आज क़रीब तीस साल पहले ठीक इसी तरह खेलावन—बालक खेलावन—ने भी अपने पिता से कहा था। 'काका मेरे लिये एक गाय ला दो।' खेलावन के पिता हर साल प्रतिज्ञा करते। पर एक दिन भी वे यह इच्छा पूरी न कर सके। और अपनी आशा लिये ही मिट्टी में मिल गये। खेलावन पहले तो कुछ भी नहीं समझता था पर जब ब्याह हुआ, बहू आई उमर बढ़ी, जवानी चढ़ी और अपने ऊपर बोझ आया तब उसने सब समझा। पहले तो वह समझता था उसके पिता लाना ही नहीं चाहते गाय। पर अब उसने समझा कि इस देश में ग़रीब मज़दूर के लिये जिसके पास एक हाथ खेत तक न हो गाय ख़रीदना और उसका पालना असम्भव होगया है। तब से उसने कभी अपने पिता से गाय के लिये नहीं कहा। पर उसके पिता सर्वदा, अपने जीवन भर एक गाय दरवाज़े पर बाँधने का प्रयत्न करते रहे। फिर भी उनकी इच्छा पूरी न हो सकी।

उनकी मृत्यु के बाद जब खेलावन ने गृहस्थी सँभाली और नई सन्तानों का पिता हो गया तब उसकी फिर इच्छा हुई, दरवाज़े पर एक गाय बँधी रहती तो कितना अच्छा होता।

आज चार साल से, जबसे उसके पुत्र ने बछिया के लिये कहा, तब से वह पैसे जमा करने पर लग गया। हर महीने बड़ी कठिनता से दो चार पैसे बचा पाता और इस तरह उसने चार रुपये जुटा लिये थे। उसने कमर कस ली थी चाहे जैसे हो एक बछिया बाँधनी ही होगी। आज अपने पुत्र की बात सुनकर खेलावन ने सोचा, चाहे जैसे हो एक गाय लाना ही होगा। नहीं होगा तो कहीं से उधार रुपये लेकर लाऊँगा, पर अपनी अभिलाषा, अपने पिता की अभिलाषा, अपने पुत्र की अभिलाषा पूरी किये बग़ैर न रहूँगा।

× × ×

इस तरह एक वर्ष व्यतीत हो गया; किन्तु खेलावन की चाह पूरी न हो सकी।

इसी समय एक दिन कुछ पठान रुपया वसूल करने आ पहुँचे। खेलावन के घर के पास ही एक

किसान ने रुपये ले रक्खे थे। तीन साल हो गये थे पर वह देने में असमर्थ था। हर साल किसान सूद वसूल कर ले जाते पर इस साल उन सब ने कमर कस ली थी कि रुपये वसूल करके ले जायेंगे!

"रुपये देता है कि नहीं!" दरवाज़े पर बैठता हुआ लाठी ठोक कर उनमें से एक बोला।

"दे दूँगा भइया, कोई सिरसों छोड़कर भाग तो जाता नहीं हूँ।"

खेलावन का पड़ोसी खेलू बोला।

"हम यह सब नहीं जानते, तुम देगा कि नहीं?"

"देंगे क्यों नहीं?"

"देगा तो; पर हम अभी लेंगे।"

"पर अभी हम नहीं दे सकेंगे। कुछ रोज़ की मुहलत दो भइया, हम लोग ग़रीब आदमी हैं, बन्दोबस्त होने पर दे देंगे।"

"नहीं देगा तो हम तेरी यह बछिया ले जायेगा।"

"जैसी तुम्हारी मर्ज़ी।" कह खेलू ने एक साँस ली।

गाँव में इन पठानों से सभी डरते थे, इसी कारण वे जो कुछ कहते, जितना अत्याचार करते सहना पड़ता। सब जानते थे उनकी सख़्ती और अत्याचार को। फिर भी कभी कभी भूखों मरने से तो उधार लेना अच्छा है यह सोचकर लेना ही पड़ता।

पठानों को देखकर गाँव के और लोग भी आ गये। लोगों ने कहा—अरे भाई, किसी को लेना हो तो गाँव ही में ख़रीद ले बछिया। नहीं तो ये तीन ही रुपये के लिये इसे खोल ले जायेंगे।

अन्त में पञ्चायत हुई। सात रुपये दाम तय हुये और खेलावन ने छः रुपये देकर, एक रुपया फिर कभी देने का वादा किया।

खेलू ने आँखों में आँसू लेकर बछिया का पगहा खेलावन के हाथ में दे दिया। खेलावन का हृदय बाँसों उछल रहा था। बछिया दस से कम की नहीं थी। फिर उससे बढ़कर बात तो आशा की पूर्ति थी। आज उसकी बहुत दिनों की आशा पूरी हुई।

बछिया को लेकर खेलावन दरवाज़े पर पहुँचते ही बोला "अरे ओ बुद्धू की माँ, यह लो बछिया आई है, पूजा कर लो।"

बुद्धू की माँ पहले ही से नहा धोकर तैयार हो गई थी। गोबर, सिन्दुर इत्यादि लेकर उसने पूजा की, फिर एक खूँटा गाड़ कर बछिया बाँध दी गई।

बुद्धू तो देखते ही पागल हो उठा—प्रसन्नता से। उसे ऐसा प्रतीत होता मानो उसके पर लग गये हैं और वह उड़ता चला जा रहा है।

खेलावन की स्त्री ने एक पैसे का तेल ख़रीदा। और उस रोज़ तेल लगाकर रोटी बनी। कैसे न बनती, इतनी बड़ी बात हुई। भगवान ने वह चीज़ दिखाई जिसके लिये घर के पुरखे तरसते ही रह गये थे! और उसी रात बड़ी देर के बाद उसका नाम रख दिया गया—नन्दी।

× × ×

बुद्धू को तो मानो और कोई काम ही नहीं था। बस नन्दी को खिलाना, उसी के पीछे घूमना यही उसका काम हो गया। प्रातः उठते ही कहता—"नन्दी!" छोटी सी बछिया अपना मुँह उठाकर उसकी तरफ़ देखने लगती। उसके पास आकर बुद्धू कहता—"क्यों नन्दी, रात अच्छी तरह सोई थी न?"

गाय उसकी तरफ़ देखने लगती।

बुद्धू जल्दी से घास वग़ैरह रख देता। जब नन्दी खा लेती तब वह कहीं कुछ खाता पीता। फिर नन्दी को लेकर चराता। पहले तो वह स्कूल भी जाता था पर अब नन्दी के कारण उसने सब कुछ छोड़ दिया था। ऐसा प्रतीत होता मानो बुद्धू नन्दी के बग़ैर जीवित ही नहीं रह सकेगा।

और नन्दी भी जब उसे देखती आकर उसके पास खड़ी हो जाती। बुद्धू उसके सिर पर हाथ फेरने लगता।

बुद्धू पूछता—"अच्छा दादा, नन्दी कब बच्चा देगी?"

"जल्दी ही बेटा, एक दो साल में।"

"फिर तो दादा, ख़ूब दूध खायेंगे!"

"हाँ, क्यों नहीं बेटा!"

"अच्छा काका, नन्दी का बच्चा भी ऐसा ही सुन्दर होगा नन्दी की तरह!"

"हाँ बेटा, उससे भी सुन्दर।"

"तब तो बड़ा अच्छा रहेगा।"—कहकर वह नन्दी को पुचकारने लगा।

बुद्धू की माँ और खेलावन उसे बेटी की तरह मानते। बुद्धू की माँ तो कभी कभी कहती—"बेटा, भगवान ने मुझे बेटी नहीं दी थी। अब मुझे एक बेटी मिल गई—ऐसी बेटी जो घर छोड़कर कभी नहीं जायेगी।"

इस तरह स्नेह प्यार में दो वर्ष व्यतीत हो गये।

× × ×

बरसात के दिन बीत चुके थे। गुलाबी जाड़ा पड़ रहा था। खेतों में घास की कमी नहीं थी। नन्दी ख़ूब मौज से घूम घूम कर घास चरा करती। सिरसों गाँव गोरखपुर के निकट, क़रीब एक कोस पर है। बुद्धू कभी कभी नन्दी को चराते चराते गोरखपुर सड़क के पास शहर तक पहुँच जाता। उसके साथ और भी चरवाहे होते; वहाँ वह सड़क के बाहर आती हुई मोटरों को देखता।

एक दिन इसी तरह सन्ध्या को चराते चराते वह सड़क के पास बैठा हुआ था। नन्दी और भी गायों के साथ सड़क के नीचे चर रही थी। इसी समय एक साहब और मेम एक कुत्ते को लिये गिटपिट करते चले आ रहे थे।

कुत्ते ने गायों को देखा, फिर भों भों करता हुआ उनकी तरफ़ दौड़ा। नन्दी सबसे निकट थी। वह उस पर टूट पड़ा। नन्दी भागी। भागते भागते सड़क पर आ खड़ी हुई। बुद्धू ने यह सब देखा और मारे ग़ुस्से के उसने कुत्ते पर अपनी लाठी चला ही तो दी।

लाठी कुत्ते के पाँव में लगी, वह भों भों करता हुआ और भी नन्दी की तरफ़ दौड़ा। नन्दी ने उसे देखा और वह सड़क के ऊपर दौड़ने लगी।

इतने में साहब भी पास ही आ पहुँचे। उन्होंने अपना हन्टर उठाया और दो तीन हन्टर बुद्धू की पीठ पर जमा दिये। बुद्धू एक टक साहब बहादुर की तरफ़ देखने लगा। साहब कहता जा रहा था—तुम हमरा कुट्टा को मारटा है। हम टुमे जेल भेज देगा।

इतना कहकर साहब आगे बढ़ गया।

बुद्धू एक टक उसकी तरफ देख रहा था। उसकी हिम्मत नहीं हुई कि वह कुछ बोले।

इसी समय बुद्धू ने देखा—दूर से एक फट फट गाड़ी चली आ रही है, उस पर एक साहब बैठा है। नन्दी भी भाग रही थी कुत्ते के भय से। उसी समय मोटर नन्दी से लड़ने लड़ने को हुई। बुद्धू ने देखा, चिल्लाया और बेतहाशा उसी की तरफ़ दौड़ा। वह अपनी सारी मार भूल गया। नन्दी किनारे खड़ी थी फिर भी साहब की मोटर-साइकिल उससे टक्कर खा गई और नन्दी धम से सड़क के नीचे गिर पड़ी।

साहब गिटपिट करता उतरा और पास के पुलिस-मैन से बोला—"टुम क्या कर रहा है? डेखटा नहीं यह? इसका नाम नोट कर लो। इसको हम सज़ा देगा।"

पुलिसमैन सब कुछ देख रहा था। वह जानता था कि साहब नशे में है। उसके मुंह से साफ़ शराब की बू आ रही थी। फिर भी सिपाही काँपता हुआ बोला—जी सरकार!

साहब भों भों करता हुआ आगे बढ़ गया।

बुद्धू दौड़ा दौड़ा नन्दी के पास जा खड़ा हुआ। उसका सिर गोदी में रखकर रोने लगा "नन्दी! आह मेरी नन्दी को साहब ने मार डाला।"

बुद्धू चिपक कर फूट फूट कर रोने लगा। ऐसा प्रतीत होता मानो उसका कोई सगा मर गया है। उसकी आँखों से आँसुओं की धारा प्रबल वेग से बह रही थी।

इसी समय सिपाही ने आकर बुद्धू को दो तीन तमाचे लगाये और बोला—"बेवकूफ़ तुम लोग सड़क

पर गाय चराते हो ! भागो यहाँ से !" और बुद्धू का नाम नोट कर सिपाही चलता बना ।

बड़ी कठिनता से उसके साथियों ने उसे वहाँ से हटाया और नन्दी की लाश को टाँग कर घर लाये !

× × ×

बुद्धू ने उसी दिन चारपाई पकड़ ली । तीन दिन हो गये ! कभी कभी उसे होश आता और बोलता "नन्दी !"

खेलावन अपने आँखों का आँसू रोककर कहते "क्या है बेटा !"

बुद्धू की चेतना लौट आती पूछता—'दादा, नन्दी को चमारों को तो नहीं दिया न !'

"नहीं बेटा ! नहीं बेटा ! अपनी बेटी को भी चमारों को दूँगा ! उसे मैंने गाड़ दिया है ! जल्दी अच्छे हो जाओ, बेटा ! उसका श्राद्ध भी करूँगा ! बेटी थी न ! दो चार ब्राह्मण भी खिलाना ही पड़ेगा।" खेलावन आँसू रोककर कहता ।

अचानक बुद्धू बोल उठता "गाड़ दिया ! राम राम कैसे रहेगी नन्दी वहाँ ! चलो न दादा, देख लें ज़रा नन्दी को ।"

खेलावन आँसू रोककर कहता—दूसरी नन्दी ला देंगे बेटा !

बुद्धू चिल्ला उठता "दूसरी ! और मेरी नन्दी, नन्दी कहाँ है ? ओह ! हाय नन्दी !" और वह बेहोश हो जाता !

एक महीने तक बुद्धू बिस्तर से न उठा। खेलावन और उसकी स्त्री ने जी जान से कोशिश की पर वे बुद्धू को न बचा सके—एक दिन बुद्धू उन्हें छोड़कर चल बसा !

बुद्धू और नन्दी का श्राद्ध एक ही दिन हुआ।

× × ×

इस घटना को हुए पचासों वर्ष हो गये हैं पर आज भी यदि कोई सिरसो गाँव में जाय तो उसे रात को किसी की आवाज़ सुनाई देती है- "नन्दी !"

फिर कोई कहता है "साहब ने मेरी नन्दी को मार डाला ।"

गाँव के लोगों ने भूत समझकर कितनी ही पूजा चढ़ाई पर यह आवाज़ आज तक बनी हुई है और आज भी यही आवाज़ अन्धेरी रात में कई बार सुनाई देती है ।

कौन जाने कौन बोलता है !

सर्व धर्म समभाव

हिन्दुओं से मेरा कहना है कि तुम हर दिन पूजा करते हो तो करो, पर एक दिन, शुक्रवार को, ज़रा नमाज़ का मज़ा भी तो लो, रविवार को गिरजाघर की प्रार्थना में भी तो शामिल हो जाओ। तुम्हारा ईश्वर आजकल की अपेक्षा उस समय ज़्यादा ख़ुश होगा। इसी प्रकार मैं मुसलमानों से कहता हूँ कि हर दिन एक सी नमाज़ पढ़ते पढ़ते तुम्हारा दिल नहीं ऊबता ? ज़रा 'पूजा' और 'प्रार्थना' का मज़ा भी तो चखो, देखोगे कि अल्लाह तुम्हारी इस उदारता से दूना ख़ुश हो गया है, क्योंकि तुमने उसे आज की अपेक्षा ज़्यादा महान रूप में देखा है । इसी तरह ईसाइयों से कहता हूँ कि नमाज़ और 'पूजा' में शामिल होने से 'प्रार्थना' का स्वाद बढ़ जायगा ।

हिन्दुस्तान का यह बड़ा सौभाग्य है कि यहाँ हिन्दू, मुसल्मान, ईसाई, जैन, बौद्ध, पारसी आदि अनेक मज़हब हैं । यहाँ के नागरिकों को धर्म की थाली से अधिक से अधिक व्यंजन बड़ी सरलता से मिल सकते हैं । मैं इसे सौभाग्य समझता हूँ जबकि बहुत लोग इसे दुर्भाग्य समझते हैं—स्वामी सत्यभक्त (वर्धा) ।

जीवन-गति

"विनोद"

जीवन में गति, गति में जीवन, जीवन का सतत प्रवाह रहा।
रुक रुक आगे, आगे बढ़ना, जीवन में सबल उछाह रहा।
रजनी-सी मृत्यु इधर आई, ऊषा-सी अभिनव चाह लिये।
मादक पराग बिखराता-सा आया प्रभात नव-राह लिये।
नव-नव अरुणोदय से पुलकित बहती नव-जीवन की धारा।
अम्बर-चुम्बित जीवन-गति को कब रोक सकी भीषण कारा?

नभ मुक्त, मुक्त गतिमान पवन, प्राणों के स्पन्दन मुक्त चले।
मानस की मुक्त विचार-विचि, जीवन अभिनन्दन मुक्त चले।
जीवन की नव-भंगिमा लिये, नव-यौवन-गरिमा मुक्त चले।
नव-राष्ट्र-चेतना लिये सजग, नव मानव-महिमा मुक्त चले।
मुक्त मानवी धारा में प्लावित वसुधा का क्रम सारा।
अम्बर-चुम्बित जीवन-गति को कब रोक सकी भीषण कारा?

कुछ उलट पुलट, कुछ कुछ हलचल हाहाकारों में लीन हुई।
सुख का सम्भार लिये तृष्णा अपने पापों में पीन हुई।
मिट्टी के छूछे पुतलों में आई नव-यौवन अँगड़ाई।
नीलिमा गगन की लुप्त हुई, अम्बर में भू की लौ छाई।
उन्मुक्त गगन में गूंज उठा मानव विमुक्ति का नव-नारा।
अम्बर-चुम्बित जीवन-गति को कब रोक सकी भीषण कारा?

जो मृत्यु-अमरता दोनों से नित आँखमिचौनी खेल रहे।
अपने प्राणों के दीप जला, जो पवन थपेड़े झेल रहे।
पीड़ा जिनकी सहचरी, बुभुक्षा से जिनका अपना नाता।
आँखों में अजब खुमारी ले, जिनको हँस हँस मरना भाता।
उन अग्निपूत अवधूतों को कब मलिन कर सकेगी कारा?
अम्बर-चुम्बित जीवन गति को कब रोक सकी भीषण कारा?

नैनीजेल
बसन्त पञ्चमी
फ़रवरी १९४३ ई०

सम्प्रदाय और साम्प्रदायिकता

श्री रघुवीरशरण दिवाकर

दुनिया तो दुनिया, आज हिन्दुस्तान में ही ढेरों सम्प्रदाय हैं। यूं राजनीति के क्षेत्र में हिन्दुओं को एक सम्प्रदाय कहा जाता है, मुसलमानों को दूसरा और ईसाइयों को तीसरा, लेकिन सच यह है कि इनमें से हर एक अनेक सम्प्रदायों का समूह है। अकेला हिन्दू समाज ही दर्जनों बल्कि कोड़ियों सम्प्रदायों में बँटा हुआ है। यही हाल कुछ कम या ज़्यादह सबका है। जहाँ देखिए यही गड़बड़-घुटाला है।

अन्त यहीं तक नहीं है; सम्प्रदायों का जन्म अब भी चालू है। बरसाती मेंढकों की तरह यहाँ आये दिन सम्प्रदाय पैदा होते रहते हैं, जीते हैं और मर जाते हैं। ऐसे सम्प्रदायों की भी यहाँ कमी नहीं है जो कहने को तो ज़िन्दा हैं पर सचमुच मुर्दा हैं। बहुत से सम्प्रदाय तो ऐसे मर चुके हैं कि आज उनका न कोई नाम-लेवा है, न पानी देवा, मानो उन्होंने कभी जन्म ही नहीं लिया था। पर अभी हाल-ही में एक दो नहीं कई सम्प्रदायों ने भारतभूमि पर पदार्पण किया है। यह सब देखकर सहज ही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आख़िर सम्प्रदायों की यह बहुतायत क्यों? उत्तर सरल है। हिन्दुस्तान संसार के सबसे प्राचीन सभ्य देशों में है। कितने ही तरह के समाज-विधानों का यहाँ अनुभव प्राप्त किया गया। फिर अनेक कारणों से सदियों से हिन्दुस्तान अत्यधिक दार्शनिक रहा है, उसकी यह आदत होगई कि बैठे बैठे ज़मीन आसमान के कुलावे मिलाया करे। उसकी कल्पना की उड़ान बेढंगी होती गई। इसका परिणाम यह हुआ कि नए-नए दर्शन गढ़े जाते हैं, नई नई 'थ्योरियाँ' बनाई जाती हैं, नए-नए 'वाद' खड़े किए जाते हैं और एक-एक को लेकर बनाए जाते हैं सम्प्रदाय।

फिर जब अधर्म का नग्न ताण्डव धरातल पर भयंकर रूप से होने लगता है और अन्याय व अत्याचार की चक्की में पिसकर मानव-समाज त्राहि त्राहि कर उठता है, तब जनकल्याण के लिए आगे आती है कोई महान् आत्मा! वह अपने सेवा, त्याग, और तपस्या से समाज को जगाकर उसका उद्धार करती है, उसे नवजीवन देती है। जीवन-भर उसे संघर्ष करना पड़ता है, विपत्तियों, विरोधों और अन्यायों का मुक़ाबला करना पड़ता है। इसके लिए उसे सहारा लेना होता है किसी न किसी प्रकार के संगठन का ही। वह विशेष संगठन बनाता है और उसका पीठबल पाकर आ डटता है मैदान में। जीवन के अंतिम क्षण तक एक सच्चे योद्धा की तरह लड़ते-लड़ते वह अपने प्राणों तक का विसर्जन कर देता है। उसके बाद उसके संगठन को एक सूत्र में बाँधकर रखने वाला कोई रहता नहीं है और न किसी ऐसे नेता के प्रति सब कुछ समर्पित करके निश्चिन्त रहने का वहाँ कोई सहारा ही रह पाता है। बस, इस हालत में उस संगठन में परिवर्तन होता है, तेज़ी के साथ उलटफेर होता है और जल्दी ही वह सम्प्रदाय का रूप धारण कर लेता है। पर किसी भी महात्मा ने कभी किसी संगठन का निर्माण इसलिए नहीं किया कि वह सम्प्रदाय का रूप धारण करके एक ही हालत में जम कर बैठ जाय। बहुत ज़रूरत होने पर किसी ने सम्प्रदाय बनाया भी है तो उसकी रूप-रेखा ऐसी रही है कि आवश्यक विकास के लिए पूरी गुंजाइश हो। बलिदान, त्याग और तपस्या की इस देन पर खड़ा होने वाला सम्प्रदाय उस दिवंगत महात्मा के पुण्य बल से काफ़ी काम करता है, मनुष्य जीवन को बहुत कुछ दे पाता है। लेकिन ऐसे सम्प्रदाय बहुत ही विरले होते हैं। दुनिया भर में भी देखे जाँय तो वे उँगलियों पर गिनने लायक़ ही निकलेंगे। बाक़ी की कुछ न पूछिए। शायद उनकी गिनती असाध्य नहीं तो कष्ट-साध्य अवश्य है। पर उनकी नींव बड़ी खोखली होती है। ऊपर बताए हुए सम्प्रदायों की

देखा देखी कोई भी ऐरे-ग़ैरे-नत्थू ख़ैरे छोटी-छोटी सी बात पर या अपने निम्न स्वार्थ के लिए एक सम्प्रदाय बना बैठते हैं और उसके जन्म का औचित्य बताने के लिए किसी न किसी उद्देश्य का बहाना ढूंढ़ लेते हैं। वहाँ न सेवा की, भावना होती है न त्याग की, वहाँ तो नेतृत्व और यश की भावनाएँ और वैयक्तिक महत्वाकांक्षाएँ ही खेल खेलती हैं।

जैसा कि ऊपर बताया गया है किसी किसी सम्प्रदाय के पीछे पुण्य-बल होता है और बहुतों के पीछे नहीं। इस पर से हम यह तो समझ सकते हैं कि कौन किस में श्रेष्ठतर है ? पर जहाँ तक इस बात का प्रश्न है कि वे सम्प्रदाय होने से हेय हैं, दोनों एक ही कोटि में आ जाते हैं। संगठन जब सम्प्रदाय का रूप धारण कर लेता है तब उसका गौरव लुप्त-विलुप्त हो जाता है, भले ही उसके पीछे कोई भी पीट बल रहा हो।

जैसा कि कहा जा चुका है, हर एक सम्प्रदाय कोई न कोई बहाना लेकर दुनिया को अपना मुंह दिखलाया करता है। कोई कहता है वह मनुष्य को परमात्मा से मिला देने के लिए आया है, कोई आत्मा को परमात्मा बना देने का दावा करता है, कोई स्वर्ग-बहिश्त व मोक्ष-निजात का पासपोर्ट देने का आश्वासन देता है, कोई मानव और मानव समाज को सब तरह सुखी और समृद्धशाली बनाने की शेखी मारता है। इस तरह जितने भी सम्प्रदाय हैं उतनी हो बातें सुनने को मिलती हैं। पर सच यह है कि सभी सम्प्रदाय प्रेम की दुहाई देते हुए भी मानव-समाज में फूट, कलह और द्वेष का बीज बोते हैं, मानव समाज को छोटे छोटे टुकड़ों में बाँध कर ग़ुलाम बनाते हैं, मानवता को खण्ड खण्ड कर क्षत-विक्षत कर डालते हैं।

किसी भी सम्प्रदाय से पूछो वह यही बतायगा कि उसमें साम्प्रदायिकता नहीं है। कोई कोई उनमें ऐसा दावा करने का भी साहस कर सकता है कि वह तो साम्प्रदायिकता को मिटाने के लिए ही आया है। वह यह स्वीकार ही नहीं करता कि 'असाम्प्रदायिक सम्प्रदाय' 'वदतोव्याघात' (Contradiction in terms) के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। उन्हें अपना पारस्परिक विरोध दिखाई ही नहीं देता।

सम्प्रदायों का यह असम्प्रदायिकता का दावा यहाँ तक ज़ोर पकड़ गया है कि वे विश्वप्रेम, मानवता की सेवा तथा मनुष्यत्व के उत्थान आदि की भी लच्छेदार बातें करने से नहीं चूकते, और अपने साम्प्रदायिक रूप की सफ़ाई में सहारा लेते हैं संगठन-तत्व का। संगठन के नाम का यह कैसा दुरुपयोग है ?

संगठन का गौरव अपनी अपनी डेढ़ डेढ़ ईंट की अलग अलग मस्जिद बनाने में नहीं है। संगठन का महत्व एक अलग दल बनाकर अपनी सारी प्रवृत्तियाँ, शक्तियाँ और मनोवृत्तियाँ उस दल को समर्पित करने में नहीं है। वास्तव में संगठन की सार्थकता दूसरों का सहारा लेकर तथा दूसरों को सहारा देकर उस उद्देश्य की ओर बढ़ने में है जो अपने को और दूसरों को, दोनों को प्रिय है। जहाँ ऐसा न हो, बल्कि कोई साधारण उद्देश्य जीवन को जकड़ ले, मनुष्य की सब वृत्तियों और प्रवृत्तियों को बाँध ले, मनुष्य की सभी भावनाओं और विचार-धाराओं को ढँक ले, वहाँ वह विकृत हो जाता है। वहीं वह संगठन आत्म-समर्पण का—ग़ुलामी का—रूप धारण कर लेता है। जहाँ तक वह संगठन उस ध्येय को छोड़कर शेष से कोई टक्कर न ले वहीं तक वह औचित्य की सीमा के भीतर है। तभी तक मनुष्य उस ध्येय की ओर बढ़ता है और उसके लिए संगठन का अधिक से अधिक सहारा लेता है। इससे आगे बढ़ने पर मनुष्य ध्येय की ओर से उदासीन होकर, सम्प्रदाय-संगठन के बन्धनों में बँधकर, अपने जीवन को नष्ट कर देता है।

जीवन अनेक प्रवृत्तियों का समूह है। एक ही जगह सब प्रवृत्तियों को ठूस देने से वे वहाँ जकड़ कर बँधकर रह जाती हैं, उनका विकास नहीं हो पाता है। सबको काँट छाँट कर उस जगह फिट करने में जो एक वहाँ फिट होती है उसको छोड़कर बाक़ी सब की मृत्यु हो जाती है। सबके विकास व सदुप-

योग के लिए यह ज़रूरी है कि एक या एक-सी प्रवृत्तियों के लिए एक संगठन हो, दूसरी प्रवृत्तियों के लिए दूसरे संगठन हों। इससे हर प्रवृत्ति विकसित होगी, जीवन के सभी अंगों में प्रगति होगी और कभी कहीं उनमें टक्कर होने की सम्भावना नहीं रहेगी। तब इस बात की ज़रूरत नहीं होगी कि उन्हें काँट-छाँट कर एक ही जगह फिट किया जाय। अपने पर अत्याचार करने का उस समय प्रश्न ही नहीं रहेगा। जहाँ जो प्रवृत्ति फिट होगी, वहीं उसे फिट किया जायगा। तब जिस तरह शरीर के विभिन्न अवयव अपने अपने अनुरूप कार्य करते हुए भी—अलग अलग तरह की प्रवृत्तियों में लगे रहकर भी—एक मानव शरीर का निर्माण करते हैं, ठीक उसी तरह जीवन की विभिन्न प्रवृत्तियाँ अपने अपने अनुरूप अलग कार्य करते हुए भी एक मानव जीवन का निर्माण करेंगी।

उपर्युक्त पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि कोई भी सम्प्रदाय हो, उसमें साम्प्रदायिकता न होनी चाहिए। पर सम्प्रदाय हो और साम्प्रदायिकता न हो, यह हो नहीं सकता—ठीक जिस तरह यह नहीं हो सकता कि पशु हो पर उसमें पशुत्व न हो, शैतान हो पर उसमें शैतानियत न हो।

इस बात को ज़्यादह स्पष्टता से समझने के लिए सम्प्रदायवाद की कुछ मौलिक त्रुटियों पर एक नज़र डालना अनुपयुक्त न होगा—

(१) हर एक सम्प्रदाय तर्क और युक्ति की दुहाई देता है, वह कभी यह नहीं कहता है कि तुम आँख मीच कर जो वह कहे मानो, पर सच यह है कि उसके संगठन का महल खड़ा ही मानसिक ग़ुलामी पर होता है। आत्मसमर्पण सम्प्रदाय का मूल मन्त्र है। शब्दों में नहीं, पर कार्य में वहाँ अन्धश्रद्धा व अन्धानुकरण की ही सीख दी जाती है, वहाँ दिल और दिमाग़ को मज़बूती के साथ जकड़ दिया जाता है। वहाँ हर समय यही नीयत रहती है कि किसी जाल में ज़्यादह से ज़्यादह मछलियाँ फाँसी जायँ।

(२) हर एक सम्प्रदाय अपने ज़माने की किसी न किसी बड़ी समस्या को सुलझाने का दावा करता है। जिसका दावा झूठा है उसको तो जाने दीजिए, पर जिसका दावा सच्चा है उसके लिए भी यही कहना न्याययुक्त होगा कि उसने एक समय मानव समाज का कल्याण किया, पर साथ ही यह कहना भी अन्याय युक्त नहीं होगा कि वह अमुक समय तक कल्याण करते रहने के बाद फिर अकल्याणकारी बनता चला गया, सुख शान्ति बढ़ाते रहने के बाद उसे घटाने लगा। नतीजा यह होता है कि एक समय ऐसा आता है कि जब सुखशांति के धन की अपेक्षा सुखशांति का ऋण बढ़ जाता है और सामूहिक रूप से सम्प्रदाय एक अभिशाप ही सिद्ध होता है। इस स्वरूप-परिवर्तन का कारण यही है कि सम्प्रदाय में ज़माने के साथ बदलने की ताक़त नहीं होती रूढ़ियों की ग़ुलामी और लकीर की फ़क़ीरी उसे आउट-आफ़-डेट बना देती है। वह 'स्थिर स्वार्थों' में जकड़ जाता है।

(३) सम्प्रदाय की एक आदत बहुत ही ख़राब है। वह जिस उद्देश्य को लेकर खड़ा होता है उसकी तरफ़ ही ध्यान देकर उस मिशन को सफलीभूत करने की जगह हर जगह अपनी टाँग अड़ाया करता है। कोई भी विषय हो, जीवन की कोई भी प्रवृत्ति हो, उस पर वह अपना अधिकार जताया करता है। इतिहास, भूगोल, दर्शन, राजनीति, अर्थशास्त्र, भाषा, लिपि आदि सभी विषयों को लेकर वही 'अपने मुंह मियाँ मिट्ठू' बना करता है क्योंकि उसमें यह अहङ्कार स्वभावतः आ जाता है कि वह मानव जीवन की सारी समस्याओं को सुलझाने का ठेकेदार है।

(४) हर एक सम्प्रदाय ने मानव जीवन की प्रधान समस्या को—रोटी के सवाल को—गिरी हुई नज़रों से देखा है। उसकी यह कोशिश रही है कि मनुष्य कभी इस प्रश्न को मुख्य रूप न दे। वह इसे भौतिक प्रश्न कहकर इसकी निंदा करता है और इसके फलस्वरूप आध्यात्मिक प्रश्नों में उलझ कर

[illegible] है। [illegible] के प्रश्न पर नाक भौं सिकोड़ना उसके लिए फ़ैशन हो गया है। यह बात ज़रूर है कि जिन सम्प्रदायों ने हाल ही में जन्म लिया है उन्होंने इस प्रश्न की इतनी उपेक्षा नहीं की है पर रखा उन्होंने भी इस मुख्यतम प्रश्न को गौण ही है।

(५) हर एक सम्प्रदाय क्रियाकाण्ड को महत्व देता रहा है। क्रियाकाण्ड के पीछे भावना हो या न हो पर क्रियाकाण्ड ज़रूर होना चाहिए—ऐसी उसकी नीति रही है। इसका परिणाम यह होता है कि भाव नष्ट हो जाते हैं, निर्जीव क्रियाकाण्ड आने वाली सन्तानों के गले पड़ जाते हैं।

इस तरह की बहुत सी बातों को लेकर सम्प्रदाय का चरित्र-चित्रण किया व समझा जा सकता है। मूलभूत नीति सब की एक सरीखी है।

पता नहीं यह मानव समाज कब इन सम्प्रदायों के चंगुल से छूटेगा, कब वह साम्प्रदायिकता के बन्धन को तोड़कर मानवता के उद्यान में सुख और शान्ति के फल-फूल उगायेगा। पर यह युग सम्प्रदायों की संकीर्ण धाराओं का विरोधी और विश्व की व्यापक धाराओं की ओर उन्मुख है। अतः यह तो निश्चित है कि रंग, वर्ण, धर्म आदि के भेद भावों को तोड़कर सम्पूर्ण एशिया, यूरोप आदि के संगठनों का बोल बाला हुए बिना न रहेगा। यहाँ के सम्प्रदायों के दिन भी गिने गिनाये हैं। पर कुछ करना चाहिए।

अनाम स्वामी

श्री जैनेन्द्रकुमार

[मर पी० दयाल के साथ अनाम स्वामी की विवेचना और भी गहनतर होती आरही है किन्तु मानव-जीवन और मानव-समाज के आधारों को जानने-समझने के लिए यह आवश्यक है]

(७)

आज बात कुछ सूक्ष्म हो गई। जाने जीव-ब्रह्म और व्यष्टि समष्टि पर वह कैसे आ गयी। अब तो उसके आदि को मैं ध्यान में नहीं ला पाता हूँ। शायद मैंने उनके अतीत के विषय में पूछा था। जानना चाहता था कि मृणाल बुआ उन्हें कैसे मिलीं। पर वह कब हाथ में आने वाले हैं। मैंने तब शायद छेड़ा कि क्या किसी को यहाँ अपने को दुष्प्राप्य बनाने का हक़ आता है?

याद पड़ता है, इसी पर उन्होंने कहा कि एक बूंद दूसरी को न पा सके, समुद्र को तो दोनों ही एक साथ प्राप्त हैं। और वहाँ वे परस्पर प्राप्त भी हैं। इससे आपकी उत्सुकता दुर्गुण है।

ध्यान लगता है कि यहीं से बात दुरूह हो चली। मैंने आपत्ति की कि समुद्र को बूंद की व्यथा का क्या पता? वह समुद्र से सहानुभूति की अपेक्षा नहीं रख सकती। वह उसमें खो जाने को है। समुद्र के मान में बूंद है तक नहीं। अब हम हैं बूंद से भी कम, परम-अणु। अपने से अणु के प्रति ही हममें क्रिया-प्रतिक्रिया न हो तो क्या हो। हमारा कर्त्तव्य हम जैसों के प्रति से आगे कहाँ? जिसकी कोटि एकदम भिन्न है, उस सत्ता के साथ हमारा राग कैसा? इसलिए क्या हममें से हर एक पर हर दूसरे का ही हक़ नहीं है? यह चाहकर कि समष्टि का होऊँ, पड़ौसी के प्रति मैं दुष्प्राप्य बन चलूँ तो क्या यह मेरा दोष ही न माना जायगा? मैं क्यों न मानूं कि आदमी पर आदमी का हक़ पहिले है, ईश्वर का बाद में!

बोले, "सो तो ठीक। पर हृदय तो वस्तु नहीं कि दूसरे को दी जा सके। दी भी जाय तो भी मुट्ठी में लेना कैसे हो? इसलिए दो व्यक्तियों के बीच मिलने को चिरकाल कुछ शेष रहेगा ही। दो होकर वे अपनी ही इकताई को कैसे पा लेंगे? इसी से प्रेम

वियोग में फलता, संयोग में उजड़ता है। हम समझ सकते हैं भेद को। अभेद तो अनुभव में ही उतरेगा। जो है, वह इससे कहने-सुनने से परे है। कहकर कितना मैं जतला सकूं? असल कहीं शब्द में बँधा है? इसलिए वैसा प्रयत्न ही वृथा है। सचाई आप मिलती है। कह सुनकर उसकी प्राप्ति में अड़चन ही पड़ती है। तभी तो जो नहीं है उस झूठ को अपने होने का हरदम दम भरते रहना होता है और जो है उस सच के होने का ही बड़े प्रयत्न से आविष्कार करना होता है। तभी तो प्रेम मौन है और ईश्वर की भाषा कानों नहीं सुन आती। शब्द सुनना रुक जाता है तब बिना वाणी की वह भाषा अनसुने सुन जाती है। इससे यह नहीं कि व्यक्ति अपने को बन्द रखने की सोचे। पर खोलने की सोचना भी उतना ही अनावश्यक है। यथावश्यक आपही होता है। भीतर के सद्भाव को क्या बाहर खोलकर बिछाया जाय? यह तो उसके सत् होने में कुछ असत् भी होने का प्रमाण हो जायगा। छाती ठोक कर जो एतबार जतलाना चाहते हैं, वे अपनी बेएतबारी ही बतलाते हैं। इसी से कहता हूँ कि बन्दे के हाथ यही है कि मालिक के आगे खुला रहे। किसी और के लिए तो वह अपने जिस्म से ही बन्द है। वह इसमें लाचार है। अपना दिल चाहे तो भी कोई कैसे दिखलाए? कान, आँख की तरह दिल बाहर नहीं, सो क्यों? चाहे तो कहो कि आदमी की निगाह उस जितनी नहीं दी गई है या कहो हृदय निगाह से परे रहकर ही हृदय है। हर हालत में एक की आत्मा दूसरे को रहस्य रहेगी। यह शुभ भी है। भीतर बाहर आये, यह अरुचिकर होना चाहिए। घाव खुला बुरा लगता है, और भीतर सब में घाव है। उसे कोई खोले क्यों? पट्टी उघाड़कर उसे दिखलाते फिरने में बेहया को भी हया आती है। कठिन है तो यही सबसे कठिन है। फिर दो के बीच टोपन जितना ही अन्तर नहीं है। सभ्यता अतिरिक्त भी अन्तर डालती है। हमारे कपड़े, हमारा घर, हमारी इज़्ज़त, हमारा कहा जाने वाला सभी कुछ उस अन्तर को बढ़ाता है। हम देह में बन्द हैं; देह कपड़ों में बन्द है। इस तरह हर एक की निगाह से हम अपने को दोहरा बन्द रखते हैं, तब सभ्य व्यवहार चलता है। खुलापन असभ्यता है। सभ्यता तरह-तरह के ढँकेपन का आविष्कार ही तो है। बात यह कि खुल कर भी बन्द रहे। यही खूबी, यही कला। यानी यहाँ व्यक्त अव्यक्त को ही व्यक्त करे। व्यक्त द्वारा मानो यही अभिव्यक्त हो कि जो अनभिव्यक्ति है, वही है। आकार निराकार के लिए है। सभ्यता के विकास के साथ लोग अपने को सहारना और इसलिये कम खोलना सीखेंगे। आशय यह नहीं कि उनमें परस्पर में हितैषिता न होगी, बल्कि मुखरता न होगी। तुम्हारी मृणाल बुआ ही बताओ तुम्हें अपना कितना कुछ कह गयीं। अपना दुख क्या वे किसी को देती फिरीं? क्या इसी की विवशता न थी कि तुम उनकी व्यथा को अभ्यन्तर में प्राप्त कर सके। यथार्थ तो निमित्त मात्र है। विगत अपने आप में कुछ नहीं। क्या तुम समझते हो कि सचाई यथार्थ को विगत में पायेगी? वैसा हो तो फाइलों में शोधक सत्य को खोजा करें! लेकिन देखते तो हो कि सचाई के लिए लोगों को अपने भीतर में ही खोजना हुआ है। इससे छोड़ो, अधिक न जानना चाहो। जानना परिग्रह बटोरना है। सामान की बहुतायत में आदमी के अन्दर की दीनता दीखती है। इसी तरह उत्सुकता में अज्ञान दीखता है।......"

ऐसे ही वह कहते गये। उनके शब्दों को पकड़ना मुश्किल है। तात्त्विकता से अनायासता पर वह बात ले आते हैं। तब दूर की नहीं, नित्य-प्रति के उपयोग की ही वह लगती है। उनकी उस क्षमता पर मुझे अचरज है। दूभर बात जैसे अपने घर-आँगन की हो रहती है। तत्व में जो गरिष्ठ हो, जीवन की होकर वह सरल लग आती है। मैं मानूं कि सरल लोगों को प्रिय नहीं। जटिल के हम इतने आदी हैं मानों सरल तो हमें और भी जटिल हो। इसी से पण्डित प्रकृत को नहीं ले पाता। असामान्य और अप्रत्यक्ष में जिसकी बेधड़क गति है सामान्य प्रत्यक्ष में वह खो रहता है। चक्कर के आदी हाने

पर सीधी गति समझ नहीं बैठती। कुछ यही मेरा हाल हो रहा है। नित प्रति के काज-व्यौहार की बात और माया के बीच व्यष्टि और समष्टि की समस्या मुझे खोई सी लगती है। लगता है कि व्यवहार अलग है, अध्यात्म अलग है। वैसी अलहदगी इन अनाम में नहीं दिखाई देती। विद्वान् की भाषा वह कम बोलते हैं। विद्वान् ने अपनी भाषा बनाई भी अलग है। वह रौब पर जीती है। वह जीवन की नहीं, विद्वता की है। राह बूझते आदमी को वह और भरमा सकती है। मैं भी अपनी गिनती उन बौद्धिकों में ही कर सकता हूँ। लेकिन मैं जान गया हूं कि बुद्धि के पास दिशा नहीं है, निर्णय नहीं, ऊहापोह ही है। इसी से जो निर्णीत है और जिसकी जीवन-गति में सुस्पष्ट दिशा है, ऐसा व्यक्ति बौद्धिकों के लिए पहेली है। वह उनके आश्चर्य और उपहास और व्यंग का विषय होता है। धीमे-धीमे वही उनके विवेचन, मनन, समर्थन और श्रद्धा का विषय हो जाता है! उसकी सहज बातें बौद्धिकों की व्याख्या और मीमांसा का विषय बनती हैं। सत्य का जिनमें प्राणस्पन्दन था, बौद्धिक फिर अपने तत्व का तथ्य उनमें बिठाते हैं। ऐसे ही जो सजीव है, उसे सयुक्तिक बनाया जाता है। अनुभूत चैतन्य को पीछे स्थिर व्यवस्था पहनायी जाती है।

मैंने कहा कि व्यक्ति में अहम की चेतना है। उत्तरोत्तर वह परिवार, समाज, राष्ट्र और जगत् को भी पहचान रहा है। पर इसके आकलन के लिए उसके पास अपनी निजी चेतना का माप ही है। समष्टि तक को अपने अहं के द्वारा ही वह ग्रहण कर सकता है। ईश्वर को अपने रूप में देखने को वह लाचार है। ऐसी हालत में यह कैसे सम्भव है कि वह अहं संचालित अपनी जैसी अन्य इकाइयों से निरपेक्ष रह सके! यानी समष्टि-तत्व हमारे लिए अनावश्यक ठहर सकता है। हमारे विचार का क्षेत्र तो आदमी है। मैं 'अहम' हूं। इस तरह जिनमें 'अहम' हो, उनको मैं समझ सकता हूँ, या कि उनमें 'अहम' डालकर मैं समझ सकता हूँ। सूरज को और चाँद को तभी लोगों ने देवता रूप में देखा। ईश्वर को भी व्यक्ति रूप में देखा गया। नहीं तो कोई अपरसत्ता किसी दूसरी तरह मानव की कल्पना में जुट नहीं पाती। अनिवार्य है कि जगत् को अनेक घटकों के संघट्ट रूप में हम देखें। अणु-अणु से खिचता, हटता या मिलता है। इसी विधि जगत् के नाना तत्वों, घटनाओं और व्यापारों को जन्म मिलता है। उनके परस्पर घात-प्रतिघात से दुनिया का खेल चल रहा है। यह मानने का कोई कारण नहीं कि अणु अपने परस्पर के सम्बन्ध से नहीं, बल्कि समष्टि के साथ के अपने सम्बन्ध को पहचान कर चल रहा है। मैं व्यक्ति होकर व्यक्ति के प्रति राग विराग अनुभव करता और उन्हीं की प्रेरणा से अपने जीवन में चल रहा हूँ। क्या यह अनिवार्य ही नहीं है! व्यक्ति अपने सुख-दुख को अन्य व्यक्ति के साथ जुड़ा पाता है। इसी परस्परता में से उसमें कर्म की प्रवृत्ति है। इससे उस आपसीपन के तत्व पर ही धर्म और कर्तव्य की ग्रंथि को खोलना होगा। मेरे सम्पर्क में आवें उनसे कैसे बरतं, इस प्रश्न से बाहर जाकर क्या कोई ईश्वर और धर्म की समस्या हो सकती है?

बोले, "हाँ, होती तो है ही। नहीं तो ये शब्द क्यों बनते? ईश्वर को छोड़ो, पर नगर, प्रांत, जाति, राष्ट्र आदि शब्द जो हमारे पास हैं, और रोज़ हमारे काम आते हैं वे समुदाय-बोधक शब्द ही व्यक्ति के पास कहां से आजाते? इन संज्ञाओं के सहारे हम एक एक व्यक्ति को अलग अलग लेने को लाचार नहीं रहते। राष्ट्र भी एक इकाई ही है, पर बड़ी इकाई है। उसको लेकर वहां के करोड़ों राष्ट्रवासियों को एकता मिल जाती है। राष्ट्र को मानने से हम एक साथ उन करोड़ों के सुख-दुख के समुच्चय-समन्वय का बोध पाते और जतलाते हैं। अर्थात् अंश का अंश के प्रति क्या दायित्व है, यह भी पूरी तरह तभी साफ़ होगा जब अंश समस्त के प्रति अपने सम्बन्ध को समझेगा। यह तो सही है कि हम अहंकृत प्रेरणाओं को लेकर चलते हैं तो भी मूल प्रेरक-शक्ति अहंजन्य है, यह नहीं कहा जा सकता। अहं तो उपकरण है, जिसके द्वारा

मूलच्चित शक्ति ग्रहण की जाती और प्रयोजन में परिणत की जाती है। उस दृष्टि से जीवात्मा का निजत्व आवश्यक ही है। खंड पर अखंड की कशिश ही उसका जीवन है। वह समाप्त हो जाय तो फिर रह क्या जाय? जीवन में प्रेम की जो व्यथा और आनन्द है, उसका अर्थ यही है। प्रेम भक्ति में सार्थक होता है। भक्ति बनकर वह निर्व्यैक्तिक हो जाता है। उसमें नर में नारायण का भास मिलता है। फिर वहाँ विरक्ति का प्रश्न ही क्या! नहीं तो व्यक्ति में अनुरक्ति जल्दी विरक्ति में परिणत होने लगती है। इससे व्यक्ति के प्रति कर्तव्य निबाहने की दृष्टि से भी उस परम सत्ता में श्रद्धा होना अभीष्ट है। व्यक्ति को अपने आप में अन्त और सत्य मानकर व्यवहार की उलझन नहीं सुलझेगी। मैं-तू का सम्बन्ध जहां समाप्त है, वहीं समस्या की शान्ति भी मिलेगी। हम-तुम जिसमें होकर एक हैं, जिसमें सब पृथकता 'एकता' में लय होती है, उस अखंड के स्वीकार में ही नहीं तो समाधान भला कहां पायगा? तभी धर्म उस-अखंड सत्ता में लीन होने की हमारी अमर तृष्णा का नाम है। वह विरह—चेतना हमारी पूंजी है। उस चैतन्य की जागृति के प्रकाश में ही व्यक्तियों के प्रति हमें अपने कर्तव्य का स्वच्छ दर्शन होगा। अन्यथा सीधे व्यक्ति के नाते अपने कर्तव्य को हम बाँधने और देखने लगेंगे, तो कभी कुछ हल न होगा।

"अणु किस नियम के अधीन दूसरे अणुओं के प्रति नर्त्तन करता है, इसकी शोध उन अणुओं के भीतर से ही नहीं की जा सकती। यह नहीं माना जा सकता कि उन द्वारा कोई अपर और बृहत् अर्थ सम्पन्न नहीं हो रहा है।

"फिर हमारा मन ही हमें असीम से जोड़ता है। हम मान नहीं सकते कि हम इतने ही हैं। प्रतीत होता है कि हम सब कुछ भी हैं। यही व्यक्ति के मन की स्वप्न की शक्ति उसे लाचार करती है कि वह व्यक्तित्व में अटका न रहे, बल्कि स्वयं अपने को भी पार करता जाय। दीखने वाले नर-नारियों में अपने रिश्तों की परिधि मानकर व्यक्ति रह ही नहीं सकता। कुछ भी वह ऐसा नहीं छोड़ेगा, कि जिसमे अपनापा न बनाना चाहे। चाँद-तारों को देखकर वह पुलकित होगा, साँझ-सबेरे की अरुणाई में विलसित होगा, यहाँ तक कि काली रात के अन्धकार के प्रति भी वह स्तिमित हो रहेगा। ऐसा है व्यक्ति का मन। वह घिरा नहीं है। शरीर का होकर भी वह शरीर का नहीं है। व्यक्तित्व का केन्द्र होकर भी व्यक्तित्व की परिधि उसकी परिमा नहीं है। इसीसे व्यक्तियों में रुककर भी वह न रह सकेगा। तभी तो है कि सब ज्ञान पाकर वह चुप नहीं है। उसे अज्ञान भी चाहिए। उसके पार अज्ञेय भी चाहिए। उसे ईश्वर भी चाहिए। एक एक करके सब सत्ताएँ उसे नहीं चाहिए, बल्कि उन अनेक सत्ताओं का एक ही साथ निपट एक सत्य चाहिए।

"धर्म की समस्या इसलिए व्यक्ति और व्यक्ति के बीच कर्त्तव्य की समस्या पर समाप्त नहीं है। इसी से व्यवहार के लिये धर्म को विशेषण देकर चलना होता है। कहते हैं—स्वधर्म, समाज-धर्म, पर-धर्म इत्यादि। अमुक की अपेक्षा में हमारा क्या कर्त्तव्य है, इसका निर्णय उसी दायरे में न हो सकेगा। परम-धर्म की अपेक्षा में ही सामयिक धर्मों का समीचीन निर्णय सम्भव है। और परम धर्म व्यष्टि का समष्टि में सर्वाङ्ग विसर्जन है। इसको ध्रुव मानकर ही दूसरे ऐहिक दायित्व और कर्त्तव्य की बात को समझा और खोला जा सकता है। वह ध्रुव पास नहीं तो जगद्-व्यापार सब गोरखधन्धा हो रहेगा और तब सदसद्विवेक भी क्या ठहरेगा?......"

मैंने कहा, "तो क्या पास के पड़ौसी को लाँघ जाकर धर्म की उपलब्धि होगी, यह मानना होगा?"

बोले, "चाहो तो भी क्या पास है इसीसे, किसी पदार्थ पर व्यक्ति में तुम रुक रह सकते हो? नहीं रह सकते। तब यह आग्रह क्यों कि पड़ौसी के माने गये हित की अपेक्षा में ही समस्त धर्म-विचार करना होगा?"

हिन्दी और उर्दू की ऐतिहासिक प्रगति

श्री उमाशंकर

आज हिन्दी और उर्दू का जो संघर्ष एक ओर दिन पर दिन प्रबल से प्रबलतर होता जा रहा है और जिसमें कितने ही साहित्यकों की शक्ति व्यर्थ में ख़त्म हो रही है उससे कुछ भी फ़ायदा नज़र नहीं आता—व्यर्थ आपस में मनमोटाव बढ़ता है, खींचातानी चलती है।

हिन्दी और उर्दू की प्रगति का अपना एक इतिहास है। अगर इस प्रगति के ऐतिहासिक आधार को हम समझें, तो पता लग जाय कि यह संघर्ष क्यों हानिकारक है।

इसको समझने के लिये हमें हिन्दी और उर्दू की उत्पत्ति पर विचार करना होगा। आरम्भ में हिन्दी और उर्दू में अन्तर नहीं था। सं० १९०२ तक हिन्दी को ही उर्दू के नाम से पुकारा जाता था। 'वली' हिन्दी को ही अपनी भाषा कहते थे। 'मीर' ने अपनी ज़बान को हिन्दी बताते हुए कहा था—

क्या जानूं लोग कहते हैं,
किसको सरूरे-कल्ब।
आया नहीं है लफ़्ज़ यह,
हिन्दी ज़बां के बीच॥

पर उर्दू भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सैयद इंशा उल्ला ख़ाँ ने कहा है—ज़मी दानद, कि मुवाए फ़साहत न मादने बलाग़त, कि ज़बाने शाँ, मशहूर ब उर्दूस्त, सिपाये बादशाह हिन्दुस्तान कि ताजे फ़साहत बरुए मी ज़ेबद, चन्द अमीर व मसाहिब शाँ, व चन्द ज़ने, क़ाबिल, अज़ क़िस्म बेगम व ख़ानम व कस्बी हस्तेद—हर लफ़्ज़े कि दरीं हां इस्तेमाल याफ़्त ज़बाने उर्दू शुद, नइंकि, हरकस कि दर शाहजेहानाबाद मी बाशद, हम्व गुफ़्ग़ू कुनद मौतबिर बाशद। अगर चुनी बाशद शाकनाने मुग़लपुरा, च तक़सीर करदा अन्द, कि ज़बाने एशां, मायूब व ख़िलाफ़ उर्दू गुमुर्दा शवद। [दरिया-ए-लताफ़त, दुरे दाना सिफ्में, सफ़ा ६४]

अर्थात्—ऐसे सज्जनों को नहीं मालूम कि उस भाषा के जिसे उर्दू कहते हैं, सौन्दर्य्य लालित्य का उद्गम स्थान स्वयं हिन्दुस्तान के सम्राट हैं, जिनके सिर पर उर्दू भाषा की ओजस्विता का मुकुट शोभा देता है। उनके कतिपय व विशेष सेवक व उनके राज भवन की स्त्रियाँ; जिनमें बेग़में व अन्य घरों की स्त्रियाँ व कस्बियां सम्मिलित हैं, जिन शब्दों का प्रयोग करती हैं, वही उर्दू भाषा हैं। शाह जहानाबाद का प्रत्येक निवासी जो कुछ कहे वह भाषा की दृष्टि से प्रमाणिक नहीं समझा जा सकता। यदि ऐसा न होता तो, मुग़लपुरा के निवासियों की भाषा को दूषित व उर्दू के विरुद्ध क्यों समझा जाता?

'दरिया-ये-लताफ़त' एक प्रसिद्ध किताब है। 'अंजुमन तरक्क़ी उर्दू' के प्राण मौलाना अबदुल हक़ साहब ने इस किताब के सम्बन्ध में कहा है, 'उर्दू ज़बान के क़वायद, मुहावरात और रोज़मर्रह के मुतल्लिक़ इससे पहले कोई किताब नहीं लिखी गई थी और अजीब बात यह है कि इसके बाद भी कोई किताब इस पायः की नहीं लिखी गयी। जो लोग उर्दू ज़बान का मुहक़्क़िक़ानः मुताला करना चाहते हैं या उसकी सर्फ़ नहो या लुग़त पर कोई मुहक़्क़िक़ानः तालीफ़ करना चाहते हैं, उनके लिए इनका मुताला ज़रूरी ही नहीं बल्कि नागुज़ीर है।" सैयद इंशा उल्ला ख़ाँ से खुलासा मर सैयद अहमद ख़ाँ ने अपनी पुस्तक 'आसारुस्सनादीद' में कहा है—जबकि शाहजहाँ बादशाह ने सन् १६४८ में शहर शाहजहानाबाद आबाद किया और हर मुल्कों के लोगों का मज्मा हुआ। इस ज़माने में फ़ारसी ज़ुबान

और हिन्दी भाषा बहुत मिल गई और बाज़े फ़ारसी लफ़्ज़ों में और अक्सर भाषा के लफ़्ज़ में ब सबब कसरत इस्तेमाल के तग़य्युर व तब्दीली हो गई। ग़रज़ कि लश्कर बादशाही और उर्दूये मुल्ला में इन दोनों ज़ुबानों की तरकीब से नई ज़ुबान पैदा हो गई और इसी सबब से ज़ुबान का उर्दू नाम हुआ। फिर कसरत इस्तेमाल से लफ़्ज़ ज़बान का महज़ूफ़ होकर इस ज़बान को उर्दू कहने लगे।"

इन अवतरणों से प्रकट हो जाता है कि उर्दू की उत्पत्ति शाहजहाँ के समय से हुई है, पर उर्दू भाषा का प्राथमिक नाम हिन्दी ही था। हिन्दी को हिन्दू मुसलमान दोनों की सम्मिलित भाषा का द्योतक माना जाता था। अमीर ख़ुशरो, आतिश, ईशा, जुरअत इत्यादि ने अपनी रचनाओं में उर्दू के लिये हिन्दी शब्द का ही प्रयोग किया है। इस बात को सभी उर्दू इतिहास लेखकों ने भी स्वीकार कर लिया है। उर्दू-ए-क़दीम, 'तारीख़ नस्र उर्दू' इत्यादि ग्रन्थों के विद्वान् लेखकों ने बहुत अन्वेषण के बाद यह प्रमाणित कर दिया है कि उर्दू का प्राथमिक नाम हिन्दी है।

अब देखिए, पण्डित पद्मसिंह शर्मा ने अपनी 'हिन्दी, उर्दू, और हिन्दुस्तानी' नामक पुस्तक में लिखा है "इस हिन्दी नाम की सृष्टि हिन्दुओं ने नहीं की, और न इन्होंने प्रचार ही किया है, हिन्दू लेखकों ने तो इसके लिए सर्वत्र भाषा शब्द का ही प्रयोग किया है। भाषा के लिये हिन्दी शब्द के सर्व प्रथम नामकरण का सारा श्रेय मुसलमान लेखकों और कवियों को ही दिया जा सकता है। हिन्दुओं का इसमें ज़रा भी हाथ नहीं।'

अतः यह मानना होगा कि यद्यपि यहाँ के साधारण लोगों में एक ऐसी भाषा या ज़बान मौजूद थी, जिसमें वे एक दूसरे को समझ सकते थे पर उसका हिन्दी' नामकरण हिन्दुओं ने नहीं किया। हिन्दी और उर्दू दोनों प्रायः एक सी भाषा का नाम था। दोनों में विशेष अन्तर नहीं था। उर्दू को हिन्दी कहते ही थे। आतिश साहब उर्दू के लिए हिन्दी शब्द का प्रयोग किया करते थे और उनका प्रसिद्ध शैर है—

मतलब की मेरे यार,
न समझे तो क्या अजब।
सब जानते हैं तुर्की की,
हिन्दी ज़ुबाँ नहीं ॥

यहाँ हिन्दी उर्दू पर्य्यायवाची शब्द हैं। इस शैर से यह भी साफ़ हो जाता है कि यह जन-साधारण हिन्दुस्तानी की ज़बान थी पर अधिकांश तुर्की लोग इसे न समझ पाते थे। अतः पहले हिन्दी और उर्दू में कोई भेद हम नहीं पाते। अमीर ख़ुशरो को हिन्दी-वाले खड़ी बोली के प्रथम कवि मानते हैं, और उर्दू कविता का आरम्भ तो उनसे होता ही है। दोनों उन्हें अपना पहला कवि मानते हैं, उनकी एक ही कविता को अपनी अपनी कहते हैं। डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद ने सप्तम बिहार प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति के पद से भाषण देते हुए कहा था—"हिन्दी और उर्दू, चाहे उनकी उत्पत्ति और विकास जिस क्रम और जिस रीति से हुआ हो, दो भिन्न भाषायें नहीं हैं। इसका अकाट्य प्रमाण जिसे मुसलमान लोग उर्दू भाषा कहते हैं उसका पुराना रूप है। उर्दू के बड़े से बड़े हिमायती यही कह सकते हैं कि उर्दू की पैदाइश हिन्दुस्थान में मुसलमानी बादशाहत क़ायम होने पर हुई। अब उस समय के लेखक की भाषा पर ग़ौर करें। बहुत पीछे जाने की ज़रूरत नहीं, मुसलमानी राज्य स्थापित होने पर सैकड़ों वर्ष के बाद के मशहूर लेखक अमीर ख़ुशरो की कविताओं को लीजिये और विचार कीजिये की उनकी भाषा आज की खड़ी बोली से किस प्रकार भिन्न है। अमीर ख़ुशरो ने अनपढ़ चम्मों के लिए यह कविता लिखी थी—

"औरों की चौपहरी बाजे,
चम्मों की अठपहरी।
बाहर के कोई आये नहीं,
आये सारे शहरी ॥

इसे देखने से पता लगेगा कि आज की हिन्दी और उस समय की उर्दू में बहुत भेद नहीं है।...... इसलिये यह कह देना कि कुछ अरबी फ़ारसी शब्दों के मिलावट से ही एक नई और स्वतंत्र भाषा पैदा हो गई युक्ति संगत नहीं है।"

दूसरे देशों के मुसलमानों के साथ सम्पर्क होने के कारण उनकी संस्कृति, सभ्यता, भाषा और उनके साहित्य का प्रभाव हमारी संस्कृति, भाषा और साहित्य पर पड़ने लगा। अरबी, फ़ारसी के अनेक शब्द, रचना-शैलियाँ और वाक्य-विन्यासादि भी हिन्दी भाषा में प्रचलित हो गये। हिन्दी के आदि-प्राप्त ग्रन्थ 'पृथ्वीराज रासो' में अरबी फ़ारसी के शब्द हैं। तुलसी और सूर की रचनाओं में भी अरबी और फ़ारसी के शब्द आये हैं। इसी तरह उर्दू में भी संस्कृत तथा प्राकृत के बहुत से शब्दों का समावेश हो गया। उर्दू के प्रसिद्ध कोष 'फरहंगे आसफ़िया' में कुल ५४ हज़ार शब्द हैं, जिनमें ३२ हज़ार हिन्दी के ही शब्द हैं। फरहंग वाले ने अपनी भूमिका में स्वयं मान लिया है कि उर्दू में ३२ हज़ार हिन्दी के ही शब्द हैं। २२ हज़ार के लगभग ऐसे शब्द हैं। जो विदेशी भाषाओं से निकले हुए माने जाते हैं, पण्डित सुन्दरलाल जी ने अपने 'हिन्दी, उर्दू या हिन्दुस्तानी' शीर्षक लेख में कहा है कि अंगरेज़ों के आने के पहले हिन्दुओं को यह डर नहीं था कि 'आवश्यकता' की जगह 'ज़रूरत' लिख दिया गया तो हिन्दू-संस्कृति मिट जायगी, और मुसलमानों को यह डर नहीं था कि 'ज़रूरत' की जगह 'आवश्यकता' आ गया तो इस्लाम ख़तरे में पड़ जायेगा। यह वह समय था जबकि सचमुच उदार हिन्दू मुसलमानों को राम और रहीम में फ़रक़ नज़र न आता था, जबकि रहीम ने अपना 'मदन-शतक' श्रीगणेशायनमः से शुरू किया था, जबकि जहांगीर के ज़माने में अहमद ने सामुद्रिक शास्त्र पर अपनी किताब 'श्री गणेशाय-नमः' से शुरू की थी, जबकि अहमदुल्लाह दक्खिनी ने नायिका भेद पर अपनी पुस्तक के सबके ऊपर लिखा था 'श्री राम जी सहाय', 'अथ सरस्वती जी की स्तुति', जबकि याकूब ख़ां ने रस-भूषण लिखने से पहले सबसे ऊपर 'श्रीगणेश जी', 'श्री सरस्वती जी', 'श्री राधाकृष्ण जी', 'श्री गौरीशंकर जी' को नमस्कार किया था, जबकि ग़ुलाम नबी रसलिन ने अपनी दोनों पुस्तकों के शुरू में ही 'श्रीगणेशायनमः' लिखा था।......इस तरह सैकड़ों हिन्दी विद्वान अपनी रचनाओं को 'बिस्मिल्ला हिर्रहमानिर्रहीम' से शुरू करते थे।"

अंगरेज़ों के आने के बाद वातावरण में काफ़ी परिवर्तन हुआ। मुग़ल काल में जो आबोहवा थी, बदली! हमारी भाषा और उनकी ज़बान अलग अलग होने लगीं। अंगरेज़ राजनीतिज्ञ यह समझते हैं कि हमारी फूट उनकी रोटी है और अपनी रोटी के लिए फूट डालनी आरम्भ की। अगर हम कहें कि हम में फूट डालने के लिए फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना हुई थी, तो अत्युक्ति नहीं हो सकती। सर चार्ल्स उड के शिक्षा सम्बन्धी मसविदे से, जो सन् १८५४ में पास हुआ था, देशी भाषा के माध्यम द्वारा शिक्षा का प्रबन्ध अवश्य हुआ, पर उससे हम में फूट भी फैली। हम एक से दो हुए। जॉन गिल-क्राइस्ट ने दो हिन्दी के विद्वानों और दो उर्दू के विद्वानों को बुलाकर आदेश दिया कि अपनी अपनी भाषा में पुस्तकें लिखें। जॉन गिलक्राइस्ट ने यह आदेश उस समय दिया था जब हिन्दी वाले यह नहीं मानते थे कि लिपि भेद अथवा कुछ विदेशी शब्द आ जाने से उर्दू दूसरी भाषा हो सकती है और न उर्दू वाले लिपि भेद अथवा देशज शब्द आ जाने से हिन्दी को दूसरी भाषा समझते थे। यहां तक कि रानी केतकी की कहानी को, उसके फ़ारसी लिपि में लिखी जाने पर भी, हिन्दी साहित्य में स्थान मिला। 'रानी केतकी की कहानी' से ही इन दोनों भाषाओं की कहानी-कला का विकास होता है। 'रानी केतकी की कहानी' उसी समय लिखी गई थी, जिस समय गिलक्राइस्ट ने हिन्दी और उर्दू में अलग अलग रचना करने की आज्ञा दी थी। इसके बाद हिन्दी के विद्वानों ने विदेशी शब्दों का बहिष्कार

किया, और उर्दू के विद्वानों ने देशज शब्दों का। हिन्दी और उर्दू अलग अलग भाषायें हो गईं। गिलक्राइस्ट की ही छत्रछाया में हिन्दी-उर्दू संघर्ष का श्रीगणेश हुआ। अंगरेज़ों ने हिन्दू और मुसलमानों में फूट डालने का प्रयास भाषा के द्वारा भी किया। वे जानते थे कि बाह्य अनेकरूपता के होते हुए भी दोनों में कैसी समानता है। यही समानता भारतीय एकता का मौलिक आधार थी। यही कारण था कि उन्होंने एकता की शृङ्खलायें तोड़ डालीं। संस्कृत के पण्डित और अरबी के आलिम भाषा का नेतृत्व करने लगे।* अरबी फ़ारसीदाँ आलिमों की मेहरबानी से उर्दू में अरबी फ़ारसी के क्लिष्ट शब्दों और संस्कृतज्ञों की कृपा से हिन्दी में क्लिष्ट शब्दों की भरमार होने लगी। थोड़े ही दिनों में दोनों भाषायें बहुत अलग जा पड़ीं।

आरम्भ में अंगरेज़ों ने उर्दू को प्रोत्साहन देना आरम्भ किया। उर्दू कोर्ट की भाषा थी और कोर्ट की भाषा उनके शब्दों में 'सबसे अधिक फ़ैशनेबिल' मानी जाती है। ("Our court language in usage is Urdu and the court language has always been regarded by all nations as the most fashionable language of the day.") अंगरेज़ों का यह कार्य हिन्दी पर कुठाराघात सा हुआ। उस समय की हिन्दी की संकटमय अवस्था का वर्णन करते हुए बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने दुःख के साथ कहा है "जो लोग नागरी अक्षर सीखते थे, वह फ़ारसी अक्षर सीखने पर विवश हुए और हिन्दी भाषा हिन्दी न रहकर उर्दू बन गई। हिन्दी उस भाषा का नाम रहा, जो टूटी फूटी चाल पर देवनागरी अक्षरों में लिखी जाती थी।"

अंगरेज़ और उनके भक्तों के कार्यों का हिन्दी के विद्वानों ने तथा हिन्दी के पत्रकारों ने काफ़ी विरोध किया। 'प्रजाहितैषी,' 'सुधाकर,' 'ज्ञानप्रदायिनी पत्रिका' आदि ने हिन्दी की रक्षा करने के लिए एक आन्दोलन चलाया पर इन पत्र-पत्रिकाओं की भाषा ध्यान से देखने से स्पष्ट हो जाता है कि उनका भाषा सम्बन्धी दृष्टिकोण संस्कृतमय था। राजा लक्ष्मणप्रसाद सिंह ने आगे बढ़कर यह कहा कि 'हिन्दी में संस्कृत के शब्द बहुत आते हैं, उर्दू में अरबी-फ़ारसी के। कुछ आवश्यक नहीं है कि अरबी-फ़ारसी के शब्दों के बिना हिन्दी न बोली जाय, और न हम उस भाषा को हिन्दी कहते हैं, जिनमें अरबी-फ़ारसी के शब्द भरे हों।' उधर उर्दू को अंगरेज़ी सरकार ने प्रोत्साहन दिया और इधर यूरोपियन ईसाई पादरियों ने राजा लक्ष्मण सिंह और उनके साथियों की अरबी-फ़ारसी के शब्दों को हटाकर उनकी जगह संस्कृत शब्द रखने के प्रयास को सहायता पहुँचायी।

सौभाग्य से हिन्दी और उर्दू दोनों के विद्वानों ने अंगरेज़ों की चाल समझ ली। सर सैयद अहमद, मौलाना सफ़ीर आदि ने उर्दू को हिन्दी के निकट लाने की चेष्टा की, और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके लेखक मण्डल ने हिन्दी को उर्दू के निकट पहुँचाने की चेष्टा की। सन् १९०३ में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी भाषा और उसका साहित्य' शीर्षक लेख में लिखा—"उर्दू कोई भिन्न भाषा नहीं। वह भी हिन्दी ही है। उसमें चाहे जितने फ़ारसी और अरबी के शब्द भर दें पर जब तक उसकी क्रियायें हिन्दी की ही बनी रहती हैं, उसकी रचना हिन्दी ही के व्याकरण का अनुसरण करती है। चाहे कोई जो कुछ कहे वली और सौदा के काव्यों में जो भाषा है वही तुलसीदास और बिहारी के काव्यों में है। 'मेरा बाप' के स्थान पर 'बाप मेरा' अथवा 'आपके हुक्म से' के स्थान में 'बहुक्म आपके' करने से कहीं भाषा दूसरी हो सकती है!......लिखने की प्रणाली को बदलने अथवा उसमें किसी अन्य भाषा के शब्दों का प्रयोग करने से मुख्य भाषा के अस्तित्व में कदापि अन्तर नहीं आ सकता।' पर गिलक्राइस्ट ने जिस फूट का 'इन्जेक्शन' दिया था उसका ज़हर

* अब फिर यही कोशिश तरह तरह से हो रही है।
—सम्पादक

धीरे धीरे हममें से बहुतों के नस नस में फैलता गया और अब भी फैल रहा है। हाँ, उन विद्वानों और आलिम फ़ाज़िलों को सफलता नहीं मिली। पं० भीमसेन शर्मा ने हिन्दी लेखकों को सलाह दी—"संस्कृत भाषा के अक्षय भण्डार में शब्दों की न्यूनता नहीं है। हमको चाहिये कि अपनी भाषा की पूर्ति संस्कृत के सहारे यथोचित करें। जिन लोगों को जिन विशेष प्रचलित अन्य भाषान्तर्गत शब्दों के स्थान में उनसे सर्वथा भिन्न संस्कृत शब्दों का व्यवहार करने की रुचि नहीं है उन्हें उसी से मिलते हुए संस्कृत शब्दों का वहाँ प्रयोग करना चाहिये।" नासिक साहब ने उर्दू वालों के लिये कड़ा नियम बना कर कहा—"उसूल इसका यह रक्खा गया है कि फ़ारसी और अरबी अलफ़ाज़ जहाँ तक मुफ़ीद मिलें, हिन्दी अलफ़ाज़ न बाँधो (तज़किरा जलवये ख़िज़्र, हिस्सा दोयम पृष्ठ ३९२)।

इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दी में तत्सम शब्दों का प्रयोग बढ़ने लगा। विदेशी* शब्दों का बहिष्कार किया गया। शिकायत के स्थान पर 'शिक्षा यत्न' दुश्मन के स्थान पर दुःशमन, चश्मा को 'चक्षमा', लालटेन के स्थान पर 'हस्तकाचदीपिका' आदि आदि के प्रयोग होने लगे। इसी तरह, पण्डित पद्म-सिंह शर्मा के शब्दों में, उर्दू वाले नये नये मुअर्रब और मुसर्रफ़ अल्फाज़ तक से गुरेज़ करते हैं और उनके बजाय अरबी और फ़ारसी की मुस्तनद लुग़ात से इस्तलाहात नौ बनौ से अपने तर्ज़ेतहरीर में ऐसा तसौना पैदा करते हैं कि उनका एक एक फ़िक़रा ग़ालिब के बाज़ मुश्किल मिसरे की पेचीदगी पर भी ग़ालिब आ जाता है।" गिलक्राइस्ट ने हमें जिस ज़हर का घूंट पिलाया उसका परिणाम देखकर रे० एडविन ग्रविस ने अपने 'हिन्दी और नागरी प्रचारिणी सभा' शीर्षक लेख में लिखा है "भाषा की समस्या का विचार छोड़कर इतना निश्चय मानना पड़ेगा कि बाज़ारू भाषा की अवस्था चाहे जो हो किन्तु शिक्षित व्यक्तियों के लिए हिन्दी और उर्दू दोनों पृथक् भाषायें हैं। अतएव नागरी लिपि में मुद्रित हुई शब्दों से भरी भाषा हिन्दी की जगह न पढ़ाई जाकर इन दोनों भाषाओं की शिक्षा का पृथक् प्रबन्ध करना वांछनीय है।"

* फ़ारसी, अरबी के ही, अंग्रेजी के नहीं।
—सम्पादक

इस तरह हमें ग़ुलाम बनाये रखने के लिए हिन्दी और उर्दू को पूरी तरह अलग अलग करने की कोशिशें होती गईं और होती जा रही हैं। आज़ादी प्राप्त करने के लिये हिन्दी और उर्दू को एक करना भी ज़रूरी है। उनके बाह्य विभेदों को मिटाकर एकरूपता लानी है। हमें हिन्दी के दायरे को बढ़ाना है। हिन्दी केवल हिन्दुओं की सम्पत्ति नहीं, उर्दू भी मुसलमानों की ख़ास अपनी नहीं। १५ वें विहार प्रादेशिक हिन्दीसाहित्य-सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष की हैसियत से राजा राधिकारमणप्रसादसिंह ने कहा था—"अब तक हिन्दी सत्यनारायण की कथा की पंजीरी पाती रही, उसे अब मौलूद शरीफ़ की जलेबियाँ भी चखनी होगी।" इसी तरह विहार सरकार के भूतपूर्व शिक्षा सचिव डाक्टर सैयद महमूद साहब ने पटना में "अंजुमन तरक़्क़ी की नयी इमारात का संग बुनियाद रखते वक़्त कहा—"यह मुसलमानों की सख़्त ग़लती है कि वह उर्दू को अपनी ज़बान कहते हैं। ऐसा करने से उर्दू के जो सारे हिन्दोस्तान की ज़बान है नुक़सान पहुँचा रहे हैं। इस ज़बान के असूल बिल्कुल फ़ितरी हैं और मुझे यक़ीन है कि यह तरक़्क़ी करेगी।"

इन बयानों से हम देख सकते हैं कि अब भी हमें अलग करने के प्रयत्न सफल नहीं हुए। हम एक आसान आम-फ़हम ज़ुबान ही चाहते हैं और इसी को हिन्दी या उर्दू कहते हैं।

भाषाओं की समस्या राजनीतिक समझौतों और पैक्टों से नहीं सुलझ सकती, और कमेटियों के ज़रिये उर्दू व हिन्दी को 'हिन्दुस्तानी' का रास्ता दिखाने की कोशिशें भी बेकार साबित हुई हैं। हिन्दुस्तानी

अकेडेमी, हिन्दुस्तानी प्रचार सभा, और बिहार हिन्दुस्तानी कमटी की असफलता इसका प्रमाण है। बदक़िस्मती से हिन्दी-उर्दू का सवाल साम्प्रदायिक राजनीति का एक अंग बन गया है। ख़तरे से लड़ने के लिये हिन्दी, उर्दू के लेखकों को एक मञ्च पर जमा होना और एक दूसरे को समझना है—यानी साहित्यकों में 'हिन्दुस्तानी' का आदर्श पैदा करना है। टेक्स्ट बुक कमेटियों का सहयोग प्राप्त करके उस आदर्श को बच्चों तक पहुंचाना है। समाधान लेन-देन नहीं बल्कि मनोवृत्ति का परिवर्तन है।

वर्षा की कोई आशा नहीं !

आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी

आज आसमान ने कुम्भक-प्राणायाम साध लिया है। किसी ओर से न हवा है न, धूप है, न फ़ुर्ती है, न आनन्द है। पसीने से व्याकुल हो रहा हूं। बरसेगा क्या? कम्बख़्त बरसता भी तो नहीं। सोच रहा हूँ कि इस अभागे देश में कुछ ऐसा ही वातावरण है। हिन्दू और मुसलमान, सरकार और जनता, धर्म और ईमान सब गुमसुम हैं। स्वभाव का लस्टम-पस्टम आदमी हूँ, कोई चीज़ तरतीब से नहीं रख पाता। जिनके ऊपर तरतीब से सजा रखने का उत्तरदायित्व विधाता की ओर से मिल गया है उनकी ओर से झिड़कियाँ प्रायः मिल जाती हैं। अब असर भी नहीं होता। संवेदन भोथा हो गया है। अख़बार चारों ओर छितराए पड़े हुए हैं। बड़े बड़े राष्ट्र-नायकों और दलपतियों के वक्तव्य दीख रहे हैं। भले आदमियों ने झूठ बोलने का व्रत ले लिया है—बना-सँवार कर झूठ बोलते हैं, सचाई के साथ झूठ बोलते हैं, ईमानदारी के साथ झूठ बोलते हैं—इस ज़माने में इस विद्या ने ख़ूब उन्नति कर ली है। मुझे बारबार अपने देश के आदमी याद आ रहे हैं, भूखे, नंगे, अधमरे। ये क्या खाकर झूठ बोलेंगे! झूठ बोलनेवालों का चेहरा और तरह का होता है। लेकिन अपने ढङ्ग के झूठ ये भी बोल लेते हैं। कहते हैं, हम आदमी नहीं हैं, हिन्दुस्तानी नहीं हैं, हिन्दू-मुसलमान हैं। हिन्दू और मुसलमान! दोनों एक दूसरे को संकुचित करके देख रहे हैं। लड़ भी तो नहीं पड़ते! संशय और अविश्वास ने दोनों को ओछा बना दिया है। लोग एकता पर लेख लिखते हैं, कहते हैं दोनों का ईश्वर एक [illegible] इत्यादि। लेकिन हिन्दू और मुस[illegible] मानते हैं कि दोनों के ईश्वर एक ही हैं? वे विचारे तो हिन्दुओं और मुसलमानों के भूख प्यास को भी एक मानने की ग़लती नहीं करते। पानी भी जब एक नहीं तो ईश्वर तो बहुत दूर है। इसीलिये आज दिल उदास है। दूर तक सूखा हुआ मैदान दिखाई दे रहा है। एकाध खजूर और ताड़ के पेड़ सारे दृश्य को और भी मनहूस बनाए दे रहे हैं। मैं सोचता हूँ कि ये बड़े बड़े लेख जो एकता को इतिहास से सिद्ध करते हैं, धर्म-शास्त्र से स्थापित करते हैं, युक्ति से समर्थन करते हैं, क्या सचमुच कुछ काम के हैं। मेरी बुद्धि तो थक जाती है। आसमान में बुरी तरह की ऊमस है और धरती व्याकुल और हतचेष्ट होकर पड़ रही है। मैं कुछ सोच नहीं पा रहा हूँ।

इधर पड़ोस के गाँव में पिछली गणेश-चतुर्थी को दो औरतों में झगड़ा हो गया था। मुझे निर्णायक बन जाना पड़ा था। भाग्य में जो पद लिखा होता है वह कभी न कभी मिल ही जाता है। विधाता का भी मज़ाक़ करने का अपना तरीक़ा है। सो निर्णायक मुझे बनना ही पड़ा। एक ने गणेश जी का व्रत किया था। उसके गोबर के गणेश साल भर तक पूजा पाते हैं। माघी चतुर्थी को गंगावास पाते हैं।

उसी दिन नये गणेश की प्रतिष्ठा होती है। सो इसी गणेश जी का नाम लेकर दूसरी ने कुछ अभिशाप दिया था। लड़ाई अभिशाप के मामले पर उतनी नहीं जमी, जितनी इस बात पर कि जिस स्त्री को अभिशाप दिया गया उसी के गणेश का नाम क्यों लिया गया। दुनिया में और कोई गणेश क्या नहीं थे? मुझे ईश्वर के नाम पर एकता की अपील करने वालों की बातें याद थीं। शक्ति भर मैंने समझाया कि गणेश जी एक ही हैं और सबके हैं। पर सुनता कौन! दोनों ने ही स्वीकार किया कि मैं ठीक कह रहा हूँ। गणेश जी की पुजारिन ने और भी दृढ़ता के साथ कहा कि कौन नहीं जानता कि गणेश जी सब के हैं, फिर भी उसने 'मेरे' गणेश जी का नाम क्यों लिया? क्यों नहीं 'अपना' गणेश पूजती! 'मेरे' गणेश का नाम लेगी तो उसके नाखून चू जायँगे और······इत्यादि। सो मैं हार गया। सारे देश में यही तो चल रहा है। कौन नहीं जानता कि मन्दिर के ठाकुर जी सब के हैं और मस्जिद के अल्लाह ताला भी सबके हैं, फिर भी 'हमारे' ठाकुर जी और 'हमारे' मन्दिर और 'हमारी' मस्जिद के सामने··· इत्यादि। गाँव की अनपढ़ औरतें कुसंस्कार में पली हैं, अशिक्षित हैं, पर जो लोग शिक्षित हैं वे भी तो बहुत अधिक सुसंस्कृत नहीं दीखते। आसमान बुरी तरह मुंह फुलाए बैठा है, आँधी आ भी सकती है, वर्षा की कोई उम्मीद नहीं दिखती।

इतिहास का भरोसा मुझे भी रहा है। ज़रा दर्पोद्धत भाषा में इतिहास के सत्य को संसार के सामने रखते रहने की साध मुझे बराबर रही है। साध और संकल्प में भेद है। मेरी साध अब तक संकल्प नहीं बन सकी। अब तो क्या बनेगी। मैं देख रहा हूँ कि इतिहास वह समुद्र है जिसे मथकर अमृत भी निकाला जा सकता है और विष भी, लक्ष्मी भी पाई जा सकती है और वारुणी भी। मैंने देखा है कि इतिहास वह अग्निशिखा है जिससे गृहस्थ का घर प्रकाशित भी हो सकता है और भस्म भी, जिससे प्रकाश भी मिलता है और ताप भी। परन्तु मैं ध्यान-पूर्वक देखकर समझ रहा हूँ कि इतिहास अपराजेय जीवनी शक्ति का अक्षय प्रवाह है। वह जातियों और व्यक्तियों को बराबर आगे धकेलता आया है, ठेलता आया है, घसीटता आया है। इतिहास महाकाल का ताण्डव नृत्य है, जो अपने आप के नियमों से चलता है, जिसमें मनुष्य की इच्छा गौण और नगण्य है, जो अपने आपको कभी नहीं दुहराता। हम रहें या न रहें—मनुष्य बचे या न बचे—महाकाल का ताण्डव नृत्य चलता रहेगा, इतिहास का प्रवाह जारी रहेगा, जीवनी शक्ति अपनी मस्तानी चाल से चलती ही जायगी। इस ग्रह पर नहीं तो दूसरे पर, दूसरे पर नहीं तो तीसरे पर। काल की सत्ता असीम है। इतिहास का बनना भी असीम है। हम उपलक्ष्य-मात्र हैं। प्रकृति के नियम कठोर हैं। कर्म का चक्र दुरधिगम्य है। इतिहास-विधाता का अपना ढङ्ग है।

प्रचण्ड जीवन-प्रवाह ने आज हिन्दू और मुसलमान को एक ही किनारे ला पटका है। यह हिन्दू और मुसलमान को सोचना है कि वह अपने को इस प्रवाह के अनुकूल कैसे बनावेंगे। पीछे की घटनाओं का चिट्ठा खोलना बेकार है। जीवन-प्रवाह को—निर्मम इतिहास-धारा को—रुकने की ग़रज़ नहीं है। जो उसके अनुकूल बनेगा उसे वह दुगुने वेग से उस अविज्ञात उद्देश्य की पूर्ति की ओर ले जायगी, जिसकी सूचना अमीबा से मनुष्य तक की निर्माण-योजना में मिलती है और जिसके लिये सैकड़ों प्रकार के जीव और वनस्पति बनाए और बिगाड़े जा चुके हैं, दर्जनों मानव-जातियाँ उठाई और गिराई जा चुकी हैं। हम ठीक नहीं जानते कि वह उद्देश्य क्या है। पर इतना हम अवश्य जानते हैं कि उस उद्देश्य की विजय-यात्रा श्मशानों और क़ब्रिस्तानों के ऊपर से हुई है, हो रही है और होगी। इस निष्ठुर सत्य का क्षणिक सफलता के गर्व से उन्मत्त होकर जो उपेक्षा करेंगे वे पिस जायेंगे। महाकाल को यह बिल्कुल परवा नहीं है कि किस जाति ने कितनी लूट खसोट और मारा मारी के बाद ऐसी कौन सी सभ्यता बना ली है, जिसकी रक्षा के लिये समस्त जगत् का गला रेता जा

सकता है। बना ली है तो बनाली है, महाकाल के नियमों की उपेक्षा करने पर उसे भी वही गति मिलेगी जो औरों को मिल चुकी है। मैं कहता हूँ कि ऐ हिन्दुओ, और ऐ मुसलमानों, अपने अपने लेबिलों पर न जूझो, उस निष्ठुर प्रवाह को न हिन्दू पर ममता है न मुसलमान पर मोह। वह काट छाँट कर, गढ़ छोलकर, बना सँवार कर एक महान् सत्य को प्रकाशित कर रही है। उसकी सहायता करो, उसका साथ दो। अगर खुद तुम अपनी सड़ी गली आदतों को काटकर न फेंक दोगे तो वह प्रचण्ड प्रवाह तुम्हारे समेत उसे दबोच लेगा—कर्तुंनेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्य वशोऽपितत् !

आसमान उसी तरह गम्भीर है। हम पर क्या बीत रही है, इसकी कोई चिन्ता उसे नहीं सता रही, उसके अपने नियम हैं। मूर्ख लोग सोचते हैं कि वह हमारे लिये पानी बरसाता है। वह तो अपने नियम से बरसता है, अपनी मर्जी पर बरसता है। बुद्धिमान लोग अपनी खेती बाड़ी उसके अनुकूल बन कर करते हैं। जो समझता है कि हमारे लिये बरसता है वे ग़लती करते हैं। उबाल देने वाली गर्मी है। न जाने कब बरसेगा। दूर का मैदान उदास है. दिशाएँ स्तब्ध हैं, खजूर और ताड़ जबदे हुए हैं, गिरगिट इस समय भी रेंग रहा है। जीव-सृष्टि में गिरगिट के सिवा और कोई नहीं रह गया क्या ! बुरी ऊमस है।

आसमान गवाह है कि प्रकृति के इस कारखाने में कैसे कैसे प्रचण्डकाय जीव बनाये गये हैं। हाथी और ह्वेल तो उनके सामने चींटी हैं। वे उस महान् सत्य को प्रकट नहीं कर सके जो महाकाल को अभीष्ट था। अपने ही देह-भार से वे बरबाद हो गये। दुर्धर्ष जीवन प्रवाह ने फिर कर ताका भी नहीं कि उसका इतना बड़ा आविष्कार किधर और कैसे फिंक गया। वह फक्कड़ाना ला परवाही के साथ आगे बढ़ गया। सृष्टि के कारखाने में नया प्रयोग हुआ। मनुष्य बना। यहाँ से इतिहास की धारा दूसरी ओर मुड़ी। अब तक जीवसृष्टि फुदकते-पुदकते बनती आ रही थी। मनुष्य ने कहा, हम स्वयं कुछ बनाएँगे। जैसा हो रहा है हम उसी को मान कर सन्तुष्ट नहीं रह सकते, हम उसे वह बनावेंगे जैसा कि होना चाहिए। क्योंकि थी यह। तुम प्रकृति के दुरन्त प्रवाह के सामने खड़े होकर 'बनाने' की स्पर्धा करोगे ? मनुष्य ने कहा--हाँ, इच्छा तो ऐसी ही है।

कारण और कार्य के बीच में व्यवधान कहाँ है ? वह तो एक दूसरे से नीरंध्र ठोस परंपरा के रूप में गुंथे हुए हैं। उनके बीच में अपनी 'इच्छा' को लेकर तुम कहाँ स्थान पाओगे ? मनुष्य महाकाल की दुलारी सन्तान है। उसने प्रकृति को नाराज़ नहीं होने दिया और अपनी 'इच्छा' के लिये उसकी स्वीकृति की मुहर लगवा ली। तब से समाज बना, धर्म बना, साहित्य बना, मंदिर बना, मस्जिद बनी—मनुष्य की इच्छा बढ़ती गई। लेकिन जब कभी उस इच्छा ने प्रकृति की स्वीकृति की शर्तों की अवहेलना की तभी उसे कठोरतम दण्ड मिला। जड़-संचय उस स्वीकृति-पत्र का विरोधी है। जो जड़-वस्तु के मोह में उसे संचित किए रहता है वह बरबाद हो जाता है। मैं कहता हूँ, ऐ मेरे ग्रह के बाशिन्दो, पुराने संस्कारों के मलबे के नीचे मत दबो, वे जड़ हैं; फौलाद और पैट्रोल की ताक़त से गर्वित मत बनो, वे जड़ हैं; सोने और चांदी की चमक पर न भूलो, वे जड़ हैं। वे सड़ा करते हैं. वे मृत्यु के हथियार हैं। लेकिन मेरी सुनेगा कौन ? सोने के सिंहासन ऊंचे हो गए हैं। युग युग से महापुरुष पुकार कर हार गए हैं, उन तक आवाज़ नहीं पहुंचती। हाथी और ऊँट जिस बाढ़ में डूब गए हैं उसमें चींटी की क्या बिसात है ! मैं निराश हूँ और आसमान मनहूस की भाँति ताक रहा है। क्यों वह इतना गम्भीर बना है ? मैं सोच रहा हूँ कि आकाश के पेट में जो रहस्यमय उथल-पुथल मची हुई है—लाख लाख प्रकाशवर्षों की दूरी में कोटि-कोटि नक्षत्र ब्रह्माण्डों का जो भंजन-सर्जन चल रहा है—वह क्या व्यर्थ का आयोजन है ? हम जब चप्पे चप्पे स्थान के लिये अपनी दुरन्त जड़-शक्ति को लेकर पृथ्वी का वक्षःस्थल कम्पित करते

रहते हैं तो उस विराट् विश्व का क्या कोई भी प्रभाव हमारे ऊपर नहीं पड़ता ? क्या क्षुद्रतम परमाणु में विद्युत्-अणुओं का जो रहस्यमय आवर्त नृत्य चल रहा है वह हमारे जीवन को कुछ भी रूप नहीं दे रहा है ? क्या हम इस 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' के बाहर हैं ? क्या, बार बार असीम अरूप सत्ता की ओर अंगुलि उठाते रहने वाले फ़क़ीर सचमुच पागलख़ाने के जीव हैं ? क्या दुनियादार कहे जाने वाले वास्तव में चतुर होते हैं ? मैं हैरान होकर सोचता हूँ कि दुनिया का इतिहास बनाने या बिगाड़ने का खेल खेलने वाले सचमुच उस टिटहरी से अधिक अहमियत रखते हैं जो आसमान को टूटने से बचाने के लिये एक टाँग उठाकर सोती है ? आसमान को मालूम है दीर्घकाल से वह मनुष्य को अपनी गोद में खेलाता रहा है। वह मनुष्य के भाग्य को जानता है, वह हिन्दू और मुसलमान को ठीक ठीक समझता है, वह स्तब्ध है, वह उदास है। वर्षा होने की कोई आशा नहीं है ? मैं उदास हूँ।

नयी उर्दू कविता का नमूना

बंदी का सपना

जोश मलीहाबादी

क्या हिंद का ज़िन्दा[1] काँप रहा है गूंज रही हैं तकबीरें[2],
उकताये हैं शायद कुछ क़ैदी और तोड़ रहे हैं ज़ंजीरें।
दीवारों के नीचे आ आ कर यों जमा हुए हैं ज़िनदानी[3],
सीनों में तलातुम[4] बिजली का आँखों में झलकती शमशीरें।
भूखों की नज़र में बिजली है तोपों के दहाने ठंडे हैं,
तक़दीर के लब को जुम्बिश है दम तोड़ रही हैं तदबीरें।
आँखों में गदा[5] की सुर्ख़ी है बेनूर है चेहरा सुलता का,
तख़रीब[6] ने परचम[7] खोला है सिजदे में पड़ी हैं तामीरें।
क्या उनको ख़बर थी सीनों से जो ख़ून चुराया करते थे,
एक रोज़ इसी बेरंगी से झलकेंगी हज़ारों तसवीरें।
क्या उनको ख़बर थी होठों पर जो कुफ़्ल[8] लगाया करते थे,
एक रोज़ इसी ख़ामोशी से टपकेंगी दहकती तक़रीरें।
सँभलो—के वह ज़िन्दा गूंज उठा,—झपटो, के वह क़ैदी छूट गये,
उट्ठो—के वह बैठीं दीवारें; दौड़ो के वह टूटीं ज़ंजीरें।

---

१ क़ैदख़ाना २ जयजयकार ३ क़ैदी ४ तड़प ५ भिखारी ६ बरबादी ७ झंडा ८ ताला।

मनुस्मृति में नारी-चित्र

बैजनाथसिंह "विनोद"

मनुस्मृति हिन्दू समाज व्यवस्था की मुख्य क़ानूनी किताब है। मनुस्मृति के अलावा इस सम्बन्ध में जो ग्रन्थ हैं, वे प्रायः सभी मनु के आधार पर ही हैं। मौजूदा मनुस्मृति को "भार्गवीय मनुसंहिता" भी कहते हैं। कहा जाता है कि—मूल मानव धर्मशास्त्र के आधार पर भृगु, नारद, बृहस्पति और अंगिरा ने पृथक् पृथक् चार संहिताएं बनाईं थीं, जिनमें से यह 'भार्गवीय मनुसंहिता' प्रधान है। कुछ विद्वान मनु को आर्य नहीं भारत की मूल जाति का मानते हैं। विद्वानों का मत है कि—मनुस्मृति के आरम्भिक ४ श्लोकों तक महर्षियों के आगमन और प्रश्न तथा मनु द्वारा उसके बचन की प्रतिज्ञा की जाने की बात है। अनन्तर के पचपन (५ से ५९ तक) श्लोकों में भगवान मनु ने महर्षियों के प्रश्नों का यथेष्ट, पूर्ण और समीचीन उत्तर दे दिया है। बस इतना ही मूल मानव धर्मशास्त्र है। ये श्लोक किसी न किसी रूप में सभी प्राचीन—वैदिक, जैन, बौद्ध—वाङ्मयों में मिलते हैं। बाक़ी मनुस्मृति—भार्गवीय मनुसंहिता—पुष्यमित्र के काल की रचना है। यह भृगु कोई वैदिक ऋषि नहीं हैं। डा० जायसवाल का मत है कि यह भृगु सुमति भार्गव हैं, जिन्होंने पुष्यमित्र के काल में पाटलिपुत्र में बैठकर मनुस्मृति का मौजूदा संस्करण तैय्यार किया है। 'मनु' शब्द ब्रह्मवाचक भी है; और मनुस्मृति के अनुसार महर्षियों ने मनु जी से प्रधानतः 'वर्ण धर्म' के विषय में प्रश्न किया है और मनुस्मृति में इसी को आधार मानकर सारी व्यवस्था है। मनुस्मृति में 'ब्राह्मण वर्ण' को बहुत से अपराधों से मुक्त रखा गया है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में शूद्रों के और दासों के सम्बन्ध में जो कुछ उदार व्यवस्था है, मनु में उसका भी परिहार किया गया है। मनु शूद्रों के प्रति अपेक्षाकृत अधिक कटु हैं। बौद्धों के विरुद्ध भी वह अनुदार हैं। इसीलिये विद्वानों का मत है अन्तिम मौर्य सम्राट बृहद्रथ की हत्या करने वाले पुष्यमित्र के पक्ष में यह स्मृति जाती है और इसमें ब्राह्मणों के प्रति पक्षपात के साथ ही शूद्रों के प्रति द्वेष भी है. मनु जन्मजात वर्णव्यवस्था की विचार धारा के कट्टर समर्थक हैं, अतः मनुस्मृति ब्राह्मण्य-वादी व्यवस्था है और सामाजिक दृष्टि से यह अपने समय की क्रान्ति विरोधी व्यवस्था है।

मनु के ऐसा होने के कई कारण हो सकते हैं। उस काल में शकों का प्रभाव सारे देश पर छा गया था। साकेत और काशी तक उनके प्रभाव-क्षेत्र में था। शक बौद्ध थे। बौद्ध 'वर्णव्यवस्था' और 'वेद प्रामाण्य' के विरोधी होते ही हैं। मौर्य सम्राट् भी बौद्ध थे। उस समय ब्राह्मण राजकीय प्रभाव से च्युत थे—उनके हाथ में कोई महत्व का राजा नहीं था। पर समाज में उनका प्रभाव था; और अपने उसी प्रभाव का प्रयोग उन्होंने सेनापति पुष्यमित्र को मगध की गद्दी पर बैठाने में किया। पुष्यमित्र के बाद से ही भारतीय समाज में 'ब्राह्मण्यवाद' का पुनरुत्थान काल शुरू हो जाता है।

स्त्रियों के सम्बन्ध में मनु के जो विचार हैं, उसके पीछे भी ऐतिहासिक कारण हैं। विदेशी शकों को अपने अनुकूल बौद्ध धर्म लगा और सभी शक बौद्ध होने लगे। बौद्ध धर्म में वर्णव्यवस्था और जाति-व्यवस्था नाम की कोई चीज़ नहीं थी; इसीलिए बौद्ध धर्म के ज़रिये शक पूर्ण रूप से भारतीय होते जाते थे। शादी-विवाह, खान-पान इत्यादि सभी मामलों में वे भारतीय होते जाते थे। साथ ही नए जोश के कारण वे ब्राह्मण-व्यवस्था के तीव्र विरोधी भी थे। इसीलिये मनु ने ख़ास तौर से जन्मजात वर्ण-व्यवस्था पर ज़ोर दिया। मनु की वर्णव्यवस्था

में कर्म की प्रधानता संदिग्ध और बहुत ही विवादास्पद है—व्यवहार में उसका कुछ भी महत्व नहीं है। बहुमत मनु की वर्णव्यवस्था को जन्मना मानता है। और कम से कम कुल की विशुद्धि या यों कहिये कि रक्त-शुद्धि की बात तो मनु में निःसन्दिग्ध रूप से है। उन दिनों शील का मूल कुल माना जाता था और कुल का मूल कामिनी—'कुले च कामिनी मूले।' इसीलिये शील और कुल को पवित्र रखने के लिये स्त्रियों पर मनु ने कड़े प्रतिबन्ध लगाए।

पर इसका यह अर्थ नहीं कि मनु ने 'कुल शील' को नष्ट होने से बचाने के लिए ही इस व्यवस्था को क़ायम किया। इस प्रकार की रक्तगत कुलीनता का अन्त बहुत पहले ही हो चुका था। मनु की इस व्यवस्था से बहुत पहले धर्मराज युधिष्ठिर ने स्पष्ट कह दिया था—सब वर्णों के पुरुष, सभी वर्णों की स्त्रियों में सदैव अपत्य जनमते हैं, इस तरह सब वर्णों का संकर हो गया है, अतः मेरे मत से 'जाति' कुल गत सन्तति परम्परा दुष्परीक्ष्य है।',[1] यही नहीं पाण्डु ने अपनी पत्नी कुन्ती को नियोग का आदेश देते हुए श्वेतकेतु कृत विवाह मर्यादा का जो इतिहास सुनाया है, उससे तो और भी साफ़ ज़ाहिर हो जाता है कि महाभारत के ज़माने में ही कितना रक्तमिश्रण हो चुका था।[2] इसीलिये बुद्ध ने शील (धर्म) का मूल कुल को न मानकर चरित्र को माना है। पर चूंकि मनु को अपनी व्यवस्था द्वारा पुष्यमित्र की ताक़त को बढ़ाना था; शकों और बौद्धों के हाथ से शासन-सत्ता छीननी थी; इसलिये उसने ऐसी व्यवस्था बनाई, जिसका सम्बन्ध बुद्धि से नहीं, भावुकता से था। साधारण जन को रक्तशुद्धि के नाम पर उभाड़ना आसान था। ऐसी अवस्था में रक्तशुद्धि के आन्दोलन के लिए अपने को शुद्धरक्त का घोषित करना और फिर रक्त को शुद्ध रखने के नाम पर विरोधियों का दमन करना ज़रूरी माना जाता है।

१—म० भा०, वन०, अ० १८०, ३१-३२।
२— ,, आदि०, अ० १२२।

किन्तु फिर भी स्त्रियों के सम्बन्ध में सारे अन्यायों को मनु पर ही नहीं लादा जा सकता। मनु से बहुत पहले स्त्रियों का दर्जा नीचा हो चुका था। मनु ने तो अपने पक्ष में आने लायक़ व्यवस्थाओं को एक जगह करके अपना पक्ष मज़बूत किया है। मनु से बहुत पहले ही जैनाचार्यों ने स्त्रियों को मोक्ष के अधिकार से वंचित इसलिये कर दिया था कि स्त्रियों को वह नंगा (दिगम्बर) न रख सके। बुद्ध ने बहुत विवाद के बाद यद्यपि स्त्रियों को संघ में शामिल किया, परन्तु उन पर कड़ा अनुशासन लगा दिया। दरअसल भारतीय संस्कृति और साधना अपरिग्रह मूलक है और स्त्री प्रकृति का सीधा एजेन्ट है; इसलिये वह परिग्रह का मूल है; यह एक ख़ास कारण है भारतीय धर्म-साधना में स्त्री का दर्जा नीचा होने का। पर भारतीय समाज में स्त्री का दर्जा नीचा होने का कारण आर्थिक और राजनैतिक भी है।

मनु के काल में स्त्रियों को शिक्षा होती थी; पर उसकी सामूहिक व्यवस्था नहीं थी। बड़े बड़े सामन्तों के घरों में उनके परिवार की लड़कियों की शिक्षा की व्यवस्था थी। ऐसे परिवारों में नाचना, गाना और चित्रकला की शिक्षा की भी व्यवस्था थी। बौद्ध मठों में, जहाँ बौद्ध भिक्षुणियाँ रहती थीं, वहाँ प्रायः सामूहिक रूप से शिक्षा की व्यवस्था रहती थी और इन मठों में लड़कियों के लिये उच्च शिक्षा भी सुलभ थी। पुरोहितों और ब्राह्मणों के घरों में भी लड़कियों की शिक्षा का इन्तज़ाम था। पर्दा की प्रथा नहीं थी; पर आमतौर से स्त्रियों को पुरुषों के सम्पर्क से अलग रखा जाता था।

साधारण तौर से लड़कियों की शादी १५ साल की उम्र में होती थी। २० साल की उम्र तक लड़कियों की शादी न होने पर पिता की निन्दा शुरू हो जाती थी। मनु ने शादी के सम्बन्ध में व्यवस्था दी है कि—"ऋतुमती कन्या तीन वर्ष तक (पिता के दान की—शादी की—) बाट देखे, इसके बाद अपने तुल्य वर को स्वयं वर ले। पिता आदि के दान (शादी) न करने पर यथा समय कन्या किसी

पुरुष को पति रूप में वर ले, तो उसे वा जिससे वह शादी करे, कुछ पाप नहीं होता।" (मनु० ९।९०-९१) पर इसी के आगे मनु ने यह भी कहा है कि—"इस प्रकार स्वयंवर करने वाली कन्या पिता, माता अथवा भाई के दिये हुए आभूषण आदि न ले; क्योंकि उनके लेने से वह चोर गिनी जायगी।" (मनु० ९।९२) इस तरह की व्यवस्था मनु से पहले कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी है; इससे यह साबित होता है कि उस काल में लड़कियों को इतना अधिकार देने के लिये समाज बाध्य था और इसके कारण का पता बताता है मनुस्मृति के ९ वें अध्याय का ८८, ८९ श्लोक, जिसमें लिखा है कि—"ऋतुमती होने पर भी चाहे कन्या जन्म भर घर में ही रहे, परन्तु उसे किसी निर्गुण पात्र को कभी न दे।" और इस गुणी-निर्गुण का चुनाव कन्या के हाथ में नहीं था। इसके साथ ही यह भी था कि—"सुन्दर श्रेष्ठ और रूपवान वर मिल जाय तो कन्या के विवाह योग्य न होने पर भी उसे विधि पूर्वक दे दे।" और इसीलिये ३० साल के पुरुष के साथ १२ साल की कन्या और २४ वर्ष के पुरुष के साथ ८ साल की कन्या तक की शादी की भी व्यवस्था मनु ने की है। (९।९४) इसका रहस्य खुलता है समसामयिक बौद्ध साहित्य से; जिससे पता चलता है कि उस काल में कन्याएँ बेची तक जाती थीं। कौटिल्य में तो इसकी व्यवस्था तक है। मनु में कन्या बेचने की निन्दा भी है और व्यवस्था भी। निन्दा करते हुए मनु कहते हैं—"बुद्धिमान पिता को चाहिये कि कन्या का थोड़ा सा भी शुल्क (मोल) न ले, लोभ से शुल्क लेने वाला मनुष्य सन्तान बेचने वाला होता है।" (३।५१) और व्यवस्था देते हुये मनु कहते हैं—"यदि कोई पुरुष किसी कन्या का शुल्क देकर विवाह के पहले मर जाय, तो कन्या के सहमत होने से शुल्क देने वाले के छोटे भाई के साथ उसका विवाह करदे।" (९।९७) पर आमतौर से मनु का रुझान कन्या विक्रय के विरुद्ध है। और बौद्ध धर्म के प्रभाव के कारण मनु को ऐसा करना पड़ा।

मनु के समय में ८ तरह के विवाह प्रचलित थे। ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, असुर, गान्धर्व, राक्षस और पिशाच। (३।२०) इनमें से ६ का प्रचलन ज़्यादा था, बाक़ी २ निन्दित माने जाते थे। आमतौर से माता पिता की सहमति से होने वाले ब्राह्म विवाह को ही ज़्यादा पसन्द किया जाता था। रक्त-शुद्धि के ख़्याल से स्त्री के जननेन्द्रिय पर विशेष ध्यान दिया जाता था। इसीलिये मनु ने कहा है कि—"मनुष्यों में विवाह विषय के सब मन्त्र केवल कन्या के ही लिये कहे हैं, क्षत योनि के लिये नहीं; क्योंकि वे धर्महीन होती हैं।" (८।२२६) मनु ब्राह्मणवादी व्यवस्था का जनक था; इसीलिये उसने शादी में ब्राह्मणवादी तरीक़े को अनिवार्य रूप से आवश्यक करार दिया है—यहाँ यह याद रहे कि उस काल में समाज के अन्दर बौद्धों की काफ़ी संख्या थी और बौद्ध शादी के लिये आडम्बर मय ब्राह्मणवादी तरीक़े को नहीं मानते थे, जिसका असर ब्राह्मणों की आमदनी पर गहरा पड़ता था। शायद इसीलिये मनु ने सप्तपदी को बहुत ज़रूरी ठहराया। मनु ने कहा है—"विवाह के मन्त्र ही, निश्चय करके, स्त्री के लक्षण हैं, और उन मन्त्रों की सिद्धि कन्या के सातवें पद में पण्डितों को जाननी चाहिये (सातवाँ पाँव रखने के पहले नहीं होती)।" "शादी के सम्बन्ध में मनु की यही सप्तपदी की व्यवस्था हिन्दू-विवाह क़ानून की आधार शिला है।

स्त्री धन के सम्बन्ध में मनु का मत है—"ब्राह्म, दैव, आर्ष, गान्धर्व और प्रजापत्य इन पाँच प्रकार के विवाहों में मिला हुआ छः प्रकार का जो स्त्री धन है, वह स्त्री के सन्तान रहित मर जाने पर उसके पति को मिलता है।" (९।१९६) यह स्त्री-धन छः प्रकार का होता है—"(१) अध्याग्नि, (२) अध्यावाहिक, (३) प्रतिदत्त (४) माता का दिया, (५) पिता का दिया और (६) भाई का दिया हुआ। (९।१९४) अध्यग्नि वह धन है जो अग्नि की साक्षी में बधु के माता पिता देते हैं; अध्यावाहिक वह धन है, जिसे ससुराल जाते समय कन्या को अपने माता पिता से

मिलता है, और प्रतिदत्त उस धन को कहते हैं, जिसे अन्य स्त्री-पुरुष करनी, मुंह दिखाई, पहले पहल वधू के हाथ का खाना खाते समय या नाना रस्मों के अनुसार देते हैं। इस स्त्री-धन पर स्त्री का अधिकार कहा गया है। पर उसमें भी ख़ास विधान हैं। मनु की व्यवस्था है—"कोई भी स्त्री बहुत कुटुम्बियों के साधारण धन में से और अपने भी धन में से बिना पति की आज्ञा के (आभूषण आदि के लिये) धन संग्रह या व्यय न करे।" (९।१९९) ऐसा मालूम होता है कि सम्मिलित कुटुम्ब की शान्ति के लिए ऐसी व्यवस्था का जन्म हुआ था। इसके आगे स्त्री-धन के सम्बन्ध में मनु कहते हैं—"विवाह के अनन्तर पिता या पति के कुल से जो धन मिले और प्रीति पूर्वक जो पति से मिले, वह स्त्री के मर जाने पर उसकी सन्तान का होता है।" (९।१९५)

मनु की राय है कि स्त्रियाँ पुत्रों को उत्पन्न करती हैं, इसलिये भाग्यवती, सत्कार के योग्य और गृह की शोभा हैं। घर में श्री और स्त्री में कुछ भी विशेषता नहीं है; अर्थात् जैसे लक्ष्मी बिना घर की शोभा नहीं, वैसे ही स्त्री के बिना घर की शोभा नहीं। सन्तानोत्पत्ति, उसका पालन और घर के धन्धों की देख भाल करना भार्या के लिये ज़रूरी है—इन्हीं कारणों से भार्या की ज़रूरत है। सन्तानोत्पत्ति, (अग्निहोत्रादि) धर्म कार्य, सेवा, उत्तम रति और पितरों के तथा अपने स्वर्ग प्राप्ति के कार्य केवल पत्नी के ही आधीन हैं। (१।२६, २७, २८) मनु ने समाज को आदेश दिया है कि—"धन संग्रह, व्यय, शरीर आदि की शुद्धि, धर्म कार्य, रसोई बनाना और घर की चीज़ों के देख भाल में स्त्रियों को लगावे।" (९।११) मनु स्त्री की कोई अपनी स्वतन्त्र स्थिति नहीं मानते। उनकी राय में—"बालक, युवती या बूढ़ी स्त्री को भी घर में कोई कार्य स्वतन्त्र होकर न करना चाहिये।" (५।१४७) "स्त्रियों के विवाह की विधि वैदिक संस्कार (यज्ञोपवीत) कहा गया है। पति सेवा ही गुरुकुल में वास और घर का काम ही अग्नि की सेवा है।"[3] (२।६७) "बाल्यावस्था में स्त्री पिता के वश में, यौवन में पति के और पति के मरने पर पुत्र के वश में रहे; स्वतन्त्र कभी नहीं।" (५।१४८) फिर आगे है—"स्त्रियों को पति के बिना अलग व्रत, यज्ञ और उपवास करने का अधिकार नहीं है। स्त्री तो केवल पति की सेवा से ही स्वर्ग में आदर पाती है।" (५।१५५) शायद इसीलिये मनु को यह भी कहना पड़ा कि—"स्त्रियों का संस्कार मन्त्रों से नहीं होता, यही शास्त्र की मर्यादा है। स्मृति तथा धर्म शास्त्र में और किसी मन्त्र में भी इनका अधिकार नहीं है, इसलिये ये झूठ के समान अशुभ हैं।" (९।१८) इस तरह की बात शतपथ ब्राह्मण में भी है—'स्त्रियानृतम्।" आचार्य क्षितिमोहन सेन की राय है कि इस देश में आगमन के समय आर्यों के पास स्त्रियों की कमी थी, इसलिये वह यहाँ की स्त्रियों से शादी-विवाह आदि करने लगे; पर इस तरह यहाँ की चारु और सभ्य स्त्रियों के द्वारा आर्यों के समाज में यहाँ की अवैदिकी सभ्यता का प्रचार हो चला, जिसे रोकने के लिये ही आर्य ऋषियों ने स्त्रियों को यज्ञाधिकार से वञ्चित करके उनको शूद्रों की श्रेणी में डाला।[4] पर नितान्त यही बात नहीं है। आर्य अपने से पूर्व के समाज में खपकर ऐसी व्यवस्था के क़ायल होंगे। मनु का भी कहना है कि—"कन्या, जवान स्त्री, थोड़ा पढ़ा हुआ, मूर्ख, रोगी और यज्ञोपवीत रहित मनुष्य ये अग्निहोत्र के कर्ता नहीं हो सकते।" (११।३६) यह तो हुआ धर्म कार्य में उसके अपने अधिकार की बात। अब उसकी व्यक्तिगत आशा आकांक्षा के सम्बन्ध में कुछ कह दिया जाय। मनु कहते हैं—"पतिव्रता स्त्री को शीलरहित, परस्त्रीगामी वा गुणहीन पति की भी सदा देवता के समान पूजा करनी चाहिये।" (५।१५४) स्त्रियों के सम्बन्ध में मनु की राय है कि वह "न रूप की परीक्षा करती

३—'विशाल भारत' जुलाई १९४२ में 'बौद्ध संस्कृति में नारी' शीर्षक मेरे लेख के 'गृह-अग्नि' के रूपक से इसकी तुलना करें।—लेखक

४—भारतवर्ष में जाति भेद—आचार्य क्षितिमोहन सेन।

हैं न अवस्था की विशेष पर ध्यान देती हैं, परन्तु सुरूप वा कुरूप चाहे जैसे पुरुष को पाकर उसके साथ सम्भोग करती हैं।" (९।१४) शायद इसीलिये स्त्रियों के लिए चिरन्तन बेड़ी की रचना की गई--"बाल्यावस्था में पिता युवावस्था में पति और वृद्धावस्था में पुत्र स्त्रियों की रक्षा करे, स्त्री कभी स्वतन्त्र न रहे।" (९।३) और शायद इसीलिये कहा गया कि—"स्त्री को चाहिये कि पिता वा पुत्र कुल से अपना वियोग न चाहे; क्योंकि स्त्री इनको छोड़कर दोनों कुलों (पितृ कुल और पति कुल) की निन्दा कराती हैं।" (५।१४९) यहाँ यह याद रहे कि मनुस्मृति के रचना के समय बहुत सी स्त्रियाँ पितृ-कुल और पति कुल के अन्याय से बचने के लिये बौद्ध भिक्षुणी हो जाती थीं। थेरी गाथा में इसका बहुत प्रमाण भरा है। शायद उसी को रोकने के लिए इस व्यवस्था की ज़रूरत महसूस हुई हो। क्योंकि इस व्यवस्था के पहले कोई भी ऐसी व्यवस्था नहीं थी।

मनु ने स्त्रियों को जिन सख्त बन्धनों में बांधा है, उसमें स्त्रियों के लिये आकर्षण की, सम्मान की कोई भी बात न होती यदि मनु ने पुरुषों के लिये यह हिदायत न दी होती कि वह उनका आदर भी किया करें। पर एक दृष्टि और भी हो सकती है कि मनु ने स्त्रियों के लिये जिस सख्त व्यवस्था की रचना की, उससे स्त्रियों में असन्तोष का पैदा होना स्वाभाविक था; इसलिये मनु ने स्त्रियों का आदर करने की बात कह कर उस असन्तोष को दूर करने की कोशिश की—क्योंकि उस आदर के अन्दर भी उनके स्वाभिमान का ख़्याल नहीं है। मनु का कहना है—"जहाँ स्त्रियों का आदर किया जाता है, वहाँ देवता रमण करते हैं; और जहाँ इनका अनादर होता है, वहाँ सब काम निष्फल होते हैं। जिस कुल में जामि (स्त्री, पुत्र वधू) स्त्रियाँ शोक करती हैं, वह कुल शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, और जहाँ यह शोक नहीं करतीं वह कुल निश्चय करके बढ़ता है। जिन स्त्रियों का आदर नहीं होता है, वे जिन कुलों को शाप देती हैं, वे मारण (एक तरह का मन्त्र) से मारे जाने के समान चारों ओर से नष्ट हो जाते हैं। इसलिये सम्पत्ति चाहने वाले मनुष्यों को चाहिये कि आदर के अवसरों पर और उत्सवों में वस्त्राभूषण और भोजनों से सदा स्त्रियों का आदर करें। जिस कुल में स्त्री से पति प्रसन्न रहता है और उसी प्रकार पति से स्त्री प्रसन्न रहती है, वहाँ निश्चय करके अचल कल्याण होता है।" (३। ५६ से ६०) यह साफ़ है कि इस व्यवस्था से स्त्रियों के अधिकार में कुछ भी वृद्धि नहीं होती। इस व्यवस्था से यही ज़ाहिर होता है कि दुधारी गाय को चारा-पानी, चुमकार-पुचकार से रखना चाहिये; मारना पीटना नहीं चाहिये।

बहु विवाह की प्रथा हिन्दुस्तान में बहुत पुरानी है। वैदिक काल में भी राजाओं को दस स्त्रियाँ तक रखने का क़ानूनी हक़ था। पर ग़ैर भारतीय आर्यों में बहु विवाह की प्रथा नहीं पाई जाती। भारतीय आर्यों में ही यह प्रथा क्यों जारी हुई, यह एक विवादास्पद प्रश्न है। महाभारत काल में विजित शत्रु की स्त्रियाँ, जो पसन्द हों—हरम में डाल ली जाती थीं। बहु-विवाह के पीछे आर्थिक कारण भी निहित है। जीते हुए प्रदेश पर अपना अधिकार अक्षुण्ण रखने के लिये और वहाँ के लोगों की सहानुभूति पाने के लिए वहाँ की स्त्रियों को रानी बनाया जाता था। जीते हुए प्रदेशों और बहुत सी ज़मीन पर अपना आधिपत्य जमाने के लिये अपनी सन्तान का होना उस काल में ज़्यादा अच्छा समझा जाता था, जिसके लिये एक स्त्री से १० सन्तान तक की आशा की जाती थी—और बहुत सी सन्तानों के लिये बहुत सी स्त्रियों से शादी करना अच्छा समझा जाता था। पर आगे चलकर यही कलः का भी कारण होने लगा। बाद में जैनों और बौद्धों के प्रचार ने इस भोगवाद के विरुद्ध त्याग और संयम का वातावरण पैदा कर दिया, इसीलिये चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में बहु विवाह के प्रति जन-मत में एक तरह की उपेक्षा का भाव था—अर्थात् संयम का आदर्श कौटिल्य अर्थशास्त्र से मालूम होता है। मनु ने भी

इस आदर्श का निर्वाह किया है। मनु ने बहु विवाह को प्रोत्साहन नहीं दिया। इसीलिये मनु ने ख़ास हालतों में बहु विवाह की व्यवस्था दी। जैसे—"मद्य पीने वाली, दुश्चरित्र, पति से द्वेष करने वाली, असाध्य रोग वाली, नौकर आदि को ताड़ना करने वाली और सदा धन नष्ट करने वाली स्त्री के होते भी दूसरा ब्याह कर ले।" (९।८०) "जो रोगिणी स्त्री अपने पति में रत और सुशील हो, तो स्त्री की अनुमति लेकर पति दूसरा विवाह करे और उसकी कभी अवज्ञा न करे।" (९।८२) यह क़ानून कितना ढीला है इसे लोग अच्छी तरह समझ सकते हैं। इस व्यवस्था में पुरुषों के निकास के लिये काफ़ी गुञ्जाइश है। तुलनात्मक दृष्टि से इस जगह मनु की व्यवस्था स्त्रियों के प्रति बहुत ही अन्याय जनक है। मालूम होता है मनु के काल में ही इस तरह के बहु विवाह मे स्त्रियाँ कभी कभी बहुत असन्तुष्ट होकर विद्रोह कर बैठती थीं। ऐसे विद्रोह को दबाने के लिये मनु ने जो व्यवस्था दी, उसमें उन्होंने निर्ममता की हद कर दी। मनु कहते हैं—"दूसरा विवाह करने पर यदि स्त्री क्रोध के वश होकर घर से निकलने को तैयार हो, तो तत्काल उसे बाँध कर रखे अथवा स्वजनों के सामने उसे त्याग दे।" (९।८३) "स्वामी को चाहिए कि द्वेष करने वाली अपनी स्त्री की (ठीक होने के लिये) एक वर्ष तक राह देखे, वर्ष के बाद उससे आभूषण आदि छीनकर उसका संग छोड़ दे।" (९।७७) यह तो हुई पति के दूसरी शादी करने के कुछ ही बाद की बात। मालूम होता है बहु विवाह में सन्तान की समस्या बहुत भीषण थी; इसीलिये मनु को कहना पड़ा कि—"जिन स्त्रियों का एक ही पति है (अर्थात् जिन महापुरुषों ने महर्षचुम्बी बनने का गौरव प्राप्त किया है, उनकी स्त्रियाँ) उनमें से यदि एक भी स्त्री पुत्रवती हो तो उस एक पुत्र से सब स्त्रियाँ अपने को पुत्रवती जाने।" (९।१८३) पर स्त्रियों के सम्बन्ध में यह व्यवस्था जहाँ वर्ण भेद से मिल जाती है—अर्थात् जब मनु की यह व्यवस्था एक ऐसे व्यक्ति के लिये लागू होती है, जिसने अपने से नीचे वर्ण की स्त्री से शादी की हो, तो फिर मनु मनुष्यता को भी भूल जाते हैं। मनु ने यहाँ तक कहा है कि—"सब वर्णों में स्वामी के शरीर की सेवा और नित्य का धर्मकार्य केवल स्वजातीय स्त्री ही करे, विजातीय कदापि नहीं—ना स्वजातिः कथंचन।', (९।८६) क्या इससे साबित नहीं होता कि नीच वर्ण की स्त्रियों को रखेली दासी की तरह रखे ? ज़रा और आगे चलिये—"जो ब्राह्मण मोह से स्वजातीय स्त्री के होते अन्य जाति की स्त्री से इन कर्मों को कराता है, वह ब्राह्मणी में शूद्र से उत्पन्न हुआ ब्राह्मण—चाण्डाल के समान है।" (९।८७) यदि ब्राह्मण के चार वर्ण की चार स्त्रियाँ हों तो "·········उनसे उत्पन्न हुए पुत्रों में विभाग नियम यह है—'हल जोतने वाला बैल और साँड़, सवारी, आभूषण और घर; ये जहाँ तक हो सकेगा ब्राह्मणी के पुत्र को दिये जायँगे। बाक़ी में—ब्राह्मणी के पुत्र को तीन हिस्सा, क्षत्रिया के पुत्र को दो हिस्सा वैश्या के पुत्र को डेढ़ हिस्सा और शूद्रा के पुत्र को एक हिस्सा।" (९।१४९-५१) और यदि कोई ब्राह्मण आचार्य महोदय किसी छबीली चमारिन पर रीझ कर (ज़रा सचाई से) उसे अपने घर में रख लें, तो मनु ने कहा है कि चेला लोग उसको प्रणाम न करें—यद्यपि उदाहरण रूप में इसी अध्याय में मनु महाराज ने बताया है कि "अधम योनि में उत्पन्न हुई अक्षमाला का वसिष्ठ के साथ विवाह होने से और शारंगी का मन्दपाल ऋषि के साथ विवाह होने से वे परम पूज्य हुई थीं।"

पुराने समय में नियोग की व्यवस्था थी। पाण्डु के पाँचों पुत्र नियोगज सन्तान थे। धृतराष्ट्र और पाण्डु भी नियोग से ही इस धरती पर आये—और यह नियोग हुआ भगवान वेदव्यास के साथ। लेकिन इस काल में मनु का रुझान नियोग के विरुद्ध जाता है। मनु का रुझान नियोग के विरोध में क्यों जाता है, इस प्रश्न के उत्तर में उस काल का आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक ढाँचा देखना होगा। मनु के काल में सामन्तवाद का विकास अपनी चरम

सीमा पर था, नियोग की प्रथा से कौलीन्याभिमान को धक्का लगता था, जिसका असर जन्मना वर्ण व्यवस्था पर जाता था; और इसका परिणाम समाज की उच्च श्रेणी—जिनका प्रभाव था और जो शक्ति सम्पन्न थे—के विरुद्ध जाता था; यही सब कारण है, जिससे मनु का रुझान नियोग के विरुद्ध जाता है। लेकिन तात्कालिक समाज में नियोग को एक दम त्याज्य करार देना असम्भव था, इसलिये मनु को कुलीनता और वर्ण व्यवस्था का ख़याल रखते हुए नियोग की अनुमति देने के लिये बाध्य होना पड़ा। मनु ने व्यवस्था दी है कि—"निज स्वामी से सन्तान न होने पर स्त्री पति की आज्ञा से अपने देवर वा अन्य सपिण्ड पुरुष से इच्छित पुत्रलाभ कर सकती है।" (९।५९) पर सम्पत्ति के बटवारे के सम्बन्ध में मनु ने झगड़ा लगा दिया—"यदि छोटा भाई जेठे भाई की स्त्री में पुत्र उत्पन्न करे, तो वह पुत्र अपने चाचा लोगों के समान अंश का भागी होगा, यही धर्म की व्यवस्था है। छोटे भाई से जेठे भाई की स्त्री में उत्पन्न होने पर भी वह पुत्र जेठे की भाँति अंश का भागी नहीं हो सकता; निज क्षेत्र में सन्तान उत्पन्न करने में क्षेत्र ही प्रधान है; इसलिये पहले निर्णित दायभाग ही ठीक है।" (९।१२०-२१) और नियोग की निन्दा में मनु के शब्द इस प्रकार हैं—"जो स्त्री सन्तान के लोभ से भर्ता का अतिक्रमण करती है (अर्थात् पर पुरुष से सन्तान उत्पन्न करती है) वह इस लोक में निन्दा पाती है और परलोक से भी भ्रष्ट हो जाती है। इस संसार में दूसरे से उत्पन्न हुई सन्तान और दूसरे की स्त्री में उत्पन्न की हुई सन्तान शास्त्र रीति से सन्तान नहीं कहाती और पतिव्रता स्त्रियों को दूसरा पति कहीं भी नहीं कहा है।" (५।१६१-६२) आगे मनु ने विवाह के मन्त्र का हवाला देते हुए लचर दलील पेश कर कहा है कि "विवाह के मन्त्र में कहीं भी नियोग नहीं कहा गया है", किन्तु पता नहीं विवाह के मन्त्र में नियोग का प्रसंग कहाँ है?

मनु के काल में स्त्रियों की सार्वजनीन स्थिति क्या थी, यह बताना कठिन है। पर मनुस्मृति के विधान से ऐसा लगता है कि मनु के विचार इस दिशा में भी स्त्रियों के प्रति उदार नहीं थे। मनु महाराज कहते हैं—"......ये (जड़ आदि) अपमानित होने से तथा (शुक सारिका) पक्षी और विशेष कर स्त्रियाँ (अस्थिर बुद्धि होने से) मन्त्र का भेद खोल देते हैं; अर्थात् दूसरों के सामने कहते फिरते हैं, इसलिये राजा इन्हें यत्नपूर्वक हटा दे।" (७।१५०) "मूर्ख, गूँगे, अंधे, बहिरे, बहुत बूढ़े (शुक सारिकादि) पक्षी, स्त्री, म्लेच्छ (उस काल में शक आदि को कहते थे) रोगी और विकलांग, इनको राजा सलाह के समय हटा दे।" (७।१४९) साफ़ ज़ाहिर है कि उस काल के सार्वजनिक जीवन में स्त्रियों का ज़रा भी महत्वपूर्ण स्थान नहीं था।

पति के परदेश जाने पर स्त्रियों के गुजारे के लिये मनु ने भी विधान बनाया है। पर उसके पहले कौटिल्य ने भी इस सम्बन्ध में व्यवस्था दी थी। किन्तु कौटिल्य और मनु में काफ़ी फ़र्क़ है। मनु की राय है—"पति धर्मकार्य के लिये विदेश जाय तो आठ वर्ष तक, विद्या पढ़ने या यश प्राप्ति के लिये जाय तो ६ वर्ष तक और इन्द्रिय उपभोग के लिये जाय तो तीन वर्ष तक, स्त्री उसकी बाट देखे।" (९।७६) फिर यह भी है कि—"निर्वाह के योग्य वृत्ति देकर जब जब पति परदेश में रहे, तब तब स्त्री नियमपूर्वक अपना निर्वाह करे; और जो पति जीवन निर्वाह का प्रबन्ध बिना किये परदेश चला जाय, तो स्त्री (सीना पिरोना आदि) अनिन्दित शिल्पों से अपना निर्वाह करे।" (९।७५) यहीं यह भी है—"कार्यवान् पुरुष पत्नी को पोषण के योग्य वृत्ति देकर विदेश जाय, क्योंकि जीविका का उपाय न रहने पर मर्यादा में स्थिर स्त्रियाँ भी दुष्ट हो जाती हैं।" (९।७४) शायद यदि स्त्रियों के दुष्टा हो जाने का डर न होता, तो मनु पुरुषों को स्त्रियों के लिये जीविका निर्वाह जुटाने का कष्ट भी न देते।

मनुस्मृति की रचना के पहले तो विधवा विवाह होता ही था, मनु के बहुत बाद सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने रामगुप्त की पत्नी अपनी विधवा भाभी

ध्रुवस्वामिनी को अपनी पटरानी बनाया था, यह इतिहास सिद्ध बात है। किन्तु मनुस्मृति से ऐसा मालूम होता है कि उस काल में ही ब्राह्मण आचार्यों का रुझान विधवा विवाह के विरुद्ध हो गया था। मनु का कहना है कि—"शास्त्र जानने वाले द्विजातियों ने इस पशु धर्म (विधवा विवाह) को निन्दित कहा है, मनुष्यों में इसका प्रचार वेणु राजा के राज्य में हुआ। सम्पूर्ण पृथ्वी के पालक तथा राजर्षियों में मुख्य उस वेणु ने काम से नष्ट बुद्धि होकर इस वर्णशंकरपने को फैलाया।" (९।६६ ६७) इस तरह मनु ने विधवा विवाह की घोर निन्दा की है। ऐसा लगता है कि मनु की यह प्रवृत्ति बढ़ती ही गई। यही कारण है सती-दाह की प्रथा के प्रवर्तित होने का। सती-दाह के सम्बन्ध में सबसे पहला प्रमाण मिलता है ५१० ई० में भानुगुप्त के सेनापति गोपराज के मरने पर उसकी पत्नी के सती होने का। इन सारी बातों से सिद्ध होता है कि मनुस्मृति के बाद से ही उन सारी रूढ़ियों और प्रथाओं का जन्म हो जाता है, जिनके कारण भारतीय समाज त्रयाक्रान्त हो गया।

सभी भारतीय विद्वान् इस सम्बन्ध में एक मत हैं कि आज हिन्दू समाज जिन नियमों और रूढ़ियों द्वारा अनुशासित होता है, उन सब का पचासी प्रतिशत ईसा की पहली से लेकर पाँचवीं शताब्दी तक में प्रवर्तित हुआ। इस काल में हिन्दू समाज में जितने विधान बने, वे सब मनु की व्यवस्था को आधार मानकर बने। याज्ञवल्क्य और नारद स्मृति तथा शुक्र नीति पर भी मनु का गहरा प्रभाव है। यही कारण है कि मनुस्मृति से लेकर गोस्वामी तुलसीदास तक ने स्त्रियों के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा है, उन सब में एक गम्भीर समता है। यह सच है कि स्त्रियों के सम्बन्ध में मनु की अपेक्षा याज्ञवल्क्य और नारद स्मृति उदार है, और इसका कारण है सम सामयिक स्थिति; पर इसमें शक नहीं कि सब में एक ही भावधारा प्रवाहित है।

विदेशी अंग्रेजों के हाथ में हिन्दुस्तान का शासन सूत्र जाना, विज्ञान का विकास और दुनिया के सम्पर्क में हिन्दुस्तान का आना, क़रीब क़रीब एक ही काल की घटना है। इसी काल में स्व० राजाराम मोहनराय प्रवर्तित हुए। समाज में स्त्रियों के सम्बन्ध में कथित क्रान्तिकारी परिवर्तन करने वाले सबसे पहले व्यक्ति राजाराम मोहनराय थे। इसके बाद स्व० स्वामी दयानन्द जी ने स्त्रियों सम्बन्धी सामाजिक नियमों में वैदिक कालीन सुधार करने की कोशिश की। पर स्वामी दयानन्द की कोशिश वर्ण व्यवस्था को मानकर और उसकी एक अपनी व्याख्या के आधार पर थी। यही कारण है कि इन सारी कोशिशों के बावजूद भी स्त्रियों के सम्बन्ध में भारतीय समाज मनु की व्यवस्था से आज भी बँधा है। विवाह में सप्तपदी आज भी ज्यों की त्यों स्थान रखती है। १८८६ से १९०९ तक बम्बई, मद्रास और कलकत्ता के हाईकोर्टों ने सप्तपदी न होने के कारण तीन विवाह को नाजायज़ करार दिया है। हिन्दू विवाह क़ानून में बहु पत्नीत्व आज भी जायज़ है। 'दि प्रिंसपल्स आफ़ हिन्दू लॉ' के दूसरे अध्याय में सर दीन शा फ़िरोज जी मुल्ला ने कहा है कि भारतवर्ष का कुल क़ानून और ख़ासकर हिन्दुओं पर लागू होने वाला क़ानून मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति और नारद स्मृति के आधार पर बने हैं। और उसमें भी मनुस्मृति ही प्रधान है। यहाँ यह याद रहे कि ब्रिटिश हुकूमत स्त्रियों और शूद्रों के सम्बन्ध में तो हिन्दू शास्त्रों को मानती है, पर हिन्दुओं की ऐसी किसी बात को वह मानने के लिए तैयार नहीं, जिसके कारण उसके किसी स्वार्थ पर धक्का लगे। विज्ञान के युग में लोकतन्त्र का नाम लेने वाली ब्रिटिश सरकार का मनु की एक दो प्राचीन व्यवस्था से चिपके रहना और बाकी को सफाई के साथ अलग हटना यह सिद्ध करता है कि ब्रिटिश हुकूमत जानबूझ कर हिन्दुस्तान में सामाजिक क्रान्ति नहीं होने देना चाहती। जिन स्वार्थों से देशी नरेशों का समर्थन किया जाता है, उन्हीं के लिये इस सामन्तयुगीन और सड़ी हुई व्यवस्था को भी जीवित रखने के लिए क़ानून का रूप दिया गया है। यह है गूढ़ प्रतिगामी नीति।

विचार-तरंग

श्री चारवाक

नव जीवन

मानव जाति एक विश्वपरिवार है। मानव-समाज में, चाहे वह कहीं किसी भी देश में हो, कुछ ऐसी बातें, रवैये, ऐतिहासिक घटनायें और विचार-धारायें हैं जो सभी देशों में यथावत् या कुछ कमी बेशी या हेर फेर के, साथ पाई जाती हैं। पर दुनिया में दो ऐसे देश हैं जिनके इतिहास, संस्कृति, सभ्यता, जीवन-आदर्श, समाज-संगठन इत्यादि में बहुत बड़ी समता है। ये दो देश हैं—भारतवर्ष और चीन। इनके उत्थान, पतन, विदेशियों के क्रीड़ास्थल बनने और उनके शोषण-क्षेत्र हो जाने में भी बहुत कुछ समता है। इसीलिए चीनी जीवन के सामाजिक पतन की तुलना अपने देश के पतन के साथ करके अपने देशवासियों के भारत के पुनरुत्थान के लिये उन उपायों का अवलम्बन करने का परामर्श दिया जा सकता है जो च्यांग-काइ-शेक ने चीन निवासियों के सामने रखे हैं।

चीनी जनता भी हमारे देश के जनसमूह की तरह उत्साहहीन और जीवनहीन, अकर्मण्य और स्वार्थी हो गई थी। अपने भले बुरे की पहचान की विवेक बुद्धि कनफूशियस की सन्तानों में भी ऋषियों की सन्तानों की तरह से ही लुप्त हो रही थी। स्वार्थ, वैमनस्य, संकीर्णता, मूढ़ता, भ्रांत-धर्म, और हीनबुद्धि का दौरा, हमारे समाज की तरह चीनी समाज में भी हो गया था।

उस राष्ट्रीय क्षय रोग के दूर करने के लिये च्यांग-काइ-शेक ने दवा की चार गोलियाँ बनाईं जो हरेक चीनी के खाना लाज़िमी है—(१) लि (२) इ (३) लिउन और (४) चिह। इस लि-इ-लिउन-चिह औषधि के द्वारा चीनी जनता में कर्मनिष्ठता, संयम, सदाचरण, सद्विवेक, ईमानदारी, आत्म-चेतना और आत्म-सम्मान का संचार होने लगा।

इसका असर यह हुआ कि चीनी समाज में आन्दोलन और संगठन की महत्वाकांक्षा का प्रादुर्भाव हुआ। इसमे चीन के विभिन्न प्रांत अपनी प्रांतीय स्पर्द्धा और खींचातानी—अपनी अपनी डफ़ली अपना अपना राग—बन्द करने लगे। कृषकों के, मज़दूरों के, आंदोलनकारियों के और समाज सुधारकों के संघ स्थापित होने लगे। और वे इन संघों के द्वारा कार्य करने लगे।

इन आन्दोलनकारी प्रचारकों की धारणा है (और यह धारणा सही है) कि आन्दोलन अपने घर और गाँव से शुरू होना चाहिये। जनता का सुधार करने और उसमें सद्भाव उत्पन्न करने के लिये सरकारी कर्मचारियों में आन्दोलन और सुधार की आकांक्षा का प्रचार सबसे पहले होना चाहिये। परिवर्तन, आन्दोलन, क्रान्ति अथवा सुधार छोटी छोटी बातों में या उनसे शुरू होने चाहिये। समाज सुधारकों के छोटी छोटी बातों में सुधार व परिवर्तन करने चाहिये।

संसार के प्रत्येक देश के पतन और उत्थान के कारण अपनी अन्दरूनी ख़राबियाँ और विदेशियों के साथ निम्न स्वार्थपूर्ण संसर्ग हैं। पर जिस तरह चीन के विदेशियों ने ग़ारत किया उसी तरह विदेशियों के ही उसके उत्थान का कारण होना पड़ रहा है। सुनयातसेन ने एक विदेश (अमेरिका) में ही शिक्षा पाकर और प्रजासत्ता राजव्यवस्था के फ़ायदे देख कर अपने देश चीन में शाही शासन के जड़ से उखेड़ कर प्रजातन्त्र की स्थापना का आयोजन किया। चीन की जनता की सेवा रूस के सोवियत् राज्य ने भी अपने ढंग से की। उन्होंने चीन की बिखरी हुई शक्ति के साम्यवाद के झण्डे के नीचे एकत्रित करने की कोशिश की।

जनता अथवा जनसमुदाय को सुख पहुँचाने, पेट भर खाना देने वाली शक्ति, प्रत्येक स्त्री पुरुष में अपने देश की उन्नति व रक्षा के लिये ख़ून बहाने की तैयारी करने वाली शक्ति, हरेक बालक बालिका युवक वृद्ध के बनाती है कि "तुम्हारे देश की भूमि, खानों, धन दौलत, हरेक चीज़ में तुम में से प्रत्येक का हिस्सा है। उस राष्ट्रीय सम्पत्ति का उपभोग करना तुम सब का नैसर्गिक, जन्मसिद्ध सत्त्व (हक़) है। सब मिलकर उसका उपभोग करो। उसकी वृद्धि करो! उसकी रक्षा करो।"

यही मन्त्र रूस ने चीन को सिखाया। यही नव-जीवन, नई ज़िन्दगी है। नई ज़िन्दगी की लहर चीन में लहरा उठी। नई ज़िन्दगी की हवा भारतवर्ष में भी पहुँची। इस हवा का वेग किसी के रोके नहीं रुकेगा। आज नहीं तो कल सही, चीन की तरह हिन्दुस्तान की जनता भी अपने समाज की कुरीतियों, कमज़ोरियों, जाति पाँति के भेद, ऊँच नीच, छुआछूत, हिन्दू मुसलिम के भेदभाव के ख़यालों को तर्क कर, सब भारतवासियों को रूसियों की तरह, अपने भाई बहन समझ कर, चीन की तरह अपने देश व समाज की रक्षा और उन्नति करेगी।

हरेक युग में प्रत्येक देश व जाति को कोई न कोई नेता, सूत्रधार, मिलता है। नवीन जीवन का प्रादुर्भाव सबसे पहले चीन में १९११ में डा० सनयात सेन के द्वारा हुआ। उन्हीं के विचार तथा आदर्श को सामने रखकर च्यांग-काइ-शेक ने चीन में नई ज़िन्दगी का संचार और चीन का उत्थान करने का प्रयत्न किया। १९१७ में रूस में लेनिन ने नई ज़िन्दगी का मन्त्र रूस निवासियों के कानों में फूँक कर रूस का कायाकल्प किया।

१९२० में महात्मा गान्धी ने नवीन जीवन का सिंहनाद हिन्दुस्तान में किया। महात्मा गान्धी का जीवनोत्थान मन्त्र नया नहीं है। इस मन्त्र को महात्मा जी ने १९२३ में काशी विद्यापीठ के स्नातकों को ऋषियों के इन शब्दों में दिया —

"अपने पूर्वजों की ओर तुम्हारा कर्तव्य है—मानव जाति से अन्याय, कायरता और दरिद्रता को हटाओ। उनकी जगह भ्रातृभाव, आत्मगौरव और सत्य स्थापित करो। ऋषियों की ओर तुम्हारा फ़र्ज़ है—अविद्या को हटाना, ज्ञान का प्रचार कर अधर्म को नष्ट करना, धर्म को फैलाना, स्वार्थ का त्याग करना और परोपकार का अवलम्बन करना। देश के प्रति तुम्हारा फ़र्ज़ है—मानव जाति में धर्म का प्रचार करना, प्रकृति की शक्ति और निधि का संग्रह करके उनको मनुष्य की सेवा में लगाना। संसार में अपने कर्तव्य को पूरा करके जीवन के अन्तिम समय को ईश्वर की उपासना में ही व्यतीत करो।" और अन्त में महात्मा जी ने नव युवकों को परामर्श दिया—"हमारा सारा जीवन कर्तव्य (ड्यूटी) है—अर्थात् अपने देश व समाज के प्रति हमारा फ़र्ज। तब तक तुम विश्राम नहीं कर सकते जब तक तुम अपने देश के लिये स्वाधीनता प्राप्त न करो।" यही इस समय एकमात्र कर्तव्य व धर्म हम सब का है।

देश के उत्थान और उसकी स्वतन्त्रता के लिये आवश्यक है कि युवक लोग ऋषियों के यानी त्यागी विद्वानों के उपदेशों पर आधुनिक काल की स्थिति और आवश्यकताओं के अनुसार अमल करें।

संस्कृत भाषा में शास्त्रों के पठन पाठन से, पूजा पाठ करने, देवी देवताओं को बलि देकर पूजन करने आदि से धर्म की रक्षा नहीं होती। हमको ईश्वर, ख़ुदा, अल्लाह को, हरेक आदमी में ढूंढ़ना और पाना होगा। हमको नर में नारायण की पूजा करनी होगी। अर्थात् मनुष्य की आराधना और सेवा करना ही नवयुवकों का धर्म है। हमारा नारायण नर है। उसके लिये जीवन सुख से व्यतीत करने के आवश्यक साधन पाना, मानसिक भोजन यो यथार्थ विद्या देना, उसे अपने सत्व और शक्ति का प्रयोग करने को पूरा पूरा अवकाश देना और उसकी राह से उन्नति की रुकावटों को हटाना हम सबका परम कर्तव्य, परम धर्म है। इसीसे नव जीवन की सच्ची लहरें फैलती हैं।

आठ पत्र

श्री विजय वर्मा

श्रीमती जी,

वन्दे०। जिस अद्भुत घटना का रहस्य तुम समझना चाहती हो उसे मैं समझा सकता तो अवश्य समझाता। 'कर्म-गति' की गहनता सभी अधिकारी लोग स्वीकार करते आये हैं और यह भी मानते आये हैं कि उसके बहुत थोड़े रहस्यों को हम मानवीय ज्ञान की सीमा के भीतर पाते हैं। वस्तुतः ऐसी स्वीकृति विज्ञान के सभी क्षेत्रों के लिए अनिवार्य हो जाती है और कर्म-विज्ञान तो इनमें सबसे अधिक दुरूह विज्ञान है।

हाँ, जो लोग विज्ञान का नाम ले लेकर ही मनमाना चिल्लाते हैं और अपने प्रचारवाद में इस नाम से सहायता लेते हैं, उनके विरुद्ध मेरा कुछ लिखना लिखाना बिल्कुल व्यर्थ है। पर मेरा यह विश्वास है—और इस विश्वास के सबल कारण हैं—कि यह सब धाँधलीबाज़ी अब अधिक समय चल नहीं सकती। सच्चे त्यागी और विद्वानों का दल इतना आगे बढ़ चुका है और इतनी अधिक शक्ति संचित कर चुका है कि अब तरह तरह के 'स्थिर स्वार्थ' नये नये रूप धर कर उनकी प्रगति में कोई वास्तविक बाधा डालने में असमर्थ होंगे।

तुम 'कुमार' जी की बातों का उत्तर प्रकाशित करा देना ज़रूरी समझती हो, क्योंकि उनकी इन बातों को पढ़कर तुम आवेश में आ गई हो, पर मैं तो उन्हें पिछले दस साल से जानता हूँ। उनकी बातों का जवाब मौन ही है। वे अपनी बातों का उत्तर हमसे भी बढ़ कर स्वयं ही लिख सकते हैं। किन्तु इस समय तो उन्हें अपना मनमाना काम बनाना है और जिस तरह वे ठीक समझते हैं उसी तरह इसे कर रहे हैं। अगर उनकी बातों से वह काम वैसा न बना जैसा वे चाहते हैं, या भविष्य में घटनायें और ही प्रकार की हुईं तो तुम देखोगी, वे स्वयं ही फिर हमारी ओर आ जावेंगे और उन्हीं सिद्धान्तों का समर्थन अपनी पूर्ण विद्वता के साथ करने लगेंगे जिन्हें हम मानते हैं। इस समय वे अद्भुत जाल में फँसे हुए 'कामकामी' हैं।

मोहिनी में जैसी आकर्षण शक्ति इस समय उनके लिए है उससे वे अपने आपको बचा नहीं सकते और जान पड़ता है मोहिनी भी अपने को उनसे अलग नहीं कर सकती। प्रतीक्षा और भविष्य में विश्वास ही हमारे लिए उचित सहारे हैं।

तुम्हारा शुभेच्छु
राजेन्द्र

[२]

श्रीमन्,

वन्दे०। आपका पत्र मिला। यह सब आपने क्या लिखा है? क्या ऐसा लिखना आपके लिए किसी तरह भी शोभाप्रद है? 'प्रतीक्षा और भविष्य में विश्वास!'—नहीं, नहीं, सौ बार नहीं, हज़ार बार नहीं। हमें इसी समय काम करना है। अगर घर में सेन्ध लग गई हो, माल लुट रहा हो, या डाकू घुस आये हों तब भी क्या आप ऐसी ही सलाह देंगे? ऐसा न कीजिए, नहीं तो मैं आपके प्रति भी अपना विश्वास खो बैठूंगी। उत्तर लिखिए और खूब कड़ा। सत्य की अनेकरूपता पर आपने एक दो पृष्ठ मेरे लिए नहीं लिख डाले, यही ग़नीमत है। महोदय! यह सत्य की विरूपता है—यह घोर असत्य है। क्या असत्य को भी हम सत्य का एक रूप समझें? जैसे अंधकार प्रकाश का एक रूप है!

यह नहीं है कि ये लोग इधर-उधर की थोड़ी सी अधकचरी बातों को पढ़कर बहक गये हों। इनका 'वैज्ञानिक' साहित्य उससे कई गुना है जितना चीन में स्त्रियों के पैर छोटे रखने के 'वैज्ञानिक' महत्व पर मौजूद है। और इनके दो उद्देश्य हैं—(१) भूत और

वर्तमान में अपने देश को सब तरह गया बीता साबित करना और (२) भविष्य में किसी दूसरे देश की सेना और पूँजी से अपने दल भर का उद्धार। अन्य प्रत्येक देश में यह घोर विश्वासघात और देशद्रोह माना जाता है—सज़ा होती कठोर कारावास तथा जब तब मृत्युदण्ड तक। पर यहाँ तो उसी के लिए सभी सुभीते मिले हुए हैं, और तरह तरह पुरस्कार पाने की ही आशा है। क्या रूस में एकराष्ट्रीयता का भाव नहीं है? अमरीका की अड़तालीस रियासतें—जिनमें रूस की भाँति ही तरह तरह की जातियों, नस्लों और ज़बानों के समूह तो हैं ही; इनके अलावा तरह तरह के धर्म भी मौजूद हैं—क्या आपस में मिल जुल कर एककेन्द्रीय सत्ता के अधीन नहीं है? और क्या वहाँ के प्रेज़िडेन्ट को मज़दूरों की हड़ताल की दशा तक में कारख़ानों पर गवर्नमेन्ट का क़ब्ज़ा कर लेने तक का अधिकार प्राप्त नहीं है? फिर हमारे ही यहां ऐसी एक सत्ता न हो, हम तरह तरह से बँटे रहें, इसके लिए जो सैकड़ों प्रकार से मनमानी कोशिशें हो रही हैं और जिनमें 'कुमार' जी मोहिनी के बहकाने में आकर इस तेज़ी से शामिल होगये है, उन के विरुद्ध हम क्यों न बोलें और कुमार जी से हम अपना अब तक का सम्बन्ध कैसे बनाये रखें? मेरे जो निकट सम्बन्धी अब तक जेल में पड़े हुए हैं उनके प्रति मेरा यही कर्त्तव्य है क्या?

व्यथिता

रमा

[३]

श्रीमती जी,

घटना-चक्र, जैसा कि मैंने समझा था, 'कुमार' जी के ख़िलाफ़ जा रहा है और इस मास मोहिनी से उनकी-तनातनी शुरू हो गई है। यह अनिवार्य था। कुमार यह समझते थे कि वे मोहिनी में 'वर्ग-चेतना' ला रहे हैं और इस तरह उसे सभी 'उच्च' कही जाने वाली जातियों, धर्मों और व्यवस्थाओं की विरोधिनी बनाने में समर्थ हो सकेंगे और उसके धन का उपयोग अपने मत के प्रचार या अपने दल के संगठन में कर सकेंगे, उधर मोहिनी उनमें ऐसी 'वर्गचेतना' लाना चाहती थी कि पुरुषों ने स्त्रियों पर सदैव अन्याय किया है और अब संसार की सुव्यवस्था इसी तरह चल सकती है कि सभी जगह शासन-शक्ति केवल स्त्रियों के हाथ में हो!

उसका कहना है कि मज़दूरों और किसानों की क्रांति संसार भर में किसी तरह सफल नहीं हो सकती, क्योंकि अधिकांश शक्तिशाली देशों में मज़दूर और किसान दल पूँजीपतियों और सैनिकों के विरुद्ध अपना संगठन करने का अवसर अब पा नहीं सकेगा—सभी पूँजीपति लोग सुसंगठित होकर सैनिकों के सहारे अपना राज्य चलाते रहेंगे और आपस में मिलकर किसी समय रूस को भी बिलकुल चकनाचूर कर देंगे। वैसे भी रूस में स्टैलिन को जनता जो चन्दा दे रही है और कुछ लोगों ने जो लाखों सिक्के लड़ाई के अस्त्र-शस्त्रों के लिये दिये हैं उनसे यह प्रमाणित हो जाता है कि वहाँ भी इसी थोड़े समय में ही फिर पूँजीवाद अपना पैर जमाने लगा है। और व्यवसायों को बदलने की भी पहले की तरह स्वतन्त्रता नहीं रह गई है। यही जाति-पाँति की स्थापना का मूल होता है! अतः संसार के सच्चे उद्धार के लिए यह अत्यन्त ज़रूरी है कि सभी श्रेणियों की स्त्रियाँ एक दल में, एक भाव से संगठित हों और संसार के प्रत्येक देश का शासन अपने सुचारु हाथों में लेकर अपनी मातृ-शक्ति की विश्व-दृष्टि द्वारा, संसार-शासन का केन्द्र इस देश हिन्दुस्तान में ही बनावें!

इस देश में हिन्दू, मुसलमान, सिख, पारसी, बुद्ध, जैन, ईसाई आदि और हिन्दुओं से शोषित और दलित हिन्दू तथा मुसलमानों से शोषित और दलित मुस्लिम आदि इतनी अधिक संख्या में मौजूद हैं कि वे संसार भर के इन धर्मों और दलित जातियों का उचित प्रतिनिधित्व कर सकते हैं। एक यहूदिस्तान भर यहाँ न बन सकता था, सो अधिकारियों की दूर-दर्शिता को धन्यवाद कि वे इसके लिए भी प्रबन्ध करने का निश्चय कर रहे हैं। अब स्त्रियों के सुसंगठित रूप

से आगे बढ़ने की ही देर है। शेष क्षेत्र तैयार हो चुका है ! इन्हीं पर संसार की आँखें लगी हुई हैं।

'मोहिनी' नामक मासिक पत्रिका प्रकाशित हो गई और उसके पहले अंक में ही ये सब बातें मौजूद हैं। स्त्रियों के ऐसे दल को पाँचवाँ अन्तर्राष्ट्रीय दल (Fifth International) कहा गया है।

किन्तु इस देश में तो स्त्रियों की सबसे बड़ी संस्था भी हिन्दू और मुस्लिम स्त्रियों की संस्थाओं में विभाजित सी होने लगी है। हाँ, यह सम्भव है कि इन प्रगतिशील स्त्रियों के दल की स्त्रियाँ दूसरे प्रकार की हों—वे 'साम्प्रदायिक' भावना से सर्वथा हीन हों।

मैं 'कुमार' से मिला। उन्हें ख़ूब चिढ़ाया। पर अभी उन पर मोहिनी का ही नशा है। 'त्याग का भ्रम' सबसे जबर्दस्त भ्रम होता है। इसको छोड़ना प्राय: असम्भव है क्योंकि इसे छोड़कर कोई व्यक्ति खड़ा हो तो कहां हो ? इसे पूरी तरह 'भ्रम' कहना ठीक भी नहीं। मनुष्य भावुक प्राणी है, भावुकता के आधार पर ही जीता है। यह आधार बिलकुल खींच लो तो वह निर्जीव हो जाता है और जब तब आत्महत्या तक कर लेता है। बहुत सँभल सँभल कर चलना है। पर विश्वास मानो अब कुमार अधिक समय तक बेहोश नहीं रह सकते।

राजेन्द्र

[४]

श्रीमन्

'मोहिनी' के दर्शन हुए। उसी डाक से आप का पत्र भी आया। आपने कुमार जी के लेख के बारे में तो एक शब्द भी नहीं लिखा ! मेरी तो समझ में ही नहीं आया कि वे मोहिनी देवी से क्या आशा रखते हैं। उनका एक अलग क्षेत्र था, वे अपने ढंग से काम कर रहे थे, फिर अकस्मात् मोहिनी देवी को देखते ही उन पर कैसा जादू चल गया है ! क्या वे नहीं जानते कि मोहिनी उन्हें कभी किसी तरह न अपनावेगी ? वह चाहे तब भी ऐसा कर नहीं सकती। अपनी परिस्थिति, आज तक के संस्कारों, सगे सम्बन्धियों और मित्रगणों को वह एक दम धता कैसे बता सकती है ? वे क्यों इस तरह मोहिनी के पीछे पागल बनकर अपनी इतनी अधिक समय की प्रतिष्ठा धूल में मिलाये दे रहे हैं ? मोहिनी उन्हें पूरी तरह अपना ले, वह अपना सब कुछ उन्हें दे दे, तब भी वे कहाँ खड़े होंगे ? मेरी समझ में नहीं आता आप इस मामले में ढील क्यों दे रहे हैं ? वे आपकी बातें श्रद्धा के साथ सुनते रहे हैं, उनसे प्रभावित होकर काम भी करते रहे हैं, फिर भी ऐसे कठिन अवसर पर आप उन्हें पूरे ज़ोर के साथ अपनी ओर क्यों नहीं खींचते ? कौनसी रस्सी टूट जावेगी ? अगर कोई रस्सी टूट भी जाये तो वह भी अच्छा ही होगा। कुछ दिखलाई तो देगा। मुझे तो भय है कि कहीं अपने इस भयानक प्रलोभन से अपना कारबार छोड़ वे व्यर्थ बकवादी दल के या बाबू क्लास के साहित्य-सेवी न बन जावें। या कहीं इनसे भी बदतर दलदल में न फँस जावें ! मुझे अपनी सखी के लिए बेहद दुःख है। वह उन्हें देवता मानती आई है। मैंने उससे कई बार कहा था कि हम चालीस करोड़ में चार व्यक्ति भी देवत्व वाले हों और वैसे रह सकें तो सम्पूर्ण देश का और संसार भर का बेड़ा पार हो जाये। देवत्व की प्रति की साधना सबसे महत्वपूर्ण है, इसलिए वह सबसे कठिन भी है। हिमालय की सबसे ऊँची चोटी पर पहुँचने वाले अब तक कौन कौन हैं ? योग से या कर्मयोग से अपने आप पर विजय पा जानेवाले कितने हैं ? ये सब काम बच्चों के खिलवाड़ नहीं, और हँसी उड़ाने की चीज़ें तो हैं ही नहीं। आप इन विचारों से सहमत हैं न ? एक दिन 'कुमार' ने कहा था जो 'पिंड में है, वही ब्रह्माण्ड में; अपने आपको ज्ञान, कर्म और भक्ति के सामञ्जस्य से हम जीत सकें तो संसार भर पर अपना आधिपत्य जमा सकते हैं।'' यह आधिपत्य की अत्यधिक चाह ही उन्हें अब इस ओर खींचे लिए जा रही है। अपने पर विजय नहीं पा सके, तो अब मोहिनी पर ही विजय पाना चाहते हैं; पर उसमें भी हो रहे हैं पराजित ! जिन आदर्शों को उन्होंने अपने जीवन का सर्वस्व बनाया था उन्हें ही

छोड़ दिया तो फिर रहेगा क्या ? मोहिनी कह सकती है कि 'मुझे वह सब प्राप्त है जिसके लिए भौतिकवादी मानव जीवन की स्थिति चाहते या समझते हैं।' पर कुमार का दृष्टिकोण तो ऐसा नहीं था, वे तो सम्पूर्ण संसार का राज्य पाकर ही ऐसा नहीं कह सकते थे। किन्तु आज 'संसार के राज्य' की बात ही व्यर्थ है, अब तो वे जिस हृदय पर अपना राज्य जमाना चाहते हैं वह स्पष्ट ही दीख रहा है। किन्तु है यह केवल मृग-मरीचिका। मोहिनी तो साफ़ साफ़ कह रही है कि पुरुष लोग असफल हो गये, अब उन्हें स्त्रियों का शासन मानना चाहिए। अतः जैसे भी हो, उन्हें सावधान कर दीजिए। मैंने सुना था कि पच्चीस साल तक की ही अवस्था 'गदहा पच्चीसी' में आती है, पर जान पड़ता है अब इसमें संशोधन की ज़रूरत है— कुछ प्रगति हो गई है!

दुःखिनी
रमा

[५]

श्रीमती जी,

पत्रोत्तर देने में विलम्ब हुआ। मैं 'मोहिनी' का दूसरा अङ्क देखकर तब कुछ लिखना चाहता था। वह कल मिला। अब कुछ नहीं हो सकता। मोहिनी और कुमार अभिन्न हृदय, अभिन्न मन बन रहे हैं। विश्व-व्यवस्था को चलाने में, संसार को शांति और सुख से रखने में पुरुष असफल हो गये—अब तो यही कुमार जी भी मानते हैं! अपनी ही असफलता से उन्होंने आत्म विश्वास खो दिया है। किन्तु बात यहीं तक नहीं है। जब हमें ऐसा जान पड़ने लगता है कि संसार में कूटनीति की, तिकड़म की ही जीत होती है, न कि न्याय, सत्य, सदाचार आदि की—और इस पिछले डेढ़ सौ साल के अस्वाभाविक जीवन के फलस्वरूप हम में से बहुतों को आज ऐसा जान पड़ता है—तब अपने आप में विश्वास जमाना बहुत कठिन हो जाता है। मनमाने पथ पर चलने वाले व्यक्ति के भीतर जिस तरह हम अस्वाभाविक जीवन और भीतरी सड़न को कुछ भी देख नहीं पाते और ऊपर से उसे स्वस्थ देखकर तथा उसकी गर्वपूर्ण मनमानी बातें सुनकर उसके भयंकर रोग को समझ नहीं पाते इसी तरह ऐसे राष्ट्रों और अन्तर्राष्ट्रीय गुटों की भी दशा हो जाती है। और तब यह व्यापक अस्वस्थावस्था अपना बहुत बुरा प्रभाव सब पर डालती है। इसीलिए समाज, राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्र के लिए अन्तर्दृष्टि वाले विशेषज्ञों की और साधकों की ज़रूरत होती है। और उन्हें वैसा बने रहने के लिए चाहे जिस तरह भी हो सुअवसर देना पड़ता है। हाँ, कभी कभी वे अपने आश्चर्यमय ज़ोर से ऐसा अवसर अपने लिए और अन्य बहुतों के लिए स्वयं बना लेते हैं। हमारा काल भी ऐसा ही है।

हमें घबराने की आवश्यकता नहीं। अब समय की धारा उल्टी नहीं बहती रहेगी—अब वह सीधी बहेगी। प्रत्येक देश अपने अड़ोसी पड़ोसी देशों से मिलेगा, सम्मिलित स्वार्थों के आधार पर कई एक ऐसे देश मिलकर अपना संघ बना लेंगे। और फिर अमरीका की भाँति सम्पूर्ण यूरुप और सम्पूर्ण एशिया के भी संघ बने बिना न रहेंगे। यही स्वाभाविक है। एशियाई संघ, युरोपीय संघ और अमेरिकन संघ ठीक तरह बन जाने पर अफ़रीका का भी एक संघ बनाना होगा और तब ये चारों मिलकर सच्चा संसार-संघ बना सकते हैं, जिसका केन्द्र यूरुप में नहीं बल्कि एशिया में ही रखना होगा। दुनिया में न खाने पहरने की वस्तुओं की कमी है, न इनके उत्पादन और विवरण के साधनों की। तब यह झगड़ा कैसा? महा युद्ध पर महायुद्ध क्यों? केवल अपनी अपनी अत्यधिक महत्वकांक्षा की पूर्ति के लिए ही न? रूस दुनिया भर में एक प्रकार की गवर्नमेंट चाहता है और अमरीका आदि दूसरे प्रकार की। अमरीका आदि का व्यक्तिगत लाभ इसी में है कि पिछड़े हुए देशों में उत्पादक मशीनें न बनें, मोटर, जहाज़ आदि न बनें। अमरीका से तीन हज़ार मोटरों की आमद तो अभी होने वाली है!

इतने पर भी जो लोग हमें यह सिखाना चाहते हैं कि पहले यहीं के गिने गिनाये पूँजीपतियों, नेताओं

और व्यवस्थापिकों को ख़तम कर देना चाहिए उनकी बुद्धि पर तरस क्यों न आवे ! सबसे बड़ा बड़ा अभागा वही है जो अपने प्रति 'संशयात्मा' बन गया है, या उससे भी आगे बढ़कर 'कट्टर-वादी' हो गया है। कुमार ने भी अब इन्हीं रास्तों को अपनाया है। उन्हें अपने यहां चारों ओर धूर्त, छद्मवेषी और तिकड़मी ही दीखते हैं और दूसरे जगह एक दम बहादुर और पूर्ण पुरुष दिखलाई देते हैं। जिस जिस को भी हम सत्युग, स्वर्णयुग या ऐसे ही कुछ श्रेष्ठतासम्पन्न समय समझते थे वे सब उन्हें नितान्त पतन और शोषण के काल जान पड़ते हैं। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। ऐसा न हो तभी आश्चर्य है। पर जिसने इस युग में भी हममें अद्भुत आत्मविश्वास उत्पन्न कर दिया उसी की ओर शेष सारा संसार अत्यन्त आश्चर्य से देख रहा है। कुमार स्वस्थ होंगी—मृग-मरीचिका हट जावेगी, वे खोये नहीं रह सकते। शेष फिर—

अगले पत्र में कुछ विशेष बातें दे सकने की आशा करता हूँ।

राजेन्द्र

[६]

महोदय,

वन्दे०। मैं आपके पत्र की अधिकांश बातों से सहमत हूं; केवल दो बातों से सहमत नहीं हो सकी। मैं भी ऐसा समझती हूँ कि इस समय के 'उन्नत' संसार में ऐसे चार 'देवतागण' हर समय अवश्य मिल सकते हैं, और उनकी, विश्व-व्यवस्था को ठीक तरह क़ायम करने और बनाये रखने के लिए, अनिवार्य आवश्यकता है। किन्तु मैं 'देवता' के स्थान पर उन्हें 'इन्सान' कहना चाहती हूँ—सच्चे इन्सान। कुछ लोग उन्हें ही सच्चे 'विज्ञानवेत्ता' कहें और कुछ लोग उन्हें 'संसार के सच्चे नेता' आदि कहें तो मैं समझती हूँ, हम में से किसी को कुछ भी आपत्ति न होगी। हम इन शब्दों के लिए व्यर्थ की लड़ाई में अपनी शक्ति क्यों नष्ट होने दें ! एक बात इस सम्बन्ध में यह भी ज़रूरी है कि ऐसे लोग हिमालय की सबसे ऊँची चोटी के समान हों तब भी हमें यह न भूलना होगा कि वह चोटी अन्य चोटियों के सहारे ही ऐसी बनी है। उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं हो सकता। ऐसा न समझने से ही वे 'मानव' से 'देवता' भर रह जाते हैं। हाँ, जो लोग अपने महलों में तो ऐश कर रहे हैं और वैसे ही बँधे बँधाये रस्तों पर ही चलते जा रहे हैं और फिर भी दम भरते हैं ग़रीबों के साथ हमदर्दी का, समाज की बेहतरी के लिये बेचैनी और छटपटाहट का, उनका ढोंग हमें किसी तरह सहन न करना चाहिए—उनकी पोल खोल देने का काम कितना ही अरुचि क्यों न हो किन्तु वह हमें करना ही पड़ेगा, नहीं तो बेढब हानि होगी।

कुमार और मोहिनी—दोनों—आज इसी ढङ्ग के व्यक्ति हैं। मैं मानती हूँ कि उनकी तरह के लोगों की संख्या इस समय कम नहीं और विविध कारणों से यह बाढ़ पर है। पर इससे क्या !

क्या आप मेरी सखी को नहीं जानते ! आज हमारी वे सभी व्यवस्थायें नष्टप्राय हैं जिन्हें हमने सदियों नहीं हज़ारों साल में, अनेक 'वैज्ञानिक' अनुभवों, अनेक कष्टों और अनेक समझौतों के फल-स्वरूप क़ायम किया था। उनमें आज छिद्र ही छिद्र दिखलाई दे रहे हैं। कुटुम्ब-व्यवस्था, समाज व्यवस्था ग्राम-व्यवस्था, न्याय-व्यवस्था आदि की, और अन्त में विवाह-व्यवस्था तक की ऐसी ही दुर्गति हो रही है।

देखिए, पहले कितनी आसानी से विवाह हो जाते थे ! अभी पचीस-तीस साल पहले—बल्कि दस-पन्द्रह साल पहले तक—लोगों में पारस्परिक सहानु-भूति, सहृदयता आदि के ऐसे काफ़ी भाव थे कि धन को ही सर्वस्व मानकर कोई भी काम न होता था—विवाह की तो बात ही क्या ! पर आज क्या हो रहा है ? मैं मानती हूं कि इस समय भी अनेक युवकों में सच्चे त्याग, सच्चे प्रेम और सच्चे गौरव के भाव मौजूद हैं और वे उनके अनुसार बहुत कुछ करते

में समर्थ भी हो जाते हैं, पर उनकी संख्या कितनी हृदयवेधक गति से घट रही है! 'कुमार' ऐसे लोग मोहिनी के पीछे दौड़ने लगे—अपने सब उच्च सिद्धान्तों, जीवन-तत्वों को तिलाञ्जलि देकर! इसे कैसे सहन किया जावे? क्यों सहन किया जावे? मुझे जान पड़ता है, मेरी सखी लज्जा और दुःख से काँटा हो गई होगी। ऐसे मनुष्य का ऐसा पतन!

आप उनमें तनातनी देखते हैं, पर मुझे तो यह सब प्रेम-लीला सी ही जान पड़ती है। आपका यही कहना ठीक है कि अब वे 'अभिन्न हृदय' हो रहे हैं। अब मैं चाहती हूँ कि मैं भी एक पत्रिका निकालूँ—वह सब तरह 'मोहिनी' की दूनी रहे! पर यह तभी हो सकता है जब आप उसका सम्पादन-भार लेने की कृपा करें। मैं जानती हूँ कि नाम से आप दूर भागते हैं, इसलिए नाम चाहे जिसका रख सकते हैं। पर उसे आपको चलाना होगा अपने सिद्धान्तों के अनुसार। इसके साथ तीस हज़ार रुपयों का चिक भेज रही हूँ। काम तुरन्त प्रारम्भ करवा दीजिए। अब तनिक भी विलम्ब करने का अवसर नहीं है। इस पत्रिका के पहले ही अङ्क में मैं 'मोहिनी' की आलोचना दस पृष्ठों में चाहती हूं और कुमार जी के लेखों के उत्तर में, बिना उनका कहीं भी उल्लेख किये, चार पाँच लेख। दो तीन कविताओं में भी उनकी हँसी उड़ाई जावे—दो चार व्यंग चित्र भी अवश्य बनवा लीजिए। अपने साहित्य-गुरु को यह सब लिखकर आज मुझे कुछ शांति मिल गई है। आप मुझे नई बातें लिखना चाहते थे, मैंने ही ऐसी बातों का आरम्भ कर दिया।

आभार-अवनता
रमा

[७]

श्रीमती रमा,

मैं जो कुछ लिखना चाहता था वह सब अब न लिखूंगा। कल मैंने देखा कि जितने पत्र तुमने मुझे भेजे हैं वे सब ग़ायब हो गये हैं। आज मुझे कुमार और मोहिनी—दोनों—ने बुलवा भेजा। मैं नहीं गया। वे स्वयं आये और कुमार के हाथ में न केवल तुम्हारे भेजे हुए पत्रों की किन्तु उन पत्रों की भी जो मैंने तुम्हें भेजे हैं पूरी पूरी प्रतिलिपियाँ मौजूद थीं! उन्होंने मुझसे हँसकर कहा कि रमा को तार भेजकर बुलवा लीजिए, हम दोनों अपना विवाह इसी सप्ताह करने जा रहे हैं। मैं झल्ला उठा। मैंने उत्तर दिया—एक आवश्यक काम में व्यस्त होने के कारण रमा देवी इस समय यहाँ नहीं आ सकतीं—मुझे खेद है।

कुमार ने जो उत्तर दिया उसे मैं न लिखूंगा। इतना ही कहूँगा कि तुम जल्दी से जल्दी यहाँ आ जाओ। मैंने तार नहीं भेजा पर यह पत्र अधिक डाक महसूल देकर इस तरह भेज रहा हूँ कि तुम्हारे पास जल्दी से जल्दी पहुँच जावे।

शुभैषी
राजेन्द्र

[८]

रमा दीदी,

इस पत्र के लेखक तुम्हारे शुभैषी और हितेच्छु 'राजेन्द्र' जी नहीं, बल्कि इसका लेखक है वह जो तुम्हारी दृष्टि में सब तरह लांछनीय और दोषी है—'कुमार', हाँ कुमार! वह जानता है कि यहाँ आते ही तुम यह अपना सब दर्शनशास्त्र एक ओर रख हम दोनों को आशीर्वाद दोगी। मैं उन्हीं महोदया से विवाह करने जा रहा हूं जिन्हें तुम अपनी सखी कहती हो और जिनके बारे में तुम्हें भय है कि वे 'लज्जा और दुःख से सूख कर काँटा' हो गई होंगी। यहाँ आकर देखोगी कि ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। यहाँ आकर यह भी देखोगी कि जहाँ तुम्हें घोर असामञ्जस्य जान पड़ता है, आकाश पाताल या पूर्व पश्चिम का सा अन्तर समझ पड़ता है वहाँ ऐसा कुछ भी नहीं है। हमारे उद्देश्य बिल्कुल एक हैं, और इससे भी बढ़कर तुम्हें आश्चर्य मेरी इस बात से होगा कि हमारे साधन भी बिल्कुल एक ही हैं। हम सचमुच कुछ नामों के पीछे ही लड़ रहे हैं। क्या हम ऐसा ही करते रहेंगे? विश्वास मानो, मोहिनी

तुम्हारी वही सखी है—केवल वह नाम बदल देने से, एक नया नाम रख लेने से वह दूसरी नहीं हो गई। इसी तरह केवल इसलिए कि हम तुम्हारे सिद्धान्तों को अपने युग की नवीन भाषा में कहते हैं तुम इस तरह हमसे 'महायुद्ध' न कर सकोगी। इसमें उन्हें ही लगने दो जिनके लिए इसमें लगने के सिवा और कोई रास्ता ही नहीं। जल्दी आ जाना नहीं तो तुम्हारा चेक भी मैं उड़वा लूँगा और 'मोहिनी' को ही तिगुनी कर दूँगा। अगर मेरी बातें न रुचें तब भी आना, मैं तुमसे और तुम्हारे शुभैषी राजेन्द्र से भी सब कुछ सीखने सिखाने को अब भी तैय्यार हूँ।

तुम्हारा ही
कुमार

संस्कृति

"पुराना ईरानी धर्म यानी अवस्ता का धर्म उसी सोते से निकला है, जिससे हिन्दुस्तान के ऋषियों का धर्म; यानी दोनों उस धर्म से निकले हैं, जिसका ईरानियों और हिन्दुस्तानियों दोनों के पूर्वज पालन करते थे।

तीन हज़ार साल पहले ईरानी वरुण, इन्द्र, अग्नि, वायु, सोम, मित्र आदि वैदिक देवताओं की पूजा करते थे। वेदों का 'असुर विश्व वेदस्' या 'असुर मेधा' अवस्ता का 'अहुरमज़्द' है। 'मित्र' का नाम अवस्ता में मिथ् है। दोनों भाषाओं में एक ही अर्थ है। अवस्ता में ठीक उन्हीं शब्दों में मिथ् की स्तुति की गई है, जिन शब्दों में ऋग्वेद में मित्र की। संस्कृत में 'मित्र' का अर्थ 'सूर्य' भी है। ईरानी भी सूर्य के रूप में मिथ् की पूजा करते थे।—पण्डित सुन्दरलाल

इस बात की अनन्त मिसालें दी जा सकती हैं कि जिसे हम हिन्दू संस्कृति और हिन्दू सभ्यता कहते हैं वह कोई ख़ास वैदिक चीज़ें नहीं हैं बल्कि, आर्यों से पहले की शुद्ध भारतीय चीज़ों, आर्य चीज़ों और बहुत सी विदेशी चीज़ों से मिलकर बनी हैं। यहाँ तक कि यह सवाल उठाया जा सकता है कि वैदिक संस्कृति में से कितना अंश 'इण्डो-एर्यिन' था और कितना 'इण्डो-यूरोपियन'। मानव-जाति-विज्ञान और समाज-विज्ञान के निष्पक्ष पढ़ने वालों के लिये सारी मनुष्य जाति एक है। अलग अलग समूह या क़ौमें केवल एक ही तने की शाख़ें हैं।—डाक्टर भूपेन्द्रनाथ दत्त

इस देश के सिन्धम् हिन्द अथवा इण्डिया आदि नाम विदेशियों ने रखे हैं। सिन्धु नदी को प्राचीन ईरानी 'हिन्दु' कहा करते थे और यूनानी उसे 'इण्ड' कहा करते थे, इसी से बिगड़ कर हिन्द या इण्डिया शब्द बने।—डाक्टर राधाकुमुद मुकर्जी, एम०ए०, डी० लिट्०

हिन्दुओं का धर्म बहुत ही प्राचीन है। हिन्दू धर्म के सम्बन्ध में यदि यह कहा जाय कि यह बहुत से मज़हबों का सम्मिश्रण है, तो ग़ालिबन बेजा न होगा।

इस मज़हब की नींव किसी एक शख़्स ने एक वक़्त में नहीं डाली। बल्कि मुख़्तलिफ़ ऋषियों और मुनियों ने, जो मुख़्तलिफ़ ज़माने में पैदा हुए, हज़ारों साल के अरसे में इसे बनाया है। अगर इस मज़हब के सूक्ष्म सिद्धान्तों और इसकी महानता को जानने के लिये हम दिव्य ऋषियों और देवताओं के इल्म और अमल के तरीक़ों पर ग़ौर करें, तो उनमें हमें ईश्वरोपासना की पूरी शान और एकेश्वरवाद की पूरी तसवीर नज़र आयगी।—डाक्टर सैयद महमूद भूतपूर्व शिक्षा-मन्त्री, बिहार

प्रयाग महिला विद्यापीठ

श्री प्रयागदत्त शर्मा

'अंकुर में वृक्ष निहित है' यह सत्य शिक्षा-संस्थाओं पर ख़ास तौर पर लागू है। हमारे देश में स्त्री-शिक्षा की ओर जब से लोगों का ध्यान गया, तब से बराबर इस दिशा में विविधता के साथ उन्नति के पथ सोचे गये। इनमें अपने स्वतन्त्र ढङ्ग से काम करने के लिए दो विचारकों के नाम सुप्रसिद्ध हैं—एक तो दक्षिण भारत के प्रो० कर्वे का और दूसरा उत्तर भारत के केन्द्र प्रयाग के श्री संगमलाल जी अग्रवाल का। प्रयाग-महिला-विद्यापीठ के पहले कोई भी स्त्रियों की शिक्षा संस्था परीक्षा प्रधान नहीं थी। लेकिन आमतौर से बिखरे रूप में स्त्रियों में शिक्षा का धरातल ऐसा हो चुका था, जिस पर ऐसी संस्था का विकास सम्भव था। स्त्रियों के इस मानसिक विकास का अन्दाज़ा श्री संगमलाल जी अग्रवाल ने पहले पहल लगा लिया। उन्होंने प्रोफ़ेसर कर्वे के भारतीय महिला विश्वविद्यालय को ध्यान में रख कर अपने ढङ्ग पर स्त्रियों की विशेष ज़रूरतों की पूर्ति के लिए २ फ़रवरी १९२२ में प्रयाग महिला-विद्यापीठ की स्थापना की। हिन्दू समाज में जाति-पाति, पर्दा प्रथा और बाल-विवाह आदि तथा देश की वर्तमान दुर्दशा के घात-प्रतिघात ने मिल जुल कर औरतों की स्थिति को बहुत ही दमनीय कर दिया है। इसलिये, १९२१ की राजनैतिक जाग्रति के बावजूद भी अपनी परीक्षाओं के प्रचार में प्रयाग-महिला-विद्यापीठ को अनेक दिक्कतों का सामना करना पड़ा। पर जहाँ रूढ़िजन्य दिक्कतें थीं, वहीं समाज के साधारण पढ़े लिखे लोगों के अन्दर अधकचरी शिक्षा-प्राप्त अपनी बहुओं-बेटियों को अपने घरों में और प्राइवेट तौर से एक क्रमबद्ध शिक्षा दिलाने और कोई डिगरी प्राप्त कराने का प्रलोभन भी आ चुका था। इसने इस संस्था की मदद की। इस संस्था ने जो ४ परीक्षाएँ क़ायम कीं वे मैट्रिक से एम० ए० तक के स्टैण्डर्ड पर हिन्दी में हैं। पाठ्य पुस्तकों का चुनाव स्त्रियों के मौजूदा विकास तथा उनकी विशेष आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर किया जाता है। यदि यह कहा जाय कि ये परीक्षाएँ इस संस्था के
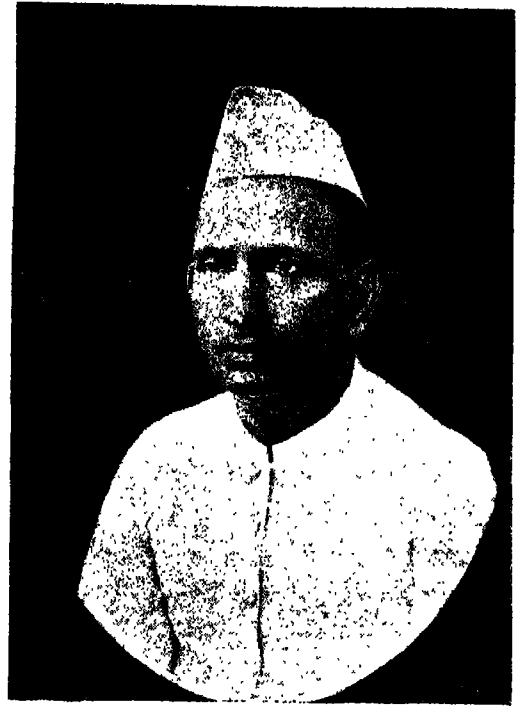
श्री संगमलाल अग्रवाल

प्रचार और शक्ति का स्रोतस्वरूप सिद्ध हुईं तो अतिशयोक्ति न होगी।

'उपन्यास-सम्राट्' श्री प्रेमचन्द जी ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'सेवा सदन' में अपने ढङ्ग से एक विशेष संस्था की कल्पना की थी। श्री संगमलाल जी अपने विशेष ढङ्ग से ऐसी कल्पना को व्यावहारिक रूप देकर संस्था के विकास में दत्तचित्त हैं।

प्रयाग महिला विद्यापीठ का एक खास अङ्ग है महिला सेवा सदन। यह ख़ास तौर से उन स्त्रियों के हित को ध्यान में रखकर खोला गया है, जो बहुत ग़रीब हैं, विधवा हैं या किसी तरह भी लाचार हैं। इस विभाग में उन्हें पढ़ा लिखा कर इस क़ाबिल कर देने का उद्देश्य है जिससे वे सम्मानपूर्वक अपना जीवन-निर्वाह कर सकें। जो इतनी लाचार हैं कि

श्री महादेवी वर्मा

पढ़ते समय अपना खर्च भी नहीं चला सकतीं, उनके खाने और रहने का प्रबन्ध विद्यापीठ की ओर से ही होता है। इस तरह से बहुत सी दीनहीन, मूक और अबला स्त्रियों को सेवा सदन के ज़रिये प्रयाग महिला-विद्यापीठ ने स्वावलम्बी और स्वाभिमानिनी बना दिया है। इसके द्वारा अब तक शिक्षाप्राप्त बहुत सी महिलाएँ —विशेषकर ग्रामों की—अध्यापनकार्य से अपनी रोज़ी कमाकर सुखपूर्वक जीवन बिता रही हैं। इनके अलावा सेवासदन से मध्य श्रेणी की बहुत सी प्रौढ़ा औरतें भी फ़ायदा उठाती हैं। इस तरह से यह सेवा सदन ग़रीब और असमर्थ औरतों के लिये तो एक अवलम्ब है ही, साथ ही प्रौढ़ उम्र की औरतों में शिक्षा प्रचार का एक बहुत उत्तम साधन भी है। ऐसी संस्थाएँ बंगाल और महाराष्ट्र में तो हैं; पर हिन्दी भाषा भाषी सूबों में प्रयाग का यह सेवासदन ही है।

सेवासदन की स्थापना के बाद कॉलेज १९३२ में खोला गया। इस में हिन्दू यूनिवर्सिटी की परीक्षाएँ दिलाने की योजना हुई। इस काम में बिना एक सुयोग्य लेडी प्रिंसपल के बड़ी दिक़्क़तों का सामना करना पड़ता। पर इसी समय १९३३ में विद्यापीठ की ओर से एक महिला कवि सम्मेलन का आयोजन किया गया। श्रीमती महादेवी वर्मा उसकी स्वागताध्यक्षा हुईं। इस अवसर पर बहुत सी महिलाओं का ध्यान विद्यापीठ की ओर ख़ास तौर से गया। स्वयं महादेवी जी इससे बहुत प्रभावित हुईं। और जब श्री संगमलाल जी ने श्रीमती महादेवी वर्मा से विद्यापीठ की आचार्या (लेडी-प्रिंसपल) होने का अनुरोध किया तब अपनी रुचि के अनुकूल कार्य-क्षेत्र देखकर उन्होंने यथेष्ट त्याग के साथ उसे मंज़ूर कर लिया। इस तरह १९३३ में वे विद्यापीठ में आचार्या के रूप में आगईं। अब श्री महादेवी जी को हिन्दी जगत एक सर्वश्रेष्ठ कवियित्री के रूप में जानता है। पर श्री महादेवी जी के असली जीवन और उनके इस काव्य जगत-में जिन्हें बहुत कम सम्बन्ध दीख पड़ता है वे अभी उन्हें समझ नहीं पाये। अपने जीवन के प्रारम्भ में ही उन्होंने महान सामाजिक क्रान्ति की दीक्षा ले ली थी। फिर जब उनकी शिक्षा में भी अनेक बाधाएँ पड़ीं—जब उन्होंने संस्कृत में वेदादि पढ़ना चाहा तब स्त्री होने के कारण ही अनेक पण्डितों ने इसका निषेध किया; इलाहाबाद में भी उनके सामने शुरू में ऐसी ही रुकावटें आईं—तब वे अपने आप और प्रगतिशील हो गईं। श्री महादेवी जी ने कहा—'या तो आप नियमानुकूल मुझे पढ़ावें अथवा लिखकर दें कि नहीं पढ़ा सकते, तभी मैं हटूंगी।' बाध्य होकर इलाहाबाद यूनिवर्सिटी

ने उनको पढ़ाना मंज़ूर किया। इस समय भी वह कवियित्री थीं। और अपने आदर्श के अनुसार जीवन बिताने की चाह ने ही उन्हें घर के जीवन के प्रति भी विद्रोहिनी बनाया। घर का सामञ्जस्य सम्पूर्ण समाज, सम्पूर्ण देश और सम्पूर्ण संसार से जोड़ने को, भारतीय महिलाओं के लिये और वस्तुतः सभी स्त्रियों के लिये, अपना जीवन उत्सर्ग करने के लिए वे बाध्य हो गईं। इसे उन्होंने आवश्यक समझ लिया।

श्रीमती महादेवी वर्मा के आने के एक साल बाद तक विद्यापीठ का कॉलेज विभाग अपने पुराने भवन में ही था। पर वहाँ लड़कियाँ न अंट सकीं, तो दूसरी जगह जो और अधिक विस्तृत थी लेकर नया प्रबन्ध किया गया। चित्रकला, संगीतकला और घरेलू विज्ञान आदि की शिक्षा भी लड़कियों को दी जाने लगी। विद्यापीठ की अपनी परीक्षाओं के साथ साथ हिन्दू विश्वविद्यालय का कोर्स पढ़ाकर लड़कियों को वहाँ की मैट्रिक परीक्षा दिलाई जाती है। इसके बाद वहाँ के ही एफ़० ए०, बी० ए० और एम० ए० तक की शिक्षा का प्रबन्ध है। पिछले साल एम० ए० का परीक्षाफल शत प्रति शत था। स्वयं महादेवी जी ने एम० ए० कक्षा को पढ़ाया था। उनकी पढ़ाई का कहना ही क्या! इन्हीं सब कारणों से विद्यापीठ की शिक्षा की ख्याति दूर दूर तक फैल चुकी है। इस ख्याति का एक ख़ास कारण यह भी है कि यहाँ और सभी जगहों की अपेक्षा कम ख़र्च में उच्च शिक्षा का प्रबन्ध है। और वह उच्च शिक्षा भी अनेक विषयों में—हिन्दी, संस्कृत, पाली, अंगरेज़ी, चित्र-कला और संगीत कला आदि में। विद्यापीठ की प्रिंसपल महादेवी जी हिन्दी, संस्कृत, पाली, अंगरेज़ी और चित्रकला की पण्डिता हैं ही। वह ख़ुद विद्यापीठ में रहती हैं। बोर्डिंग में रहकर पढ़ने वाली लड़कियों को और वैसे पढ़ने वाली लड़कियों के जीवन को निकट से देखती और सँवारती हैं। यही कारण है कि प्रयाग महिला विद्यापीठ पर हर तरफ़ महादेवी जी के जीवन की सादगी, सुरुचि, संस्कृति और आदर्श की उसी तरह छाप है, जैसे शान्तिनिकेतन पर गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के जीवन की।

प्रयाग महिला विद्यापीठ के इस प्रबन्ध और शिक्षा के ढंग के तथा उसकी मौजूदा परिस्थिति के अनुकूल अच्छे स्टैण्डर्ड का यह फल है कि आज हिन्दी भाषा भाषी और प्रेमी लोगों में उसकी अपनी परीक्षाएँ भी बहुत लोकप्रिय होती जा रही हैं। अनेक जगह के स्कूलों में तो इसी का कोर्स पढ़ाया जाता है और इसी की परिक्षाएँ दिलाई जाती हैं। इस साल १५०० लड़कियों ने विद्यापीठ की परीक्षाओं में भाग लिया है। कम ख़र्च वाले और अनुशासित जीवन से आकर्षित होकर सुदूर मालाबार तक की लड़कियाँ जो हिन्दी भी पढ़ना चाहती हैं इस विद्यापीठ में आती हैं। और इस तरह काफ़ी बड़ी संख्या में विद्यापीठ के बोर्डिंग में रहकर शिक्षा प्राप्त करती हैं।

यह सब कार्य प्रयाग महिला विद्यापीठ ने अपने अब तक के अपने जीवन में किया है और कर रहा है। किसी भी अखिल भारतीय शिक्षा संस्था के २० साल के जीवन में इतना काम यथेष्ट गर्व की बात है। पर प्रयाग महिला विद्यापीठ का आदर्श इससे कहीं आगे है।

पर ऐसे सार्वजनिक शुभचिन्तन का दृष्टिकोण लेकर स्थापित की जाने वाली संस्थाओं की सर्वाङ्गीण उन्नति के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि देश के धनी-मानी महानुभावों की ओर से मुक्त हस्त से उन्हें आर्थिक सहायता प्रदान की जाये। धन के अभाव में किसी भी व्यक्ति अथवा संस्था की बड़ी से बड़ी योजनायें केवल कल्पनायें ही रह जाती हैं; वे कभी साकार नहीं हो पातीं। इस दृष्टिकोण से सेठ रामकृष्ण जी डालमिया ने इकतालीस हज़ार की जो आर्थिक सहायता प्रयाग महिला विद्यापीठ को इस वर्ष प्रदान की है वह सर्वथा अभिनन्दनीय है।

इस दान से प्रयाग महिला विद्यापीठ में अध्ययन करने वाली उन छात्राओं को १५ रु० मासिक की छात्रवृत्ति दी जायगी, जो मैट्रिक में उत्तीर्ण होने के बाद अपनी शिक्षा जारी रखना चाहती हों। 'विदुषी'

और 'सरस्वती' नामक दो परीक्षायें तो विद्यापीठ स्वयं लेती है और अब इन परीक्षाओं को विश्वविद्यालय तथा इन्टर०-बोर्ड ने भी स्वीकार कर लिया है। जो छात्रायें एफ० ए०, बी० ए० और एम० ए० की डिग्री लेने की आकांक्षा रखती हों उन्हें भी यह छात्रवृत्ति प्रदान की जायगी।

आज से बारह वर्ष पूर्व सेठ रामकृष्ण डालमिया

सेठ रामकृष्ण डालमिया

की स्थिति चाहे जो हो रही हो लेकिन सर्वसाधारण में अथवा साहित्यिक जगत् में वे सर्वथा अज्ञात थे। जो थोड़ी बहुत जानकारी लोगोंको थी वह यही कि आप किसी शक्कर फैक्टरी के अध्यक्ष थे और अपने परिमित कार्यक्षेत्र में ही पूरी तरह संलग्न थे। लेकिन आज हम देखते हैं कि श्री डालमिया जी का कार्यक्षेत्र बहुत अधिक विस्तृत हो चुका है। कागज़ मिल, सीमेन्ट फैक्टरी, बैङ्क, कोयले की खानें, बिजली घर, बीमा कम्पनियाँ, रेलवे आदि कितने ही कारबार वे सफलतापूर्वक संचालित कर रहे हैं। और हाल में ही एक विशाल अखिल भारतीय बैङ्क—भारत बैङ्क—खोल दिया गया है। इन सब कारबारों की तरफ़ दृष्टिपात करने पर हम यह कह सकते हैं कि श्री डालमिया जी निस्सन्देह आत्म-विश्वास, उत्साह और साहस की साकार मूर्ति हैं। प्रयाग महिला विद्यापीठ की अर्थ समिति के आपही अध्यक्ष हैं।

यों तो श्री डालमिया जी ने अब तक कितनी ही संस्थाओं को दान दिया है और विद्यापीठ को भी सहायतायें देते रहे हैं, लेकिन अब अपने उच्च आदर्श से अपने ढङ्ग की इस निराली संस्था को इकतालीस हज़ार का यह दान देकर आपने जिस सहृदयता, उदारता और स्त्री-शिक्षा के प्रति अपने जिस असीम अनुराग का परिचय दिया है वह देश के धनिकवर्ग के लिये निस्सन्देह अनुकरणीय कहा जा सकता है।

इस समय जबकि इस विद्यापीठ के कार्यकर्तागण इसे हिन्दू यूनिवर्सिटी की भाँति एक करोड़ चन्दा लाकर सर्वाङ्ग पूर्ण बनाना चाहते हैं ऐसे अनेक लोगों को स्वयं ही इसे अपना सहयोग देने के लिये आगे बढ़ना चाहिए।

हमारी दुर्गति चतुर्मुखी है—(१) स्वास्थ्य-सम्बन्धी (२) शिक्षा-सम्बन्धी (३) समाज और देश सम्बन्धी तथा (४) घरेलू। यह विद्यापीठ प्रारम्भ से ही राष्ट्रीय भावों से पूर्ण एवं इन सभी प्रकार की दुर्गतियों के निराकरण के प्रति सजग रहा है। श्री पुरुषोत्तमदास टंडन और पं० जवाहरलाल नेहरू इसके प्रधान रहे हैं और अब पन्द्रह साल से डा० कैलाशनाथ काटजू इस पद पर हैं।

अब यह विद्यापीठ महिलाओं के लिए सर्वांगपूर्ण हिन्दीभाषाभाषी विश्वविद्यालय का रूप लेना चाहता है। उसके अब तक तीनों विभाग—परीक्षा विभाग, कॉलेज विभाग और सेवा सदन पूर्ण विकसित होकर एक ऐसे ही पूर्ण महिला विश्वविद्यालय की ओर जा रहे हैं। अतः इन का और अन्य आवश्यक

शिक्षा के विभागों का यथेष्ट विकास करने की योजना बनाई जा चुकी है।

१—स्त्रियों का स्वास्थ्य शहर और देहात सभी जगह बुरी तरह गिरता जा रहा है। पुराने औद्योगिक कार्य और कुटी व्यवसाय तक नष्टप्राय हो गये हैं। आटे की सैकड़ों हज़ारों चक्कियों तक का स्थान गिनी-गिनाई फ्लोवर-मिलों को मिल गया है। ऐसे समय 'महिला-व्यायाम-मन्दिर' में शिक्षा पाई हुई स्वास्थ्य तथा सफ़ाई के नियमों में निपुण बहनें स्वास्थ्य-संस्कृति (Physical culture) की ओर सर्वसाधारण स्त्रियों को जितना अधिक ले जा सकें उतना ही अधिक लाभदायक होगा। लड़कियों को व्यक्तिगत और सामूहिक आत्म-रक्षा के लिए तैयार करना इन स्वास्थ्य-उपदेशिकाओं (Health Missionaries) का मुख्य कर्तव्य होगा। और ये जो शिक्षा पावेंगी उससे अपनी बहनों को इस तरह स्वावलम्बी बनने में तरह तरह से सहायता दे सकेंगी।

२—घरेलू विज्ञान (Domestic Science) की मैट्रिक में ही नहीं बल्कि एम० ए० तक में पढ़ाई होनी ही चाहिए। पर अभी तक किसी भी विश्वविद्यालय में ऐसा प्रबन्ध नहीं हो पाया। यह विद्यापीठ कुछ वज़ीफ़े देकर इस विषय की स्कूल और कॉलेज, दोनों के लिए ऐसी शिक्षिकायें भी तैयार करना चाहता है जो इस विज्ञान को इस ढङ्ग से पढ़ा सकें कि हमारी घर-गृहस्थी में इसे व्यावहारिक रूप मिल जावे।

३—शिक्षा का एक और रूप है जो अभी तक बङ्गाल और महाराष्ट्र में तो दिखलाई देता है पर हमारे यहाँ उसका अभाव हो रहा है। यह है सुरुचि-पूर्ण संगीत और चित्रकला। इसकी पूर्ति ऐसे कला-भवन से होगी जिसमें मैट्रिक कक्षा के बाद एम०ए० कक्षा तक ठीक तरह से इनकी पढ़ाई का प्रबन्ध हो। इन विषयों में भी शिक्षिकायें तैयार की जावेंगी और उनकी ट्रेनिंग का ठीक इन्तज़ाम होगा।

४—इन तीनों प्रकार की अत्यन्त आवश्यक शिक्षाओं के सिवा औषधि-विज्ञान की शिक्षा के लिए भी ऐसा प्रबन्ध होगा जिससे देहातों में पुरुषों द्वारा वैद्यों, डाक्टरों आदि के रूप में जो कुछ हो रहा है या हो सकता है उससे आगे बढ़कर ये स्त्रियों में सेवा-सुश्रूषा में दक्ष एक अच्छी दाई, एक लेडी डाक्टर आदि की पूर्ति कर सकें। होमियोपैथी की औषधियाँ दे सकने के योग्य भी इन्हें होना चाहिए। तीन साल में ऐसी शिक्षा दी जा सकती है।

५—इनके साथ स्त्री सेविका कॉलेज और स्त्री शिक्षा सहायक विभाग ज़रूरी हैं। स्त्री सेविका कॉलेज में उच्च शिक्षा प्राप्त स्त्रियाँ शिक्षित होकर भारत-सेवा समिति और 'प्यूपिल्स सोसाइटी' (Peoples' Society) के ढङ्ग पर बहुत अधिक काम कर सकेंगी और अपने कार्य का महत्व शहरों के एक कोने से दूसरे कोने तक और ग्राम ग्राम में अंकित कर सकेंगी। इस क्षेत्र में काम करने के लिए अनेक बड़े बड़े घरों की महिलाएँ आगे बढ़ सकती हैं।

६—स्त्री शिक्षा सहायक संस्था का काम होगा दूसरी जगहों में अपने सुविकसित पाठ्य क्रम के अनुसार लड़कियों के स्कूल खोलना, और खुलवाना तथा अन्य स्कूलों में अपने पाठ्य क्रम को चालू करना, उन्हें स्वीकृति और सहायता देना।

७—इनके सिवा पुस्तक प्रकाशन के लिए एक अलग विभाग आवश्यक है।

इन पंक्तियों के लेखक ने कई आश्रमों और संस्थाओं को देख कर यह अनुभव प्राप्त किया है कि बुद्धि बल, प्रबन्ध बल और धन बल ये तीनों ही किसी भी संस्था के स्तम्भ होते हैं। प्रयाग महिला विद्यापीठ का यह सौभाग्य है कि उसे श्री महादेवी वर्मा, श्री संगमलाल अग्रवाल और सेठ रामकृष्ण डालमिया के रूप में ये तीनों प्राप्त हैं। ये तीनों बल सम्मिलित रूप में और इनमें से प्रत्येक जितना अधिक सात्विक होगा उतना ही अधिक सुफल अवश्यम्भावी है। यह विश्वास किया जा सकता है कि ये लोग अपने उच्च उद्देश्यों की इस संस्था के पूर्ण विकास द्वारा ही ठीक तरह पूर्ति कर अन्य अनेक लोगों के सामने एक आदर्श रखने में सफल हो सकेंगे।

ग़लतफ़हमी का डर

पण्डित देवीदत्त शुक्ल, सम्पादक 'सरस्वती'

हिन्दी की एक पत्रिका के सम्पादकीय में एक टिप्पणी छपी थी, जिसमें कवियों, कहानी लेखकों, उपन्यासकारों की नाम-सूची देकर यह आग्रह किया गया था कि आलोचकों को चाहिये कि अपनी आलोचनाओं द्वारा हिन्दी के इन उपेक्षित कलाकारों को प्रकाश में लावें। आलोचकों ने तो उस निवेदन की ओर ध्यान न दिया, पर उसके छपने के बाद अबोहर में सम्मेलन का जो वार्षिक अधिवेशन हुआ, उसके विद्वान् सभापति पण्डित अमरनाथ झा ने हिन्दी के उन उपेक्षित लेखकों का उल्लेख प्रशंसा के साथ किया। उल्लेख क्या किया, उन सबको सर्टीफ़िकेट-से दे दिये। एक यूनीवर्सिटी के वाइस-चैन्सलर इससे अधिक कर भी क्या सकते हैं! परन्तु झा जी से भी कुछ उल्लेख योग्य नाम छूट गये थे। इस पर फिर कुछ लोग चिढ़े, पर यह सोच समझ कर कि झा महोदय हिन्दी के सम्पर्क में उतना नहीं रहे हैं, आप ही आप शान्त भी हो गये।

अब सम्मेलन हरिद्वार के अधिवेशन में उसके अध्यक्ष पण्डित माखनलाल चतुर्वेदी ने भी अपने भाषण में झा जी की ही भाँति हिन्दी के कुछ लेखकों को दिल खोलकर सर्टीफ़िकेट बाँटे हैं! चतुर्वेदी जी हिन्दी के हैं और यदि वे भी झा जी की सी भूल करते हैं, तो उसको कोई कैसे तरह दे सकता है! उन्हें यह कहने का अधिकार है कि उन्होंने जिन्हें योग्य समझा, उनको सर्टीफ़िकेट दे दिया। परन्तु ऐसी बात कहकर कोई 'आलोचक' भले ही अपना पीछा छुड़ा सकता हो, पर ऐसी संस्था का अध्यक्ष ऐसा नहीं कर सकता।

देखिए, चतुर्वेदी जी ने दैनिकों में हिन्दी-मिलाप, संसार; सप्ताहिकों में अभ्युदय, राजस्थान, हिन्दू, नवयुग, सिद्धान्त, आर्य; मासिकों में चाँद, माधुरी, सुकवि, ब्रज भारती, सुधा, कर्मयोगी, गुलदस्ता, सन्मार्ग, स्वाध्याय, क्षत्रिय मित्र, काव्य-कुञ्ज आदि का नामोल्लेख तक नहीं किया है। क्या यह समझा जाय कि इन पत्र-पत्रिकाओं का हिन्दी में अपना कोई स्थान नहीं है?

इसी प्रकार लेखकों के नामोल्लेख में भी हुआ है। अध्यक्ष महोदय ने अपने प्रान्त के तथा मध्य भारत के प्रायः सभी लेखकों का नामोल्लेख किया है। परन्तु अपने प्रान्त के श्रीयुत पदुमलाल बख्शी, पण्डित द्वारिकाप्रसाद चतुर्वेदी, श्रीमती हीरादेवी, पण्डित बनमाली प्रसाद शुक्ल का तथा मध्य भारत के स्वर्गीय सूर्यकुमार वर्मा और श्री भालेराव का कहीं नाम तक नहीं लिया है। बिहार के लेखकों में श्री आरसीप्रसादसिंह, पण्डित दिनेश झा आदि, कलकत्ता के लेखकों में आचार्य क्षितिमोहन सेन, श्री श्यामसुन्दर खत्री, डा० भूपेन्द्रनाथ दत्त आदि, पञ्जाब के लेखकों में पण्डित आत्मस्वरूप शर्मा, श्री धर्मवीर एम० ए०, श्रीमती सरस्वती मल्लिक आदि का नाम नहीं है। वयोवृद्ध लेखकों में जासूस-सम्पादक श्री गोपालराम गहमरी जी आज भी लिखते रहते हैं, पर वे भुला दिये गये हैं। और जहाँ हिन्दी के चुने चुने महारथियों का नामोल्लेख हुआ है, वहां महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, पण्डित रामनारायण मिश्र आदि के नाम छोड़ दिये गये हैं। और भिन्न भिन्न लेखकों का उनके विषय के अनुसार जहाँ उल्लेख है, वहाँ इतिहास लेखकों में पण्डित सुन्दरलाल जी, श्री सत्यकेतु विद्यालंकार आदि का नाम नहीं है। कवियों में ठाकुर गोपालशरण सिंह, पण्डित अनूप शर्मा, श्री अम्बिकेश, श्री सिरस जी आदि के नाम छूटे हैं। एकांकी नाटककारों में पण्डित गणेशप्रसाद द्विवेदी, कहानी तथा उपन्यासकारों में पण्डित गिरिजादत्त शुक्ल, श्री पदुमलाल बख्शी, डा० अख्तरहुसेन रायपुरी, श्री विजय वर्मा,

(वर्मा जी हिन्दी-क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय कहानियों और उपन्यासों के अब तक अकेले मौलिक लेखक हैं) श्री राजेश्वरप्रसाद सिंह, श्री ऋषभचरण जैन आदि आदि कितने ही लेखकों के नाम छूट गये हैं।

--'युग की कलम रखने वाले तरुणों' में ऊपर लिखे कई लेखकगण तथा पण्डित उमेश मिश्र, पण्डित विश्वम्भरनाथ, प्रो० राजाराम शास्त्री, श्री महादेव प्रसाद साहा, श्री बैजनाथ सिंह विनोद, श्री भगवती प्रसाद चन्दोला एम० ए०, श्री सुरेन्द्र बालूपुरी, और श्री मोहनसिंह सेंगर आदि रह गये हैं।

मैं मानता हूं कि अध्यक्ष महोदय ने जान बूझकर ऐसा न किया होगा, परन्तु इस भूल से इन लेखकों, पत्र-पत्रिकाओं और साहित्य के साथ अन्याय हुआ है। क्या ही अच्छा हो यदि सम्मेलन के अध्यक्ष अपने भाषणों में इस प्रकार की व्यक्ति-प्रशंसा किया ही न करें और यदि करें, तो यह बताकर करें कि किस दृष्टिकोण से वे वैसा कर रहे हैं, अन्यथा बड़ी ग़लतफ़हमी फैल जाने का डर है।

समालोचना

बिखरे हुए फूल—(कविता संग्रह) श्री रघुवीर-शरण दिवाकर। पृष्ठ ५२, मूल्य ।=); प्रकाशक श्री चिरञ्जीलाल बड़जाते, वर्धा।

सर्व प्रथम प्रकाशक ने लेखक के शब्द भण्डार की कमी की ओर समालोचक का ध्यान सहानुभूति के लिए खींचा है। पर लेखक ग़ैर हिन्दी भाषा भाषी है या हिन्दी भाषा भाषी? यह प्रश्न समाधान के लिए जहाँ का तहाँ रह गया। फिर स्वागत के पहले पैरा में श्री रामेश्वर दयाल जी दुबे ने हिन्दी के पिछले २५ साल की प्रगति की ओर ध्यान खींचा है। इस स्वागत शैली से मालूम होता है कि हिन्दी काव्य-साहित्य के विकास की धाराओं के साथ साथ 'दिवाकर' जी चले होंगे। इसके बाद 'तीन बातें' लिखते हुए लेखक ने ख़ुद लिखा है"......वह यह नहीं जानता कि वह कवि है या नहीं!" और दर असल हिन्दी काव्य-साहित्य के विकास से लेखक का कविताओं में कोई सम्बन्ध नहीं मालूम होता।

वर्धा में पण्डित दरबारीलाल जी सत्यभक्त हैं। उन्होंने 'सर्वधर्म समभाववाद' की प्रतिष्ठा की है। इस वाद के अनुसार सभी धर्मों के अन्दर एक सत्य है, उसे देखना चाहिए, मतभेद सम्बन्धी बातें ऊपरी और ग़लत हैं, उनकी ओर से अपने को अलग कर लेना चाहिए और इस तरह सभी धर्मों में समभाव, समता का भाव रखना चाहिये। इसी वाद की बातें 'दिवाकर' जी के पद्यों में हैं। काव्य के ज़रिये सिद्धान्तों का प्रचार किया जाता रहा है—वाल्मीकि, कालिदास से लेकर रवीन्द्रनाथ तक ने किया है। पर वह काव्य तो रहे। काव्य की वह सब शर्तें तो उसमें कमोबेश रहें, जिनसे किसी पद्य को काव्य की संज्ञा मिलती है। यदि सन्तों की अटपटी वाणियों को देखकर कोई वैसी बातें बनाकर उसे काव्य की संज्ञा देना चाहे, तो वह भी ग़लत है। क्योंकि सन्तों की अटपटी वाणियों में भावनासुलभ रस धार है।

'बिखरे हुए फूल' में विचार हैं, अच्छी सूझ है; पर वही नहीं है, जिससे पद्य को काव्य की संज्ञा मिलती है; इसलिये इसे अच्छे विचारों का पद्य-संग्रह कहा जा सकता है।

× × ×

मातृ-वन्दना (कविता)—श्री भगवत प्रसाद शुक्ल, साहित्यशास्त्री। प्रकाशक, भारतीय ग्रन्थमाला वृन्दावन। पृष्ठ ७८; मूल्य ।=)

किसी भूमि खण्ड को मातृभूमि होने के लिए बहुत शर्तों को पूरा करना होता है—जैसे एक भूमि-खण्ड, एक इतिहास, उसके निवासियों में सर्वत्र एक रस्मरिवाज, एक-सा सभी तरफ़ संस्कार, जीवनयापन सम्बन्धी उपकरणों में एकता और इन सबके ऊपर एक आर्थिक आधार। इन सब शर्तों के साथ हिन्दुस्तान हमारी मातृभूमि है। पर जब इन सब शर्तों की हम काव्यगत व्यञ्जना करेंगे, तब इन सब शर्तों का वाह्याकार नहीं, इनका मानसिक संस्कार, अनुभूति

की तीव्रता के साथ व्यक्त होगा। और प्रस्तुत कविता संग्रह में वाह्याकारों की ही भरमार है। इसके अलावा प्रस्तुत कविता-संग्रह में राष्ट्रीयता की शर्तों के अनुपात में भी भूल है। सारे मध्यकाल को व्यक्त करने में अनुपात की कमी ज़ाहिर है। "षष्ट दर्शन" में समाज के भविष्य की कल्पना मालूम होती है, पर यहीं ऐसा लगता है कि लेखक समाज के मौजूदा विकास और विकास क्रम को अनदेखा करना चाहता है। यद्यपि उसमें "प्रभातम्" शब्द है।

प्रस्तुत कविता संग्रह में व्यंग्य और ध्वनि से कुछ सम्बन्ध नहीं मालूम होता है। ऐसी कविता में ओज गुण पाठक ढूंढ़ना चाहेंगे, पर उसका भी यहाँ अभाव मिलेगा।

× × ×

जीवन-प्रदीप (कविता)—श्री नगीनचन्द्र "प्रदीप", पृष्ठ ५४; मूल्य १) प्रकाशक श्री हिन्दी-निकेतन, दरियागञ्ज, देहली।

किसी स्वागत, भूमिका या परिचय के बग़ैर अपनी कविताओं में ज़ाहिर है कि "प्रदीप" जी आधुनिक काव्य-साहित्य के साथ हैं। कविताओं में मौजूदा समाज में चलने वाला संघर्ष भी अनुभूति की गहराई के साथ है। कुछ कविताओं के अन्दर हमारा मौजूदा राष्ट्रीय संघर्ष और उसके साथ ही विश्व संघर्ष भी प्रकट है। "चितेरे" "आगे" बीसवें पेज का गीत और "परीक्षा" कविताएँ मर्मग्राहिणी हैं।

इन कविताओं में दो विचार स्पष्ट हैं। एक समाज-क्रान्ति और दूसरी प्रेम की प्यास। क्रान्ति की दिशा में "जगत की सब मैल धोती, आज शोणित धार देखूं" लाइन में कवि स्पष्ट ही श्रेणी-संघर्ष का पक्षपाती इसलिये मालूम होता कि जिससे श्रेणीहीन समाज कायम हो, पर सजगता की कमी से कहीं कहीं वह श्रेणी संयोग की ओर भी खिंच जाता है। और इस प्रकार कवि के दृष्टिकोण में अस्पष्टता झलक जाती है। इस अस्पष्टता के साथ क्रान्ति की दिशा में कवि साम्यवादी है। पर उसका खोया प्यार भी है और उस प्यार के प्रति उसमें मोह भी है। कवि के विप्रलम्भ में रूढ़िग्रस्त समाज की रूढ़ियाँ और उसकी विषमताएँ प्रेरक शक्तियाँ हैं; पर इनकी ओर कवि का ध्यान कम और खोये प्यार की ओर मोह अधिक है। कवि का यह मोह मानसिक अस्वस्थता की सीमा पार कर गया है—जैसे 'याचना' कविता के अन्दर। कुछ शब्दों के प्रयोग बहुत खटकने वाले हैं जैसे "अथच" "महत" "इव" "सु" आदि। व्यंग्य की ओर कवि का कम ध्यान मालूम होता है।

"जीवन-प्रदीप" की जिन त्रुटियों का ऊपर उल्लेख है, ऐसी त्रुटियाँ आज के प्रौढ़ माने हुए कवि में भी हैं और बुरी तरह हैं। इसलिये "प्रदीप" जी के इस प्रथम प्रयास में ये त्रुटियाँ क्षम्य हैं। कवि "प्रदीप" में काव्यगत प्रतिभा, अनुभूति और प्रवाह है। उनका प्रवाह साधारण पाठक को अपनी साथ खींच ले जाने में समर्थ है। सरस्वती के मन्दिर में "प्रदीप" जी स्वागत पाने के अधिकारी हैं।

× × ×

धर्मदूत—वैशाखी पूर्णिमा का विशेषाङ्क—वार्षिक मूल्य १) इस प्रति का ||) पृष्ठ संख्या ५४। "धर्मदूत" कार्यालय, सारनाथ, बनारस।

कुछ दिनों से 'धर्मदूत' का सम्पादन सिंघली भिक्षु धर्मरत्न जी और महानाम जी करते हैं। इन दोनों महानुभावों का हिन्दी पर यह अधिकार निश्चय ही सिंघल के लिए गर्व की चीज़ है। महान तपस्वी धर्मपाल जी की तपस्या का बल प्रकट हो रहा है।

प्रस्तुत अङ्क में २० रचनाएँ हैं। बौद्धों का अनात्मवाद (श्री शान्ति भिक्षु शास्त्री) प्रतीत्य समुत्पाद (श्री मामराज दत्त कपिल, विद्यार्थी, एम० ए०) बुद्ध कालीन सुविख्यात श्रावक और श्राविकाएँ (आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी) लेख गौरवपूर्ण और ऐसे हैं कि जिन्हें हर जिज्ञासु को पढ़ना चाहिए। इसके अलावा और भी लेख संग्रहणीय हैं। बुद्ध के जन्म, सिद्धि और मृत्यु समय के तीन चित्र भी अच्छे हैं। लेखों का संग्रह और उनका प्रदर्शन सभी कुछ सुन्दर है। अङ्क संग्रहणीय है।

—विनोद

लड़ाई के हालात

मई में ट्यूनिस की लड़ाई ख़तम हो गयी बल्कि यह कहना चाहिये कि अफ़्रीका की लड़ाई ख़तम हो गयी। एक पूरे महाद्वीप में धुरी राष्ट्रों की सैनिक और राजनैतिक सत्ता का अन्त हो गया। ट्यूनिस में डेढ़ लाख से अधिक जर्मन और इटैलियन सैनिकों को हथियार डाल देने पड़े। स्टेलिनग्रेड को छोड़कर इस युद्ध में जर्मनों की यह सबसे बड़ी हार है।

इस लड़ाई ने दो ऐसी पहेलियाँ पैदा कीं जो अब तक बूझी न जा सकीं। एक तो यह कि छः महीने पहिले जब अमेरिका और ब्रिटेन ने मराको और अलजीरिया में फ़ौजें उतारीं तो लगे हाथों ट्यूनिस में भी फ़ौजें क्यों न लायी गयीं। उस समय ट्यूनिस में जर्मन या इटालियन फ़ौजें न थीं और उन पर आसानी से क़ब्ज़ा हो सकता था। ऐसा न करने से यह लड़ाई कई महीने के लिये खिच गई। दूसरी पहेली यह कि धुरी राष्ट्रों ने समय पर रोमेल को पूरी कुमक क्यों न भेजी? क्या रूसी अख़बार 'प्रावदा' का यह बयान ठीक है कि हिटलर की सारी ताक़त रूस में फँस गयी थी? यह तो कुछ अतिशयोक्ति है; क्योंकि मित्रराष्ट्रों के सब नेता मानते हैं कि जर्मनी के पास अब भी बड़ी ताक़त है।

जो भी हो, इस हार ने लड़ाई का नक़शा बदल दिया। एक तो मेडिटेरेनियन का रास्ता खुल गया। दूसरे इटली पर हमले की सम्भावना पैदा हो गयी। उसके दक्षिणी द्वीपों और ठिकानों पर ज़बरदस्त हवाई हमले हो रहे हैं। और ऐसा लगता है कि सिसली, सारडीनिया, क्रीट आदि द्वीपों पर पहिले चढ़ाई होगी। मि० चर्चिल, जो अपने फ़ौजी सलाहकारों के साथ अमेरिका पहुँचे हुए हैं, खुल्लमखुल्ला इटली के आत्मसमर्पण का चर्चा कर रहे हैं।

अमेरिका की यह कान्फ्रेंस भी ब्रिटेन और अमेरिका तक सीमित रही। रूस के प्रतिनिधि मोसिये लिटविनाफ़ इन दिनों स्वदेश गये हुए थे। हाँ, यह कहा जा रहा है कि शीघ्र ही चर्चिल और रूज़वेल्ट स्टालिन और चियाङ्ग-काइ-शेक से मिलेंगे। इस अवसर पर कम्यूनिस्टों की केन्द्रीय संस्था 'थर्ड इन्टर-नेशनल' के बन्द कर दिये जाने को एक महत्वपूर्ण राजनीतिक घटना समझना चाहिये। इस तरह रूस अपने साथियों को विश्वास दिलाना चाहता है कि उसकी नीयत विश्व-क्रान्ति की नहीं है और न विदेशों के कम्यूनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलनों से उसका सम्बन्ध है। पर यह भी सोचने की बात है कि किसी ख़ास सबब से विवश होकर ही रूस ने यह किया है। इस समय दूसरे मोर्चे का फ़ैसला हो रहा है; और इस पर रूस का पूरा भविष्य निर्भर करता है। मित्र-राष्ट्रों में रूस के बैरियों की कमी नहीं। पोलैंड की निर्वासित सरकार की मिसाल आंखों के सामने है, जिसने नाजी प्रचार की हां में हां मिलाकर रूस का ऐसा विरोध किया कि उसे इन बेमुल्क के नवाबों से सम्बन्ध विच्छेद कर लेना पड़ा। यह ज़रूर मालूम हो गया कि मित्रराष्ट्रों में पूरी पूरी राजनीतिक एकता नहीं।

रूस में लड़ाई अब भी थमी हुई है, लेकिन बारूद तैयार है चिनगारी लगने की देर है। दोनों तरफ़ से अगली लड़ाई के लिये बहुत बड़े पैमाने पर जंगी तैयारी हो रही है। और ऐसा लगता है कि पहिला क़दम जर्मनों की ओर से उठेगा। यहीं दूसरे मोर्चे का सवाल उठता है। अगर अंग्रेज़ों और अमेरिकनों की ओर से पूरा दबाव पड़ा तो जर्मन और उनके साथी रूस पर पूरा ज़ोर न लगा सकेंगे और उन्हें अपने बचाव के लिये ताक़त बांट देनी पड़ेगी। उन पर दबाव तो ज़रूर डाला जायेगा, लेकिन किस हद तक, कहां और कब—यह देखना है।

यूरोप में धुरी राष्ट्रों का तख़्ता उलट रहा है। पर उनके पास एक बड़ा साधन बाक़ी है। यह जापान है। पूर्वी एशिया के साम्राज्य को साल भर में संगठित

करके उसने अपनी शक्ति बहुत बढ़ा ली है। उसकी ख़ामोशी वैसी ही है जो तूफ़ान आने से पहिले वातावरण पर छा जाती है। वह चाहे तो आस्ट्रेलिया, हिन्दुस्तान और साइबेरिया में से किसी पर भी चढ़ाई कर सकता है। अगर वह जर्मनी की मदद करना चाहता है तो यह साइबेरिया पर हमला करके ही हो सकता है। इसकी बड़ी सम्भावना है कि इस बार जर्मनी और जापान रूस पर एक साथ हमले करेंगे। जापान के प्रधान मंत्री जनरल तोजो का साइबेरिया की सीमा की क़िलाबन्दी का निरीक्षण महत्व से ख़ाली नहीं। अगर दोतर्फ़ा हमला हुआ तो रूस की परिस्थिति गम्भीर हो जायेगी क्योंकि जापान के ख़िलाफ़ उसे कहीं से मदद नहीं मिल सकती। हां, अगर अलेशियन द्वीपसमूह को वापिस लेने में अमेरिकन कामयाब हो जाये तो तो अलास्का की राह थोड़ी बहुत मदद मिल सकती है।

जो भी हो, महायुद्ध अपने चरमबिंदु पर पहुँचने वाला है। और कुछ महीनों में जर्मनी और रूस के भाग्य का निबटारा हो जायेगा।

२६ मई

सम्पादकीय विचार

स्वर्गीय अल्लाहबख़्श—पाकिस्तान—महात्मा गांधी और मि० जिन्ना—भारत और मि० लुईफ़िशर—'निर्दल' नेताओं का नया बयान—कम्यूनिस्ट इन्टरनेशनल का अन्त—भारतीय कम्यूनिस्ट कांग्रेस—प्रगतिशील लेखकों की कान्फ़्रेंस—हिन्दी साहित्य सम्मेलन—'हिन्दुस्तानी' का निर्माण—शिवा जी और मुसलमान।

स्वर्गीय अल्लाहबख़्श

पिछले महीने स्वतन्त्रता और एकता की राह में सिन्ध के सर्वमान्य नेता अल्लाहबख़्श शहीद हो गये। दिनदहाड़े शिकारपुर की पुलिस लाइन के आगे उनका ख़ून हो गया। सरकारी बयान से मालूम हुआ कि कई मील तक हत्यारों के पैर के निशान मिले और फिर ग़ायब हो गये। अब तक यह भेद न खुला और यह कहना मुश्किल है कि यह ख़ून किसने और क्यों किया। अल्लाहबख़्श साहिब के नातेदारों और दोस्तों का कहना है कि किसी को उनसे निजी बैर न था। जो भी हो, हिंसा और पाशविकता के इस युग में क्या कहा जा सकता है।

उनके साथ 'हिन्दुस्तानी राष्ट्रीयता' का एक दीपक बुझ गया। आज जब हिन्दू महासभा 'हिन्दू राष्ट्रीयता' और मुस्लिम लीग 'मुस्लिम राष्ट्रीयता' का राग अलाप रही हैं—'भारतीय राष्ट्रीयता' के इस अग्रनायक की जगह लेने वाला कोई नहीं दिखाई देता। आज़ाद मुस्लिम बोर्ड में उन्हीं के दम की रौनक़ थी; अब तो यह निरी बेजान संस्था हो जायेगी।

पाकिस्तान

राष्ट्रीय नेतृत्व के अभाव में मुस्लिम जनमत अधिकाधिक पाकिस्तान की माँग की ओर झुकता जाता है। इस झुकाव को रोकने का यह तरीक़ा नहीं जिसे महासभा ने अपनाया है। गृह-युद्ध की धमकी या 'हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान' का नारा लगाकर पाकिस्तान के आन्दोलन को नहीं कुचला जा सकता। यह तो जले पर नमक छिड़कने की नीति है। अब तो पानी सर से गुज़र चुका है। और इस बाढ़ को रोकने का सिर्फ़ एक रास्ता है। वह यह कि सहानुभूति और प्रेम भाव से मुसलमानों का विश्वास हासिल करने की कोशिश की जाये। छुआ-छूत, अनादर और अविश्वास की दीवारें खड़ी करके संसार में आज तक किसी अल्पसंख्यक जाति को क़ौमियत का सबक़ नहीं पढ़ाया जा सका। अगर यह बात अब भी न समझी गयी तो दोनों जातियों का भविष्य अन्धकारमय है। डा० मुंजे का 'हिन्दू राज' का स्वप्न इस देश के लिये घातक है—जब तक हर हिन्दू यह कहने का साहस न करेगा,

हमारा उत्थान असम्भव है। निजी अनुभव के बल पर हम कह सकते हैं कि जब भी हिन्दू भाई यह सोचना छोड़ देंगे कि मुसलमान 'हिन्दुस्तानी' नहीं हो सकते—एकता के रास्ते से एक बड़ी मनोवैज्ञानिक रुकावट दूर हो जायेगी।

महात्मा गान्धी और मि० जिन्ना

अभी अभी नई दिल्ली के एक सरकारी बयान से मालूम हुआ कि महात्मा जी ने जेल से मि० जिन्ना के नाम एक पत्र भारत सरकार के पास इसलिये भेजा था कि वह उन्हें भिजवा दिया जाये। पत्र में मि० जिन्ना से मिलने की इच्छा प्रगट की गयी थी। सरकार ने फ़ैसला किया है कि न तो यह चिट्ठी मि० जिन्ना को भेजी जाये और न उन्हें महात्मा जी से मिलने की अनुमति दी जाये।

पाठकों को याद होगा कि मुस्लिम लीग के पिछले अधिवेशन में मि० जिन्ना ने यह ऐलान किया था—"अगर गान्धी जी सचमुच में मुस्लिम लीग से समझौता करने पर आमादा हों, तो सबसे ज्यादा ख़ुशी मुझे होगी। वह हिन्दू मुसल्मान दोनों के लिये सबसे बड़ा शुभ दिन होगा। अगर गान्धी जी चाहें तो उन्हें मुझे पत्र लिखने से कौन रोक सकता है? वायसराय के पास जाने से क्या हासिल होगा? इस देश की सरकार शक्तिशाली हुआ करे, पर मैं सोच भी नहीं सकता कि वह मेरे नाम गान्धी जी के पत्र को रोकने का साहस करेगी? अगर यह पत्र रोक लिया गया तो बड़ी गम्भीर स्थिति पैदा हो जायेगी।

सरकार ने बतला दिया कि वह सब कुछ करने का साहस रखती है। जापानी आक्रमण की सम्भावना पर भी जब वह इतने बड़े राजनीतिक सङ्कट की परवा नहीं करती और जब वह सभापति रूज़वेल्ट के निजी प्रतिनिधि मि० फ़िलिप को महात्मा जी से नहीं मिलने देती—तो फिर मि० जिन्ना की चिट्ठी रोक लेना उसके लिये कोई बड़ी बात नहीं। उसने मि० जिन्ना की चुनौती स्वीकार कर ली है। अब देखना है कि वह क्या करते हैं। पहिली बार सरकार मुस्लिम लीग के बल-बूते की परीक्षा ले रही है। कई प्रान्तों में वज़ारत की गद्दी पर बिराजने के बाद लीग इस परीक्षा में पूरी उतरेगी?

भारत और मि० लूई फ़िशर

अमेरिकन पत्रकारों में मि० फ़िशर का बड़ा सम्मान है। सोवियत् रूस और स्पेनी प्रजातन्त्र पर उन्होंने जो कुछ लिखा है, उस पर पत्रकार-कला हमेशा गर्व करेगी। साल भर पहिले वह हिन्दुस्तान आये और कई महीने रहकर यहाँ की हालत को अपनी आँखों से देखा। सर स्टेफ़र्ड क्रिप्स वाली दुर्घटना पर आज तक उन जैसी सच्ची और खरी रिपोर्ट किसी के क़लम से नहीं निकली। पिछली २१ फ़रवरी को अमेरिका के शहर सां फ्रैंसिस्को में भारतीय समस्या पर भाषण करते हुए उन्होंने कहा—

"भारत से मैं यह दृढ़ विश्वास लेकर लौटा हूँ कि नेकनीयती हो तो वहाँ क्षण भर में राजनीतिक एकता पैदा हो सकती है। यह आर्थिक और सामाजिक एकता की दिशा में पहिला क़दम होगा। यह मेरा ईमान है कि हिन्दुस्तान की आज़ादी की राह में असल रुकावट इङ्गलैंड है। वहाँ की बहुत सी कम्पनियाँ और घराने हिन्दुस्तान के कारण मालामाल हो गये हैं। पर बात इतनी ही नहीं। मि० चेम्बरलेन शान्तिवादी बन गये थे क्योंकि उन्हें डर था कि लड़ाई हुई तो यह सेठ-साहूकारों वाला इङ्गलैण्ड ख़तम हो जायेगा। मि० चर्चिल कहते हैं कि नहीं हम लड़ेंगे और उसी इङ्गलैण्ड को बाक़ी रखेंगे। और इस इङ्गलैण्ड में भारत भी शामिल है।"

'निर्दल' नेताओं का नया बयान

सर तेजबहादुर सप्रू, डा० सिन्हा और कई दूसरे लिबरल नेताओं ने हाल ही में एक वक्तव्य निकाला है जिसमें सरकार से मांग की गई है कि महात्मा गांधी और उनके साथियों पर लगाये गये अभियोगों

की जांच एक निरपेक्ष कमेटी के सुपुर्द की जाये। इन अभियोगों का सार यह है कि कांग्रेस नेता (१) धुरी शक्तियों के समर्थक हैं और (२) ९ अगस्त के बाद की अशांति की ज़िम्मेदारी उन पर है। यह बहुत संगीन इलज़ाम हैं। सरकार का कहना है कि उसके पास काफ़ी सुबूत मौजूद हैं। अगर यह सुबूत एक ग़ैर सरकारी कमेटी के आगे पेश हो जायें तो सारी बहस ख़तम हो जाये।

इस सिलसिले में पाठकों को हम याद दिलाना चाहते हैं कि सन् १९४० में ख़ाकसार आन्दोलन का दमन करते समय पंजाब के तत्कालीन प्रधान मंत्री सर सिकन्दर हयात ने भी ऐसी ही बात कही थी। उन्होंने खुल्लमखुल्ला कहा था कि ख़ाकसार नाज़ी एजेंट हैं और इसका सुबूत सरकार के पास मौजूद है। सर सिकन्दर मर गये और ख़ाकसार जेलों से छूट गये— पर इस सुबूत की शकल नज़र न आई। कोई अभियोग केवल इसीलिये सच नहीं माना जा सकता कि वह किसी सरकार का लगाया हुआ है।

कम्यूनिस्ट इन्टरनेशनल का अन्त

संसार भर की कम्यूनिस्ट पार्टियों का केन्द्र मास्को में था और इसे थर्ड 'इन्टरनेशनल' कहते थे। दुनिया के कम्यूनिस्ट इसी के फ़ैसले पर चलते थे। मास्को में होने के कारण सोवियत् सरकार की नीति का इस पर असर पड़ना स्वाभाविक था। इससे ग़ैर-रूसी कम्यूनिस्टों और रूस सरकार दोनों को नुक़सान होता था। पूंजीपति कहते थे कि रूस संसार भर में क्रान्ति करना चाहता है, इसीलिये उसने इन्टरनेशनल को पाल रखा है। हालांकि स्टालिन के नेतृत्व में रूस की नीति देश-निर्माण तक सीमित हो गयी थी और विश्व-क्रांति की ओर उसका ध्यान न था। उधर कम्यूनिस्टों के आगे यह कठिनाई थी कि इन्टरनेशनल हर मामले में सोवियत् सरकार की नीति का समर्थन करता था, जिससे उन्हें देशकाल के अनुसार काम करने में असुविधा होती थी, मिसाल के तौर पर अगस्त १९३९ की जर्मन-रूस संधि को लीजिये। यह संधि रूस ने नीतिवश की थी पर इसका समर्थन करने ही फ्रांस और ब्रिटेन के कम्यूनिस्ट मुसीबत में फंस गये। नाज़ी उस समय भी वही थे जो आज हैं। पर कम्यूनिस्ट ब्रिटेन और फ्रांस की सरकारों को उनसे समझौता करने के लिये उभारने लगे।

ऐसी कई मिसालें मिलेंगी। इस हालत में इन्टरनेशनल का तोड़ देना बड़ी बुद्धिमानी है। अब कोई ज़रूरत नहीं कि मार्क्सवादी हर मामले में मास्को का मुंह ताकें। उन्हें अपने अपने क्षेत्र में शोषण और दमन के चक्र का तोड़ने के लिये काम करना है।

भारतीय कम्यूनिस्ट कांग्रेस

बम्बई में इन दिनों भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी का खुला अधिवेशन हो रहा है। पार्टी कांग्रेस-लीग समझौते और राष्ट्रीय एकता के लिये जो आन्दोलन चला रही है, वह अभिनन्दनीय है। पर जब तक कांग्रेस ग़ैरक़ानूनी संस्था है यह समझौता कैसे हो सकता है? यह भी ज़ाहिर है कि कम से कम लड़ाई के ज़माने में सरकार कांग्रेस पर से रोक उठाने के लिये तैयार नहीं। यह सोचना कि जनमत के दबाव से सरकार अपनी अड़ंगा-नीति छोड़ देगी, कपोल-कल्पना ही है। फिर भी देश में एकता का वातावरण पैदा करना अच्छा काम है। साथ ही साथ, पार्टी अगर साम्यवाद के मोटे मोटे उसूलों को जनप्रिय बनाने की ओर ध्यान दे, तो अच्छा हो।

प्रगतिशील लेखकों की कान्फ्रेंस

इन्हीं दिनों बम्बई में प्रगतिशील लेखकों की कान्फ्रेंस हुई। अब तक इसकी रिपोर्ट हमारी नज़र से नहीं गुज़री। फिर भी हम अनुमान कर सकते हैं कि इस युद्ध ने साहित्य को जिन समस्याओं के आगे ला खड़ा किया है, उन पर विचार किया गया होगा। इस सम्बन्ध में यह बेहतर हो कि लेखक से अमुक 'वाद' के विरोध या अमुक पक्ष के समर्थन की आशा न की जाये। साहित्यिक को वकील क्यों बनाया जाये? हां, दमन और अन्याय के विरुद्ध हमेशा लड़ते रहना उसका धर्म है।

इस लेखक-सङ्घ ने भारतीय साहित्यिकों को जगाने में शुरू में ख़ासा काम किया था। फिर कई साल तक इसका काम बन्द सा रहा। अब फिर यह करवट बदल रहा है। अगर दूसरी साहित्यिक संस्थाओं की तरह उसमें दलबन्दी पैदा न हुई, तो उसके लिये बड़ा मैदान है। यह हम इसलिये कह रहे हैं कि अब तक वह कई माने हुए प्रगतिशील लेखकों की उपेक्षा केवल इसलिये करता रहा है कि सङ्घ से उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध न था।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन

पिछले महीने हरिद्वार में सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन हुआ। यह विश्व-साहित्य के लिये बड़े संकट का समय है। और अगर साहित्य केवल आमोद प्रमोद की चीज़ नहीं, बल्कि उसका आदर्श 'सच्चिदानन्द' की प्राप्ति है, तो संतप्त मानवता उससे किसी सन्देश की आशा रख सकती है। हमारा देश अपने इतिहास के सबसे कठिन युग से गुज़र रहा है। साहित्यिक यह बात नहीं भूल सकता।

शोक है कि सम्मेलन ने हिन्दी लेखकों को कोई दिशा नहीं दिखाई। अन्नाभाव, बर्मा से भारतीय प्रवासियों की वापसी, सांप्रदायिकता, दमन—इनमें से किस की ओर उसका ध्यान गया? क्या सम्मेलन का काम केवल हिन्दी-प्रचार है—उसे इससे मतलब नहीं कि हिन्दी में जो कुछ लिखा जा रहा है वह जीवन से निकट है या नहीं?

सभापति माखनलाल जी चतुर्वेदी जिन रुपयों से तौले गये, वह अगर दरिद्र लेखकों के लिये अलग कर दिये जाते तो कैसा अच्छा होता!

'हिन्दुस्तानी' का निर्माण

'हिन्दुस्तानी' ज़बान की बुनियाद मज़बूत करने के लिये अब तक जो कोशिशें हुई वह सरकार की ओर से शुरू हुईं। पर दफ़्तरी घिसघिस के कारण उनसे कोई नतीजा न निकला। कई लाख रुपये ख़र्च करने के बाद भी हिन्दुस्तानी अकेडेमी से कुछ न बन पड़ा। बिहार हिन्दुस्तानी कमिटी का काम बट्टे-खाते में पड़ा है। उधर आल इण्डिया रेडियो ने कोई तीन साल पहिले पारिभाषिक शब्दों का जो छोटा सा हिन्दुस्तानी कोष बनाना शुरू किया था, उसकी भी कोई ख़बर न मिली।

इस नाकामी का एक सबब तो यह है कि यहाँ के सरकारी दफ़्तरों को संस्कृति और साहित्य से क्या वास्ता? दूसरे 'हिन्दुस्तानी' के लिये ज़रूरत ऐसे लोगों की है जो दोनों भाषायें जानते हैं और उनके मेल को अपना आदर्श समझते हैं। ऐसे लोग यों ही गिने-चुने हैं; और इन्हें साथ लिये बिना काम नहीं चल सकता।

शिवा जी और मुसल्मान

स्कूल में पढ़ाये जाने वाले इतिहास ने लोगों के दिमाग़ में ऐसा भर दिया है कि औरंगज़ेब का नाम आते ही हिन्दुओं की आँखें लाल हो जाती हैं और शिवा जी के नाम से मुसल्मान की नाक भौं चढ़ जाती है।

औरङ्गज़ेब ने हिन्दू मन्दिरों को जो दान-पत्र दिये थे, वह अब भी मौजूद हैं और पत्र-पत्रिकाओं में कई बार छप चुके हैं। हाल ही में इतिहास के एक ग्रन्थ में यह पढ़कर हमें आश्चर्य हुआ कि शिवा जी के दादा मालो जी अहमदनगर के मुस्लिम सन्त शाह शरफ़ के मुरीद थे। मालो जी उनके अनन्य भक्त थे। उनके कोई सन्तान न थी। जब सन्त की कृपा से उनके दो बेटे हुए, तो मालो जी ने बड़े का नाम शाह जी और छोटे का शरफ़ जी रखा। इन्हीं शाह जी के पुत्र शिवा जी थे।

मुसल्मानों पर शिवा जी के कल्पित अत्याचारों से किताबें भरी पड़ी हैं। पर यह बात, जिसे जानने से आपस की कटुता कुछ कम हो सकती है, पहिले कहीं देखने में न आयी थी।

सूचना

जिन ग्राहकों, एजेन्टों आदि को 'विश्ववाणी' समय पर न मिले वे डाकखाने से जांच करने के बाद ता० १५ के भीतर ही अपने ग्राहक नं० के साथ, शिकायत भेज दिया करें। इसके साथ डाकख़ाने का पत्रोत्तर भी ज़रूर भेज दिया करें—मैनेजर 'विश्ववाणी'

हिन्दी उर्दू दोनों में प्रकाशित हो गई

हज़रत मुहम्मद और इसलाम

लेखक 'भारत में अंगरेज़ी राज' के रचयिता

पंडित सुन्दरलाल

२५० पृष्ठ की सजिल्द, सचित्र, एण्टीक काग़ज़ पर छपी, सरल और सुन्दर पुस्तक का मूल्य

केवल डेढ़ रुपया : डाक खर्च अलग

विश्ववाणी के स्थायी ग्राहकों को पुस्तक केवल पौने मूल्य में

[डाक खर्च छै आना अलग]

१५ वर्षों की लगातार खोज और मेहनत से, सैकड़ों पुस्तकों के अध्ययन के बाद यह पुस्तक तय्यार हुई है। पुस्तक में अरब का भूगोल और इतिहास, प्राचीन अरबों के सामाजिक जीवन, उनके धार्मिक विश्वास, उनकी पूजा के तरीक़े, मुहम्मद साहब का जन्म, इसलाम का प्रचार, रोम और ईरान के साथ टक्कर, आदि विषयों का अत्यन्त सरल और चित्ताकर्षक वर्णन है। चित्रों और नक़्शों से पुस्तक की उपयोगिता बेहद बढ़ गई है। पुस्तक इतने आकर्षक ढङ्ग से लिखी गई है कि प्राचीन घटनाएं मानों क़ब्र से निकल कर बोलने लगती हैं।

काग़ज़ की तंगी से पुस्तक का दूसरा संस्करण लड़ाई के बाद निकलेगा। जल्दी से जल्दी अपना आर्डर भेजिये वरना प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।

पंडित सुन्दरलाल जी की दूसरी पुस्तक

गीता और कुरान (प्रेस में)

मैनेजर विश्ववाणी बुक-डिपो, साउथ मलाका, इलाहाबाद

सम्पादक, मुद्रक और प्रकाशक—विश्वम्भरनाथ, विश्ववाणी प्रेस, साउथ मलाका, इलाहाबाद

संरक्षक
पण्डित सुन्दरलाल (जेल में)

सम्पादक
विश्वम्भरनाथ (जेल में)
अख्तर हुसैन रायपुरी

अगस्त १९४३

इस अंक के कुछ लेख

इनके अतिरिक्त श्री जैनेन्द्रकुमार का धारावाहिक उपन्यास, अनेक सुप्रसिद्ध कवियों, कहानी-लेखकों और विचारकों की कवितायें, कहानियाँ और [illegible]-धारायें।

वार्षिक मूल्य ६) 'विश्ववाणी' कार्यालय, इलाहाबाद एक अङ्क का ॥=)

विषय-सूची

अगस्त १९४३

जो सज्जन 'विश्ववाणी' के नये ग्राहक बनें वे अपने पत्र में 'नया ग्राहक' लिखने की कृपा करें। हमारे पुराने ग्राहक, पत्र व्यवहार करते समय अपने पत्र में अपना ग्राहक नम्बर और 'पुराना ग्राहक' लिखने की कृपा करें।

जो सज्जन अपने पत्र का उत्तर चाहते हों वे कृपया जवाबी कार्ड भेजने की कृपा करें।

—मैनेजर

युक्तप्रान्त, पंजाब, बम्बई, मद्रास, मध्यप्रान्त और बरार, होलकर राज्य, मेवाड़, जोधपुर, मैसूर और काश्मीर के शिक्षा
विभागों द्वारा स्कूल और कालेज लाइब्रेरियों के लिए स्वीकृत

वर्ष ३, भाग ६	अगस्त, १९४३	अङ्क २, पूरे अङ्क ३२

गीत

"विनोद"

आज परायापन टूटा या अपना बन्धन छूट गया।
लग रहा पुरातन विश्व नया।
वे मादक चिन्तन छूट गये,
वे मोहक सपने टूट गये,
अपने सुख-दुख की बात गई—
प्यासे तृष्णा-घट फूट गये,

जन-हित-सुख की अभिलाषा में भावी सुख-क्रन्दन छूट गया।
लग रहा पुरातन विश्व नया।
मानव-हित का वरदान जगा,
जीवन का अभिनव गान जगा,
मानव-हित-लोल-लहरियों में—
सेवा-सुख-स्वत्व समान जगा,

जन-जीवन-ज्योति प्रदीप्त हुई, मूरत-अभिनन्दन छूट गया।
लग रहा पुरातन विश्व नया।
जन - रज में आत्मविसर्जन है,
जन-रज में सब कुछ अर्जन है,
उतरेगा स्वर्ग धरातल पर—
जन-कलरव विभु का गर्जन है,
मानव-मन मुक्त हुआ भव में, अब पूजा-अर्चन छूट गया।
लग रहा पुरातन विश्व नया।

धर्म का मर्म

महात्मा भगवानदीन

अगर आप हिन्दू हैं और मुसलमान होना चाहते हैं, खुशी से हो जाइए। लेकिन अगर कोई मुल्ला यह दावा करता है कि वह आपके ख़तने करा, दाढ़ी रखा या कलमा सिखा कर मुसलमान बना देगा तो वह आपको धोखा देता है। उससे दूर भागिये। ठीक इसी तरह अगर आप मुसलमान हैं और हिन्दू होना चाहते हैं, हो जाइये। लेकिन अगर कोई पण्डा या पण्डित यह दावा करता है कि वह आपको जनेऊ पहनाकर चोटी रखा कर मन्त्र सिखाकर हिन्दू बना देगा तो वह आपको धोखा देता है उससे बचिए। अब, अगर आप हिन्दू हैं और मुसलमान होना चाहते हैं तो आप हिन्दू धर्म से रत्ती भर वाक़फ़ियत नहीं रखते, पैदाइशी हिन्दू भले ही हों। हिन्दी धर्म में आपकी दीनी दुनियावी तरक़्क़ी का काफ़ी मसाला मौजूद है और अगर आप मुसलमान हैं, और हिन्दू होना चाहते हैं, मुआफ़ कीजिए, आप इस्लाम धर्म से ज़रा भी जानकारी नहीं रखते, मुसलमान धर्म में पैदा भले ही हुए हों। मुसलमान धर्म में आपकी दीनी दुनियावी तरक़्क़ी के लिए बहुत कुछ मौजूद है। बड़ौदा के जज तैयब जी की सुपुत्री मिस रेहाना कृष्ण की बड़ी भक्त हैं और हैं मुसलमान। उनको हिन्दू बनने का ढोंग नहीं रचना पड़ा। लाला लाजपतराय जी के पिता मुसलमान धर्म से नमाज पढ़ते थे। मुसलमान धर्म के बहुत से उसूलों पर अमल करते थे, पर उन्होंने अपना नाम मुहम्मदअली कभी नहीं रक्खा और न मुसलमान होने का ढोंग ही रक्खा।

महावीर और बुद्ध ने लोगों को जैन या बौद्ध नहीं बनाया। उन जंगली भारतवासियों को, जो न पशुओं में जान मानते थे और न शूद्रों के साथ मनुष्य जैसा व्यवहार करते थे, मनुष्य बनाया। हज़रत मुहम्मद ने उन जंगली अरबों को जो बूआ, बहनों, बेटियों में यहाँ तक कि सौतेली माँओं में कोई तमीज़ ही न करते थे, निरे जानवर ही बने हुए थे, मुसलमान नहीं बनाया था, इन्सान बनाया था। धर्म को आज कल के पण्डितों और मौलवियों ने सरकारी पदवी समझ रक्खा है। सोए थे मामूली आदमी, उठते ही रायबहादुर, सर, राजा, बन गए। धर्म जैसी संजीदा और ऊँची संस्था के साथ दुनियाँ ने जैसा खिलवाड़ किया है, वैसा शायद किसी और संस्था के साथ नहीं किया। कोई वेद, पुराण, अंजील रट जाने को धर्म माने हुए है, कोई नमाज, पूजा प्रेयर को धर्म समझे हुए हैं। कोई डाढ़ी चोटी को ही धर्म का चिन्ह बतलाता है। कोई कलमा, गायत्री को ही सब कुछ समझे हुए हैं। ग़रज़े कि कोई कुछ कोई कुछ समझे हुए है।

हमारे दिल काले हैं, हमारे अन्दर कपट का धूआँ घुमड़ा हुआ है। हसद की आग जल रही है। लालच का भूत घर बनाए हुए है। दुश्मनी का शैतान हमारे दिल का राजा बना हुआ है। उन सब में से जब कोई एक कम होता या भाग जाता है तभी यह समझना चाहिए कि हम धर्म की तरफ़ बढ़ रहे हैं। असल में धर्म तजुर्बे की चीज़ है, अनुभव से मिलता है। धर्म एक गहरी अन्दूनी तबदीली का नाम है। धर्म शख़शीयत के ऊँचे उठने को कहते हैं धर्म अन्दर की तरफ़ निगाह डालना है। सच की खोज धर्म नहीं, नेकी की तलाश भी धर्म नहीं। ख़ूबसूरती की तलाश तो धर्म कैसे हो सकती है! प्रेम की पूजा धर्म है, इश्क़ ही मज़हब है। दया, रहम प्रेमी आशिकों के चमचे हैं, जिनसे वे भर भर प्रेम बाँटते हैं। आत्मा परमात्मा कोरे ज्ञानी और सुन्दर नहीं है, वे कुछ और भी हैं। नौकर के नहलाने और माँ के नहलाने में जैसा फ़र्क़ है, नौकर के पहरा देने और ईश्वर के सिरहाने बैठने में वही अन्तर है। वही अन्तर नौकर की सेवा और ईमानदार की ख़िदमत

में भी है। धार्मिक की सेवा धार्मिकी आत्मा को उठाती है, चाकर की चाकरी चाकर की आत्मा को गिराती है। माँ की सेवा को सेवा नहीं कहते, उसे बड़प्पन कहते हैं। नेकी अच्छी चीज़ नहीं, पवित्र बनो। पवित्र के सारे काम नेक होते हैं। पवित्र के अन्दर से नेकी ही निकलती है। जब जब तुम अपने को खुश पाओ ताज़ा पाओ, हल्का पाओ, सीधा पाओ, बेख़ौफ़ पाओ, तब तब समझो कि तुम में धर्म का समुद्र लहर मार रहा है—ईश्वर तुम्हारे पास आने की तैयारी कर रहा है—तुम्हारा आत्मा तुम्हें दर्शन देना चाहता है।

धर्म में आग, पानी, हवा, मिट्टी आकाश सभी के गुण मौजूद हैं। आग के पास जाने से जाड़ा दूर होता है, पानी से प्यास बुझती और गर्मी मिटती है, हवा से कुम्हलाई तबियत खिलती है। मिट्टी से भूख मिटती है और खोई हुई ताक़त वापस आती है। आकाश हमको जगह देता और ताज़ा रखता है। धर्म के पास पहुँचने से यह सब काम तो होते ही हैं, पर आत्मा को जो न बतलाए जाने वाला आनन्द होता है, वह रूँगें में है। सच्चे धार्मिक के अन्दर आनन्द का समुद्र लहरें मारता रहता है। उसके पास बैठने से ही तुम्हें आनन्द मिलेगा। अगर ऐसा न होता तो उरयोजीनस के पास सिकन्दर न आता और कबीर के पास लोदी न फटकता। यह कविता की बात नहीं कही जा रही, यह दो और दो चार की तरह सच्ची बात बताई जा रही है। हाँ एक ख़्याल रहे—इन पंक्तियों को पढ़ कहीं तुम सिकन्दर और लोदी के लिए धर्मात्मा बने तो गये। नदी पानी पीने वालों के लिए नहीं बहती, पेड़ फल खाने वालों के लिए नहीं उगते, धर्मात्मा धर्म या परोपकार के लिये नहीं पैदा होता। दूसरों से इज़्ज़त पाने की उसमें कोई ख़्वाहिश नहीं रहती। धर्मात्मा से धर्म हो ही जाता है, उपकार बन ही जाता है। धर्मात्मा की लोग इज़्ज़त करते ही हैं। नदी का पानी पीकर लोग प्यास बुझाते हैं। नदी की इज़्ज़त करने के लिए उसमें फूल भी चढ़ाते हैं। मिश्री मुंह में डालकर हमारी जीभ को क्या सुख मिलता है यह जब बताया नहीं जा सकता तो दिखाया कैसे जा सकता है? ठीक इसी तरह धर्म से पाए हुए सुख को धर्मात्मा दिखा-समझा नहीं सकता। वैसा करने की उसको ज़रूरत भी नहीं है। जिनको दिखाना समझाना है वे तो पास बैठकर उसको देख-जान ही लेते हैं। इतना ही क्यों, वे तो उसमें से कुछ हिस्सा पा भी जाते हैं। आग के पास कौन ख़ाली हाथ गया है? चांद को देखकर किसकी तबियत खुश नहीं हुई? फूल के पास से कौन फ़ायदे उठाए बिना रहा है? धर्मात्मा से किसको फ़ैज नहीं पहुँचा है?

धर्म से जो अनुभव हमें होते हैं बुद्धि उन तक नहीं पहुँच सकती तर्क उनको सिद्ध नहीं कर सकता। विज्ञान की कसौटी पर वे कसे नहीं जा सकते। तो भी बुद्धि उनका निरादर नहीं करती, उनमे अपने को संस्कारित करती है। तर्क को उनसे कोई धक्का नहीं पहुँचता। तर्क उन अनुभवों से और पुष्ट होता है। विज्ञान-अनुभव प्रजा के नाते उनमे उत्साह पाता है। विज्ञान में उन अनुभवों से नई जान पड़ती है। सीढ़ी छत तक पहुंचाने में बड़ी ज़रूरी चीज़ है पर उतना ही ज़रूरी है उसका छोड़ना क्योंकि उसको बिना छोड़ें हम छत पर पाँव नहीं रख सकते। तर्क विज्ञान धर्म की छत तक पहुंचाने में सोपान का काम करते हैं सही पर उनका पीछा छोड़े बिना धर्म-मन्दिर के अन्दर का अनुभव नहीं हो सकता। धर्म और विज्ञान के लिए सफ़रमैना की पलटन की तरह अज्ञान-जंगल के झाड़ झंकार को काट फेंक देने में बड़े काम के सिद्ध होते हैं। और जब अज्ञानी ही न रहे तब उनकी क्या ज़रूरत? तर्क-विज्ञान से काटे हुए झाड़ फिर बढ़कर रास्ता रोक सकते हैं। तब प्रेम की आग से जलाया हुआ विज्ञान जंगल सदा के लिए साफ़ हो जाता है और तर्क विज्ञान का काम भी ख़तम हो जाता है।

जो प्रेम-धर्म का लक्षण बताया गया है, जो इश्क़ अनल्‌ हक़ की शनाख़्त है वह राग मुहब्बत से बिल्कुल दूसरी चीज़ है, उसमें न विसाल और फ़िराक़

का मज़ा है, न वियोग फ़िराक की तकलीफ़। वह सदा एक रस है।

धर्म का स्वरूप या धर्म का मर्म जो अभी ऊपर कहा गया वह भले ही आम आदमियों के लिए असम्भव सा जँचता हो, पर है वोही। हमारी निगाह अगर उसी आदर्श की ओर रही तो हमारी समझ, हमारी क्रियाएँ इस ढंग की होंगी कि उससे हमारे कुटुम्ब वालों, देश वालों और दुनिया के आदमियों—नहीं नहीं दुनिया के सब प्राणियों—को सुख मिलेगा और हम बहुत आसानी से एक न एक दिन उस आदर्श तक पहुँच कर ही रहेंगे।

संस्कृति

श्री भीष्म साहनी, एम० ए०

संस्कृति की परिभाषा भी कविता और प्रेम की परिभाषा की तरह कठिन है। हमारा अनुभव ही उसे पहचानता है। पर साधारणतया हम उस व्यक्ति को संस्कृत कहते हैं जिसमें कुछ कोमल गुण हों। अगर आप किसी मित्र के साथ किसी अजनबी को मिलने आएँ और उसके स्वभाव और वार्तालाप से प्रभावित होकर वापस आते हुए बार बार कहें कि आदमी बहुत भला था, बहुत संस्कृत था तो आपका संकेत उसकी नम्रता, शिष्टता, सुरुचि इत्यादि की ओर होगा, जिनसे आप प्रभावित हुए। न केवल यह ही, हम अधिकतर संस्कृति का सम्बन्ध कला, साहित्य और शिक्षितवर्ग के साथ जोड़ते हैं। पर यह संस्कृति का बहुत क्षीण परिचय है। नम्रता और सुरुचि अवश्य संस्कृति की देन हैं पर जीवन में यह कहाँ तक कृत्रिम और कहाँ तक स्वाभाविक हैं यह जानना कठिन है। इसी तरह संस्कृति, कला, साहित्य और किताबों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हुए भी इन तक ही सीमित नहीं। किसी विश्वविद्यालय की डिग्री या लेखकों और चित्रकारों के कण्ठस्थ नाम या वार्तालाप-पटुता ही हमें संस्कृत नहीं बना पाते। शहरों से दूर किसी अज्ञात गाँव में रहती हुई एक निरक्षर दरिद्र नारी भी अपने उदार वात्सल्य और शान्त सहनशीलता के बल पर संस्कृत कहला सकती है।

मोटे शब्दों में मनुष्य पशुता से जितना ही ऊँचा है उतना ही संस्कृत है। जिसकी वृत्तियाँ अपने विकास में जितनी ही सूक्ष्म हो पाई हैं, उतना ही वह संस्कृत हो पाया है। ममता मनुष्यमात्र का स्वाभाविक गुण है। पर एक की ममता अपने परिवार तक सीमित रहती है, और दूसरे की चिथड़ों में ठिठरते ग़रीब बालक के प्रति भी आर्द्र हो उठती है, और कोई तीसरा इससे भी आगे अपने घातक शत्रु तक के प्रति सद्भाव रखने की क्षमता रखता है, तो अवश्य ही एक से दूसरा और दूसरे से तीसरा अधिक सूक्ष्मवृत्ति का और इसलिए अधिक संस्कृत होगा। इसी तरह यदि कोई छोटी सी चोट पर चिल्ला उठे और दूसरा घोर यातना में भी शान्त और स्थिर रहे तो संस्कृति का मापदण्ड दोनों का भेद फ़ौरन् बतला देगा।

पशु से वृत्तियों में बहुत कुछ समानता रखते हुए भी कहा जाता है कि मनुष्य पशु से तीन बातों में पृथक् है: विचार-शक्ति में, सौन्दर्य-प्रेम में और नैतिक भावना में। इसलिए वृत्तियों की सूक्ष्मता के साथ ही साथ इन गुणों की सूक्ष्मता भी मनुष्य को पशु से बहुत ऊँचा और संस्कृत बनाती है। किस अनोखे ढंग से यह गुण मनुष्य में विकास पाते हैं, यह कहना कठिन है, पर संस्कृति का फूटता अंकुर हम बच्चों की धमियों पहले गुफ़ावासी की छत पर खिंचे

अनोखे चित्रों में और उसके औज़ारों में देखते हैं; और इसका भास हमें उसकी पहली आध्यात्मिक पहेली की कल्पना करके मिलता है जब वह अपने मृत सम्बन्धी की देह के व्याकुल और सप्रश्न दृष्टि से देखता हुआ उसका कारण खोज रहा होगा। चित्र और औज़ार संस्कृति का व्यक्त रूप हैं, सहस्रों गुफ़ा-वासी जो अपना स्मृति-चिन्ह नहीं छोड़ गये, उनमें भी चुपचाप संस्कृति धीरे धीरे अपना विकास पाती रही होगी।

संस्कृति का जन्म मनुष्य के आन्तरिक जीवन से होता है। हम में से हर एक, शिक्षित या अशिक्षित कभी कभी जीवन की दौड़ धूप से हट कर जीवन को चन्द क्षणों के लिए निरपेक्ष दर्शक की तरह देखता है। गर्मी में तारों के नीचे लेटे लेटे, या बसन्त के से किसी सुन्दर बालक की हृदयविदारक मृत्यु पर, या किसी कवि की मार्मिक पंक्तियाँ गाते हुए। यह निरपेक्ष दृष्टि संस्कृति की आत्मा है। यही मनुष्य की अनुभूतियों को अधिक कोमल और अधिक सूक्ष्म करती है। यही हमारे हृदय के गम्भीर अनुभव, उलझनों के सुलझाते हुए क्षणिक प्रस्फुटित विचार, सांसारिक ज्ञान और अनुभव, इन सब को एक विशेष सामञ्जस्य में गढ़कर धीरे धीरे हमें जीवन के प्रति एक गम्भीर स्थिर दृष्टिकोण दे देती है। यही आन्तरिक दृष्टिकोण मनुष्य की अपनी संस्कृति है। यही दृष्टिकोण अपने लिए संसार में सत्य और असत्य का, सुन्दर और असुन्दर का निर्णय करने लगता है, और यही अपने लिए जीवन का मूल्यांकन भी करता है। इसका क्रमिक विकास हम निश्चित नहीं कर सकते। न जाने कौन सी विकट यातनाएँ, कौन से संस्कार या विशेष वातावरण या कौन सी सुशिक्षा इसे अधिक गम्भीर बनाती है, पर जितना ही यह दृष्टिकोण सूक्ष्म, व्यापक और निरपेक्ष होता जाए उतना ही मनुष्य संस्कृत होता जाएगा। यदि मनुष्य शिक्षित हो तो तत्त्ववेत्ताओं के विचारों से, और अशिक्षित हो तो जीवन की खुली पुस्तक से, कितने ही विचार उसके मूल्यांकन का अंग बनते हैं, पर उनका चुनाव उसकी यह आन्तरिक दृष्टि ही करती है। इसका सम्बन्ध केवल बुद्धि से ही नहीं, हृदय की गहरी भावनाओं से भी है। जहां विवेक उन्हें चुनता है, हृदय की कोमल अनुभूति इनसे प्रभावित होती और इन्हें अपनाती है; यही जीवन की क्रूर पहेलियों के सामने व्याकुल होती और जगत् के असीम सौन्दर्य पर पुलकित होती है, जीवन के विषाद और आनन्द दोनों इसके हृदय को छूते हैं। संस्कृति इस अनुभूति की रक्षक और इस दृष्टिकोण की प्रकाशदायिनी है। यह दृष्टिकोण आन्तरिक विचारों और भावनाओं तक ही सीमित नहीं रहता, मनुष्य के क्रियात्मक जीवन में भी यही पथदर्शक होता है। यही उससे सामाजिक व्यवहार में हां और न करवाता, उसके मित्र चुनता और उसके जीवन के एक विशेष मार्ग पर चलाता है। इसी के हम मनुष्य की रुचि विशेष का नाम भी दे देते हैं। ग्रन्थों की रट, सामाजिक रूढ़ियों का अंध अनुसरण या किसी दार्शनिक विचारधारा का समूल मान लेना ही संस्कृति का स्रोत नहीं।

कला, साहित्य, धर्म, दर्शनशास्त्र इत्यादि इसी कोमल अनुभूति का व्यक्त रूप बनते हैं। पर यदि यह रचनात्मक न भी हो और कला साहित्य का निर्माण न भी कर पावे तो भी इसकी छाप मनुष्य के व्यवहार पर नज़र आवेगी। व्यावहारिक शिष्टता और सुरुचि इसी के चिन्ह हैं। जहां मनुष्य को सामाजिक व्यवहार के यह शिष्ट और सुन्दर बनाती है, वहां उसके आन्तरिक जीवन में एक विशेष समता और harmony पैदा करती है। इसलिए जहाँ कला और साहित्य के साथ इसका सम्बन्ध है, वहाँ मनुष्य के क्रियात्मक जीवन के साथ भी इसका घनिष्ट सम्बन्ध है। हाँ, वही व्यवहार हमेशा उत्कृष्ट नहीं होता जो सामाजिक रूढ़ियों के अनुसार हो, इसलिए सामाजिक रीति-नीति का विरोध करते हुए भी मनुष्य का आचार संस्कृत हो सकता है।

अब जातीय संस्कृति पर आइए। इसी व्यक्तिगत उन्नति से जितना ही सामाजिक जीवन शिष्ट और

न्यायपूर्ण हो पाया है उतना ही वह समाज या जाति संस्कृत हुई है। व्यक्तिगत संस्कृति की तरह जातीय संस्कृति की परख भी व्यवहार से ही होती है। पर जिस वक्त भी हम संस्कृति के जातीय पहलू पर सोचते हैं, हमें सबसे पहले वे ग्रन्थ याद आ जाते हैं जो हमारे पुरखा लिख गये, जिन पर हमें नाज़ है और जिनकी रक्षा करने के लिए हम चोटी की गांठ खोल कर आजीवन लड़ने को तैयार हो जाते हैं। ये ग्रन्थ संस्कृति का व्यक्त रूप हैं और बेशक एक जाति के लिए बहुत क़ीमती हैं। न केवल ग्रन्थ ही, बल्कि प्राचीन स्मारक और चित्र इत्यादि भी। किसी समय के सांस्कृतिक इतिहास को जानने के लिए यह प्रतीक और मापदण्ड हैं। केवल इतना ही नहीं, ये ग्रन्थ मनुष्य के खोजे हुए ज्ञान को सदियों तक सुरक्षित रखने का एकमात्र साधन हैं। तो भी ये किताबें ही स्वयं संस्कृति नहीं। अगर कल दुर्भाग्य से तक्षशिला के रहे सहे चिन्ह भी नष्ट हो जाएँ, तो उनके साथ संस्कृति नहीं जल जाएगी। शैव शशाङ्क द्वारा नालन्दा के पुस्तकालय का जलाया जाना और औरङ्गज़ेब द्वारा हज़ारों पुस्तकों का जलाया जाना एक घृणित काम था। मनुष्य के सांस्कृतिक विकास में पुस्तकें बेहद सहायता करती हैं, तो भी शब्द-लिपि के आविष्कार से ही संस्कृति का जन्म नहीं हुआ, उससे पहले भी लाखों बरस तक आदि मानव अपने जीविका-संघर्ष या ज्ञानेप्सा में अपना सांस्कृतिक विकास कर रहा था। इसलिए एक जाति का अपनी पुरानी पुस्तकों को संस्कृति मान लेना और उनकी रक्षा को संस्कृति की रक्षा मान लेना भूल होगी।

पर इससे भी बड़ी भूल उन्हें "अपनी" संस्कृति मानने में है। सांस्कृतिक जीवन के स्तर हो सकते हैं, किस्में नहीं। मनुष्य की प्रकृति संसार भर में एक जैसी होने के कारण, संस्कृत बनने की क्षमता मनुष्य मात्र में है, वह किसी एक जाति का ही सौभाग्य या विशेषाधिकार नहीं।

यह ठीक है कि संस्कृति का विकास सारे संसार में एक जैसा नहीं हुआ। सहस्रों सदियों तक मनुष्य के पास ऐसे साधन न थे जिससे वह संसार के दूसरे भागों में रहते हुए मनुष्यों से मिल पाता। इसलिए हर एक जाति अपनी अपनी परिस्थितियों पर निर्भर एक भौगोलिक अलहदगी (isolation) में रही। वहीं पर उसने अपनी जीविका के साधन ढूंढे, अपनी भाषा बनाई और अपने आन्तरिक भावों को चित्रों, गीतों इत्यादि में व्यक्त किया और भौतिक और आध्यात्मिक नियमों की खोज की। किन स्पष्ट नियमों के अनुसार हर एक जाति की क्रमशः सांस्कृतिक उन्नति हुई, यह तो हम नहीं जानते, लेकिन इतना जानते हैं कि विज्ञान, कला और नैतिक भावना के विकास में कहीं कहीं हर एक जाति में ऐसे व्यक्ति पैदा हुए, जिन्होंने अपने असाधारण विवेक और गम्भीर अनुभव द्वारा जीवन का मूल्यांकन किया और अपनी खोज अपनी जाति को सौंपकर चले गये। सुविधाएं न होने के कारण उनकी आवाज़ अपनी जाति तक ही सीमित रही, बाहर जगत् में उन्हें किसी ने न जाना। उनकी खोज ने उनके अनुयाइयों की खोज को प्रोत्साहन दिया, उनके आध्यात्मिक सिद्धान्तों को उनकी जाति ने अपनाया और उनके आदर्शों को क्रियात्मक रूप देने की चेष्टा की। इसी तरह हर एक जाति का अलग अलग सांस्कृतिक विकास होता रहा। सदियों के बाद वैज्ञानिक आविष्कारों और प्रकृति की बहुत सी जानकारी हो जाने पर यह सम्भव हो सका कि एक जाति के लोग दूसरी जाति के लोगों से मिल सकें, चाहे ह्यू न सांग जैसे यात्रियों के द्वारा और चाहे रण-क्षेत्र में। इस बढ़ते मेल जोल में पता चला कि अपनी-अपनी अलहदगी में कई जातियाँ बहुत कुछ ढूँढ पाई हैं, और अपने सांस्कृतिक जीवन को कोई अधिक और कोई कम विकसित कर पाई हैं। कई सिद्धान्तों और आदर्शों में उनमें समता है, और कइयों में वे पृथक् हैं। हर एक का सांस्कृतिक स्तर एक जैसा नहीं। इसी मेल जोल में किसी के जाति-अभिमान ने दूसरी जाति को नीचा

समझा और किसी की उदारता ने दूसरी जाति को अपने से अधिक उन्नत माना और उसके सिद्धान्त अपनाने की कोशिश की।

अब यदि देखा जाए तो जो मूल्यांकन कुछ व्यक्ति विशेष एक जाति में कर गए, उनका सम्बन्ध अखिल मानव जीवन के साथ था। यदि वह भौतिक संसार के भीतरी नियम थे तो उनकी सत्यता की जाँच संसार के किसी भी कोने में हो सकती थी। और यदि वे जीवन को सुखी और ऊँचा बनाने के सिद्धान्त थे तो उन पर किसी जाति का व्यक्ति भी आचरण कर सकता था। न्यूटन द्वारा खोजा हुआ गुरुत्वाकर्षण का नियम जितना इङ्गलैण्ड में सत्य हैं उतना ही भारतवर्ष में भी। और यदि गौतम बुद्ध के उपदेश ने एक भारतवासी का जीवन सुखी और उन्नत हो सकता है तो पूरी तरह सम्भव है कि एक अंग्रेज़ का भी हो सके। किसी सिद्धान्त की निहित सत्यता जाति और देश की सीमाएँ लाँघने पर झूठ नहीं हो जाती, न ही उसके गुण बदल जाते हैं। इसलिए किसी जाति के खोजे हुए सांस्कृतिक सिद्धान्त अखिल मानव संस्कृति का अंग हैं। इस लिहाज़ से कुछ सिद्धान्तों को हिन्दू संस्कृति का नाम देना और कुछ और सिद्धान्तों को ईसाई संस्कृति कहना उतना ही ग़लत है जितना कि गणित-विज्ञान को हिन्दु-गणित और ईसाई-गणित कहना। यह सिद्धान्त किसी जाति की उपज भले ही हों पर मिलकियत नहीं हो सकते। हम इस पर गर्व कर सकते हैं कि मनुष्य समाज को ऊँचा उठाने में हमारे महापुरुषों की विशेष देन थी, लेकिन यह कहना हास्यप्रद होगा कि चूँकि यह सिद्धान्त हमारे महापुरुष ने खोजे इसलिए हमारे हैं, आप के नहीं हो सकते, अगर आप इन्हें नुक़सान पहुँचाने की कोशिश करेंगे तो हम अपनी जान पर खेल जाएँगे, हम इनकी रक्षा में ख़ून की नदियाँ बहा देंगे, इत्यादि। अगर अंग्रेज़ यह कहने लगें कि गुरुत्वाकर्षण का नियम हमारा है क्योंकि न्यूटन एक अंग्रेज़ था तो यह उनकी मूर्खता होगी।

जहाँ सांस्कृतिक सिद्धान्त किसी जाति की मिलकियत नहीं, और ग्रन्थों की रक्षा संस्कृति की रक्षा नहीं, वहाँ यह विश्वास भी ग़लत जान पड़ता है कि जितना एक जाति दूसरी जाति से पृथक् रहेगी उतना ही उसका सांस्कृतिक जीवन सुरक्षित और पवित्र रहेगा। अन्तर्जातीय मेलजोल संस्कृति को नया जीवन देता है। एक जाति दूसरी जाति के संसर्ग में आकर बहुत कुछ सीखती है। उसके आविष्कारों को जानकर उसका ज्ञान, उसके साहित्य और कला के नमूनों को देखकर उसकी सौन्दर्य-भावना और उसके सामाजिक जीवन को देख कर उसका सामाजिक विवेक, ये सभी बढ़ते हैं। इतिहास बतलाता है कि संकीर्णता में संस्कृति विकास नहीं पाती, इसके कोमल तन्तु मुर्झाने लगते हैं। मिसाल के तौर पर संसार की निर्माणकला का इतिहास इन्हीं अन्तर्जातीय प्रभावों का इतिहास है। मिश्र की निर्माणकला ने यूनान को और यूनान की निर्माण-शैली ने सारे यूरोप को प्रभावित किया जिससे हमें निर्माणकला के नये नये नमूने नज़र आए। फ़ारस की शैली में कुछ तबदीलियाँ करके जो प्रासाद और क़िले मुग़ल सम्राट् हिन्दुस्तान में बना गये उनसे हिन्दुस्तान के शहर अलंकृत हुए। हिन्दुओं ने कुछ सीखा कुछ सिखाया और निर्माण-कला को नया प्रोत्साहन मिला। उस निर्माण के युग में यूरोप में आश्चर्यजनक साहित्य लिखा गया, जिस का सबसे बड़ा कारण पुराने यूनानी और आधुनिक विचारकों का विचार-संगम था। हिन्दुस्तान में भी यह अन्तर्जातीय मेलजोल जितना बढ़ा उतना ही सांस्कृतिक जीवन को प्रोत्साहन मिला। संस्कृति पर भाषण करने वाला हिन्दू जहाँ गौतमबुद्ध और ईसा के उपदेशों की समानता नहीं भूल सकता, वहाँ वह रसखान, रहीम, दाराशिकोह और ४०० के लगभग मुस्लिम विचारकों की अमूल्य देन को भी नहीं भूल सकता। न ही इस सत्य पर कि गौतम बुद्ध की विख्यात शान्त मुद्रा की प्रतिमा सबसे पहले एक यूनानी ने गढ़ी थी, अपनी आँख मूंद सकता है। हमारे आधुनिक साहित्य पर पाश्चात्य साहित्य की

छाप दीख पाती है जिससे हमारी साहित्य-रचना को अवश्य प्रोत्साहन मिला है। यह कोई नहीं कह सकता कि हम क्या अपनाएँगे और क्या भूल बैठेंगे, यह हमारी विचार-शक्ति और हमारे सदसत् विवेक पर निर्भर है। पर इस सम्पर्क से हमारा साहित्य दुर्बल नहीं होगा।

भाषा की तरह संस्कृति का विकास भी अलहदगी में नहीं, संसर्ग में होता है। एक भाषा में यदि दूसरी भाषा के शब्द आ जाएँ तो वह बढ़ती है, विकास पाती है और सूक्ष्मतम विचारों को व्यक्त कर सकती है। दूसरी भाषाओं के सम्पर्क से इसका पोषण होता है और वृद्धि होती है। पर यदि साम्प्रदायिक नोच-खसोट में इसे और भाषाओं से अलग रखा जाए तो इसके स्वाभाविक विकास में बाधा पहुँचेगी। संस्कृति का विकास भी अलहदगी में नहीं हो सकता। इसलिए यह मान लेना कि पाकिस्तान बन जाने पर "मुस्लिम संस्कृति" पनपेगी, या रूस के विजयी होने पर "जर्मन संस्कृति" डूब जाएगी, अपने आप को धोखा देना होगा।

यह तो रही ग्रन्थों, सिद्धान्तों और विश्वासों की बात जो कि संस्कृति का केवल व्यक्त रूप हैं, जिनकी रक्षा या नाश मानव संस्कृति की रक्षा या नाश नहीं। संस्कृति की रक्षा इन पुस्तकों की महानता में नहीं, जातीय जीवन की शुद्धता में है। यह कहना कि चूँकि हमारे महापुरुषों ने अमुक ग्रन्थ लिखे इसलिए हमारा सांस्कृतिक जीवन ऊँचा है, कदाचित् ग़लत है। दार्शनिक या वैज्ञानिक ग्रन्थ उन्नत होने की क्षमता का बोध अवश्य कराते हैं लेकिन एक समय और काल के सांस्कृतिक स्तर के ठीक मापदण्ड नहीं हो सकते। एक विचारक यदि किसी आदर्श को समाज के सामने रखता है तो यह ज़रूरी नहीं कि उस आदर्श पर सामाजिक जीवन में आचरण होता है। बहुधा परिस्थितियों के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया के रूप में आदर्श सामने आते हैं। इसलिए सम्भव है कि ग्रन्थों के लिखे जाने के वक्त जाति का सांस्कृतिक जीवन काफ़ी गिरा हुआ हो। यह कहना कि हमारी जाति में ये महापुरुष पैदा हुए इसलिए हम महान् हैं, बचपन होगा। किसी जाति के सांस्कृतिक जीवन की जाँच इतिहास किसी हद तक कर सकता है, ग्रन्थ नहीं कर सकते। हमारे देश में गान्धी, टागोर और इक़बाल का होना यह सिद्ध नहीं करता कि हमारा सामाजिक जीवन पवित्र और ऊँचा है। यह सच है कि कई जातियों में बौद्धिक विकास और जातियों की निस्बत अधिक हुआ, पर बौद्धिक प्रौढ़ता संस्कृति की एक मात्र कसौटी नहीं। व्यक्ति के सांस्कृतिक स्तर की तरह किसी जाति का सांस्कृतिक स्तर भी उसके आन्तरिक जीवन से ही जाना जाता है, *ग्रन्थों से नहीं।* यदि आप किसी परिवार को मिलने उनके घर जाएँ और महसूस करें कि कलह और द्वेष से वहाँ का वातावरण ज़हरीला हो रहा है तो आप उस परिवार को कुसंस्कृत कहेंगे, यद्यपि उस घर की आलमारियों में गीता, उपनिषदों के भाष्य और सचित्र रामायण सजे हों और दीवार पर महात्मा बुद्ध का शान्तमुखी चित्र टँगा हो। वह चित्र और भाष्य परिवार के व्यावहारिक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं रखते।

इसलिए ग्रन्थों के गीत गाते हुए यह मान लेना कि जिस जाति में राम और कृष्ण का जन्म हुआ हो और जहाँ ऐसे अमूल्य ग्रन्थ लिखे गये हों, उसका सांस्कृतिक जीवन अद्वितीय है, विडम्बना होगी। ये किताबें पढ़ने पर हमारा साक्षात् संस्कृति से नहीं होता। वास्तव में यह साक्षात् तो उस अभागी औरत का होता होगा जो किसी नये शहर में रात को रास्ता भूल जाए या उस ग़रीब किसान का जो क़हत या बीमारी के कारण अपना एक अर्ध वार्षिक लगान न चुका सके। यह साक्षात् उस साधारण नागरिक का भी होता होगा जिसे पुलीस के साथ वास्ता पड़ा हो, या किसी पैसे वाले के साथ कचहरी में टक्कर लेनी पड़ी हो। वह जानता है कि हमारा भीतरी जीवन कितना शिष्ट और संस्कृत है। मनुष्य जीवन के मूल्य आँकने वालों पर तो गर्व किया जा सकता है, लेकिन

ग़रीब बच्चों के हाथ से कौर छीन लेने वालों पर क्योंकर गर्व हो सकता है।

संस्कृति अवश्य ही सूक्ष्म विचारों और कोमल भावनाओं की उपज है पर इसे जीवित व्यवहार ही रखता है। जब यह विचार और भावनाएँ और ग्रन्थों के अनमोल सिद्धान्त हमारे क्रियात्मक जीवन में खप कर एक विशेष शिष्टता और सुरुचि पैदा कर दें, तो संस्कृति विकास पाएगी—व्यक्तिगत जीवन में भी और जातीय जीवन में भी।

और हमारा व्यवहार हमारे सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक इत्यादि नियम निश्चित करते हैं। एक व्यक्ति का व्यवहार बहुत हद तक उसके बस की बात नहीं होती। उसका आचरण उसकी परिस्थितियों के हाथ होता है। यदि घूस दिये बग़ैर ठेकेदार के बिल न पास होते हों और यदि कपड़े में चीनी मिट्टी मिलाए बिना होड़ में कपड़ा न बिक सकता हो तो ठेकेदार को घूस देनी पड़ती है और मिल-मालिक को मिट्टी मिलानी पड़ती है। एक साधारण व्यक्ति अपनी परिस्थितियों का विरोध नहीं कर सकता, वह उनके अधीन रहता है। यदि सामाजिक अवस्था प्रतिकूल होगी और उसे प्रतिकूल आचरण के लिए प्रेरित करेगी तो सांस्कृतिक जीवन गिरता जाएगा। इसलिए उसके व्यवहार में स्वच्छता लाने के लिए अनिवार्य है कि जिन आर्थिक और सामाजिक नियमों पर उसका जीवन निर्भर है, वे स्वच्छ हों। और इन नियमों के जाँच की एकमात्र कसौटी न्याय है। एक जाति का सांस्कृतिक स्तर उतना ही ऊँचा होगा जितना कि उसके सामाजिक और आर्थिक नियम न्याय की कसौटी पर पूरे उतरेंगे। न्याय जातीय संस्कृति की आधार शिला है। मस्जिद के सामने बाजा बजाने से संस्कृति पर आघात नहीं होता और न ही लाखों यहूदियों को मौत के घाट उतारने से संस्कृति की रक्षा होती है। जातीय जीवन के हर एक पहलू, आर्थिक, सामाजिक इत्यादि में अन्याय के स्थान पर न्याय को स्थापित करना संस्कृति की नींव रखना है।

पर दुर्भाग्यवश संस्कृति के बारे में हमारा दृष्टिकोण साम्प्रदायिक राजनीति ने काफ़ी धुन्धला कर दिया है। संस्कृति भी संसार की उन अभागी चीज़ों में से है जो राजनीति की क्रूर अवसरवादिता के हाथों बाज़ारी बना दी गई है। राजनीति के चतुर खिलाड़ी अपने देश की सीमाएँ मज़बूत करने के लिये और अपनी जाति को दूसरी जातियों से अलग रखने के लिए इसे भी अपने भावुक प्रचार का साधन बनाते हैं। स्वदेश-प्रेम, अपनी भाषा, अपना धर्म, अपने अतीत का गौरव जहाँ देश की दीवारें मज़बूत करने के लिए साधन बनते हैं, वहाँ "अपनी संस्कृति" भी जाति में एक भावुक संगठन पैदा करने के लिए राजनीति की प्रचार-दासी बनती है। और हम लोग शुष्क सत्य से इतने प्रभावित नहीं होते जितने भावुक झूठ से हो जाते हैं। सांस्कृतिक उन्नति अवश्य ही मानव राजनीति का एक महान् उद्देश्य है, पर यह स्पष्ट है कि साम्प्रदायिक राजनीति के उद्देश्यों के साथ संस्कृति का कोई निजी सम्बन्ध नहीं। अन्तर्जातीय विरोध शायद राजनीति के लिए उपयोगी हो, पर इस विरोध में संस्कृति का दम घुटता है। भाषा और धर्म का भी यही प्रयोग होता है। भाषा यदि साधन है तो मनुष्य के विचारों को व्यक्त करने का, एक दूसरे के सिर फोड़ने का नहीं। और इससे अधिक अधिक शोचनीय क्या हो सकता है कि जब यूरोप की धार्मिक संस्थाओं ने राजनीतिक उद्देश्य अपनाए तब ईसा के भ्रातृत्व के उपदेश को मानने वाले प्रोटैस्टैंट और कैथोलिक एक दूसरे के ख़ून के प्यासे बने!

संस्कृति की रक्षा पुस्तकों की रक्षा और प्रशंसा से नहीं हो सकती, न ही जातीय पृथकत्व उसे उन्नत कर सकता है। सामाजिक रूढ़ियाँ और उनका निष्प्राण अनुसरण भी उसके विकास में सहायता नहीं देते। रूढ़ि ग्रस्त कविता की तरह रूढ़ि-ग्रस्त संस्कृति भी विकास नहीं पाती। इसके विकास के अपने नियम हैं, और उन्हीं के अनुसार यह पनप सकती है, पर दुर्भाग्यवश हम उन नियमों को इतना आवश्यक नहीं समझते जितना कि पुस्तकों के प्रति

भावुक श्रद्धा को, जो कि संस्कृति के लिए सर्वथा हानिकारक है। सांस्कृतिक उन्नति ऐसे वायुमण्डल के निर्माण से होगी जिसमें मनुष्य के सर्वोत्तम गुणों को विकास का प्रोत्साहन मिले, और यह वायुमण्डल न्याय, सच्ची ज्ञानेप्सा, प्रेम और व्यवहारिक स्वच्छता से ही बन पाएगा।

हिन्दू-मुस्लिम एकता का एक राजदूत

श्री गुरुदयाल मल्लिक

इस बात को स्वीकार करना ही पड़ेगा कि हिन्दू-मुस्लिम एकता के मसले पर लोग जितनी चर्चा और बहस करते हैं उतना उसे सुलझाने के लिए व्यावहारिक रूप में कोई काम नहीं करते। हो सकता है, अपने रोज़मर्रा के जीवन में वे किसी-न-किसी प्रकार की साम्प्रदायिकता की छाया में रहने के लिए बाध्य होते हैं, यह कट्टरता चाहे राजनैतिक हो चाहे आर्थिक, धार्मिक हो या क़ौमी। शायद इसीलिए एक दूसरे के सम्पर्क में वे मानव धर्म की उस ऊँचाई तक नहीं पहुंच पाते जहां यह प्रश्न अपने आप ही सुलझ जाता है। अवश्य ही यह बात समाज के उस दल के बाबत कही गई है जो केवल ऊपर से ही शिक्षित है, क्योंकि साधारण जनता का सम्पर्क पारस्परिक सद्भाव पर ही खड़ा है।

तब भी कभी-कभी इस समाज में भी ऐसे लोग मिल ही जाते हैं जो मेहनत और ईमानदारी के साथ हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के आदर्श को वास्तविकता में परिणत करने के लिए प्रयत्नवान हैं। बात सिर्फ़ इतनी है कि ये लोग ख्याति की धूमधाम से दूर रहते हैं; साइनबोर्ड वाली दुनिया उनके बारे में कुछ नहीं जानती। देश के सेवक के रूप में उन्हें स्वीकार कर सकना तो अलग है।

आदर्श के इन उत्साही प्रेमियों में अध्यापक हुकुमचन्द कुमार भी एक थे जो गत मार्च महीने में हरिद्वार में लोकांतर-प्रवास कर गये। वे पंजाब के निवासी थे, वहीं उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में उनका जन्म हुआ और वहीं शिक्षा हुई थी। उनका छात्र-जीवन पुरस्कार और प्रशंसापत्रों से भरापूरा था। ग्रेज्युएट होने के बाद वे बलूचिस्तान के सरकारी दफ़्तर में क्लर्क हो गए। वहां उन्होंने शार्टहैण्ड सीखा जिसका ज्ञान उन दिनों जल्दी ही उन्नति के पथ पर अग्रसर करा देता था। अंग्रेज़ी, उर्दू और फ़ारसी—तीनों—ज़बानों पर उनका एक-सा अधिकार था और सब समय सब से चुस्त फ़िक़रा इस्तेमाल करने की उनकी असाधारण क्षमता भी थी।

क्वेटा के सेक्रेटरियट के बाहर नागरिकों के बीच वे एक छुपे हुए विद्या-व्यसनी की हैसियत से मशहूर थे। साहित्य के प्रति उनके हृदय में सब से अधिक और सब से स्थायी अनुराग रहा। गम्भीर रात्रि में कितनी ही देर तक वे पढ़ा करते थे! और अक्सर ही जब किसी उर्दू पत्र में उनकी क़लम से निकला हुआ कोई तेजस्वी लेख प्रकाशित होता था तब उनके रात-रात के जागरण का परिचय पाठकों की दुनिया को हो जाया करता था।

सन् १९१७ में श्रीमती बेसेण्ट का जादू उन पर चल गया; वे 'होमरूल' के प्रति गम्भीर भाव से आकृष्ट हुए। इस प्रस्ताव के राजनैतिक पहलू में उन्हें उतनी दिलचस्पी नहीं थी जितनी कि स्वतन्त्रता के दक्षिण पवन के प्राणवान् स्पर्श में, जिसने जनता के मायूस दिलों को ज़िंदा कर दिया था। इस आह्वान के उत्तर में उन्होंने अपने को शिक्षा और धर्म के युगपद पुनरुत्थान में नियोजित कर दिया। इन दोनों को मुर्दा रूढ़ियों के जड़ दलदल से बाहर करना उनका उद्देश्य था। फलतः जब स्वर्गीया बेसेण्ट ने अपने 'स्वराज्य' को कार्यान्वित करने के लिये राष्ट्रीय शिक्षण संस्थाओं में योग्य सेवकों को पुकारा तब

श्री हुकुमचन्द ने तत्काल ही सरकारी नौकरी से स्तीफ़ा दे दिया। इसके बाद उन्होंने अपने को हैदराबाद के सिंध नैशनल कालेज (अब दयाराम गीदूमल नैशनल कालेज) की सेवा में संपूर्णतया अर्पण कर दिया। वहाँ पर शिक्षक की हैसियत से कार्य करते हुए धर्म और जाति की दुनिया में थियासफ़ी का उदार दृष्टिकोण अनुसरण करने के लिये वे उत्साह-पूर्वक सेवा करते रहे। उद्देश्य था विश्वबंधुत्व, किन्तु उन्होंने विशेष भाव से हिन्दू-मुसलमानों की समस्या को ही अपना प्रिय विषय बनाया—अध्ययन का भी और सेवा का भी। यहां हम याद कर सकते है कि थियासफ़िकल सोसायटी के श्री० सी० जिनराज दास तथा थोड़े से और भी कार्यकर्त्ताओं के सहयोग से जो "इस्लामिक एसोसियेशन" उन दिनों स्थापित हुआ था, श्री हुकुमचन्द उसके सब से प्रधान स्तम्भ थे। दुर्भाग्यवश आज यह संस्था नहीं है।

कुछ वर्षों पीछे उन्होंने अपने को संपूर्णतया हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की सेवा ही के लिये उत्सर्ग कर दिया। दोनों सम्प्रदायों के धर्म-ग्रन्थों का उन्होंने गहराई से अध्ययन किया और उन लोगों के साथ अपना सहयोग स्थापित किया जो अपने दलों को अपना अपना सन्देश सुना रहे थे। फल स्वरूप जब वे देश के एक छोर से दूसरे छोर तक थियासफ़िकल सोसाइटी के तत्वावधान में वक्तृता करते हुए फिरते थे तब गीता और क़ुरान पर उनके प्रवचन कट्टरता की गन्दगी से मुक्त होते थे—इतना ही नहीं, उनमें अध्ययन और गम्भीर चिन्तन की ऐसी छाप हुआ करती थी, स्नेह और सद्भाव का ऐसा स्पर्श हुआ करता था कि श्रोताओं के साथ इसी रास्ते पर चलने वाले अन्यान्य कार्यकर्ता भी प्रेरणा पाते थे। एक बार उनके एक विराट मुस्लिम श्रोता समाज ने इस्लामी ग्रन्थ के किसी पाठ की अत्यन्त मार्मिक और उदार व्याख्या से प्रसन्न होकर कृतज्ञतापूर्वक उन्हें एक स्वर्ण-पदक भेंट किया था।

हिन्दू मुस्लिम ऐक्य के लिये उनकी सेवाएँ महत् थीं, इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं है। किन्तु उनका जीवन उन असंख्य छोटी छोटी और गोपन सेवाओं से सुरभित था जो वे चुपचाप सम्प्रदाय, योग्यता अथवा व्यक्तित्व को भुला कर सबके लिये समान भाव से अर्पण किया करते थे। सबकी छोटी-बड़ी मुश्किलों के वे साथ थे, उन्हें महसूस करते थे और सांत्वना तथा सहारा देते थे। वे वंचित और खोये हुए के परम बन्धु थे। आजीवन उनका यही उद्देश्य रहा कि दया सभी 'धर्मों' से बड़ी है, मानवीय समवेदना धर्मग्रन्थों से भी बढ़कर है। अपने निजी जीवन में तो वे नितांत निःस्व थे; उनकी भौतिक आवश्यकताएँ बहुत थोड़ी और मामूली थीं।

अपने कर्मजीवन से उन्होंने देहावसान के प्रायः दस बरस पहले अवकाश ग्रहण कर लिया था। पद-लोभी राजनीतिज्ञों की वर्तमान ज़हरीली नीति और उनके बढ़ते हुए पारस्परिक विद्वेष से संतप्त होकर ही शायद वे शान्तिपूर्ण जीवन की ओर बढ़ गये थे। क्रमशः अपना सारा समय और शक्ति वे अपने प्रभु के साथ एकाग्र होने में ही नियोजित करने लगे। सभी धर्मों के पवित्र ग्रन्थों के प्रति उनके हृदय में अबाध श्रद्धा थी। उन्हीं का अनुशीलन अपने जीवन की सन्ध्या में उनका एकमात्र कार्य रह गया था। सभी सम्प्रदायों के सन्तों के प्रति उनमें गम्भीर सम्मान का भाव था। पिछले बरस वे हिमालय के निर्जन प्रांत में चले गये थे और बाहर के जगत् से प्रायः अलग हो रह रहे थे। जब गंगा माता के निगूढ़ छन्द-संगीत के साथ उनकी सत्ता एकतान हो गई तब माँ ने अपने कर्मक्लांत प्रिय शिशु को अपनी उदार गोद में चुपके से सुला लिया।

वर्तमान महायुद्ध के कुछ रहस्य

एक 'प्रगतिवादी'

'इङ्गलैण्ड और फ्रांस की १९४० में जो हार हुई वह केवल फ़ौजी असफलता न थी—उसके पीछे एक बहुत बड़ी राजनीतिक हार का रहस्य छिपा हुआ है।

'इङ्गलैण्ड की एक निश्चित नीति है जब वह अपने ऊपर विपत्ति के बादल मंडराते देखता है तभी वह किसी के साथ मित्रता करने के लिए अपना हाथ बढ़ाता है। योरुपीय देशों की विशेष मित्रता भी वह तभी चाहा करता है।'

प्रोफ़ेसर कार ने चैम्बरलेन की नीति का समर्थन करते हुए यह स्वीकार किया है कि अगर योरुप की किसी शक्ति से इङ्गलैण्ड को भय न हो तो वह योरुप की विशेष मित्रता की परवा नहीं करता। आश्चर्य और खेद की बात यह हुई कि पिछली लड़ाई में सफल हो जाने के कारण फ्रांस ने भी विजयोन्मत्त होकर अपने लिए यह उचित समझा कि टर्की, यूगोस्लेविया आदि के हाथ बढ़ाने पर भी उनसे पारस्परिक सहायता की सन्धि न की जावे—यहाँ तक कि रूस के साथ की हुई ऐसी सन्धि की ओर भी उसका लापरवाही का भाव बढ़ता गया। मोशिए लवाल (Laval) का १९३४—३५ में आधिपत्य होने पर यह नीति अपनी सीमा तक पहुँची हुई दिखाई दी। और सच पूछा जाय तो लवाल-व्यवस्था ही को फ्रांस की हार के लिए सबसे अधिक दोषी ठहराना चाहिए क्योंकि उसने असफलता का पथ पहले से ही तैयार कर दिया था।

जब १९३९ के ग्रीष्म काल में विपत्ति का अवसर आया तो फ्रांस ने अपने आपको योरुप के महाप्रदेश के बिलकुल अकेला पाया। जेकोस्लोवेकिया आत्मसमर्पण कर चुका था और बेलजियम के तीसरे लियोपोल्ड ने तटस्थ नीति घोषित कर दी थी। इससे फ्रांस की बेहद हानि हुई। जरमन लोगों ने जेकोस्लोवेकिया पर आधिपत्य जमा लिया और मध्य तथा पूर्वीय योरुप अर्थात् बलकान और एशिया माइनर की कुंजी अपने हाथ में कर ली। इसी तरह स्पेन में—वहाँ के लोकतन्त्रीय शासन पर इटली और जरमनी की सहायता से फ्रैंको की विजय हो जाने से—तथा पश्चिमी मध्यसागर में धुरी व्यक्तियों का आधिपत्य होने का भय हो गया। यदि फ्रांस ने लड़ाई के समय स्पेन के लोकतन्त्रीय शासन को सहायता दी होती तो उसकी सहायता से अपने शत्रुओं को परास्त कर समस्त स्पेन उसका सदैव के लिये *मित्र बन गया* होता।

इङ्गलैण्ड तो अधिक सहायता दे ही नहीं सकता था क्योंकि—प्रोफ़ेसर कार ने यह स्वीकार किया है—१९३५ में अङ्गरेज़ों ने वास्तविक तैयारी प्रारम्भ की और १९३८ तक उनकी अवस्था ऐसी न थी कि वे युद्ध कर सकते। इसी से उन्होंने किसी से शत्रुता मोल लेने की नीति को नहीं अपनाया। बेलजियम ने इसकी शक्तिहीनता को भली भाँति समझ लिया था। युद्ध में उसकी तटस्थ नीति का यही सबसे बड़ा कारण था।

पाल री नौ (Paul-rey-naud) ने इस दुर्दशा से फ्रांस को अलग करना चाहा। उसने चाहा कि वह शस्त्रों से और दूसरे देशों की मित्रता से विशेष शक्तिशाली बन जाये। किन्तु वह इसमें सफल न हो सका।

उधर जरमनी अपनी राजनीति में पूर्णतः सफल रहा। पहले जेकोस्लोवेकिया को उसने अलग कर दिया। और तब उस पर आधिपत्य जमा लिया। फ्रैंको को उसने सहायता दी और बेलजियम से तटस्थ नीति स्वीकार करा ली। इस तरह वह बराबर शक्तिशाली बनता गया। केवल शस्त्रों की ही नहीं वरन् राजनीतिक चालों की शक्ति से भी उसने काम पूरा किया।

इनमें सबसे अधिक हानि जेकोस्लोवेकिया की स्वाधीनता की हानि थी। म्यूनिक की सन्धि ने इसे सम्भव कर दिया। मित्र दल का सब से ज़ोरदार और सच्चा साथी पराधीनता में पड़ गया। इसके फल-स्वरूप सोवियत् यूनियन की सहानुभूति से भी मित्र-दल वंचित हो गया। रूस ने यह देख लिया कि म्यूनिक की शान्ति सम्पूर्ण योरप की शान्ति में बाधा डाले बिना नहीं रह सकती। और तब फ्रांस और रूस की सन्धि व्यर्थ हो गई।

फिर भी १९३९ के ग्रीष्म काल में जरमनी का महत्व कुछ विशेष बढ़ा चढ़ा न था। १९३९ के बसन्त काल में इटली ने जरमनी के साथ एक सैनिक-सन्धि की थी परन्तु इसमें उस समय तक सहायता न देने की स्वतन्त्रता इटली को मिली हुई थी जब तक कि फ्रेंच सिपाही मध्य सागर में दृढ़ता के साथ जमे रहें। स्पेन और हङ्गरी भी अनिश्चित थे। अब भी अगर मित्र दल पूर्वी यूरुप को अपने साथ रख सकता तो इतनी अधिक बुराई न होती।

जरमनी और रूस में १९३४ से १९३८ तक विशेष विद्वेष का भाव था। उसे शत्रुता का भाव ही कहना चाहिए। रूस म्यूनिक की सन्धि तक बराबर यह प्रयत्न करता रहा कि सोवियत् राज्यों में और मित्र दल में जरमनी के ख़िलाफ़ सन्धि रहे किन्तु अङ्गरेज़ और फ्रांस दोनों ही ने जरमनी के प्रति अपनी शत्रुता के भाव को बदल कर मित्रता के भाव को अपनाना ही उचित समझा।

इसी प्रकार यूरुप के छोटे देश भी मित्र दल का का साथ देना चाहते थे। 'अगर फ्रांस, इङ्गलैंड और सोवियत् (रूस) ने मिलकर सन्धि कर ली होती और जरमनी का सामना किया होता तो ये देश अपनी स्वतन्त्रता की लड़ाई में अपना पूरा जौहर दिखाते और गुलामी कभी स्वीकार न करते किन्तु मित्र दल की राजनैतिक अदूरदर्शिता ने उन्हें इस सौभाग्य से वंचित कर दिया।'

(२)

फ़ौजों की ही तैयारियों से लड़ाई जीत लेना अगर असम्भव नहीं है तो बहुत कठिन है। इसी-लिए फ़ौजी तैयारी के साथ साथ राजनीतिक कूटनीति की तैयारी इस तरह की जाती है जिससे दुश्मन के दल में पहले से ही फूट डाल दी जावे, उसके एक भाग को अपनी ओर मिला लिया जावे या किसी भाग को आत्मविश्वासहीन बना दिया जावे। जरमनी इस विषय में मित्र दल से इस बार आगे बढ़ गया। उसने बेलजियम को इस बात पर राज़ी कर लिया कि वह किसी का साथ न दे। इटली के साथ स्वयं भी स्पेन को सहायता देकर उसे अपना कृतज्ञ बना लिया। अपने वीमर-विधान (Wiemar-constitution) को ऐसा कर दिया कि उससे हिटलर को अधिनायकत्व (dictatorship) की पूरी शक्ति मिल गई और सबसे बढ़कर यह किया कि लड़ाई के प्रारम्भ में सोवियत् रूस के साथ मित्रता करने में समर्थ हो गया। इससे उसको एक साथ दो ओर नहीं लड़ना पड़ा।

इङ्गलैण्ड और फ्रांस के लिए लोकतन्त्रीय व्यवस्था के कारण लड़ाई की तैयारी को वैसा मनमानी बढ़ाना सम्भव नहीं था जैसा हिटलर अपने यहाँ एकतन्त्रीय व्यवस्था होने से जरमन अफ़सरों की इच्छानुसार जरमनी में कर सकता था। १९३४—३५ में जब लवाल (Laval) के हाथ में फ्रांस की नीति थी तब फ्रांस को कूटनीति में सभी तरह नीचा देखना पड़ा क्योंकि लवाल जरमनी का तरफ़दार था,—जैसा कि अब भी है। १९४० में इसने ही अपने काम को पूर्णता पर पहुँचा दिया यानी फ्रांस को पराधीन बना दिया। सम्भव है वह हिटलर की इस बात पर विश्वास करता हो कि जरमनी यूरुप में अमरीका की तरह एक संघ-शासन स्थापित कर रहा है किन्तु मो० लवाल यह तो जानते ही होंगे कि इस संघ-शासन में हर हिटलर जरमन जाति को ही सर्वप्रधान रखना चाहता है क्योंकि वह उसे ही 'विशुद्ध आर्य जाति' मानता है।

लड़ाई के मुख्य कारण दो ही समझे जाते हैं। एक तो अन्याय के प्रतिकार की भावना और दूसरा आधिपत्य की लालसा। एक जिसे न्याय समझता है दूसरा उसे ही अन्याय समझ सकता है। संसार के इतिहास में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है। इसी प्रकार अपने आधिपत्य की लालसा को भी तरह तरह से न्याययुक्त ठहराने के प्रमाण मिलते हैं। प्रथम महायुद्ध में ये दोनों बातें देखी गईं—जरमनी अपना व्यापार और फलतः अपना साम्राज्य फैलाना न्यायपूर्ण समझता था किन्तु फ्रांस और जापान आदि मित्र-दल के लोग इसे अन्याययुक्त और ज़बरदस्ती का काम मानते थे—यद्यपि वे स्वयं ऐसे काम कर चुके थे और कर रहे थे। इसी प्रकार आधिपत्य की लालसा के क्षेत्र में ये लोग परस्पर एक दूसरे के विरोधी थे

इस दूसरे महायुद्ध में भी ये ही बातें देखी जाती हैं। जरमनी वरसाई की सन्धि को अन्यायपूर्ण कहता है और इस अन्याय का प्रतिकार करना अपना कर्तव्य बतलाता है। वह फ्रांस और ग्रेटब्रिटेन के बढ़े चढ़े आधिपत्य को दुनिया के लिए सर्वथा हानिकारक समझता है और इसके स्थान पर अपना आधिपत्य जमा लेना न्याययुक्त। अपने आधिपत्य को वह 'शुद्ध आर्य जाति के आधिपत्य' के नाम से बढ़ाना चाहता है।

इतना ही नहीं, इसके लिए हिटलर ने मार्क्स के अनुयायियों—समाजवादियों, साम्यवादियों आदि—को 'पूंजीपति यहूदियों का एजेन्ट' और जरमनी तथा योरप भर का—इंग्लैण्ड का भी—शत्रु सिद्ध करना चाहा। साथ ही इटली के अधिनायक मुसोलिनी की उसने जी भर के प्रशंसा की, क्योंकि वह भी मार्क्स के 'वर्गवाद' का विरोधी है। उससे तुलना करते हुए उसने अपने यहाँ के राजनीति विशारदों को भी 'बौना' ठहराया! ('How dwarfish our sham statesmen in Germany appear in comparison with him!'—*My struggle*—P. 267.) ६ मार्च सन् १९३० को म्यूनिक से अपनी पार्टी की ओर से किसानों और कृषिकार्य में लगे लोगों के लिए हिटलर ने एक घोषणा-पत्र निकाला था। इसमें जरमनी में खाद्य-पदार्थों की उपज यथेष्ट न होने के कारण बतलाये गये और जिस प्रकार की दशा अपनी गवर्नमेन्ट में हिटलर रखना चाहता था उसे बतलाते हुए कहा गया—'बिना राष्ट्र के उद्धार के जनता की दुर्गति दूर नहीं की जा सकती, केवल आर्थिक सहायता से सदैव के लिए उन्नति नहीं हो सकती, इसलिए राजनैतिक उपायों को ही काम में लाना चाहिए'—'और इसी के लिए नाज़ी पार्टी तैयार की गई है।' इसके क़रीब दस साल पहले २५ फरवरी १९२० को उसने राष्ट्रीय समाजवादी जरमन कामकर पार्टी (National Socialist German Workers' Party) का २५ बातों वाला कार्यक्रम घोषित किया था।

(३)

अब थोड़ा सा उस 'विचित्र' तैयारी के बारे में जिसने सात वर्ष में ही जरमनी को ऐसा शक्तिशाली बना दिया कि पोलैण्ड वालों को, जो बहुत अच्छे लड़ने वाले समझे जाते थे, केवल अठारह दिन में हरा दिया गया। और फ्रांस ऐसी बड़ी शक्ति को जिसका नम्बर पहले महायुद्ध में अंगरेज़ों के देश से किसी तरह कम न था इससे भी कम यानी पन्द्रह दिन में ही हरा दिया गया। यह आश्चर्यजनक तैयारी वरसाई की कड़ी सन्धियों के १९३५ तक मौजूद रहते हुए भी किस तरह सम्भव हुई! 'संसार के इतिहास में इस तरह की बड़ी तैयारी का जो ऐसे प्रतिबन्धों के होते हुए कर ली गई हो दूसरा उदाहरण नहीं मिल सकता।'

सबसे पहला कारण जिससे यह तैयारी सम्भव हुई हम बहुत कुछ इसके पहले बतला चुके हैं—वह मित्र-दल में पारस्परिक ईर्ष्या का प्रबल भाव था। फ्रांस रूस का साथी बन रहा था और ग्रेट ब्रिटेन फ्रांस को नीचा दिखाने पर तुला हुआ था। वह अपना गठ-बन्धन हिन्दुस्तान से धन ले ले जाकर फिर अमरीका से और सम्भव हो तो जरमनी से भी जोड़ने की ओर बढ़ रहा था।

दूसरा ऐसा ही बड़ा कारण था फ्रांस में फ़ौजी बातों में अपरिवर्तनवादी दल का नेतृत्व। मार्शल पेटाँ की अवस्था इतनी अधिक हो गई थी कि जरमनी के नये फ़ौजी ढंगों और नये विचारों के जवाब के लिए जिस तैयारी की ज़रूरत थी उसे वे न कर सकते थे। वे जरमनी के नये विचार और नये ढङ्ग को समझने तक में असमर्थ थे। युवक फ़ौजी नेता लड़ाई के पिछली जीत के नशे को दूर नहीं कर पाये। 'वे विजयोन्मत्त बने रहे और यह समझते रहे कि उनकी और ग्रेटब्रिटेन की फ़ौजें मिल जुल कर इतनी शक्तिशालिनी है कि जरमनी उनके मुक़ाबिले में खड़ा होने का साहस ही नहीं कर सकता और अगर वह ऐसा दुस्साहस करे भी तो उसे तुरन्त मुंह की खानी पड़ेगी।' एक बहुत ही आश्चर्य की किन्तु इतिहास के पाठकों के लिए सर्वथा स्वाभाविक बात हुई। हिटलर ने सन् १९३२ में पूरी शक्ति के साथ नाज़ी पार्टी को सर्वोपरि बना कर अपने प्रोग्राम के अनुसार विशाल से विशालतर युद्धयोजना का उपक्रम किया—तब से लेकर १९३९ तक जब यह युद्ध-योजना अपने ढङ्ग से पूरी हो गई फ्रांस में तरह तरह के विवाद होते रहे और १९३७-३८ में हवाई विभाग के भूतपूर्व मन्त्री पीरीकोट (Pierre Cot) ने इस बात से अपने देश को सावधान किया कि उसको स्थल और आकाश दोनों में एक सा शक्तिशाली होने की कोशिश न करनी चाहिए। उसके दल का कहना था कि फ्रांस इसमें सफल ही नहीं हो सकता, इसलिए हवाईशक्ति के लिए उसे अपने मित्रों यानी ब्रिटेन और सोवियत् यूनियन (रूस) में से किसी एक का सहारा लेना ही उचित है। किन्तु पीरीकोट की यह चेतावनी व्यर्थ हुई। दूसरे मन्त्री मार्शल डीट (Mareal Deat) ने जरमनी की हवाई शक्ति को ध्यान देने योग्य भी नहीं समझा। उन्होंने साफ़ साफ़ लिखा कि 'जरमनी चाहे जितना तहस नहस करे किन्तु वह कभी कोई ऐसा नुक़सान नहीं पहुंचा सकता जिसे हम जल्दी ही पूरा न कर लें।'

ऐसे नेताओं के लिए यह समझना सम्भव न था कि हवाई शक्ति की कमज़ोरी उन्हें स्थल में भी चकनाचूर कर देगी और उनकी सम्पूर्ण पराजय अनिवार्य हो जायगी। एक बार ऐसी योजना बनाई गई कि फ्रांस के पास छब्बीस सौ लड़ाई के आधुनिक हवाई जहाज़ हो जावें किन्तु यह पूरी नहीं हुई। इसे पूरी करने के लिए अगर १९३९ के प्रारम्भ में भी तीन सौ हवाई जहाज़ प्रति महीने बनाये जाते तो कठिनाई न पड़ती किन्तु वास्तव में इसका चौथाई भी न बन पाते थे। 'सितम्बर १९३८ में जब म्यूनिक का संकट काल आया तब फ्रांस के पास कुल जमा एक हज़ार और बारह सौ के बीच में हवाई जहाज़ थे और इनमें भी बहुत से काम के लायक़ न थे। 'महायुद्ध शुरू होने के समय तक केवल दो तीन सौ आधुनिक ढङ्ग के लड़ाई के हवाई जहाज़ (Aircrafts) फ्रांस के पास थे।'

तारीफ़ की बात यह थी कि फ्रांस के सुप्रसिद्ध समाचार पत्र फ़िगैरो (Figaro) में १९३८ में एक अधिकारी महोदय ने यह लिखा कि जरमनी छब्बीस सौ से अधिक हवाई जहाज़ युद्ध-क्षेत्र में नहीं ला सकता और अङ्गरेज़ों के और फ्रांस के हवाई जहाज़ केवल एक युद्धक्षेत्र—राइन (Rhine)—में पैंतीस सौ की संख्या में इकट्ठे हो सकते हैं। ऐसे झूठे बयानों ने देश की जनता को भ्रम में डाल दिया और वह ग़फ़लत की नींद में सोती रह गई।

केवल हवाई जहाज़ ही नहीं टैंकों के बारे में भी फ्रांस के नेताओं ने ऐसी ही असावधानी दिखलाई। बड़े बड़े टैंकों की कोई बड़ी सेना तैयार नहीं की गई और १९३९ की ग्रीष्म ऋतु तक फ्रेंच सेना के पास आक्रमण करने के लिए या आक्रमण का जवाब देने के लिए वैसे शक्तिशाली आधुनिक यन्त्र न थे जैसे कि जरमन लोगों ने अपने लिए तैयार कर लिये थे।

ब्रिटेन ऐसा बेख़बर और अदूरदर्शी न था। पर उसे सबसे अधिक अपनी समुद्री शक्ति को बनाये रखने की परवा थी। १९३९ में उसने छः लाख उनसठ हज़ार टन के जहाज़ों का निर्माण किया जब कि १९३५ में केवल एक लाख उनतालीस हज़ार टन

स्पेन में अपनी नई ईजादों का अनुभव प्राप्त कर लिया और आगे चलकर उससे पूरा लाभ उठाया।

इटली ने भी समुद्री जहाज़ों के बनाने में और स्थल सेना के बढ़ाने में ढिलाई नहीं की। नये सुधार करके उसने अपनी सेना के डिवीज़नों की संख्या एक तिहाई तुरन्त बढ़ा ली।

सबसे अधिक तैयारी की रूस की लाल सेना ने। १९३७ में उनका सैनिक व्यय दो अरब सत्तर था, १९३८ में तीन अरब चालीस करोड़ और १९३९ में चार अरब पचास करोड़। इस तरह १९३९ में उनकी सैनिक वस्तुओं का निर्माण १९३७ के निर्माण से चालीस फ़ीसदी अधिक हो गया। उनके टैंक १९३७ में यूरप में सबसे अच्छे माने गये—जरमनी के टैंकों से भी अच्छे—और उनकी संख्या दस हज़ार कूती जाती थी। १९३९ में इनका निर्माण भी १९३२ की संख्या से दूना हो गया। लाल सेना की संख्या १९३७-३८ में २० लाख समझी जाती थी और वह बराबर बढ़ रही थी। १९३३ में छः लाख पचास हज़ार बढ़ी और १९३९ में पूरे १० लाख।

हवाई जहाज़ों की शक्ति में भी सोवियत्-शक्ति जरमनी की दूनी समझी जाती थी। स्वयं वारोशिलोव ने कम्यूनिस्ट-पार्टी-कान्फ्रेंस की मार्च १९३९ की रिपोर्ट में यह स्वीकार किया था। सम्भव है वारोशिलोव ने जरमन तर्फ़ बाक़ी की शक्ति का ठीक ठीक अन्दाज़ न लगा पाया हो किन्तु यह तो मानना ही होगा कि रूसी शक्ति हवाई शक्ति जरमनी से कहीं बढ़ी चढ़ी थी। जरमनी के तीन सौ मील प्रति घंटे जाकर बम फेंकने वाले हवाई जहाज़ों के ढङ्ग के हवाई जहाज़ रूस के पास यथेष्ट संख्या में मौजूद थे। छः इञ्च की हज़ार तोपें और आठ से बारह इञ्च की दो तोपें उसके पास मौजूद थीं।

इस तरह हम देखते हैं कि धुरी शक्तियों के पास मित्रशक्तियों से तिगुनी तैयार थी। शान्ति के समय में ही जरमनी ने अपनी औद्योगिक और सैनिक तैयारियाँ काफ़ी कर ली थीं। १९३८ के अक्टूबर में जनरल डूफ़र ने यह हिसाब लगाया था कि जरमनी और इटली की सम्मिलित स्थलशक्ति फ्रांस की शक्ति की तिगुनी थी। एक दूसरे महाशय ने यह हिसाब लगाया कि इस तैयारी के अनुपात से १९४५ में अङ्गरेज़ और फ्रांस के पास ११६ डिवीज़न सेना होगी जबकि इसके मुक़ाबिले में इटली और जरमनी के पास २६० डिवीज़न होंगे। फ्रांस की तो १९४० में ही हार हो गई इसलिए १९४५ का यह अन्दाज़ा बिलकुल ग़लत हो गया। पर यह मानना ही होगा कि १९३९ में जरमनी के पास टैंकों और हवाई जहाज़ों की संख्या मित्र-दल की संख्या से दुगुनी अधिक थी।

मित्र दल की श्रेष्ठता केवल एक बात में थी—समुद्री शक्ति में। इसके अलावा एक और बहुत बड़ी बात का लाभ वे पूरी तरह उठा सकते थे। यह था आर्थिक और कच्चे सामानों का निरन्तर आगमन। एक तीसरा लाभ और हो सकता था—और आगे चलकर हुआ भी—वह था सोवियत् रूस की जरमनी से प्रतिद्वन्द्विता—सोवियत् के जरमनी से अधिक तैयार होने के कारण और जरमनी की पड़ोसी शक्तियों पर अपना आधिपत्य जमाने की प्रबल इच्छा रखने के कारण।

योरप के पिछले बटवारे से भी मित्रदल पूरे लाभ की आशा रखता था। रूमानियाँ में अङ्गरेज़ों और और अमेरिकनों की बहुसंख्यक पूँजी तेल के कारख़ानों में लगी हुई थी। बालकन प्रदेश, जेकोस्लोवेकिया और यूनान सभी पर इन दोनों देशों की धाक जमी हुई थी। और यह तो सभी को मानना होगा कि यद्यपि यह सम्भव नहीं हुआ कि योरप की शक्तियों को मिला कर जरमनी के विरोध में इस तरह खड़ा किया जा सके कि जरमनी का उनमें से किसी पर हमला करने का साहस न हो किन्तु अलग अलग लड़ने को वहां की कई शक्तियाँ आगे बढ़ीं और उन्होंने अपनी पूरी शक्ति के साथ दिल खोलकर बहुत वीरता से लड़ाई की। छोटी छोटी शक्ति होने के कारण वे जरमनी का सामना नहीं कर सकीं और अन्त में अपनी स्वाधीनता की रक्षा करने में असमर्थ रहीं।

इन शक्तियों को यह आशा है कि वह दिन बहुत दूर नहीं हो सकता जब वे फिर स्वाधीन हो जायेंगी और उसी तरह या उससे भी अच्छी तरह रह सकेंगी जैसे वे इस महायुद्ध के पहले रहती थीं। 'उनकी यह आशा तभी सुफल हो सकती है जब इस महायुद्ध में लोकतन्त्र शक्तियों की अर्थात् अमरीका, ग्रेटब्रिटेन और रूस की जीत हो। इसके लिए एशिया में लोकतन्त्रीय व्यवस्था की स्थापना करके या उसके लिए सच्चा विश्वास उत्पन्न करके ही ठीक तरह आगे बढ़ा जा सकता है।'

वकील से*

श्री भगवानदास केला

तुमने क़ानून की परीक्षा पास करली है और तुम वकालत का धंधा करने को सोच रहे हो। तुम जानना चाहते हो कि इस कार्य के सम्बन्ध में मेरे विचार कैसे हैं और तुम्हें इस पेशे को करते हुए किन-किन बातों का ध्यान रखना आवश्यक है।

देखो, ज्ञान के अनेक विषय हैं। और सभी विषयों के ज्ञान का महत्व है। फिर क़ानून के ज्ञान की अवहेलना कैसे की जा सकती है? आज कल हम सब किसी न किसी प्रकार के राज्य में रहते हैं, उस राज्य के नियम हमें पालन करने होते हैं और वहां के क़ानूनों से हमें दिन रात काम पड़ता है। यदि हमारा कोई कार्य क़ानून विरुद्ध होता है तो हमें उसका दंड भोगना होता है। हम यह कह कर उससे मुक्ति नहीं पा सकते कि हमें उस क़ानून की जानकारी न थी। हमें क़ानून का ज्ञान हो न हो, हम से आशा यही की जाती है कि हमारा कोई व्यवहार क़ानून के विरुद्ध न हो। क़ानून की जानकारी न होने की बात कह कर हम उसे भंग करने के दोष से मुक्त नहीं हो सकते। इस प्रकार स्वयं हमारे लिए क़ानून का ज्ञान कितना उपयोगी है, यह स्पष्ट है।

क़ानून जानने से हम अपने उन भाइयों की सहायता कर सकते हैं, जिन्हें इसका ज्ञान नहीं है। हम उनमें क़ानून की मोटी मोटी आवश्यक बातों का प्रचार करके उन्हें क़ानून-भंग सम्बन्धी बहुत से खतरों से बचा सकते हैं। यदि भूल से उनसे कोई क़ानून भंग हो ही जाय तो हम अपने ज्ञान के बल पर उनका उसके दंड से सहज ही परिमार्जन करा सकते हैं। इस प्रकार क़ानून जानने वाला आदमी समाज की अच्छी सेवा कर सकता है।

परन्तु कोई क़ानून-ज्ञाता समाज के लिए उपयोगी है या नहीं, और यदि उपयोगी है तो कहां तक, यह बात तो उस ज्ञान के उपयोग पर निर्भर है। ज्ञान एक शक्ति है, उसका सदुपयोग भी हो सकता है और दुरुपयोग भी। अपने ज्ञान का दुरुपयोग करनेवाला व्यक्ति समाज के लिए बहुत ख़तरनाक होता है, वह अपने व्यवहार से समाज को बड़ी हानि पहुँचा सकता है। वह मूर्ख से कहीं अधिक हानिकर है; कारण, मूर्ख आदमी के पास ज्ञान की शक्ति न होने के कारण उसके द्वारा समाज को बहुत क्षति नहीं पहुंच सकती। ज्ञान के सदुपयोग से समाज में सुख-शान्ति बढ़ती है, और उसके दुरुपयोग से कलह और राग द्वेष की वृद्धि होती है। इस बात को यहां विशेष-रूप से कहने की आवश्यकता इसलिए है कि अधिकांश वकीलों के व्यवहार से यहां जनता की यह धारणा हो गई है कि वकील लोग तो मुक़दमेबाजी बढ़ाने वाले होते हैं। साधारणतया जब दो भाइयों की किसी मामूली सी बात पर कुछ तकरार हो जाती है और उनमें से एक भाई किसी वकील के पास जाता है तो वकील साहब उसे यह सलाह नहीं देते

* 'भावी नागरिकों से' नामक पुस्तक से जो केला जी की अविलम्ब में प्रकाशित होने वाली पुस्तकों में है
—सम्पादक

कि अपना क्रोध शान्त करो और भाई से मिलजुल कर रहो। वे तो उसके क्रोध को और भड़का देते हैं और उसे जायदाद का बटवारा कराने के लिए कटिबद्ध कर देते हैं। बटवारे की बात से वकील साहब खूब प्रसन्न होते हैं। वे जानते हैं कि बटवारे के लिए बहुत सी क़ानूनी कार्यवाही की आवश्यकता होगी, और इसके लिए मवक्किल को उनके क़ानून-ज्ञान की ज़रूरत होगी, तथा वे उससे अच्छी फीस या मेहनताना ले सकेंगे। यदि वकील साहब उस मवक्किल को समझा बुझा कर उसका उसके भाई से मेल करा देते तो यह आमदनी उन्हें कहां से मिलती ? वकील साहब को अपने मेहनताने की ऐसी फ़िक्र रहती है कि दोनों पक्ष राजीनामा करने के इच्छुक हैं तो भी जहां तक उनका वश चलता है, वे राजीनामा नहीं होने देते। इस प्रकार वे स्वार्थवश मुक़दमेबाजी बढ़ाने वाले एजंट का कार्य करते रहते हैं। जब उन्हें इस बात का पता लग जाता है कि मुक़दमे में कोई दम नहीं है तो वे मुवक्किल से कहते हैं, 'देखो भाई, तुम्हारा पक्ष तो कमज़ोर है, पर हम पूरी कोशिश करेंगे, कौन जाने अदालत का रुख तुम्हारी ही तरफ हो जाय, और तुम जीत जाओ। जीत-हार तो भाग्य का खेल है। तुम अपना भाग्य अज़मा कर देखो।' बेचारे मुवक्किल पर प्रायः वकील साहब का जादू चल जाता है, वह मुक़दमा लड़ने के लिए तैयार हो जाता है। और मुवक्किल हारे या जीते वकील साहब को तो ठहराया हुआ मेहनताना मिलना ही चाहिए।

अपने मेहनताने की धुन में वकील साहब झूठ-सच का विचार बहुत कुछ छोड़ देते हैं। वे तो स्पष्ट कहते सुने जाते हैं कि 'अदालत में झूठ-सच नहीं देखा जाता, यहां तो सच वही है, जो क़ानून की दृष्टि से सच साबित हो सके। और झूठ को सच साबित कर दिखाना ही तो वकील की चतुराई होती है।' कभी कभी कुछ वकील ऐसे भी मिलते हैं, जो ऐसे मुक़दमे को लेने से इनकार कर देते हैं, जिसके विषय में उन्हें विश्वास हो जाता है कि वह बिल्कुल झूठा है। परन्तु इन वकीलों को भी प्रायः ऐसा मुक़दमा लेने में कोई आपत्ति नहीं होती जिसमें दावा तो सच्चा होता है, परन्तु जिसे अदालत में सच्चा साबित करने के लिए अनेक प्रकार की झूठी-सच्ची कार्यवाही करनी होती है, बहुत से ऐसे गवाह बनाने होते हैं जो शपथ पूर्वक यह बयान दे सकें कि हम मौके पर हाजिर थे और हमने अपनी आंखों से अमुक अमुक घटना होते देखी थी। कुछ बढ़िया वकील गवाहों को स्वयं नहीं सिखाते, वे अपना यह काम छोटे सहायक वकीलों या मुन्शी मोहर्रिरों आदि के लिए छोड़ देते हैं। इससे मुख्य बात में अन्तर नहीं आता। अदालत के काम में गवाहों से चाहे गंगा-जली उठवाई जाय, और चाहे कुरान शरीफ़ या पवित्र बाइबिल की शपथ दिलाई जाय, अधिकांश मिथ्या व्यवहार होता है, वकील लोगों से यह छुपा नहीं होता, अनेक बार तो गवाह उनके सिखाये ही होते हैं।

कोई कोई वकील कभी लहर में आता है तो अपने धन्धे के दोषों को स्वीकार करता है, कह देता है कि 'मैं यह कार्य बिल्कुल पसन्द नहीं करता, मुझे इससे बहुत ग्लानि है। परन्तु क्या करूं और कोई अच्छा कार्य न मिलने से इसी को करने को लाचार हूं।' जो हो, यह एक चिन्तनीय बात है कि अनेक वकील लोग, चाहे अपनी इच्छा के विरुद्ध ही सही, यह आत्मिक पतन करने वाला धन्धा करते रहते हैं। जो वकील अपने पेशे के दोषों को जानते हुए भी इसे स्वार्थ या लोभ वश करते रहते हैं, उनसे अन्य नागरिकों के प्रति दया और सहानुभूति के व्यवहार की विशेष आशा ही क्या की जाय ? अनेक बार वे देखते हैं कि जो गरीब किसान या मज़दूर उनसे क़ानूनी सहायता लेने आया है उसके पास अपने खाने पीने का भी सामान नहीं, वह घर पर अपने बाल बच्चों को भूखे तड़फते छोड़ कर अदालती काम के लिए आया है। परन्तु वकील साहब को उसकी अपेक्षा अपनी ही चिन्ता अधिक है, और वे उस अभागे से अधिक से अधिक रुपया ऐंठे बिना उससे कोई बात करने को तैयार नहीं होते। वकील

साहब पढ़े लिखे विद्वान हैं, वे चाहें तो नागरिकता पर एक सुन्दर भाषण दे सकते हैं, और लेख लिख सकते हैं ; पर उनके उपर्युक्त व्यवहार को देख कर उनसे कोई क्या शिक्षा लेगा !

कुछ वकील दयालु प्रकृति के भी होते हैं। वे कभी कभी किसी निर्धन मवक्किल से फीस में कुछ रियायत कर देते हैं, अथवा किसी कष्ट-पीड़ित व्यक्ति की कुछ सहायता कर देते हैं। कुछ सज्जन सार्वजनिक कार्यों में समय-समय पर चन्दा देते रहते हैं, जनता में उनकी प्रशंसा भी होती है। उन्हें भी यह संतोष रहता है कि हम लोकहित के कार्यों में योग देते हैं। परन्तु इसमें एक बात विचारणीय है, यदि हम ऐसे उपाय से आय प्राप्त करते हैं जो सर्वथा उचित नहीं हैं, तो उस आय का एक अंश सत्कार्य में लगा देने से वह उपाय उचित नहीं कहा जा सकता। यही नहीं, वह सारी आय भी लोकहितकारी कार्यों में लगा दी जाय, तो भी यदि उसकी प्राप्ति का उपाय उचित नहीं है तो वह आय अनुचित ही समझी जानी चाहिए। किसी व्यक्ति को सत्कार्यों में व्यय करने के लिए अनुचित मार्ग से धन की प्राप्ति करना, कीचड़ में पाँव भरने और फिर उसे धोने के समान है। इससे बचना चाहिए। हमारा साध्य अच्छा हो, यह ठीक है, पर उसके साधन भी अच्छे होने चाहिए; यदि उनमें हमारा नैतिक या आत्मिक पतन होता है तो वे कदापि न अपनाये जाने चाहिए।

यहाँ तक तो मैंने कुछ साधारण बातों का विचार किया, जिनके सम्बन्ध में मैं चाहता हूँ कि तुम तथा वकील बनने वाले अन्य बन्धुगण गम्भीरता से विचार करें। इन पर भी आमतौर से विचार नहीं किया जाता। तुम कुछ विवेकवान हो और लोभी भी कम हो, तुम्हारे हृदय में लोक-सेवा की भावना भी है। अतः सम्भव है तुम इस धन्धे की उन बातों से परहेज करो जो हृदय को कलुषित करती हैं, और आत्मा को पतन के मार्ग में ले जाती हैं। परन्तु पूर्वोक्त बातों पर ही विचार करना काफ़ी नहीं है। मैं कुछ अन्य बातों की ओर भी तुम्हारा ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ।

वकील लोग बहुधा कहा करते हैं कि 'क़ानून का पालन होना चाहिए, विधान की पवित्रता का ध्यान रखो, कभी क़ानून भंग न करो, जो आन्दोलन करना हो, वह क़ानून के अन्दर रहते हुए ही करना चाहिए।' क्या हम कभी यह सोचने का कष्ट उठाते हैं कि 'अत्यन्त पवित्र' कहा जाने वाला क़ानून आख़िर किसने बनाया ? क्या वह ईश्वर या देवता का बनाया हुआ है ? क्या इसे किसी सत्ताधारी व्यक्ति या दल ने ही नहीं बनाया है जिसका पक्षपातपूर्ण होना प्रायः सम्भव ही नहीं, स्वाभाविक भी है। पराधीन या अर्द्ध स्वाधीन देशों की तो कुछ बात ही न करो, वहाँ का विधान वास्तव में विधान कहा जाने योग्य नहीं होता। प्रधान शासक चाहे जैसा फर्मान निकाल कर उसे क़ानून का नाम दे सकता है। स्वाधीन देशों में भी राजा या डिक्टेटर को क़ानून बनाने के सम्बन्ध में प्रायः अपरिमित अधिकार रहता है। प्रजासत्ता या लोकतन्त्र का दम भरने वाले राज्यों में भी किसी क़ानून को स्वीकार करने या न करने की अन्तिम सत्ता राष्ट्रपति आदि के हाथ में रहती है। फिर, जहाँ क़ानून बनाने के लिये लम्बी चौड़ी विधि या रीतियों का अवलम्बन किया जाता है, वहाँ भी यदि हिसाब लगाया जाय तो जनता के एक दल विशेष का ही भाग विशेष रहता है। यदि मताधिकार इतना व्यापक भी हो कि उसकी आर्थिक शर्तें किसी प्रकार उसमें बाधक न हों तो भी निर्धन व्यक्तियों का पार्लिमेंट का मेम्बर चुना जाना सहज बात नहीं है। और जिन जिन दलों के मेम्बर पार्लिमेंट में पहुँचते हैं, उन सब का वहाँ समान प्रभाव नहीं होता। अधिकांश कार्यवाही एक या अधिक दल विशेष के मतानुसार होती है। इसका परिणाम यह होता है कि बाहरी दृष्टि से ये क़ानून चाहे जैसे निर्दोष प्रतीत हों, बहुधा उनमें काफ़ी पक्षपात का भाव विद्यमान होता है। उनके नाम पर भूखे-नंगे मज़दूरों का अधिक से अधिक शोषण किया जाता है, उनके

सामूहिक आन्दोलन को ग़ैर-क़ानूनी ठहराया जाकर उनका दमन किया जाता है। एक रंग या जाति विशेष की सुविधाओं का ध्यान रखा जाता है, अन्य रंगों या जातियों के व्यक्तियों पर नाना नाना प्रकार की सख्तियाँ की जाती हैं और उनके स्वतन्त्रता-प्रेमी व्यक्तियों को फाँसी के तख्ते पर नहीं चढ़ाया जाता तो जेलों और काल कोठरियों में बन्द रखा जाता है। क्या वकील लोग ऐसे पक्षपात पूर्ण क़ानून की व्यर्थ में पवित्रता की दुहाई देना बन्द करके इन्हें वास्तव में पवित्र बनाने का प्रयत्न करेंगे? अनेक बार यह सुनने में आता है, कि 'अमुक बात नैतिक दृष्टि से' तो ठीक नहीं है, परन्तु जहाँ तक क़ानून का सम्बन्ध है ऐसा करने में कोई हर्ज नहीं है।' नीतिरहित क़ानून का कब तक आदर-मान किया जायगा? क्या क़ानून-विशारद वकील लोग क़ानून को नीतियुक्त बनवाने की ओर समुचित ध्यान देंगे?

क़ानून के पक्षपातपूर्ण होने की बात ऊपर कही गयी है। प्रत्येक राज्य की पुलिस और जेल की रिपोर्टों से इसे सप्रमाण सिद्ध किया जा सकता है। हर जगह ग़रीब मेहनती मज़दूर लोग ही क़ानून के शिकार अधिक बनते हैं, जिनकी संख्या भी वहाँ प्रायः अधिक होती है। इसी प्रकार हबशियों, काले या रंगीन आदमियों से उन्नत कहे जाने वाले राज्यों में भी जो व्यवहार होता है, उसे देखकर कौन यह कहने का साहस करेगा, कि क़ानून इन्हें सौतेली माँ की तरह नहीं देखता?

प्रायः आदमी ऐसी बातों को गहराई से नहीं विचारते, वे इन्हें सुनी अनसुनी कर देते हैं। उनका यह विश्वास है कि अदालतें शुद्ध न्याय करती हैं— दूध का दूध और पानी का पानी। यदि नीचे की अदालत में कोई फ़ैसला ग़लत भी हो जाय तो ऊपर की अदालत का दरवाज़ा खुला है, और यदि उसके भी फ़ैसले के न्यायपूर्ण होने में कुछ शंका हो तो और ऊँची अदालत का निर्णय प्राप्त किया जा सकता है। यह बात कहने वाले के भोलेपन या अज्ञान अथवा अनुभवशून्यता की ही सूचक है। अधीन देशों के तो 'विधान' में ही प्रायः यह लिखा रहता है, कि पदाधिकारियों के विरुद्ध दीवानी या फ़ौजदारी अभियोग नहीं चलाया जा सकता। यदि कभी उच्च-न्यायालय ऐसा निर्णय दे दे कि कुछ व्यक्तियों के साथ जो व्यवहार किया गया है, वह क़ानून से अनुमोदित अथवा न्यायसंगत नहीं है तो अधिकारी उसका प्रायश्चित करने के झंझट में न पड़कर इस सरल मार्ग का अवलम्बन कर लेते हैं कि क़ानून में ऐसा क़ानूनी हेर-फेर कर लिया जाय जिससे उनके द्वारा पहले जो ग़लती हो गई है, वह आगे ग़लती न मानी जाय! सरकार के हाथ में क़ानून बनाने की अपरिमित शक्ति रहती है। अधीन देशों में उसके विषय में यह नहीं कहा जाता कि उसने अन्याय किया। एकतन्त्री राज्य में 'राजा करे सो न्याय' कहा जाता है, पराधीन देशों में 'सरकार करे सो न्याय' माना जाता है।

हमें यह भूलना न चाहिए कि ऊँची अदालतों तक मामला ले जाना हर किसी का काम नहीं है। नीचे की अदालतों का ख़र्च ही साधारण आदमियों का कचूमर निकालने के लिए काफी होता है; वकीलों की फ़ीस, मुन्शी मोहर्रिरों की फ़ीस, नक़ल लेने की फ़ीस, गवाहों का ख़र्च, चपरासियों और अहलकारों का नज़राना, अदालती स्टाम्प आदि का ख़र्च इतना भारी होता है कि कोई भुक्तभोगी ही उसका अनुभव कर सकता है। इस पर भी यदि कहीं अपील करने की नौबत आगई तो यह कहावत सच है कि जीता सो हारा, और हारा सो मरा। ऐसी दशा में यह कहना कि अदालतों का दरवाज़ा सबके लिए समान रूप से खुला है, व्यर्थ है। व्यावहारिक दृष्टि से यह स्पष्ट है कि अदालतें केवल सम्पन्न और सत्ताधारी लोगों के लिए हैं।

तुम्हारी जानकारी के लिए मैंने क़ानून और अदालतों के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त कर दिया है। तुम सफल नागरिक बनना चाहते हो तो इन बातों का ध्यान रखते हुए अपना समुचित कर्तव्य अपनी आत्मा के लिए और लोकहित के लिए पालन करो।

जो अदा न हुआ

शिक्षार्थी

मुझसे मिलने आने वालों की दृष्टि उस पर पहले पड़ती थी, और जो कोई उसे देखता, वही पहली बार कुछ आश्चर्य में पड़ जाता था। कौन जानता था कि उसके सामने रक्खी हुई उस मामूली सी चीज़ ने कभी बहुतों के प्राण बचाये थे और उसी के कारण एक भीषण रक्त-पात होते-होते रुक गया था! कुछ लोग उसे देख कर अपने कुतूहल को दबी ज़बान से प्रकट कर देते थे; कुछ बस फैली आंखों को झलका कर रह जाते थे। कुछ मेरी मूर्खता पर केवल मुस्करा देते थे।

"यह तो मुस्लिम घरों में पाई जाने वाली चीज़ है," मुझसे कहा जाता और प्रश्न होता था, "आप के यहां कैसे...?"

"क्यों क्या हिन्दुओं के किसी धर्म-ग्रन्थ में लिखा है कि इसे रखना पाप है?" मैं पूछता था।

"नहीं—कहने का मतलब यह नहीं" लँगड़ा-सा उत्तर मिलता, फिर निरुत्तरता का क्षणिक सन्नाटा छा जाता और बगलें झांकने का दृश्य सामने आता था। इसके बाद विस्मय की जड़ में छिपा हुआ विरोध, इतना होने पर भी, प्रकट किया जाता था, "मगर......।"

और कुछ नहीं। न कोई तर्क, न वितर्क। फिर मैं क्या बतलाता? चुप्पी के पहले आने वाले इस 'मगर' का क्या ठिकाना? क्या उत्तर?

सारी बात के मूल में और कुछ नहीं, एक लोटा था—केवल एक लोटा। उसमें, बत्तख़ की गरदन के समान मुड़ी हुई एक टोंटी लगी थी। वह लोटा मेरे ख़ास कमरे में एक ऊँचे स्थान पर, सुरक्षित रूप से, सजा कर रक्खा हुआ था। इधर-उधर हिन्दू-देवताओं के चित्र भी सम्मान-पूर्वक टँगे हुए थे।

"टोंटीदार होने से ही यह त्याज्य न होना चाहिए," मैं कहता था। "हिन्दुओं के कमण्डलों में भी बहुधा टोंटियां लगी रहती हैं। इसमें आपत्ति की क्या बात?"

"फिर भी...?"—फिर वही चुप्पी वाला प्रश्न।

"फिर भी क्या?" मैं झुंझला कर कहता था, "हिन्दू पाजामा क्यों पहनते हैं? वह भी तो मुसलमानों के पहनने की चीज़ है। तब एक लोटा रखने में क्या बुराई है?"

अक्सर मैं उन्हें गिनाता था कि आपके-हमारे घरों में कितने बरतन और गृहस्थी के सामान ऐसे हैं, रहन-सहन के ढङ्ग और बोल-चाल के शब्द ऐसे हैं, जो मूलतः मुस्लिम संस्कृति के हैं। वे सब घुल-मिल कर अब सब के बन गये हैं।

अधिकतर लोग मेरी झिड़की या दलील के कडुवेपन से बचने के लिए चुप हो जाते थे, और आगे कोई सवाल नहीं उठता था, यद्यपि यह स्पष्ट था कि उनका कुतूहल पूर्ण रूप से सन्तुष्ट नहीं हो पाता था।

किन्तु, उस दिन मेरे एक मित्र ने यों नहीं माना। कहा, "प्रश्न यह नहीं। आप अपने पास मुसलमानी लोटे को शौक़ से रख सकते हैं। इसमें कोई हर्ज नहीं। पर, आप जो इसे इतना महत्त्व, इतनी विशिष्टता और श्रद्धा दिये बैठे हैं, वह कुतूहल-वर्द्धक है।"

ठीक। वास्तविक प्रश्न तो यह था।

मैं बोला, "किसी को क्या पता, मित्र, कि यह लोटा क्या है, कितना पवित्र है और इसके लिए मेरे हृदय में कैसा स्थान है। यह निरी धातु नहीं। इसे मैंने यों ही नहीं रख छोड़ा है। इसमें एक महान् आत्मा की छवि, उसके हृदय की विशालता, बसी हुई है। मैं उसे देखता हूं। इस पर कोई स्वर्ग से अपनी उज्ज्वल मुसकान की किरणें बिखेर रहा है। इस पर आदर्श मानव-प्रेम की छाप है। इसके पीछे

इसके स्वामी की अति पावन आकांक्षा छिपी है। वह है समझने की चीज़।"

"यह लोटा है किसका?" मित्र ने बीच में पूछा।

"एक बहुत बड़े, पहुँचे हुए महात्मा का प्रसाद है यह। अब वे नहीं रहे। पर, उनके अन्तर की उच्चता, उनके उद्देश्य की महानता और उसके लिए उनकी, त्याग की भावना मेरे आगे हैं।"

कुछ देर तक विचार-मग्न रहने के बाद मैंने फिर कहा, "इस लोटे को देख कर मेरे मन में सब के लिए समता का, प्रेम का भाव जाग उठता है। इससे जो प्रेरणा मुझे मिली है, वैसी, सारे देश-वासियों को मिल सकती तो क्या न था!"

× × ×

लोटे के रहस्य से थोड़ा सम्बन्ध एक महाजन का भी था परन्तु, वह भी लोटे के प्रति मेरी इस भावना को मेरी सनक समझता था। उसे भी वास्तविकता का ज्ञान न था, यद्यपि, सच पूछिए तो, लोटा मुझे उसी महाजन से मिला था।

वह हमारे पड़ोस में रहता था। उसकी दूकान किराने की थी। किन्तु, महाजन लेन-देन भी करता था, और, वास्तव में ब्याज उसकी आय का प्रधान साधन था।

बहुत पहले की बात है।

उस दिन वह किसी क़र्ज़दार पर दावा कराने के सिलसिले में क़ानूनी सलाह लेने मेरे पास आया था।

मुझे प्रसन्न करने के लिए वह, अपने मतलब की बात पर आने के पहले, इधर-उधर की बातें करने लगा। मेरे मर्म-स्थल को वह जानता था, और जानता था उसे छू कर अपना काम निकालना। बड़ा बातूनी था।

प्रसंग उत्पन्न करके बोला, "जो दिखलाई पड़ता है, उसमें, और, जो दिखलाई नहीं पड़ता, उसमें बहुत भेद हुआ करता है, बाबू जी!"

महाजन था तो साधारण पढ़ा-लिखा; परन्तु, उसके मुंह से इस समय बड़े पते की बात निकल गई, यद्यपि उसे पता नहीं, इसमें क्या सौन्दर्य था।

मैं कुछ बोला नहीं।

"कहने को रईस हैं", उसने आगे कहा, "नहीं तो, बाबू जी, ढोल के भीतर सब पोल है।"

"नहीं जी", मैंने ऊपर से सन्देह प्रकट किया। भीतर के सन्तोष को दबा रखा।

"नहीं क्या बाबू जी", महाजन ने उँगलियाँ नचा कर कहा। मेरे अविश्वास-प्रदर्शन से उसे उत्तेजना मिली। "आपको मालूम नहीं, असलियत क्या है, ख़ाँ साहब की स्थिति आजकल कैसी है। ज़रा बाहरी ठाट-बाट के पर्दे को फाड़कर झाँकिए तो आँख खुले।"

"मुझे क्या ग़रज़ पड़ी है?" मैंने कहा।

"यह तो ठीक है", मेरी विरक्ति से कुछ अप्रतिभ होकर उसने कहा। फिर भी वह हार मानने वाला जीव न था, बोला, "पर, आपको मालूम होना चाहिए कि ख़ाँ साहब ने शुरू-शुरू में डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की ठेकेदारी से जो चांदी काट ली, वह अब सपने की बात हो गई है।"

"हाथी कितना भी दुबला हो जाय," मैंने हँसकर कहा, "फिर भी चूहे से मोटा रहेगा।" चूहे की बात के साथ मैंने अपनी ओर इशारा किया।

"आपको कुछ पता नहीं", उसने मुंह बिचका कर कहा, "बड़े बने हैं वे ख़ाँ साहब!......जो उनके अन्दर की बातें जानता है, उससे पूछिए।"

"कौन जानता है?"

"मैं।"

मैंने कुछ कहा नहीं। मेरा मतलब यह जानने का अवश्य था कि वह क्या जानता था।

कुछ कहता भी तो मैं कैसे कहता? इस प्रकार प्रकट रूप से ख़ाँ साहब की बुराई सुनने की इच्छा प्रकट करना मुझे शोभा न देता।

ख़ाँ साहब के और हमारे परिवार में कई पीढ़ियों से एक तरह का भाई-चारा चला आ रहा था।

पहले न वे इतने मुसलमान थे, न हम इतने हिन्दू। दोनों की सीमाएँ थीं। उनके बाहर वे और हम एक थे। धीरे-धीरे वे सीमाएँ इतनी बढ़ गईं

कि उनके बीच की वह जगह, जो दोनों के लिए एक थी, घटते-घटते, नहीं के बराबर रह गई।

बड़े-बूढ़ों के समय की घनिष्ठता में घुन लग गये। वह एकदम खोखली हो गई। जो प्रेम और ममत्व के भाव थे, वे सब, खिसकते हुए दिनों के साथ बह चले। सहयोग और सहानुभूति के बड़े-बड़े पत्थर टूट-टूट कर गिरे—टुकड़े हो गये—प्रवाह में लुढ़कने-पुढ़कते हुए, क्रमशः छोटे होने लगे—होते-होते, कंकड़ हुए—बालू के कण रह गये—और जाकर, न जानें कहाँ विलीन हो गये। हुआ यों कि नगर में मुस्लिम लीग की स्थापना हुई—यह इस नगर के इतिहास में एकदम नई बात थी—और हमारे ख़ाँ साहब उसके सभापति बने। एक लम्बे ठेके के सिलसिले में उन्होंने एक मस्जिद भी बनवा ली। लोगों ने कहा, "यह मामूली काम नहीं।" इस पर ख़ाँ साहब कहने लगे कि "इतना लम्बा ख़र्च इस छोटे से शहर में कोई और क्या करेगा!" गोया यहाँ और कोई रईस ही न था, एक वे ही थे। शायद ख़ाँ साहब अपने सभापतित्व की धुन में बड़ों की साधारण नम्रता भूल बैठे थे।

उनका आक्रमण यद्यपि कठोर रूप से व्यक्तिगत न था, तथापि बात बिलकुल निर्दोष न थी। मैं अपने को 'कोई और' की व्याख्या-परिधि के बाहर न पाता था।

लगने वाली थी, बात लग गई। मुझे चिन्ता हुई और मैं इस फेर में पड़ गया कि किसी प्रकार एक शानदार मन्दिर खड़ा हो जाय।

मन्दिर तो, ख़ैर, मैं उसी ताव नहीं बनवा सका।

किन्तु, इतना अवश्य हुआ कि मैं हिन्दू महासभा का सदस्य हो गया। हम दोनों की धार्मिकता क्रमशः बढ़ने लगी। फलतः, दोनों परिवारों के प्राणियों में जो एक-दूसरे को चाचा-मामा, भैया-बेटा, अम्मा-बुआ कहने के मीठे नाते निभते चले आ रहे थे, वे ढीले पड़ गये।

और, अब हम इतने नीचे उतर आये थे कि हमारी आँखें एक-दूसरे की सुख-समृद्धि नहीं देख सकती थीं, और, कान एक-दूसरे की निन्दा सुनने के लिए, स्वागत-द्वार की भांति, सदैव खुले रहते थे।

मेरी इसी दुर्बलता का लाभ महाजन ने उस दिन उठाया। उसने मुझे ख़ाँ साहब की आन्तरिक परिस्थिति के छिद्र दिखला कर ही दम लिया। उनके आर्थिक संकट के प्रमाण भी उसने दिये।

"ख़ाँ साहब की दशा ठीक होती", महाजन ने कहा, "तो नौकर बेचारा क्यों दर-दर मारा फिरता!"

"कौन! बड़े मियाँ!"—मैंने बड़ी उत्सुकता से पूछा।

"हाँ, बड़े मियाँ", महाजन बोला। "उनकी भी दुर्दशा है। गेहूँ के साथ घुन भी पिसता है। लगता है कि बेचारे के लिए भूखों मरने की नौबत आ गई।"

मैं चिन्ता में पड़ गया। बड़े मियां यदि ख़ां साहब के नौकर थे तो क्या, मुझे उनसे सहानुभूति थी। उनका स्वभाव सबके मन को मोह लेता था। उनकी उजली-उजली, धनी और ग़रीब के छप्पर की तरह, नीचे को झुकी हुई, दबी हुई भौंहों की आड़ से, कुछ हरियाली लिये हुई पुतलियाँ, धुली-सफ़ेद चद्दर-बिछी चारपाई के नीचे छिपे हुए दो अबोध शिशुओं-सी, कुछ ऐसे भाव से झांकती थीं, जैसे वे लेमनेड-बोतलों की गोलियां थीं, जिनके पीछे ममता का न जानें कितना रस भरा था!

क्या हिन्दू, क्या मुसलमान, बड़े मियां के दिल में सब के लिए वही स्थान था, न किसी के लिए कम, न ज़्यादा। उन्हें किसी से द्वेष न था, राग सब से था।

ख़ां साहब से हमारा मन-मुटाव हो जाने पर भी बड़े मियां ने हमारा द्वार नहीं छोड़ा। कभी न कभी आ ही जाते थे, चाहे वे ख़ां साहब से छिपा कर ही ऐसा करते रहे हों।

उस दिन मेरी श्रीमती जी शिकायत कर रही थीं, "अब वे ख़ां साहब नहीं रहे। आंखें बदल गईं। हर साल उनके खेत के ख़रबूज़े और तरबूज़ खाने को मिलते थे। बच्चा कह रहा था कि इस साल बहुत बड़े-बड़े तरबूज़ हुए हैं। पर, ख़ां साहब ने एक भी

नहीं भेजा। हम उनकी भेंट के भूखे नहीं हैं। पर, सच बात कहे बिना भी नहीं रहा जाता। ख़ाँ साहब अब अपने के दूसरा समझने लगे हैं। न जानें किस घमण्ड में भूले हैं। हमें उनके तरबूज़ की ज़रूरत नहीं—हम उन्हें कूड़े में फेंक दें।"

इतने में बड़े मियां आये। उनके खाँसने के ढंग से मालूम होता था कि उनको अपने मालिक के विरुद्ध तमाम जली-कटी बातें सुनाई पड़ती थीं, और, इसलिए, वे हमें अपनी उपस्थिति से सावधान कर देना चाहते थे।

फिर भी बूढ़े के मुंह पर शिकन का नाम न था। इतना सुन लेने पर भी बड़े मियां अपनी सरल हँसी हँसने से नहीं चूके। बिलकुल बच्चों का-सा स्वभाव था उनका। उनकी बात-चीत के स्वर में किञ्चित मात्र भी अन्तर नहीं पड़ा। उनके लेखे जैसे कुछ हुआ ही नहीं।

बड़े मियां के चले जाने पर श्रीमती जी ने सन्देह प्रकट किया कि शायद बूढ़ा आ कर ख़ाँ साहब के कान भरे।

पर, ऐसा कभी नहीं हो सकता था। मुझे इसका विश्वास था। बड़े मियां के निष्कपट हृदय से ऐसी आशा कभी नहीं की जा सकती थी। उन्हें छल छू नहीं गया था। पूर्वजों के समय की सहृदयता और हेल-मेल के एक वे ही प्रतीक और शेष स्मृति-चिन्ह थे।

इसलिए, आंखों की पहुंच के बाहर, ख़ाँ साहब की परिस्थिति देखने वाले महाजन ने जब बतलाया कि बड़े मियां भी कष्ट में हैं, तब मुझे वास्तव में क्लेश हुआ।

मैंने महाजन से पूछा, "तुमने कैसे जाना कि बड़े मियां के भूखों मरने की नौबत आ गई है?"

"मुझसे कुछ छिपा नहीं रह सकता," उसने बड़े गर्व से कहा। "मेरा धन्धा ही ऐसा है। हाथ तंग होने पर सब को मेरे पास दौड़ना पड़ता है, और तब मैं जान जाता हूँ कि कौन किस हालत पर पहुँच गया है।"

मैं स्पष्टीकरण के लिए महाजन का मुंह देखने लगा।

उसने बतलाया, "आज बड़े मियां आये थे। आटा-दाल और नोन-लकड़ी की चिन्ता पड़ गई। शायद दस आने पर अपना लोटा गिरवीं रख गये हैं।"

"ओह!" मैं बोला, "तो ख़ाँ साहब की दशा यह है कि नौकर को पेट-पालने के लिए बरतन गिरवीं रखना पड़ा!"

महाजन के ओठों पर घृणा की मुसकान थी। उसने पूछा, "अब आप मान गये?"

मैंने कहा, "रस्सी जल गई, ऐंठन नहीं गई। इतना होने पर भी हज़रत अकड़े फिरते हैं!"

महाजन चुपचाप मुस्कराता रहा।

"फिर किस बूते पर ख़ाँ साहब हिन्दुओं के ख़िलाफ़ आग उगलते हैं!" मैंने कहा।

"आप जानिए। वे बड़े आदमी हैं, उनकी बात मैं बेचारा क्या समझूं!" महाजन बोला।

"ख़ाक बड़े आदमी हैं!" मैंने कहा।

महाजन सन्तोषपूर्वक हँसने लगा। फिर बोला, "उस दिन हनुमान जी के मन्दिर में जो अपवित्र पदार्थ पाया गया था, उसका श्रेय, जानते हैं, किसको है?"

"जानता हूं। और ख़ाँ साहब को भी जान लेना चाहिए कि उनकी मस्जिद भी……" कहते-कहते मैं चुप हो गया। जानता था, महाजन बक्की जीव है, इसे कुछ बतलाना ढिंढोरा पीटना होगा, सारी योजना चौपट हो जायगी।

जल्दी से मैंने कहा, "हाँ, तो तुम्हें किस पर नालिश करनी है? हिसाब क्या है?"

मैंने महाजन को मस्जिद की बात के सम्बन्ध में पूछ-तांछ करने का अवसर नहीं दिया। उसे केवल काम की बातें बतला कर चलता कर दिया।

सच्ची बात यह थी कि नगर की मुस्लिम लीग के प्रधान ने यदि अपने भाषणों से मुसलमानों को उभारा था तो मैं ने भी हिन्दू महासभा की ओर से

कोई कसर नहीं रहने दी थी। भूमि तैयार हो चुकी थी। दोनों की कृपा से तेल-लकड़ी का प्रबन्ध पूरा हो गया था; केवल दियासलाई दिखलाने की देर थी।

लेकिन, आख़िरकार सारे किये-कराये पर पानी फिर गया। मैंने सोचा, ख़ां साहब को अपनी भूल मालूम हो गई, या, शायद उन्हें अपनी दुर्बलता का ध्यान आ गया, जो वे सहसा नरम पड़ गये।

मेरे ऐसा सोचने का कारण यह था कि महाजन से बातें होने के दूसरे ही दिन बड़े मियां, एक बोझ लिये हुए, आये। बोले, "ख़ां साहब ने भेजा है।"

मुझे स्वीकार करना पड़ा।

मैंने कहा, "आपने ख़ां साहब को बतलाया होगा कि बाबू के घर में तरबूज़ न मिलने की शिकायत करती थीं।"

"नहीं, मैंने कुछ नहीं बतलाया था।" बड़े मियां ने विश्वास दिलाया।

"ज़रूर बतलाया होगा, नहीं तो वे क्यों भेजते?"

"इस साल यह कोई नई बात तो हुई नहीं, जो आप ऐसा सोच रहे हैं।"

"ख़ैर, ख़ां साहब को मेरा धन्यवाद दीजिएगा।" यह कह कर मैंने बड़े मियां को विदा किया।

श्रीमती जी तरबूज़ पा कर निहाल हो गईं। यों एक तरबूज़ का मूल्य क्या था? किन्तु, श्रीमती के दिल को क्या कहा जाता? एक स्त्री के लिए कुछ-नहीं भी बहुत-कुछ हो जाता है, और बहुत-कुछ भी कुछ-नहीं हो जाता है।

इसे हुए दो-तीन दिन भी नहीं बीते कि श्रीमती ने हठ कर के अपने बाग़ के कुछ क़लमी आम ख़ां साहब के यहां भेजवाये।

होते-होते, ख़ां साहब से और मुझसे बात-चीत होने का क्रम भी फिर से आरम्भ हो गया।

और चाहे कुछ न हुआ हो; पर, इतना तो अवश्य हुआ कि उस बार नगर का एक बड़ा संकट इस प्रकार टल गया।

देखते ही देखते, आठ-दस महीने, पथिकों की तरह, संसार की व्यस्त सड़क पर से निकल गये, लोगों के काम-धन्धों की भीड़ में खोये हुए-से। इस बीच सब से अधिक शोचनीय दुर्घटना यह हुई कि, क्रूर नियति के एक संकेत से, बड़े मियां हमारे बीच से उठ गये। सब को धक्का लगा। एक बड़े मियां का स्वर्गवास क्या हुआ, लोगों को लगा कि जैसे सारे नगर के प्रत्येक घर में एक-एक प्राणी की कमी हो गई।

एक दिन ख़ां साहब से बातें हो रही थीं। प्रसंग साम्प्रदायिक दंगों का था। अब हमारे दिमाग़ ठण्डे हो चुके थे।

"यह आपकी बुद्धिमानी थी कि उस बार हमारा नगर इसके प्रभाव से बाल-बाल बच गया था।" ख़ां साहब ने मेरी सराहना की।

'मेरी क्यों?" मैं बोला, "बुद्धिमानी आपकी थी।"

"मेरी कैसे? न आप क़लमी आम भेजते, न मेरे मन में दबी हुई पुरानी दोस्ती का ख़याल करवट बदलता।"

"मगर", मैं बोला, "न आप तरबूज़ भेजते, न मैं आम भेजता, न फिर······"

"क्या?" ख़ां साहब चौंके, "मैंने उस साल तरबूज़ कब भेजा था? शर्मिन्दा न कीजिए।"

"आपने नहीं भेजा था?"—मैं चक्कर में पड़ गया।

"नहीं भेजा था।"

"अच्छा!" मैं बोला और सिर नीचा करके सोचने लगा।

अब समझ में आया, बड़े मियां को अपना लोटा क्यों गिरवीं रखना पड़ा था।

मेरी आंखें भर आने को हो गईं।

मैंने महाजन को बुलवाकर पूछा, "बड़े मियां साहब कितने दिनों बाद तुम्हारे यहां से गिरवीं रक्खा हुआ लोटा छुड़ाकर ले गये थे?"

"कभी नहीं, बाबू जी", वह बोला, "आज तक नहीं। कौन ले जाता है? ब्याज ही नहीं, मेरा मूल-धन भी डूब गया।"

"उफ़ !"—मैं अपने उद्‌गार को सम्भाल न सका—"उफ़ ! बड़े मियां, मैं तुम्हारा ऋण कैसे चुका सकूंगा ?"

"क्यों नहीं बाबू जी !" महाजन बोला, "अभी तो केवल एक रुपया, दो आने—ब्याज-सहित—हुए हैं।"

उसे क्या ख़बर थी कि बड़े मियां का ऋण कभी चुकाया नहीं जा सकता—कभी नहीं।

गीत

नवीनचन्द "प्रदीप"

है मरण अमरत्व का पन्थ !

जल - प्रलय में से न जो
अमरत्व के मोती निकाले,
क्षुद्र निर्बल तृण सदृश
निज को तरंगों में बहाले ;

वे न मानव, जो न सकते
प्रलय का भीषण जलधि मथ !
है मरण अमरत्व का पथ !

मृत्यु जिसकी सहचरी है,
काल से जो खेल खेले,
तोड़ दे जो भाग्य बन्धन
और विधि के सब झमेले ;

बस, वही सकता चला
संसार-पथ पर अमरता-रथ !
है मरण अमरत्व का पथ !

प्राण की आहुति चढ़ा जो—
नव - जगत - निर्माण करते,
मृत्यु से खिलवाड़ कर वे,
विश्व का कल्याण करते ;

विजय का झण्डा उठाते—
वीर हो निज रुधिर-लथपथ !
है मरण अमरत्व का पथ !

हिन्दी कविता में राष्ट्रीयता का विकास

बैजनाथ सिंह "विनोद"

अंग्रेज़ी साम्राज्यशाही के आँगन में ही उसके नाश का उपकरण—क्रान्ति का वाहन—विज्ञान खेल रहा था। अंग्रेज़ों ने अपने स्वार्थ के लिये रेल की पटरियाँ बिछाईं, तार के जाल बिछाए, छापेखाने खोले और यूरोप से सम्बन्ध जोड़ा। पर इसी ने समूचे हिन्दुस्तान को एक कर दिया। इस एकता ने चेतना और राष्ट्रीय स्वाभिमान को जगाया। अंग्रेज़ों ने राष्ट्रीय स्वाभिमान के नाश और अपने लिये क्लर्क पैदा करने को तथा अंग्रेज़ी भाषा के प्रचलन और इस देश की संस्कृति के उच्छेद के लिये ईसाइयत को प्रोत्साहन दिया। पर इसी के ज़रिये अंग्रेज़ों की कूट नीति का पर्दा फ़ाश हुआ, भारतीयों में समाज सुधार की लहर के साथ आत्म गौरव और राष्ट्रीय चेतना आई। अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद ने क्लाइव की अधीनता में सब से पहले बंगाल में जड़ जमाई थी; सब से पहले भारतीय आत्म चेतना भी १८२८ ई० में बंगाल के अन्दर ब्रह्मसमाज के रूप में पैदा हुई। अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद अपनी सामन्तशाही को तोड़ता हुआ हिन्दुस्तान में बढ़ रहा था; इसीलिये उसके सब से पहले दुश्मन—सामन्ती आँगन में पले, अंग्रेज़ी संस्कृति से वाक़िफ़ और बूर्जुआ समाज की ओर रुझान रखने वाले—राजा राम मोहन राय हुये।

राजा राम मोहन राय से जो सामाजिक चेतना आविर्भूत हुई उसे अंग्रेज़ों का आशीर्वाद प्राप्त था। इसीलिये वह रीढ़विहीन थी। इसके बाद दूसरा उत्थान-युग आया। स्वामी दयानन्द सरस्वती इसके नेता थे। इनका कार्य-क्षेत्र हिन्दी भाषा भाषी हिन्दू-समाज था। यह विदेशी विरोध की मूर्ति थे। इसीलिये कुछ समय तक इनकी संस्था को अंग्रेज़ों का विरोध मिला। ये दोनों महापुरुष हिन्दू थे; इनकी राष्ट्रीयता में उपनिषद् और वेद थे। पर भारतीय समाज बहुत आगे बढ़ चुका था—उसमें मुसलमानों का सामाजिक सिद्धान्त भी था। पर उपरोक्त दोनों महानुभावों ने क़ुरान और खिलाफ़त की महान विरासत—मुसलमानों के सामाजिक समता के सिद्धान्तों—की उपेक्षा की। दूसरे शब्दों में उनकी राष्ट्रीयता मुसलमानों के लिये आकर्षणहीन थी।

इसी पृष्ठभूमि पर हिन्दी साहित्य का जन्म हुआ। इसका असर हिन्दी काव्य साहित्य पर साफ़ है। शुरू के हिन्दी के कवि अंग्रेज़ों के ख़ासे प्रशंसक हैं। उनमें राष्ट्रीयता का अभाव है। १८५७ की स्वाधीन चेतना के प्रति उनके विचार विपरीत हैं। श्री प्रतापनारायण मिश्र कहते हैं—

"सन सत्तावन माहि जबहिं कछु सेना बिगरी।
तब राजा दिशि रही सुदृढ़ ह्वै परजा सिगरी॥
दुष्ट समुझि अपने भाइन कहँ साथ न दीन्हों।
भोजन बिन बिद्रोहिन कर दल निरबल कीन्हों॥"

उपाध्याय बद्रीनारायण चौधरी "प्रेमघन" का कहना है:—

"देसी मूढ़ सिपाह कछुक लै कुटिल प्रजा सँग।
कियो अमित उत्पात, रच्यो निज नासन को ढंग॥

पर अंग्रेज़ी कूट नीति से परे लोक गीतकार भी यहाँ था। उसने सन् ५७ के सम्बन्ध में कहा—

"खूब लड़ी मरदानी, अरे झाँसी वाली रानी।
बुरजन बुरजन तोपें लगा दईं गोला चलायो आसमानी।
अरे झाँसी वाली रानी, खूब लड़ी मरदानी।
सबरे सिपहियों को पेड़ा जलेबी; अपने चबाई गुड़धानी।
अरे झाँसी वाली रानी, खूब लड़ी मरदानी।"

हिन्दी के इन दो ख्यातनामा कवियों की रचनाओं और लोक गीतों का फ़रक़ अंग्रेज़ों की कूटनीति के असर को साफ़ बता देता है। ये दो ही कवि नहीं; उस काल का सारा वातावरण ही ऐसा था। उस काल की राजनीति सिर्फ़ नौकरियों तक ही सीमित थी।' दूसरे शब्दों में कहें तो—उस काल की हमारी राजनीति 'ब्रिटिश छत्रछाया में अपने अफसर अपने में से चाहती थी।' हमारा सामाजिक और सांस्कृतिक आन्दोलन 'अंग्रेज़ी छत्रछाया में अपना विकास देखता था।' यही कारण था कि उस काल के भारतीय वेद से लेकर कालिदास तक को समझने के लिये अंग्रेज़ों का प्रमाण ढूंढ़ते थे। अपनी प्रत्येक चीज़ को अंग्रेज़ों की आंखों से देखते थे। इसीलिये गिल क्राइस्ट, टॉड और ग्रियर्सन तक की ओर हमारी आँखें लगी रहती थीं। हमारी इसी तन्द्रावस्था से फायदा उठा कर अंग्रेज़ों ने कबीर के काल से हमारे रगों में प्रवाहित एकजातीयता की भावना को मारने के लिये 'स्लो-प्वाइज़न' दिया। परिणाम स्वरूप हिन्दी साहित्य की तात्कालिक रचनाओं में अंग्रेज़ी साम्राज्यशाही के विरोध की अपेक्षा गुज़रे हुए मुसलिम काल का विरोध और मरे हुए मुसलमान बादशाहों की निन्दा ही प्रधान हो उठी। पर इन सारी बातों के बावजूद एक फ़ायदा यह हुआ कि हमारे अन्दर—अलगाव के साथ और अंग्रेज़ी आंखों से ही सही—अपनी संस्कृति सभ्यता, रीति नीति, रस्मो रिवाज़ और युगों से चले आते हुये एक सामूहिक मानसिक रुझान तथा इतिहास को देखने की प्रवृत्ति जाग उठी। इस तरह अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद के अन्दर छिपा हुआ उसके नाश का बीज अंकुरित और पल्लवित हो उठा।

पर अब अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद के विरुद्ध, उसका नाश करने के लिए हमारे देश में राष्ट्रीयता की ज्योति जगी और हमारे यहां राष्ट्रीय साहित्य का निर्माण शुरू हुआ, तब हमारे देश के मिले जुले जीवन में भिन्नता का ज़हर फैल चुका था। परिणाम स्वरूप हिन्दी-साहित्य में राष्ट्रीयता की जो धारा आई, उसकी दृष्टि हिन्दू काल की ओर थी; उसमें मुसलमानों की तैरियत की निगाह से देखने की प्रेरणा थी। उस धारा का रुझान सामाजिक समानता की अपेक्षा वर्ण-व्यवस्था के ब्राह्मणवाद अथवा वेदवाद की ओर ज़्यादा था। जिस तरह आरम्भिक काल में सभी आर्येतर देवताओं का आर्यीकरण किया गया था उसी तरह इस काल के साहित्य में मुसलिम देवी देवताओं—पीरों, पैग़म्बरों और ख़लीफ़ाओं—का भारतीयकरण नहीं किया गया। राष्ट्रीय साहित्य में उनको अपनी जगह नहीं दी गई। इसीलिये हिन्दी की राष्ट्रीय कविता एकांगी रह गई। उसके अन्दर राष्ट्र का सम्पूर्ण जीवन न बोल सका। उसके नाटकों में समाज-सुधार हिन्दू समाज-सुधार था, जिसके अन्दर बुरे पात्र अक्सर मुसलमान रखे गये।

हमारे देश में राष्ट्रीयता का जन्म हुआ था विदेशी पूंजीवाद को हटाने के लिये। उसका प्रत्यक्ष-प्रकाश हुआ इसके समाज-सुधार और आर्थिक दुरवस्था के व्यक्तिकरण में—क्योंकि शुरू में निर्बल देशी पूंजीवाद सबल और सशक्त विदेशी पूंजीवाद से लड़ नहीं सकता था। इसीलिये भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने कहा है:—

"अंगरेज-राज सुख-साज सजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी॥"

श्री प्रताप नारायण मिश्र कहते हैं—

"तबहिं लख्यो जहँ रह्यो एक दिन कंचन बरसत।
तहँ चौथाई जन रूखी रोटिहुँ को तरसत॥
जहां कृषी वाणिज्य शिल्प सेवा सब माहीं।
देसिन के हित कछू तत्त्व कहुँ कैसहु नाहीं॥
कहिय कहां लगि नृपति दबे हैं जहँ ऋन भारन।
तहँ तिन की धन कथा कौन जे गृही सधारन॥

स्पष्ट है कि विदेशी अंग्रेज़ों की भारत पर हुकूमत बुरी नहीं मानी गयी है; बुरा माना गया है धनका विदेश जाना। विदेशी पूंजीवाद ने अपने मिलों के हित में भारत का शिल्प नष्ट किया, व्यापार को अपने हाथ में किया; हुकूमत के फ़ायदे के लिए देशी भाषा को पदच्युत करके अंग्रेज़ी को राज्यभाषा

को जगह दी। कृषि को भी दिनों दिन गिराया। इससे जनता तबाह हो चली। जनता की उस तबाही का चित्र साहित्य में आना ज़रूरी था, और वह आया। लेकिन उसके अन्दर अंग्रेज़ी सत्ता को उखाड़ फेंकने की वृत्ति नहीं है। उसके अन्दर है आर्थिक तबाही और अर्थ की पुकार।

अर्थ की पुकार, देशी उद्योग धन्धों की ओर हिन्दुस्तानियों का झुकाव और 'अपना अफ़सर अपने में से' की मांग दिनों दिन बढ़ती गई। इस मांग में हिन्दुओं की संख्या ज़्यादा थी। पर सर सैयद अहमद ख़ां के ज़माने से मुसलमानों में ब्रिटिश एजेंट काम करने लग गए थे। लार्ड कर्ज़न के ज़माने में इसलामी मुल्कों का अन्तर्राष्ट्रीय महत्व ज़्यादा हो उठा। इसीलिये ढाका के नवाब सलीमुल्ला को बंगाल बैंक ने एकाएक चौदह लाख रुपये कर्ज़ (!) दिया। और इसी समय बंगाल को दो हिस्सों में बाँटा गया। यह सारा काम न केवल हिन्दुस्तान में फूट डालने के लिये किया गया बल्कि इस्लामी मुल्कों को ब्रिटेन की ओर खींचने का इरादा भी इस नीति में निहित था। पर इस समय तक हिन्दुओं में और ख़ासकर बंगाली हिन्दुओं में राष्ट्रीय चेतना पैदा हो चुकी थी। बंग-भङ्ग के विरुद्ध आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। इस आन्दोलन के दो रूप थे—१-विदेशी वस्तु बहिष्कार, २—हिंसात्मक क्रान्ति या आतंकवाद। प्रधान सुर विदेशी बहिष्कार का था। जानकारों का कहना है कि नवाब सलीमुल्ला लाचार होकर बंग-भङ्ग के सुर का रिकार्ड बना, उसे अपने भाई और भतीजों का सख़्त विरोध भी सहना पड़ा—सारे बङ्गाल में भी उसका विरोध हुआ। इसी कारण, जब आन्दोलन के फल-स्वरूप बंग-भङ्ग की स्कीम रद्द हुई, तो ग्लानि की अधिकता से उसकी मौत हो गई। बंग-भङ्ग के इस सारे रहस्य को एक महापुरुष अपनी अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से समझ रहा था—वह महापुरुष थे गुरुदेव रवीन्द्र नाथ ठाकुर। इसीलिये बंग-भङ्ग की समाप्ति के बाद उन्होंने जो "अपमानित" और "भारत तीर्थ" नामक कवितायें लिखी उनमें सम्पूर्ण भारतीयता और राष्ट्रीयता का प्रतिनिधित्व है। "अपमानित" में भारतीय राष्ट्रीय समस्या का चरम रूप और राष्ट्र को चेतावनी है; उसी तरह राष्ट्रीय समस्या का समाधान "भारत तीर्थ" में है। पर उस समय तक शायद हम रवीन्द्रनाथ को समझ न पाये थे। उस समय काल-व्यतिक्रम—हिन्दू राष्ट्रीयता—में आकंठ मग्न बंकिम बाबू ही हमारे आकर्षण के केन्द्र थे। फलतः हमारा साहित्य काल के साथ न चल सका। वह हिन्दू राष्ट्र के काल व्यतिक्रम में फंस गया।

पर इतिहास का प्रवाह ठीक दिशा में था। लिबरलों की भिक्षा और डेपुटेशन नीति, गरीबी, बेकारी की बाढ़ के साथ देशी उद्योग धन्धों की मांग का दबाव और आतंकवादी आन्दोलन हमारे देश को ठीक राष्ट्रीयता की ओर ढकेल रहे थे। इस द्वन्द्व ने १९१६ तक देश को 'एक्शन' की ओर प्रेरित किया। पर यह कशमकश भी ३-४ साल तक रहा। १९२० से महात्मा गान्धी के नेतृत्व में हमारा देश राष्ट्रीयता के वातावरण से व्याप्त हो गया।

इसी समय "भारत भारती" का गान हुआ। ठीक अर्थों में—"भारत भारती" से ही राष्ट्रीय कविता का प्रारम्भ होता है। सबसे पहले गुप्त जी के काव्य में ही भारतवर्ष की सभी जातियों का निश्चित समुदाय व्यक्त हुआ है। भारतीय संस्कृति का वह रूप सबसे पहले गुप्त जी ने व्यक्त किया, जिसके अन्दर जातीय विद्वेष और और साम्प्रदायिकता का अभाव तथा राष्ट्र को एक सूत्र में बांधने का प्रयास है। इसके बाद एक "भारतीय आत्मा" पण्डित माखनलाल चतुर्वेदी जी का स्थान है। उनके अन्दर राजनैतिक चेतना, स्वदेश में आर्थिक और सांस्कृतिक उद्धार, और राष्ट्र की स्वतन्त्रता के लिये मर मिटने की चाह है। वह कहते हैं :—

"मत व्यर्थ पुकारे शूल-शूल,
कह फूल-फूल, सह फूल-फूल।
हरि को ही तल में बन्द किये,
केहरि से कह नख हूल-हूल।"

"सुर पुर ठुकरा आराध्य कहे,
तो चल रौरव के कूल-कूल।"

× × ×

"हो मुकुट हिमालय पहनाता,
सागर जिसके पर धुलवाता
यह बँधा बेड़ियों में—मन्दिर
मसजिद गुरुद्वारा मेरा है!"

× × ×

तू विश्व बाँधने चला देव,
अपने ही कातें तारों से।
जा विदा तुझे हुँकारों से—
अपने बलि - उपहारों से।

इनके अलावा श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान की रचना "खूब लड़ी मरदानी वह तो झांसी वाली रानी थी" और "जलियांवाला बाग़" का ऐतिहासिक महत्व है। इस काल में "त्रिशूल" जी भी एक नवीन शक्ति थे; पर उनकी टेकनीक पुरानी थी।

इस युग के कवियों में पं० बालकृष्ण शर्मा "नवीन" ही ऐसे हैं, जो अब तक नवीन हैं। उपरोक्त सभी कवियों के साथ ही 'नवीन' जी में भी राष्ट्रीयता के साथ और चीज़ें मिली हुई हैं। पर उनकी राष्ट्रीयता का सुर नित-नव-विकासोन्मुख है। उनकी राष्ट्रीयता के पीछे राष्ट्र के सभी अंगों का गम्भीर अध्ययन संस्कार रूप से अनुभूति की तीव्रता के साथ है। 'नवीन' जी की राष्ट्रीय कविताओं में कहीं काल व्यक्तिक्रम नहीं है—उनमें समय और काल राष्ट्र पुरुष की आत्मा के साथ ध्वनित है। हिन्दी में 'नवीन' ही एक ऐसे हैं, जो क्रान्तिकारियों के भैया, गान्धी जी के अपने और कम्युनिस्टों के कामरेड हैं। इसीलिए समस्त आन्दोलनों का पूरा चित्र उनमें मिलता है। उनके "अनल गान" के अन्दर क्रान्तिकारियों का सुर बोल उठा है।

"कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ,
जिससे उथल-पुथल मच जाये।
एक हिलोर इधर से आए,
एक हिलोर उधर से आए,
प्राणों के लाले पड़े जाएँ,
त्राहि त्राहि रव नभ में छाए,
नाश और सत्यानाशों का—
धुआंधार जग में छा जाए,
बरसे आग, जलद जल जाएँ,
भस्मसात भूधर हो जाएँ,
पाप-पुण्य सदसद् भावों की
धूल उड़ उठे दाएँ बाएँ,
नभ का वक्षस्थल फट जाए—
तारकवृन्द विचल हो जाएँ;
कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ
जिससे उथल-पुथल मच जाए।

कविता लम्बी है। पर क्रान्तिकारी मनोवृत्ति का प्रतीक है। उसमें उस काल के नवयुवकों की मानसिक स्थिति का पूरा चित्र है। इसके बाद काकोरी-केस की पूर्ण समाप्ति पर कवि ने "पराजय-गीत" भी लिखा—

"आज खड्ग की धार कुण्ठिता
है, ख़ाली तूणीर हुआ,
विजय - पताका झुकी हुई है,
लक्ष्य-भ्रष्ट यह तीर हुआ।"

× × ×

"मैं हूँ विजित, जीत का प्यासा
विजित भूल जाऊँ कैसे ?"

× × ×

'जहां विजय के पिपासार्त हों—
गए आंख की ओट कहीं,"

× × ×

"वर्दी फटी, हृदय घायल, मुख पर
कालिख क्या वेश बना ?
आंखें सकुच रही, कायरता
के पंकिल से देश सना,"

"श्री असिधारण पथ-गामी" तथा महात्मा गान्धी जी की विचार-धारा पर 'नवीन' जी की कई कविताएँ हैं, जिनका संग्रह "कुंकुम" में नहीं है, इसलिए उन्हें मैं न दे सका। पर समय समय पर उनकी ऐसी कविताएँ मैंने पढ़ी हैं। "जूठे पत्तल" तथा और भी इसी तरह की कविताएँ उनकी साम्यवादी विचार-धारा के ज्ञान का परिचय देती हैं। इसके अलावा मानवता की ओर 'नवीन' जितना उन्मुख हिन्दी का कोई भी कवि नहीं है। 'नवीन' की कविता उसी जाति की है, जिस जाति की रवीन्द्रनाथ की कविताएँ हैं। पर दिन रात के राजनीतिक जीवन ने इस दिशा में उनके विकास को रोक दिया।

सन् १९२१ के आन्दोलन का हमारे इतिहास में एक क्रियात्मक आवृत्ति का महत्व है। इस आन्दोलन पर महायुद्ध और युद्धोत्तर कालीन यूरोपीय विचार-धारा का भी असर है। यह आन्दोलन एक हद तक चलकर बन्द होगया। पर देशी उद्योग धन्धों की वृद्धि और उसके रास्ते में विदेशी पूंजीवाद के रुकावटों का द्वन्द्व बढ़ता गया। इससे राजनीतिक चेतना बढ़ती गई। उधर खिलाफ़त के सिलसिले में बाहर जाकर फिर रूस होकर वापस आने वाले शौकत उस्मानी के साथ एक नया जीवन देश में आया। १९२४ में कानपुर कम्युनिस्ट केस चला; इसी समय श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर रूस गये और वहाँ के साम्यवादी जीवन की अनुभूति से देश को परिचित कराया; फिर पं० जवाहरलाल जी रूस गये। इस प्रकार रूस से एक क्रान्तिकारी चेतना देश में आई। इधर असेम्बली में देशी बनाम विदेशी उद्योग-धन्धों का द्वन्द्व हो रहा था—देशी पूंजीवाद क्रान्तिकारी रूप ले रहा था। दूसरी ओर भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलन और रूसी साम्यवादी विचार-धारा में विचारगत संघर्ष चला, जिससे १९२६ में भारतीय प्रजातन्त्र पार्टी बदल कर भारतीय समाजवादी प्रजातन्त्र पार्टी बनी। कम्युनिस्टों का प्रभाव और मजदूरों का आन्दोलन बढ़ा। १९२८ में मेरठ षड्यन्त्र केस चला। लेकिन क्रान्तिकारी चेतना नाना प्रकार से बढ़ती गई। उसे दबाने के लिए लाहौर में एक षड्यन्त्र केस चलाया गया। इस केस ने देश को एक उन्मादकारी बलिदानी की भावना से ओत प्रोत कर दिया। उस काल का चित्र "मोम दीपों का मरण त्योहार" नामक कविता में है, जिसकी अमिट स्मृति ही इन पंक्तियों के लेखक के मन में है। पर वह कविता अमर शहीद यतीन्द्र की कुर्बानी पर थी। इन सारी परिस्थितियों ने देश को एक आन्दोलन के सामने खड़ा कर दिया। फलतः १९३० का जन-आन्दोलन महात्मा गान्धी जी के नायकत्व में चला। इस आन्दोलन से विदेशी पूंजीवाद को ख़तरा बढ़ा और गान्धी-इरविन-पैक्ट हुआ। इससे जन-जीवन में अपनी शक्ति पर भरोसा बढ़ा। पर फिर १९३२ में धोखा हुआ। किन्तु संसार की परिस्थिति और देश का विकास इतना आगे बढ़ चुके थे कि विदेशी पूंजीवाद को समझौता करना पड़ा। इधर १९३४ में कांग्रेस के अन्दर सोशलिस्ट पार्टी का जन्म हुआ। इस सारे विकास का क्रम हमारे साहित्य में है; पर उसका पूरा अध्ययन बिना "नवीन" के पूर्ण संग्रह के सम्भव नहीं। मिलिन्द जी और पं० माखनलाल चतुर्वेदी जी में कभी कभी यह विकास-क्रम आया है। इसके अलावा छायावादी कविता के विश्लेषण से हमें उस काल का चित्र मिल सकता है।

इसके बाद हम कांग्रेस मिनिस्ट्री के काल में आ जाते हैं। इस काल में राष्ट्रीय काव्य साहित्य के इतिहास में सिर्फ एक ऐसा कवि हमारे सामने आता है, जिसके अन्दर राष्ट्र का पूरा चित्र है और वह है "दिनकर"।

सरकारी नौकरी की विडम्बनामय ज़ंजीरों की कटुता को हुंकार* करता हुआ—हिन्दी राष्ट्रीय कविता की वर्तमान कड़ी—"दिनकर" हमारे सामने आता है। 'दिनकर' के काव्य में पूर्ण स्पष्ट होता है कि भारत राष्ट्र किसी जाति या वर्ग विशेष का न होकर इतिहास द्वारा निर्मित विभिन्न जातियों तथा वर्गों का एक समुदाय है—जिसको भिन्न भिन्न

* 'बँधी है लेखनी लाचार हूँ मैं'—हुँकार

समयों में भिन्न भिन्न विजेताओं ने एक राजनीतिक सूत्र में बाँधा है, जिसके रहन सहन, रस्मरिवाज और मानसिक बनावटों में सूक्ष्म किन्तु गम्भीर समानता है। पर इतना कुछ अस्पष्टता के साथ, १९२५ तक के साहित्य में भी ज़ाहिर था। 'दिनकर' की देन इसमें है कि उसने सबका शोषण और उसका प्रतिकार एक सा और क्रान्तिकारी ढंग से दिखलाया है। "नई दिल्ली के प्रति" कविता में विदेशी पूंजीवाद के विरोध की चरम अभिव्यक्ति है। इस "कृषक मेघ की रानी" दिल्ली को लक्ष कर कवि ने वह सब कुछ कह दिया, जो विदेशी पूंजीवाद के विरुद्ध भारत-राष्ट्र कह सकता है। भारत की किसी भी भाषा में, भारत की किसी भी जाति या मज़हब या धर्म वालों के लिए एक सी भावना और अनुभूति प्रदान करने वाली यह कृति है। इस कविता की हर लाइन क़ीमती है; और ऐसी है कि उद्धृत करने में 'दिनकर' के ही शब्दों में "बँधी है लेखनी, लाचार हूँ मैं।"

"दिनकर" की इतिहास से सम्बन्धित लाइनों में सम्पूर्ण भारतीय चेतना है; उसके प्रतीक—जैसे हिमालय—सम्पूर्ण राष्ट्र की एक सी निधि है। और उस प्रतीक से भी वह कहता है—

"तू मौन त्याग, कर सिंहनाद
रे तपी! आज तप का न काल,
नवयुग-शंख-ध्वनि जाग रही
तू जाग, जाग मेरे विशाल!"

यही वह समय था जब हिन्दू-मुस्लिम विद्वेष की आग भड़काई गई—जगह-जगह दंगे कराये गये, राष्ट्र को टुकड़े-टुकड़े करने की वृत्ति को उकसाया गया। इसे कवि ने देखा और कहा—

"खूँ बहाया जा रहा इन्सान का,
सींग वाले जानवर के प्यार में!
क़ौम की तक़दीर फोड़ी जा रही
मस्जिदों की ईंट की दीवार में।
सूझता आगे न कोई पन्थ है
है घनी उलझन-घटा छाई हुई,
नौ जवानों! क़ौम के तुम हो कहां?
नाश की देखो घड़ी आई हुई।"

इस काल में विश्व पूंजीवाद के फलस्वरूप संसार आर्थिक संकट में ग़र्क़ था। संसार भर में कम्युनिस्ट पार्टी का जाल बिछ चुका था। पूंजीवाद अपनी रक्षा के लिए फ़ासिज़्म की शकल ले रहा था। स्पेन में मौजूदा जंग का श्री गणेश हो चुका था। अबीसीनिया का सर्वनाश हो चुका था। चीन में युद्ध की दावाग्नि बढ़ रही थी। पूँजीवाद के चंगुल में फँसे हिन्दुस्तान में साम्यवाद की लहरें आसमान को चूम रहीं थी। इसीलिये 'दिनकर' ने कहा:—

"आज कम्पित मूल क्यों संसार का?
अर्थ का दानव भयाकुल मौन है;
झोपड़ी हँस चौकती वह आ रहा
साम्य की बंशी बजाता कौन है?
कौन तू, बोले विधायक! कौन है?
हिल रहा भू का हृदय पद-चाप से;
दीनता का रक्त जो पी पी बढ़े—
आज पल पल कांपते वे पाप से।"

'दिनकर' के "हुंकार" में इस महायुद्ध के पूर्व की स्थिति का ख़ासा चित्र है। उस समय क्रान्ति की ज्वाला चारों ओर थी; पर उसे रोकने की ज़बर्दस्त कोशिशें हो रहीं थीं और उसी के फलस्वरूप यह युद्ध आया; उसका चित्र भी दिनकर के काव्य में है। पर क्रान्ति के विधान के रहते हुए भी दिनकर की क्रान्ति "विपथगा" है। क्रान्ति की विफलता का कारण बहुत कुछ श्रेणी-संयोग होता है और श्रेणी-संयोग के विरोधी तत्वों के कारण ही "दिनकर" की क्रान्ति 'विपथगा' है। इस क्रान्ति के विपथगा होने का दार्शनिक आधार मिलता है 'दिनकर' के "परिचय" (हुंकार) में—जिसमें शंकर का दर्शन बोल रहा है। पर यह दोष 'दिनकर' में ही नहीं है। आज हमारे साहित्य का विकास यहीं आकर रुका है। बौद्धिक रूप में पन्त जी साफ़ हैं, पर काव्य की और शर्तों को पूरा करने में पिछड़े हैं। नरेन्द्र कुछ

समझते; पर 'प्रेम' (जिसका जन्म ही व्यक्तिवादी दर्शन से है) ने उन्हें रोक लिया है।

इस सब को हम प्रगति भले ही न कहें पर प्रतिक्रिया भी नहीं कह सकते; क्योंकि हमारा समाज इस समय इसी जगह है; फिर साहित्य उससे आगे कहाँ जायगा!

दो गीत

श्री प्रभाकर माचवे

उड़ चलें आज, सभी पाखी,

इस अनन्त का अन्त नापने, इस अथाह की पाने थाह,
नहीं हमें परवाह मिलेगी धूप प्रखर या छाँह,
—कि जब तक डैनों में दम बाक़ी।

'क्या है, क्या है' अगम शून्य से उठती गहिर गुहार,
इधर जगत्कान्तार टेरता मुझको बारम्बार,
खींचती प्राणों को इस ओर
घाटियाँ मोहन माया की,
उधर गिरि-शृङ्ग बुलाते घोर
खड़े जो युग से एकाकी।

किन्तु रे अन्त हुआ दिनमान,
क्षितिज पर उतरा रवि-रथ आन,
निशाने नभ के नीलम पर सितारों की चादर ढाँकी।
उन्हीं नक्षत्रों के उस पार,
दीखता हमको अपना प्यार।
अरे मंज़िल है उतनी दूर, दूर है अभी एक झाँकी।
उड़ चलें आज सभी पाखी!

× × ×

राही, क्या भला अंजाम, तेरे सफ़र का अंजाम?
केवल सफ़र या विश्राम?

राही को कहाँ पर गेह? घर-घर मिल रहा सन्देह।
राही चल रहा बेलाग, चाहे धूप हो या मेंह।
राही का न कोई धाम,
उसका धाम बस निज काम!

चलते जा रहा ज्यों दूत, ले सन्देश गोपन, पूत,
राही जा रहा ज्यों आग, क्या भावी कि सम्प्रति, भूत?
राही को अगति से काम?
उसका काम्य है निष्काम…

ज्ञानी से गया वह ऊब, औ अज्ञानियों में डूब,
चाहे जेठ हो या माघ, चाहे शूल हो या दूब,
राही का न कोई ग्राम,
उसका ग्राम बस संग्राम?
राही क्या तुम्हारा नाम? राही जा रहा गुमनाम…

गोस्वामी जी की विचार-धारा

श्री भगीरथप्रसाद दीक्षित, साहित्यरत्न

गोस्वामी तुलसीदास जी का उत्तरी भारत में एक प्रमुख स्थान बन गया है। उसी प्रकार उनके प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा और सम्मान का भाव भी अत्यधिक मात्रा में पाया जाता है। इसीलिये उनकी रचनाओं को लोग बड़े प्रेम से धर्म ग्रन्थ मान कर पाठ करते हैं। यहां तक कि गांवों की झोपड़ियों तक में लोग रामायण की कथा कहते तथा मार्मिक स्थलों पर गद्-गद् हृदय हो अश्रु परिप्लुत नेत्रों से जल-कण-मोचन करते हुए देखे जाते हैं। इसका प्रधान कारण गोस्वामी जी की कवित्व शक्ति, रचना की मधुरता और भाषा की सरलता के साथ राम का चरित्र चित्रण ही मानना युक्तियुक्त है। केवल राम नाम कहने मात्र से ही मोक्ष दिलाने वाले गोस्वामी जी ने हिन्दू-समाज पर कुछ ऐसा जादू चलाया कि सारा समाज ही उस प्रवाह में बह गया। किसी ने यह विचार तक नहीं किया कि इस कथामृत के साथ कुछ विष भी घुला हुआ है, जिससे देश की परम्परा को ऐसी गहरी हानि हुई कि इसने सैकड़ों वर्षीय साधना को ही मटिया मेट कर दिया तथा सहस्रों साधकों व सन्तों की तपस्या को मिट्टी में मिला दिया।

प्रत्येक कवि अथवा लेखक की रचना पर अपने समय का अवश्य प्रभाव पड़ता है। गोस्वामी जी भी इसके अपवाद नहीं हैं। उनके प्रादुर्भाव-काल में देश की परिस्थिति क्या थी? एक सरसरी निगाह डालिये तो आपको विदित होगा कि उस समय अकबर बादशाह भारत के सम्राट थे; पूरे उत्तरी भारत में उनका साम्राज्य फैला हुआ था। उनके प्रधान सेनापति महाराजा मानसिंह थे, राजस्व-सचिव राजा टोडर मल तथा गृह सचिव राजा बीरबल थे। सेना में मुसलमानों की अपेक्षा हिन्दुओं की ही संख्या अधिक थी। हिन्दू-मुसलमानों के मेल के अनेक साधन काम में लाये जा रहे थे। दोनों जातियों में खान-पान तथा विवाह-सम्बन्ध की शृङ्खलायें भी जोड़ी जा रही थीं। न्याय में कभी किसी प्रकार का का पक्षपात न होता था। इसीलिये देश में 'दिल्ली-श्वरोवा जगदीश्वरोवा' की उच्च ध्वनि गुंजायमान हो रही थी। बीरबल इसी सद्योग के उद्देश से ब्राह्मणों का संगठन कर रहे थे।

अब्दुल रहीम खानखाना जैसे प्रबल हिन्दू धर्म पक्षपाती कवि, मन्त्री और सूबेदार अकबरी दरबार

की शोभा बढ़ा रहे थे। अबुल फजल जैसे विद्वान् एवं उदार व्यक्ति अल्लोपनिषद आदि उत्कृष्ट ग्रंथों की रचना कर 'दीन इलाही' धर्म का ढांचा बना रहे थे जिसके सारे सिद्धान्त हिन्दू धर्म से ही लिये गये थे।

गुरू गोरखनाथ तो दसवीं शताब्दी से ही हिन्दू मुसलमान मेल की तान लगा रहे थे, उनका एक शिष्य ही 'हाजी' मुसलमान था। अकबर के समय का सुयोग पाकर उनके शिष्यों ने इस कार्य के और भी वेग से बढ़ा रक्खा था। कबीर और दादू के अनुयायियों ने भी निर्गुण संत धारा का आश्रय लेकर इसमें पूरा सहयोग दिया। सूफी सम्प्रदाय की प्रेम-धारा भी हिन्दू-मुसलमानों में प्रेम का संचार करती हुई मेल की कड़ियों के जोड़ने में लगी थी। वल्लभ-सम्प्रदाय और उनके कवि महात्मा सूरदास जी ने भी जाति-पाँति के संकुचित बन्धन ढीले कर वैष्णवों में उदार भावनाओं का बीजारोपण कर दिया था जिसके फलस्वरूप रसखान और बेगम ताज जैसे परम भागवत मुसलमान भक्तों के भी अपनी ओर आकर्षित कर लिया था। सारे भारतवर्ष में यही भावना काम कर रही थी। ऐसे ही समय में गोस्वामी तुलसीदास जी का प्रादुर्भाव हुआ। इन्होंने आँख खोल कर चारों ओर देखा तो इन्हें ज्ञात हुआ कि खान-पान तथा वैवाहिक प्रणाली के कारण हिन्दू समाज का ढाँचा ही बदल रहा है। वर्णाश्रम धर्म का जो विकृत स्वरूप इधर ३००—४०० वर्ष के हिन्दू-मुसलिम संघर्ष से बन गया था उसमें बादशाही नीति के कारण अन्तर आता जा रहा है। उन्होंने इस मेल के कलियुग की महिमा मानकर उसकी भर्त्सना की। और अपनी प्रत्येक रचना में इस कलियुग के ही सम्पूर्ण दोषों की खानि बतलाया। यही नहीं तत्कालीन बादशाह एवं मुसलमानों के उसकी प्रत्यक्ष प्रतिमा समझा। इसीलिये गोस्वामी जी द्वारा इन यवनों से बचने के लिए भगवान रामचन्द्र के लिए एक प्रार्थना-पत्र तैयार किया गया जो कि विनय-पत्रिका के रूप में पुस्तकाकार हमारे सामने प्रस्तुत है।

आइये पाठक गण, अब हम देखें कि उक्त कथन की पुष्टि गोस्वामी जी के ग्रन्थों से कहाँ तक होती है। सब से प्रथम कवितावली के इस कवित्त के लीजिये—

"बरन धरम गयो आश्रम निवास तज्यो,
त्रासन चकित सो परावनो परो सो है।
करम उपासना कुवासना विनासो ज्ञान,
बचन विराग वेष जगत हरो सो है॥
गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग,
निगम नियोग ते सो केलि ही छरो सो है,
काम मन बचन सुभाय तुलसी है जाहि,
राम नाम को भरोसो ताहि को भरो सो है।"

(कवितावली उत्तर कांड छन्द ८४)

इस कवित्त से स्पष्ट हो जाता है कि गोस्वामी जी वर्ण और आश्रम धर्म की संकुचित भावना में क्षीणता देख कर कैसे घबड़ा गये हैं। उन्हें हिन्दुओं द्वारा इस वर्णाश्रम के परित्याग पर कैसा पश्चाताप हो रहा है। गोरख के योग मार्गीय ज्ञान से भयभीत होकर आप कहते हैं कि इस ज्ञान ने तो कर्मकांड और सन्ध्यादि उपासना के भी गर्हित बना दिया है, गोरख पन्थी साधुओं के ज्ञान से परिपूर्ण वचन, त्याग औ साधु वेष ने सारे संसार के ही अपनी ओर आकर्षित कर लिया है। गोरखनाथ ने ऐसा योग-मार्ग चेता दिया है कि सब लोगों ने भक्ति-भावना का ही परित्याग कर दिया है। फिर गोरखनाथ के वेदानुकूल योग मार्ग के मिथ्याडंबरपूर्ण कहकर उनके द्वारा बताये वेद के आश्रय रूप को प्रपंच व छल कपट का खेल बतलाया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि गोरखपंथियों का ज्ञानयोग एवं वर्णाश्रम का सुधार गोस्वामी जी को कितना अखरा है—यद्यपि गोस्वामी जी की वर्णाश्रम-व्यवस्था की अपेक्षा गोरखपंथियों का ज्ञानयोग और जाति पाँति का खुला व्यवहार कहीं अधिक वेदानुकूल था। कर्म-काण्ड की क्रियाओं से तो वे नितान्त कोरे थे। ऐसी दशा में अपने पाण्डित्य का भारी धक्का भक्ति-

ज्ञान का पोषक बतलाकर व योग की क्रियाओं को अवैदिक ठहरा कर ही वे अपने विचारों की पुष्टि कर सकते थे। वास्तव में देखा जाय तो गोस्वामी जी की रचनाओं में शतांश भी वैदिक भावना नहीं है। हाँ, वेद का ढोल पीटने में शायद ही कोई उनसे बाजी ले गया हो। गोरखनाथ ने हिन्दू मुसलमान दोनों को ही अपना शिष्य बनाया था। और अपने योगज्ञान-मार्ग का सबके लिये एक सा वितरण कर रखा था। गोस्वामी जी को इसमें अनीति दिखलायी दी इसीलिए खूब दिल खोलकर उसकी निन्दा कर डाली। प्रत्येक सुधारमय कार्य की उन्होंने भली भांति भर्त्सना की, वर्णव्यवस्था की तत्कालीन कठोरता को वे उसी रूप में देखने के अभिलाषी थे जिस दशा में उस समय चल रही थी। और इसका सारा दोष उन्होंने कलियुग के बहाने मुसलमानों के ऊपर थोप दिया था। गोस्वामी जी की सब रचनाओं में से विनयपत्रिका में ही कलियुग का स्वरूप अधिक स्पष्ट और विस्तार से कहा गया है। उसका क्या रूप है इसके भी कुछ नमूने देखिये—गोस्वामी जी कलियुग के दुखों से त्रस्त होकर कहते हैं—

> "दास तुलसी खेद खिन्न आपन्न इहि
> सोक सम्पन्न अतिसय सभीतं।
> प्रनतपालक राम परम करुनाधाम
> पाहिमामुर्विपति दुर्विनीत॥"
>
> (विनय पत्रिका पद ५१)

तुलसीदास जी क्यों खेदखिन्न आपद्ग्रस्त सांसारिक शोक में डूबे हुए अतिशय सभीत हो रहे हैं! केवल इसीलिये कि 'उर्विपति' (बादशाह) शरारती है उसी के कारण मैं के रूप में सारा समाज ही अत्यन्त कष्ट में ग्रसित हो रहा है। अकबर ने किसी साधू महात्मा को कभी कष्ट नहीं दिया था, वह तो उनका परम भक्त था और खूब आदर करता था। अतः उसकी विचार-धारा और कार्यप्रणाली के कारण ही उसे समाज-संशोधन के लिये धृष्ट बतलाया है। अकबर के संकेत करने पर ही महाराजा मानसिंह व जगतसिंह गोस्वामी जी से मिले थे परन्तु उनकी विचार-धारा में सामाजिक सुधार के लिये कुछ भी अन्तर न देखकर अकबर बादशाह ने उनसे मिलना व्यर्थ समझा। ऐसी दशा में गोस्वामी जी का उन्हें दुर्विनीत कहना स्वाभाविक ही है। इसी प्रकार का एक उदाहरण और लीजिये—

> "वेद पुराण विहाइ सुपन्थ कुमारग
> कोटि कुचाल चली है।
> काल कराल नृपाल कृपाल न
> राज समाज बड़ोई छली है।"

इस पद में बादशाह को निर्दयी और भयंकर कलियुगरूप में बतलाया गया है, साथ ही पूरे राज-समाज अर्थात् सरदारों को भी अत्यन्त छली कहा है। इससे भी यही स्पष्ट हो जाता है कि गोस्वामी जी का कलियुग और कोई नहीं बादशाह और उनकी परिषदें ही हैं जिसमें हिन्दू-मुसलमान दोनों ही थे। ये सब मिलकर वर्णाश्रम की संकुचित प्रणाली को वैदिक आधार पर विस्तृत करना चाहते थे—जैसा कि पूर्व काल में शक, हूण, कुशान, यूनानी आदि को मिलाने के लिये भारतीय आयोजन हो चुका था।

गोस्वामी जी ने केवल दो एक स्थलों पर कुछ उदारता अवश्य दिखलाई है। वह भी राम नाम की महत्ता दिखलाते हुए। सामाजिक कार्यों में उनकी कट्टरता सदैव अक्षुण्ण बनी रही। उसमें वे तिल भर भी न झुकना चाहते थे। इसका प्रत्यक्ष फल यह हुआ कि—

> श्वपच सबर खस यवन जड़ पांवर कोल किरात।
> राम कहत पावन परम होत भुवन विख्यात॥

इस दोहे में मुसलमान भक्तों के लिये जो द्वार उन्मुक्त किया गया था उससे कभी किसी मुसलमान को उसमें प्रवेश करने का साहस न हुआ। और कोई आने भी क्यों लगा जबकि सामाजिक द्वार उनके लिये नितान्त अवरुद्ध कर दिया गया था तथा उस द्वार को गोस्वामी जी किसी भी प्रकार से मुक्त करने को तैयार नहीं थे!

इसके पश्चात् विनय पत्रिका से एक उदाहरण और उपस्थित करना चाहता हूं। गोस्वामी जी कहते हैं—

"काल-कलिजनित मल मलिन मन सर्व नर मोह निसि निविड़ यमनांधकारं।"

(विनय पत्रिका पद ५२)

इस पंक्ति में यवनों के अन्धकार (मुसलमानों के अत्याचार, अज्ञानतादि) ने मोह रूपी महा अंधेरी रात्रि में सब मनुष्यों के मन कलियुग के प्रभाव से उत्पन्न पापों के कारण घृणित एवं गर्हणीय बना दिये हैं।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि गोस्वामी जी का कलियुग और कोई नहीं तत्कालीन मुसलमानी भावना ही थी जो कि उनके विचार से हिन्दू समाज को ही ग्रसित करना चाहती थी। ऊपर के उदाहरणों से यह बात प्रत्यक्ष हो जाती है कि गोस्वामी जी का प्रधान लक्ष्य हिन्दू-मुसलमान के मेल पर कठोर आघात करना था। उसमें वे पूर्णतया सफल हुए जिसके प्रभाव से सैकड़ों वर्षों तक संचित की हुई सहयोग की स्थापना को एक ऐसा गहरा धक्का लगा कि वह सदैव के लिये लुप्त हो गई। उसी का यह परिणाम हुआ कि कलुषता एवं विभिन्नता बढ़ते बढ़ते उसकी प्रतिक्रिया का स्वरूप औरङ्गज़ेब के रूप में अवतरित हुआ। नहीं तो किसी न किसी दिन दोनों समाज एक ही संस्कृति के ढाँचे में अवश्य आ जाते। उस समय दोनों संस्कृतियों के मिश्रण से जो स्वरूप व्यक्त होता वह वर्तमान काल के दोनों रूपों से कहीं अधिक भव्य एवं आकर्षक होता। यहां पर यह कह देना भी उचित प्रतीत होता है कि वर्तमान हिन्दू समाज की यूनानी, शक, कुशान, हूण व अनार्यों आदि के सम्मिश्रण से जो सभ्यता बनी है उसमें वैदिक भावना बहुत थोड़ी रह गई है। उक्त समाजों की अनेकों अनार्यत्वपूर्ण क्रियाएँ हमारे समाज में घुस गई हैं जिन्हें छांटना असम्भव नहीं तो कष्टसाध्य अवश्य है।

वर्तमान हिन्दू समाज ने जाति पांति का जो विकृत, विशृंखलित तथा संकुचित स्वरूप धारण कर लिया है वही समाज का पाप है। जब तक हिन्दू-समाज यह पाप ढोता रहेगा तब तक उसमे कल्याण की आशा करना आकाश कुसुम के समान ही है।

इसमें सन्देह नहीं कि गोस्वामी तुलसीदास द्वारा हिन्दू-समाज का हित भी बहुत हुआ है। गार्हस्थ जीवन के पारस्परिक प्रेम को इन्होंने सुदृढ़ कर दिया। भाई-भाई, माता-पिता-पुत्र, पति-पत्नी, राजा-प्रजा, गुरु-शिष्य के सम्बन्धों को अच्छी तरह पुष्ट किया। शैव-वैष्णवों की पारस्परिक कलह को भी बहुत दबा दिया। राम-भक्ति द्वारा समाज को एक सूत्र में बाँधने का भी सदुद्योग किया। परन्तु स्त्री-शूद्रों के प्रति जो भाव आपने व्यक्त किये हैं वे अवश्य चिन्तनीय हैं। उस पर मुसलमानों के प्रति जो आपकी विद्वेषाग्नि फूट पड़ी है वह तो नितान्त निन्दनीय एवं गर्हणीय है।

इस लेख को समाप्त करते हुए गोस्वामी तुलसीदास जी के भक्तों से एक प्रार्थना यह करना चाहता हूँ कि वे रामचरित्र मानस तथा गोस्वामी जी के दूसरे ग्रन्थों को पढ़ते समय मस्तिष्क, हृदय और बाहरी-भीतरी चारों नेत्र खोलकर विवेचनात्मक प्रणाली से पढ़ने का प्रयत्न करें तो उन्हें उनके गुण दोषों का ठीक ठीक आभास मिल सकेगा। परमात्मा हिन्दू-मुसलमान दोनों को सुबुद्धि दे कि वे अपने कर्तव्य-पालन में समर्थ हो सकें।

बसेरा

श्री अम्बिकाप्रसाद वर्मा दिव्य, एम० ए०

मिला न मुझको कहीं बसेरा।

अभ्रकंश प्रासाद बनाये,
फूलों की शुचि सेज बिछाई,
लेटा जग से नयन बन्द कर,
तब भी निर्दय नींद न आई।

आई भी यदि घड़ी एक को,
आ नश्वर सपनों ने घेरा।

सपनों में भी लगा देखने
फिर से अपना ही जग निर्मम,
करने लगा और ही सक्रिय
अपना यही तुमुल फिर अभिनय।

अभिनय में भी तरल सजल फिर
दुख सुख ने आ डाला डेरा।

सुख में भी ये लगीं न आँखें
दुख में लगती ही क्यों निर्मम ?
परे अखिल सुख दुख के धूमिल
मिली न मुझको दुनिया अनुपम।

दिन का देखा नव प्रकाश भी,
रजनी का भी घोर अँधेरा।

दिन में देखा अपने को ही,
रजनी में अपनी ही छाया,
परे आपके किसी काल में
कुछ भी आगे सोच न पाया।

कितने ही शुचि चित्र बनाये
बन कवि गायक और चितेरा।

चित्रों में खींची रेखायें,
मन का अपने नीड़ बनाया,
पर उड़ कर भावों पर अपने
कभी नीड़ में बैठ न पाया।
निविड़ नीड़ को ही भावों से
कौंच कौंच कर सदा बिखेरा।

की न कल्पना कौन अलौकिक,
गई न पर अपनी यह हस्ती,
नभ के ऊपर भी तारों में
देखी अपनी ही यह बस्ती।
सोते और जागते जग का,
अब समझा, स्वामी मन मेरा।

अनाम स्वामी

श्री जैनेन्द्रकुमार

[अब आगे व्यक्ति और देश, भाग्य, कर्मफल और अहिंसा इन सब पर और भी रुचिकर विवेचन है।]

आज तो भी समय मिल गया। आगे शायद न मिले। देश में लहर आई है।...सुनता हूँ दासता के बन्धन टूटेंगे। दासता असल में क्या है? आत्म-विकास पर बाधा हो आये, वही दासता बन्धन रूप है। यों सेवक होना तो बुरी बात नहीं। ईश्वर के हम दास हैं, ऐसा शब्द-प्रयोग महात्माओं की वाणी में मिलता है। अपने को प्रभु का दास मान कर व्यक्ति उन्नत होता है। सेवा तो हक़ है। बल्कि वही हक़ है। इसलिए दासता की ज़ंजीर तोड़ने का जो कोलाहल गूंज उठा है, वह क्या है? उसके भीतर मिथ्या कितनी और सत्य कितना है? स्वातन्त्र्य की पुकार में चाह का भाव अधिक है कि कर्तव्य का? चाह बुरी है। वह है, तृष्णा। उस आधार पर स्वतन्त्र बने देश दूसरे को परतन्त्र बनायेंगे। वह देश की स्वतन्त्रता नहीं होती, मुट्ठी भर की अहं-तन्त्रता होती है। वैसी चाह स्वातन्त्र्य के अधिकार का प्रमाण है। प्रकृत अधिकार कर्तव्यपालन का फल है। इससे स्वतन्त्रता के शोर के पीछे व्यक्ति की आत्म-तन्त्रता की साधना कितनी है, यही देखने की बात है। कर्तव्य की पूर्ति के साथ अधिकार का आना रुक ही नहीं सकता। उससे पहिले अधिकार मिलता है तो नशा करता है। नियंता स्वयं नियमाधीन है। अनियमित कुछ होता नहीं। प्रकृत अधिकार के अर्जन के द्वार से ही वैधानिक अधिकार पाने का रास्ता खुलना चाहिए।

राजनीतिक अधिकार का माप नागरिक का दायित्व भाव है। औसत नागरिक की नैतिक भूमिका के अनु-कूल ही शासन-विधान की ऊँचाई हो। नागरिक प्रमत्त रहा तो जनतन्त्र काम न देगा। नागरिक को ज़िम्मेदार बनाया जायगा तो विधान का अति केन्द्रीकरण बिखरता जायगा। इससे शासन-विधान को लेकर राजनीतिक विवाद की धूम रखना समय-यापन का ही एक उपाय

है। वह अवकाशप्राप्त लोगों का विलास भी है। बुद्धि-विलास को भोग-विलास से इसलिए और भी खराब समझा जाना चाहिए कि बुद्धि विलास सहसा समर्थनीय समझ लिया जाता है। 'आइडियोलोजी' बहुत सुनता हूँ। मुझे माफ़ किया जाय, बात की परख बर्ताव में है। विधान की कसौटी औसत जन है। राजकारण की इकाई है नागरिक। हर एक में आत्म-भाव पैदा हो रहा है। अब आंकड़े और लेखे में नहीं, आदमी अपने में आदमी है। ऐसी हालत में शासन की हुकूमत कम और व्यवस्था अधिक होना होगा। तलवार की जगह कलम तभी आई है। लेकिन सिर्फ़ कलम से क्या होगा? वह तलवार का काम भी कर सकती है। काम तलवार का, नाम नीति का। इस तरह तो कलम के साथ आडम्बर और कूटता आती है। पहले ज़ोर चलता था, अब चतुराई। चतुराई में ज़ोर छुल रहा है। इससे कलम काफ़ी नहीं है। आज की कलम-सत्ता पीछे तलवार के ज़ोर का बन्दोबस्त करके चलती है। इसी का फल लड़ाई है। लड़ाई भी साफ़ नहीं, मैली लड़ाई। इससे आदमी शरीर से मरते ही नहीं, बुद्धि से भी बिगड़ते हैं।

मुझे लहर में लुब्ध नहीं होना। अब तो हो भी नहीं सकता। अदालत पर बैठ कर मुझे उन लहरों को इतना खखोलना पड़ा है कि हाथ कीच आई है। जिन्दगी भी अजब धन्धा है। जजी छोड़ी और 'सर' का खिताब छोड़ा तो 'हितैषी' हाथों हाथ मुझे उबारने आये। मालूम हुआ कि इच्छा करने की देर है और मैं बना बनाया लोक-नेता हूं। मेरे त्याग-पत्र को कई अख़बारों ने इसी अर्थ में लिया। ख़बरों को मानने वाले अख़बार आत्मा को कैसे मानलें? वे तो यही मानने लायक़ हैं कि मौका ही यहाँ सब कुछ है। मुझे कई देश-नेता मिले। उन्होंने अपने अपने दलों के आमन्त्रणों से मुझे कृतज्ञ किया। पर मैं इधर अपनी लोक-बुद्धि की तत्परता चुका बैठा था। उनकी बातें समझ में नहीं आयीं। जिन्दगी भर देश-विदेश के शासन-विधान और न्याय-विधान में से अपना रास्ता खोजता और बीनता रहा हूँ। शब्द की बारीकियों में मुझे उतरना पड़ा है। लेकिन इमारत के कमरों के साज-सामान की खूबियों के बल पर मैं उस इमारत की नींव की गहराई और सचाई को कैसे जान पाता? अब लगता है वह सब जैसे माया-महल था। मायापुरी में क्या कुछ न हो। वहां अथाह गहनता थी, अनंत वैचित्र्य। पर जब मैं देख सका, पाया कि भूले हुओं को भरमाने को वहां तो माया ही दरबार बिछाये राज करती है। तब उस पुरी का साज़बाज ही मेरे लिये फरेब हो गया। लोग आये तो जानते थे कि मेरा त्यागपत्र तैयारी है। लौटे तो भी मानते गये कि ज़रूर मेरा कोई गहरा दाँव है। मैं उनकी बातों पर गुम रहा तो उन्होंने मुझे राजनीतिज्ञता का श्रेय दिया। उनसे मुझे अन्तर्राष्ट्रीय और अन्तर्देशीय राजकीय परिस्थिति के ब्यौरे मिले और विदित हुआ मेरे लिए सेवा की और कीर्ति का अवसर है। मैंने उनका आभार माना। कहा, सोचूंगा। पर क्या सोचता? उस रास्ते चलने लायक मुझमें स्पर्द्धा न रह गई थी। आत्मा को खोकर जगत को पाने के लिए अब मुझसे आगे न बढ़ा जायगा। देश के स्वशासन के लिए मुझे अपने को शासन में लाना होगा। मेरा आत्मानुशासन स्वराज्य को निकट लायगा। किसका उद्धार करने चलूं? चित्त में जो एक भ्रान्ति मची है, उसको तो पहिले शान्त करलूं। औरों के प्रति अपने सहानुभूति के तंतुओं को सुखाता हुआ व्यक्तिगत उन्नति के रास्ते पर लपकता आगे से आगे निकलता चला जाऊँ तो ऐसे अन्त में सचमुच क्या पालूंगा? कौन जाने कि अन्त में इस भाँति पश्चाताप ही और तीव्र होकर न डसने लगेगा। कौन जाने कि तब सब कुछ अप्रतिशोध्य हो जाय और हाथ मलना ही हाथ रहे। संभलने का अवसर ही न आये और मौत मुंह बाये निगलने को आ चढ़े। नहीं, मैं राजनीति की लहरों पर चढ़कर ऊपर खेलने की हिम्मत नहीं भर सका। आज मैं इससे अप्रसन्न नहीं हूँ।

पर अपने इन अनाम पर मैं विस्मित हूं। देश के राजकरण को मन्त्र उनसे मिलता है। दिशा उनसे मिलती है। पर उसका लवलेश भी उन्हें नहीं छूता।

उन्हें तो राजकारण की अपेक्षा नहीं, वही उनके आगे भिखारी है। देश में लहर आई है, क्योंकि इस आदमी के मन में सलवट आई है। लोग बहुत आ जा रहे हैं। कोने कोने से कार्यकर्ताओं का तांता लगा है। क्या हो ? क्या होगा ? संघर्ष, या समझौता ? संघर्ष के लिए क्या परिस्थिति अनुकूल है ? क्या मदमत्त से समझौता किया जा सकता है ? सागर लहरें उफन रहा है। फेन में कुछ सूझता नहीं। समूचा राष्ट्र प्रतीक्षा में है। गरम लहू के लोग और अखबार कह रहे हैं कि दुश्मन से बातचीत कैसी ? उससे पत्र व्यवहार भी असह्य है। वह समझौते की मनोवृत्ति है। समझौता कायरता है। गुलामी और आज़ादी में समझौता ? इससे समझौते की गुन्जाइश रखना देश से द्रोह है।···और नरम कहते हैं कि संघर्ष में हत्या है। दमन को बुलावा देना, दोनों ओर आदमी के भीतर की नृशंसता को न्यौतना है। मार्ग वैधानिक ही हो सकता है। क़ानून की अवज्ञा उछ्ंखलता उपजायेगी। उन्नति नियमितता में से होगी। अवज्ञा सविनय कभी रहती नहीं। इससे अवज्ञा-आन्दोलन अनिष्ट है।···सो क्या होगा ? सब कहीं यही सवाल है। क्या होगा ?

और आश्रम में आज कल कुछ अतिरिक्त व्यस्तता है। वह घिरे ही रहते हैं। पता चला, कि उन्होंने कहा कि भविष्य ईश्वर के हाथ है। इसी पर क़यास बांधे जा रहे हैं। फिर कहा—सुनते हैं—समझौता हो कि संघर्ष, वह जो हो, हम जो कर रहे हैं उसमें फ़र्क़ नहीं आना चाहिये।

पर फ़र्क़ तो आ रहा है। ख़बर की तरफ़ आँख और काम की तरफ़ पीठ हो गई है। दीन देशभाई सरकार के स्टेटमेन्ट की ओट में पड़ गया है। लोग विवाद में गरम हैं और हाथ का कर्तव्य उन्हें ठण्डा लग आया है। चर्खे वाले चर्खा छोड़ चर्चा में रस पा रहे हैं। रचनात्मक आखिर राजनीतिक प्रयोजन से ही तो उन्हें सह्य है। इससे राजनीतिक प्रयोजन की बातों में वे दत्तचित्त हैं।

ऐसे में मुझे अपने उन निरीह साधु पर दया आती है। वह थोड़ा बोलते और मौन रहते हैं। पर कोलाहल उसी को लेकर व्यस्त है। राजकारण का मानव पक्ष ही तो उन्हें सब कुछ है। पर वही लोगों को अप्रस्तुत रहता है। प्राण से और सत्व से विमुख होकर उसके मुखर पक्ष पर ही सब जुटे हैं। यहां तक कि आश्रमवासी भी उस चक्कर में हैं।

सुना, ख़ून का दबाव उन्हें बढ़ आता है। पर संदेशे अनगिनत हैं और अनगिनत आने वाले हैं। सब एकदम ज़रूरी हैं। इससे फ़ुरसत पर ही ख़ून के दबाव की सुनी जायगी। और फ़ुर्सत···

आज मैं आया तो, पर ख़्याल हुआ कि मैं सीधा ही लौट चलूं। उद्यत भी हुआ। लेकिन तभी किसी ने आकर टोका कि अनाम स्वामी बुलाते हैं।

एक विशिष्ट मंडली उन्हें घेरे बैठी थी। मेरे आने पर वे चुप थे। स्वामी हँस कर बोले "तुम अपना समय टालने वाले नहीं हो ! यही मुझे यम से डर रहता है। देखो मेरा हाल। ये सब दावेदार बैठे हैं। आगे का ठिकाना नहीं। समझने तो हो ही कि मैं अपना नहीं हूं। इससे इस वक़्त के लिए माफ़ कर ही दोगे।

मैंने कहा, "मेरी आप चिन्ता न करें।"

बोले, "कुल अपनी चिन्ता लेकर तुम कब बैठने वाले हो। ऊपर से मेरी भी फ़िकर लेने यहाँ तुम आया ही करोगे। कौन जाने कि इस आश्रम की कुछ फ़िकर तुम्हारे ऊपर डालने का ही मौक़ा न आ जायगा। देखो ये लोग शायद मदद दें कि जेल में मैं आराम पाऊँ। पर तुम क्यों छुट्टी ले बैठे, कहीं तुम जज होते तो मेरी ज़रूरत देखकर खासी लम्बी सज़ा की मुहलत मुझे दे सकते, क्यों ?"

मैं वहां अधिक नहीं ठहरा। पर वह निर्दय है। कच्ची जगह उनसे नहीं दिपती और उसे उघाड़ ही देते हैं। मेरा मन आश्वस्त नहीं है।

—९—

ये सात दिन कैसी चिन्ता में बीते। अब आया बादल बिखर गया है। विधाता की कृपा जानो।

नहीं तो जाने क्या होता! देश में हाहाकार ही मच रहता। चलो, दोनों ओर सुमति आयी और ख़ैर हुई। यह अभी के रेडियो की ख़बर है। कल शायद वह अपने आश्रम आ पहुँचेंगे। पर इस सप्ताह मैं वहाँ नहीं जा रहा हूँ। आगे देखूंगा।

एक प्रश्न है: समूचे के समूचे एक महाराष्ट्र के भाग्य का विधायक एक व्यक्ति कैसे बन जाता है! भविष्य मानों उसकी मुट्ठी में आ बँधा हो। उसके भीतर संकल्प की एक हिलोर बाहर जाने क्या प्लावन ला दे! व्यक्ति की शक्ति क्यों और कहाँ से! इसका जवाब खोजना होगा।

शब्द है, भाग्य। भाग्य की लीला। एक क्षुद्र है, दूसरा विराट। अपना अपना भाग्य। पर नहीं, भाग्य शब्द बुद्धि के छोर से पहिले नहीं आना चाहिए। वह समझने से छुटकारा देता है, समझने में मदद नहीं देता। विधाता के विधान को भाग्य कहकर हम सहारते हैं। विधाता का हो, पर है सब विधान। उसमें नियम है। इससे भाग्य को अपने से ऊँचे, परे रखकर चलना होगा।

दूसरा शब्द है, कर्मफल। भाग्य को बुद्धि द्वारा पाया तो हमने कहा, कर्मफल। वह बौद्धिक संज्ञा है। पर उसमें सदा एक अमुक व्यक्ति की अपेक्षा है। वस्तु को व्यक्ति की अपेक्षा में देखने से मेरा काम नहीं चलेगा।

तब!......न्यूटन ने तत्व शोधा, गुरुत्वाकर्षण। वस्तु के हलके-भारी होने में सिद्धान्त वह है। उनके उठने-गिरने के पीछे नियम वह है। मनुष्यों और जातियों के उठने और गिरने के पीछे भी एक नियम है। इतिहास में उसे ही देखना होगा और विकास में उसे ही शोधना होगा। एक से दूसरी जगह वह सत्य भिन्न नहीं होगा। प्रयोग भिन्न हैं इससे भाषा भिन्न भले हो। मानव-व्यापार के क्षेत्र में उससे व्याप्त सचाई को क्या नाम दिया जाय! जगद् घटनाओं की पारस्परिक अपेक्षा में कौन सी अन्तर्व्यवस्था थाम रही है!

कुछ तो है। मैं यदि मात्र व्यक्ति हूं और यह संत समूचे युग के प्रतिनिधि हैं, तो इस अन्तर को ईश्वर के नाम पर मैं टाल नहीं सकता।* ईश्वर में पक्षपात नहीं। इससे मानना होगा कि मेरी सीमितता में उतनी ही मेरी सदोषता है। और उनकी विराटता में कारण उनकी साधना है।

एक शब्द हमें सुलभ है: अहिंसा। इधर मैंने उस पर सोचा है। उसे चैतन्य जगत् की गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त मैं कहना चाहता हूं। मेरी प्रतीति यही है। अहिंसा हिंसा का निषेध मात्र नहीं। वह शब्द में ही नकारात्मक है, भीतर उसके नकार किंचित्मात्र नहीं है। 'न' कार में पकड़ने से उसके कलेवर की रक्षा और आत्मा की हत्या है। अहिंसा की 'अ' से शुरू होने की लचारी यह कि जो सत् और चित् है, वह उस कारण निर्गुण भी है। उसे सीधे किसी संज्ञा से पकड़ा नहीं जा सकता। नकारात्मक संज्ञा ही उसके संकेत को बन सकती है। न, यह नहीं, और आगे; यह भी नहीं, और भी आगे—यह इंगित निषेधात्मक शब्द से ही दिया जा सकता है। मैं तो अहिंसा को आत्मिक गुरुत्वाकर्षण के भाव में लेता हूँ।

क्यों कोई इकला और असहाय है और क्यों दूसरा विश्वरूप और पराक्रमी है? क्यों एक निस्तेज और दूसरा आकर्षण का केन्द्रबिन्दु है? इसका उत्तर मेरे निकट वही है: अहिंसा। अहिंसा की साधना व्यक्ति को विश्व और जीवात्म को परमात्म बनायगी। वह अहिंसा क्रिया का मात्र विशेषण नहीं, है बल्कि धर्म-सिद्धान्त है। यानी अखिलता का नियम है।

धरती के गर्भ में है, आग। सिर्फ़ आग। केन्द्र में उसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। सब में उसी के प्रति खींच है। यही गुरुत्वाकर्षण।

सो ही अहिंसा। प्रकृत में वह केवल व्यथा है। धरती किस लाचारी से ख़ुद घूमती और सूरज के चारों ओर फिरती है! वह विवशता ही है, उसके मूल प्राणों की पूँजी। वह विवशता है सूरज से उसका आत्मिक अभेद और दैनिक अन्तर। वह

टूट कर अलग आ पड़ी है। इसी से जब तक है, वह सूरज के चहुँ ओर मँडराया ही करेगी। यही उसका नेम, उसका व्रत। इसी धर्म में से जो गुण उसे प्राप्त हुआ, उसको अमुक अपेक्षा में संज्ञा मिली; गुरुत्वाकर्षण।

अहिंसा ठीक वही है। जीवात्मचेतना परमात्म से बिछुड़ पड़ी। ध्रुव में तो दोनों एक हैं : पिंड और ब्रह्माण्ड। वे समधर्मा हैं। पूर्व के प्रति आकर्षण और निमजन ही हम में है खंड का समस्त धर्म। यही नियति, यही भाग्य। चैतन्य का अर्थ है विरह। सिद्धि है अनन्त विरह में सतत समागम। वियोग में यह योगानुभव और द्वित्व में एकत्वानुभूति होगी उसके जीवन की सारसाधना। प्राणों की यह विरह-व्यथा ही जीव की पूंजी। और यह निश्शेष व्यथाभार होगा अहिंसा का हृन्मर्म।

करुणा, दया, स्नेह इत्यादि तो गौण फलमात्र हैं। अन्तः प्रकृति में अहिंसा वह व्यथा ही है। उस व्यथा की सजग सघनता के अनुपात में व्यक्ति में महत्ता पड़ता है। जो इस भाँति केवल चिन्मय है, भक्ति परायण है, स्वयम् है ही नहीं, सर्वांशतः अपने स्रष्टा में समर्पित है, वह अनायास महान् है। फल पकने पर डाल से टूटता है और धरती की ओर ही गिरता है। दूसरा कुछ सम्भव ही नहीं। आत्मिक क्षेत्र में उसी दुर्निवार्य और निरपवाद नियम का नाम अहिंसा है।

पृथ्वी के केन्द्र की ओर सब कुछ का आकर्षण है। तो भी पक्षी और पतंग उड़ते हैं और जहाज़ ऊपर आ जाते हैं। धरती के केन्द्र से विमुख दीखने वाली अनेकानेक गतियाँ सम्भव बनती हैं। वे सब परस्पर विरोधी गतियाँ केन्द्राकर्षण को असिद्ध नहीं ठहराती। ऐसे ही दृश्यमान जगत् में बहुत कुछ अहिंसा से उल्टी दिशा में चलता और चलकर सफल होता मालूम हो सकता है। लेकिन वह भ्रान्ति है। विरोधी यानी हिंसक दीख पड़ने वाली प्रवृत्ति की और उसकी सफलता को भी असल में अहिंसा का नियम ही धारण करता है। इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ हो नहीं सकता। पर 'अहिंसा' शब्द से मुझे घबराना भी चाहिए। उसके पीछे मतवादी बुद्धि भी लग गयी है। उससे गिरोह के नारे का काम लिया जाना सम्भव है। वह पन्थ या समुदाय का चिन्ह बन सकता है। दल की ध्वजा बना कर उसका जय-घोष गुंजाया जा सकता है। पर जैसे दो धर्माभिमानियों के ईश्वर आपस में लड़ सकते हैं, ऐसे ही ये अहिंसाएँ आपस में लड़ सकती हैं। मतवादी के हाथ अहिंसा एक मतपक्ष है। पर जो आग नहीं, वह अहिंसा भी नहीं।

दुनिया में आदि-शक्ति शब्द है। पर शब्द ही झमेला भी है। वे आत्म-व्यथा में से नहीं आते तो कोरा जंजाल ही रचते हैं। तब उन द्वारा विवाद को अनन्त बनाने में सुविधा मिलती है। सुविधा मिलती है कि समाधान न मिले। तत्व-विवाद भाषा के पहिरावन में अहमहं-वाद ही है। वह बन्धनकारक है। शाब्दिकी हिंसा और अहिंसा में भेद नहीं होता। नास्तिक सात्विक और आस्तिक कदाचारी जो देखे जाते हैं सो यही बात है। आस्तिक और नास्तिक शब्द ही तो ठहरे। पर शब्द देखा न जायगा, अभ्यन्तर ही देखा जायगा। आस्तिक ईश्वर की ओर से विशेष संरक्षण नहीं पायगा। अहिंसा शब्द के साथ भी व्यभिचार देखता हूँ। मैं तो अहिंसा को परम नियम के रूप में ही मान पाता हूँ। यानी वही है; घटना में नहीं दीखता वहाँ भी कारण वह है। जगद् व्यापार और मानव व्यापार की सत्यता को धारण करने वाला तत्व वही है। न्यूटन से पहिले भी सेब धरती पर ही गिरता था। इसी तरह अहिंसा शब्द के आविष्कार से पहिले भी अहिंसा ही थी। व्यक्ति की, जाति की, राष्ट्र की इतिहास की सिद्धि अहिंसा-साधना में है। दूसरा कुछ हो सकता है, यह मेरी समझ में नहीं बैठता।

ऐसा मानकर अहिंसा को मतवादों से मैं शुद्ध रखना चाहता हूं। जले और जलाये नहीं, सो आग नहीं। व्यक्ति की सीमितता को गलाये नहीं वह

अहिंसा नहीं। उसका प्रत्यक्ष प्रमाण व्यक्तित्व की विशदता है। अहिंसा से उल्टी है स्वार्थपरता। अहिंसा की क्षीणता स्वार्थ-बुद्धि की तीक्ष्णता का कारण है। उलट कर यह भी कह सकते हैं कि स्वार्थ-वृत्ति जितनी सूक्ष्म होगी अहिंसा उतनी उज्ज्वल होगी। पूर्ण अहिंसक अहं-शून्य होगा। वही मुक्ति।

अपने में शून्य बनना विराटता की ओर बढ़ना है। हमारे ही केन्द्र में जो एक बिछुड़न की विथा है; कितना ही अपने को भरमाओ और बहकाओ, पर फिर भी जो जाग के क्षणों में काँटे सी चुभ आती है; जो हमारे अस्तित्व में हेतु और हमारे जीवन की ऊष्मा है—अधिकाधिक उस व्यथा में मिटते जाना ही हमारी चरम सार्थकता है। मुझको इस समय मालूम हो रहा है कि जीवन में महत्व-सम्पादन का कोई और अर्थ नहीं है। व्यक्तित्व में मूल्य और महत्व बढ़ता है तो उसी मार्ग से। उसी मार्ग से व्यक्ति व्यापक बनता है। आदमी की क्षुद्रता इस पद्धति में अपने आप भस्म हो जाती है। उस व्यथा-निधि में अवगाहन करते हुए मन का काठिन्य प्रार्थना में भीग रहता है और सबके लिए एक स्निग्ध करुणा का भाव उसमें भरने लगता है। तब दुनिया के बड़े से बड़े काम का बड़प्पन उसके लिए नष्ट हो जाता है। न कुछ तुच्छ रहता है, न महान। सब उससे अनायास सम्पन्न होता है।

यह नहीं तो इन इतिहास एक कोरा झमेला हो जायगा और कहीं कुछ व्यवस्था न रह जायगी। ऐसे किससे ज़िन्दा रहा जायगा! सब व्यर्थ हो और सबका अपना-अपना पन और उनके बीच की आपाधापी ही सच हो तो क्या लेकर कोई अपने ऊपर काल को झेले? नहीं, व्यर्थता नहीं है। मैं हूं, और जगत है और हम दोनों के बीच इन्कार नहीं है बल्कि स्वीकार है। 'नहीं' सच नहीं हो सकता। 'है' ही सच हो सकता है। व्यर्थ होकर कुछ नहीं हो सकता। होने में भाव सद्भाव है: वही अहिंसा। होने में इस तरह अहिंसा की ही एक सार्थकता हो सकती है।

मैं जाने यह कैसी भाषा लिख गया हूं। अपने को मैं कैसे प्रत्यक्ष करूँ? चुनौती सामने है। बुद्धि जिज्ञासा रूप है और जगत प्रश्न रूप। अखिल विश्व एक विकट पहेली के रूप में सामने आकर फैला है। हर क्षण उस पर कुछ न कुछ हो रहा है। अनन्तानन्त क्षण अपना योग दे गये, फिर भी सद्यः प्राप्त क्षण अपने स्वाद में नया है। प्रतिक्षण अभूत घटित हो रहा है। भविष्य में अनन्त वर्त्तमान है। वर्त्तमान पल-पल आँख आगे पट बदल रहा है। असंख्य जनम रहे हैं, जी रहे हैं और मर रहे हैं। कोई उनमें विद्युत के उद्योत कौंध की भाँति जगत को चमकाता हुआ जीता और अकस्मात अँधेरा सा करके शून्य में मिल जाता है। शेष अधिकांश सबके अज्ञान में अपने अपने आपे में जी लेते हैं। अपनी सीमितता में वे भी कुछ तो जीवन की ऊष्मा देते ही होंगे। पर किन्हीं का वर्चस्व और प्रकाश इतना तीव्र होता है कि उसकी अनुभूति सदियों तक पीढ़ियों के प्राणों में से नहीं चुकती। यह सभी कुछ एक विराट प्रश्न-चिन्ह के घेरे में मेरी दृष्टि और बुद्धि के आगे घटित होता हुआ चला जा रहा है। काल में अनन्त पल हैं और एक पल में अनन्त वैचित्र्य है। वही अनन्तानन्तता अपनी घटना चित्रता में मेरी सीमित चेतना पर प्रतिबिम्बित होती है। बुद्धि उस पर स्तिमित हो रहती है। वह उसके नीचे सो कैसे सके? पल-पल उसके आगे नया रहस्य खुल रहा है। हर घड़ी चुनौती है कि वह पाये; फूटता हुआ यह क्षण और भी नया है; यह भी ले। जानकर बुद्धि बैठ नहीं सकती, क्योंकि हर क्षण एक नवीनतर क्षण अपना प्रसाद लिए अभिमुख है। रुकी बुद्धिहीन बनती है। वह आनन्द विमुख है। विस्मय से प्रश्न से हीन बनकर बुद्धि दम्भ से बन्द बनती है। जो बुद्धि जानती है, वही नहीं जानती है। वह जिज्ञासु नहीं अर्थात् बुद्धि ही नहीं। सत् चित्, यानी चैतन्यमय, है। चैतन्य आनन्द रूप है। अतः निरानन्द बुद्धि सत्य ग्रहण नहीं करती। सत् को अचित् बनाकर पकड़ने के कारण सत्य के नाम पर असत्य ही उसके हाथ आता है।

किन्तु क्षण-क्षण नवाविर्भाव में खिच उठने वाला सत्य जो मुहुर्मुहु प्रत्याघात देकर उसे सचेत रखता है, उसको बिना आत्मसात किये प्रज्ञा में अनागत के प्रति स्वागत भी कैसे जगा रहे ! इस तरह वह चुनौती को झेलती और बाहर से जो रंग-रूप के नानापन में उस पर झलकता है उसमें अपनी ओर से एकसूत्रता डालती है। घटना छोड़ती चलती, और भावमात्र लेती चलती है। कार्य में से कारण बस वह खोज लेती है। भोजन में से रस लेकर बाकी को जैसे फेंक देना होता है उसी तरह स्वस्थ बुद्धि नाना घटनाचक्र में से उसकी परम्परा को थामने वाले सत्य-सूत्र को ग्रहण कर शेष को भुला चलती है।

मैं जगत-घटना का सार अहिंसा निकालता हूं। वह निकालने के बाद हुए इतिहास को मैं हटा देना चाहता हूँ। होते हुए राजकारण से भी सरोकार नहीं रखना चाहता और अनहुए भविष्य का नक़शा भरने का बोझ भी उठाने की इच्छा नहीं रखता। आत्ममन्थन में से अहिंसा मिलती है, तब फिर इतिहास के मन्थन और वर्त्तमान के ऊहा-पोह में से भी अहिंसा ही मिल सकती है। अहिंसा के प्रयोग और विस्तार के लिए वर्त्तमान पटस्थली ही है। इतिहास अधिक से अधिक उसके प्रतिपादन की पृष्ठभूमि हो सकता है। भविष्य उसकी सिद्धि की सम्भावना।

प्रतीत होता है कि अब हम एक नये मोड़ पर आये हैं। एक मंज़िल हमारी यहाँ पूरी हुई। अब मानव जाति पिछले अध्याय को समाप्त कर एक नये अध्याय के समारम्भ पर तुली है। युद्ध उसी का प्रमाण है। महायुद्धों में से मानवता को महाफल प्राप्त हुआ है। दुःख ने ही सदा सिरजा है। यदि कुछ सार्थक है तो संकट काल सार्थक है। उसमें से आदमी पाता है। जन्म की नवीनता मृत्यु की विभीषिका में से फूटती है। संकट में से सम्भावनाएँ उदय पाती हैं। आज के महायुद्ध की सी विभीषिका सृष्टि ने कभी नहीं भोगी। इसमें से प्राप्त होने वाले महाफल की भी तुलना शायद कुछ और न कर सके।

उस फल की मुझे प्रतीक्षा है। उस फल में मुझे निष्ठा है। मुझे प्रत्यय है कि वह होने वाला है अहिंसा की दिशा में एक निश्चित अगला क़दम।

हमें समझ लेना चाहिए कि हमारा उद्धार मशीन से नहीं होगा, प्रचार या विज्ञापन से भी नहीं होगा, अगर उद्धार का उपाय कोई है, तो वह संस्कृति की रक्षा और निर्माण की चिर जागरूक चेष्टा और उस चेष्टा की आवश्यकता में अखण्ड विश्वास का ही मार्ग है। साहित्य का, कला का, चमत्कार मर रहा है, मरा अभी नहीं है; अगर उस चमत्कार को पैदा करने वाले पतन और निराशा से बच सकते हैं, और उससे मुक़ाबले की शक्ति उत्पन्न कर सकते हैं, तो अभी परित्राण सम्भव है। और इस शक्ति को उत्पन्न करने का एक मात्र मार्ग है शिक्षा—शिक्षा, जो निरी साक्षरता नहीं, निरी जानकारी नहीं, जो व्यक्ति की प्रसुप्त मानसिक शक्तियों का स्फुरण है······इसके लिए अधिक परिश्रम, विचार और एकाग्रता की ज़रूरत है।

डाक्टर डी० आर० भण्डारकर

मार्क्सवाद के आदि पुरोहित

अख्तरहुसेन रायपुरी

शायद यह कहना ग़लत न होगा कि डारविन, कार्ल मार्क्स और फ्रायड संसार के तीन सब से बड़े विचारक हुए हैं। एक ने प्रकृति को, दूसरे ने समाज को और तीसरे ने मनुष्य को समझने के वसूल क़ायम किये। यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि तीनों ने अपना काम पिछली सदी में पूरा किया, जब मानवता का यह प्रयत्न कि वह प्रकृति, समाज और मानव-हृदय पर विजय प्राप्त करे और अपने अंतर्द्वन्द्व के युग को ख़तम करके 'समन्वय' की मंज़िल पर पहुंच जाये—अपने चरमबिन्दु पर पहुँच रहा था।

उन्होंने कोई नई बात ईजाद न की। वस्तु के समान विचार भी विकास के सिद्धान्तों से सीमित हैं। तीनों अपने अपने रंग के वैज्ञानिक थे। एक प्रकृति की, दूसरा समाज की, तीसरा मानव-हृदय की प्रयोगशाला मे काम करता रहा। पर प्रयोग के साधन पहिले से मौजूद थे। उन्होंने अपने अपने विश्लेषण से इन साधनों को परखा, जांचा, उनमें संशोधन किया और फिर क्रमबद्ध करके उन्हें साबित किया और उसूलों का रूप दिया। इनके उसूलों ने विज्ञान, दर्शन और कला ही नहीं बल्कि अर्थनीति, राजनीति हर चीज़ में क्रांति कर दी। और यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि विचार-जगत् में यह डारविन, मार्क्स और फ्रायड का युग है।

सामाजिक दृष्टिकोण से इन तीनों में कार्ल मार्क्स का महत्व सब से ज़्यादा है क्योंकि उसका विचार-क्षेत्र समाज का जीवन है। वह हमें एक ऐसा दृष्टिकोण देता है जिससे पिछले इतिहास को समझने के सिवा, आज की समस्याओं के समाधान और भविष्य के संगठन का रास्ता सुझाई देता है।

इन तीनों से पहिले और इन्हीं के ज़माने में इन्हीं दिशाओं में और लोग भी काम करते रहे थे। डारविन के काम में उसके मित्र वेलेस, मार्क्स के काम में उसके साथी एंगेल्स और फ्रायड के काम में उसके संगी एडलर का कितना हाथ रहा है—यह तै करना आसान नहीं है। पर उनसे पहिले उन्हीं के मैदानों में जो लोग काम करते रहे थे, उनके विषय में किसी ग़लतफ़हमी की गुंजायश नहीं।

इस छोटे से लेख में उन आदि-पुरोहितों का ज़िक्र किया जायेगा जिन्होंने कार्ल मार्क्स की विचार धारा को प्रभावित किया। यह सच है कि उसने इनमें संशोधन किया और फिर इन विभिन्न व्यक्तियों के विचारों में क्रम, सम्बन्ध और तारतम्य क़ायम किया और यह उसका सब से बड़ा कारनामा है। पर अङ्कुर उसे अपने से पहिले के विचारकों में मिले और उसने उदारतापूर्वक इस ऋण को स्वीकार भी किया है।

मार्क्सवाद के अन्ध्यन से पता चलता है कि वह तीन बुनियादी वसूलों पर क़ायम है : (१) भौतिकवाद (२) द्वन्द्वात्मक परिवर्तन (Dialectics) (३) श्रेणी-युद्ध। इनके प्रतिपादन में मार्क्स ने क्रमवश फ़ायरबाख़ (Feuerbach), हेगल (Hegel) और चार्ल्स हाल (Charles Hall) के विचारों से मदद ली। इन बिखरी हुई कड़ियों को उसने एक ज़ंजीर में पिरोया, और ऐसा करते वक़्त उनकी असंगतियों को दूर किया। यहीं मार्क्स की महान् प्रतिभा का पता चलता है।

सब से पहिले हम हेगल को लेते हैं क्योंकि मार्क्स के नज़दीक सामाजिक इतिहास के तिलस्म को 'डायलेकटिक्स' की कुंजी से ही खोला जा सकता है। पर हेगल का संशोधन उसने फ़ायरबाख़ की मदद से किया। और 'डायलेकटिक्स' का यही परिवर्तित रूप अब परिवर्तनवादी भौतिकवाद (Dialectical

materialism) कहलाता है जिसके ज़रिये इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की जाती है।

हालांकि प्राचीन यूनानी दार्शनिकों और स्पिनोज़ा आदि विद्वानों ने भी इस सिद्धान्त का ज़िक्र किया है, फिर भी उसके अन्वय और नियमबद्ध करने का श्रेय हेगल को ही है। 'डायलेक्टिक्स' के अनुसार सभी जीवात्मक आन्दोलन परिवर्तन की राह पर निरन्तर अथक रूप से गतिमान हैं। किसी पदार्थ का जन्म उसके विकाश की पहिली सीढ़ी यानी प्रकरण (Thesis) है। पर अपने जन्म के साथ वह अपने में निराकरण (Anti-thesis) के बीज भी रखता है। महाकवि ग़ालिब ने इसी भाव को एक मिसरे में लिखा है—

'मेरी तामीर में मुज़मिर थी एक सूरत ख़राबी की'
(मेरे निर्माण में ही मेरा विनाश छिपा हुआ था)

यह संघर्ष 'समन्वय' (Synthesis) के साथ ख़तम होता है जब इस अंतर्द्वन्द्व के कारणों का विनाश हो जाता है। हर चीज़ में बनाव और बिगाड़ की ताक़तों में कशमकश चलती रहती है और यही घात-प्रतिघात समन्वय को जन्म देता है। मतलब यह है कि जीवन असङ्गतियों में से गुज़रता हुआ बराबर उन्नति-पथ पर अग्रसर हो रहा है। यह सिद्धान्त निश्चयवाद और अप्रबोधवाद पर कुठाराघात करके दिखलाता है कि ज़िन्दगी बराबर बदल रही है और उस परिपूर्णता की ओर बढ़ रही है जो प्रकृति और जीवन का चरम लक्ष्य है। कार्ल मार्क्स ने इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया। इसे लेकर उसने साबित किया कि मानव-समाज चूंकि जीवात्मक है, इसीलिये उसकी गुत्थियां भी 'परिवर्तनवाद' की मदद से ही सुलझ सकती हैं।

यह परिवर्तन क्यों होता है, इस विषय में हेगल से मार्क्स का मतभेद हो जाता है। हेगल आदर्शवादी दार्शनिक था और वह चेतना को 'वस्तु' से पूर्ववर्ती मानता है। उसके मतानुसार 'आइडिया' ही चरम-सत्य है और इसी की प्राप्ति के लिये 'चेतना' वस्तु जगत् को 'द्वन्द्वात्मक परिवर्तन' के रास्ते आगे ले जा रही है। हेगल के इस आदर्शवादी मत के खंडन में मार्क्स ने फ़ायरबाख़ के भौतिकवाद से मदद ली।

चेतना और प्रकृति—दोनों में से पहिले किसका अस्तित्व था, यह दर्शन का सब से विवादग्रस्त प्रश्न है। फ़ायरबाख़ ने हेगल का खंडन करते हुए कहा कि वस्तु के बिना ज्ञान या बोध असम्भव है। किसी वस्तु-विशेष की अनुभूति हमारी इन्द्रियां जिस रूप में करती हैं, वही उसका बोध हुआ। पर जिस प्रकार आईने में आप ही आप प्रतिबिम्ब नहीं आ सकता उसी प्रकार किसी वस्तु के बिना बोध आप ही आप पैदा नहीं हो सकता। सांप को रस्सी कहने से सांप रस्सी नहीं हो सकता! सांप का अस्तित्व न मानने वालों का इलाज यही है कि उसे उन्हें डसने का मौक़ा दिया जाये। वास्तविकता की कसौटी दिमाग़ नहीं बल्कि अमल है। पानी ठण्ढा है या गर्म, इसका पता भी तभी चलेगा जब आप उसे छू कर देखें।

फ़ायरबाख़ की मदद से मार्क्स ने यह साबित किया कि संसार 'पदार्थ' पर क़ायम है और इसी का प्रतिबिम्ब 'ज्ञान' है। और इस संसार में प्रति क्षण 'परिवर्तन' हो रहा है। फ़ायरबाख़ के भौतिकवाद में 'परिवर्तन' का उपादान न था, हेगल के परिवर्तनवाद में 'भौतिकवाद' की कमी थी। दोनों को संयुक्त और संशोधित करने से मार्क्सवाद की दार्शनिक बुनियाद पड़ी। इसी के अनुसार साबित किया जा सका कि दुनिया बदलती जा रही है; यह परिवर्तन आम तौर पर उन्नति की ओर है; पर उन्नति का कोई सीधा रास्ता नहीं। यह परिवर्तन ऐहिक जीवन की आवश्यकताओं की प्राप्ति की चेष्टा के कारण होता है। इन आवश्यकताओं का केन्द्र उत्पादन का साधन है। और इसी साधन की मिलकियत के लिये समाज में बराबर श्रेणी-युद्ध चलता रहा है और चल रहा है।

श्रेणी-युद्ध की सबसे पहिली और परिपूर्ण व्याख्या चार्ल्स हाल नामी अंग्रेज़ डॉक्टर (१७४०-१८२०) ने अपनी किताब The Effects of Civilization में की थी। और इस विषय में मार्क्स ने जो कुछ लिखा वह इसी का फैलाव है।

इस किताब का सारांश यह है : आदिम मानव-समाज में न निजी सम्पत्ति थी और न संगठित शासन। सभ्यता के विकास के साथ इन संस्थाओं का जन्म हुआ और इन्होंने समाज को अमीर ग़रीब, शोषक शोषित, मालिक ग़ुलाम में बाँट दिया। जिनके हाथ में आर्थिक सत्ता होती है उन्हीं के पास राजनीतिक शक्ति होती है। अर्थहीन दरिद्र जीवन-पालन के लिये खेती, खानों और कारख़ानों में अमीरों की ग़ुलामी के लिये मजबूर होते हैं। मज़दूर माल पैदा करते हैं, जिसके बदले उन्हें मज़दूरी मिलती है। माल की क़ीमत और मज़दूरी का अन्तर ही मुनाफ़ा है जिसे ज़मीनदार मिलमालिक और महाजन आपस में बांट लेते हैं। यही मुनाफा पूँजी को जन्म देता है, जिसे मशीन और कच्चे माल में लगाकर अधिकाधिक माल और अधिकाधिक मुनाफ़ा पैदा किया जाता है। इसके साथ मालिकों की यह कोशिश जारी रहती है कि 'मज़दूरी' कम से कम दी जाये ताकि उन्हें ज़्यादा से ज़्यादा मुनाफ़ा हो। पर ग़रीब इस शोषण की इजाज़त क्यों देते हैं ? इसलिये कि उनके आगे चाकरी और फ़ाक़ा के सिवा कोई रास्ता नहीं है ! इस तरह मालिक और मज़दूरों में बुनियादी तौर पर विरोध है।

चार्ल्स हाल लिखता है : "ग़रीब के नुक़सान में अमीर का फ़ायदा है। सभ्यता के प्रसार के साथ सारा धन-माल मुट्ठी भर पूँजीपतियों के हाथ में सिमट आता है। हुकूमत भी इन पर अधिकाधिक निर्भर करने लगती है। दौलत की बढ़ती के साथ ग़रीबों की तादाद बढ़ती जाती है। उनकी मुसीबत भी बढ़ती जाती है, क्योंकि उनकी मज़दूरी में कमी के साथ काम की ज़्यादती का सिलसिला रहता है। इससे दोनों श्रेणियों का विरोध इतना बढ़ता जाता है कि एक न एक दिन ग़रीब बलपूर्वक इस शोषण का अन्त करने का यत्न करेंगे। इसके जवाब में अमीर दमन से काम लेंगे। और इस श्रेणी-युद्ध को दबाने के लिये सैनिक शासन स्थापित किया जायेगा।"

इसके बाद चार्ल्स हाल बतलाता है कि पूँजीपति अपने आर्थिक स्वार्थों के लिये लड़ाई की आग भड़काते हैं : "युद्ध का ध्येय तिजारत बढ़ाना या बदला लेना है। विभिन्न राष्ट्रों के सेठ-साहूकार दूसरे देशों का कच्चा माल या बाज़ार हथियाने के लिये लड़ते हैं। वह कहते तो यही हैं कि अपने देश के भले के लिये लड़ रहे हैं, पर, इन लड़ाइयों से ग़रीबों को कोई लाभ नहीं होता। शोषण के लिये यह अमीर विदेशों को ग़ुलाम बनाते हैं और इस तरह भविष्य के नये युद्धों का बीज पड़ता है। जहाँ इन विदेशियों ने चूं भी की, यह साहूकार राष्ट्रीय सम्मान की रक्षा के लिये तलवार भाँजने लगते हैं। इन लड़ाइयों का सारा भार ग़रीबों पर पड़ता है। जैसे अमीर यह देखते हैं कि ग़रीब अपनी हालत सुधारने की कोशिश कर रहे हैं, वह झट कोई अन्तर्राष्ट्रीय हंगामा छेड़ देते हैं ताकि लोगों का ध्यान बँट जाये। फ्रांस में क्रान्ति होते ही यूरोप भर के साहूकार डर के मारे पिनपिनाने लगे और गुट बनाकर उस पर हमला कर दिया······इतिहासों में लड़ाई के क़िस्से पढ़ाये जाते हैं और उन्हें बहादुरी का नमूना बतलाया जाता है। यह सब लड़ाइयाँ पूंजीपतियों के स्वार्थों के लिये लड़ी जाती हैं जिनमें ग़रीबों का ख़ून बहता है।··· यह यक़ीनी बात है कि अगर देश की अर्थनीति और शासन-सूत्र जनसाधारण के हाथ में हो तो कभी ख़ून-ख़राबा न हो।"

चार्ल्स हॉल ने यह सब कुछ कोई डेढ़ सौ साल पहिले लिखा था जब कार्ल मार्क्स का जन्म भी न हुआ था। हॉल की कही हुई बातों में विशेष संशोधन की सम्भावना न थी। अलबत्ता, उसने ग़रीबों को कोई मुक्ति-मार्ग न दिखाया और यह काम बाद में मार्क्स ने किया।

इस तरह मार्क्स की शिक्षा को तीन वाक्यों में लिखा जा सकता है :

(१) संसार का अस्तित्व पदार्थ पर है और चेतना पदार्थ का प्रतिबिम्ब मात्र है।

(२) संसार में परिवर्तन के सिवा कोई चीज़ स्थायी नहीं है।

(३) मानव-समाज का इतिहास दरअसल श्रेणी-युद्ध का इतिहास है।

चीन और प्रशान्त युद्ध

प्रो० तान युन-सान

"चीन और प्रशान्त महासागर की लड़ाई" पर लिखने के पूर्व मैं अपने "चीन और यूरोप की लड़ाई" शीर्षक पुराने निबन्ध की ओर आप लोगों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ, जिसे आज से तीन वर्ष पूर्व अक्तूबर, १९४० में लिखा था। वह निबन्ध कई भाषाओं के कितने ही समाचार पत्रों में प्रकाशित हो चुका है। उस समय निर्दय और बर्बर जापान सुदूर पूर्व में बृटेन और फ्रांस के लिए हौआ हो रहा था। दोनों ही देश आक्रमणकारी जापानियों को संतुष्ट करने में व्यस्त थे। बृटेन ने चीन के लिए बर्मा रोड बन्द कर दिया था। फ्रांस ने चीन के लिए केवल इंडो-चाइना रेलवे लाइन ही नहीं बन्द दी थी बल्कि वहाँ पर जापानियों को मनमानी सैनिक कारवाइयाँ करने की भी सभी सुविधायें प्रदान की थीं। उस समय चीन के शुभचिन्तकों—खासकर भारतीय भाइयों—के दिल में इस बात का डर हो गया था कि अब चीन का अस्तित्व निश्चय ही ख़तरे में है। उस निबन्ध में मैंने बृटेन और फ्रांस दोनों का ही ध्यान इस ओर आकर्षित किया था कि जापानी किसी तरह भी तृप्त नहीं हो सकते हैं और यह इस प्रकार तृप्त करने की नीति जापानी आक्रमण की गति को तीव्र ही करेगी। मैंने यह भी दर्शाया था कि इंडो-चाइना में जापान के आने का उद्देश्य पहले वहाँ पर अपना पाँव जमाना है और उसके बाद सारे देश पर क़ब्ज़ा करना ताकि वह अपने "चिर अभिलषित दक्षिण विस्तार" की नीति को मूर्तरूप दे सके। इसलिए अगर बृटेन और फ्रांस ने अभी से इस ख़तरे को ध्यान में नहीं रखा तो केवल इंडो-चाइना ही नहीं, बृटेन का पूर्वी साम्राज्य भी जापानियों का शिकार हो जायगा। जापानी आक्रमणकारी इंडो-चाइना से श्याम होते हुए मलाया और पश्चिम की ओर बर्मा तक निधड़क बढ़ता चला आयेगा और सिंगापुर का दुर्भेद्य सामुद्रिक अड्डा बेकार साबित होगा। मैंने उस निबन्ध में चीन के मित्रों, खासकर भारतीय भाइयों से कहा था—चूंकि चीन को जापान के साथ लड़ना है इसलिए उसे चाहे जिस परिस्थिति से गुज़रना पड़े तथा कितनी भी मुसीबतों का क्यों न सामना पड़े; अन्तिम विजय प्राप्त नहीं होने तक वह लड़ता ही रहेगा और तब तक हथियार नहीं डालेगा जब तक कि स्वयं जापान लड़ाई के मैदान से न हट जाय या निर्दयतापूर्वक न मार भगाया जाय। सौभाग्यवश या अभाग्य से उपरोक्त शर्तें सत्य होकर रहीं। परन्तु अतीत की बातों को दुहराने से कोई लाभ नहीं है और न मुझे किसी के प्रति कोई शिकायत है न किसी पर दोषारोपण करना ही। मैंने इन सब बातों की ओर इसलिए इशारा किया है कि बीती घटनाओं से वर्तमान और भविष्य की समस्याओं को सुलझाने के लिए सबक़ लिया जाय। एक पुरानी चीनी कहावत है "पहले उल्टी हुई गाड़ी भविष्य में आनेवाली गाड़ी को ख़तरे की सूचना देती है।" एक दूसरी चीनी कहावत है "भूत काल की घटना को भविष्य की शिक्षा के लिए याद रखनी चाहिए।" बीती ग़लतियों के आधार पर हम भविष्य का मार्ग निर्धारित कर सकते हैं। पुराने अनुभवों से भविष्य में बुद्धिमानी का परिचय दिया जा सकता है।

परन्तु दुःख की बात तो यह है कि इतनी ग़लतियों के बाद भी अब तक लोगों ने उससे किसी प्रकार की शिक्षा नहीं ग्रहण की है। प्रशान्त महासागर की समस्या को न तो पूरी तरह जाँच ही की गई है, न ठीक तरह से विश्लेषण ही और न लोगों ने उसका वास्तविक मूल्य ही समझा है। जापानियों की दग़ा-बाज़ी और धूर्तता के ख़तरों से तथा उसकी दुष्टता और पागलपूर्ण शैतानियों से लोग एकदम अवगत नहीं हैं। प्रशान्त महासागर की लड़ाई में चीन की

स्थिति की प्रधानता, जापानी आक्रमण के विरोध करने में चीन की दृढ़प्रतिज्ञता तथा वीरता, लड़ाई में चीन द्वारा किए गए कामों का नतीजा, युद्ध करने के चीन के आदर्श और अभिप्राय तथा चीनी जनता का उदारचित और उच्च भाव ये सब बातें न तो अब तक अच्छी तरह समझे गए हैं न उनके यथार्थ मूल्य ही आँके गए हैं। सद् बुद्धि और ठीक समझ के अभाव में संयुक्त राष्ट्रों के बीच बहुत तरह की फ़जूल शंकाओं का उदय हो गया है और मित्र जनता के बीच तरह तरह की व्यर्थ विवादग्रस्त बातें उठ खड़ी हुई हैं। ये सभी बातें दुःखद और चिन्ताजनक हैं।

कासाब्लंका सम्मेलन यद्यपि काफ़ी सफल रहा है और इसके फलस्वरूप बृटिश और अमेरिका की फ़ौजों की उत्तरी अफ्रीका में धुरी राष्ट्रों के ख़िलाफ़ शानदार विजय हुई, परन्तु यह घोषणा कर एक बड़ी ग़लती ही नहीं वरन् प्रशान्त युद्ध मोर्चे के प्रति एक बड़ा अन्याय भी किया गया है कि युद्ध का यूरोपीय क्षेत्र ही प्रधान है तथा जब तक वहाँ पूर्ण विजय प्राप्त नहीं होती है दूसरे सभी युद्ध क्षेत्र उसके सामने गौण समझे जांय। चूंकि वर्तमान युद्ध विश्व-व्यापी है इसलिए इसका फैलाव तथा परिमिति एक ही मानी जानी चाहिये। हाँ, जहाँ तक लड़ाई के क्षेत्रों और मोर्चों का सम्बन्ध है वे भिन्न भिन्न हो सकते हैं। इस लड़ाई में सभी क्षेत्रों और मोर्चों का महत्व एकसा है और सब ओर एक ही तरह से ध्यान देने की ज़रूरत है। युद्ध के दाव पेच के लिहाज से हम लोग अपने सैन्य का जमाव किसी चुने हुए युद्ध-क्षेत्र में कर सकते हैं जहाँ से विशेष विशेष स्थानों पर आक्रमण किया जा सके। लेकिन इस प्रकार की घोषणा करना कि अमुक क्षेत्र प्रधान है और अमुक क्षेत्र गौण, कदापि युक्तिसंगत नहीं हो सकता। इस प्रकार की खुली घोषणा हमारे शत्रुओं के लिए हित-कर और मित्रों के लिए हानिप्रद है। मैं अपने मित्रों से मज़ाक़ करते हुए इस प्रकार की घोषणा की तुलना, भारतीय चौकीदार की रात्रि में आवाज़ देकर पहरे-दारी करने से, करता हूँ। पहले पहल पहरे की आवाज़ सुनकर मुझे बड़ा ही आश्चर्य हुआ कि अगर कोई चोर या डकैत हो तो क्यों चौकीदार आवाज़ देकर उन्हें सचेत कर देता है कि "मैं चौकीदार आ रहा हूँ, इसलिए सचेत हो जाओ।" लेकिन कुछ दिनों के बाद मुझे पता चला कि इस तरह करने में चौकी-दार की चाल चोर या डकैत को पकड़ना नहीं बल्कि उन्हें डराकर भगा देना है। चौकीदार चोर या डकैत को पकड़ने के झंझट से सदा बचना चाहता है। लेकिन लड़ाई की चालें इस प्रकार नहीं होतीं। हम लोगों का उद्देश्य शत्रुओं को पकड़ना है—उन्हें डराकर कर भगाना नहीं। हमें तो ऐसा करना चाहिए कि हमारी एक भी गति विधि से शत्रु अवगत नहीं हो सके। हमें हिटलर से यह चिल्लाकर कहने की कोई ज़रूरत नहीं है कि "हम तुम्हीं से पहले लड़ने आ रहे हैं तैयार हो जाओ" और न तोजो से ही कि "हम अभी तुमको हड़पना नहीं चाहते, इसलिए ज़रूरी तैयारी करते जाओ।" इस प्रकार की घोषणा शत्रुओं को पूरी तरह तैयार होने का केवल मौक़ा ही नहीं देगी बल्कि उससे उन्हें मित्र राष्ट्रों की जनता के बीच नाना प्रकार के शरारत भरे झूठे प्रचार करने का मसाला भी मिल जायगा। यद्यपि हाल के वाशिंगटन-सम्मेलन से इस प्रकार की कोई घोषणा नहीं हुई है तथापि बृटिश प्रधान मंत्री मिस्टर चर्चिल का अमेरि-कन कांग्रेस के सम्मलित अधिवेशन में दिया हुआ वक्तव्य कि "जापान की हार से जर्मनी की हार कभी नहीं हो सकती बल्कि जर्मनी की हार निश्चयात्मक रूप से जापान की हार होगी" लोगों में ग़लतफ़हमी फैलाए बिना नहीं रह सकता। इस प्रकार का वक्तव्य पूर्वी देशों की जनता के लिए कासाब्लांका-घोषणा से कम चिन्ता और असन्तोष के कारण नहीं है। इस वक्तव्य का भी आधार "यूरोपीय मोर्चा प्रथम—प्रशान्त मोर्चा बाद" की नीति ही है। इस तरह के नतीजे पर पहुंचने के लिए शायद ही हमें कोई तर्कपूर्ण तथ्य मिलता है। क्या मौजूदा लड़ाई में जापान जर्मनी से कम दोषी है? क्या नाजी जर्मनी से सैनिक-वादी जापानी आसानी से हटाए जा सकते हैं?

क्या पूर्वी देशों की जनता पश्चिमी देशों की जनता से कम विपत्ति में है ! और क्या उनके उद्धार की कम ज़रूरत है !

अच्छा, तो पहले हम लोग इस लड़ाई में धुरी राष्ट्रों द्वारा किए गए अपराधों की हां अच्छी तरह जाँच कर लें। संयुक्त राष्ट्र—अमेरिका—के स्टेट डिपार्टमेंट ने इस वर्ष के प्रथम मास में ही एक श्वेत-पत्र प्रकाशित किया था। इसमें उसने पिछली दशाब्दी के बीच धुरी राष्ट्रों द्वारा किये गए दोषों और अपराधों की विस्तृत छानबीन की थी। इस श्वेत-पत्र में कहा गया है कि जापान, जर्मनी और इटली द्वारा की गई निर्दयतापूर्ण कारवाइयां उनके विश्व-प्रभुत्व स्थापन करने की निश्चित नीति की साफ़ द्योतक हैं। इस श्वेतपत्र के आधार पर मैं धुरी राष्ट्रों द्वारा किए गये दोषों और अपराधों की कालक्रमानुसार एक संक्षिप्त सूची नीचे दे रहा हूं :—

१९३१—जापान ने मंचूरिया में मुकदन (Mukdun) पर चढ़ाई कर दी।

१९३२—जापान ने शंघाई पर चढ़ाई की और सम्पूर्ण मंचूरिया पर ज़बरदस्ती अधिकार कर लिया और वहां पर एक गुड़िया "मांचूको"—शासन की स्थापना की।

१९३३—जर्मनी ने निःशस्त्रीकरण सम्मेलन से अपने को अलग कर लिया और अस्त्र शस्त्र बढ़ाने लगा।

१९३४—जापान ने वाशिंगटन—सन्धि, जिसमें राष्ट्रों द्वारा नौ सेना शक्ति को सीमित रखने की बात थी, तोड़ दी।

१९३५—इटली ने इथोपिया पर चढ़ाई कर दी।

१९३६—हिटलर ने लोकार्नो के सन्धि पत्र को फाड़ फेंका और राइनलैण्ड के असैनिक-क्षेत्र में किलाबन्दी की।

१९३७—जापान ने पुनः चीन पर चढ़ाई कर वास्तविक तौर से प्रशान्त महासागर की लड़ाई छेड़ दी।

१९३८—हिटलर ने आस्ट्रिया पर क़ब्ज़ा कर लिया और जेकोस्लोवाकिया का अंग-विच्छेद कर दिया।

१९३९—इटली ने अलबानिया पर चढ़ाई की। हिटलर पोलैण्ड पर चढ़ दौड़ा और वास्तविक रूप से यूरोपीय युद्ध की शुरुआत की।

१९४०—जापान ने अपनी सैनिक शक्ति का भय दिखा कर फ्रांस-अधिकृत इंडो-चाइना में पाँव रखा।

१९४१—७ दिसम्बर को जापान ने अचानक धोखेबाज़ी से दोनों अंग्रेज़ी भाषा भाषी राष्ट्रों—अमेरिका और महान बृटिश साम्राज्य—पर चढ़ाई कर दी—जब कि जापान का एक विशेष दूत और अमेरिका स्थित जापानी राजदूत दोनों ही अमेरिका की सरकार से वाशिंगटन के "व्हाइट हाउस" में सन्धि की बातें कर रहे थे। इसके तुरत बाद ही जापान, जर्मनी, इटली और इन देशों के आश्रित राष्ट्रों द्वारा संयुक्त राष्ट्र अमेरिका और ग्रेट बृटेन के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी गई।

उपरोक्त विवरण से हम लोग आसानी पूर्वक जान सकते हैं कि शत्रु गिरोह का कौन प्रधान और दुर्दांत नायक है। धूरी गुटों के दस वर्ष के दोषों और अपराधों की सूची में जापान का नाम छै वर्षों तक आता है। जापान ने जर्मनी की अपेक्षा दो वर्ष पहले चढ़ाई की है। सभ्य संसार का न्याय और क़ानून यही कहता है कि प्रधान और मुख्य अपराधी को ही पहले सज़ा मिलनी चाहिए। हम लोग जापान को कैसे एक क्षण के लिए भी दोष और अपराध करने के लिए आज़ाद छोड़ सकते हैं? क्या जर्मनी को नीचा दिखाने के लिए जापान को संतुष्ट करने की बात हमारे दिमाग़ से नहीं गई है? क्या हम लोग जापान के साथ कुछ ख़ास कारणों से सन्धि करने की भूमिका बांध रहे हैं? क्या हम लोग निर्दय जापानियों से भूतकाल में प्राप्त सभी शिक्षाओं को भूल गए? क्या सैनिकवादी जापानियों को नाज़ी जर्मनों की अपेक्षा हटाना आसान है? क्या वे थोड़े समय के लिए भी मनमानी करने को छोड़ने के योग्य हैं? (अपूर्ण)
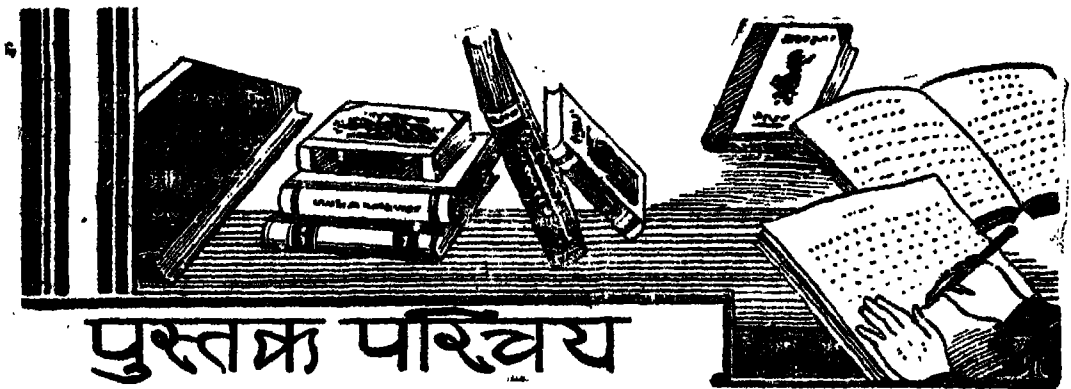
नवतारा—लेखक, श्री उदयराजसिंह; प्रकाशक, श्री राजराजेश्वरी साहित्य मन्दिर, सूर्यपुरा शाहाबाद (बिहार); पृष्ठ संख्या १०७, मूल्य १।)

प्रस्तुत पुस्तक में उदीयमान लेखक की पाँच कहानियाँ और तीन एकांकी नाटक संगृहीत हैं। कल्पना के नल-पंखों पर बैठकर जब लेखक अनुभूति के वातावरण में विहार करता है, तब मैं समझता हूँ, वह अपेक्षाकृत अधिक सफल होता है। यही कारण है कि प्रस्तुत पुस्तक के लेखक महोदय यथार्थता से अभी काफ़ी दूर हैं। यों उनकी भाषा में प्रवाह है और ओज भी, जिससे पाठक को उलझाये रखने की बहुत कुछ क्षमता उनकी रचनाओं में ओत-प्रोत है। एक नवोदित कलाकार के उज्जल भविष्य का यह शुभ लक्षण कहा जा सकता है।

कहानियों में 'बन्दी का मोह' शीर्षक कहानी कलात्मक दृष्टिकोण से बहुत कुछ सफल कही जा सकती है, यद्यपि इसका अन्त भी कल्पना की गहरी रंगीनी में यथार्थता से दूर जा छिटकता है। एकांकी नाटकों में 'समाधि का फूल' इस पुस्तक की सर्वोत्कृष्ट रचना है। संक्षेप में कहानियों की अपेक्षा लेखक को एकांकी नाटक लिखने में अधिक सफलता प्राप्त हुई है।

श्री जैनेन्द्रकुमारजी द्वारा लिखी गई 'भूमिका' के इन शब्दों से मैं पूर्णतः सहमत हूँ कि 'जितना इस पुस्तक के लेखक दे सके हैं, यथार्थ को उससे अधिक स्वीकृति और सम्मान देय है।'

प्रूफ़ और व्याकरण सम्बन्धी अनेक गलतियाँ इस संस्करण में रह गई हैं। आशा है, दूसरे संस्करण में इन्हें दुरुस्त कर दिया जायगा।

—देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त'

स्वाधीनता के पथ पर—(उपन्यास)—लेखक श्री गुरुदत्त एम० एस-सी०, प्रकाशक विद्या-मन्दिर लिमिटेड, कर्नाट सरकस, नई दिल्ली—पृष्ठ संख्या ५७७

इस उपन्यास के लेखक-'उच्च शिक्षा' प्राप्त हैं और प्राक्कथन में यह कहा गया है कि "विचार-प्रोत्साहन साहित्य का बहुत ऊंचा स्थान है। लेखक का आशय इसी तक पहुँचने का था।" अतः हमें यह आशा हुई कि प्रेमचन्द और प्रसाद जी के न रहने से हिन्दी के इस क्षेत्र में जो उच्च स्थान अब तक ज्यों के त्यों खाली पड़े हैं उनमें से इनके द्वारा किसी की कुछ पूर्ति की सम्भावना हो सकती है।

'लेखक की यह उत्कट इच्छा थी कि देश की राजनीतिक अवस्था को आधार बनाकर कुछ कहानियाँ लिखी जायें। इस इच्छा की पूर्ति में यह तुच्छ प्रयास किया गया है।' अनुक्रमणिका देख कर एक सज्जन ने इसे कहानियों का संग्रह ही समझा और सचमुच यह कहीं बेहतर होता अगर इस उपन्यास के स्थान पर लेखक महाशय ने कई कहानियाँ ही लिख डाली होतीं। लेखक का कहना है कि 'हिंसात्मक उपाय और अहिंसात्मक उपायों पर, निष्पक्ष रहकर, प्रकाश डालने का यत्न किया गया है।' पर उपन्यास कुछ और ही कहता है। इसके पढ़ने वालों को दो में से किसी के प्रति भी निष्पक्षता दिखलाई नहीं पड़ सकती। कुल उपन्यास के हिंसा-

त्मक प्लाट का पक्ष 'यथार्थ रूप' में प्रकट किये जाने की कौन कहे, उसके निकट भी नहीं है, अहिंसा तथा खद्दर आदि के पक्षों की तो पूरी दुर्गति हो गई है।

क्रान्तिकारी पार्टी वालों के बारे में कहलाया गया है...'वे धर्म की निन्दा इसलिए करते हैं क्योंकि रूस में धर्म की निन्दा होती है—सब से अधिक मन को ठेस पहुँचाने वाली बात तो उनमें से सदस्यों का भ्रष्ट आचरण है। भ्रष्ट मैं अपने विचार से कहता हूं। वे तो इसे अनुचित नहीं समझते। भले घरों की लड़कियों को फुसला कर पार्टी में सम्मिलित कर लेना और फिर उनसे व्यभिचार करना, गर्भ रहने पर गर्भपात करना यह उनकी साधारण चरित्र कथा है। डाके डालकर रुपया इकट्ठा करना और फिर उसे उक्त आचरणों में व्यय कर देना, ये लोग अपना अधिकार समझते हैं...' आगे लिखा है—'यह सब कथा सुनकर द्विवेदी का हृदय काँप उठा। उनकी पार्टी में भी कमल ऐसा था जो अपनी वासना से बाध्य हो कर पार्टी को हानि पहुँचाने को प्रस्तुत होगया था।...(पृष्ठ ३४७-३४८)

अतः क्या आश्चर्य यदि हमारे मन में भी यही आवे कि यहां 'नव युवकों का पतन सर्व व्यापक है।' पर क्या यही 'यथार्थ' है?

'एक केस में जब पुलिस वाले किसी को सरकारी गवाह नहीं बना सके तो उन्होंने एक बन्दी से कहा, 'अरे तुम कुछ नहीं बताओगे तो अमुक युवक उस लड़की को पा जायगा जिसे तुम चाहते हो।' इसका परिणाम यह हुआ कि उस बन्दी ने फ़रार साथी के पकड़ने का रहस्य बता दिया। इस प्रकार सब पकड़ गये।' (पृष्ठ ३४९)

"आप से झूठ कह कर मुझे क्या प्राप्त हो सकता है? मैं तो एक परिणाम पर पहुँचा हूं। वह यह कि कई कारणों से हमारा चरित्र बिगड़ गया है और ऐसी संस्थायें चरित्रहीन युवक नहीं चला सकते। देश में राजनीतिक कार्य करना गाड़ी को घोड़े के आगे लगाना है..."

इसी तरह खद्दर और महात्मा जी पर।'...देशोन्नति में खद्दर का कोई स्थान नहीं। जब तक तो कांग्रेस भावों को उभार उभार कर लोगों को खद्दर पहिनाती रहेगी तब तक कुछ जुलाहों को दो आना रोज़की मज़दूरी मिलती रहेगी। परन्तु ज्योंही भावुकता की सहायता से खद्दर वंचित हुआ उसे कोई नहीं पूछेगा और ये जुलाहे जिनको आप उन्नत होने से रोक रहे हैं भूखे मर जायंगे।'...'जो वस्तु महंगी है वह बाजार में नहीं चल सकती। आप को यह काम छोड़ कर और काम करना चाहिए। अपनी शक्ति और लोगों के रुपये का अपव्यय ठीक नहीं।' (३८०-१) इनका कुछ दूसरा प्रबल पक्ष भी है। वह कहीं नहीं दिखलाई देता। 'दो आने रोज़' 'यथार्थ' नहीं और और काम मिल सकने की बात का तो कहना ही क्या!

'वह (महात्मा गान्धी) तो बिना डाक्टरी पढ़े डाक्टर, बिना अर्थशास्त्र पढ़े देश को आर्थिक व्यवस्था देने वाले, बिना इतिहास पढ़े इतिहास लिखने वाले और बिना संस्कृत पढ़े गीता का अनुवाद करते हैं।...(३८१)

'...भारतवर्ष में मोहनदास कर्मचन्द चन्द गान्धी पहले महात्मा नहीं हैं। महात्मा बुद्ध से लेकर अनेकों महात्मा आये और चले गये और प्रत्येक अपने जाने के पीछे देश को कुछ पतित अवस्था में ही करके गये हैं। इन महात्माओं ने देश के लोगों को अपाहिज, अंधविश्वासी और विचारशीलता से दूर ही किया है।...आखिर यह खेल कब तक चलता रहेगा?' (४०५-६)

'...हिन्दू-मुस्लिम तनाव पहले अवश्य था परन्तु देशव्यापी दंगे...असहयोग आन्दोलन के असफल होने से ही हुए हैं।' (४०८)

'...यह देश का दुर्भाग्य है कि देश का नेतृत्व इस समय जैन मतावलम्बियों के हाथ में है। इससे तो देश और पतन की ओर ही जा सकता है।'—इसी पर आपका ज़ोर है।

भारत में 'टाइम-बमों' के फटने के 'देश-व्यापी षड्यन्त्र की कल्पना किस प्रकार उचित या 'यथार्थ'

से सम्बन्ध रखने वाली कही जा सकती है ? कब ऐसी कोई घटना हुई ?

अन्त में 'बुद्धि का फेर' जिस प्रकार अंकित किया गया है वह ऐसे उपन्यास के अनुकूल ही है—अर्थात् सर्वथा अस्वाभाविक। नायिका को विचित्र अहिंसा वादिनी बनाकर और 'बिहार के महात्मा गान्धी' की अनुयायिनी बता कर अन्त में स्वर्गपुरी भेज दिया गया और नायक जेल-सुपरिन्टेन्डेन्ट का कृतज्ञ और हिंसा अहिंसा दोनों को कुछ भी न समझ पाने वाला दिखला कर पागल बना दिया। अन्तिम पृष्ठ में इस 'संस्कृत में शास्त्री, अंग्रेज़ी में बी० ए०, हिन्दी में साहित्यरत्न, गायन-विद्या में आचार्य, चित्रकला में निपुण, मनुष्य को हम, लेखक की इच्छानुसार, 'डाढ़ी मूछ लम्बी लम्बी—कपड़े चिथड़े—मुख पर झुर्रियां और विकराल बाल' लिये देखते हैं और छोटे छोटे लड़के उसे कंकड़ पत्थर मार रहे थे—' (अन्तिम पृष्ठ ५७७)

इस प्रकार किसी भी दृष्टि से यह उपन्यास सफल नहीं कहा जा सकता। अच्छा हो यदि लेखक महोदय अपटन सिनक्लेयर के 'तैल'—'जंगल' आदि के ढङ्ग के उपन्यास लिखने का प्रयत्न करें। विश्व-समस्याओं और सभी देशों की कठिनाइयों को लेकर चलने में उनके विचार ऐसे उलझे न रहेंगे और तब महात्मा गान्धी का महत्व ही नहीं खद्दर की इस समय जो उपयोगिता चीन और भारत के लिए है उसे भी वे 'निष्पक्ष रूप' से दिखला सकेंगे। यह तो लेखक का प्रथम ही प्रयास है।—वि० वर्मा

जाति-भेद—लेखक बाबू तीर्थराम जी—प्रकाशक जात-पाँत तोड़क मण्डल—लाहौर। पृष्ठ संख्या ६७ मूल्य ।)

'इस पुस्तिका के लेखक एक विचारशील और सफल व्यापारी हैं।' यह इसके 'मुख बन्ध' में लिखा हुआ है। इन 'विचार-शील' महोदय का कहना है कि 'जाति-भेद ने समाज रचना में ऐसे बनिये और ब्राह्मण उत्पन्न कर दिये हैं जो सदा सोचते ही रहते हैं। सदा सोचते रहने वाले मनुष्य कायर हो जाते हैं। वे सैनिक दृष्टि से निकम्मे और 'निरर्थक' होते हैं। फलतः सारा का सारा राष्ट्र इस जाति-भेद के कुछ भाव से 'नाकारा और निरर्थक' हो गया है।...परिणाम यह है कि हम संसार में प्रत्येक व्यवसाय में प्रगति की दौड़ में सब से पीछे हैं।' भारत के कड़े से कड़े विरोधियों में से भी ऐसे कुतर्कों के उपयोग का दुस्साहस कितनों को हुआ है ? यदि लेखक का तर्क ठीक होता तो वे 'सफल व्यापारी' भले ही हो जाते पर उनके जो लाखों भाई आज समर-भूमि में हैं उनमें ब्राह्मण आदि जाति का एक भी नज़र न आता। 'प्रत्येक व्यवसाय की प्रगति की दौड़ में' यह देश जिन कारणों से पीछे है उन्हें वे अपने बताये 'विनिमय पद्धति' के कारणों के साथ अन्य 'साम्राज्यवादी' करतूतों को मिलाकर भली भाँति जान सकते हैं। दो सौ साल पहले भी इस देश में जाति पाँति थी पर तब यह देश स्वाधीन था और इसका व्यवसाय लंदन से जिस तरह होता था वह इतिहास के पृष्ठों में अंकित है।

'जाति भेद का दूसरा कुफल यह हुआ कि समूचे भारतीय राष्ट्र की संस्कृति एक नहीं रह सकी—जाति-भेद ने हमारी संस्कृति को बहुत नीच बना दिया है।' और 'संस्कृति' की आप व्याख्या करते हैं—'आपस में खान पान और ब्याह शादी करते समय किसी जन-समुदाय का जो दृष्टिकोण होता है वही उसकी संस्कृति कहलाती है'—'यदि यह अलग करने वाली संस्कृति न होती तो हिन्दुओं और मुसलमानों में फूट न होती।' मुसलमानों-मुसलमानों में और ईसाई ईसाइयों में जो फूट और झगड़े हैं उनकी ओर ध्यान देना आपने व्यर्थ समझा। आप को दिखाई देता है कि हिन्दुओं में 'बनिए की संस्कृति अलग है, ब्राह्मण की अलग,' 'मुसलमानों की संस्कृत एक है।' इतना ही नहीं इनके 'हित' अलग अलग हैं, 'जो चीज़ जाट के लिए अमृत है वही बनिए के लिए विष है।' अतः आपने नतीजा निकाला है कि 'जब तक रक्त एक नहीं होगा, शेष सब बातें संयुक्त राष्ट्र का आधार नहीं बन सकतीं—वर्तमान दशा में भारतीय जनता एक ऐसा राष्ट्र है जो कभी संयुक्त नहीं हो सकता।'

आपने स्थान स्थान पर अपनी अनेक खोजें भी लिख दी हैं—(१) इङ्गलैण्ड के वर्तमान शासक फ्रांस के राज वंश में से हैं (पृष्ठ ३८) (२) 'हिन्दुओं की प्रकृति में कोई ऐसा जन्मसिद्ध दोष है जिसके कारण वे देश की स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं कर सकते और अपनी स्वतन्त्रता को बनाये रखने के अयोग्य हैं।' (३) महात्मा गान्धी का अहिंसा पर बल देना इस बात का प्रमाण है कि वे लड़ने वाली सैनिक श्रेणियों के हाथ से सत्ता छीन लेना चाहते हैं। आदि—आदि

एक स्थान पर आपने अपनी कलई स्वयं ही खोल दी है—'आप कहेंगे कि यदि हम आपकी तर्क शैली को स्वीकार कर लें तो इसका परिणाम केवल यह निकल सकता है कि वर्तमान अवस्था में भारत इस योग्य ही नहीं कि वह स्वतन्त्र हो सके। सो यदि आपने ऐसा कहें तो आपने मेरे भावों को ठीक समझ लिया।' धन्य है! सेठ जी, धन्य है!

जहां जाति-भेद पर श्री क्षितिमोहन सेन आदि विद्वानों द्वारा किये हुए वैज्ञानिक विवेचन से सब को लाभ हो सकता है वहाँ ऐसे 'विचारशील' लेखकों का 'विवेचन' किसी को भी लाभ नहीं पहुँचा सकता।—प्रयागदत्त शर्मा

हिंसक युद्ध पर विचार

पाशविक शक्ति के सामने मनुष्य ने सर झुका दिया है और भय से थर थर काँपते हुये वह युद्ध के भयानक देवता की पूजा कर रहा है।...उसनेअब तक जो रचना की थी, उसमें से बहुत कुछ नष्ट हो चुका। उसकी सभ्यता और संस्कृति का जो अंश बाक़ी बच गया है, उसके भी जड़ से नष्ट हो जाने की सम्भावना है।...इस पागलपन की दर्दनाक चीख़ गम्भीर होती जा रही है और उसका विस्तार बढ़ता जा रहा है। लेकिन अभी तक शायद यह पागलपन अपनी प्रचण्ड पराकाष्ठा को नहीं पहुँचा।

यह एक लाज़मी बात कि इस तरह के संकट मनुष्यके दिल पर गहरा असर डालें और उसे सोचने पर मजबूर कर दें। ऐसे ऐसे मौक़ों पर ही मनुष्य समाज को उसकी विनाशक भूलों से बचाने के लिये बड़े बड़े आध्यात्मिक और धार्मिक आन्दोलन जन्म लेते रहे हैं।...इन आन्दोलनों का असली मक़सद फिर से ठीक नीवों पर समाज की रचना करना और मनुष्य का कल्याण करना होता है। यह आन्दोलन आख़िरकार अपने इस मक़सद को एक बड़े पैमाने पर पूरा करके रहते हैं। मालूम होता है कि इस समय हम इतिहास के एक ऐसे ही दौर में से गुज़र रहे हैं और इसी तरह के एक संसार व्यापी आन्दोलन की झलक क्षितिज पर साफ़ दिखाई दे रही है। —श्री मंज़र अली सोख़्ता

"जो हमले यूरोप की गोरी क़ौमों ने दुनिया की काली, लाल और पीली क़ौमों पर किये, उनकी तो बात करना ही व्यर्थ है।...इन हत्यारों के हाथों में इंजीलें रहती थीं, उनकी आत्मा की तसल्ली के लिये उनके पादरी उनके साथ साथ रहते थे, और वे उन मुल्कों के कमज़ोर और असहाय बाशिन्दों पर वे सब भयंकर से भयंकर अत्याचार करते जाते थे। ग़ैर ईसाई क़ौमों के ख़िलाफ़ ईसाई धर्म के झण्डा बरदारों के ये काले पाप, जिन्हें पढ़कर दिल घबरा उठता है, इतिहास लेखक प्रेसकौट की दर्दनाक किताबों में लिखे हैं। वही हाल अफ़रीका और आस्ट्रेलिया की पुरानी क़ौमों के साथ किया गया। क़ौमों की क़ौमें दुनिया से मिट गईं।

"यह अन्दाज़ा लगाया गया है कि थर्टी ईयर्स वार के कारण जर्मनी की आबादी एक करोड़ साठ लाख और कुछ हज़ार से घटते घटते साठ लाख से भी कम रह गई। कुछ हिस्सों में आबादी का छठवां हिस्सा और लोअर पैलेटाइन में सिर्फ़ दसवां हिस्सा बाक़ी रह गया। खेती, तिजारत, दस्तकारी सब बेहद घट गईं। एक भयंकर नैतिक महामारी सारे देश में फैल गई।..."औरतों की वह हालत हो गई, जो किसी भी ख़ानाबदोश गिरोह या चलते फिरते कम्पू के साथ साथ चलनेवाली गुलाम लौंडियों की होती है।'

"यह वह हाल है, जो एक ही क़ौम के लोगों ने आपसी लड़ाई के दिनों में एक दूसरे का कर डाला। दोनों दलों के लोग एक ही ईसाई धर्म के मानने वाले भी थे।" —डा० सैयद महमूद

लड़ाई का हाल

यह बात साफ़ होती जाती है कि उत्तरी अफ्रीका में रोमल को काफ़ी कुमक न भेज कर हिटलर ने कितनी भयङ्कर भूल की थी! अफ्रीका में धुरी सेनाओं के पराजय के बाद मेडिटेरेनियन का निचला हिस्सा आप ही आप उनके वैरियों के क़ब्ज़े में आ गया। ट्यूनिस की लड़ाई धीरे धीरे चलती रही और उधर अमेरिका व ब्रिटेन अगले मोर्चे के लिये ज़्यादा से ज़्यादा ताक़त जमा करते रहे। ट्यूनिस ख़ाली होते ही उन्होंने मेडिटेरेनियन में उत्तर की ओर खिसकना शुरू किया। जिस तरह मित्रराष्ट्रों के बचाव की सबसे कमज़ोर कड़ी हिन्दुस्तान है उसी तरह धुरी राष्ट्रों का सबसे कमज़ोर पहलू इटली है। अङ्गरेज़ों और अमेरिकनों का युद्धकौशल इस समय यही है कि इस कमज़ोरी से फ़ायदा उठाया जाये। इसके लिये उन्होंने पहिले मेडिटेरेनियन के द्वीप समुदाय को एक एक कर के लेना शुरू किया है। पेंटेलेरिया आदि छोटे छोटे टापुओं को लेने के बाद उन्होंने सिसली पर धावा कर दिया है। और इस समय आधा सिसली मित्र-सेनाओं के हाथ में है। इस अभियान में उनकी हवाई और जहाज़ी ताक़त इतनी ज़्यादा है कि बचाव करने वालों के क़दम कहीं न जम सके। और अब उनके पास इसके सिवा कोई चारा नहीं कि सिसली के उत्तर-पूर्वी कोने में ज्वालामुखी एटना के दामन में पनाह लें। ऐसा लगता है कि यहाँ जर्मन जम कर लड़ेंगे क्योंकि मसीना की खाड़ी के रास्ते वह आसानी से इटली आ-जा सकते हैं। फिर भी इस मोर्चे का अधिकाधिक लाभ यही है कि उन्हें इटली के बचाव का प्रबन्ध करने की मोहलत मिल जाये। वरना विपक्षी की शक्ति को देखते हुए सारे सिसली पर उसका अधिकार कुछ ही दिनों की बात है। सिसली की तरह सार्डिनिया और कोर्सिका के टापुओं का बचाव भी असम्भव मालूम होता है। अलबत्ता पूर्वी मेडिटेरेनियन के टापुओं पर मित्र-राष्ट्र इतनी आसानी से क़ब्ज़ा न कर सकेंगे। एक तो उनकी तादाद बहुत है, दूसरे उनका बचाव जर्मनों के हाथ में है। यह भी सम्भव है कि मित्र-राष्ट्र ज़्यादा देर लगाना ठीक न समझें और इटली की परेशानी से फ़ायदा उठाने के लिये उस पर फ़ौरन ही चढ़ाई कर दें। यह सब बातें जल्दी ही साफ़ हो जायेंगी। क्योंकि सर्दी शुरू होते ही यूरोप में धुरी-शक्ति की मुसीबत बढ़ जायेगी। सारे दक्षिणी यूरोप पर हमला हो सकेगा क्योंकि अटलांटिक की ओर जर्मनों ने जैसी किलाबन्दी की है वह मेडिटेरेनियन की ओर नहीं हो सकती। दूसरे यूरोप के दक्षिण में इतना जाड़ा नहीं पड़ता कि लड़ाई रुक जाये। उधर रूसी अपने मोर्चे पर जर्मनों को आराम से न बैठने देंगे। इस तरह जर्मन युद्ध-कौशल जो शक्ति के जमाव पर क़ायम था, अब शक्ति को बिखेरने के लिये मजबूर है। और इससे जर्मन जनरल डीटमार के इस कथन का समर्थन होता है कि जर्मनी अब बचाव की लड़ाई लड़ेगा।

सिसली के अभियान को रूसी दूसरा मोर्चा नहीं मानते। यह ठीक भी है। यूरोप की चढ़ाई की तैयारी से ज़्यादा इसकी हैसियत नहीं है और अमेरिका के युद्ध सचिव ने यह बात मानी भी है। हां, ब्रिटेन और अमेरिका के नेता बराबर यही कहे जाते हैं कि यूरोप की चढ़ाई की घड़ी निकट आ रही है। वह यह भी कहते हैं कि यूरोप में उन्हें ७०—८० लाख धुरी सैनिकों का मुक़ाबला करना होगा। लेकिन इनमें से आधे रूस के दलदल में फंस कर रह गये हैं। और बाक़ी यूरोप के एक दर्जन ग़ुलाम देशों की चौकसी के साथ सारे महाद्वीप के तट की चौकीदारी के लिये मजबूर हैं। यही देखते हुए धुरी नेताओं ने सफ़ाई से कहना शुरू कर दिया है कि अङ्गरेज़ और अमेरिकन महाद्वीप में कहीं-कहीं सेना उतारने में सफल हो जायेंगे। अगर दूसरा मोर्चा क़ायम हो गया तो यह भी अजब नहीं कि जर्मन अपने को माझिनो

लाइन, ड्रेनर की घाटी और नीपर नदी की हद में क़िलाबन्द कर बैठें। जो भी हो, यूरोप में धुरी के लिये यह बड़े सङ्कट का मौक़ा है इससे इनकार नहीं हो सकता।

उधर रूस के मैदान में दोनों लड़ैत 'सलामी के पैतरे' दिखला रहे हैं। दोनों में से किसी का साहस नहीं होता कि एकाएक अपनी सारी ताक़त लड़ाई में झोंक दे। आधी गर्मी गुज़र गई पर जर्मनी ने बड़े पैमाने पर कोई चढ़ाई न की और अब साइबेरिया में लड़ाई का मौसम भी बीत रहा है। जर्मनी की किंकर्त्तव्य-विमूढ़ता का कारण केवल दूसरे मोर्चे का खटका नहीं, बल्कि रूस की ज़बर्दस्त तैयारी भी है। जो लोग युक्रेन छिन जाने के बाद सोचते थे कि रूस को अब जंगी माल कहाँ से मिलेगा, वह देख रहे हैं कि साम्यवादी सङ्गठन में असम्भव भी सम्भव है। यूराल की खानियों और कारख़ानों से बहुत बड़ी तादाद में अस्त्र-शस्त्र निकल रहे हैं और इस समय सारे मोर्चे पर रूसी हवाई-जहाज़ों का बोलबाला है। कुर्स्क के जर्मन हमले और ओरेल के रूसी हमले की हैसियत लगभग एक सी है। अन्तर इतना है कि जर्मन इस अग्रसर रूसी छावनी को ले सके पर 'ओरेल' का जर्मन क़िला रूसी शिकंजे में हर तरफ़ से घिर गया है। जर्मन भी मानते हैं कि रूसियों ने अगली चढ़ाई के लिये बड़ा प्रबन्ध कर रखा है। पर रूसी कहते हैं कि वह अगला क़दम तभी उठायेंगे जब उनके साथी यूरोपियन महाद्वीप पर मोर्चे क़ायम करदें।

इस बीच में रूस के मित्र-देशों में यह अफ़वाह चक्कर लगाती रही कि जर्मनी और रूस में समझौते की बातचीत हो रही है। मास्को रेडियो ने खुले शब्दों में इस अफ़वाह को बेबुनियाद बतलाया है। ऐसी अफ़वाहें फैलाने वाले ब्रिटेन और अमेरिका के वह म्यूनिख़-वादी हैं, जो कहते हैं कि अगर रूस जर्मनी से समझौता कर सकता है, तो हम ही पहिले हाथ क्यों न बढ़ा दें।

युद्ध-काल में रूस और संगियों का सहयोग अवश्यम्भावी है। युद्ध के बाद क्या होगा यह नहीं कहा जा सकता। अङ्गरेज़ नेता उस ज़माने में भी रूस के सहयोग को ज़रूरी बतलाते हैं। पर साथ ही साथ मि० चर्चिल शांति की आधार-शिला अमेरिकन-ब्रिटिश मैत्री पर रखना चाहते हैं और जनरल जीरो इनके साथ फ्रांस को नत्थी करना चाहते हैं। कई जानकारों का ख़याल है कि अगर मध्य-यूरोप की प्रवासी सरकारों ने रूस का विरोध छोड़ दिया होता तो रूस से मतभेद न होता। ख़ास तौर पर पोलैंड और यूगोस्लाविया की सरकार लड़ाई के पहिले फ़ासिस्ट नीति पर चल रही थीं और अब भी उनके दिमाग़ ठिकाने आये हैं या नहीं इसका कोई असली सुबूत नहीं मिल सकता। सम्भव है कि कट्टर रूस-विरोधी जर्नल सिकोर्सकी के मर जाने के बाद वातावरण कुछ सुधर जाये।

उधर जापानी अपने नये साम्राज्य के सङ्गठन में लगे हुए हैं। प्रधान-मन्त्री जनरल तोजो ने हाल ही में सियाम, मलाया आदि का दौरा ख़तम किया है। सिंगापुर में सुभाषचन्द्र बोस की उपस्थिति से ऐसा लगता है कि बर्मा की सीमा पर जल्द कोई हंगामा होने वाला है। यह ज़ाहिर है कि पूर्वी एशिया की लड़ाई में बर्मा अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है। चीन को हर तरफ़ से अलग करके जापान ने अपने को सुरक्षित कर लिया है और उसके लिये ज़रूरी है कि बर्मा का रास्ता दोबारा न खुल पाये। जब तक चीन को जंगी सामान न मिले वह जापान का कुछ नहीं बिगाड़ सकता। यह सामान ब्रिटेन और अमेरिका ही भेज सकते हैं—और वह भी बर्मा की राह। इसलिये बर्मा का महत्व दोनों के लिये अत्याधिक है और लक्षण यही हैं कि शीघ्र बर्मा की सीमा पर कोई न कोई बड़े पैमाने पर फ़ौजी कार्रवाई करेगा। यह ज़रूरी नहीं कि जापान वहां अपने विरोधियों की तैयारी का तमाशा चुपचाप बैठा देखता रहे। और यह भी न भूलना चाहिये कि जर्मनी की सहायता के लिये जापान कुछ कर सकता है तो इसी तरफ़ से। यह सोचना भारी भूल है कि भारत पर से हमले का ख़तरा टल गया। और दक्षिण-पूर्वी पैसिफ़िक की

सीमित लड़ाई को भी बढ़ा-चढ़ा कर न देखना चाहिये। जापान की शक्ति पहिले से बहुत बढ़ गई है और अमेरिका के नौ-सचिव ने उस दिन कहा था कि उसे हराने के लिये कम से कम छः साल चाहिये।

आस्ट्रेलिया के उत्तर-पूर्वी कोने में अमेरिका ने अपनी ताक़त बढ़ा ली है और ऊपर के टापुओं पर हमला शुरू कर दिया है। इस क्षेत्र में जापान की सब से बड़ी छावनी 'रबोल' है। वहां तक पहुँचने के लिए सामने के क़िलाबन्द टापुओं को एक एक करके छीनना ज़रूरी है। अभी मंज़िल दूर है, पर अमेरिकनों को आसपास के इलाके पर हवाई आधिपत्य अवश्य मिल गया है। कहा जाता है कि इस क्षेत्र में जल्द बहुत बड़ी समुद्री लड़ाई होने वाली है। इस सिलसिले में यह ख़बर दिलचस्पी से पढ़ी जायेगी कि सिंगापुर का किंग जार्ज डाक—जो दुनिया में अपना जवाब नहीं रखता—मरम्मत के बाद जापानियों ने फिर उपयोग के क़ाबिल बना दिया है। सियाम को कुछ इलाक़ों का दान यह बतलाता है कि जापानी साम्राज्यवादी अपने प्रतिरोधियों से कम कुशल नहीं।

यह सब होते हुए भी जापान तभी तक सलामत है, जब तक मित्र-राष्ट्रों की सारी शक्ति यूरोप में लगी हुई है। जापान की साम्राज्यवादी नीति का तक़ाज़ा यही है कि किसी न किसी तरह जर्मनी को सङ्कट से उबारा जाये। इसके लिये वह क्या करेगा यह देखना है।

२३ जुलाई

सम्पादकीय-विचार

श्री गोपीनाथ का सुझाव—हमारी नीति—कपड़े का कंट्रोल—अंग्रेज पादरियों का बयान—स्वर्गीय अल्लाहबख़्श के हत्यारे—साम्प्रदायिकता और साम्राज्यवाद—दक्षिण अफ्रीका के भारतीय—सब उपनिवेश एक हों—

श्री गोपीनाथ का सुझाव

श्री गोपीनाथ श्रीवास्तव ने राष्ट्रीय कांग्रेस की मौजूदा हालत के विषय में जो वक्तव्य प्रकाशित किया है, वह पाठकों की नज़र से गुज़रा होगा। उनकी राय है कि आल इण्डिया कांग्रेस कमिटी के जो मेम्बर जेल से बाहिर हैं, उन्हें एक जगह जमा होकर अगस्त (सन् ४२) वाले प्रस्ताव को वापिस ले लेना चाहिये। गोपीनाथ जी का ख़याल है कि इतने सदस्य निकल सकते हैं जो कोरम पूरा करके कमिटी की कारंवाई को नियमित रूप दे सकें।

उनके प्रस्ताव के पहिले हिस्से से हम सहमत हैं, यानी ए० आई० सी० सी० के सदस्यों को एक जगह जमा होना चाहिये और उन राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं को भी जमा करना चाहिये जो कमिटी के बाक़ाएदा मेम्बर नहीं हैं—जैसे राजा जी और डा० किचलू। हमारी समस्याएँ ज्यों की त्यों हैं बल्कि और भी उलझ गयी हैं, उनके प्रति हमारा यह रुख़ नहीं हो सकता कि जब तक कांग्रेस पर से प्रतिबन्ध न हटे और राष्ट्रीय नेता रिहा न हों—हम कुछ नहीं कर सकते। यह सच है कि प्रस्तावित सम्मेलन कांग्रेस के नाम पर उसकी नीति में कोई बुनियादी तबदीली नहीं कर सकता। पर रोटी और कपड़े की मुसीबत के सिवा राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता क्या कम महत्वपूर्ण है, जिनके विषय में राष्ट्र को फ़ौरन पथ-प्रदर्शन की आकांक्षा है?

रह गयी अगस्त वाले प्रस्ताव की वापसी की बात। इस प्रस्ताव के केवल उस अंश की वापसी का प्रश्न उठ सकता है जिसमें सत्याग्रह आन्दोलन चलाने की बात कही गयी थी। पर यह आन्दोलन कब और कहाँ आरम्भ हुआ था? और क्या बम्बई के अधिवेशन में यह स्पष्ट नहीं कर दिया गया था कि प्रस्ताव पर अमल से पहिले महात्मा गान्धी वायसराय से बातचीत कर लें? इसलिये देश के राजनीतिक सङ्कट की ज़िम्मेदारी न इस प्रस्ताव पर है न प्रस्ताव बनाने वालों पर। बल्कि ब्रिटिश सरकार की दमन-नीति पर है। अगर उसे इस विषाक्त वातावरण को बदलने

की लेश-मात्रा चिंता है, तो बड़ी आसान सी बात है कि कांग्रेस नेताओं के जेल में परस्पर परामर्श का मौक़ा दिया जाये। देश की बदली हुई परिस्थिति पर वह ज़रूर ग़ौर करेंगे और अजब नहीं कि इस प्रस्ताव में संशोधन भी करें। यह काम उन्हीं लोगों का है। स्वतन्त्रता हमारा जन्मगत अधिकार है और इसकी माँग अटल है। जब तक यह अधिकार न मिले, हमारा संग्राम जारी रहेगा। पर प्रस्ताव का वह अंश जो एक ऐसे आन्दोलन के विषय में है जो कभी शुरू ही नहीं हुआ, देश और काल के देखते हुए अप्रयोजनीय है।

यह हमारी निजी राय हुआ करे, पर कांग्रेस के नाम पर यह कहने का हक़ मुट्ठी भर आदमियों को नहीं। इनमें से भी कई सदस्य ऐसे हैं जिन्हें अगस्त में या इसके बाद कांग्रेस से मतभेद हो गया। इस सूरत में उनका कर्त्तव्य केवल इतना है कि निजी हैसियत से एक जगह जमा हों, विभिन्न समस्याओं पर अपनी राय ज़ाहिर करें और प्रस्तुत परिस्थिति के देखते हुए राष्ट्र के आगे कोई कार्यक्रम रखें। इस प्रोग्राम का केन्द्र-बिन्दु 'एकता' हो और वहाँ तक पहुँचने का रास्ता हो। इस रास्ते में दूसरों से जितना भी सहयोग मिल सके लिया जाये।

हम राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओं के सम्मेलन के पक्ष में हैं। पर उसे किसी एक प्रयोजन तक सीमित करने के बदले सम्पूर्ण परिस्थिति पर सोच-विचार के लिये खुला रखना चाहिए। कांग्रेस के ग़ैर क़ानूनी होते हुए ऐसा जमाव किस तरह हो सकता है यह भी सोचने की बात है।

हमारी नीति

हम से बार-बार कहा जाता है कि 'विश्ववाणी' की नीति का स्पष्टीकरण करें। जहाँ तक हम जानते हैं उसकी नीति जो पहिले दिन थी वह आज भी है। उसके स्टेण्डर्ड के विषय में हम कोई बड़ा दावा नहीं कर सकते, क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति ने हमारे लेखकों का क्षेत्र संकुचित कर दिया है। पर हमारी नीति न कभी बदली है न बदल सकती है। फिर भी इस पूछ-ताछ का कारण यह है कि पत्रिका का जेल-बाहिर सम्पादक अपने को मार्क्सवादी कहता है और इसलिये ग़लतफ़हमी की काफ़ी गुंजायश है।

इतिहास के इस सब से बड़े संकट में हम मानवता के उद्धार के लिये दो बातों को ज़रूरी समझते हैं—सोवियत् रूस की विजय और हिन्दुस्तान की आज़ादी। फ़ासिज़्म की हार के लिये रूस की जीत और साम्राज्यवाद के विनाश के लिये भारत की स्वतन्त्रता नितान्त आवश्यक है। हमारी आज़ादी का सवाल सिर्फ़ क़ौमी मसला नहीं, बल्कि इस पर संसार भर के उपनिवेशों का भविष्य निर्भर है। उप-निवेशों की आज़ादी की बात न उठाने का मतलब है—सन् १९३३ के पोज़ीशन को वापिस लाने के लिये लड़ना। अगर मतलब यह नहीं है, तो भारत जो उपनिवेशों का अग्रनायक है, अवश्य इस समस्या को उठायेगा। हम समझते हैं कि हर गुलाम देश में मार्क्सवादी का सबसे बड़ा कर्त्तव्य राष्ट्रीय और साम्यवादी आन्दोलनों में सामंजस्य पैदा करना है।

यह सामंजस्य किस तरह पैदा हो सकता है, यह बतलाना राजनीतिक संस्थाओं का काम है। यह कपोल-कल्पना मात्र है कि अन्तर्राष्ट्रीय दबाव से ब्रिटिश साम्राज्यवाद भारत को स्वतन्त्र कर देगा। स्वतन्त्रता हमें अपनी शक्ति से मिलेगी, और इस शक्ति का मूलमन्त्र राष्ट्रीय एकता है। हम इसी एकता के लिये वातावरण पैदा करने का यत्न करते हैं और हालांकि संस्कृति का बाज़ार-भाव तै नहीं किया जा सकता, पर जो लोग ऐसा करना चाहते हैं उनकी क़ीमत बाज़ार में बिकने वाली चीज़ों से ज़्यादा क्या है?

कपड़े का कन्ट्रोल

लड़ाई ने हर तरफ़ जैसी दुर्दशा फैला रखी है, उससे लगता है कि मनुष्य फिर आदिम-युग की ओर लौट रहा है। जान बचाने के लिये लोग खाइयों में छिपे हुए हैं, कहीं घास और पत्तियों पर जीवन-यापन हो रहा है, कहीं केले के पत्ते पर चिट्ठी-पत्री हो रही है। ले-दे कर आदमी और जानवर का

बाहरी फ़र्क़ कपड़े में सिमट आया है, और हिन्दुस्तान में इस कपड़े की लम्बाई बहुधा लँगोटी से ज़्यादह नहीं है। पर—

हाय, उस चार गिरह कपड़े की क़ीमत ग़ालिब !

अन्दाज़ा लगाया गया है कि चार साल के अन्दर कपड़े की क़ीमत यहाँ पँच-गुनी हो गयी है। और चीज़ों की तरह कपड़े की समस्या भी मिल-मालिकों व दूकानदारों की लालच और शासन-कर्त्ताओं की लापरवाही के कारण पैदा हुई है। अब सरकार ने सूती कपड़े के कन्ट्रोल की ओर क़दम उठाया है। इससे कपड़े के व्यापारियों में खलबली मची हुई है और वह अपने स्वार्थ को राष्ट्रीय रूप देने की कुचेष्टा कर रहे हैं। इन लोगों ने जनसाधारण को वस्त्रहीन रखने की जैसी भीषण अभिसन्धि की है उसका पता इससे चलेगा कि दिल्ली और अमृतसर इन दो शहरों में लगभग २०-२५ करोड़ रुपये का कपड़ा गोदामों में दफ़न है। राष्ट्रसङ्कट से लाभ उठाने वालों से बड़ा राष्ट्रद्रोही कौन होगा और उनसे किसे सहानुभूति हो सकती है। हमें तो शिकायत इसकी है कि कन्ट्रोल बहुत नर्म है और युद्ध-काल के इन गिद्धों को पंजे मारने के अब भी बहुत से मौक़े हैं। आश्चर्य तो यह है कि अंग्रेज़ अधिकारी अन्न और वस्त्र जैसी बुनियादी चीज़ों का प्रबन्ध न करके शान्ति और व्यवस्था का ढिंढोरा पीटते हैं, और इसे अपना शासन-कौशल बतलाते हैं।

अंग्रेज़ पादरियों का बयान

हिन्दुस्तान में रहने वाले बहुत से ब्रिटिश मिशनरियों ने राजनीतिक परिस्थिति के विषय में एक बयान निकाला है। उसका प्रभाव कुछ हो या न हो पर थोड़ा सा महत्व अवश्य है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के आदि-युग में मिशनरियों ने उसकी बड़ी सेवा की थी। बाइबिल के बाद तलवार—यह कहावत निराधार नहीं है। पर साम्राज्यवाद धार्मिक सङ्गठनों से काम ले चुका और अब उसे उनकी ज़्यादा ज़रूरत नहीं। इस हालत में दूरदर्शी धार्मिक नेता महसूस करने लगे हैं कि वह इहलौकिक समस्याओं से अपने को बिलकुल अलग नहीं रख सकते। भारत में काम करने वाले ग़ैर अंग्रेज़ मिशनरियों को देश की राजनीति पर कुछ बोलने का अधिकार नहीं है। जिनका विवेक उन्हें चुप नहीं रहने देता, वह यहां से निकाल दिये जाते हैं। इस कारण अंग्रेज़ मिशनरियों का उत्तरदायित्व और भी बढ़ जाता है। हमें प्रसन्नता है कि उन्होंने अपने बयान में प्रगतिवादी होने का सुबूत दिया है। उनकी यह राय ठीक है कि जब भारतीयों को ब्रिटेन के ज़बानी वादों पर भरोसा नहीं, तो इन वादों के साथ कोई ठोस गारण्टी होना चाहिये। अगर ईसाई नेता परलोक और आने वाले देवलोक की चर्चा बन्द करके अपने अनुयायियों के मुर्दा विवेक में नई जान डालने की कोशिश करें, तो उनका अस्तित्व सर्वथा व्यर्थ न हो। सब से पहिले तो उन्हें अपने 'चर्च' में सुधार करना है। केथोलिक चर्च की तो बात ही क्या जो स्पेन, मेक्सिको आदि में बराबर प्रतिक्रिया-वादियों का साथ दिया करता है, ख़ुद इंग्लिश चर्च भी ब्रिटेन की सब से बड़ी पूंजीधारी संस्था है और इसलिये पूंजीवाद के समर्थन के लिये बाध्य है।

आशा है कि मिशनरियों का यह बयान भारतीय ईसाइयों को हमारे राजनीतिक जीवन से निकटतर ले आयेगा। कुछ समय से उनमें राष्ट्रीयता सजग होने लगी है और वह समझ गये हैं कि मालिक का धर्म स्वीकार कर के ग़ुलाम अपने को आज़ाद नहीं कर सकता।

स्व० अल्लाह बख़्श के हत्यारे

एडमिरल दारलां और जनरल सिकोर्स्की की तरह स्व० अल्लाह बख़्श की हत्या पर भी रहस्य की चादर पड़ गई है। उनके हत्यारों के पांव के निशान ऐसे ग़ायब हुए कि अब तक न मिले। सिंध सरकार ने इस पाशविक अपराध की जाँच के लिये एक ख़ास अफ़सर भी मुकर्रर किया है, पर अब तक उनके काम का नतीजा देखने में न आया। इससे यह आभास तो मिलता है कि हत्या मामूली लोगों ने नहीं की थी, बल्कि इसके पीछे कोई बड़ी साज़िश थी। साज़िश किन लोगों ने और क्यों की, यह जितनी जल्दी मालूम हो

सके अच्छा है क्योंकि अल्लाह बख्श साहिब का खून सारे देश के लिये विशेष अर्थ रखता है।

सांप्रदायिकता और साम्राज्यवाद

क्योंकि सब सांप्रदायिक संस्थाओं को बुनियादी तौर पर राष्ट्रीयता से विरोध है, इसलिये यह तो मुमकिन है कि कहीं न कहीं उनमें सहयोग हो जाये पर यह सम्भव नहीं कि वह राष्ट्रीय कांग्रेस से सहयोग करें। यह तमाशा आज देखने में आ रहा है जब हिन्दू-महासभा, मुस्लिम लीग और अकाली-पार्टी आपस में मिलकर प्रान्तों में संयुक्त मन्त्रि-मण्डल बनाने का प्रयत्न कर रही हैं। इन वज़ारतों के समर्थक कहते हैं कि कांग्रेस की अनुपस्थिति में दुनिया के काम तो नहीं रुक सकते और यह इससे तो अच्छा है कि जनता को गवर्नरों की स्वच्छन्दता के हवाले कर दिया जाये।

बात इतनी सीधी-साधी नहीं है। ब्रिटेन संसार को यह दिखाना चाहता है कि उसकी भारतीय नीति भारत में भी अप्रिय नहीं और सुबूत यह है कि कांग्रेस के सिवा सब राजनीतिक दल मौजूदा विधान को चला रहे हैं। राजनीतिक सङ्कट जितना तूल खींचेगा, सम्प्रदायवादी अपना सङ्कोच छोड़ कर साम्राज्यवाद के पास आते जायेंगे। जैसे ही मौजूदा विधान की गाड़ी चल पड़ेगी, अगला विधान बनाने की तैयारी शुरू हो जायेगी और इसमें कांग्रेस का कोई हाथ न होगा। ब्रिटेन और भारत की सरकारों में इस विषय में लिखा-पढ़ी भी हो रही है और कहा जाता है कि जैसे ही कांग्रेसी सूबों में मिली-जुली वज़ारतें बन जायेंगी, अगले विधान की तैयारी होने लगेगी। कांग्रेस की अनुपस्थिति साम्राज्यवाद और सम्प्रदायवाद दोनों को पसन्द है, क्योंकि इन दोनों में जीवन-मरण का सम्बन्ध है।

दक्षिण अफ्रीका के भारतीय

हाल ही में दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भाइयों का सम्मेलन यह सोचने के लिए हुआ था कि "काले बिल" को मनसूख कराने के लिये क्या करना चाहिये। यह जानकर दुख हुआ कि उनमें दो दल हो गये हैं और बजाय इसके कि वह सम्मानपूर्वक जीने के लिये आपस में मिल कर रहें, उनमें फूट पड़ गयी है। हमें तफ़सील मालूम नहीं, पर यह फूट ग़रीबों और अमीरों के विभिन्न दृष्टिकोण के कारण पैदा हुई है। और कुछ नहीं तो यह लोग मातृभूमि की दुर्दशा से ही सबक़ हासिल करें जिसकी सारी कठिनाइयों का मूल-कारण अनेकता है। होना तो यह चाहिये था कि गोरों की उग्र-नीति को देखते हुए सब उत्पीड़ित काले और भूरे एक हो जायें, लेकिन वहाँ तो हिन्दुस्तानी ही आपस में उलझ रहे हैं!

सब उपनिवेश एक हों

अब जो मित्र-राष्ट्रों की सैनिक परिस्थिति सुधर गयी है, तो उन्हें यह याद दिलाने में कोई हर्ज नहीं कि अफ्रीका और एशिया के उपनिवेशों में भी इन्सान बसते हैं और उन्हें भी प्रेज़िडेन्ट रूज़वेल्ट की बतलायी हुई 'चार स्वतन्त्रताओं' के उपभोग का अधिकार है। जो उपनिवेश इस समय मित्रराष्ट्रों के क़ब्ज़े में हैं अगर उनके प्रतिनिधि एक जगह जमा हो सकें तो कितना अच्छा हो। बजाय इसके कि हर उपनिवेश से जुदागाना बर्ताव किया जाये, उन सब की संयुक्त माँग और औपनिवेशिक समस्या का एक समाधान, भावी संसार के लिये बहुत श्रेयस्कर होगा। आशा है, यह सुझाव लोकप्रिय बन सकेगा और ब्रिटेन व अमेरिका उपनिवेशों को आपस में विचार-विनिमय का मौक़ा देने में रुकावट न डालेंगे। सहयोगियों से प्रार्थना है कि वह इस प्रस्ताव पर मत प्रकट करें।

अपनी बात

अस्वस्थता के कारण पिछली बार हम सम्पादकीय नोट न लिख सके थे। यह काम भी विजय वर्मा और 'विनोद' जी ने किया। यही दोनों विश्ववाणी के प्रधान स्तम्भ हैं वरना अमृतसर में बैठकर तरह-तरह के कामों में व्यस्त रहते हुए हम अपनी ज़िम्मेदारी पूरी न कर सकते। अब पहिली बार अगस्त के दूसरे सप्ताह में हम इलाहाबाद आकर "विश्ववाणी"-कार्यालय का दर्शन करेंगे। हमें विश्वास है इसके बाद पत्रिका का स्टैण्डर्ड और भी अधिक उन्नत हो सकेगा।

२४ जुलाई — अख़्तरहुसेन

इस अंक के कुछ लेख

(१) पश्चिम में विवाह की संस्था का दिवाला—सर पी० एस० शिव स्वामी अय्यर
(२) चीन और प्रशान्त युद्ध—प्रो० तान युन-शान
(३) वर्तमान युद्ध के कुछ रहस्य—एक प्रगतिवादी
(४) रवीन्द्रनाथ की अमृत-वाणी—श्री बैजनाथसिंह 'विनोद'
(५) मुसलिमकाल के इतिहासकार—श्री हरीशंकर एम० ए०

इनके अतिरिक्त श्री जैनेन्द्रकुमार का धारावाहिक उपन्यास, अनेक सुप्रसिद्ध कवियों, कहानी-लेखकों और विचारकों की कवितायें, कहानियाँ और विचार-धारायें।

वार्षिक मूल्य ६) 'विश्ववाणी' कार्यालय, इलाहाबाद एक अङ्क का ॥)

विषय सूची

सितम्बर १९४२

जो सज्जन 'विश्ववाणी' के नये ग्राहक बनें वे अपने पत्र में 'नया ग्राहक' लिखने की कृपा करें। हमारे पुराने ग्राहक, पत्र व्यवहार करते समय अपने पत्र में अपना ग्राहक नम्बर और 'पुराना ग्राहक' लिखने की कृपा करें।

जो सज्जन अपने पत्र का उत्तर चाहते हों वे कृपया जवाबी कार्ड भेजने की कृपा करें।

—मैनेजर

'विश्ववाणी' पर चीन-भवन के डाइरेक्टर
प्रो० तान युन-शान की राय

MY IMPRESSIONS OF 'VISVA-VANI'

The editor of Visva-Vani has done me a great honour by asking me for my huumble opinion of the laudable magazine, the Visva-Vani, which is already very well-known to the whole country of India since its very inception although within such short time of less than two years and has been so will edited, nicely printed and properly managed. It is hardly necessary for me to say any thing about it And moreover, I am a man of not much opinion. I may simply give here a few of my impressions of this magazine—the Visva-Vani.

(1) So far as I can see, this magazine is purely a cultural and literary one. Its aim and object seem mainly to bring about a synthesis in different cultures thereby to promote intimate understanding and friendly relationship among different peoples both inside and outside India, Hindu-Muslim unity being the foremost in this direction. There is no political bickering in this magazine. It does not serve as a means of political or any other kind of propaganda. Such lofty standing and undertaking should be appreciated by all people.

(2) The special China Number, published some months ago, has gone a long way to place before the Hindi-knowing people who are generally found in the whole country of India, the various aspects of Chinese culture. Such kind of publication in Hindi will no doubt help to pave the way for a still better understanding between the two great nations, India and China, whose cultural relationship exists from time immemorial.

(3) The founder of this magazine, Pandit Sunder Lal, and the Chief Editor, Pandit Vishwambher Nath, and their co-workers have been able to keep a very high standard of the magazine. Their sublime effort should be appreciated and supported by all of us who are working in the cultural line for the good of humanity. I am sure that they will have every success in their task and the magazine itself will have a great and prosperous future !

Cheena-Bhavana,
Santiniketan,
16-8-1943.

Tan Yun-Shan.

(अनुवाद पीछे)

'विश्ववाणी' पर चीन-भवन के डाइरेक्टर

प्रो० तान युन-शान की राय

'विश्ववाणी' सम्पादक के लिए एक संक्षिप्त सन्देश—

इस प्रशंसनीय पत्रिका के विषय में मेरी सम्मति की जिज्ञासा करके मेरा यथेष्ट सम्मान किया गया है। 'विश्ववाणी' पत्रिका ने अपने उत्कृष्ट सम्पादन, अपनी सुन्दर छपाई और अपने सुप्रबन्ध के कारण इन दो वर्षों के अन्दर भारत के प्रत्येक भाग में अच्छी ख्याति और प्रशंसा प्राप्त कर ली है। मुझे इस पत्रिका के बारे में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। और न मेरी सम्मति का कोई विशेष महत्व है। 'विश्ववाणी' के प्रति मैं अपने कतिपय विचार प्रकट करता हूँ।

(१) जहाँ तक मैं समझता हूँ, यह केवल सांस्कृतिक और साहित्यिक पत्रिका है। विभिन्न संस्कृतियों का संश्लेषण (synthesis) इसका मुख्य उद्देश्य और विषय है। भारतीय सीमा के भीतर और बाहर नाना जातियों में पारस्परिक जानकारी और मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध का यह यथेष्ट संवर्धन कर रही है। इस दिशा में हिन्दू मुस्लिम ऐक्य संस्थापन इसकी विशेषता है। इस पत्रिका में राजनैतिक झगड़ों का स्थान नहीं। यह राजनैतिक अथवा किसी अन्य प्रकार के प्रचार का साधन नहीं। ऐसा महान उद्देश्य और ऐसा प्रयास सर्वथा प्रशंसनीय हैं।

(२) चीनी विशेषांक ने, जो कुछ महीने पहले प्रकाशित हुआ है, भारतवर्ष भर में फैले हुए हिन्दी-जानकारों के सम्मुख चीनी संस्कृति के भिन्न स्वरूपों का ज्ञान कराने में बहुत बड़ा भाग लिया है। निस्सन्देह हिन्दी का ऐसा प्रकाशन संसार के दो महान राष्ट्रों—चीन और भारत—में, जिनका सांस्कृतिक सम्बन्ध चिरकाल से चला आ रहा है, और भी अच्छे पारस्परिक समझौते के मार्ग-निर्देश में सहायक होगा।

(३) इस पत्रिका के संस्थापक पं० सुन्दरलाल, और इसके प्रधान सम्पादक पं० विश्वम्भरनाथ तथा इसके अन्य सहकारी इस पत्रिका के स्टैन्डर्ड को बराबर उच्च बनाये रखने में सफल हो सके हैं। मानवता के कल्याणार्थ सांस्कृतिक क्षेत्र में काम करने वाले हम सभी लोगों को चाहिये कि इनके महान प्रयत्न को स्वीकार कर इन्हें प्रोत्साहित करें। मुझे विश्वास है कि इन्हें अपने कार्य में सफलता प्राप्त होगी और पत्रिका का भविष्य श्रेयस्कर और उज्ज्वल होगा।

चीना-भवन
शान्तिनिकेतन
१६, ८, १९४३

(हस्ताक्षर) तान युन-शान

युक्तप्रान्त, पंजाब, बम्बई, मद्रास, मध्यप्रान्त और बरार, होलकर राज्य, मेवाड़, जोधपुर, मैसूर और काश्मीर के शिक्षा
विभागों द्वारा स्कूल और कालेज लाइब्रेरियों के लिए स्वीकृत

वर्ष ३, भाग ६	सितम्बर, १९४३	अङ्क ३, पूरे अङ्क ३३

साथी

"विनोद"

दुख जिनका सहचर साथी !
जिनके जीवन की साँसें नित नव अभाव में चलतीं।
छाती की अहरह धड़कन जीवन की घड़ियाँ गिनतीं।
जीवन जिनका जीता शव, फिर भी जीते जाते जो—
उन जीवन के जीवन का बन जाना अनुचर साथी !
दुख जिनका सहचर साथी !

युग - युग से जिन हाथों ने मानवता को सिरजा है।
जिनके जीवन का प्रति पद, मन्दिर मसजिद गिरजा है।
होकर प्रकाश के वाहन, जो अन्ध-अमा में रोते—
उन टूटे हुए दिलों का बन जाना अनुचर साथी !
दुख जिनका सहचर साथी !

तन तोड़ श्रम करते जो, जिनकी क़िस्मत सोती है।
जो लाज मनुज के ढँकते, जिनकी लज्जा रोती है।
जो संस्कृति के जीवन-धन, संस्कृति से निपट अछूते—
उन श्रम के दीवानों का बन जाना अनुचर साथी !
दुख जिनका सहचर साथी !

१ अगस्त, ४३

पश्चिम में विवाह की संस्था का दिवाला

सर पी० एस० शिव स्वामी अय्यर

आजकल का ज़माना आज़ादी का ज़माना है। ज़िन्दगी के हर पहलू में और विचारों के हर क्षेत्र में इनसान आज़ादी चाहता है। यह दूसरी बात है कि आज़ादी इस सीमा तक न पहुँची हो जिससे बरट्रेंड रसल जैसे स्वतन्त्र विचारक को सन्तोष हो किन्तु फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि बीती हुई शताब्दियों की अपेक्षा इस बीसवीं शताब्दी में विचार-स्वतन्त्रता में आश्चर्यजनक उन्नति हुई है। इस सम्बन्ध में मिसाल के तौर पर यौन-समस्या (Sex Problem) को ही लीजिये। पुस्तकों और सर्वप्रिय पत्रिकाओं में इस विषय पर जितनी आज़ादी से आजकल लिखा और पढ़ा जाता है पिछली शताब्दी में इसकी कोई कल्पना भी न कर सकता था। समाज में और प्लैटफ़ार्म से जिन विषयों की चरचा अभद्र समझी जाती थी उन पर आज बिना किसी रोकथाम के वादविवाद होते हैं। प्रसिद्ध अंग्रेज़ उपन्यासकार स्वर्गीय टामस हार्डी ने अपने एक उपन्यास की पात्री के लिये 'कामुक' शब्द व्यवहार किया था; इस पर उस ज़माने के स्वतन्त्र विचारक लेसली स्टिफ़ेन ने सम्पादक की हैसियत से हार्डी को यह सलाह दी थी कि वह 'कामुक' की जगह 'भावुक' शब्द का प्रयोग करें। आज यूरोप और अमरीका में 'सेक्स' सम्बन्धी साहित्य का दिन प्रतिदिन ढेर लगता जा रहा है। यहाँ हमारा तात्पर्य केवल उन उपन्यासों और नाटकों से नहीं है जिनके कथानक की पार्श्वभूमि में १९ वीं सदी का जर्जर सामाजिक सदाचार था बल्कि ऐसी पुस्तकों से भी है जिनमें सीधे सादे और साफ़ साफ़ शब्दों में सेक्स की समस्या का डाक्टरी नुक़्तेनज़र से नहीं बल्कि सामाजिक और सदाचार की दृष्टि से वर्णन किया गया है। १५-२० वर्ष हुये जब न्यायाधीश बेन लिण्डसे की पुस्तक 'आधुनिक युवक का विद्रोह' (Revolt of Modern Youth) से सारे संसार में तहलका मच गया था। यदि इस पुस्तक का लेखक कोई उपन्यासकार या पत्रकार होता तो इससे इतना हंगामा न उठता। किन्तु इस पुस्तक का लेखक एक न्यायाधीश था। उसकी सचाई पर ज़रा भी अविश्वास नहीं किया जा सकता था। उसे युवक मुजरिमों की अदालत के न्यायाधीश की हैसियत से अमरीका के युवकों के अवलोकन का ज़बरदस्त साधन मिला था। पुस्तक से तहलका मच गया और पुरानी पीढ़ी के लोगों के दिल दहल गये। पुस्तक के विरुद्ध केवल एक ही आलोचना की गई कि डेनवर शहर की अदालत के तजरुबे से हम सारे अमरीका के युवकों के बारे में राय नहीं बना सकते; हालाँकि लिण्डसे ने अपनी पुस्तक में साफ़ साफ़ लिखा है कि डेनवर अमरीका के दूसरे शहरों की ही तरह है और वहां के अमरीकन युवक भी वैसे ही हैं जैसे दूसरे शहरों के। इसके बाद एक दूसरी पुस्तक लन्दन

से प्रकाशित हुई जिसका नाम है 'विवाह का दिवाला' (The Bankruptcy of Marriage)। पुस्तक के लेखक कालवर्टन ने न सिर्फ़ अमरीका में बल्कि यूरोप में भी इस समस्या की जो कैफ़ियत है उसकी ओर आग्रहपूर्वक पाठकों का ध्यान आकर्षित किया। विशेष स्थितियों में तलाक़ का अधिकार होते हुये भी आजीवन एक ही पत्नी के साथ विवाहित जीवन बिताना यह एक-पत्नी-विवाह है। कालवर्टन के अनुसार विवाह की इस प्रथा का दिवाला निकलता जा रहा है। इस संस्था का एतबार उठ चुका है और दिवालियेपन की कारंवाई शुरू हो गई है। यह सही है कि कारोबार अभी पूरी तरह बन्द नहीं हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि अनेकों अमरीकन विवाह की प्रतिज्ञा की पवित्रता और उसकी उपयोगिता पर बौद्धिक विश्वास रखते हैं और सामाजिक संस्थाओं के प्रति दक़ियानूसी भावना रखने वाले अंग्रेज़ों की संख्या भी कम नहीं है फिर भी इस बात के सुबूत तीव्र गति से इकट्ठा होते जा रहे हैं कि पश्चिमीय युवकों में सदाचार के बन्धन ख़त्म हो कर वेग के साथ टूट रहे हैं। कई वर्ष हुये इंगलिस्तान के पादरियों की एक कान्फ्रेंस लैम्बेथ शहर में हुई थी उसमें अंग्रेज़ युवकों के भीषण दुराचार का रोना रोया गया था। मिसेज़ ग्रण्डी ने अपनी एक पुस्तक में सामाजिक संस्थाओं के प्रति अपराध करने वालों की अत्यन्त तीव्र शब्दों में भर्त्सना की है किन्तु नये युग के दावेदार अपनी पुस्तकों में विवाह की संस्था और सदाचार की खिल्ली उड़ाने में कुछ कम कड़े शब्दों का प्रयोग नहीं करते। दोनों पक्षों के समर्थक अपने पक्ष के समर्थन में दलील कम देते हैं, दूसरे पर कटु आक्षेप ज़्यादा करते हैं। जो पुरातन के समर्थक हैं वे कहते हैं कि आधुनिक 'सेक्स' के भावों से दबा जा रहा है और जो आधुनिक के उपासक हैं वे कहते हैं कि १९ वीं शताब्दी तो 'सेक्स' के भार से लदी हुई थी। इनकी राय में इन्द्रियनिग्रह और कामाचरण पर प्रतिबन्ध इस बात के द्योतक हैं कि कामभावना पर क़ाबू पाने के लिये ज़मीन आसमान एक किया जा रहा है। सेक्स की आज़ादी और सेक्स का आग्रह सेक्स के उतने अधिक प्रतीक नहीं जितना सेक्स का निग्रह। इनकी राय में इस निग्रह की भावना ने ही कला को कुचलकर रख दिया, स्त्रियों को ग़ुलाम बना दिया और परदे जैसी प्रथा को प्रोत्साहन दिया। पश्चिमीय युवकों में सदाचार के ऐसे स्थापित नियमों के प्रति विद्रोह की भावना उठना स्वाभाविक ही है। हम इस पर ग़ौर करना चाहेंगे कि आख़िर इस नैतिक क्रान्ति के कारण क्या हैं। कालवर्टन की राय में गत महायुद्ध के बमों के धड़ाके में और बातों के साथ साथ यूरोप के सदाचार की भी धज्जियाँ उड़ गईं; किन्तु वह कहता है कि महायुद्ध केवल नैमित्तिक कारण था, निश्चयात्मक नहीं। विशृङ्खलता की क्रिया पहले ही से शुरू हो चुकी थी। महायुद्ध ने केवल उसे जल्दी से पूरा कर दिया। वास्तव में क्रान्ति के बीज तो पहले ही बोये जा चुके थे। जो परिस्थितियाँ इस क्रान्ति में सहायक हुईं वे संक्षेप में ये हैं—स्त्रियों की आर्थिक दासता से मुक्ति, उनका राजनैतिक उद्धार, स्त्रियों और पुरुषों के लिये सदाचार के दो तरह के नियमों के विरुद्ध आन्दोलन, युवक-युवतियों की सहशिक्षा, मोटरों में दूर दूर के सैर सपाटे, युवक युवतियों के आपस में मिलने जुलने के हर तरह के सामाजिक प्रतिबन्धों का टूट जाना, गर्भ-निरोध और काण्ट्रेसेप्टिव्ज़ का पूरा पूरा ज्ञान होना, सदाचार के नैतिक अनुशासन का समाप्त होना, मूढ़ विश्वासों की जगह वैज्ञानिक विचार भावना की प्रधानता, आदि, आदि। यदि १९ वीं शताब्दी के सदाचार पर यह इलज़ाम है कि वह कठोरता के साथ इन्द्रिय निग्रह और काम-प्रवृत्तियों के कुचलने पर विश्वास करता था तो आधुनिक सदाचार पर यह इलज़ाम है कि वह तूफ़ानी बाढ़ में फंसा हुआ बेबस बहा चला जा रहा है। कामाचरण की स्वतन्त्रता चाहे कठोर इन्द्रिय निग्रह का स्वाभाविक परिणाम हो किन्तु यह आवश्यक नहीं कि वह उच्छृङ्खलता और 'स्वतन्त्र प्रेम' का रूप ले।

हम कालवर्टन की इस राय को मानने के लिये तय्यार नहीं कि यूरोप में एक-पत्नी-विवाह के रिवाज

को सामन्तशाही आर्थिक प्रणाली के ख़ात्मे और उद्योगवाद की उन्नति के साथ साथ प्रोत्साहन मिला। विवाहित सदाचार और पति पत्नी की आजीवन एक दूसरे के प्रति भक्ति का आदर्श भारत में व्यापारिक और औद्योगिक भावना के पैदा होने से बहुत पहले मौजूद था। किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्त्री और पुरुषों के लिये सदाचार के अलग अलग और दोहरे नियमों का विकास स्त्री पर पुरुषों के आधिपत्य और पैतृक उत्तराधिकार में केवल लड़कों का ही हक़ है इस सिद्धान्त के कारण हुआ। 'पत्नी पति की जायदाद है' इस विचार का तो निश्चय ही ख़ात्मा होना था। यहां इस बात की चर्चा करना नामुनासिब न होगा कि सन् १७९७ में स्मिथफ़ील्ड शहर के बाज़ार में औरतें बेची और ख़रीदी जाती थीं। उनके पति उनके गले में रस्सी बांधकर उन्हें बाज़ार में ले जाते थे और पशुओं के साथ साथ उन्हें बेच देते थे। पहले उनकी क़ीमत आधी गिन्नी थी जो सन् १७९७ में बढ़कर साढ़े तीन गिन्नी हो गई। लगभग डेढ़ सौ वर्ष पहले इंगलिस्तान में यह कैफ़ियत थी। कालवर्टन इस बात को साबित करने की कोशिश करता है कि सदाचार के नियम हर समाज और हर परिस्थितियों में एक से नहीं होते और इसीलिये कठोरता के साथ उनका फ़ैसला करना अनुचित है। किन्तु कालवर्टन इस बात को भूल जाता है कि सभ्य संसार में सदाचार के जो नियम प्रचलित और जारी रहे हैं उनका विकास हज़ारों वर्ष के अनुभव के बाद हुआ है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि विवाह के क़ानून की सख़्ती और उसके यकतर्फ़ापन में हमें आवश्यक सुधार करने चाहिये। हमें आदर्श और व्यवहार में समानता रखनी चाहिये। किन्तु कालवर्टन की राय है कि हमें अपने आदर्शों को अपने व्यवहार के अनुकूल बनाना चाहिये। हमारी सभ्यताओं का इतिहास कालवर्टन की इस राय का समर्थन न हींकरता। हज़ारों वर्ष से जिस संस्था की उपयोगिता का प्रमाण हमारे सामने हैं उसे नष्ट करने में ही कल्याण देखना कुछ ऐसी बात है जो हमारी समझ में नहीं आती। यदि यही होता तो हज़ारों वर्ष पहले विवाह की यह संस्था परिस्थितियों के आघात से चूर चूर हो गई होती। कालवर्टन स्त्री पुरुषों के सेक्स सम्बन्ध में सोवियत् रूस का क़ायल है। सोवियत् रूस में और पश्चिम के स्वतन्त्र विचारकों में इस भावना का प्राधान्य है कि सेक्स सम्बन्ध को व्यवहार की ऐसी कोटि में रखा जाय जिसका सम्बन्ध सदाचार से न हो। कामाचरण को नैतिकता और अनैतिकता से परे समझा जाय। यह बिलकुल एक निजी बात समझी जाय जिसका सम्बन्ध व्यक्ति से हो समाज से न हो। विवाह की संस्था के नष्ट कर देने का स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि कुछ अत्यन्त उत्कृष्ट नैतिक आचार इस संस्था के मिटने के साथ साथ नष्ट हो जायँगे, परिवार की इकाइयाँ टूट जायँगी, सम्पत्ति की भावना नष्ट हो जायगी और इसके साथ साथ सारा सामाजिक ढांचा बदल जायगा। सोवियत् रूस में इसी आधार पर विकास हो रहा है। किन्तु क्या यह आवश्यक और उपयुक्त है? 'हां' में इसका जवाब देना बहुत मुश्किल है। स्त्री पुरुषों के आपसी सम्बन्ध को नये सांचे में ढालने की दिशा में बहुत सी अबाध शक्तियां काम कर रही हैं। स्त्रियों की शिक्षा, उनकी आर्थिक स्वतन्त्रता, उन्हें वोट का अधिकार और बच्चों पर उनके अधिकार का विरोध करना मूर्खता की चरम सीमा है। स्त्री के लिये यह कोई ज़रूरी नहीं कि वह राजनैतिक अधिकार पाकर विवाह की प्रतिज्ञा को न माने।

हम भारतीयों के दिल में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि नैतिक क्रान्ति की जो लहरें पश्चिम को बहाये ले जा रही हैं क्या हम विचारों की उस बाढ़ से अपने आपको सुरक्षित पाते हैं? बहुत से लोग कहेंगे कि हमारे इस देश के ज़र्रे ज़र्रे में सदाचार और नैतिकता कूट कूट कर भरी हुई है और हमें ऐसे ख़तरे से डरने की ज़रूरत नहीं। किन्तु क्या यह सच नहीं है कि सदाचार की यही भावना प्यूरिटन इङ्गलैण्ड और अमरीका में भी गहराई के साथ जड़ पकड़े हुई थी? फिर भी पश्चिम का युवक कामा-

चरण के प्रबल प्रवाह में अबाध गति से बहा जा रहा है। आज भारत में जो नई सामाजिक शक्तियां काम कर रही हैं वे इस बेड़े को किस किनारे जाकर लगायेंगी, इसे कौन कह सकता है। इस सम्बन्ध में भविष्यवाणी करना बड़ी हिम्मत का काम है। समाज की संस्कृति और संगठन में जिसे भी दिलचस्पी हो उसे गम्भीरता और ईमानदारी के साथ इस प्रश्न पर विचार करना चाहिये।

चीन और प्रशान्त युद्ध

प्रो० तान युन-शान

क्या सम्पूर्ण युद्ध-क्षेत्र में प्रशान्त मोर्चा वास्तविक में यूरोपीय मोर्चे से कम महत्व रखता है?

अच्छा, तो हम लोग जापान और जर्मनी की वास्तविक स्थिति पर ही ग़ौर करें और इसके साथ ही प्रशान्त महासागर और यूरोप के मोर्चों पर भी। शारीरिक और मानसिक तौर से जर्मन भले ही जापानियों की अपेक्षा मज़बूत तथा शक्तिशाली हों लेकिन जापानी जर्मनों की अपेक्षा कहीं अधिक धूर्त और नृशंस हैं। नाज़ी उग्र और प्रचंड हो सकते हैं लेकिन सैनिकवादी जापानी उनसे भी अधिक नृशंस और अनिष्टकारी हैं। यूरोप में धुरी फौज मज़बूत और निष्ठुर हो सकती है परन्तु जापानी सैनिक उससे अधिक दुराग्रही और आतंककारी हैं। अगर जर्मन अभेद हैं तो जापानी दुर्दमनीय। किसी मज़बूत और शक्तिशाली आदमी से उलझना उतना कठिन नहीं होता है अगर उलझने वाला भी काफ़ी शक्तिशाली और मज़बूत हो। लेकिन धूर्त और नृशंस आदमी से उलझना अत्यन्त कठिन है। उग्र और उन्मत्त आदमी की अपेक्षा नृशंस और अनिष्टकारी आदमी से लड़ना आसान नहीं है। कठोर और निष्ठुर सिपाहियों की अपेक्षा दुर्दमनीय और आतंककारी सिपाहियों को हराना अधिक कठिन है। इसलिए जर्मनी से बहुत अधिक डरने और जापान को नगण्य समझने का कोई कारण नहीं है। रण-कौशल की दृष्टि से अगर देखा जाय कि जापान और धुरी राष्ट्रों की अपेक्षा कमज़ोर है तो पहले इसे (जापान को) ही समाप्त करना चाहिए। चीन के पुराने युद्ध-कौशल के अनुसार अगर हम लोगों को दो दुश्मनों से एक साथ ही लड़ना है तो पहले कमज़ोर दुश्मन पर चढ़ाई करनी चाहिए और मज़बूत से तरह देने या बचने की कोशिश होनी चाहिए। क्योंकि अगर कमज़ोर दुश्मन का ख़ात्मा हो जाता है तो मज़बूत दुश्मन स्वयं कमज़ोर पड़ जायगा। और तब हम लोग अपनी सभी शक्तियों को मज़बूत दुश्मन के विरुद्ध केन्द्रित कर निश्चय ही विजय प्राप्त कर सकते हैं। आर्थिक लड़ाई के लिहाज़ से हम लोग नाज़ी जर्मनी को थोड़े दिनों के लिए वर्तमान स्थिति में छोड़ सकते हैं लेकिन जापान की ओर से एक क्षण के लिए भी मुंह मोड़ना ख़तरा बुलाना है। क्योंकि नाज़ियों की प्राकृतिक सम्पत्ति और जन शक्ति दोनों ही अब सीमित हो गई हैं, वे अब अधिक शक्तिशाली नहीं हो सकते। वर्तमान स्थिति में जितने ही लम्बे अरसे तक उन्हें हम छोड़ सकें उनकी उतनी ही शक्ति क्षीण होती जायगी। केवल हवाई लड़ाई के द्वारा भी उनका दिवाला निकाला जा सकता है। पर अगर हम लोग जापानियों को वर्तमान स्थिति में छोड़ दें तो नतीजा ठीक उलटा होगा। जापान के क़ब्ज़े में चीन की अधिकृत भूमि के अलावे प्रशान्त महासागर का एक बड़ा समृद्ध और विस्तृत क्षेत्र भी है। उसकी प्राकृतिक सम्पत्ति तथा जन-शक्ति दोनों ही अपरिमित हैं। अगर उसे इस जन-शक्ति को काम में लगाने का और प्राकृतिक सम्पत्ति को उन्नति करने का अवसर

मिल गया तो उसकी शक्ति बढ़कर संयुक्त राष्ट्रों की सम्मलित शक्ति की सीमा को पार कर जायगी। उसने अपने अधिकृत देशों का शोषण भी प्रारम्भ कर दिया है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के सैन्य-सचिव मिस्टर स्टीमसन ने कुछ दिन पहले कहा था कि जापान डच इस्ट इंडीज के तेल कूपों से भी लाभ उठा रहा है। चीन के वैदेशिक विभाग के एक व्यक्ति ने हाल में ही बताया था कि जापानी हर वर्ष क़रीब २,५००,००० टन चावल चीन, इंडो चाइना और श्याम से बाहर ले जा रहे हैं। लोग चीन से १,७००,००० टन लोहा, तेल टीन और बलफ्रेम नामक धातु भी बाहर भेज रहे हैं। मैडम चांग काई-शेक ने कनाडा की व्यवस्थापिका सभा के सम्मलित अधिवेशन के सम्मुख भाषण देते हुए बताया है कि गत वर्ष (१९४२) जापान ने चीन की महान दीवार के पीछे के अधिकृत चीनी भूभाग से ३,२००,००० टन और मंचूरिया से २,८००,००० टन भिन्न भिन्न तरह के कच्चे मालों का निर्यात किया है। इसके अलावे उसने महान दीवार के पीछे के अधिकृत चीनी भूभाग से क़रीब २,३००,००० टन कच्चा माल प्रति मास मंचूरिया और एशिया के अपने अधिकृत दूसरे देशों में भेजा है ताकि उन देशों में अत्यन्त ही बड़े पैमाने पर उसके उद्योग-धन्धे चालू किए जा सकें। उपरोक्त लिखित कुल माल का टोटल १००,०००,००० टन वार्षिक होता है। इसमें वह खाद्य पदार्थ सम्मलित नहीं है जो जापानी सिपाहियों पर जो चीन में हैं, ख़र्च होता है। इससे ही अनुमान किया जा सकता है कि जापान की स्थिति प्रशान्त महासागर में कितनी मज़बूत हो जायगी अगर उसे इसी प्रकार उन देशों का और अधिक शोषण करने दिया गया। दूसरी बात यह है कि अगर वर्तमान परिस्थिति में हम लोग अपनी शक्ति को यूरोप पर चढ़ाई कर हिटलर को हराने की ओर केन्द्रित करें तो यह एकदम निश्चित नहीं है कि थोड़े समय में ही उसे हम लोग परास्त कर देंगे। लेकिन अगर इस परिस्थिति में हम लोग जापान पर धावा कर दें तो बिना अधिक कठिनाई के उसे निश्चय ही हरा देंगे। जापान के ख़ात्मा होने के बाद हम लोग केवल पूरी तरह से घेरा डाल कर ही जर्मनी को अस्त्र डालने के लिए मजबूर कर सकते हैं और उस समय हिटलर स्वाभाविक मृत्यु को प्राप्त हो जायगा। लेकिन जर्मनी को हटाने के बाद हम लोग घेरा डालकर जापान को नहीं हरा सकते क्योंकि वह अपने अधिकृत देशों से फ़ायदा उठाकर अपनी शक्ति को असीम कर लेगा। इस तरह हम मिस्टर चर्चिल से ठीक विपरीत परिणाम पर पहुँचते हैं। हम तो इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि "जर्मनी की हार से जापान की हार कभी नहीं हो सकती बल्कि जापान की पराजय निश्चयात्मक रूप से जर्मनी को हराने में सहायक होगी तथा द्रुतगामीभी।"

अब हम लोग इस बात पर विचार करें कि इस लड़ाई में किस राष्ट्र को अधिक कठिनाइयों और मुसीबतों के बीच से गुज़रना पड़ा है और किसे मुक्त करने के लिए तात्कालिक मदद की सबसे अधिक ज़रूरत है। हम लोग पक्षपात रहित होकर निःसंकोच कह सकते हैं कि इस लड़ाई में चीन के समान कोई भी राष्ट्र मुसीबतों के बीच से नहीं गुज़रा है और इसलिये उसे ही सबसे अधिक तात्कालिक सहायता देकर मुक्त करने की आवश्यकता है। मिस्टर चर्चिल ने बार-बार उदारतापूर्वक रूस, उसकी जनता, उसकी शक्ति और उसके नेता की बड़ाई की है। सचमुच में मो० स्तालिन का योग्य नेतृत्व, लाल सेना की दृढ़ता और वीरता तथा रूसी जनता की सहिष्णुता और अध्यवसाय क़ाबिले तारीफ़ हैं। लेकिन हम लोगों को यह न भूलना चाहिए कि मो० स्तालिन एक ऐसे राष्ट्र का नेतृत्व कर रहे हैं जिसकी क्रान्ति उसके स्वर्गीय नेता लेनिन के हाथों ही पूर्ण हो चुकी थी जबकि चीन के जेनरलिस्मो एक ऐसे राष्ट्र का नेतृत्व कर रहे हैं जिसकी क्रान्ति उसके स्वर्गीय नेता डा० सन यात-सेन के हाथों पूर्ण नहीं हो सकी थी। इसके अतिरिक्त सोवियत् रूस लड़ाई में प्रवेश करने के पहले तक तीन बार रचनात्मक कार्य की पंच वर्षीय योजना पूरी कर चुका था जब कि चीन ने लड़ाई के पहले रचनात्मक कार्य प्रारम्भ ही किया था। हम

लोगों को यह भी याद रखना चाहिए कि रूस लड़ाई के मैदान में तब आया जब तक कि मित्र राष्ट्र जर्मनी से दो वर्षों तक लड़ चुके थे। परन्तु मित्र राष्ट्रों के *प्रशान्त महासागर* की लड़ाई में सम्मिलित होने के पहले तक चीन अकेला पाँच वर्षों तक जापान से लड़ चुका था। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो सोवियत् रूस ने लड़ाई के दो वर्ष ही पूर्ण किये हैं जब कि चीन सातवें वर्ष में पदार्पण कर रहा है। साथ-साथ रूस अपने शत्रुओं से आधुनिक काल के सभी वैज्ञानिक साधनों, साज सामानों—काफ़ी टैंक, वायुयान, मशीनगन आदि—से लड़ रहा है। लेकिन चीन के सैनिक तथा वहाँ की जनता के उपरोक्त लिखित साज सामानों की एकदम सहूलियत नहीं है केवल वे अपने रक्त मांस और प्रबल इच्छा के साथ दृढ़ संकल्प को लेकर लड़ रहे हैं। हम लोग प्रति दिन समाचार पत्रों में सहायता देने,—ख़ासकर चीन को, सहायता देने के बारे में देखते हैं। लेकिन चीन के सचमुच में मित्र राष्ट्रों से कितनी सहायता मिली है? यहाँ पर मैं पार्लियामेन्टरी मिशन के, जो कुछ महीने पहले चीन में आया था, एक सदस्य—लार्ड हेविस्ट—के वक्तव्य को उद्धृत करता हूँ जो उन्होंने लार्ड सभा में १६, मार्च १९४३ ई० को दिया था—"इस लड़ाई में चीन के कम से कम ५० लाख सैनिक खेत आए हैं। अमेरिका ने उन्हें १० करोड़ पौंड क़र्ज़ दिया है जब कि हम लोगों ने केवल ५ करोड़ पौंड ही। अमेरिका ने दी हुई रक़म पर कोई प्रतिबन्ध नहीं रखा है जब कि हम लोगों ने ४ करोड़ पौंड पर प्रतिबन्ध डाल दिया है। मैं सरकार से बड़े ज़ोरों में अपील करता हूँ कि वह सभी प्रतिबन्धों को तुरन्त हटा ले। जितनी रक़म चीन को क़र्ज़ में दी गई है वह वर्तमान लड़ाई के तीन दिनों के ख़र्चे के लिए भी काफ़ी नहीं है।" यहाँ मैं संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के उधार-पट्टा क़ानून के व्यवस्थापक मिस्टर एडवर्ड स्टेटीनस के मित्र राष्ट्रों को उधार-पट्टा के रूप में दी हुई सहायता से सम्बन्ध रखने वाले कुछ वक्तव्यों को भी उद्धृत करता हूँ—

(१) वाशिंगटन, ११ मार्च, १९४३

उधार-पट्टा क़ानून के अनुसार तीन महीने के अन्दर निम्नलिखित क्षेत्रों में दी गई रक़म यों है :—

संयुक्त राज्य	१,१०७,५००,००० स्टर्लिंग
रूस	४५६,५००,००० ,,
आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड, मध्य पूर्व और अफ़्रिका	३९३,२५०,००० ,,
चीन और भारत	३३६,०००,००० ,,
दूसरे क्षेत्रों में	११४,७०५,००० ,,

(२) वाशिंगटन, १ मई, १९४३

१९४१ में दो तिहाई से अधिक उधार-पट्टे के रूप में जहाज़ से भेजे गए मालों का ब्यौरा यह है—

संयुक्त राज्य	३०%
रूस	३१%
अफ़्रीका और मध्य पूर्व	१६%
भारतसहित सुदूर पूर्व	१४%
दूसरे क्षेत्रों में	१०%

(३) वाशिंगटन, २ मई, १९४३

हम लोगों ने दूसरे लड़ाई के क्षेत्रों की अपेक्षा रूस को उधार-पट्टा क़ानून के अनुसार सबसे अधिक हवाई जहाज़, टैंक और मोटर गाड़ियाँ भेजी हैं—४५ फ़ी सदी वायुयान, ४४ फ़ी सदी टैंक और ४५ फ़ी सदी मोटर गाड़ियाँ।

(४) वाशिंगटन, १९ जून, १९४३

रूस को सामान इतनी जल्दी दिया जा रहा है कि अब तक कुल २१,२३०,०००,००० डॉलर का माल वहाँ पहुँच चुका है। यह उधार-पट्टा क़ानून से सभी जगह भेजे गए कुल माल का २६ फ़ी सदी है। इतने मूल्य का माल थोड़े ही समय में वहाँ भेजा गया है क्योंकि १९४१ के अन्तिम भाग तक रूस ने कुछ भी लेना प्रारम्भ नहीं किया था।

ये सब बातें साफ़ ज़ाहिर करती हैं कि कैसे और किन साधनों से चीन निर्दय जापानी आक्रमणकारियों से छै वर्ष तक लड़ता रहा है। क्या वर्तमान लड़ाई में चीन की कार्यवाही या उसकी वीरता रूस से या किसी और संयुक्त राष्ट्रों से कम है? चीन और रूस के बीच एक ही अन्तर है; वह यह है कि जब चीन

को मित्र राष्ट्रों से कुछ सहायता मिलती है—कितनी भी वह कम क्यों न हो—वह सदा इसके लिए कृतज्ञ रहा है और बार बार सार्वजनिक तौर से कृतज्ञता-ज्ञापन करता है परन्तु, जैसा कि संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के *मास्को स्थिति राजदूत एडमिरल स्टेन्डली* ने कहा है, रूस किसी को यह जानने भी नहीं देता है कि उसे कितनी सहायता मित्र राष्ट्रों से मिली है! यही चीनी जाति की ख़ूबी है। चीन के पुराने दार्शनिकों ने शिक्षा दी है—"तुम्हें दूसरों से जब जो चीज़ प्राप्त होती है उसके लिए सदा कृतज्ञ रहो और जो कुछ तुमने दूसरों को दिया है उसका कभी ज़िक्र भी मत करो।" दूसरा अन्तर सोवियत् रूस और चीन के बीच यह है कि जितने ही भयंकर रूप में रूस लड़ रहा है उतनी ही ज़ोरों से वह यूरोप में दूसरे मोर्चे की माँग भी कर रहा है। परन्तु चीन हर समय अपनी तई ही लड़ाई के मैदान में जुटा हुआ है और मित्र राष्ट्रों से दूसरे मोर्चे की माँग नहीं करता है। यह बात चीनी मनोवृत्ति का परिचायक है। चीन के पुराने ऋषियों का कथन है "अपने पर निर्भर रहने वाला व्यक्ति ही बड़ा है।"

पर, आज छः वर्षों की अनवरत लड़ाई के बाद चीन की परिस्थिति क्या है? ख़राब नहीं और उतनी ख़राब तो नहीं है जितनी कि बाहरी दुनिया सोचती है। चीन के पास हवाई जहाज़, टैंक और बन्दूक की कमी है अन्यथा और सब बातें एकदम ठीक हैं। मैं नहीं जान सका हूँ कि क्यों हमारे उदार मित्रों ने अब तक चीन की वास्तविक स्थिति को काफ़ी तौर पर नहीं समझा है। पूज्य गान्धी जी से व्यक्ति ने भी अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी के अगस्त, १९४२ वाले अधिवेशन में भाषण देते हुए कहा था—'हम भारत से अंग्रेज़ों को तुरन्त हट जाने के लिए इसलिए कहते हैं कि हम चीन को बचा सकें। अगर हम छः मास की देरी कर जायेंगे तो चीन जापान द्वारा हड़प लिया जायगा।' हम गान्धी जी के चीन के प्रति प्रेम के लिए कृतज्ञ हैं परन्तु उनके चीन सम्बन्धी जानकारी के लिए नहीं। तब से आज तक दस मास बीत गए परन्तु चीन बना ही हुआ है बल्कि इस अरसे में उसने बारबार जापानियों को चंकियांग प्रान्त और यांगसी नदी की घाटी में हराया है। मैं अपने उदार मित्रों—ख़ासकर भारतीय भाइयों—से *बिना किसी शिकायत के आसानी से कह सकता* हूँ कि चीन सुरक्षित है और सदा सुरक्षित रहेगा। यह बात ठीक है कि बिना काफ़ी हवाई जहाज़, टैंक, बन्दूक के मिले चीन जापानियों को पूरी तरह अपने देश से बाहर नहीं निकाल सकता है परन्तु मौजूदा हालत में भी वह अपनी रक्षा स्वयं कर सकता है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के एशियाई नौ सेना के भूतपूर्व प्रधान सेनापति रीयर एडमिरल *यारनेल ने इमीग्रेसन कमिटी के प्रतिनिधि सभा को हाल ही में बताया था कि "इस बात की पूरी सम्भावना है कि अगर चीन की राष्ट्रीय सरकार को जल्दी काफ़ी सहायता नहीं दी गई तो वह ख़तम हो जायगी।' रीयर एडमिरल यारनेल का यह वक्तव्य उस समय का है जब कि जापानी सैनिक यांगसी नदी की घाटी में आगे बढ़ रहे थे। परन्तु यह भी ग़लत ही सिद्ध हुआ। शायद इस तरह का वक्तव्य देने में *रीयर एडमीरल का यह आशय रहा हो कि प्रतिनिधि-* सभा पर चीन को सहायता देने के सम्बन्ध में अधिक प्रभाव पड़ेगा। लेकिन हम लोग लड़ाई को सफलता-पूर्वक जीतने के लिए सहायता चाहते हैं, मित्र राष्ट्रों से दया या भिक्षा नहीं चाहते। हम लोग जापानियों को—जो सब मित्र राष्ट्रों का दुश्मन है—हराने के लिए सहायता चाहते हैं; दान स्वरूप नहीं। हम लोगों को मित्र राष्ट्रों से हर प्रकार की सुविधा और सहायता पाने का हक़ है क्योंकि हम लोग भी उन्हें लड़ाई में सहायता और सुविधा प्रदान कर रहे हैं। इस बात पर ध्यान दीजिये कि अगर चीन जापान से नहीं लड़ता और इतने दिनों तक उसे लड़ाई में नहीं फँसाये रखता तो आज दुनिया और मित्र राष्ट्रों की क्या हालत हुई होती? जब जापान ने छः महीने के अन्दर ही महासागर के सब नाकों को दख़ल कर लिया था तो इस विजय के गर्व ने भारत और

आस्ट्रेलिया विजय करने के उसके मन्सूबे को भी काफ़ी बढ़ा दिया था। परन्तु चीन ने उसे चांगसा के निकट परास्त कर उनके मनसूबे पर रोक लगा दी। कुछ ही दिन पहले जापान धोखेबाज़ी से साइबेरिया पर चढ़ बैठना चाहता था परन्तु उसकी इस इच्छा को भी चीन ने यांगसी की घाटी में उसे हराकर धूल में मिला दिया। जापानियों ने इस बात को अच्छी तरह समझ लिया है कि बिना चीन के साथ निपटारा किए उसके लिए किसी दिशा में और अधिक बढ़ना कठिन है। इसलिए ही बेशर्मी के साथ कई बार उसने अकेले चीन से सन्धि का प्रस्ताव किया। पर चीन ने उस प्रस्ताव की ओर नज़र उठाकर भी नहीं देखा। जापान को चीन पर चढ़ाई करने के पाप के लिए निश्चय ही पश्चाताप होता होगा। पर, फिर क्यों चीन जापान के साथ तन-मन-धन लगाकर लड़ रहा है? क्योंकि वह तो अपने स्वार्थ की लड़ाई नहीं लड़ रहा है। वह अपने शत्रुओं को केवल अपने स्वार्थ के लिए ही नहीं बल्कि अपने मित्र राष्ट्रों की भलाई के लिए भी हराना चाहता है। हमारे मित्र राष्ट्र बराबर अपने यहाँ के हज़ारों विमानों की बात बोला करते हैं परन्तु चीन चाहता है काश वह कई सौ हवाई जहाज़ों की ही बात कर सकता! चीन में आए ब्रिटिश पार्लियामेंटरी मिशन के एक सदस्य लार्ड ऐलबन ने लार्ड सभा में कहा था कि "चीन स्थित अमेरिका की हवाई शक्ति में कभी भी १२ मध्यम बम वर्षक विमानों, ८० लड़ाकू विमानों और ३ गश्ती कार्रवाई करने वाले विमानों से अधिक नहीं था। इतनी ही शक्ति ने मिशन के वहाँ से रवाना होने के समय तक निश्चयात्मक रूप से २९६ जापानी विमानों को मार गिराया। सम्भवतः २१६ और अधिक वायुयानों को नष्ट किया एवं बहुत विमानों को गहरी क्षति पहुँचाई। इसके अलावे जापानी नौ सेना और दूसरी दूसरी लड़ाई की चीज़ों को भी काफ़ी नुक़सान पहुँचाया। इसमें अमेरिका के केवल ३५ ही विमान नष्ट हुए। एक बड़ी हवाई शक्ति जापान को अपार क्षति पहुँचा सकती है और इससे बाध्य होकर उसे अपने लड़ाकू विमानों को दूसरी ओर लगाना पड़ा। इसके फलस्वरूप जापान के याता-यात के मार्ग में एक बड़ी बाधा होती और उसके दक्षिणी प्रशान्त महासागर की हवाई कारवाइयों पर संगीन धक्का पहुँचता। अगर संयुक्तराष्ट्र अमेरिका काफ़ी संख्या में मशीनें नहीं दे सकता है तो ब्रिटिश सरकार को ही मशीन देने की बात पर विचार करना चाहिए।" सचमुच में अगर चीन के पास ५०० सौ हवाई जहाज़ होते तो वह युद्ध की हालत को एक दूसरे ही रूप में बदल दिए होता। अगर चीन को ३ से ५ हज़ार तक हवाई जहाज़ मिल जाते तो वह जापानी सैनिकों को चीन की सीमा से बाहर खदेड़ देता। अगर उसे दस हज़ार वायुयान दे दिये जायँ तो वह आक्रमणकारी सैनिकवादी जापानियों को उनके अपने टापू जापान से भी निकाल बाहर कर देगा। हमें दक्षिणी प्रशान्त महासागर में जापानियों को एक टापू से दूसरे टापू में हराते फिरने की कोई ज़रूरत नहीं है। जैसा कि प्रेसिडेण्ट रूज़वेल्ट ने कहा है, इस प्रकार करने में सैकड़ों वर्ष लग जायँगे। हम लोगों को जापान का केवल हाथ ही नहीं काटना है बल्कि उसकी छाती भी रौंदनी है। जापानियों से लड़ने के लिए चीन को ही अड्डा बनाकर सीधे जापान द्वीप समूह पर आक्रमण करना होगा। इसलिए बर्मा को पुनः अपने क़ब्ज़े में करने और चीन को अधिक संख्या में हवाई जहाज़ देने में तनिक भी देरी नहीं करनी चाहिए।

इस लड़ाई के प्रति चीन का क्या रुख़ है तथा लड़ाई के बाद दुनिया के प्रति उसका क्या रुख़ रहेगा, बिना इसे बतलाए यह निबन्ध अधूरा ही रह जायगा। शुरू से ही चीन बचाव की लड़ाई लड़ रहा है। यह बचाव की लड़ाई केवल वह अपनी भूमिगत अखंडता और स्वतन्त्रता बनाए रखने के लिए नहीं बल्कि मानवी सभ्यता और न्याय, सभी जातियों की स्वतन्त्रता और समानता तथा दुनिया की शान्ति, भाईपने और आज़ादी की रक्षा करने के लिए लड़ रहा है। इन्हीं महान उद्देश्यों को लेकर

चीन पहले तो अकेला ही फिर मित्र राष्ट्रों के साथ मिलकर बिना किसी दुराव के दिल खोलकर लड़ रहा है। जब चीन ने जर्मनी और इटली के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की उस समय बहुत से दोस्तों ने मुझसे पूछा कि चीन के ऐसा करने की कौन सी ज़रूरत थी, जबकि रूस ने जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा नहीं की है! मैंने अपने दोस्तों को जवाब दिया था कि चीन की मनोवृत्ति और अभिप्राय रूस की मनोवृत्ति और अभिप्राय से सर्वथा भिन्न हैं। चीन ने मित्र राष्ट्रों के साथ बिना किसी दुराव के गठबन्धन किया है। अपने मित्र राष्ट्रों के लिए चीन ने जर्मनी से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया है—के साथ उसका बहुत ही अच्छा सम्बन्ध रहा था और जिससे उसे जापानी आक्रमण के प्रथम वर्ष में काफ़ी सहायता मिली थी। जब जापान ने बर्मा पर चढ़ाई कर दी और चीन ने मित्र राष्ट्रों की सहायता के लिए अपने बहादुर से बहादुर सिपाहियों को वहाँ भेजा तो पुनः मेरे दोस्तों ने पूछा कि क्यों चीन राष्ट्रीय अखंडता के मूल्य पर अपने को ख़तरे में डाल रहा है जबकि सोवियत् रूस अपने सुदूर स्थित पूर्वी मोर्चों को जापान पर चढ़ाई करने के लिए मित्र राष्ट्रों को नहीं दे रहा है। मैंने इस बार भी पहले वाला ही उत्तर दिया। क्या चीन ने इन सब बातों को बिना सोचे समझे किया है अथवा दूसरों ने उसे बेवक़ूफ़ बनाकर इन कामों को करवाया है? नहीं, एकदम नहीं। चीन ने सभी बातें होशहवास से और अच्छी तरह सोच समझ कर की हैं। क्या जापान और रूस के बीच संघर्ष रुक सकता है? इसका उत्तर तो निकट भविष्य में मिलेगा। पर जापानियों की दृष्टि में ब्लाडीवोस्टक एक तेज़ कटार के समान है जिसका निशाना जापान की छाती की ओर लगा हुआ है। क्या ऐसा सोचना ठीक होगा कि जब जापान ब्रिटिश और अमेरिकन सिंहों को प्रशान्त महासागर में पड़ा पड़ा गुर्राने नहीं देगा तो क्या रूसी भालू को जापान सागर के किनारे पैर जमा कर इधर उधर घूमने का मौक़ा देगा? चीन ने जो कुछ किया है वह उससे होने वाले परिणामों को अच्छी तरह जानता है। चीन पहले की तरह आज भी संयुक्त राष्ट्रों के सम्मिलित हित के लिए अपना सब कुछ क़ुर्बान करने को तैयार है। चूंकि उसने मित्र राष्ट्रों का साथ दिया है वह उन सब के प्रति तथा अपने प्रति सदा वफ़ादार बना रहेगा। वह अपना एक पाँव शत्रु की नाव पर और एक पाँव मित्र की नाव पर नहीं रखेगा। वह केवल अपने स्वार्थ की बात नहीं बल्कि सभी मित्र राष्ट्रों के फ़ायदे और हित की बातों को ही सोचता है। यही चीनी संस्कृति का आधार है। चीनी जनता के लिए वफ़ादारी अत्यन्त ज़रूरी है। कनफ्यूसीयस से उनके शिष्यों ने एक बार पूछा कि अगर उन्हें किसी राष्ट्र का शासन करने दिया जाय तो पहले क्या करेंगे। उन्होंने कहा—"मनुष्यों को काफ़ी भोजन देने का प्रबन्ध, उन्हें सुरक्षित रखने के लिए काफ़ी अस्त्र शस्त्रों का प्रबन्ध और लोगों के दिल में पारस्परिक विश्वास की भावना की जागृति।" उनके शिष्य ने पुनः पूछा—"अगर इन तीनों में से किसी एक को छोड़ने की नौबत आए तो पहले कौन सी चीज़ छोड़ेंगे? उन्होंने कहा "हथियार।" पुनः शिष्य ने पूछा "अगर पुनः बाक़ी दो में एक को छोड़ना पड़े, तब?" उन्होंने उत्तर दिया—"खाना—क्योंकि वफ़ादारी के बिना राष्ट्र जीवित नहीं रह सकता।" लड़ाई के बाद चीन का दुनिया के प्रति क्या रुख़ रहेगा, जेनरलिस्मो ने कई बार स्पष्ट शब्दों में इसकी घोषणा कर दी है कि चीन दूसरे संयुक्त राष्ट्रों की तरह ही केवल अपनी आज़ादी, समानता और स्वाधीनता चाहता है। वह दूसरे संयुक्त राष्ट्रों को भी अपनी आज़ादी, समानता और स्वाधीनता हासिल करने में मदद करेगा, लेकिन किसी की भी आज़ादी समानता और स्वाधीनता पर आघात नहीं करेगा। चीन की यह नीति डा० सन यात-सेन के "जनता के तीन सिद्धान्त" की नीति पर पूर्ण रूप से स्थित है। और डा० सन यात-सेन की नीति का आधार चीनी दर्शन और चीनी संस्कृति हैं। बहुत प्राचीन काल से ही चीन का राजनैतिक उद्देश्य "विश्व-शान्ति

और ऐक्य" तथा दूसरे राष्ट्रों के साथ "मित्र और पड़ोसी" का सम्बन्ध बनाये रखना रहा है। कुछ दोस्तों का कहना है कि ब्रिटेन और अमेरिका चीन की उतनी मदद नहीं करेंगे जितनी मदद चीन ने उन लोगों को दी है। उन लोगों को डर है कि कहीं चीन अधिक शक्तिशाली राष्ट्र न हो जाय। मैं नहीं सोचता हूँ कि इन दो बड़े मित्रों के दिल में ऐसी कोई भावना है। अगर सचमुच में इन लोगों ने चीन के सम्बन्ध में ऐसी धारणा बना रक्खी है तो वे लोग चीन, उसकी जनता और संस्कृति को समझने में भूल करते हैं। अगर इस प्रकार की ग़लत धारणा इन लोगों के दिल में बनी हुई है तो वह इस लड़ाई में चीन द्वारा कहे हुए वचनों से, जिसे उसने व्यावहारिक तौर से काम में दिखाया है, बहुत पहले ही दूर हो जानी चाहिए। शक्ति-सम्पन्न चीन से बुराई की नहीं, बल्कि संयुक्त राष्ट्रों और दुनिया दोनों को भलाई की आशा रखनी चाहिए। दुनिया की उन्नति के लिए, चीन को शक्तिशाली और उन्नतिशील राष्ट्र बनाना ही होगा।

अनु०—श्री कृष्णाकिंकर सिंह

श्वान से

श्री "शारदेन्दु"

भूंक सके हो बहुत श्वान तुम निज मालिक के बल पर ऐंठें,
पर मालिक से दूर रहे जब, गये तुम्हारे कान उमेठें।
केवल आश्रय एक तुम्हारा, निज मालिक पर ही तुम निर्भर,
उसकी ही सेवा करने को ठोकर खाते फिरते दर दर।
रोटी के दो टुकड़ों पर ही तुमने अपना जीवन बेचा,
अपनी सब आजादी बेची, अपना सारा तन-मन बेचा।
खो बैठे हो गौरव अपना, पग पग पर दुत्कारें खाते,
पशु भी हेय समझते तुमको, तुमसे मिलने में सकुचाते।
जग कहता है, 'तुम्हें देखकर आज लजाती है मानवता,
तुम कुत्ते हो, तुम में कैसे पैदा हो मानव की ममता।
दुनिया भर में नीच बने हो, क्या न तुम्हें कुछ लज्जा आती!
सुन-सुन कर अभिशाप जगत के क्या न तुम्हारी फटती छाती!'
माना स्वामिभक्ति को दुनिया कहती, 'सुन्दर, अति सुन्दर है',
किन्तु आत्मगौरव खो देना, यह तो रौ रौ से दुखकर है।
जो निज में विश्वास न करता, जिसमें अपना मान नहीं है,
उसके रहने को तो इस जगती में कोई स्थान नहीं है।

जिये मान के साथ जिये,
बेहतर अपमानों से मर जाये,
रहे चमकता नक्षत्रों-सा
या बदली-सा फिर झर जाये।

हिन्दी में निबन्ध-कला की प्रगति

श्री उमाशंकर

अफ़लातून (Plato) ने आज से दो हज़ार वर्षों से पहले 'कला' की विवेचना करते हुए कहा था—"मानव अपने जीवन के प्रतिक्षण में स्पन्दनशील भावनाओं का अनुभव करता है, और उसके हृदय-पटल पर प्रत्येक स्पन्दन अंकित हो जाता है। वे ही भावनायें अनुकूल समय मिले तो प्रकाश में आ जाती हैं।" बाबू श्यामसुन्दरदास ने भी 'साहित्यालोचन' में लिखा है—"मानव चेतन-सम्पन्न प्राणी है। वह अपने चारों ओर की सृष्टि का अनुभव प्राप्त करता है। वह उसे देखता है, सुनता है, और उसकी छाप उस पर पड़ती है। वासना रूप में उसमें भिन्न भिन्न वस्तुओं के छायाचित्र अंकित होते रहते हैं और तदनुकूल ही उसके संस्कार बनते रहते हैं। मानव सभ्यता का जैसे जैसे विकास होता है, वैसे ही वैसे यह सृष्टि-प्रसार मनुष्य को अधिकाधिक रूप से प्रभावित करता है।"

मानव जब मृत्तिकामय जगत में जन्म लेता है, तब उसकी भावनाएँ बँधी सी रहती हैं। पर सभ्यता का ज्यों ज्यों विकास होता है, त्यों त्यों मानव का मस्तिष्क परिष्कृत होता जाता है। यह एक सनातन सत्य है। परिष्कृत मस्तिष्क के आग्रह ने भावनाओं की प्रसार-सीमा का अधिकाधिक विस्तार करना आरम्भ किया। मानव की आत्मानुभूति की निष्क्रियशील भावनाओं में क्रियाशीलता आने लगी। आत्मानुभूति की भावनाओं का जागरण होते ही मानव का जीवन कलापूर्ण होने लगा। आंशिक चेतन-विशिष्ट मानव को किसी निर्दिष्ट वस्तु पर एकान्तिक अनुरक्ति नहीं होती। मानव जब पूर्ण रूप से चेतनशील होता है, तभी किसी निर्दिष्ट वस्तु पर उसकी एकान्तिक अनुरक्ति होती है। एकान्तिक अनुरक्ति कला को सौन्दर्य्य प्रदान करती है।

निबन्ध रचना में किसी निर्दिष्ट वस्तु या विषय पर एकान्तिक अनुरक्ति होने की पूर्ण आवश्यकता है। एकान्तिक अनुरक्ति का बग़ैर विषय के प्रतिपादन सूक्ष्म रूप से नहीं हो सकता। अंग्रेज़ी साहित्य के सुप्रसिद्ध निबन्ध लेखक श्री एडीसन ने एक स्थल पर लिखा है—"रचना करते समय सारी दुनिया को भूलकर, केवल अपने वस्तु का ध्यान रखना चाहिए। भावनाओं की तन्मयता निबन्ध की रीढ़ (backbone) है।" डाक्टर जॉनसन ने तो यहां तक कहा है कि "निबन्धों में अभिव्यंजना की इतनी तीव्रता रहती है कि मानव अपने हृदय की शिथिल भावनाओं को क्षण-मात्र में झंकृत कर देता है—फिर तो मानव, सुध-बुध खोकर अपने निबन्धों में खो जाता है।"

निबन्ध किसी निर्दिष्ट वस्तु या विषय पर मौलिक रचना है। निबन्ध में विषय-विवेचन और उसका विस्तार वस्तु विन्यास के द्वारा नियंत्रित रहता है, और निबन्धकार के ज्ञान तथा चिन्तन के द्वारा विषय का नियमित करण होता है। पाश्चात्य देशों में निबन्धों के एक जन्मदाता ने निबन्ध की परिभाषा करते हुए कहा है—"निबन्ध उस रचना को कहते हैं, जिसमें किसी विषय या भाव को लेकर आत्मीयता का परिचय देते हुए आत्मानुभूति का अभिव्यंजन किया जाता है। डॉक्टर जॉनसेन ने 'The study of the essay' में निबन्ध की परिभाषा देते हुए कहा है "An essay is a loose sally of the mind, an irregular, undigested piece, not a regular and orderly composition" मूरीयम ने अपने कोष में इसकी परिभाषा यों दी है "An essay is a composition of moderate length on any particular subject

or a branch of a subject, originally implying want of finish, but now said of a composition more or less elaborate in style, though limited in range."

लेख, निबन्ध, तथा प्रबन्ध तीनों एक दूसरे के पर्यायवाची शब्द माने जाते हैं, पर उन्हें एक दूसरे के पर्यायवाची मानना युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता। तीनों में समता होते हुए भी अन्तर पड़ जाता है। पर अन्तर सूक्ष्म है। सूक्ष्म अन्तर होते हुए भी उनका साहित्यिक महत्व है। लेखों में भावना की तन्मयता और व्यक्तिगत अभिव्यक्ति की आत्मीयता व्यञ्जनापूर्ण (suggestive) होते हुए, उनमें विशेष रूप से स्पन्दनशीलता नहीं होती। पर लेख-विस्तार दोषरहित होता है। प्रबन्ध और निबन्ध के आकार-प्रकार तथा व्यञ्जना-पद्धति में अन्तर है। निबन्ध का एक बँधा हुआ घेरा है। निबन्धकार को गागर में सागर भरना पड़ता है। संकुचित स्थल में अधिक भावों का प्रसार करना पड़ता है। प्रबन्धकार के लिये कोई घेरा नहीं। प्रबन्ध में स्थल-संकोच नहीं होता। इसका क्षेत्र बहुत विस्तारपूर्ण है। पर निबन्ध की तरह प्रबन्ध में आत्मीयता निहित नहीं होती। कारण प्रबन्ध में व्यक्तित्व का प्राधान्य न होकर विषय का प्राधान्य होता है। निबन्ध में भावात्मकता तथा व्यक्तित्व की अधिकता रहती है, प्रबन्ध में विचारों की वस्तुमत्ता।

प्रायः सभी साहित्यिक कलाओं में निबन्ध कला का साहित्यिक महत्व अधिक है। यह कहा जाता है कि "यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है, तो निबन्ध गद्य की कसौटी है।" रसाल जी ने तो यहां तक कह डाला है कि निबन्ध रचना साहित्य का एक उत्कृष्ट तथा महत्वपूर्ण कार्य है, गद्य की परख इसी से होती है, भाषा अपने पूर्ण विकास का परिचय निबन्धों से ही देती है। हमारे एक साहित्यिक साथी के शब्दों में "निबन्ध ही के द्वारा लेखक के मानसिक धरातल तथा उसके विषय-विवेचन की समर्थता का पता लगता है।"

विषय के अनुसार निबन्धों के प्रकार-भेद करना उचित नहीं जान पड़ता। श्री सद्गुरुशरण अवस्थी एम०ए० ने अपनी हिन्दी गद्य कथा, में कहा है—"विषय की दृष्टि से प्रबन्धों का वर्गीकरण करना मूर्खता है। एक सुई की नोक से लेकर विश्व के विराट स्वरूप तक, एक प्रबन्ध के विषय हो सकते हैं।" तीन प्रकार के ही निबन्ध साहित्य में पाये जाते हैं। प्रायः सभी साहित्यिकों में निबन्ध के तीन भेद किये हैं—वर्णनात्मक, विवरणात्मक, तथा विचारात्मक। पर सुविधा के लिए हिन्दी निबन्धों को प्रकार-भेद से छः श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—वर्णात्मक (Descriptive) (२) विवरणात्मक (Narrative) (३) विचारात्मक (Reflective) (४) आलोचनात्मक (Critical) (५) तुलनात्मक (Comparative) (६) प्रवादात्मक (Proverbial)।

वर्णात्मक निबन्ध में वर्णन की बहुलता रहती है। वर्ण्य-विषय का स्पष्टता से उल्लेख किया जाता है। प्राणी, मनुष्य, उद्भिद्, स्थान, वस्तु, पहाड़, यात्रा आदि सम्बन्धी वर्णन इसी भेद के भीतर आते हैं। भाषा सरल और सुन्दर होती है। वर्णात्मक निबन्धों के लिए कथात्मक शैली प्रयुक्त होती है। यह शैली छोटे छोटे वाक्यों में गुम्फित रहती है। वर्णनात्मक निबन्धों में आत्मीयता का भाव झलकता रहता है। श्री श्यामसुन्दर दास के शब्दों में "व्यापक सहानुभूति, और आत्मीयता के वातावरण के साथ व्यक्तिगत और स्वानुभूति विचारों की नैसर्गिकता उनमें रहती है।" विवरणात्मक निबन्धों में वर्णन के साथ ही साथ कुछ विवेचना भी होती है। पौराणिक, ऐतिहासिक, आकस्मिक, घटना, भ्रमण वृत्तान्त, खेल, आदि का वर्णन विवरणात्मक निबन्धों के अन्तर्गत आता है। इस प्रकार के निबन्ध की भाषा वर्णनात्मक निबन्धों की भाषा से कुछ गम्भीर रहती है। निबन्ध को रोचक और आकर्षक बनाने के लिए कथात्मक तथा अलंकृत शैली का प्रयोग किया जाता है।

विचारात्मक निबन्धों में "विचारों की सुश्रृङ्खल योजना, उनका क्रमबद्ध उद्घाटन, एवं यथातथ्य विवेचना की प्रधानता होती है।" इस तरह के निबन्धों में अमूर्त विषय पर अपना विचार प्रकट किया जाता है। विचारात्मक निबन्धों में समास, एवं व्यासशैली उपयुक्त होती है। इस प्रकार के निबन्धों की भाषा गम्भीर पर सजीव होती है। व्यंग और विनोद की पुट देने से भाषा में मनोरंजकता आ जाती है। वाग्विदग्धता विचारात्मक निबन्धों का प्राण है। भावात्मकता का अभाव होने पर भी कल्पना का बाहुल्य रहता है। आलोचनात्मक निबन्धों में उन वस्तुओं, विचारों तथा भावों का उद्घाटन एवं यथातथ्य विवेचन होता है, जिनसे लेखकों में वास्तविक साहित्यिक भावना का प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार के निबन्ध पूर्ण रूप से गम्भीर होते हैं। शैली अत्यन्त गम्भीर, मार्मिक और चुटीली होती है।

तुलनात्मक निबन्धों में दो वर्ण्य विषयों के गुण-दोष का तुलनात्मक विवेचन होता है। इस प्रकार के निबन्धों की भाषा विशेष रूप से उच्छृङ्खल हुआ करती है। शैली इतिवृत्तात्मक रहती है। पर अन्य प्रकार के निबन्धों से इस प्रकार के निबन्धों में मनन-शीलता की अधिक आवश्यकता पड़ती है। प्रवादात्मक निबन्धों में कहावत, लोकोक्ति, आदि का विवेचन किया जाता है। इस प्रकार के निबन्ध की भाषा संयत और ओजमयी रहती है। शैली व्याख्यात्मक होती है।

बेकन, स्टील, एडीसन, डाक्टर जानसन आदि अंग्रेज़ी निबन्ध लेखकों से प्रभावित होकर हमारे यहाँ अंग्रेज़ी ढंग पर कुछ निबन्ध लिखे गये हैं। अंग्रेज़ी के ढंग पर लिखे गये निबन्धों के दो भेद और किये जा सकते हैं—व्यक्तित्व व्यंजक (Personal) तथा तथ्य निरूपक (Impersonal)। व्यक्तित्व व्यंजक निबन्धों में व्यक्तिगत अनुभूति से सनी हुई, भाव-योजना का प्रदर्शन होता है। निबन्धकार के व्यक्तित्व की छाप उसके निबन्ध पर इस तरह पड़ जाती है कि निबन्ध निबन्धकार की मनोवृत्ति का दर्पण सा मालूम पड़ता है। इस प्रकार के निबन्धों की भाषा गम्भीर होने के अतिरिक्त मनोरंजन मिश्रित होती है। विचारों की व्यंजना की रीति बोधगम्य होती है। शैली में चुलबुलाहट, व्यंग्य, हास्य, करुणा की आवश्यकता पड़ती है। तथ्य निरूपक निबन्धों में तर्क और बुद्धि की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार के निबन्धों की शैली प्रौढ़, भावोद्वेगमयी तथा गम्भीर होती है; पर साथ ही साथ कहीं कहीं वाग्विदग्धता तथा व्यंग्यात्मक भी रहती है।

हिन्दी में निबन्धकला का आरम्भ हम उस दिन से मान सकते हैं, जिस दिन से हमारी भाषा में प्रौढ़ता तथा गम्भीरता आई। पहले निबन्ध पद्य में लिखा जाता था। हिन्दी में कई पद्यात्मक निबन्ध मिलते हैं। पर पद्य में निबन्ध कला का विशेष निखरा हुआ रूप नहीं मिलता। पद्य में लिखे हुए निबन्धों का, उनके उच्चकोटि के न होने के कारण, साहित्यिक महत्त्व नहीं है। श्री श्यामसुन्दर दास ने 'साहित्यालोचन' में लिखा है—"प्राचीन निबन्ध इसी कारण शुद्ध साहित्यिक कोटि में स्थान न प्राप्त कर सके। वे एक प्रकार से विज्ञान की विश्लेषणात्मक कोटि में रख दिये गये। साहित्य की रसात्मकता का उनमें बहुत कुछ अभाव रहा; न तो उनमें व्यक्तित्व की कोई चमत्कारपूर्ण मुद्रा दिखाई दी, और न उनमें भावना-प्रधान शैली का प्रवेश ही हो पाया।"

गद्य में प्रौढ़ता के साथ निबन्ध कला का विकास हुआ। भारतेन्दु काल में हिन्दी गद्य परिष्कृत, शिष्ट, सौष्ठवपूर्ण होता हुआ गम्भीर, सम्पन्न, और प्रौढ़ हुआ। इसी काल में निबन्ध-रचना का विकास-प्रकाश हुआ। समाचार पत्रों की उत्पत्ति तथा क्रमशः वृद्धि समृद्धि से निबन्ध कला को बहुत कुछ प्रोत्साहन मिला। समाचार पत्रों से निबन्ध कला को प्रौढ़ता प्राप्त हुई। और निबन्धों से समाचार पत्रों का कलेवर अलंकृत हुआ।

हिन्दी में पण्डित प्रतापनारायण जी मिश्र सबसे पहले साहित्यिक निबन्ध लिखने वाले माने जाते

हैं। पर निबन्ध लिखने की परिपाटी स्वयं भारतेन्दु जी ने 'कवि वचन सुधा', 'हरिश्चन्द्र मैगजीन,' 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका', 'बाल बोधनी' नामक पत्र पत्रिकाओं के द्वारा चलायी। उन्होंने श्री ज्वालाप्रसाद, तोताराम, कार्तिकप्रसाद खत्री, और बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' आदि को निबन्ध लिखने के लिए उत्साहित किया। इन लोगों की रचनाओं से उस युग में निकलने वाले पत्रों का कलेवर सजाया जाता था। उनके अनेक निबन्धों में "भारतवर्ष में सुधार का क्या उपाय" (How India can be reformed)', ईश्वर का वर्तमान होना, भक्ति ज्ञानादि से क्यों बड़ी है, हम मूर्तिपूजक हैं, श्रुतिरहस्य, मित्रता, खुशी, अपव्यय, इंगलैण्ड और भारतवर्ष, ईशू ख्रीष्ट और ईश कृष्ण, भूकम्प, त्यौहार, होली अकम्प्य जगत, भगवान स्तुति, सूर्योदय इत्यादि बहुत उपयोगी निबन्ध हैं। वर्णात्मक, विवरणात्मक, विचारात्मक, आलोचनात्मक, तुलनात्मक और प्रवादात्मक सभी प्रकार के निबन्धों की रचना की गई है। शैली और ओज चमत्कारपूर्ण हैं। इन शीर्षकों से ही स्पष्ट होता है कि निबन्ध रोचक हैं। इनके समीपवर्ती अनेक लेखकों के निबन्ध भी मिलते हैं। पर श्री श्यामसुन्दर दास के शब्दों में "भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके समकालीन निबन्ध लेखकों में अधिकांश निबन्ध-लेखन कला से अवगत नहीं थे। उनमें कुछ तो अपने निबन्धों का आरम्भ 'कोटिशः धन्यवाद उस परम पिता परमेश्वर का है' आदिशब्दों से करते थे। उनमें अनुप्रास आदि शाब्दिक प्रयोगों का प्राधान्य है। बिना अर्थ की भूमिका बांधने की परिपाटी चल पड़ी थी। रूढ़िगत धार्मिकता और भावुकता का प्रकाशन भी अधिक मात्रा में किया गया था।"

हिन्दी साहित्य के प्रायः सभी विद्वानों ने प्रताप नारायण मिश्र से हिन्दी निबन्धकला का विकास माना है। वे आधुनिक हिन्दी के मौनटेन या लेम्ब भी कहे जाते हैं। मिश्र जी मस्त आदमी थे। उनमें ज़िन्दादिली थी, मसखरापन कूट कूट कर भरा था। वे मनोविनोद की समाग्री पाठकों के लिए तैयार करते थे। उनके लेखों के शीर्षक से उनकी उमंग और विनोदप्रियता का पता लगता है। उनके हास्यपूर्ण निबन्धों के घूर के लत्ता बीनै, कनातनक डौल बांधै, 'मरे का मार शाह मदार', 'भौं', 'पाल', 'दांत', समझदार की मौत, वृद्ध शीर्षक आदि हैं। इन निबन्धों में उनकी शैली हास्यरसात्मक है। शब्द ग्रामीण और घरेलू है। भाषा नागरिक और ग्रामीण है। पर उनके निबन्धों का उद्देश्य केवल मनोविनोद करना नहीं था। उन्होंने 'हमारी आवश्यकता' शीर्षक लेख में अपनी नीति को स्पष्ट करते हुए कहा था—"जी बहलाने के लेख हमारे पाठकों ने पढ़ लिये। यद्यपि इनमें बहुत सी समयोपयोगी शिक्षा रहती है, पर वाग्जाल में फँसी हुई है। अतः अब हमारा विचार है कि कभी कभी ऐसी बातें भी लिखा करें, जो इस काल के लिये प्रयोजनीय हैं, तथा हास्यपूर्ण न हो के सीधी-सादी भाषा में हों। हमारे पाठकों का काम है कि उन्हें नीरस समझ कर छोड़ न दिया करें तथा केवल पढ़ ही न डाला करें, वरंच उनके लिये तन से, धन से, कुछ न हो सके, तो वचन से ही यथावकाश कुछ करते भी रहें।"

हास्यरसात्मक निबन्धों को छोड़कर उन्होंने अनेक सामाजिक लेख 'ब्राह्मण' में लिखे। उनके सामाजिक निबन्धों का ध्येय नैतिकता-प्रचार था। 'हमारी आवश्यकता, नारी, खुशामद, 'देव मन्दिरों के प्रति हमारा कर्त्तव्य', 'शिव मूर्ति' आदि उनके प्रसिद्ध सामाजिक निबन्ध हैं। उनके सामाजिक निबन्धों में शास्त्रीय विवेचन नहीं है। उन्होंने नैतिकता का प्रचार हास्य का पुट देकर किया है। सामाजिक निबन्धों के अतिरिक्त उन्होंने कुछ गम्भीर विषयों पर भी निबन्ध लिखे हैं जैसे—काल, स्वार्थ, मनोयोग, सोने के उराठा और पौंडा। पर ये सब निबन्ध बहुत गम्भीर नहीं हुए हैं। उनके मसखरापन के चलते निबन्धों की गम्भीरता दब-सी गई है। उनकी भाषा पर व्याकरण का नियन्त्रण नहीं जान पड़ता।

उनके निबन्धों में व्याकरण की भयंकर अशुद्धियाँ मिलती हैं। कहीं कहीं विचित्र लिपि दोष भी देखने को मिलते हैं, पर उनकी भाषा में सुबोधता और रोचकता है। श्री श्यामसुन्दरदास जी ने कहा है "विनोद की मात्रा के साथ साथ प्रतापनारायण जी में स्वगतभाव की अत्यन्त स्पष्ट और स्वाभाविक रूप से कहो सुनने की क्षमता थी। आत्मीयता उनकी शैली का विशिष्ट गुण है।"

श्री प्रताप नारायण मिश्र के समान ही श्री बालकृष्ण भट्ट में ज़िन्दादिली और मस्तानापन पाया जाता है। पर भट्ट जी मिश्र जी से अधिक गम्भीर तबियत के आदमी थे। उनका हास्य भी अधिक शिष्ट और समादृत है। कुछ समालोचक उन्हें हिन्दी साहित्य के एडीसन कहते हैं। उनके सारे निबन्ध "हिन्दी प्रदीप" में प्रकाशित हुए। उनके सर्वोत्तम निबन्धों में से कुछ का संग्रह 'साहित्य-सुमन' के नाम से प्रकाशित हो चुका है और प्रयाग विश्वविद्यालय ने एम० ए० परीक्षा की पाठ्य पुस्तकों में उस संग्रह को रख कर भट्ट जी के प्रति अपना सम्मान भी प्रदान किया है। पर उनके अनेकों निबन्ध अभी 'हिन्दी प्रदीप' को फाइलों में पड़े हुए हैं। एक जगह उन्होंने कहा भी था 'पाठको! इन बत्तीस साल की जिल्दों में कितने ही उत्तमोत्तम उपन्यास, नाटक तथा अन्यान्य प्रबन्ध भरे पड़े हैं। वे सब यदि पुस्तकाकार छाप दिये जायँ, तो निस्सन्देह हिन्दी-साहित्य के आँगन का कुछ न कुछ कोना अवश्य भर जाय......।

भट्ट जी ने वर्णनात्मक, भावात्मक, तथा विचारात्मक तीनों प्रकार के निबन्ध लिखे। उन्होंने त्योहार, ऋतु चर्य्या, सामायिक घटनाओं, समाज की जीवनचर्या आदि पर सुन्दर वर्णनात्मक निबन्ध लिखे। वर्णनात्मक निबन्धों में उनकी शैली बड़ी रंगीली और चुलबुली है। उसमें काफ़ी ज़िन्दादिली और हास्य की पुट है। भाषा बोधगम्य और शैली कथात्मक है। नाक, कान, बातचीत, 'दिल और दिमाग', आदि शीर्षक वाले लेख विशेष रोचक और सुन्दर हैं। इन निबन्धों में हास्यरसात्मकता के साथ ही साथ आत्मीयता निहित है। इन निबन्धों का साहित्यिक महत्व भी काफी है। श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी ने अपने 'हिन्दी साहित्य का गद्य काल' में लिखा है "साहित्यिक दृष्टि से उनके कुछ लेख तो इतने उच्चकोटि के हुआ करते थे कि वे चार्ल्स लैम्ब के उत्तमोत्तम लेखों के साथ साथ रखे जा सकते हैं, जैसे, बातचीत, ईश्वर क्या ही ठठोल है, आँसू, इत्यादि। उन्होंने छोटी मोटी बातों को लेकर ऐसी ऊँची उड़ान ली है, जिसका कोई ठिकाना नहीं। घनिष्ठता और वैयक्तिकता की छाप भी उनके लेखों में वैसी ही है, जैसी लैम्ब के लेखों में।"

भट्ट जी के अनेकों विचारात्मक निबन्ध हैं। "कल्पना", "आत्मनिर्भरता", जैसे निबन्ध इसी श्रेणी के हैं। इन निबन्धों के विचार मौलिक हैं। विषय का विवेचन एवं उद्घाटन स्पष्ट है। भाषा प्रवाहमय और आवेशपूर्ण है। 'चरित्र शोधन', 'प्रेम और भक्ति' शीर्षक इनके निबन्ध बहुत गम्भीर और शिक्षाप्रद हैं। इन निबन्धों से साहित्यिकता का आभास पूर्णरूप से प्रकट होता है। हिन्दी में भावात्मक निबन्धों के जन्मदाता तो भट्ट जी ही माने जाते हैं। 'चन्द्रोदय' आदि शीर्षक उनके निबन्ध भावात्मक हैं। इन निबन्धों की भाषा अलंकारिक है। शैली धारावाहिक है। उनमें, उस समय के ख्याल से धर्म और समाज दोनों क्षेत्रों के विचारों और भावों में आश्चर्यजनक स्वतन्त्रता है, उनके निबन्धों का साहित्यिक महत्व इसलिए भी है कि इन निबन्धों के बाद ही हिन्दी साहित्य में ऐसे उच्च भावात्मक निबन्ध लिखने की परिपाटी जारी हुई।

पं० बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने कई निबन्ध 'आनन्द कादम्बनी' में लिखे थे। भारतेन्दु काल में यही एकमात्र लेखक थे, जिन्होंने अपने निबन्धों को पूर्ण रूप से अलंकारिक भाषा में लिखा है। उन्होंने काव्य की अलंकारिकता निबन्धों में ला रखी थी। अपनी शैली में कोमल पदावली का समावेश करने के कारण उन्हें लोग हिन्दी के बाणभट्ट या हिन्दी के 'स्टेवेन्सन' कहते हैं।

(अपूर्ण)

वर्तमान महायुद्ध के कुछ रहस्य

एक प्रगतिवादी

जब जेकोस्लोवेकिया पर जरमनी का क़ब्ज़ा हो गया तब मित्र दल ने अपनी एक नई नीति निर्धारित की। इसका उद्देश्य यह था कि पूर्वी योरप में जरमनी का आधिपत्य न हो पाये। यह निश्चित हुआ कि ज्योंही जरमनी पोलैण्ड और रूमानिया पर आक्रमण करे या इटली का यूनान पर हमला हो त्योंही इङ्गलैण्ड और फ्रांस जरमनी के साथ लड़ाई की घोषणा कर देंगे। इसके पूर्व इङ्गलैण्ड ने पूर्वी योरप के प्रति अपनी ऐसी ज़िम्मेदारी का सबूत कभी न दिया था। अङ्गरेज़ लेखक जौन डिकोर्सी (John Decourcy) का कहना है—

'अपने सम्पूर्ण इतिहास में पूर्वी योरप में हमने अपना बचाव कभी नहीं किया था। पूर्व में अधिक से अधिक हमने ब्लेनहम तक अपनी फ़ौजें भेजी थीं। चासर के वीर लोग ही ऐसे थे जिन्होंने पोलैण्ड की लड़ाई में भाग लिया था।'

किन्तु अब अपने 'जीवन के अस्तित्व के लिए' अपने विरोधियों का सामना करना ज़रूरी था। हिटलर ने सम्पूर्ण योरप की स्वतन्त्रता छीनने का निश्चय कर लिया था। उसको दबाने के लिए योरप की आज़ादी का नारा ज़रूरी हो गया। अब मित्र दल का यह 'पवित्र कर्तव्य' था कि वे योरप को गुलामी से बचाने के लिए अपना संगठन कर लें और अपना 'उच्च' उद्देश्य सब पर प्रकट कर दें। दुर्भाग्य की बात यह थी कि मित्र दल के पास उनके विशाल उद्देश्य के अनुकूल विशाल सामग्री न थी। सच तो यह है कि उन्हें अपनी तैयारी बहुत ही अपूर्ण दिखाई दे रही थी किन्तु चाहे जो हो राजनीति की यह माँग थी कि एक सम्मिलित घोषणा इस बात की की जाती।

इस घोषणा के फलस्वरूप सोवियत रूस का प्रश्न अपने आप महत्वपूर्ण हो गया। अङ्गरेज़ी फ़ौजी बातों के सुप्रसिद्ध जानकार और लेखक लिडिल हार्ट (Liddell Hart) ने १९३९ के बसन्त में प्रसिद्ध पत्र 'टाइम्स' में लिखा था—

'जब तक रूस को अपना साथी न बनाया जायगा तब तक जरमनी का मुक़ाबिला नहीं किया जा सकता क्योंकि जरमनी की स्थल सेना और वायुसेना मित्रदल की सेनाओं की अपेक्षा कहीं अधिक होगी। म्यूनिक के समझौते का फल फ्रांस और ब्रिटेन के लिए बहुत हानिकारक हुआ क्योंकि इससे योरप के संतुलन में परिवर्तन हो गया···जब तक रूस की सहायता का विश्वास न हो जावे तब तक यह संतुलन थोड़े समय में ठीक नहीं हो सकता।'

इस प्रकार लिडिल हार्ट ने यह खुल्लमखुल्ला स्वीकार किया कि जरमनी की सैनिक शक्ति मित्रदल की सैनिक शक्ति से बढ़ी चढ़ी थी और उसका सामना सोवियत रूस की सहायता से ही किया जा सकता था। सोवियत रूस ने अपनी शस्त्र-शक्ति उसी तरह बनाई थी जैसी जरमनी ने—बल्कि जरमनी की अपेक्षा उसको समय ज़्यादा मिला था। रूस के लड़ाई में आ जाने से लड़ाई का दुहरे मोर्चों पर चलना निश्चित था। १९१४-१८ की लड़ाई में जरमनी दो मोर्चों का सामना न कर सका था और इस बार उसकी हार्दिक इच्छा रही है कि इस प्रकार न लड़ना पड़े।

इस प्रकार एक तो पोलैण्ड को बचाने और जरमनी पर आक्रमण करने के लिए रूस की सहायता आवश्यक थी दूसरे यह स्पष्ट था कि फ्रांस जरमनी का सामना करने में किसी तरह समर्थ नहीं हो सकता—अगर उसे पूर्व में भी लड़ना पड़े। १९४० की घटनाओं ने इसे भयंकर रूप से सत्य प्रमाणित कर दिया। पीरी कोट (Piere Cot) फ्रेंच राजनीतिज्ञों में यथेष्ट दूरदर्शी और फ़ौजी विशेषज्ञ होने के कारण इसे पहले

ही से समझ गए थे और आने वाली महान विपत्ति के बारे में उसने १९३९ के प्रारम्भ में ही पेरिस के समाचार ले उव्रेर (L' Oeuvere) में लिखा—

'जरमनी नियरलैण्ड और बेलजियम पर हमला करके हमें इङ्गलैण्ड से अलग कर देना चाहेगा। उसका सामना करने के लिए पोलैण्ड को और उससे भी बढ़ कर रूस को हमें अपना सहायक बनाना चाहिए, नहीं तो हम जरमन फ़ौजों को रोक न सकेंगे। किन्तु जब रूस ने यह प्रस्ताव किया कि छः शक्तियों की यानी ब्रिटेन, फ्रांस, सोवियत रूस, पोलैण्ड, टर्की और रूमानिया की एक सभा की जाय तब लंदन ने इसे स्वीकार न किया। 'यह बड़े ही दुर्भाग्य की बात हुई।' इस समय स्वयं सोवियत ऐसी महान शक्ति अपनी ओर से यह प्रस्ताव मित्रदल से कर रही थी। यही सब से बढ़िया अवसर उससे फौजी सहयोग लेने का था। परन्तु इङ्गलैण्ड चूक गया।

इङ्गलैण्ड की ओर से यह प्रस्ताव किया गया कि सोवियत रूस पोलैण्ड और रूमानिया को अपनी सहायता का विश्वास दिला दे। इसका अर्थ यह नहीं था कि पोलैण्ड और रूमानिया के साथ फौजी सहयोग का उचित प्रबन्ध हो बल्कि रूस से यह मांग थी कि वह अपनी सामग्री और सैनिक शक्ति पोलैण्ड और रूमानिया के इस्तेमाल के लिए दे देने को राज़ी हो जाय और इन दोनों देशों के यह अख्तियार रहे कि वे जब जितना सामान और जितनी सेना लेना चाहें ले सकें।

फ्रांस के राजनैतिक साप्ताहिक पत्र ल'-युरुप नोविली (L' Europe Nowelle) ने, जो कि फ्रांस के प्रगतिशील राष्ट्रीय दल का पत्र है, इसके समर्थन में लिखा था—

'इस तरह की शर्त पर राज़ी हो कर रूस को पोलैण्ड और रूमानिया को सीधी सहायता देने के लिए बाध्य न होना पड़ता बल्कि जब उन पर आक्रमण होता और वे सहायता चाहते तब उन्हें आर्थिक फौज़ों और हवाई जहाज़ की सहायता देनी पड़ती। इससे सोवियत रूस को केवल एक सुरक्षित कोष (Reserve) की तरह काम करना होता—और वह भी केवल विशेष आवश्यकता के समय।' १५ अप्रैल को सोवियत गवर्नमेन्ट ने अपनी ओर से एक दूसरा प्रस्ताव किया। उसने कहा कि वह अपने पश्चिमी पड़ोसियों को सहायता देने को तैयार है किन्तु यह काम बड़ी शक्तियों के यानी ब्रिटेन, फ्रांस और सोवियत रूस, इन तीनों के ऐसे आपसी समझौते के द्वारा होना चाहिए जिसमें एक ओर तो पोलैण्ड, रूमानिया और बाल्टिक रियासतों को मदद देने की शर्त रहे और दूसरी ओर ऐसी ही शर्त बेल्जियम, स्वीजरलैण्ड, हालैण्ड के लिए भी रहे।' अगर अङ्गरेज़ी और फ्रेंच गवर्नमेंन्टों ने रूस की इस उचित बात को मान लिया होता तो तुरन्त समझौता हो जाता किन्तु २ मई सन् १९३९ को इन दोनों ने मिलकर रूस के इस प्रस्ताव को भी ठुकरा दिया।

उनके ऐसा करने के जितने कारण थे वे सब अत्यन्त भ्रमपूर्ण और असीम अहमन्यतासूचक थे।

पहला कारण तो यह था कि वे समझते थे कि पोलैण्ड और रूमानिया स्वयं ही जरमन आक्रमण का सामना करने में समर्थ हो सकते हैं। उनके इस विश्वास का कारण पोलैण्ड के प्रधान मन्त्री जनरल सिकोर्सकी (Sikorsky) का बेहद आत्म विश्वास था। इन्होंने दो जून सन् १९३९ तक को 'पेरिस स्वायर' (Paris Soir) में लिखा था—'रूस से अपनी आज़ादी बनी रहने की गारण्टी हम नहीं मांगते। हम अच्छी तरह जानते हैं कि अपनी रक्षा हम कर सकते हैं।'

थोड़े महीनों बाद ही पोलैंड के युद्ध क्षेत्र ने यह भली भाँति प्रमाणित कर दिया कि इन जनरल साहब का यह दावा कितना झूठा था। जनरल साहब पोलैंड से बाहर भाग गये किन्तु पोलैंड देश को अपनी आज़ादी खोनी पड़ी।

दूसरा भ्रम यह था कि मित्रदल की सहायता ही पोलैंड और रूमानिया के लिये यथेष्ट होगी। फ्रांस के एक उच्च कर्मचारी डिज़री फेरी (Desire Ferry) ने कहा था—

'हमारे लिये पोलैंड एक आवश्यक साथी है। पूर्वी यूरुप में यही एक देश ऐसा है जो तुरन्त काम करने के लिये समर्थ है। हम रूसी सेना के और उसकी योग्यता को जानते हैं। पिछले १५ वर्षों से हम उसकी अनावृत उन्नति देखते आ रहे हैं। रूस की सहायता अनिश्चित है और उसमें हमें बहुत सावधान रहना पड़ेगा किन्तु पोलैंड की सहायता सुनिश्चित है।'

इन वाक्यों से यह स्पष्ट है कि रूस के समाजवादी शासन के प्रति मित्रदल की जो कटु भावना थी उसी ने उन्हें रूस से उस समय मिलने नहीं दिया। घटनाओं ने यह साफ़ साफ़ दिखला दिया कि वे कैसे भ्रामक आधार पर खड़े हुए थे।

तीसरी भूल इससे भी भयानक थी। मित्रदल का यह ख्याल था कि वे पश्चिम में दूसरा मोर्चा बना कर पोलैंड को तुरन्त सहायता पहुँचा देंगे। अवश्य ही इन्होंने पोलैंड को ऐसा विश्वास दिलाया होगा और इसी बल पर पोलैंड ने रूस के समझौते के लिए बढ़े हुए हाथ को छूने से भी इनकार कर दिया। मई १९३९ में पोलैंड के मास्को में स्थिति राजदूत ग्रीज़ी बोस्की (Grizi Bovshy) ने रूस की बात मानने से इनकार किया।

चौथी भूल यह थी कि मित्रदल ने समझा था कि वे इङ्गलैंड और फ्रांस की फौजें पोलैंड भेज सकते हैं और पोलैंड भी इस गहरे भ्रम में पड़ा रहा। जान डिकोर्सी ने अपनी एक पुस्तक उसी समय प्रकाशित करवाई थी जब पोलैंड परास्त हो गया। इसमें उसने स्पष्टतः लिखा है—

'यह आशा करना कि फ्रेंच सेनायें सिग फ्रीड (Sieg Fried) पंक्तियो को तोड़ कर पोलैंड तक पहुँच सकती थीं हास्यप्रद था।'

लायड जार्ज ने भी 'हाउस आफ़ कामन्स' (House of Commons) में ३ अप्रेल १९३९ को भाषण करते हुए कहा—'हम पोलैंड कैसे जा सकते हैं?' फ्रांस की सेना वहां कैसे जा सकती है? हमारी सेनायें और फ्रांस की सेनायें मिलकर भी वहां कैसे जा सकती है?······अगर हम रूस की सहायता न लेंगे तो जाल में फँस जायँगे।'

उन्होंने ब्रिटेन की गवर्नमेंट से स्पष्टतः कह दिया था कि अगर पोल्स (पोलैंड के निवासी) रूसी लोगों को न चाहते हों तो भी हमारा यह कर्तव्य है कि हम उन्हें अपनी शर्तें समझा दें और साफ़ साफ़ कह दें कि हम दूसरी शर्तों पर उनकी सहायता न कर सकेंगे।

डिकोर्सी ने लिखा है कि रूमानिया और पोलैंड रूस की सैनिक सहायता से अपना बचाव स्वीकार करने को तैयार न थे। किन्तु इङ्गलैंड की भी यह नीति थी जैसा कि 'ल' यूरुप नोविली' नामक फ्रांसीसी पत्र से स्पष्ट हो जाता है, कि पूर्वी यूरुप के देशों को रूसी नीति के प्रति अविश्वासी बनाये रखा जाय।

चैम्बरलेन साहब की यह इच्छा थी कि यूरुप की प्रधान नीति में रूसी सहयोग बहुत परिमित रहे। इङ्गलैंड की जनता यह चाहती थी कि सोवियत रूस से शर्तें करके जरमनी के विरुद्ध लड़ने की तैयारी की जाय। चर्चिल, लायड जार्ज, ईडिन और डफ़ कूपर भी यही चाहते थे। इसी तरह फ्रांस में पालरीनो हेनरी, डी केरलिस और पीरीकोट इसके समर्थक थे किन्तु दो महीने बाद १९३९ के जून में चेम्बरलेन का मन्त्रि-मण्डल रूस से ऐसी बात चीत करने के लिए तैयार हो सका। रूस ने यह चाहा कि अगर जरमनी का आक्रमण हो तो तुरन्त सब लोग मिलकर जरमनी के विरुद्ध लड़ाई छेड़ें। उसने यह भी चाहा कि अगर बाल्टिक प्रदेश पर अप्रत्यक्ष रूप से हमला हो तो भी सब साथ दें।

मित्र दल को इसकी चिन्ता थी कि मिलकर एक युद्ध-योजना बनाई जावे। वे सैनिक सहयोग प्राप्त करना अपने जीवन के लिए आवश्यक समझ रहे थे। सोवियत रूस भी इस विषय में ऐसा ही समझता था। ३१ अगस्त १९३८ के अपने व्याख्यान में मोलोटोव ने उन कारणों को बतलाते हुए जो मित्र-दल के साथ सुलह करने में बाधक हुए यह कहा कि "ब्रिटेन, फ्रांस और सोवियत संघ का सहयोग

तभी पारस्परिक सहायता के आधार पर हो सकता है जब वे तीनों यह निश्चय कर सकें कि वे आक्रमण-कारी के विरुद्ध किए प्रचार सैनिक योजनाओं में एक दूसरे का साथ देंगे।'

इङ्गलैंड में जो लोग रूस का साथ देना चाहते थे उनकी भी यही सम्मति थी। जुलाई १९३९ में डफ़ कूपर ने लिखा था—

'शान्ति का मोर्चा लड़ाई के लिए तैयार किया जाना चाहिए। आपस में मिलकर युद्ध-योजना बना लेने में अब अधिक देरी न करनी चाहिए। केवल ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और रूस को ही नहीं बल्कि इनके महत्व-पूर्ण साथियों—पोलैंड, टर्की, यूनान और रूमानियां—को भी समय नष्ट न करके सब के साथ ऐसा निश्चय करना चाहिए जिससे सब के साधनों का एक ही उद्देश्य से उपयोग किया जा सके। यह भी निश्चय कर लेना सम्भव है कि समय पर हम सब मिलकर कहाँ पर आक्रमण करेंगे और कहां अपने बचाव के लिए खड़े होंगे।'

जुलाई और अगस्त १९३९ के महीने ही वे महीने हैं जिनमें तरह तरह की ग़लतियों से, एक दूसरे को न समझने से या ठीक न समझने से, कुछ बातों की ओर दृष्टि न देने से या उनके प्रति भ्रामक दृष्टि रखने से अन्त में अंग्रेज़ों और फ्रांसीसियों की रूस से सुलह की बात चीत टूट गई और रूसी-जरमन-संधि हो गई! जुलाई के अन्त तक यह यथेष्ट स्पष्ट हो गया कि जरमनी पोलैंड पर प्रत्येक दशा में हमला करेगा। मित्रदल और रूस में अब इस हमला को रोक देने की शक्ति रखने वाली सुलह न हो सकती थी। ऐसी सुलह तभी हो सकती थी जब उसके लिए तैयारी की गई होती।

सोवियत गवर्नमेन्ट ने अगस्त मास में अंग्रेज़ों के और फ्रेंच लोगों के फ़ौजी 'मिशन' को मास्को में बुलाया। ऐसा जान पड़ने लगा कि फ़ौजी बातें आपस में ठीक तरह निश्चित हो जावेंगी। १० अगस्त को यह बात चीत शुरू हुई। दुनिया को अब यह पूरा विश्वास हो गया कि लड़ाई कुछ ही दिनों में अवश्य होगी। मास्को में जो बात चीत हुई वह पूरी तरह प्रकाश में नहीं आई। पर इसमें सन्देह नहीं हो सकता कि प्रारम्भ में कुछ न कुछ बाधा आ गई क्योंकि मोलोटोव ने ३१ अगस्त १९३९ को मित्रदल की निन्दा की। उन्होंने कहा—जो ब्रिटिश और फ़ौजी मिशन मास्को आये उन्हें न तो यह शक्ति निश्चित रूप से प्राप्त थी, न उन्हें इतना अधिकार ही था कि वे फ़ौजी सन्धि-पत्र (Convention) के बारे में हस्ताक्षर कर सकें।

अगस्त २ को पेरिस के 'फ़िगारो' पत्रने, जो गम्भीर और जानकार पत्र समझा जाता था, जो कुछ लिखा था उससे यह मालूम हो सकता है कि इन फ़ौजी मिशनों का वास्तविक उद्देश क्या था। कुछ विशेष बातों का पता लगाना ही इनका उद्देश था। उसने लिखा था—

'लाल सेना की वास्तविक फ़ौजी शक्ति का हमें बहुत कम ज्ञान है। फ्रेंच और ब्रिटिश फ़ौजी मिशनों की यह पूरी कोशिश होगी कि इस विषय में जानकारी प्राप्त करें। इसकी भी सम्भावना है कि रूसी मार्गों के बारे में—रेलवे, सड़कों आदि के सम्बन्ध में—नई बातें जान ली जावें। अन्त में सोवियत संघ की फ़ौजी शक्ति को भी ठीक तरह जान लेना है।'

इसका मतलब यह हुआ कि सोवियत की सैनिक शक्ति का पूरा और पक्का ज्ञान पा लेना सम्भव समझा गया था। किन्तु युरोपीय संघर्ष के इस नाज़ुक अवसर पर कोई 'फ़ौजी संधि' इस सब से न हो सकती थी। जब मास्को की यह बात चीत समाप्त हो गई तब एक बार कुछ महत्वपूर्ण काग़ज़ों को प्रकाशित किया गया। जनवरी १९४० में मैक्स डॉरमोय ने जो पहले फ्रांस के भीतरी विभाग के मन्त्री थे पेरिस के साप्ताहिक पत्र ला लुनीरी (La Lunniere) में दो तार प्रकाशित करवाये थे। इनमें से एक २१ अगस्त १९३९ को उस समय के प्रधान मन्त्री दैलेदियर ने जो युद्ध मन्त्री भी थे, फ्रेंच फ़ौजी मिशन के चीफ़ जनरल डोमिन (General Doumene) को मास्को भेजा था। इसमें लिखा था—

'सर्वसाधारण के लाभ के लिए आपको यह अधिकार दिया जाता है कि आप फ़ौजी बातों के संधि-पत्रों पर हस्ताक्षर कर सकें पर उन्हें मन्ज़ूर करने का काम फ्रेंच गवर्नमेन्ट का होगा।'

दूसरा तार वारसौ में फ्रेंच फ़ौजी मिशन या उसके चीफ़—जनरल फोरी (General Foary)—ने २३ अगस्त १९३९ को पेरिस भेजा था। इसमें लिखा था—

'इस समय की दशा के कारण पोलैंड गवर्नमेंट ने अन्त में यह स्वीकार कर लिया है कि हमारी ओर से जो लोग रूस गये हैं वे सोवियत के साथ पूरी तरह की एकता की सम्भावना पर पूरा विचार करें। मास्को में स्थित राजदूत और वहां गये हुए लोगों को इसकी सूचना भेज दी गई है।'

इससे यह साफ़ है कि अन्त में पारस्परिक स्वार्थ की आवश्यतकताओं पर और राजनीतिक तथा फ़ौजी आवश्यकताओं के बारे में अन्तिम समझौता हो गया था—फ्रेंच इस बात पर तैयार हो गये थे कि फ़ौजी बातों का निश्चय मास्को के साथ कर लिया जावे (अंग्रेज़ भी इस पर राज़ी थे या नहीं, यह हम नहीं जानते), वे यह भी चाहते थे कि पोलैंड का सोवियत संघ के साथ फ़ौजी समझौता हो जावे जिससे लाल सेना पोलैंड में जा सके। यह समझौता १९३९ के मार्च, एप्रिल महीनों में आसानी से हो सकता था। ज़्यादा से ज़्यादा जुलाई के अन्त तक में सब विस्तार की बातों पर पूरी तरह विचार हो जाना चाहिए था और समझौते को कार्य में परिणत होना चाहिए था। पर यह कुछ भी न हुआ। अगस्त में भी बहुत देर में समझौते की साफ़ रेखायें सामने आईं। तब तक लड़ाई की तैयारी हो चुकी थी। सोवियत गवर्नमेन्ट इस विलम्ब से बहुत बुरा मान रही थी। जरमनी की कूट नीति ने इसके विरुद्ध मसाला तैयार कर लिया था। २३ अगस्त को रिबेन्ट्रोप मास्को पहुँच गये।

थर्ड रीच (वर्तमान जरमन पार्लियामेन्ट) की आवश्यकताओं की पूर्ति के काम में लगाना ही इस समय की जरमन कूट नीति थी। १९३९ के ग्रीष्म में उसका मुख्य काम यह था कि सोवियत संघ को युरोप के रक्षा के मोर्चे से अलग कर देती, चाहे इसका मूल्य कितना ही देना पड़ता। इस काम की ज़रूरत फ़ौजी दल ने समझी थी। इसी से विदेशी नीति में थर्ड रीच को सब से अधिक उलट-फेर करनी पड़ी। १ जून को कोलोन्ड्र (Coulondre) ने, जो बरलिन में फ्रेंच राजदूत थे, अपनी गवर्नमेन्ट को रिपोर्ट दी थी कि हिटलर ने जनरल कीटल (Keitel) से और ब्रोन्चीश (Bronchitsch) से जो मुख्य सेनापति थे यह प्रश्न किया था कि जरमनी लड़ाई में सफल हो सकता है या नहीं? दोनों ने एक ही उत्तर दिया था और वह यह था कि यह रूस के लड़ाई से अलग रहने पर मुनहसिर है। "यदि सोवियत अलग रहे तो सफलता अवश्य होगी।"—यह जनरल कीटल (Keitel) ने कहा। जनरल ब्रोन्चीश ने कहा 'रूस अलग रहे तो सफलता की सम्भावना है।' दोनों इस पर सहमत थे कि अगर रूस से भी एक ही समय लड़ना पड़ा तो विजय की बहुत कम सम्भावना है।

इसलिए जरमनी की सारी कूट नीति इसी काम में लगाई गई कि दो मोर्चों पर न लड़ना पड़े और रूस लड़ाई से अलग रहे।

'अगर सोवियत संघ ने भी ब्रिटेन और फ्रांस का साथ दिया होता तो जरमनी की कठिनाइयां कहीं अधिक हो गई होतीं।'

१९३९ के ग्रीष्म में जो वाद विवाद हुआ उसमें इन्हीं दोनों जनरलों का दृष्टिकोण ठीक समझा गया।

सन् १९२० में जनरल ग्रोनर (Groner) ने, जो श्लीफिन (Schlieffen) के योग्यतम शिष्यों में से थे, जरमनी की १९१४ के पहले की कूट नीति के बारे में अपनी लिखी एक पुस्तक में कहा था—

"हमारे फ़ौजी कामों और राजनीतिक विचारों में एकता न थी। हमारे राजनीतिज्ञों को ऐसा ढङ्ग अपनाना चाहिए था जो फ़ौजी कामों के अनुकूल होता। यह ढङ्ग ऐसा होता जिससे हम पश्चिम में तो लड़ाई

लड़ते और पूर्व में अपनी फ़ौजों को आवश्यक समय के लिए बचाये रखते।'

१९३९ के ग्रीष्म काल में जरमन राजनीति का यही मुख्य प्रेरक सिद्धान्त हो गया था। १९२४ से १९३१ तक कर्नल नीडर मेयर (Corlonel Niedermeyer) सोवियत संघ में जरमनी की ओर से अपना काम करते थे। यह काम कुछ तो खुफिया था और कुछ ऐसा फ़ौज सम्बन्धी जिसका दफ़्तर से सरोकार न था। इन कर्नल साहब ने दिसम्बर १९३९ में एक फ़ौजी समाचार-पत्र में लिखा था—

"१९२२-२३ में भी जरमनी और सोवियत संघ के मिलन का मार्ग फ़ौजी दूरदर्शिता से साफ़ हो गया था।......"

नाज़ियों की नीति ऐसी सिद्धान्तहीन और लचीली थी कि उसने फ़ौजी आवश्यकताओं से उत्पन्न प्रेरणा को स्वीकार कर लिया। लड़ाई के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए विचारों की भिन्नता बोल्शेविक रूस के प्रति जातीय और राष्ट्रीय नफ़रतें तथा पिछले दस साल से चली आनेवाली झगड़े की बातें—ये सब—पीछे ढकेल दी गईं। नाज़ियों की इस कूटनीति का मतलब इतना ही था कि अपने दुश्मनों को अलग करके चुपचाप ऐसी सुलह करली जावे जिससे दूसरों के मन पर यथेष्ट असर हो। वे यह भी चाहते थे कि इस सुलह को एकदम आश्चर्यजनक ढङ्ग से किया जावे। दूसरी ओर अंग्रेज़ों और फ्रान्सीसियों की कूटनीति में न तो दृढ़ता थी न किसी काम को प्रारम्भ कर सकने वाली शक्ति। उन्होंने सब से अच्छा अवसर व्यर्थ की बातचीत में गवाँ दिया था। इसके सिवा जरमन कूटनीतिज्ञ मास्को को उससे अधिक देने को तैयार थे जितना कि मित्रदल देता था और उनकी उससे मांग भी कमतर थी। मित्रदल यह चाहता था कि सोवियत संघ कुछ शर्तों के अनुसार लड़ाई में ज़रूर शामिल हो। लड़ाई का ख़तरा लेना और उसके लिये त्याग करना ज़रूरी समझा जाता था। किन्तु बाल्टिक में रूस के संरक्षण को मानने तक के लिये मित्रदल तैयार न था। जरमनी के कूटनीतिज्ञों ने केवल यह चाहा कि सोवियत संघ लड़ाई में भाग न ले। उन्होंने इसके बदले में उसे आधा पोलैंड और बाल्टिक का संरक्षण देने का वादा किया। अंग्रेज़ों और फ्रांसीसियों की कूटनीति ऐसी न थी कि उससे सोवियत संघ को लड़ाई में शामिल होने की वास्तविक रुचि होती। इस पर ब्रक कूपर ने कहा था—'लोकतन्त्रवादी लोग रूस को अपनी ओर न कर सके, यह उनके लिए घातक बात हुई है।'

फ्रांस की राष्ट्रीयता के पुनरुद्धारक डि केरिलिस (de Kerileis) ने जो निर्भय प्रचारक भी था, २४ अगस्त १९३९ को 'ल' इपोक' (L' Epoque) पत्र में लिखा था—

'अफ़सोस की बात है कि हमने कुछ भी नहीं किया। इतिहास में हमारी ढिलाई, हमारी कायरता और हमारी कूटनीति सम्बन्धी अयोग्यता के बारे में अंकित रहेगा।'

मित्रदल की इससे बहुत हानि हुई। केवल पूर्वी यूरप में ही नहीं वरन् अन्य स्थानों पर भी इसका प्रतिफल दिखाई दिया। १९३९ के ग्रीष्म काल में अंग्रेज़ और फ्रांस केवल टरकी से सुलह करने में सफल हुए थे। अब जरमनी की रूस से इस संधि के परिणाम स्वरूप वह भी व्यर्थ होगई। मित्रदल को अकेले ही लड़ाई में आना पड़ा और अपूर्ण तैयारी के साथ।

रिबेन्ट्रॉप ने जरमनी और सोवियत संघ में जो संधि कराई उसमें दोनों का लाभ था। दोनों को ख़तरों का सामना भी करना था।

जरमनी को लड़ाई के लिए कार्य की स्वाधीनता मिल गई। घेरा तोड़ दिया गया। जरमन पत्र फ्रेंक फ़रटर त्सीटुङ्ग (Frank furtur Zeitung) ने विजय-भाव के साथ २५ अगस्त १९३९ को लिखा—'जरमनी अब पोलैंड को निश्चित रूप से जीत सकता है। मित्रदल को जीतने का भी उसे स्वर्णसंयोग प्राप्त हो गया है।' इस तरह जरमनी जब लड़ाई में शामिल हुआ तो उसे पूर्व में एक ऐसी शक्ति मिल गई जिसने लड़ाई में भाग नहीं लिया बल्कि उसके लिए तैयारी करती रह गई।

रूस को जरमनी के साथ यह संधि करने से बिना लड़े ही कई जगहों का और राजनैतिक ढङ्ग के लाभ हुए। किन्तु जरमन पारलियामेन्ट, थर्ड रीच, को इस संधि से यूरुप पर अपना ऐसा प्रभुत्व क़ायम कर लेने का अवसर मिल गया जिससे उसकी शक्ति कहीं अधिक हो गई और बाद में वह रूस से भी लड़ने में समर्थ हो सकी।

मुस्लिम काल के इतिहासकार

(१२००—१६००)

श्री हरीशंकर, एम०ए०

यह दुःख की बात है कि मुसलमानों के आगमन के पहले अपने देश के अधिकांश इतिहासकारों का हमें पता नहीं है। क्या वैदिक और हिन्दू काल ने अनेक इतिहासकारों को जन्म नहीं दिया? या जिन्होंने 'इतिहास' लिखने का प्रयत्न किया उनमें से कोई 'इतिहासकार' नहीं कहे जा सकते? हमें तो विश्वविद्यालयों में यही बतलाया जाता है कि पूर्व-मुस्लिम कालीन हिन्दू-इतिहासकार थे ही नहीं और किसी ने भी इतिहास-लेखन का विशेष प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने साहित्य, दर्शन—सांख्य-वेदान्त—और धर्मनीति की पुस्तकों के अध्ययन में ही अपना समय व्यतीत करना अधिक उपयुक्त समझा। धर्म और दर्शन के चिन्तन में वे बहुत ऊँचे उठ सके थे, इस बात की साक्षी उनकी वे पुस्तकें हैं जो हम तक पहुँच सकी हैं। पर इनमें कुछ लोगों की विरक्ति तो यहाँ तक बढ़ी हुई थी कि वे राजाओं महाराजाओं की जीवनियाँ और राजदरबारों की बातें लिखना तक हेय समझते थे। 'संस्कृति के विस्तृत भण्डार में इतिहास की दृष्टि से केवल चार जीवनियां उपलब्ध हैं। पर उनकी भाषा भी क्लिष्ट और अलंकारों से भरी हुई हैं, जिसमें कोई बात साफ़ समझ में नहीं आती है।'[१]

मुसलमानों के आने के बाद जब हिन्दू और मुसलमानों ने कन्धा से कन्धा मिलाकर चलना प्रारम्भ किया तब हिन्दुओं ने भी इतिहास लिखना प्रारम्भ किया पर वे उतना ऊँचे नहीं उठ सके। उनका तिथियों का ज्ञान कम ही रहा। हिन्दुओं ने तिथियों की तरफ़ पूरी तरह ध्यान कभी नहीं दिया यह बात महाभारत, पुराण और और पुस्तकों के पढ़ने से साफ़ मालूम हो जाती है। इनके पूरा पढ़ने पर भी हमें पूरी तिथियाँ नहीं मिलतीं।

इसके विपरीत अरब निवासी अधिक स्पष्ट हैं। प्रत्येक लेख में वे तिथियां देते हैं और अधिकतर अपने पत्रों में दिन और महीना अवश्य लिखते हैं। 'हिजरी सन् होने के कारण उनकी तिथियों के जांच में आसानी भी काफ़ी पड़ती है। हिन्दुओं में इस बात की बेहद कमी थी।'[२]

भारत-विजय के पहले ही मुसलमानों ने इतिहास लिखने में काफी उन्नति प्राप्ति कर ली थी। भारत में आने के साथ साथ उनकी यह विद्या भी उनके साथ आई। उनके इतिहास-प्रेम के परिणाम स्वरूप कई अच्छे इतिहासकारों का मुस्लिम काल में जन्म हुआ। यहां पर हर एक इतिहासकार के बारे में लिखना या ज्ञान प्राप्त करना एक तरह से असम्भव है। इस कारण उल्लेखनीय इतिहासकारों के ही बाबत संक्षेप में लिखा जावेगा।

मुस्लिम काल का प्रथम उल्लेखनीय इतिहासकार हसन निज़ामी है।[३] इस लेखक के विषय में हमारा

१—Sarkar-Mughal-Administration.

२—Sarkar, Mughal-Administration

३—Eillot Vol. 2. Page 204-243.

ज्ञान बहुत कम है। अपने इतिहासों में जहां कहीं थोड़ा बहुत उसने अपने बारे में लिखा है वहीं से हमें मिलता है।

हसन निज़ामी का जन्म नीशापूर में हुआ था। वह स्वयं लिखता है कि खुरासान छोड़ने का उसका विचार नहीं था, पर वहाँ की अराजकता ने उसे मजबूर किया कि वह अपने भाग्य-निर्माण के लिये दूसरा देश खोजे। उसने आँख उठा कर चारों तरफ़ देखा। मुसलमानों का राज्य काफ़ी फैल चुका था। वह कहीं भी जा सकता था! पर भारत की परिस्थिति ने उसे विशेष आकर्षित किया। हाल ही में मुसलमानों में भारत में एक विजेता के रूप में क़दम रखा था। मुस्लिम सैनिक और सरदार बड़ी प्रसन्नता से अपने देश वासियों का स्वागत कर रहे थे और रुपये की कमी नहीं थी। साहित्यक मनुष्य इन्हें प्रसन्न कर बड़े मज़े में काफ़ी धन कमा सकता था। यही सब सोच कर हसन निज़ामी ने भारत में आना ठीक समझा।

इधर उधर घूमते हुए यह लेखक ग़ज़नी पहुँचा। वहां उसने विद्वानों और धार्मिक मनुष्यों से भेंट की। इसी समय वह बीमार पड़ गया, जिसके कारण वह उस समय भारत की तरफ़ न बढ़ सका। पर अच्छा होते ही वह "दया-धर्म के भण्डार" भारत की नवीन राजधानी की तरफ़ फिर चल खड़ा हुआ।

दिल्ली पहुँचने पर वहाँ के काज़ी शरफ़ुल मुल्क ने उसका स्नेह से स्वागत किया। वह वहीं रहने लगा। इसी समय उसके समकालीन सुलतान ने आज्ञा दी कि उसकी विजयों का वर्णन किया जाय! अच्छे लेखक की तलाश हुई। हसन निज़ामी के मित्रों ने उससे यह कार्य हाथ में ले लेने के लिये कहा। हसन निज़ामी ने इसे स्वीकार कर लिया और बड़ी प्रसन्नता से अपनी पुस्तक "ताजुल मासीर" (Tajul Masir) सन् १२०५ में लिखना प्रारम्भ कर दिया।

यह पुस्तक सन् ११९१ ई० की घटनाओं के वर्णन से प्रारम्भ की गई। इसी सन् में मोहम्मद ग़ोरी ने भारत पर आक्रमण प्रारम्भ किया। इस पुस्तक में सन् १२१७ तक की घटनाओं का वर्णन है। इस वर्ष के अन्त में लेखक लिखता है कि अगर वह जीवित रहा तो और आगे की घटनाओं का वर्णन करेगा! एक हस्तलिपि से ऐसा प्रतीत होता है कि उसने अपने इतिहास को और भी आगे तक लिखा है। पर अभी तक यह बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती।[४]

इतिहास की दृष्टि से 'ताजुल मासिर' का विशेष ऊँचा स्थान नहीं है। इसके वर्णन छोटे और कम हैं। हैमर के अनुसार इसमें बारह हज़ार लाइने हैं, इनमें सात हज़ार में फ़ारसी और अरबी की कवितायें हैं। इतनी बड़ी पुस्तक होने पर भी ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन कम है! लेखक ने अलङ्कारों और बड़े बड़े शब्दों का प्रयोग किया है। छोटी-छोटी बातों को समझाने के लिये शतरंज, कलम, पहाड़, नदी नाले, जङ्गल, युवतियाँ, बाल, फूल, प्रकृति इत्यादि की मिसालें दी हैं। इन्हीं सब बातों से पुस्तक भरी पड़ी है।

इसके सिवा पुस्तक में बड़ी और छोटी घटनाओं का वर्णन उनके महत्व के अनुसार नहीं किया गया है। छोटी और अनावश्यक बातें ही अधिक पृष्ठों में लिखी गई है और आवश्यक बातें कम ही में समाप्त कर दी गई हैं। कहीं-कहीं तिथियाँ ग़लत भी लिखी गई हैं। इसके अलावा पुस्तक भेदभाव से भरी है। पर इसके लिये हमें याद रखना होगा उस समय के मुसलमानों से हम और आशा नहीं कर सकते और न उन्हें दोषी ही ठहरा सकते हैं। वह समय ही वैसा था और सच कहिये तो उनके ऐसे धार्मिक जोश ने उनकी विजयों में काफ़ी मदद दी थी! इसी कारण निज़ामी जहाँ कहीं भी हिन्द सैनिकों की मृत्यु का वर्णन करता है वहां यह लिखना नहीं भूलता कि वे 'नर्क में चले गये!' मुसलमान सैनिक मर कर 'जन्नत' की यात्रा करते हैं।

ऐसी बातें होने पर भी यह पुस्तक हमारे लिए उपयोगी है—विशेष कर इस कारण कि यह एक

४—Elliot Vol. 2.

अत्यन्त नाज़ुक समय का वर्णन करती है। उसके वर्णनों से यह मालूम होता है कि लेखक ने समकालीन युद्धों में स्वयं भाग नहीं लिया पर यह बात साफ़ है कि उसने प्रयत्न किया। पर वह सफल नहीं हो सका, इसी सिलसिले में काज़ी मुइज्जब उद्दीन के कारण उस पर आक्रमण भी किया गया पर वह साफ़ बच गया। मिनहाज ने देखा कि यहां रहना असम्भव है इस कारण वह बङ्गाल की तरफ़ चल पड़ा। (६४० हिजरी)

दो वर्ष बङ्गाल में रहने के बाद मिनहाज़ दिल्ली लौटा। इस समय तक कुछ शान्ति स्थापित हो चुकी थी। बलबन 'अमीर हाजीब' के पद पर नियुक्त था। उसी के प्रयत्न से मिनहाज़ फिर अपनी पुरानी नौकरी पर रख दिया गया, और नसीरिया कालेज का प्रधान भी बना दिया गया।

६४५ हिजरी में जब लेखक ने 'नासिर नामा' बादशाह को भेंट किया तो बादशाह ने प्रसन्न होकर उसे बहुत सा इनाम दिया। इसके सिवा कविता के नायक बलबन ने भी कुछ इनाम दिया।

६४९ में मिनहाज़ तीसरी बार दिल्ली के काज़ी बने और ६५२ में उन्हें 'सद्र जहान' की उपाधि मिली।

मिनहाज़ की मृत्यु की तिथि हमें ज्ञात नहीं है। ६५८ हिजरी में अपना इतिहास समाप्त करते समय वह लिखता है कि अगर जीवित रहा तो अपना इतिहास आगे पूरा करेगा। पर ऐसा प्रतीत होता है कि इसी के लगभग उसकी मृत्यु हो गई जिसके कारण वह अपना इतिहास नहीं लिख सका।

मिनहाज़ अपने समय का सर्वश्रेष्ठ इतिहासकार है। उसने अपने इतिहास में पृथ्वी के आरम्भ से लेकर सन् १२५९–६० ई० तक की घटनाओं का वर्णन किया है। सुल्तान नासिर उद्दीन के पन्द्रहवें वर्ष यह पुस्तक समाप्त की गई थी और उन्हीं की भेंट के लिये लिखी गई थी। इसी कारण लेखक ने इसका नाम "तबक़ात नासिरी" (Tabqat i-Nasiri) रक्खा।

तबक़ात नासिरी की भाषा सीधी, सही और अच्छी है। उस समय के इतिहासकारों की भांति लेखक बहुत बड़ी बड़ी बेकार अलङ्कार युक्त बातें लिखने का प्रयत्न नहीं करता बरंच सीधी सादी भाषा में, जो वह जानता है लिखता है।

मिनहाज़ ने अपने इतिहास की घटनायें विश्वसनीय पुरुषों से इकट्ठा की हैं। पर जैसा एक लेखक ने लिखा है—मिनहाज़ एक सफल इतिहासकार की भांति आवश्यक और अनावश्यक बातों का उनके महत्व के अनुसार वर्णन नहीं कर सका।

तबक़ात नासिरी को लेखक ने कई भागों में विभाजित किया है। और यह इस तरह किया गया है जिसमें कई बार एक ही बात को दुहराने की आवश्यकता पड़ती है। इसी कारण बलबन, बख्तियार ख़िलजी और कितने पुरुषों के विषय में उसे कई स्थानों पर वर्णन करना पड़ता है। पर इससे एक लाभ भी है—हमें बलबन और बख्तियार ख़िलजी के विषय में पूरी पूरी जानकारी एक रचना में ही मिल जाती है।

लेखक अपने समय की घटनाओं के लिये काफ़ी विश्वसनीय है। कई आक्रमणों में उसने स्वयं भाग लिया था। मसलन् ग्वालियर पर आक्रमण के समय वह वहाँ उपस्थित था। तिथियाँ भी काफ़ी सही हैं। उसने सुल्तानों का शासनकाल महीनों और दिनों तक में लिखा है। उसके बिना हम कुतुबउद्दीन ऐबक के शासन की घटनाओं की तिथियाँ निश्चित नहीं कर सकते थे।

मिनहाज़ की सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि उसने केवल सुल्तानों, अमीरों और युद्धों का ही वर्णन किया है। आम जनता की सामाजिक अवस्था, आर्थिक अवस्था का वर्णन हमें उसकी पुस्तक में नहीं मिलता।

कुछ भी हो मिनहाज़ एक विश्वसनीय और आवश्यक इतिहासकार है और हम उसके आभारी हैं।

अब तक जिन इतिहासकारों का वर्णन किया जा चुका है वे विदेशी थे। पर अब तक मुसलमान भारत में बस चुके थे। भारतीय स्त्रियों से विवाह करके काफ़ी हिल मिल भी गये थे। कितने ही हिन्दू भी मुसलमान हो गये थे। ऐसे ही समय में प्रथम भार-

तीय इतिहासकार ने जन्म लिया। यह बरन (आधुनिक बुलन्दशहर) का निवासी ज़ियाउद्दीन बरनी (Ziauddin Barani). है।[५]

ज़ियाउद्दीन की माता और दादी सैय्यद थीं और पिता शेख़। वह स्वयं लिखता है—"इस बूढ़े के पिता बहुत ही शरीफ़ थे।" उसके चचा अलाउल मुल्क सुल्तान अलाउद्दीन के विश्वासपात्र थे। और दक्षिण पर आक्रमण के समय अलाउद्दीन ने उन्हें कड़ा और अवध का अधिकारी नियुक्त किया था। सुल्तान होने के पश्चात् अलाउद्दीन ने अलाउलमुल्क को दिल्ली का कोतवाल नियुक्त किया और ज़ियाउद्दीन के पिता को बरन का अमीन।

ज़ियाउद्दीन का जन्म ६८४ हिजरी (१२८७ ई०) बताया जाता है। बालपन राजधानी में बिताने के पश्चात् वह दिल्ली आया। जलालुद्दीन ख़िलजी के समय में उसने अपना अध्ययन प्रारम्भ किया। अलाउद्दीन के समय तक उसने काफ़ी लिख पढ़ लिया था।

इन्हें प्रारम्भ ही से फ़क़ीरों का साथ पसन्द था, इसी कारण इन्होंने बहुत दिनों तक तत्कालीन प्रसिद्ध फ़क़ीर निज़ामउद्दीन औलिया[६] के स्थान पर निवास किया। अपने यौवन काल में उस समय की बड़ी बड़ी मजलिसों में भाग लिया। वह स्वयं लिखता है "अब जब मैं बूढ़ा, दन्तहीन हूँ और सब कुछ खो चुका हूँ तब मैं अपने उस बीते दिनों की तरफ़ देखता हूँ जिन्हें मैंने अपने समय की ऊँची हस्तियों के साथ बिताया है।"

बरनी अमीर खुशरू से भी परिचित था। मुहम्मद तुग़लक के दरबार में वह बहुत दिनों तक रहा। उसने कितनी ही बार जो रायें दी वह मुहम्मद तुग़लक के इतिहासकारों को मालूम है। खेद है कि बरनी विद्वान् होते हुए भी मुहम्मद तुग़लक को नहीं समझ सका।

मुहम्मद तुग़लक के समय तो बरनी मज़े में रहा पर फ़िरोज़ के समय अपने शत्रुओं के कारण उसे बहुत दुःख उठाना पड़ा। वह स्वयं लिखता है "मैं ज़ीया बरनी (इस इतिहास का लेखक) गत सुल्तान की मृत्यु के पश्चात् अत्यन्त दुःख में पड़ गया हूँ। ......मेरे पास कुछ भी नहीं है और न मुझे कहीं से कुछ मिलता ही है।" मीर खुर्द लिखता है "अपनी मृत्यु के समय बरनी के पास एक भी वस्त्र नहीं था और एक भी पैसा उसके पास नहीं था। अपने बदन का वस्त्र भी उसने दान कर दिया था......"

चौहत्तर वर्ष की अवस्था में उसकी मृत्यु हुई। उसने कई पुस्तकें लिखी हैं जिनमें उसका इतिहास "तारीख़ फ़िरोज़शाही"[७] सब से अधिक प्रसिद्ध है।

बरनी ने हर एक विषय का अध्ययन किया था पर इतिहास ने उसे सब से अधिक आकर्षित किया। बरनी के अनुसार कुछ विद्वान लोग ही इतिहास पढ़ने के अधिकारी हैं। अशिक्षित और कम पढ़े लिखे लोगों को इतिहास पढ़ने का कुछ भी अधिकार नहीं है। वह लिखता है "इतिहास अच्छे बुरे, न्याय और अन्याय का एक वर्णन है।"

उसने अपने इतिहास में पृष्ठ पर पृष्ठ बड़े बड़े पुरुषों का वर्णन करने में लगाया है और उसमें वह हसन निज़ामी या मिनहाज़ से अधिक सफल हो सका है। बरनी के अनुसार इतिहास पढ़ने से बुद्धि बढ़ती है। लोग सन्तोष सीखते हैं।

इतिहासकार के विषय में वह लिखता है "इतिहासकार को हमेशा सच्ची घटनाओं का ही वर्णन करना चाहिये और अच्छी और बुरी दोनों बातों का वर्णन करना चाहिये। समकालीन पुस्तकों के विषय में तो कलम रोक कर लिखना चाहिये पर मृत व्यक्तियों के विषय में सच्ची सच्ची निश्चित बातें ही लिखनी चाहिये।"

५—Islamic Culture 1938. page 76. Elliot vol. 2. Page 93.

६—(Nizamuddin Aulia) See Prof. Habibs' Amir Khushrau.

७—Elliot-Vol. 3 Page. 95.

मिनहाज के तबक़ात नासिरी के सौ वर्ष पश्चात् बरनी ने अपना इतिहास लिखा है। और इस समय का बरनी एक चमकता हुआ इतिहासकार है। उसने अपनी पुस्तक सीधी सरल, बहती हुई भाषा में लिखी है। पर कभी कभी बड़े बड़े शब्द प्रयोग करने से भाषा कुछ कठिन हो उठती है। कहीं कहीं वह कवि की भाँति सुन्दर वर्णन करने में समर्थ हो सका है।

बरनी की इच्छा थी कि वह संसार का एक इतिहास आदम से प्रारम्भ कर अपने समय तक लिखे। पर वह लिखता है कि तबक़ात नासिरी को देख कर उसने अपना यह विचार त्याग दिया और बलबन से प्रारम्भ कर फिरोज़ तुग़लक के समय तक के आठ सुल्तानों का ही वर्णन किया।

बलबन के विषय में उसे अपने पिता और पितामह से ज्ञान प्राप्त हुआ। जलालुद्दीन खिलजी से लेकर फिरोज़ तक की घटनायें उसकी आँखों के सामने हुईं।

बरनी की पुस्तक अपने अनुभवों पर ही निर्भर है। ऐतिहासिक खोज इस पुस्तक में नहीं है। कभी-कभी हमें ऐसा प्रतीत होता है कि पुस्तक में एकता नहीं है। कहीं कहीं अध्याय भी ठीक तौर पर विभाजित नहीं है। उसने बहुत कम तिथियां लिखी हैं। और जो उसने लिखी हैं वे भी ठीक नहीं हैं। कहीं-कहीं ऐसी बातें जिनका अधिक वर्णन करना चाहिये उसने छोड़ दी हैं।

ऐसी त्रुटियाँ करने पर भी बरनी एक अच्छा लेखक है। विशेष कर जहाँ उसने सुल्तानों के परिवर्तन का वर्णन किया है वहाँ तो वह किसी कवि से भी कम नहीं है। पर मुहम्मद तुग़लक को वह नहीं समझ सका और उसने उसका जो वर्णन किया है वह उस काल की जनता का एक विचार है।[८]

बरनी एक ऐसा इतिहासकार है जिसके बग़ैर हमारा काम नहीं चल सकता। उसके वर्णन 'जीवनियों' के रूप में भी हैं और जीवनियों का वह अच्छा लेखक है। त्रुटियाँ होने पर भी हम कह सकते हैं कि बरनी प्रथम भारतीय इतिहासकार है और हम उसके ऊपर नाज़ कर सकते हैं।

यहाँ पर थोड़ा सा अमीर खुशरू[९] का वर्णन कर देना आवश्यक है। अमीर खुशरू की ख्याति एक इतिहासकार की तरह नहीं वरन् कवि के रूप में ही है। फिर भी उसकी कविताओं और लेखों से हमें भारतीय इतिहास का कुछ पता चलता है—विशेषकर इस कारण कि उसने अपने जीवन के प्रारम्भ काल में ही दरबार में रहकर जीवन व्यतीत करने का निश्चय कर लिया था। समय आने पर इसे कार्य्य रूप में परिणत किया गया और जीवन का अधिक समय उसने दरबार में बादशाहों की प्रशंसा में कवितायें लिख कर बिताया।

अमीर खुशरू का जन्म ६५२ हिजरी में पटियाला में हुआ था। अध्ययन के पश्चात् दरबार में उसने एक दरबारी की हैसियत से अपना जीवन प्रारम्भ किया। सबसे प्रथम वह मलिक छज्जु के दरबार में रहा। फिर बारी बारी से बुगरा खां, शाहजादा मुहम्मद, कैकूबाद, जलालुद्दीन, और अलाउद्दीन खिलजी के। इस तरह उस समय के राजकीय वातावरण में रहने के कारण अमीर खुशरू को वहां की वस्तुओं को अन्दर तक देखने का काफ़ी अवसर मिला। पर दरबार में रहने के कारण उसका दृष्टिकोण दरबारी हो गया और वह उतना ऊँचा नहीं उठ सका। उसकी पुस्तकों में यह एक बड़ी त्रुटि है।

खुशरू सन्तों का स्वागत करता था और उनके प्रति प्रेम रखता था। सुप्रसिद्ध निज़ाम उद्दीन औलिया से उसका काफ़ी परिचय था—दोनों में घनिष्ठता थी।

कविताओं के अलावा खुशरू ने ऐतिहासिक पुस्तकें भी लिखी हैं। इनमें नूह सिफ़र, देवल रानी खिज्र खाँ, तुग़लकनामा, करानस सदान (Qiranus sadain) और खजानल फतूह (Khajanul Fatuh) प्रसिद्ध हैं।

८—See Dr. Ishwari Prasad's-Quranna Turks.

९—Amir Khushrau by Prof. Habib

जैसा कहा जा चुका है, अपनी ऐतिहासिक पुस्तकों में अमीर खुशरू बहुत ऊँचे नहीं उठ सका। बड़े-बड़े शब्दों, अलङ्कारों और वर्णनों में ऐतिहासिक घटनायें छिपी पड़ी हैं। वे कम हैं और कठिनता से निकल सकती हैं। इसके सिवा उसकी पुस्तक में वे सब बुराइयां मौजूद हैं जो एक दरबारी इतिहासकार में पाई जाती हैं।

फिरोज़ तुग़लक ने अपने समय में अपने समय का इतिहासकार तलाश किया पर कोई योग्य व्यक्ति नहीं मिल सका। फिर भी फिरोज़ के बारे में हमारा ज्ञान काफ़ी है—विशेष कर तीन इतिहासकारों के कारण। प्रथम तो ज़िया उद्दीन बरनी, दूसरे स्वयं सुल्तान और तीसरे शमश-ए-सिराज अफ़ीफ़ (Shamsh-i-Siraj Afif)

प्रथम इतिहासकार के विषय में हम लिख चुके हैं। यहां पर थोड़ा सा फिरोज़ के आत्मचरित्र के विषय में कह देना उपयुक्त होगा। हमें एक बादशाह का आत्मचरित्र मिला है जो 'फ़ुतूहात फिरोज़ शाही'[१०] के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें बादशाह ने अपने कई वर्ष की आज्ञाओं का वर्णन किया है। इससे हमें उसके विषय में काफी ज्ञान प्राप्त होता है। वह स्वयं लिखता है कि उसने कहाँ कहाँ हिन्दुओं के मेले बन्द कराये और मुसलमानों की बुराइयां दूर करने के लिये क्या किया। इससे हमें उसकी मनोवृति के विषय में पता लग जाता है। पर फिरोज़-काल का सब से अच्छा वर्णन अफ़ीफ़ ने किया है। अफ़ीफ़ (Afif)[११] के माता पिता अबूहर में निवास करते थे। उनके परदादा कर वसूल करने का काम करते थे। गियास उद्दीन तुग़लक से (सुल्तान होने के पहले) और उनसे काफी घनिष्टता थी। लेखक स्वयं सुल्तान फिरोज़ तुग़लक के दरबार में रह चुका था और कितने ही बार फिरोज़ के साथ शिकार खेल चुका था।

अफ़ीफ़ का इतिहास बहुत ही सुन्दर है। यही प्रथम इतिहासकार है जिसने कुछ अध्याय आम जनता के विषय में भी लिखे हैं—अधिकतर शासन-प्रबन्ध के बारे में है ही। इस दृष्टि से अफ़ीफ़ अपने मुस्लिम काल का प्रथम इतिहासकार है और सब इतिहासकारों का अधिक ध्यान राजाओं, सुल्तानों और अमीरों के वर्णनों की ओर ही गया। अफ़ीफ़ का इतिहास भी बरनी के इतिहास के नाम पर ही 'तवारीख फिरोज़ शाही' है। इसकी भाषा सरल और सुन्दर है। फिरोज़ के कारनामों का इसमें अच्छा वर्णन दिया गया है।

इस तरह अफ़ीफ़ ने एक नया जीवन, नया ढङ्ग इतिहास में लाकर एक नया अध्याय प्रारम्भ किया।

१०—Elliot & Dawson Vol-3. Page 374.

११—Elliot—3-Page 269.
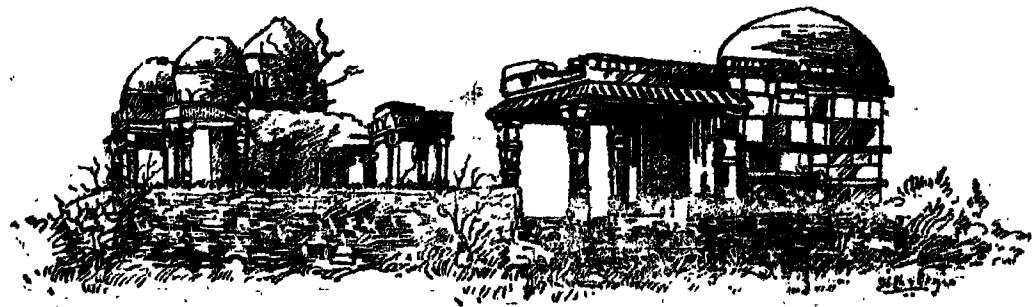
धरती माता

श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी, एम० ए०, एल-एल बी०

स्थान—कैलाशपुरी-भूतनाथ महादेव नेत्र बन्द किये ध्यानस्थ बैठे हैं—पार्वती जी व्याकुल सी आती हैं। शिव सशब्द अँगड़ाई लेते हैं। इसी बीच किसी के आने की आहट पा आँख बन्द किये ही कहते हैं—

शिव—क्यों भाई, अब होश हुआ है! अमावस की रात है न! अभी कितनी रात बाक़ी है! अभी हमारा सब काम पड़ा हुआ—

पार्वती—रात कैसी! अब तो सूर्योदय होने वाला है। (धीरे से) क्या तीन आँख से भी काम नहीं चलता!

शिव—कौन, शक्ति! इस समय इधर कैसे! खैरियत तो है न—गणेश कैसा है! उसकी प्रसिद्धि हुई हाथी कैसे विशाल मस्तक के लिए, पर तुम्हें शिकायत रहती है उसके पेट की—

पा०—(बात काट कर) है पेट ही की शिकायत, पर तुम्हारे गणेश या कार्तिक की नहीं—इस समय की धरती की शिकायत है—सारी दुनिया की। घबरा कर बहिन धरती आपकी सरन में आई हैं—मेरे यहाँ बैठी हैं, रो रही हैं—

शिव—ओह तभी तो—तभी तो ऐसी रात में—

पा०—फिर वही रात! आपके तो तीन तीन आँखें हैं, कम से कम कोई एक ही ज़रा खोल कर देख लें तो—

शिव—खोलूंगा, खोलूंगा—(अँगड़ाई का शब्द) समय होने दो-अभी रात—

पा०—(खीझ कर) आप तो अजीब ही हैं। देखिए तो कौन कौन आये हैं। बहिन धरती माता इस क़दर रो रही हैं; उनके कितने करोड़ बच्चे भूखों मर रहे हैं—'शिव' नाम का बड़ा भरोसा कर के—

शिव—(फिर अँगड़ाई) करोड़ क्यों! उसके तो क़रीब दो अरब बच्चे हैं—

पा०—तो क्या सब मरने लगें! यही इच्छा है! कई जगहों में क़रीब क़रीब ऐसा ही हो रहा है। जो ठीक तुम्हारी कैलाश पुरी के नीचे बसते हैं, जहाँ अभी तक तुम्हारी पूजा होती है, जो तुम्हें ख़ास तौर से बड़े प्यारे लगते हैं—

शिव—ओह, भारत की बात कह रही हो—अपने को इस तरह अभागे बना लेने वाले वहाँ के लोग—हाँ वे अभी दुनिया में हैं—(अँगड़ाई) अरे नन्दी कहाँ गया! अँगड़ाई लेना व्यर्थ है। मैंने समझा वही आ गया—उसे मैंने ठीक समय पर आने को कह दिया है। क्या तुम भी फिर चलोगी अंतरिक्ष रूप से उस दुनिया को देखने! वह बदल रही है—तेज़ी से बदल रही है!

पा०—हाँ बदल क्यों नहीं रही है! भारत में जो कुछ हो चुका—धरती कहती हैं कि अंग्रेज़ीदाँ लोगों का रोना लेकर आई हैं—तुम्हारे पास—ये ही सब तो—

शिव—बड़ा अच्छा किया उसने! शायद तुमने भी सुना होगा वहाँ कितने अँग्रेज़ीदाँ हो रहे हैं और वे क्या क्या कर रहे हैं—ज़ियादातर नौकर हैं, आगे बिना मेट्रिक पास किये चपरासी की नौकरी भी नहीं मिलेगी। बताया नहीं तुम्हारी बहिन वसुंधरा ने—

पा०—सब बताया! उनके साथ और कई लोग हैं—

शिव—किसी अँग्रेज़ीदाँ को अपने पास रखो, कमी क्या है! मैं कह चुका—कुछ अँग्रेज़ीदाँ लोगों को लेकर आई है क्या! वे क्या कहेंगे!

पा०—जो लोग तुम्हारी सारी दुनिया ख़तम किये दे रहे हैं उनकी ख़बर है या नहीं—मैं कहती हूं आँखें बन्द किये हैं तो क्या कान भी बन्द हैं! कान में तो पलकें नहीं हैं—

शिव—हैं—ये जटाएँ—

पा०—और बढ़ा कर शेर-भालू का डेरा बनाइये—

शिव—आहा—तुम समझी नहीं—जो सब साँप अब सिर पर चढ़ गये हैं, वे आख़िर कहाँ जायँ बिचारे, ये ख़ुद अपने बच्चों को ही खाकर जीते हैं—

पा०—ठीक—तुम प्रलय के मालिक थे, सो इसके लिये अब तुम्हारी ज़रूरत नहीं है, धरती के कुछ लोगों ने सर्वनाशक मशीनें बनाई हैं—और नई नई रोज़ बना रहे हैं—तुम्हारा काम वे सब ख़ुद कर रहे हैं!—और ये भारत वाले तो बिना मैशीन के ही, यों ही, मरे जा रहे हैं—बिना खाये-पिये

शिव—(अँगड़ाई) ये कहते हैं कि हम अभी ज़िन्दा हैं और सब तो मर गये। सुना! जाने दो, मरें कटें कुछ दिन—यही ठीक है—

पा०—ऐसा न कहिए—अभी प्रलय का समय नहीं आ गया!

शिव—तो तुम्हीं मना क्यों नहीं करतीं—हर साल तो जाती हो बाप के यहाँ। क्या आँख में पट्टी बाँध कर जाती हो?—सिर्फ़ हमीं को आँख बन्द किये देखती हो—पर आँख मूदने में तुम्हें भी कितना सुख मिलता है शिव की शक्ति!—

पा०—अब आँख कान दोनों खोलने पड़ेंगे, धरती रो रो कर सिर पटक रही है—उसके अधिकांश बच्चे भूखों मर रहे हैं—और असभ्यों, मूर्खों, जंगलियों की तरह लड़ रहे हैं—

शिव—मेरे प्यारे भक्त सब!

पा०—भक्त नहीं—तुम्हारी हक़तलफ़ी करने वाले—नारद कह रहे थे—ऐसी कलें बनाई हैं—एक छोड़ी हज़ारों साफ़, और बड़े बड़े नगर बात की बात में छार छार—

शिव—यह भी अपना काम कर रहे हैं—मेरे एक प्रकार के उपासक ये भी हैं। सब एक दूसरे से लड़कर लड़कर 'विश्व-शान्ति' फैलाना चाहते हैं।

पा०—तुम्हें तो ये मानते-जानते तक नहीं, और जो तुम्हें कुछ कुछ जानते हैं वे यों ही—बिना लड़े—बिना कोई मशीन बनाए—घर बैठे मरे जा रहे हैं—रोटी तक नहीं पाते—

शिव—वही भारत वालों की बातें कर रही हो न—दो नावों पर चढ़ने का नतीजा और क्या होगा? दफ़्तरों में नौकरी करते हैं—वहाँ नक़ल करने का ही काम होता है ज़्यादातर। यही करते करते सब नक़लची हो गये, और सब काम गये भूल।

[नैपथ्य में वीणा-वादन—कुछ क्षण, सितार या बीन पर भैरों राग का आलाप होता है।]

शिव—वीणा बज रही है न!

पा०—ख़ैर सुनाई तो पड़ा—कान पर से जटा तो हटी! नारद आ रहे हैं, साथ में बहिन वसुन्धरा हैं—मैं समझा बुझाकर अपने यहाँ बैठा आई थी, कि ध्यान भङ्ग मत करो, मैं ही समय देखकर सब समझा दूँगी, पर मुझे देरी करते देख सब ख़ुद ही चले आ रहे हैं। साथ में दो आदमी और हैं—

शिव—ये दो और कौन?

पा०—इनमें से एक का नाम नारद ने 'साइन्स' बताया है और दूसरे हैं आपके सहकारी मंगल—युद्ध देवता—

शिव—'मार्स'—नारद लाया है इन्हें! उसको और काम क्या—लड़ाई लगवाना—फिर उसे बन्द कराते फिरना—पर उस नन्दी को क्या हो गया? रात तो बीत चली—मेरी शक्ति! रात कितनी है?

पा०—फिर रात—अच्छा ख़ैर—मैं जाकर उसे भेजे देती हूं। धरती की बातें ज़रा ध्यान से सुनो—वसुन्धरा का रोना मुझसे नहीं सहा जाता—

× × ×

शिव—कहो भाई नारद! अच्छे तो हो? इतनी रात कैसे कष्ट किया?

ना०—भगवन्! क्या बताऊँ, कैसा हूँ—'टिकट' कहने का मिल गया पर इस 'अच्छे' का मतलब नहीं समझ पाता—जो एक के लिये अच्छा है वही दूसरे के लिये बुरा है न? बड़ा शोर गुल सुन ज़रा दुनिया की सैर को निकला था—सो—

शिव—ठहरो—यह 'टिकट' की बात क्या वहीं से सीखी ?

ना०—जी हाँ, वहाँ सर्वत्र 'टिकट' का राज हो रहा है। खाने के लिये 'टिकट', सफ़र के लिये टिकट, एक बात में, बिना टिकट के कोई काम नहीं—रुपये की जगह टिकट, सब जगह हाहाकार; भैया मंगल की बदौलत किसी को रोटी नहीं मिल रही है। धरती के बच्चे बिना खाये मर रहे हैं।

धरती—(रोनी आवाज़) प्रभु रक्षा करो, बचाओ मेरे बच्चों को, युद्ध देव मंगल के कारण मेरे बच्चे मरे जा रहे हैं—भारत की तो बहुत ही बुरी दशा हो रही है। अनेक लोग बिना अन्न वस्त्र सूखी ठठरी लिये नंगे घूम रहे हैं।

शिव—बड़े अचरज की बात है! हिन्द अपने थोड़े से बच्चों के लिए खाना कपड़ा क्यों नहीं जुटा पाता ? वह तो एक ज़माने में सारी दुनिया को रोटी दे सकने का दावा करता था। उसे लोग 'World-grainary'—दुनिया का अनाज-भण्डार कहते थे—फिर यह क्या हुआ ?

धरती—वह वाक़ई पूरी दुनिया को रोटी दे सकता था और देता ही था पर अब तो उपज होते हुए भी वहाँ लोग भूखों मर रहे हैं। सरकार भी कोई तवज्जह नहीं कर पा रही है—

ना०—इसका कारण प्रभु, मैं बताता हूँ। यह सब साइन्स महाराज की बदौलत है और मार्स, बस इनके मारे—

शिव—अरे 'मार्स' बिचारा तो मेरा ही काम कर रहा है। क्यों वसुन्धरा, अभी उस दिन तुम्हीं न रोने आई थीं कि तुम्हारा भार बहुत ज़्यादह हो गया—तरह तरह के अत्याचारी, अन्यायी, मायावी बेहद बढ़ रहे हैं—रहने को जगह की कमी, अन्न पैदा करने के लिये ज़मीन की कमी, फ़ैशन पूरा करने के लिये दुनिया भर के कल कारख़ाने चलाने के लिये कच्चे माल की कमी ! तुम्हारा बोझा हलका करने के लिये 'मार्स' गया। फिर अब क्यों रोती हो ? जो होता है होने दो—

धरती—पर भगवन्, भारत में लोगों ने क्या अपराध किया ? वे बिचारे न किसी से दूसरे की ज़मीन मांगते थे न किसी से और किसी बात के लिये झगड़ा मोल लेना चाहते थे, सीधे सादे—

शिव—यहीं तो भूलती हो ! इस तरह सारी दुनिया से अलग रह कर लोग कैसे टिकेंगे ? आदान-प्रदान से ही तो जीवन बनता और चलता है। दूसरों को क्यों कोसती हो ? जो लोग लड़ाई के मैदान में काम कर रहे हैं उनके लिए अन्न वस्त्र तो सभी को जुटाना पड़ेगा। पर कहां तो सारी दुनिया को रोटी दे सकने का दावा, कहां इन थोड़े से लोगों के लिये धोखा दे देना ! शिकायत करते शर्म क्यों नहीं आती ?

धरती—इस समय की दशा तो देखिये; कब की बात आप कह रहे हैं—भगवन्, आंख खोलकर एक बार इस समय की दशा देखिए—महँगी के कारण बाज़ार में आग लग रही है। जो बाज़ार में ग़ल्ला ख़रीदने जाता है उसका हाथ जल जाता है और जो न जाय उसे घर बैठे पेट की आग से जलना मरना पड़ता है। जल में मगर, बन में शेर और आसमान में बम !

शिव—पर लोग बाज़ार में ग़ल्ला ख़रीदने क्यों जावें ? खेती क्या हुई ? भारत भी इङ्गलैण्ड सा टापू हो गया क्या ? वहां के लोगों में तो ९० फ़ी सदी से अधिक का सम्बन्ध खेती के काम से है—जो खेतिहर हैं उन्हें तो महँगी से फ़ायदा ही होना चाहिये—

धरती—उन्हें रुपये बचाने की आदत डलवाई जा रही है भगवन् ! उनके नाम से महाजनी खाता खोल दिया गया है। पहिले से ही बँटवारे से उनके पास थोड़े से छोटे छोटे टुकड़े खेतों के रह गये हैं। ज़मीन वही है, नदियां वही हैं, पर खाने भर को पैदा नहीं होता—और मैं साइन्स महाराज को ज़बर्दस्ती घसीट लाई हूं। मेरी सारी ताक़त कई देशों में ये भी चूसे ले रहे हैं, मैं अन्न पैदा करूँ तो कहां से करूँ ? कहते हैं—आज की सारी सभ्यता साइन्स और कल पुर्जों की सभ्यता है। सभ्यता के लिये रेल,

जहाज़ ही नहीं, अब बहुत कुछ चाहिए, और चाहिये लोहा। बस, जहाँ जहां मेरे पेट में लोहा है, लगे हैं सब निकालने पर, और लोहे के साथ ही साथ कोयले को भी—जो इस सभ्यता का दाहना हाथ है। और फिर सब मशीनों, गाड़ियों को चलाने के लिये तेल चाहिये। इसलिये हमारे पेट में हज़ारों सूराख बना बना कर हमारा सब तेल चूसने लगे। और सभ्यता के लिये बड़े बड़े शहर और आसमान चूमने वाली इमारतें ज़रूरी हैं। इनके बनाने और सजाने के लिये लकड़ी और लकड़ी के हर क़िस्म के सामान चाहिए। इसलिए सारे जंगल कटवा डाले। अब इनको—साइन्स महाराज को—कौन समझावे कि यही तेल, कोयला, लोहा वग़ैरह से ही मेरी शक्ति है। मेरा जिगर, फेफड़ा और ख़ून सब ये निकाल लेंगे तो मैं कहां से अन्न पैदा करूँगी?

शिव०—(अँगड़ाई) हूँ—मैं—अच्छा तो साइन्स महराज! कहो क्या जवाब है तुम्हारे पास—तुम बिचारी पृथ्वी को क्यों चूसे डाल रहे हो?

साइन्स—(मशीन की सी तीखी आवाज़) महाराज मुझे क्या मालूम? मैं तो अपनी समझ से सब इनके फ़ायदे के लिये ही कर रहा था—

वसुं०—हूँ, वह तो ऐसा कहेंगे ही—ये कब इस बात को मानेंगे कि जंगलात कटवा देने से पानी कम बरसता है, और वक़् पर नहीं बरसता, जिससे पहाड़ों को धोता हुआ बरसात का पानी नदियों को नहीं भर पाता, जिससे आबपाशी नहीं हो पाती।

सा०—और हम जो सैकड़ों नहरें बनवाते हैं सो?

व०—(करुण हंसी के साथ) उनसे हमारी प्यास उतनी ही बुझती है जितनी गोद लिये हुए—adopted son—से मां की हविस। नदियों को बीचों जगह से काट इन्हें पुलों की चूड़ियाँ, डैम की जंजीरें पहना क्या ख़ूब तमाशा बनाया है आपने—

सा०—प्रभु, यह मुझे ही क्यों सब अनर्थों का कारण बता रही है? सभ्यता की रक्षा हमारे ज़िम्मे है, हम क्या करें—बताइये—मानवता की रक्षा—

व०—(ऊँची आवाज़ से) हूं—चलो चुप भी रहो—सभ्यता की रक्षा! मानवता की रक्षा! शर्म तो आती नहीं! जरमनी किससे कम था साइन्स में, कल पुर्ज़ों में, उद्योग में! पर उसका पेट तो तुम न भर सके? अगर साइन्स और उद्योग से ही उसका पेट भर सकता, तो क्यों इतने अधिक सिपाही लेकर इस सत्यानाशी जंग में आता? अब भी नहीं समझे कि तुम्हारे करिश्मे सभ्यता और मानवता के विनाश में ही सहायक हो रहे हैं न कि रक्षा में—

शिव—अच्छा मंगल तुम क्या कहते हो?—अभी तुम्हारा काम कितना बाक़ी है?—

म०—ख़तम हुआ जाता है—अगर प्रभु, एक बार पृथ्वी-पर्यटन कर लें—

शिव—ज़रूर-ज़रूर, सच्चे लोक-तन्त्र की स्थापना तभी तो होगी—

(वीणा का तार छिड़ता है)

शिव—क्यों नारद, कुछ सुनाना चाहते हो?

ना०—हां महाराज, इनका क्या फ़ैसला होता है? बिचारी धरती माता को पूरा आश्वासन हो जाय।

शिव—(अँगड़ाई) कह तो दिया और अब क्या बतावें नारद? धीरे धीरे सब ठीक हो जायगा। भारत के भी दिन फिरेंगे। इसीलिये दुनिया का मुख्य ध्यान अब उसकी ही ओर है। वहां हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई का ही नहीं अन्य सबका भी पूरा मिलन होगा। वहां ठीक काम करने वाले कभी भेजे जा चुके हैं। इस नये साइन्स युग और मशीन युग का सच्ची मानव संस्कृति और मानव धर्म से वहीं सामञ्जस्य होगा। उसका भविष्य तो बहुत उज्ज्वल है, गौरवपूर्ण है।

ना०—पर फिलहाल महँगी से ही जो मरे जा रहे हैं?

शिव—तुम भी ऐसा कह रहे हो नारद! जान पड़ता है अब आंखें खोलनी ही पड़ेंगी। लंका टापू के दश विभागों—दश सिरों—Ten heads के मालिक रावण की जो कैलाश को अपने हाथों पर उठा लेने

का दम भरता था और अपने को मेरा परम भक्त मानकर मशीनों और वैज्ञानिक शक्तियों का अधिपति हो गया था, अन्त में क्या दशा हुई थी ? पर अहिरावण तक को उसने ख़तम करा दिया था न ?

ना०—जय हो देव, जय हो सच्चे लोकतन्त्र की ! उसके बिना अब काम नहीं चल सकता। शिव और शिवा उसकी स्थापना करा सकते हैं।

शिव—नहीं, सब सच्चे मानव—स्त्री और पुरुष दोनों—ऐसा करते हैं ! नन्दी कहां है ?

पा०—मैं उसे बुलाने गई तो देखा कि मन लगा कर अंग्रेज़ी की पहली किताब रट रहा है !

शिव—बहुत हुशियार अपने को समझता है वह ! गणतन्त्र के संस्थापक गणेश को उसके पास भेज दो। तुम भी तैयार हो जाओ। हम सब एक बार धरनी की दशा देखने चलेंगे। (मुंह से धुआं निकलता है।)

पा०—यह क्या ? क्या अभी गैस-युद्ध भी होगा ? ऐसा न कीजिएगा।

शिव—अन्याय की एक सीमा होती है, उसका प्रतिफल मिलता ही है, अब पट-परिवर्तन होने आ रहा है। तैयार हो जाओ। सभी तरह की अन्यायी व्यवस्था का अन्त निकट है। आओ, नारद ऐसा ही गान गाओ।

[वीणा पर शिव-कथा का आलाप क्षण भर]

गीत

श्री जितेन्द्रकुमार

मुक्त करो मानव, मानस के रुद्ध द्वार को मुक्त करो हे !
देखो, प्राची के नभ में यह
नव युग का अरुणोदय सुन्दर;
नूतन छवि, नव - प्रात-समीरण
नया विहग-रव, नव-जागृति-स्वर !
अन्धकार-आवृत् अन्तर को नव किरणों से आज भरो हे !
मुक्त करो मानव, मानस के रुद्ध द्वार को मुक्त करो हे !!

विस्मृत कर दो द्वेष - दम्भ,
वैषम्य भरा दुःस्वप्न रात का:
दिशि-दिशि में यह गूंज रहा है
सुनो सुभग सन्देश प्रात का—
"स्नेह-सूत्र में बँध कर सुख का नया स्वर्ग - निर्माण करो हे !"
मुक्त करो मानव, मानस के रुद्ध द्वार को मुक्त करो हे !!

ऊँच - नीच के भेद मिटें सब
छिन्न-भिन्न हों कृत्रिम बन्धन;
हो स्वाभाविक स्नेह - सम्मिलन,
हो सर्वत्र स्नेह का शासन !
स्नेह-गगन में मुक्त विहग-सा मानव, युग-युग तक विचरो हे !
मुक्त करो मानव, मानस के रुद्ध द्वार को मुक्त करो हे !!

हिन्द महासागर

डाक्टर एस० मिश्री

भौगोलिक स्थिति और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का इतिहास और किसी सभ्यता, जाति या किसी देश का इतिहास दोनों पर्यायवाची और समानार्थी हैं। इस दृष्टि से यह बात आश्चर्यजनक किन्तु बिलकुल सच है कि प्राचीन भारत की सभ्यता की प्रगति और हिन्द महासागर का अटूट सम्बन्ध है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत ने हिन्द महासागर के जो महत्व और गौरव प्रदान किया वह धरती की सतह पर किसी दूसरे सागर के नहीं नसीब हुआ।

प्रशान्त महासागर, अटलान्टिक और हिन्द महासागर के इतिहास में उतना ही अन्तर है जितना उनके रूप और प्राकृतिक आकार में है। ऐतिहासिक काल की प्रारम्भिक अवस्था से ही हम देखते हैं कि हिन्द महासागर ने उन अत्यन्त प्राचीन सभ्यताओं के जन्म दिया जो चार हज़ार वर्ष तक अपने शौर्य की किरणें सारी दुनिया पर बिखेरती रहीं। जब हिन्द महासागर की लहरों पर भारतीय सभ्यता ने अठखेलियां करना बन्द कर दिया और चारों ओर एक नीरव निस्तब्धता छा गई तब अटलान्टिक के इतिहास की पहली कड़ी शुरू हुई। इसी तरह प्रशान्त महासागर के भी कोई गौरव प्राप्त न हो सका हालाकि सभ्यताओं के विकास के पूर्व प्रशान्त महासागर मानव जाति का केन्द्र था और बाद में उसके एक किनारे अत्यन्त प्राचीन और महान चीनी सभ्यता अपने चरम उत्कर्ष पर थी। इसका मुख्य कारण यह है कि प्रशान्त के वक्षस्थल पर असंख्य निर्जन द्वीप समूह उस काल की व्यापारिक उन्नति में ज़बर्दस्त बाधक थे जबकि हिन्द महासागर का इतिहास शताब्दियों तक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का इतिहास था। यह दूसरी बात है कि इसके लम्बे इतिहास में समय समय पर नई नई और भिन्न भिन्न परिस्थितियां पैदा होती रहीं फिर भी इसके अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की प्रधानता ज्यों की त्यों क़ायम रही। जो भी राष्ट्र हिन्द महासागर पर अपने जल-पोत दौड़ाता था उसका प्रधान उद्देश्य अपने वैदेशिक व्यापार के प्रोत्साहन देना होता था। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध में व्यापारिक उद्देश्य की प्रधानता आज की तरह उस काल की भी विशेषता थी। वास्तव में व्यापार के आदर्श से ही आज की तरह उस काल में भी संस्कृति और सभ्यता को पुरस्कृत रूप मिलता था। इस उद्देश्य की प्राप्ति में बहुत से देश चोट खा गये और बहुतों के आश्चर्यजनक सफलता मिली। एक प्रसिद्ध लेखक लिखता है—"व्यापार आश्चर्यजनक ढङ्ग से गहराई में जाकर यश और उन्नति के द्वार खोल देता है और राष्ट्रों को इस तरह की उन्नति की झलक दिखाता है जो वह और किसी तरह नहीं प्राप्त कर सकते।"

हिन्द महासागर की सब में बड़ी विशेषता यह थी कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के तमाम सामुद्रिक मार्ग उसी की छाती को चीरते हुये जाते थे। प्रशान्त महासागर और अटलांटिक महासागर दोनों उस समय जलमार्ग और जहाज़रानी के अयोग्य, जल के निकम्मे भण्डार थे। पुर्तगालियों की खोज ने पहली बार व्यापार के जलमार्गों को बदला। सुएज़ की नहर के फिर से निकल आने से इसमें कुछ अन्तर ज़रूर पड़ा किन्तु फिर हिन्द महासागर को वह पुरातन गौरव प्राप्त न हो सका। लेकिन भविष्य के लिये यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि भारत, अरब, पूर्वीय अफ़्रीक़ा, लंका और समस्त मलाया प्रायद्वीप व्यापार जगत में पूर्ण और मुनासिब महत्व के यदि प्राप्त करेंगे तो हिन्द महासागर भी अटलाण्टिक और पैसेफ़िक को पीछे धकेल कर फिर से अपने खोये हुये महत्व को प्राप्त करेगा। जहाज़-

रानी और व्यापार की मिक़दार दोनों में वह प्रशान्त और अटलान्टिक से सफलतापूर्वक टक्कर लेगा।

हिन्द महासागर के पहले सामुद्रिक और नाविक प्राचीन मिस्री थे। मिस्री इतिहास में इस बात की चर्चा आती है—हजरत ईसा से सोलह सौ वर्ष पूर्व मिस्री नाविक बड़े बड़े जलपोतों में समुद्री मार्ग से 'पन्त' के देश जाते थे और वहां से चन्दन, गरम मसाला और हाथीदांत की बहुमूल्य वस्तुयें लाते थे। पन्द्रहवीं शताब्दी ईसा पूर्व में मिस्री सम्राज्ञी हेतशेपसूत की इस तरह की समुद्र यात्रा का भी वर्णन मिलता है। इससे एक बात तो निश्चित हो ही जाती है कि मिस्री कम से कम लाल सागर और अरब सागर में अपने जहाज़ लाते थे। 'पन्त' का देश कौन सा था और कहां तक वे आगे जाते थे यह बात इतिहास अभी निश्चित रूप से नहीं बताता।

मिस्रियों की तरह अरब नाविक भारत यात्रा के उद्देश्य से अपने जहाज़ हिन्द महासागर में लाते थे। ईसा की सातवीं से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी तक अरब नाविक भारतीय माल को यूरोप की मण्डियों में पहुंचाने में मदद देते थे। हिन्द और हिन्द महासागर दोनों अविभक्त शब्द थे और एक ही विचार की प्रतिध्वनि इससे उठती थी। पश्चिमीय इतिहासज्ञों ने एक बहुत बड़ी ग़लतफ़हमी यह फैला रखी है कि यूरोप और मध्य पूर्व के देश भारतीय व्यापार में दिलचस्पी लेते थे और इससे वे यह अर्थ निकालते हैं कि भारत का समस्त वैदेशिक व्यापार विदेशियों के हाथों में था; भारतीयों को न तो जहाज़रानी से शौक़ था और न उनके पास अपने जलयान थे। इससे अधिक भ्रमपूर्ण बात कोई दूसरी नहीं हो सकती। इस बात के अकाट्य प्रमाण मौजूद हैं कि मौर्यों, गुप्तों और चोलों के समय में हिन्द महासागर पर भारतीय जलयान दौड़ते थे और नाविक की हैसियत से भारतीय बहुत निपुण थे। ईसा की प्रारम्भिक सदियों में भारतीय रोमन व्यापार के चालक भारतीय नाविक ही थे। यह कहना कि विदेशी व्यापार भारतीयों के राष्ट्रीय स्वभाव के विपरीत है एक ग़लतबयानी है जिसका हाल के ऐतिहासिक अन्वेषणों से पूरी तरह खण्डन हो चुका है।

यूनानी लेखकों और भौगोलिकों को हिन्द महासागर का बहुत अधूरा और उड़ता हुआ ज्ञान था और जब जब इन्होंने हिन्द महासागर की चर्चा की है उसमें अपनी कपोल कल्पना और अधूरे ज्ञान का प्रदर्शन किया है। यूनानी भौगोलिकों की दुनिया की कल्पना उपहासास्पद है। उनकी राय में जिन पहाड़ियों से नील नदी निकलती है उसके बाद समुद्र का एक सिलसिला शुरू हो जाता है। दक्षिणी अफ़रीक़ा की उन्हें कोई कल्पना न थी। उनकी राय में समुद्र का यह सिलसिला आस्ट्रेलिया तक चला जाता था। हिन्द महासागर को एक बन्द समुद्र (Inland sea) की तरह जानते थे। उनकी राय में लाल सागर से अफ़रीक़ी समुद्र मिलता था। वे यह समझते थे कि अफ़रीक़ा की ज़मीन मलाया से जुड़ी हुई है। भूगोल की यह भयंकर भूल टालेमी ने भी की थी जो मध्यकाल तक प्रामाणिक भौगोलिक मान कर पढ़ा जाता था। सैकड़ों वर्ष तक यूरोप के लोग हिन्द महासागर को एक बन्द समुद्र की तरह जानते रहे।

हिन्द महासागर के इतिहास से जो एक दूसरी बात बहुत स्पष्ट रूप में हमारे सामने आती है वह यह है कि पश्चिम को हमेशा पूरब से मिला ही है, पूरब ने कभी पश्चिम से कुछ नहीं लिया। यह सिद्धान्त महज़ व्यापार के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं, ज्ञान और संस्कृति के क्षेत्र में भी यही कैफ़ियत थी। एक और बात का भी पता चलता है वह यह है कि जिसके हाथ में ईरान की खाड़ी और लाल सागर होते थे वह यूरोपीय देशों के साथ भारतीय व्यापार के एजेण्ट का काम करता था। जब तक भारत का ऐश्वर्य रहा हिन्द महासागर पर उसका सम्पूर्ण प्रभुत्व और एकाधिकार रहा। आज सामुद्रिक स्वतन्त्रता का जो नारा बुलन्द किया जा रहा है वह इस बात का द्योतक है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर

आज किसी का एकाधिकार नहीं और सब देशों के बीच में एक दारुण संघर्ष चल रहा है।

यूरोप की गोरी जातियों ने हिन्द महासागर पर दख़ल जमाकर पूर्वीय देशों के व्यापार को भले ही असंगठित कर दिया किन्तु इनकी सभ्यता और संस्कृति को वे ठेस न पहुँचा सके। इसके मुक़ाबले में अटलाण्टिक के किनारे बसे हुये देशों को उन्होंने अपने ही रंग में रंग लिया। यूरोप की जंगली और बर्बर क़ौमें आज अटलाण्टिकी देशों में सभ्यता और संस्कृति की दावेदार बनी हुई हैं। हिन्द महासागर की लहरें स्वाभिमान के साथ आसमान के नीचे अपना सर उठा सकती हैं और सन्तोष अनुभव कर सकती हैं कि पश्चिम का घातक हमला केवल उन्हें सतही चोट पहुँचा सका। अटलाण्टिक और प्रशान्त की तरह उसने अपनी आत्मा को ग़ुलामी में नहीं बेचा।

अटलाण्टिक और प्रशान्त महासागर के मुक़ाबले में हिन्द महासागर का सब में महत्वपूर्ण काम यह रहा है कि न केवल व्यापार के क्षेत्र में बल्कि धर्म, संस्कृति, मानव जाति-विज्ञान आदि के क्षेत्र में भी सारी दुनिया का वह शिक्षक और प्रदाता रहा है। डाक्टर के० व्यूल के शब्दों में—"हिन्द महासागर की इस विशेषता ने भारतीय मिस्री सभ्यताओं को वैभव और यश प्रदान किया। हिन्द महासागर की उत्तर-पश्चिमी सीमा में भारत और अफ़रीक़ा की सभ्यताओं ने अपनी महानता का प्रदर्शन किया और इसलाम पर भी हम हिन्द महासागर की महानता की ही छाप देखते हैं।

अटलाण्टिक और प्रशान्त महासागरों के पास ऐसा गौरवपूर्ण कोई इतिहास नहीं। एक अर्थ में हिन्द महासागर बन्द समुद्र है क्योंकि उसकी उत्तरी सीमायें भारत को छूती हैं और उसकी आत्मा में भारतीय संस्कृति और भारतीय यश वैभव पूरी तरह व्याप्त हैं। भारत के साथ उसका अटूट मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध है। उसकी लहरों में भारतीय अध्यात्मा अठखेलियां करता है और इसीलिये वह प्रशान्त की तरह निर्जन और एकरूप नहीं है।

राष्ट्रीयता से लोकप्रियता

श्री गोरखनाथ चौबे, एम० ए०

समय के अनुसार चीज़ों का मोल घटता बढ़ता रहता है। विचार एक वस्तु है। उसकी भी क़ीमत कम और अधिक होती रहती है; यहाँ तक कि वही विचार एक जगह सम्मान पाता है और दूसरी जगह उसी समय तुच्छ और घृणित समझा जाता है। इतिहास इस बात का प्रमाण है कि एक ही समय में किसी देश में यथेष्ट धार्मिक स्वतन्त्रता थी और किसी में धर्म की स्वतन्त्रता चाहने वालों को तलवार के घाट उतारा जाता था, लोग ज़िन्दे आग में झोंक दिये जाते और मछली की तरह तड़प तड़प कर मर जाते थे। जिस सोलहवीं सदी में मुग़ल ज़माने में हिन्दुस्तान के लोग हर तरह की आज़ादी महसूस करते थे, और राजा-प्रजा में हर तरह का प्रेम था, उसी सदी में ट्यूडर काल (Tudor Perio) में इंगलैण्ड के अन्दर लोग ऐसी आज़ादी के लिये तड़प रहे थे। राजा प्रजा में लड़ाई के बादल इस क़दर मँडरा रहे थे कि कुछ ही वर्ष बाद वहाँ घरेलू युद्ध (Civil war) आरम्भ हुये बिना नहीं रह सका। इसी तरह जिस समय यूनान की सभ्यता अपनी चोटी पर पहुँच चुकी थी, उस समय दुनिया का एक बहुत बड़ा हिस्सा जंगली था, उसे सभ्यता का नाम भी न मालूम न था।

संसार में हज़ारों घटनायें रोज़ ऐसी हो रही हैं, जो एक दूसरे से मेल नहीं खातीं। जब हम किसी विवाह और दावत की ख़ुशी में चूर हैं, तो कुछ लोग अपने भाई बन्धुओं को खाट पर लादे 'राम राम सत्य है' के नारे लगाते मुर्दा घाट की ओर चले जा रहे हैं। उनकी आत्मा उस समय दुखी है और वे चुपचाप दाह-क्रिया करके घर को लौटे आते हैं। जब एक ही समय में घटनाओं में इतनी विषमता है, तो दो ज़मानों के विचारों के फ़रक़ पर हमें ताज्जुब करने की कोई ज़रूरत नहीं। किसी ज़माने में धर्म को प्रधानता दी गई थी। उसके एक निश्चित रूप को सब को मानना पड़ता था। राजनीति उसी के विरुद्ध न होती थी। जो ऐसा नहीं करते थे उन्हें राजद्रोही समझ कर दंड दिया जाता था। लगभग हर देश के इतिहास में ऐसा समय गुज़र चुका है। पर अब आज बीसवीं सदी में राष्ट्रीयता की ही तूती बोलती है और धर्म का स्थान राजनीति ने ले लिया है। जिस देश के हाथ में ज़्यादे से ज़्यादे देशों की हुकूमत है, वह सब से बलवान समझा जाता है। एक देश में जो जमात राजनीति में अपना बहुमत रखती है, उसी की बात मानी जाती है। उसी के हाथ में सरकार की बागडोर होती है। राष्ट्रीयता बीसवीं सदी का धर्म है। जिस देश में इसका अभाव है वह जंगली, असभ्य तथा पिछड़ा हुआ समझा जाता है। संसार के 'सभ्य' देशों में से कोई उसे हथिया लेता है या ऐसे कई उसे बाँट लेते हैं या बाँट लेना चाहते हैं। हिन्दुस्तान, चीन, अफ्रीका तथा और भी छोटे मोटे देश ऐसे ही रहे हैं।

हमें इस पर विचार करना चाहिये कि धर्म की शक्ति राजनीति में क्यों कर आई। धर्म एक गम्भीर विषय है। इसमें स्वर्ग, ईश्वर, आत्मा, मुक्ति, जन्म-मरण, कर्मयोग आदि गूढ़ विषयों पर विचार किया जाता है। लोग इसीलिये इस पर श्रद्धा करते थे कि उन्हें ईश्वर की प्राप्ति होगी, स्वर्ग मिलेगा और लोक तथा परलोक दोनों में उनकी गति होगी। वे आवागमन के बन्धन से मुक्त हो जायेंगे। जब तक हृदय से लोग इन बातों में विश्वास करते रहे, तब तक धर्म का स्थान अत्यन्त ऊँचा था। संसार की और ताक़तें उसके मुक़ाबिले में छोटी थीं। लेकिन कुछ समय बाद लोगों की श्रद्धा कम होने लगी। सांसारिक जीवन स्वर्ग की कल्पनाओं से उन्हें कहीं अधिक सुखमय दिखाई देने लगा। फिर क्या था, धर्म एक दिखावे की चीज़ रह गई।

ऊपरी वेश भूषा तो धार्मिक रहा, परन्तु भीतर से उनके अन्दर धर्म एक बन्धन मालूम पड़ने लगा। संसार के प्रलोभनों में वे लिप्त होते गये। जब तक उनकी दुनिया स्वर्ग में भी थी, तब तक तो धर्म उन्हें सँभाले था, लेकिन जब इस संसार को ही उन्होंने सुख और दुख दोनों का स्थान समझ लिया, तब एक दूसरी शक्ति की उन्हें आवश्यकता पड़ी। अब उन्हें कोई दुनियावी ताक़त की ज़रूरत थी, जो सब को एक सूत्र में बाँध कर रखती। वही शक्ति राजनीति होगई। परलोक से सर्वथा इह लोक में आकर मनुष्य ने धार्मिक बन्धन को हटाकर राजनैतिक बन्धन को ही ग्रहण कर लिया। इससे धर्म के स्थान पर राजनीति का महत्व बढ़ने लगा और लोग धीरे धीरे भौतिकवादी होते गये।

वैसे तो प्राणी मात्र सोचने, विचारने तथा कुछ करने के लिये स्वतन्त्र हैं, परन्तु समाज की दृष्टि से उन्हें भले बुरे का ज्ञान होना चाहिये। मनुष्य समाज तो इसके बिना चल ही नहीं सकता। यदि प्रत्येक मनुष्य भले बुरे का ज्ञान प्राप्त कर ले, और एक दूसरे की उन्नति में बाधा न डाले, तो उसकी स्वतन्त्रता में कोई भी बाधा नहीं पहुँचा सकता। साधु, सन्यासी, फ़क़ीर, पादरी निहायत संयम का जीवन व्यतीत करते हैं। अपनी उन्नति के साथ साथ वे समाज-हित का भी ध्यान रखते हैं। कोई भी कार्य उनसे ऐसा नहीं होता जिससे किसी को कष्ट पहुँचे। इसीलिये वे हर तरह स्वतन्त्र हैं। उनके लिये सामाजिक और राजनैतिक किसी भी विशेष बन्धन की आवश्यकता नहीं है। परन्तु समाज में सब से बड़ी संख्या तो उस वर्ग की है जो साधारण जीवन व्यतीत करता है। उसे ठीक मार्ग पर रखने के लिये किसी न किसी बन्धन का रहना अनिवार्य है। जब तक लोगों का ध्यान स्वर्ग और ईश्वर की ओर था तब तक धर्म उनके लिये एक बन्धन के रूप में था। परन्तु लौकिक जीवन में बन्धन भी लौकिक ही होना चाहिये, यह मान कर ज्यों ज्यों लौकिक जीवन बढ़ता जा रहा है उसी तरह लोग सांसारिक वस्तुओं के गुलाम होते जाते हैं और राजनैतिक बन्धन का महत्व बढ़ता जाता है। इसी से आज कल की राष्ट्रीयता राजनैतिक शक्ति की पहचान होगई है।

अब किसी भी देश की उन्नति राष्ट्रीयता के बिना नहीं हो सकती। पर आज जो देश राष्ट्रवादी हैं उनमें से अधिकांश साम्राज्यवादी हैं। वे मानते हैं कि राष्ट्रीयता एक ऐसी शक्ति है जो देशवासियों को पूर्ण 'उन्नति' का पाठ पढ़ाती है। 'उन्नति' शब्द बहुत ही व्यापक है। इसमें आर्थिक, राजनैतिक, आध्यात्मिक, मानसिक तथा धार्मिक सभी तरह की उन्नति शामिल है। यदि राष्ट्रीयता से ये सभी प्रकार की उन्नतियाँ वास्तव में हो सकती हैं, तब तो यही मान लेना होगा कि 'राष्ट्रीयता' उन्नति का ही पर्यायवाची शब्द है। परन्तु राजनीति का कोई भी विद्वान् इसे मानने पर तैयार न होगा। राष्ट्रीयता राजनैतिक उन्नति की ही सूचक है। जो देश राजनैतिक दृष्टि से स्वतंत्र और उन्नतिशील है, वही 'राष्ट्र' कहलाता है और अधिकतर ऐसे ही राष्ट्र राष्ट्रवादी हैं। पर हो सकता है कि आर्थिक दृष्टि से एक ऐसा देश स्वयं ग़रीब हो, आध्यात्मिक विकास में पीछे हो, अथवा ज्ञान के क्षेत्र में वहां शिक्षा की कमी हो। इतनी कमज़ोरियों के बावजूद यदि वहां की सरकार सुसंगठित है और उसका सिक्का दो चार और देशों पर भी जमा हुआ है, तो वह पहले दर्जे का ही राष्ट्र गिना जायगा।

कुछ लोग राष्ट्रीयता को आदर्श से जोड़ देते हैं। जिस प्रकार धनी मनुष्यों में कुछ लोगों को अच्छाइयां ही दिखाई पड़ती हैं, और अपनी बुद्धि जैसे सबको ठीक मालूम पड़ती है, उसी तरह हर राष्ट्रवादी को लोग आदर्शवादी भी मानने लगे हैं। जैसे ब्रिटेन एक उन्नतिशील राष्ट्र माना जाता है; उसके पास ५० करोड़ जन संख्या का एक साम्राज्य है। इसी शक्ति को देख कर लोग अकसर कहते हैं कि अंग्रेज़ बहादुर और बात के पक्के होते हैं; कठिन से कठिन परिस्थिति में घबड़ाना नहीं जानते। उनके रहन सहन तथा वेश भूषा की भी प्रशंसा की जाती है। अंग्रेज़ी क़ौम की कई बातों की जितनी भी प्रशंसा

की जाय सब ठीक है। लेकिन कोई भी निष्पक्ष अंग्रेज़ यह स्वीकार करेगा कि उनके अन्दर भी नाना प्रकार की कमज़ोरियां हैं। राजनैतिक उन्नति को देख कर हम उस देश पर इतने लट्टू हैं कि उसकी सारी कमज़ोरियों पर परदा पड़ जाता है। इसलिये बीसवीं सदी की राष्ट्रीयता मनुष्य के जीवन से उतना सम्बन्ध नहीं रखती, जितना उसके देश की राजनीति से। राजनैतिक उन्नति को ही राष्ट्रीय उन्नति कहा जाता है।

इससे स्पष्ट है कि राष्ट्रीयता एक ऐसी भावना है, जो देशवासियों के अन्दर राजनैतिक उन्नति के लिये ही पैदा होती है। पर चूंकि छोटी मोटी कई प्रकार की उन्नति के बिना राजनैतिक उन्नति नहीं हो सकती, इसलिये राष्ट्रीयता के अन्दर लगभग सभी तरह की उन्नति शामिल कर ली जाती है। ग़रीब राष्ट्र, दुखी राष्ट्र, अशिक्षित राष्ट्र, बलहीन राष्ट्र आदि तरह तरह के राष्ट्र सुने जाते हैं, परन्तु 'परतन्त्र राष्ट्र' कहीं भी नहीं सुना जाता। जो देश परतन्त्र है वह राष्ट्र नहीं कहला सकता। दोनों शब्द एक दूसरे के विरोधी हैं। शीतल आग और गरम बरफ़ नहीं हो सकते। राजनैतिक उन्नति को अलग कर हम राष्ट्रीयता पर विचार नहीं कर सकते। राष्ट्रीयता राजनीति का एक पारिभाषिक शब्द (Technical Teram) है। राज्य की एक विशेष अवस्था को, चाहे वह किसी भी नीति से पैदा हुई हो, राष्ट्र कहते हैं।

राष्ट्रीयता बीसवीं सदी का धर्म या सर्वस्व है। किसी युग में ज्ञान की महत्ता थी। जो ज्ञानी होता था, समाज में उसका आदर था। ज्ञानी के बताये हुये रास्ते पर चलने में लोग अपना गौरव समझते थे। एक युग केवल 'बल' का भी था। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का सिद्धान्त चलता रहा। वर्तमान युग राष्ट्रीयता का युग है। हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि किसी भी युग में पिछले सिद्धान्तों का लोप नहीं हो जाता। इस युग में भी ज्ञान और बल का महत्व कम नहीं है। उन्नतिशील राष्ट्रों के पास ये दोनों शक्तियां मौजूद हैं। इतना अवश्य है कि इनका सदुपयोग मनुष्य के कल्याण के लिये नहीं हो पाता। जिस किसी देश को आज ये तीनों शक्तियां ज्ञान, शक्ति और स्वतन्त्रता मिल जाती हैं, वह आगे बढ़ने लगता है और कुछ ही दिनों में लड़ाई का कारण बन जाता है, क्योंकि अन्य राष्ट्र उससे द्वेष करने लगते हैं। इस तरह एक की उन्नति बहुतों की अवनति का कारण बन जाती है।

इस दृष्टिकोण से राष्ट्रीयता इस समय एक पाशविक बल है। इसका उद्देश्य दूसरे देशों को, चाहे वे कितने भी सभ्य और आध्यात्मिक क्यों न हों, लूटना और कमज़ोर बनाना है। यदि इन राष्ट्रवादी देशों का उद्देश्य ऐसा न होता, तो आपस में इन्हें लड़ने की आवश्यकता ही क्या थी। इसलिये सिद्धांतरूपेण राष्ट्रीयता चाहे जितनी भी ऊँची चीज़ हो, परन्तु कार्य रूप में यह एक ऐसा ज़हर हो गया है, जो देश वासियों को पागल बना देता है। वे अपनी सभ्यता, अपने विचार, अपने बल तथा अपनी बुद्धि पर इतना गर्व करने लगते हैं कि दूसरे देशों की अच्छी से अच्छी विचारधारा उन्हें छिछली मालूम पड़ती है। वे हर प्रकार से दूसरे देशों पर हावी होना चाहते हैं। इसीलिये उन्हें फ़ौज और हथियार की ज़रूरत पड़ती है। तरह तरह के बहाने लेकर वे संसार की शान्ति को भङ्ग करते हैं। लड़ाई उनके जीवन का एक अंग बन जाती है। यद्यपि इनके इस दूषित और घृणित कार्य से मनुष्यमात्र को कष्ट पहुंचता है, परन्तु आवेश में आकर वे कष्ट की उतनी चिन्ता नहीं करते, जितनी अपनी हार जीत की। ऐसी दशा में आज कल राष्ट्रीयता की वृद्धि से सुख और शान्ति की कैसे आशा की जाय?

शब्दों के उलट फेर से अर्थ में चाहे जितनी भी तब्दीली हो जाय, परन्तु यदि भावों में परिवर्तन नहीं है, तो इसका कोई विशेष महत्व नहीं है। राष्ट्रीयता 'शब्द' के अन्दर एक ऐसा संकीर्ण भाव पैदा हो गया है कि सच्चे विचारकों को यह कर्णप्रिय नहीं हो सकता। उदार भाव के लिए इसके स्थान पर 'लोकप्रियता' शब्द अधिक उपयुक्त है। जब तक

मनुष्य अपने ही देश को स्वर्ग समझेगा, अपनी ही संस्कृति उसे सब से प्राचीन और ऊँची मालूम होगी तथा अपने ही देश की उन्नति अवनति के दायरे में घिरा रहेगा, तब तक वह मानव समाज का हित नहीं सोच सकता। 'लोक प्रियता' का सिद्धान्त लोगों को इस बात का अवसर ज़रूर देगा कि वे मनुष्य को स्वदेशी और विदेशी न समझें। पिछले ५० वर्षों से संकीर्ण राष्ट्रीय भाव इतनी तेज़ी से बढ़ा है कि एक देश का निवासी दूसरे देश के निवासियों को अपना शत्रु समझने लगा है। इस वैज्ञानिक युग में मेल जोल की भावना और बढ़नी चाहिये ताकि सबके सहयोग से वैज्ञानिक अनुसन्धानों का अधिक से अधिक उपयोग किया जाय। कोई भी देश आज पूरी तरह स्वावलम्बी नहीं है। आर्थिक दृष्टि से यह बुरा भी नहीं है, परन्तु सबके सहयोग की सफलता के लिये विश्वशान्ति अनिवार्य है। एक ओर तो हर देश किसी ख़ास पेशे में विशेषज्ञ बनने की कोशिश करे और अपनी अन्य ज़रूरतों के लिये कितने ही मुल्कों पर निर्भर रहे, और दूसरी ओर उन्हीं मुल्कों से लड़ाई लड़ने पर आमादा हो—इसे मूर्खता नहीं तो और क्या कहा जाय ? कोशिश तो यह होनी चाहिये कि हर दशा में प्रत्येक देश एक दूसरे के साथ हो। लड़ाइयां किसी भी देश को लाभ नहीं पहुंचातीं। थोड़े समय के लिये किसी देश का राज्य-विस्तार बढ़ जाता है, तो इसकी क़ीमत जनता को अन्त में महँगे भाव से चुकानी पड़ती है।

पर यह स्वाभाविक है कि हम अपने पड़ोसी के सुख दुख की अधिक चिन्ता करते हैं। चूंकि वह रात दिन हमारे सामने होता है और हर मौक़े पर हमें उसकी ज़रूरत है, इसलिये दूर के लोगों के प्रति हमारा वह भाव नहीं रह सकता। इसी तरह का अन्तर स्वदेशी और विदेशी लोगों में है। एक देश का रहने वाला जितनी परवाह और बेहतरी अपने देश की करेगा, उतनी दूसरे देशों की नहीं। इसीलिये कुछ विद्वान् राष्ट्रीयता को स्वाभाविक गुण मानते हैं। परन्तु शिक्षा और ट्रेनिंग द्वारा लोगों का संकुचित भाव व्यापक किया जा सकता है। यदि हम अपने देश के कल्याण के लिये मरने मारने को तैयार हैं, तो हम इसी शक्ति का उपयोग सबके लिये क्यों नहीं करते ? अपने देश की बेकारी और ग़रीबी जब हमें खटकती है, तो दूसरे देशों में भी इन्हें देखकर हमें तकलीफ़ होनी चाहिये। हो सके तो हमें वहां जाकर उसकी दवा भी करनी चाहिये। मिशनरी कार्य-कर्ताओं का कर्तव्य केवल धर्म प्रचार करना नहीं है। धर्म तो हर प्रकार के लोगों की सेवा में है। इसी भाव को पैदा करने के लिये 'लोकप्रियता' सबसे उपयुक्त है।

किसी नई भावना के प्रचार के लिये नये संगठनों की आवश्यकता पड़ती है। यह भी आवश्यक है कि बहुत से लोग इस दिशा में कार्य करें। अभी तक इस मसले पर यथेष्ट ग़ौर नहीं किया गया कि लोक-प्रियता के लिये क्या क्या किया जाय। सबसे पहले तो इसके उद्देश्य के प्रचार के लिये कई पत्र-पत्रिकायें निकालनी होंगी। अभी 'विश्व-भारती' और 'विश्व-वाणी' को ही हिन्दी भाषा में हम इस कोटि में पाते हैं। अच्छे लेखकों को यह भार भी लेना होगा कि कई पुस्तकें प्रति वर्ष इस पर लिखें। जगह जगह पर इस उद्देश्य को सामने रखते हुये सभा सुसाइटियां बनानी होंगी। हर स्कूल और कॉलेज में इस तरह का एक संगठन बनाया जाय और पुरस्कार या पारितोषिक देकर विद्यार्थियों को इसमें शामिल होने के लिये उत्साहित किया जाय। जो विद्यार्थी इस कार्य में अधिक होनहार वा विशेष रुचि वाले दिखाई दें उन्हें 'लोकप्रियता' संज्ञित कोई पदक प्रदान किया जाय। सरकारी और ग़ैर सरकारी सभी संस्थाओं से इसमें आर्थिक सहायता ली जाय। धनी मानी व्यक्तियों से भी पैसे लिये जायँ। समय समय पर बड़े बड़े विद्वानों को बुलवाकर स्थान स्थान पर व्याख्यान दिलाये जायँ। देशी, विदेशी का भेद-भाव छोड़कर हर आदमी इसमें शरीक किया जाय। जिस प्रकार मज़दूर संगठन राष्ट्रसंघ की ओर से हर देश

में फैला हुआ है, उसी तरह लोकप्रिय व्यक्ति संगठित होकर विश्वकल्याण की चिन्ता करें। यह कार्य बहुत ही व्यापक और ठोस है। जब साधारण कार्यों के लिये थोड़े बहुत पैसे लगाकर संगठन बना लिये जाते हैं, तो इस महान कार्य के लिये हिचक और रुकावट की कोई गुंजाइश नहीं है। विचारकगण इस बात पर सोचें कि किस किस प्रकार के साहित्य इस भावना की वृद्धि करते हैं। लोकप्रियता का विश्वव्यापी संगठन सच्चे कार्यशील व्यक्तियों के हाथ में पड़कर उस चोटी पर पहुंच सकता है, जहाँ से संसार को शान्ति का चित्र अच्छी तरह दिखाई देने लगे।

रवीन्द्रनाथ की अमृत-वाणी

बैजनाथ सिंह "विनोद"

उपनिषद् का एक मन्त्र है—"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः"—'कमज़ोर आदमी को आत्मा की उपलब्धि नहीं होती।' निरन्तर आगे बढ़ती हुई मानवता के लिये यह मन्त्र जितना उपनिषद् काल में ज़रूरी रहा होगा, उससे कहीं ज़्यादा ज़रूरत इस मन्त्र की आज है। आज जीवन और संघर्ष पर्यायवाची हैं। मानव जीवन आज मृतप्रायः है; पर उसी में से नव जीवन की उद्दाम गति भी पैदा होगी। इस तत्व को कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने समझा था। इसीलिये उनके साहित्य में कहीं भी थकान की भावना, निराशा और ग्लानि नहीं है। बल्कि सभी जगह नया जोश, अपार साहस, धीरज और अपने ऊपर भरोसा है। इस तत्व को उन्होंने अपने समय और देश की सारी विषम और विरोधी परिस्थितियों की सीमा को लांघ कर पाया था। यही उनका सीमा के अन्दर असीम का सुर है। इस सुर की उपलब्धि उन्होंने मृत्यु-पथ से की है।

"भानुसिंहेर पदावली" से उनका मृत्युञ्जयी सुर शुरू होता है। इसी पदावली में मृत्यु से अमृत पाने की आशा उन्होंने की है। उस समय की परिस्थिति ऐसी थी—

गगन सघन अब, तिमिर मगन भव,
तड़ित चकित अति, घोर मेघ रव,
शाल ताल तरु सभय-तबध सब,
पन्थ विजन अति घोर।

पर कवि ने कहा—

भय बाधा सब अभय मूर्ति धरि
पन्थ देखायब मोर।

यह वह समय था जब देश में कहीं आशा की किरण नहीं थी। राष्ट्रीयता के पौधे का पल्लव प्रकाश भी नहीं हुआ था। मृत्यु की अंधियारी चारों ओर से इस जम्बू द्वीप को घेरे हुए थी; जब निराशा या अश्रुपात का ही समय था; अतीत की याद में लोग रोते थे। उस रुदन और निराशा का असर जीवन के हर पहलू पर छाया था। प्रेम के कवि थे, पर उनके काव्य में निराशा थी। लेकिन ऐसे समय में भी कवि ने कहा—

आमार ए प्रेम नयत भीरु
नयत हीन बल,
शुधू कि ए व्याकुल हये
फेलबे अश्रुजल?

× × ×

नाचे जखन भीषण साजे
तीव्र ताले आघात बाजे,
पालाय त्रासे पालाय लाजे
सन्देह विह्वल।
सेइ प्रचण्ड मनोहरे
प्रेम जेन मोर वरण करे,
क्षुद्र आशार स्वर्ग ताहार
दिक से रसातल॥ (गीताञ्जलि)

("हमारा यह प्रेम न डरपोक है न कमजोर; फिर क्यों यह घबड़ाकर रोवेगा ? जिस समय (मृत्यु की विभीषिका का) नाच भीषण साज के साथ होगा, भयंकर आघात का ताल बजेगा, (और लोग) डर, लज्जा तथा सन्देह से विह्वल होकर भागेंगे; उसी प्रचण्ड और मनोहर समय में तो प्रेम मुझे वरण करेगा ! क्षुद्र आशाओं का स्वर्ग रसातल की ओर जाय ।)

बज्रे तोमार बाजे बांशि
से कि सहज गान ?
सेइ सुरे ते जागबो आमि
दाउ मोरे सेइ कान ।

(बज्र की तरह तुम्हारी वंशी बज रही है; सो क्या सहज गान है ? (नहीं, पर) उसी सुर से मैं जागूंगा, मुझे वही कान दो ।)

कविगुरु रवीन्द्रनाथ का यह सुर कभी व्यक्ति-केन्द्रिक होही नहीं सकता । और उनके समस्त काव्य में व्यक्तिकेन्द्रिकता का अभाव है। हर व्यक्ति के कर्म का जो सामाजिक परिणाम होता है, वह सीधे उसके कर्म से प्रसूत फल से मेल नहीं खाता, बल्कि कभी तो उससे सर्वथा विपरीत होता है । यह फल हर व्यक्ति को अपने कर्म के फल स्वरूप अपने अन्दर से नहीं, बल्कि बाहर से आता हुआ प्रतीत होता है । पर समाज के अनेक अवयवों के घात प्रतिघात के नियमों का तारतम्य और सामुदायिक वर्तन की प्रणाली का जानकार जानता है कि सभी फल और उसकी परम्परा का मूल सूत्र समाज के अन्दर है। इसको पढ़ा और समझा जा सकता है। वैदिक ऋषियों ने अपने काल के समाज का अध्ययन ही वेद मन्त्रों में रखा है; इसीलिये उनको द्रष्टा या अध्येता माना गया है। इसी तरीके पर अपने समय के समाज का अध्ययन साधारणीकृति के वैज्ञानिक और काव्यगत तरीके से कविगुरु के काव्य में व्यक्त है ।

रवीन्द्रनाथ का भगवान हमारी सस्ती चर्चा और कायरों का भगवान नहीं है । रवीन्द्रनाथ का भगवान अणु-परिमाणु, ग्रह-नक्षत्र और नीहारिकाओं में भी एक साथ—अविच्छिन्न प्राण-धारा है । काव्य में रूप-गत वर्णन होता है, इसीलिये उन्होंने उसे दूसरे रूप में रखा है । उनका भगवान व्यक्तिकेन्द्रिक नहीं है ।

"विश्वसाथे योगे जेथाय विहारो
सेखाने योग तोमार साथे आमारो ।
नयको बने, नय विजने
नयको आमार आपन मने,
सबार जेथाय आपन तुमि, हे प्रिय
सेथाय आपन आमारो ॥ (गीताञ्जलि)

(संसार के साथ (तुम) मिलकर जहाँ विचरते हो उसी जगह हमारा तुम्हारे साथ मेल है । बन में नहीं, एकान्त में नहीं और अपने मन में भी नहीं । हे प्रियतम जहाँ तुम सबके हो, वहीं हमारे हो ।)

कहते हैं कवि भविष्यद्रष्टा होता है । पर सच तो यह है कि कवि भविष्य द्रष्टा नहीं, समाज भूत-पाती होता है । समाज की दृष्टि सदा भूत की ओर लगी होती है । कवि अपने समय के ज्ञान विज्ञान की समस्त धाराओं के साथ समाज का अध्ययन करके, समाज की गति का जो परिणाम निकालता है, वह सत्य होता है; इसलिये कवि को भविष्यद्रष्टा कहते हैं । रवीन्द्रनाथ ने बंग-भंग आन्दोलन के बाद "अपमानित" शीर्षक कविता लिखी है, जो उनकी गीताञ्जलि में है । इस कविता में अंग्रेज़ी कूट नीति का इतना गम्भीर अध्ययन है कि अचरज होता है । ऐसा लगता है कि कविगुरु को साम्प्रदायिक विद्वेष की चरम परिणति का पता था । उस कविता का सुन्दर हिन्दी रूपान्तर यह है—

"नहीं सूझता है क्या तुमको मृत्यु दूत आया है द्वार
आंक तुम्हारे अहंकार पर उसने दिया शाप दुर्वार
सब को यदि न बुलाओ अब भी
डटे रहो यदि दूर दूर ही
निज को बांध रखो यदि अब भी चारों ओर
लिखा अभिमान

तो मरकर तुम चिताभस्म में होगे सब के क्या
न समान ?"
—'श्री सुधीन्द्र'

जिस तरह कवि का भगवान अनन्त और अविच्छिन्न प्राण-धारा है, उसी तरह उनके काव्य में प्राण की उद्दाम गति है। पर समाज तो स्थिति-शील होता है। नाना परिस्थितियों के रूप में वह गति को रोकना चाहता है। लेकिन यह नाना परिस्थितियां हवा में तो नहीं होती; समाज में होती हैं। दूसरे शब्दों में समाज की किसी सामूहिक क्रिया के परिणाम को परिस्थिति कहते हैं। सामाजिक क्रियाओं पर आर्थिक और राजनैतिक असर सदा से पड़ता आया है और आज तो वह प्रचण्ड रूप में है। हमारे देश पर विदेशी और पूंजीवादी सत्ता है, जो अपने फ़ायदे के लिए हमारी सामाजिक बुराइयों को क़ायम रखना चाहती है और इन्हीं कारणों से हमारा सामाजिक बन्धन पेंचीदा और सख़्त है। इस बन्धन के नीचे कुछ लोग रहस्यवाद और छायावाद के नाम पर पलायन वृत्ति में फंसे हैं और कुछ निराशा के गर्त में पड़े हैं। पर युग कवि रवीन्द्रनाथ कहते हैं—'रूद्र अपना तूर्य बजा कर मुझे बुला रहा है, सिर के ऊपर मध्यान्ह का सूर्य मुझे बुला रहा है। मन मुक्त होकर आकाश में व्याप्त हो गया, प्रकाश का नशा छा गया, जो हमारे दर्वाज़े को रोकेगा, उसकी आंखें फूट जायगी'—

आमरा चलि समुख पाने
के आमादेर बांधबे ?
रैल जारा पिछन टाने
कांदबे तारा कांदबे। (बलाका)

(हम सामने की ओर चलते हैं, कौन हमको बाँधेगा? जो हमें पीछे खींच रहा है, वह रोवेगा, वह रोवेगा।)

नवीन विचार-धारा को—प्राण-धारा की नई लहर को—लक्ष्य कर के, उसका अभिनव स्वागत करते हुए "बलाका" में गति की उन्मादना में रवीन्द्रनाथ मस्त हो जाते हैं। प्राण की जो प्रचण्ड गति "बलाका" में है, उसे हम वेद के "दूरम् गमम् ज्योति शाम् ज्योति रेकम्..." में ही पा सकते हैं। "सबूजेर अभियान" में कविगुरु कहते हैं:—

आपद आछे, जानि आघात आछे,
ताई जेने तो वक्षे पराण नाचे,
घूचिये दे भाई पूँथि पोड़ार काछे
पथे चलार विधि विधान जांचा।
आय प्रमुक्त, आय रे आमार कांचा ॥
चिरजुवा तुई जे चिरजीवी,
जीर्ण जरा झरिये दिये
प्राण अफुरान छड़िये देदार दिवि
सबूज नेशाय भोर करेछिस धारा,
झड़ेर मेघे तोर तड़ित भरा,
बसन्तेर परास आकूल करा
आपन गलाय बकुल माल्य गांछा,
आय रे अमर, आय रे आमार कांचा ॥
(बलाका)

× × ×

व्याघात आसूक नव नव,
आघात खेये अचल रबो,
वक्षे आमार दुखे बाजे तोमार जय डंक।
(बलाका)

(आपद है, जानता हूं आघात है; वही जानकर तो छाती में हमारा प्राण नाचता है। फेंक दो भाई पढ़ने वालों के लिए पोथी—चलाने का विधि विधान जांचने के लिए। (पर हमारे लिए तो) आओ रे प्रमुक्त, आओ रे हमारे कच्चे। (हे) चिर जुवा, तू चिरंजिवी हो, जीर्ण जरा को झाड़ कर कभी अंत न होने वाली प्राण-धारा को उन्मुक्त भाव से चारों ओर बिखेर दो। शान की मादकता ने धरती पर सवेरा ला दिया। बरसने वाले मेघों में (तेरी) बिजली भरी हुई है। वसन्त ने पलास को आकुल कर दिया है। (उसने) अपने गले में बकुल-माल्य पहन लिया है। (इस समय) आना रे अमर, आना रे हमारे कच्चे।)

(नया नया व्याघात आवे, (पर हम तो) आघात खाकर (अपने सिद्धान्त में) अचल रहेंगे, हृदय के अन्दर दुःख तुम्हारे जयका डंका बजायेगा ।)

विसंगतियों के अन्दर ही उनको उसका सुलझाव सूझता रहा है, दुख से हताश होना तो कवि को भाता ही नहीं; दुख पर जय करना ही उन्होंने सीखा है । मृत्यु को जीवन के रूप में उन्होंने देखा है । मृत्यु उनके मत से "सृष्टि का परित्राण करने वाली है, वह मनुष्य का सब से अन्तरंग है, वह ऐसा चरवाहा है, जो सृष्टि को एक युग से दूसरे में, एक क्षेत्र से अन्य क्षेत्र में, चराती हुई ले जारही है ।" वह मृत्यु में आनन्द का प्रवाह पाते थे । इसीलिये वह कहा करते थे—"दुःसह दुख के दिनों में मैंने अक्षत अपराजित आत्मा को पहचान लिया है ।"

आज हमारे देश में मृत्यु की अँधियारी छाई है । हजारों की संख्या में लोग भूखों मर रहे हैं । युद्ध के सैनिकों की मृत्यु तो तब भी एक गौरव रखती है, किन्तु आज तो—कविगुरु का प्रान्त भूख से मरे हुओं की लाशों से पट रहा है । कलकत्ते के किसी भी रास्ते पर ४ मील चलने पर भूख से मरों की लाशें सड़क पर मिल ही जाती हैं । और इधर देश के प्राण—उसके सर्वस्व महात्मा गान्धी जी अपने हजारों साथियों के साथ जेलों में सड़ रहे हैं । निराशा हतोत्साह और दुःख की काली अंधियारी चारों ओर व्याप्त है । ऐसे समय में—ऐसे दुःसमय में—हम उनकी "दुःसमय" कविता का अन्तिम पद यहाँ रखते हैं—

"ओरे भय नाई, नाई स्नेह-मोह बन्धन,
ओरे आशा नाई, आशा शुधू मिछे छलना ।
ओरे भाषा नाई, नाई वृथा बसे क्रन्दन,
ओरे गृह नाई, नाई फूल-सेज-रचना ।
आछे शुधू पाखा, आछे महा नभ-अंगन ।
उषा-दिशाहारा निविड़-तिमिर आंका ।
ओरे विहंग, ओरे विहंग मोर,
एखनि, अन्ध, बन्ध कोरोना पाखा ।

(ओरे भय नहीं, नहीं स्नेह का मोह मय बन्धन, ओरे आशा नहीं, आशा तो सिर्फ झूठी छलना है । ओरे भाषा नहीं, नहीं व्यर्थ का बैठे बैठे रोना । ओरे घर नहीं, नहीं फूल की रची हुई सेज । (तेरे पास तो है) सिर्फ पंख, (और देख यह मुक्त है) आकाश का महान आँगन, (देख) उषा की लाली से व्याप्त घोर अंधकार से अंकित आकाश । (फिर भी) ओ मेरे विहंग, ओ रे मेरे विहंग, इस समय, इस अंधकार के समय (संक्रान्ति काल में) अपने पंखे को बन्द मत कर ।)
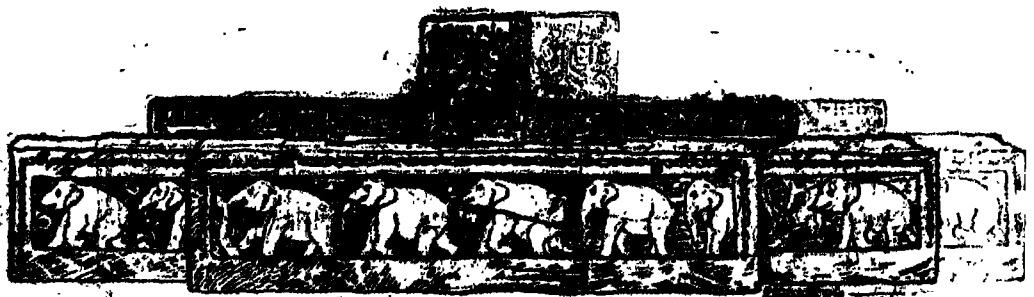
अनाम स्वामी

श्री जैनेन्द्र कुमार

१०

इस सप्ताह भी मैं नहीं आ रहा हूँ। अख़बारों से देखता हूँ कि राजनेताओं के आने-जाने का तांता अभी वहाँ लगा ही है। राजकर्मी लोग वास्तव की ओर से सत्य को लेते हैं। धार्मिक जन सत्यपूर्वक वास्तव को निबाहते हैं। एक के लिए समक्ष दुनिया है और पीछे कोई प्रभु हो तो वह दुनिया के लिए है। दूसरे के मन भगवान ही है, और यदि दुनिया भी हो तो वह भगवान के अर्थ है। यह उन दोनों में सनातन भेद है। धर्म और राजनीति की यह विमुखता सदा से चली आई है।

पर यहाँ दीखता है कि एक सरल सन्त राजकारण के कूट वृत्तों का केन्द्र बन गया है। वह तो सत्य का ही खोजी है। उपरान्त उसके लिए कुछ नहीं है। इस राह में ही वह वास्तव का प्रभु बन उठा है। जग के लिये यह परम आश्चर्य का विषय है।

जग संघर्ष है। वहाँ जीव जीव का भोजन है। मुंह से अहिंसा कहो, इसमें भी हिंसा है। इससे वास्तववादी के लिए हिंसा-अहिंसा की बात वृथा हो रहती है। शक्ति ही उसे सच है। शक्ति से गति होगी और भविष्य उतरेगा। इतिहास उसे युद्ध की कहानी है। इससे उसके लेखे शक्ति-सम्पादन मानव कर्म की नीति है। शक्ति के स्थानान्तरित और हस्तान्तरित होने के नियम-क्रम का अध्ययन वास्तव विद्या है, शेष व्यर्थ है।

इसलिए कर्मी पुरुष में सिद्धान्तवादी और आदर्शवादी व्यक्ति के लिए एक विलक्षण अवहेला का भाव दिखाई देता है। मानो वह सिर्फ़ उन्हें सहता ही हो।

और यह अकारण नहीं। अहिंसा अथवा कि धर्म प्रगटतः व्यक्ति को निर्बल बनाते हैं। मानो निर्बलता वहाँ गुण हो। प्रार्थना अपनी निर्बलता का स्वीकरण है। बलहीनता में वहाँ रस तक लिया जाता है। "सुने री मैंने निर्बल के बल राम।" सद्गुणी जीव जगत में अधिकांश असमर्थ देखे जाते हैं। भलाई भोलाई के रूप में पहचानी जाती है। हिंसा की तुलना में अहिंसा फीकी और तेजहीन हो रहती है। हर कहीं अहिंसक वैश्य है और वैश्य बलाधारियों की सत्ता का मध्यवर्ती टेकन है। सत्ता में एक का बल दूसरे को दबाता है। ज़ोर पर खड़ी संस्था ही सत्ता कहलाती है। इस तरह अहिंसक भलाई हिंसायुक्त कूटनीति का साधन बनी दीखती है।

पर इस सन्त के उदाहरण से हिंसा खिन्न भी दीखती है। वह शक्ति अपने को ही मानती आई है। अशक्ति के रूप में अहिंसा का इसलिये आदर और गुणगान करने से भी वह नहीं चूकी है। पर अब जैसे वह पहचान रही है कि अहिंसा यदि सत्य है, तो वास्तव भी वही है। यानी असल शक्ति वहीं है। अब दीख पड़ रहा है कि आदर्श सत्य एक हो और वास्तविकता के लिए नीति दूसरी हो—यह हो नहीं सकता। जो साध्य है, साधन उससे भिन्न नहीं है। वास्तव को सत्य से भिन्न कहकर उस वास्तव का लाभ हमें न होगा। मुक्ति के लिए है वही धर्म संसार के लिए है, क्योंकि संसार यात्रा है और वह मुक्ति की ओर है। उस सन्त पुरुष ने सत्य की निष्ठा द्वारा वास्तव की प्रभुता प्राप्त की है। इसी से जो नितान्त वास्तव में से अपनी नीति, अपना ज्ञान और अपना शास्त्र प्राप्त करते रहे हैं वे चकित हैं। वह व्यक्ति अग्निशिखा की भांति, उनकी समस्त, शास्त्र और शस्त्र विद्या के समक्ष एक दुर्दम

प्रश्न बनकर खड़ा हुआ है। राजकारण और समाज कारण, विज्ञान और व्यवसाय सब संभ्रम में चक और ठिग गये हैं। नहीं समझ पाते कि उसका क्या बनायें। जो मानकर वे चलते हैं उसे ही असत् मानकर यह चलता है और जिसे वे शास्त्र किसी तरह नहीं आंक पाते, वही इसे ध्रुव है। उस व्यक्ति की निष्ठा का आधार उन्हें दुष्प्राप्य है। वह अतर्क्य है। उसकी कुंजी मिलती नहीं है। उसका तत्वज्ञान प्रतिपाद्य है। बुद्धि द्वारा अस्वीकार्य है। फिर भी उस स्वयम् के किसी तरह इन्कार नहीं किया जा सकता। वह इतना प्रभविष्णु, इतना ज्वलंत है कि स्वीकार ही सम्भव है। इसलिए वास्तववादी प्रत्येक शास्त्र को इस रहस्य के तईं सफाई देनी पड़ रही है। हर शास्त्र को उसके प्रभाव से संस्कार प्राप्त हो रहा है। जीवन के हर भाग में उसका असर बिंधता जा रहा है।

तभी तत्व शास्त्र का नहीं विश्व के समूहों का राजकारण का सवाल है : अहिंसा क्या ?

एक अहिंसा को तो लोग जानते हैं। वर्ग के वर्ग उसको नित्यकर्म की भांति पालते आये हैं। उन अहिंसा धर्मियों की अहिंसा के साथ जगत को निबटने में कभी दिक्कत नहीं हुई। राजाओं और राजनेताओं की यात्रा उस अहिंसा को प्रभय देती हुई निष्कंटक चलती रही है। वह अहिंसा भी उनके राज के नीचे सन्तोष पूर्वक पलती-निभती रही है। याद नहीं आता कि उस अहिंसा को कभी इसमें बहुत असुविधा हुई हो। छत्रधारियों के शासन-दण्ड के नीचे श्रेष्ठि लोग जीवदया का भरपूर पालन करते रह सके हैं। यदि कभी वह अहिंसा सिर उठाकर उभरी भी हो तो शासकों के पांव-तले आकर सानन्द सो रही है। वह अहिंसा हिंसा को बचाकर और उससे बचकर निर्विघ्न चलती रही है। उसने अपने को स्पर्शदोष से पवित्र रखा। उसका पालन चौके में और मन्दिर में हुआ। व्यक्तिगत व्यवहार में वह कला के चरम तक पहुँची। पर क्या वह समूह-व्यापार, की राजनीति के बीच कभी उतारी गयी ? प्रश्न इसीलिए है कि वर्ग और वर्ग के बीच अहिंसा का क्या प्रयोजन है ? हिंसा के प्रति अहिंसा में सामर्थ्य है ? हिंसा से आंख मोड़कर क्या अहिंसा सिद्ध होगी ? वास्तव के इन्कार पर क्या सत्य की उपलब्धि होगी ? याकि सत्य वह है कि जिसके स्पर्श से वास्तव सदा संस्कार पाया करेगा ?

पिछले सप्ताह मैंने जो लिखा उसके बाद यही प्रश्न आज मेरे सामने है कि अहिंसा को हिंसा के साथ क्या करना है ?

मारना हिंसा है तो क्या न मारना ही अहिंसा है ? जीव के मरने न मरने पर क्या उसके विचार की इति है ? या कि जो मारा जा रहा हो और जो मार रहा हो उसके प्रति भी अहिंसा का कुछ प्रयोग है ? "मैं न मारूँ" क्या इतने से मैं अहिंसक हो जाऊँगा। याकि उससे बाहर भी मेरे अहिंसक कर्त्तव्य की व्याप्ति है ?

मालूम होता है कि व्यक्ति के निज के दायरे में अहिंसा की इति नहीं है। यदि हो तो वह अहिंसा विचारणीय नहीं है। हिंसा की ओर से चुनौती व्यक्ति को अपनी निजता की परिधि के भीतर नहीं, बल्कि ठीक उसकी सीमा पर मिलती है। अहिंसा का प्रश्न ही वहां उठता है, जहां एक का दूसरे से, और अनेक से, सम्बन्ध है। स्व की नहीं, वह स्वः पर की समस्या है। इससे अहिंसा यदि कुछ है तो सामाजिक है।

पर व्यक्ति समष्टि से कब अलग है ? आत्मा में हम सब एक हैं। इस तरह किसी एक का जगत के किसी भी दूसरे पर दबाव पड़ता है, यानी अन्याय, उत्पीड़न और शोषण होता है तो शेष किसी के लिए भी हिंसा की चुनौती समाप्त नहीं होती। इसलिए अहिंसक को तब तक चैन नहीं, जब तक जगत के प्राणियों के बीच से हिंसा-सम्बन्ध का अत्यन्त अभाव नहीं हो जाता।

इस भांति अहिंसा वीर का ही धर्म हो सकता है। अहिंसक तो लाचार है कि वह हिंसक की हिंसा में बाधा बन पहुंचे। प्रतीकार उसका पहला धर्म है।

ज्यों की त्यों स्थिति वह स्वीकार कर नहीं सकता, क्योंकि स्थिति में हिंसा गर्भित है। इससे गति का अमंदूत उसे होना ही होगा। अन्याय उससे डरेगा क्योंकि अन्यायी को उससे अभय प्राप्त होगा। डर के कारण ही तो व्यक्ति को अपने अन्याय में समर्थन प्राप्त होता है। अहिंसक उसके भीतर के समर्थन को असम्भव करके अन्याय को निराधार कर देगा। धरती नीचे से खिसक गई तो अन्याय कहां टिकेगा। मन में न हो तो अन्याय हाथ से न हो सकेगा। और अन्तर्मन तो सबके अन्तर्यामी हैं। वह अन-जगा है अनपहचान तभी तक विकार है। अहिंसक की निष्ठा उसे ही जगाना है।

अहिंसा इस तरह हिंसा से विमुखता तो अपना सकती ही नहीं। सन्मुख प्रतिकार का ही रास्ता उसका है। अहिंसा अपने में और अपनी ओर नहीं लौटती, शत्रु की ओर बढ़ती है। जिसने अपने को शत्रु माना है, अहिंसा उसी को अपना मित्र माने और बनायेगी। इससे अहिंसा कभी आत्मतुष्ट होकर नहीं बैठ सकती। वह क्षमा की ओट भी नहीं ले सकती। क्षमा में किंचित मान भाव है, द्वैतबोध है। वह प्रेम रूप ही हो सकती है, क्योंकि प्रेम में ऐक्य व्यथा है। स्पष्टतः वह निष्क्रिय तो हो सकती ही नहीं।

हिंसा का दर्प सक्रियता है। निष्क्रिय होकर जो उसके हाथों हारती है, वह अहिंसा कैसी? अहिंसा की सक्रियता अखंड अनवरत होगी। और उसकी गति विरोध की दिशा में होगी। अहिंसा कभी इस भावना से मुक्त न होगी। किस भाँति मुझसे परपक्ष को सुख और सुविधा पहुँचे। अहिंसक अपने विरोधी के आराम की चिन्ता में कभी असावधान न होगा। इसलिए वह विरोधी की सेवा में काम आने को प्यासा रहेगा। इस कर्त्तव्य में उसे छूट कहाँ और चैन कहाँ?

अहिंसा के इसी सत् स्वरूप का दर्शन हमें उस संत ने दिया। जिसको मैंने पहिले आत्मिक गुरुत्वा-कर्षण कहा, वह यही अहिंसा है। इसमें स्वयम् कष्ट सहन द्वारा हिंसक को हिंसा की व्याधि से छुट-कारा दिलाना होता है। शत्रु को मिटाना नहीं, उसको मित्र बनाना है। व्यक्ति में शत्रुता का भाव विकार के कारण आता है। व्यक्ति का अंतरंग भाव तो मैत्री है। उसको वही अपना अंतर्भाव प्राप्त करना है। किसी भूल या भ्रम या प्रमाद वश शत्रुता को उसने अपनाया है। विरोध में स्वयम् शत्रु भाव को अपना कर तो उसके उस विकार को दूर किया नहीं जा सकता। अपने सच्चे स्वभाव को अपनाकर ही उसमें एकीभाव लाया जा सकता है। उसके भीतर क्या हृदय और आत्मा नहीं है? ईश्वर नहीं है? उस सबके घटघट में बास करने वाले में विश्वास रखकर ही मैं उसमें के विरोधभाव को मिटा सकता हूँ। उस ईश-निष्ठा को लेकर राह में जो संकट आयें, स्वीकार करता हुआ विरोधी की ओर बढ़ा चलूँ। अधिक से अधिक मौत ही तो मुझे मिलेगी। पर मौत में क्या धरा है? वह तो मिलनी ही है। ऐसे वह मिली तो मृत्यु स्वयम् धन्य होगी। अन्त में वह एक दिन देखेगा कि उसकी शत्रुता भ्रम थी। और तब गहन पश्चाताप के आँसुओं में जिस वस्तु को जन्म प्राप्त होगा, वह राह की सब यातनाओं और मृत्युओं को सार्थक कर देगा।

हिंसा को जो इतना असत् नहीं मान सकती कि हिंसक के भीतर भी अहिंसा के होने में विश्वास रखे, वह अहिंसा को श्रद्धा कैसी? अहिंसक तो मानेगा कि जो सब कहीं है सो उसमें भी है। अपनी अहिंसा की सुलग से उसको जगा देना है। तब विकार मिट जायगा और स्वास्थ्य चमक आयगा। ऐसे शत्रु मित्र बनेगा।

दूसरा तरीका जो शत्रुता को नहीं शत्रु को मिटाने चलता है, शत्रुता और शत्रु दोनों को गुणित ही कर छोड़ता है।

मानव-जाति चलते चलते इसी पहचान की ओर आ रही है। यह पहचान बुद्धि से नहीं बनी। अनुभूति में से आई है। मनुष्य की बुद्धि ने बहुत चमत्कार दिखाया है। आज हमारे पास ज्ञान-विज्ञान

का विपुल भंडार उसी की देन है। इतिहास की गत शताब्दियां बुद्धि की सम्भावनाओं के प्रमाण से जगमग हैं। पृथ्वी मनुष्य को आज गेंद बन गई है। महायोजनों का विस्तार वह क्षण में पार कर लेता है। इस छोर बैठा दुनिया के उस छोर से ऐसे बात करता है कि दोनों आमने-सामने हों; कोई अन्तर उसके लिये अन्तर नहीं रह गया है। राष्ट्र और जाति की खाई को पार कर मनुष्य अपना व्यापार चला रहा है। एक देश के अभाव में दूसरे देश की स्वतन्त्रता आज सहज काम आती है। व्यक्ति प्रकृति के प्रति आज असहाय अनुभव नहीं करता। भीमोद्योगों में से व्यक्ति अपनी परस्परावलंबिता पहचान आया है। नित्य प्रति महा-मानव-समुद्र का संतरण हो रहा है और मानव-जाति की अखंडता कविता की नहीं योजना की वस्तु आ बनी है। बुद्धि ने हमें क्षुद्र से विशद् बनाया है।

मैं उस परम विभूतिमय मानव-मेधा का अभिनन्दन करता हूँ। सब से अधिक इसलिए कि आज अंत में उसने अपनी अपर्याप्तता को हमारे निकट ला पकड़ाया है। यह उसकी सब से बड़ी सफलता है। इससे बड़ी देन उसकी और कोई नहीं हो सकती। आज इस महोत्सर्ग की उद्यतता उसमें देखता हूँ। आज मानव-मेधा अच्छी तरह इस तत्व को पा गई है कि वह बहुत कुछ हो, पर सब कुछ नहीं है। बुद्धि में पहिले स्पर्धा थी। अब वह भर आई है और उसमें आकुलता है। उसने बहुत काल अपने हृदय से लड़ाई लड़ी और अपने पक्ष को उद्ग्रीव रखा। उसके शौर्य की गाथा से शताब्दियां मुखरित हैं। उसका प्रताप नवनवाविष्कारों से अभिनन्दित है। पर आज पक्ष सौभाग्य की बेला है। तेजस्विनी बुद्धि आज मंगलाकांक्षिणी है। अपने ही पराक्रम से सब कुछ को पराजित कर वह आज समर्थ हुई है कि विजय में अपनी पराजय स्वीकार कर सके। चारों ओर इसके लक्षण देख रहा हूँ। प्रागल्भ्य ने संभ्रम को अवकाश दिया है। वयः संधि का अवसर आया है। आंचल मस्तक पर लिए आज वह रह-रह कर नतमुख दीख आ रही है।

वयः प्राप्त होकर अब वह परिणीता होगी। उद्धत कैशोर्य अब उसका बीतने को है। एक कुण्ठिता उसमें समा रही है। करने और जानने के अभिमान में सदर्प अब वह नहीं, पाने की प्रतीक्षा और अभिलाषा में सलज है। आज शील उसकी शोभा है।

मैं मानता हूँ कि मानव-मेधा अपने मौग्ध्य के अध्याय को पारकर अब दायित्वमय परिणीत जीवन में पग रखने योग्य है। अब कविता के उसकी वास्तविकता बनने का समय है। जीवन में उसके चिर प्रतीक्षित मंगल-पर्व आ पहुँचा है। उसके स्वयम्वर के समारोह की तैयारी चारों ओर देख पाता हूँ।

अहिंसा की जय यात्रा का यहां से मैं कूँच मानता हूँ। यों तो विश्व उसकी ही ताल पर चलता रहा है। पर अब मानवता विवेक पूर्वक अहिंसा के हाथ अपनी बागडोर देकर चलने वाली है।

११

आज वहाँ गया था। गया तो करुणा और एक और आश्रमवासी उनके पास बैठे थे। मुझे आया देखकर बोले, "यह लो, तुम तो ख़ासे भले चले आ रहे हो! मैं डरने लगा था कि—लेकिन अभी बैठना होगा।"

कहकर उन्होंने आश्रमवासी से अपनी बात जारी रखी। उन्हें किसी कृषि-प्रयोगशाला में भेजा जा रहा था। वहाँ से क्या क्या कुछ सीख समझकर आना होगा, सो बारीकी से बतलाया। कहा "देखो, मुद्रा तो अब कुछ दिन से धन हुआ है। सो भी काम चलाऊ। गोधन सनातन है और सत्य। गौ को माता हमने भावुकता में नहीं माना है। भारत के लिये तो वह माँ से कम है ही नहीं। गौ-रक्षा स्वराज्य या मोक्ष के प्रश्न से अलग नहीं है।......जो काम हाथ में हो, उस वक्त के लिये वही स्वधर्म की मर्यादा बनता है। स्वधर्म पालन में ही सिद्धि है। पर-धर्म

में कामना नहीं रक्खी जा सकती। यह न सोचना कि गौ-सेवा में होकर देश-सेवा या मानव-सेवा में तुम नहीं रह जाते हो। हाँ आन्दोलन में तो नहीं ही हो। आज अपनी गौशाला की हालत देखकर मैं दंग रह गया। अपना ही प्रमाद मैं तो कहूँ। प्रमाद पाप का मूल है। गौशाला हमारे स्वाध्याय-मन्दिर जैसी स्वच्छ रहनी चाहिए। हमें उस बारे में बहुत सीखना है। पश्चिम के लोग ऐसी दुरवस्था नहीं सह सकते। हम आत्मवादी कैसे कि इन प्राथमिक बातों में चूकते हैं। तीन महीने में तुम लौट आओगे। उसके बाद मैं मान तो लूं न कि उस तरफ़ से मैं बेफ़िक्र हो सकूंगा और हमारी गौशाला आदर्श होगी! तो कल प्रातः जा रहे हो। वहाँ धन जी भाई को मेरी तरह मानना। और जहाँ रहो, समझना कि आश्रम में ही हो।"

उनके जाने पर करुणा की ओर देखकर वह खिलखिलाकर हँसे, बोले, "अब तुम करुणा: लेकिन कैसी करुणा हो कि नन्दिनी बीमार हो गयी!" इसके बाद जाने क्या-क्या बताया। तेल के बारे में उसके प्रयोग के समय, विधि और स्थान के बारे में; फिर खाने को कब, कितना, क्या दिया जायगा, इत्यादि। अनन्तर कहा, "चौपायों के हाथ नहीं हैं इससे हम उनके हाथ हैं, यह समझना चाहिये। आदमी की सेवा में तो हमसे चूक भी बने, क्योंकि हाथ रखकर वह तो भी अपनी सेवा लायक़ रहता है। पर पशु पालतू होकर एकदम परवश यानी हमारे आसरे हैं। इससे⋯"!

"हाँ, क्यों?"

आगन्तुक ने कहा "कुछ बर्तनों में कलई की ज़रूरत रसोई वाले बतलाते हैं। लेकिन पन्द्रह रोज़ से पहिले दोबारा क़लई की ज़रूरत नहीं होनी चाहिए। यह आप कह चुके हैं। इससे पूछने आया हूँ कि क्या⋯⋯!

हँसकर पूछा, कितने बर्तनों में ज़रूरत है?"

'चालीस पचास होंगे।'

"चालीस कि पचास? कटोरियाँ ही अधिक होंगी।"

"हाँ, कटोरियां ही ज़्यादा हैं। ठीक तो नहीं कह सकता, पचासेक बर्तन होंगे।"

'पचासेक नहीं, ठीक जानना चाहिये। अच्छा सबसे ज़्यादा ख़राब दो-एक कटोरियां देखें तो?"

कटोरियाँ आईं और उनको अच्छी तरह देखा। बोले, "अगले इतवार को पन्द्रह दिन होते हैं, क़लई तब सही। उस समय मुझे बुला लेना।"

वह चला गया तो करुणा से बोले, "तो हाँ, तुम कभी करुणा निकलीं। यह बताओ कि तुम्हें छुट्टी चाहिए?"

करुणा ने नीचा करके ज़ोर से सिर हिलाया। यानी नहीं, बिलकुल नहीं।

हँसकर बोले, "करुणा, गौ को साध सकोगी तो पति को साधने में भी दिक़्क़त नहीं होगी। पति के सींग तक नहीं होते। कुछ वहाँ की ख़बर सुनी है?"

करुणा ने झुका सिर फिर हिला दिया। यानी कि नहीं।

बोले, "नहीं कहती हो, पर मेरे पास तो ख़बर है। मुझे दिल्ली में मिला था। वह तो पछताता है। अब तुम कहो। छुट्टी चाहिये?"

करुणा ने सिर के द्वारा ही जतलाया कि कितना तो कहा, नहीं-नहीं-नहीं चाहिये।

हँसकर बोले, "मूड़ी हिलाकर तो कहती हो कि नहीं। फिर भला नन्दिनी क्यों बीमार है? बीमार है तब तक तुम्हें छुट्टी भी कहाँ है?"

करुणा ने कहा, "मैं वहां नहीं जाऊँगी, यहीं रहूंगी।"

वह हँसे, बोले, "इतना डर!"

"डर नहीं, मुझे घर अच्छा नहीं लगता।"

बहुत हँसकर उन्होंने कहा, "अच्छा-अच्छा गप, कड़वा-कड़वा थू—सो यहाँ नहीं चलता भाई। जो मिले प्रभुप्रसाद में यहां तो वही ले लेना होता है। आश्रम तो सराय है बेटी, यह किसी का घर नहीं

जानना चाहिये। सराय न कहो, शाला कहो, बात एक ही है। कोई सुना है जो स्कूल-कॉलेज में पढ़ता ही जाना चाहता है, उसे छोड़ना नहीं चाहता? देखती नहीं कि पढ़ाई इसीलिये है कि काम आये। नीरोग हुए कि अस्पताल से भागे। यह भी अस्पताल जानो। स्वास्थ खोकर कोई यहां आये तो वापिस पाकर उसे चल भी देना चाहिए। अस्पताल में घर बनाकर बैठे उसे तो मरण का रोगी जानो। समझीं? नन्दिनी को भली-चंगी कर दो, कि फिर तुम्हारी छुट्टी।"

करुणा ने मुंह नीचे रखकर कहा, "नहीं, मैं नहीं जाऊँगी।"

बोले, "अच्छा, वह देखा जायगा। पर यहां से तो अभी जा ही सकती हो।"

वह भी चली गई तो मुझे कहा, "देखा न? लेकिन अब कहो—"

बैठे मुझे आधा घण्टा तो हो गया होगा। सोच रहा था कि आश्रम के लोग हैं कि न-कुछ बातों के लिये इन्हें तंग किया करते हैं। पर उन्हें तो पीछे कहूँ। पहले यह खुद महात्मा कैसे हैं कि छोटी-मोटी बातें अपने पर से टाल नहीं देते हैं। कहा, "आप ऐसी तुच्छ बातों को भी अपने ऊपर क्यों आने देते हैं? आपके समय पर सब का हक़ है। यह आपके आश्रमवासी न समझें, पर आप उनकी कम समझी में अपनी ओर से मदद क्यों देते हैं?"

बोले, "छोटी बात किसे कहते हो, भाई?"

"जैसे—यही बर्तनों की क़लई की बात।"

"लेकिन उसका तो स्वास्थ्य से सम्बन्ध है और स्वास्थ्य छोटी चीज़ नहीं है।"

मैंने कहा, "वह है, पर आप मेरी बात समझते ही हैं।"

बोले, समझता हूं इसी से कहता हूँ कि छोटा कुछ नहीं है, भाई। दुनिया मेरे आसरे नहीं है। पर आश्रम के लोगों ने तो मेरा ही आसरा थामा है। आश्रम संभाल सका तो दुनिया संभल गई मैं मान लूंगा। इसे बिसार कर दुनियां पकड़ने चला तो दोनों जायेंगे और साथ मैं भी डूबूंगा। छोटा-बड़ा जो कहते हो वह दृष्टि-दोष है। बड़े से बड़े व्यापार की यहाँ क्या गिनती? परमेश्वर की अनन्तता में भला बड़ा क्या? और छोटा भी यहां कुछ नहीं है। क्योंकि छोटे से छोटे में भी वह है। इससे छोटा-बड़ा ठहरा दृष्टि का भ्रम सामग्री से कहीं पूजा तुलती है? पुजापा नहीं पूजन ही सत्य है। इससे काम छोटे से छोटा हो, उसमें असावधानता नहीं बरती जा सकती। प्रभु-प्रीत्यर्थ जिसका कर्म है, वह टालेगा कुछ नहीं। सब एक सी प्रीति और अप्रमाद से करेगा।"

"लेकिन", मैंने कहा, "आश्रमवासी शेष के प्रति आपके सुलभ होने में ऐसे तो अन्तराय भी हो जाते हैं।"

बोले, 'हां। पर शरीर भी तो अन्तराय है। लेकिन उसको लेकर ही जीना होता है। ये जो यहाँ इतने सब लोग घिर आये हैं, उन्हें अपने से तोड़ किस बूते पर दूं? तुम नहीं जानते, पर वे असहाय हैं।"

लेकिन, मैंने कहा, "आपका प्रश्रय उनकी असहायता को निविड़ करता है। आपकी पूँजी पर दुनिया में वे अपने को कब तक चलायेंगे?"

बोले, "नहीं चला पायेंगे, इसी से उन्हें मालूम हो जायगा कि पूँजी तो अपनी ही चाहिये। तभी मुझे डर नहीं है। जगत बुद्धि में मुझे विश्वास है। मैं जानता हूं कि झूठी पूँजी झूठ को ही ठग सकती है। इसलिये उस बारे में ज़रूरत से अधिक सावधान रहने को मुझे नहीं कह सकते।"

"पर" मैंने कहा, "विशिष्ट पुरुषों के पीछे सम्प्रदाय बने हैं। फिर जिस सत्य की साधना उन आदि पुरुषों ने की सम्प्रदाय उसी को चुकाने और भुलाने लग जाते हैं। समूचे इतिहास में यह दीखता है।"

दुहिता

श्री "करील"

१

हृदय देश की सुन्दरतम छवि विपुल स्नेह सौभाग्य भरी तू ।
कविता कल्पलता की कोमल कलिका स्वर्ण - पराग भरी तू ॥
तू शैशव की मधुर माधुरी यौवन की पावन परिभाषा ।
तुझसे तो विकसित होती है मानवता की मृदु अभिलाषा ॥
कर्मों की दारुण गति - विधि में गूंज सरस गीता - सी जा री ।
मानस की मंजुल मिथिला में सीता - सी तू खेल दुलारी ॥

२

आज निपट संकीर्ण विश्व में वैभवराशि बिछाती जा तू ।
जावन की मंगल बेला में ऊषा - सी मुसकाती आ तू ॥
कलित कल्पना के आँगन में ललित लवंग लता - सी छाजा ।
आज हृदय की इस वसुधा में दुर्लभ दिव्य सुधा बरसा जा ॥
तू सुख की सम्पूर्ण साधना जीवन के पथ की कल्याणी ।
तू छवि की आखों की माया तू कवि के छंदो की वाणी ।

३

मूर्तिमती तू मंगलमूला ममता की साकार साधना ।
दग्ध तथा संतप्त हृदय की तू कलकीली शुभाराधना ॥
तपोमग्न तू दिव्य देश की उमा विश्व - विश्रुत सुख - सभा ।
लोक - लोचनों की शीतलता पुण्य - पयोनिधि की तू पद्मा ॥
आज भावनाओं के भव में मधुर रागिनी - सी लहरा जा ।
आजा इन पीड़ित आखों में बनकर जीवन ज्योति समाजा ॥

४

खेल रही तेरे मानस में भव की वत्सलता अभिरामा ।
तुझमें झलक रही जीवन की स्नेह - सम्पदा लोक - ललामा ॥

विश्व - प्रपंचों में तू लगती राका - रजनी - सी सुखदाई ।
तेरे मुखमंडल में मंडित नव्य - अनिर्वचनीय निकाई ॥
वैभवशालिनि अमरपुरी की तू मन्दाकिनि तरल तरंगा ।
तू भूतल की ताप नाशिनी अक्षय - पुण्य - प्रसारिणि गंगा ॥

५

नवल नीरदों ने हिलमिलकर तुझ पर निज आनन्द लुटाया ।
तुझे देखकर हुई पुष्पिता कमलों की यह कंचन काया ॥
कोयल कूक कूक कर तुझको अपने मंगल गीत सुनाती ।
तुझमें वाणी के वैभव की शीतल रस - धारा लहराती ॥
वर वसंत का विभव दिखाती तुझे प्रकृति सुन्दरी प्रवीणा ।
तुझ पर स्वर्ग - सुधा बरसाती विहगों की मृदु - मादक - वीणा ॥

६

माता की मृदु दया मया तू और पिता की जीवन लीला ।
बनी बंधुओं के उर तक की स्नेह - वल्लरी तू छविशीला ॥
तू मानस - मंदिर की शोभा तू घर के आँगर की माया ।
तेरी पावन मंजुलता में त्रिभुवन का शृङ्गार समाया ॥
फूल - फूल कविता कानन की कामद - कल्पलता मतवाली ।
झूल - झूल आखों के आगे सरस कल्पना की हरियाली ॥
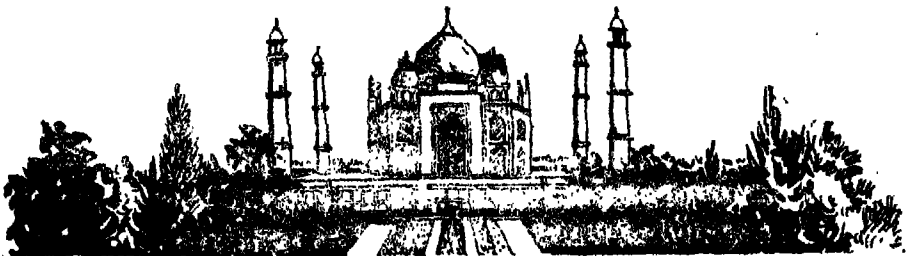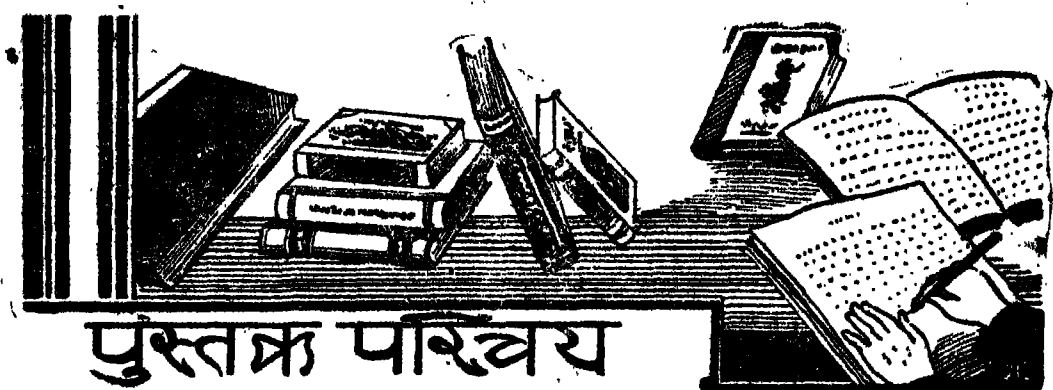
'हंस'—प्रगति अंक १. २. ३.—सम्पादक, श्री अमृतराय। भाग १ मूल्य २) भाग २ मूल्य १) भाग ३ मूल्य ।।), वार्षिक मूल्य ६), सरस्वती-प्रेस, बनारस।

१९३४ से हमारे साहित्य में प्रगतिवाद की चर्चा शुरू हुई। १९३६ में इस चर्चा को रूप मिला, और फिर प्रगतिवाद की एक धारा ही साहित्य में चल पड़ी। 'हंस' शुरू से ही प्रगतिवाद का हामी रहा है। पर उसके पुराने प्रगतिवाद और नये प्रगतिवाद में फ़रक भी है। श्री शिवदान सिंह जी चौहान के 'हंस' में आने पर प्रगतिवाद ने एक दूसरा रूप धारण किया। प्रस्तुत तीनों अङ्क प्रगतिवादी साहित्य का अपने ढङ्ग से मार्जन करते हैं।

प्रगतिवाद ग़रीबों, शोषितों—किसानों और मज़दूरों—की भावनाओं, उनके दुख, दैन्य और फिर विद्रोह को साहित्य में लाना चाहता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है, अब तक का साहित्य जन-गण और मनव-संस्कृति की बुनियाद रखने वाले ग़रीब मज़दूर-किसानों की उपेक्षा करता था और प्रगतिवाद उन उपेक्षितों को साहित्य में प्रमुख स्थान देकर साहित्य को सम्पूर्ण मानव-समाज का बनाना चाहता है। प्रगतिवाद के इस असूल को सभी साहित्यकार श्रद्धा की नज़र से देखेंगे। पर इसके अलावा भी कुछ ऐसी बातें प्रगतिवाद में आ घुसी हैं, जिन पर बहुत विवाद है। जैसे नारी। प्रगतिवादी साहित्यकार यथार्थ के नाम पर, लेकिन दिशा बदल कर नारी को उसी नज़र से देख रहे हैं, जिस नज़र से बिहारी आदि ने देखा है। मज़दूर औरत काम में पिसकर अपने बच्चे को ठीक से पाल नहीं पाती, प्यार नहीं कर पाती, अपने पति के साथ उचित व्यवहार नहीं कर पाती गुंडे बदमाशों के जाल में लाचारी दर्जा फंस जाती है, आदि बातों की ओर प्रगतिवादियों का उतना ध्यान नहीं गया है, जितना उनके 'यौवन' 'कच्ची नासपाती', (मास्को) तथा और भी ऐसी ही बातों की ओर। इस दिशा में प्रगतिवादी बीसवीं शताब्दी में हैं, अथवा सामन्ती समाज के अन्तिम गुप्त-काल (छठवीं शताब्दी) में; यह कहना कठिन है। प्रगतिवादी साहित्य के विद्रोह का आधार समाज-भावना है, समाज है अथवा 'मुक्त यौन व्यापार' यह कहना कठिन है। कुछ प्रगतिवादी अपने विद्रोह की उफान में सतीत्व को पूंजीवादी युग की देन मान कर तोड़ते हैं; पर बेचारों को इतिहास से क्या वास्ता जो वह जान पावें कि सतीत्व पूंजीवादी प्रथा नहीं, सामन्त युग की देन है और इसका चरम विकास गुप्त-युग में हुआ है। उसी तरह मुक्त-यौन-व्यापार बूर्जुआ युग की चीज़ है, जिसका मजदूर-किसान समाज से मेल नहीं हो सकता। यौन-व्यापार का फल बच्चा; और बच्चे का सम्बन्ध समाज से है और इसीलिये यौन-व्यापार पर नियन्त्रण (संयम) समाज हित की भावना है, और महान लेनिन ने रूस को इसी ओर मोड़ा भी। पर इन सारी बातों की ओर या तो ये प्रगतिवादी साहित्यिक ध्यान नहीं देना चाहते, अथवा जानते ही नहीं।

ऐसे ही एक विवादास्पद प्रश्न और भी है, जिसका समाधान ज़रूरी है। प्रगति किस की? प्रगति कहाँ? यदि कोई चीज़ है ही नहीं तो प्रगति किसकी होगी? यदि वह चीज़ समाज पर न

होगी तो प्रगति होगी कहाँ ? साहित्य में प्रगति से मतलब तो यही मालूम होता है कि जिस विराट मानव-समुदाय की भावनाओं से अब तक साहित्य अछूता था: शायद इसलिये अछूता था कि उस ओर ध्यान देने से समाज की उच्च श्रेणी के हितों में बाधा थी, उस विराट मानव-समुदाय की ओर साहित्य का ध्यान जाय। यह तो हुआ वस्तुगत। और वह वस्तु साहित्य में से होकर चले, हमारे समाज के अन्दर मे विकास पाये। यह तभी सम्भव है जब हमारी कला का, हमारे साहित्य का, जहाँ तक विकास हुआ है, उसको मानकर, उसकी सृजन-शील परम्परा में से होकर, उसकी कला के उपयोगी तत्वों को स्वीकार करके—उस सबको वर्गहीन भावना से भरा जाय, वर्गहीन भावना की ओर ले जाया जाय। न कि कला की, आर्ट की उपेक्षा करके ! अथवा उसको अपनी समाज-भावना से अलग करके !

'हंस' के प्रगति अंकों में इन बातों की ओर ध्यान जाना चाहिये था। पर उसकी शिकायत रह ही गई। इस अङ्क में श्री नरेन्द्र शर्मा का लेख अपने में ठीक है। श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त का विश्लेषण भी समझ में आने लायक है। पर डा० रामविलास शर्मा की बात समझ में नहीं आती। यदि "भाषा में अत्यधिक मिठास की खोज सामाजिक ह्रास का चिन्ह है।" तो अश्वघोष को हम क्या कहें ? उपनिषद् और महाभारत काल के समाज को हम क्या कहें ? गोस्वामी तुलसीदास जी ने क्या अवधी को सँवारा नहीं था ? उसमें मिठास नहीं भरा था ? जल स्थिर नहीं है, मानव रुचि स्थिर नहीं है, काल स्थिर नहीं है, और भाषा भी स्थिर नहीं है। भाषा साहित्य का वाहन है, एक काल से दूसरे काल में उसके अन्दर रूपान्तर होगा ही। उसकी व्यञ्जना में कुछ फ़रक़ होगा ही। पर इसका अर्थ यह तो नहीं कि 'भाषा में मिठास खोजना पतन का चिन्ह है'। आलोचक जोश के साथ होश भी ठिकाने रख सके, तभी वह सही बात सही ढंग से कहकर गाली देने से बच सकता है—शायद इसे डा० शर्मा नहीं मानते। "प्रगति-शील हिन्दी साहित्य" का आधा अंश ठीक है; पर बाक़ी आधे में डा० शर्मा ऐतिहासिक का आसन छोड़कर पार्टीबाजी और प्रोपेगैंडा में कूद पड़े हैं। मध्यकालीन समाज में सामाजिक विश्लेषण के आधार पर, साम्यवादी दृष्टिकोण से देखने पर अपने समय में कबीर ही प्रगतिशील हैं। गोस्वामी तुलसी-दास जी परम्परागत ब्राह्मणवाद के सबसे बड़े समर्थक और समाज को श्रेणी-संघर्ष के सनातन तथा स्थिति-शील नियमों मे जकड़ने वाले हैं—और यदि उन्होंने शैव-वैष्णव विवाद मिटाने में किसी की सेवा है, तो सामन्तों, मठाधीशों तथा उच्च श्रेणी के लोगों की। पर हंस का पहला अङ्क तुलसीदास जी को ही प्रगतिशील बताता है। पता नहीं प्रगतिशील बन्धुओं की प्रगतिशील ऐतिहासिक दृष्टिकोण से क्यों दुश्मनी है ?

डा० दत्त का लेख गम्भीर, प्रामाणिक और तर्कपूर्ण है। उस लेख को टार्च बनाकर प्रगतिशील लेखक भारतीय साहित्य का शोध कर सकते हैं। किस तरह सामन्त युग के शुरू तक मेहनतकश (शिल्पियों) की इज़्ज़त थी और किस तरह गुप्त युग में हाथ से काम करना छोटा मानकर शिल्पियों को शूद्र श्रेणी में डाला गया। यदि इसे अध्ययन के बल पर ये प्रगति-वादी जान जाँय, तो देश का यथार्थ में कल्याण कर सकते हैं। पर उसके लिए अपनी व्यक्तिगत रुचि-संकीर्णता और विकृत काम विकार पर संयम ज़रूरी है; अपनी व्यक्तिकेन्द्रिकता से ऊपर उठना जरूरी है।

'हंस' ने ३५४ पेज़ों में प्रगतिवाद के ४८ ख्याति प्राप्त लेखकों के विचार एक जगह रखकर साहित्य की इस धारा पर सोचने-विचारने के लिए काफ़ी सामग्री इकट्ठी कर दी है। हिन्दी साहित्य के अन्दर प्रगतिवाद अभी बनने के क्रम में है। जो कुछ इसके नाम पर आता है, उसके अन्दर न सभी प्रमाणिक है न ग्राह्य है और न सभी त्याज्य। पर उसकी तीव्रता में विद्रोह की जो भावना है, वह साहित्यिक स्वर्ग को आसमान से खींचकर ठोस ज़मीन पर लायेगी, इसमें सन्देह नहीं।—विनोद

श्री केला जी की पुस्तकें

१—हिन्दी में अर्थशास्त्र और राजनीतिक साहित्य, लेखक, श्री दयाशंकर दुबे और श्री भगवानदास केला। पेज १६०। मूल्य ॥) पता—भारतीय ग्रन्थ माला, वृन्दावन।

हिन्दी भाषा में अर्थशास्त्र और राजनीति पर १९३५ तक जो ग्रन्थ लिखे गये या अनुवादित हुए उन सभी की सूची, संक्षिप्त परिचय के साथ, इस किताब में है। इस किताब के सहारे एक जगह बैठे बैठाए हिन्दी के राजनीतिक और अर्थशास्त्रीय साहित्य का पता और परिचय पाया जा सकता है। इस दृष्टि से यह किताब बहुत उपयोगी है; और किताब के लिखने में मेहनत करने वाले व्यक्ति हमारी प्रशंसा के पात्र हैं। यह किताब अपने विषय के खोजियों के लिए तो विशेष काम की चीज़ है।

२—अर्थशास्त्र शब्दावली—लेखक—सर्व श्री दयाशंकर दुबे, गदाधर प्रसाद अम्बष्ट और भगवान दास केला। दूसरा संस्करण, मूल्य १) पता—भारतीय ग्रन्थ माला, वृन्दावन।

प्रस्तुत पुस्तक में अर्थशास्त्र सम्बन्धी अंग्रेज़ी शब्दों के हिन्दी रूप हैं। कहीं कहीं कोष्टों में उनको साफ़ भी किया गया है। अंग्रेज़ी शब्दों के हिन्दी रूप संस्कृतप्रधान नहीं हैं। अनुवादपन का बोझ भी नहीं है। मुहावरे का भी ख्याल किया गया है। २०×३० डबल क्राउन किताब के १९५ पेजों में अर्थशास्त्र से सम्बन्धित और व्यवहार में आने लायक प्रायः सभी शब्द आ गये हैं। यह किताब अर्थशास्त्र से सम्बन्धित ग्रन्थों के अनुवादकों, लेखकों और वक्ताओं के बड़े काम की चीज़ है।—विनोद

३—ब्रिटिश साम्राज्य शासन—लेखक प्रयाग विश्वविद्यालय के अर्थ शास्त्र अध्यापक श्री दयाशंकर दुबे और श्री भगवानदास जी केला, पृष्ठ संख्या १५० मूल्य १)

४—हमारी राष्ट्रीय समस्यायें—लेखक श्री केला जी। पृष्ठ संख्या १४० मूल्य ||।=) प्रकाशक—व्यवस्थापक भारतीय ग्रन्थ-माला, वृन्दावन।

ये पुस्तकें भी इसी साल प्रकाशित हुई हैं और हमें और पुस्तकों के साथ समालोचनार्थ मिली हैं। हिन्दी में अभी इन विषयों पर अधिक पुस्तकें हैं ही नहीं। केला जी ही इस क्षेत्र में प्रायः दो युगों—चौबीस साल—से अपनी धूनी रमाये औरों के लिए रास्ता तैयार करते आ रहे हैं। 'ब्रिटिश साम्राज्य शासन' का पहला संस्करण उन्होंने चौदह साल पहले प्रकाशित किया था और उनकी यह शिकायत ठीक है कि हम लोग अभी तक इन विषयों की ओर—जिनसे वास्तव में हमारी ज़िन्दगी और मौत के पहलुओं पर प्रकाश पड़ता है—बेहद ला परवाह हैं। हमारे एक एक सूबे की आबादी से भी कहीं कम आबादीवाले आस्ट्रेलिया, केनेडा और दक्षिणी अफ़रीका हमसे क्यों इतना आगे बढ़े हुए हैं? हमसे गेहूँ, काग़ज़ आदि भेजने की प्रार्थना करने को मजबूर होने की ही बात नहीं, तरह तरह से अपमानित होने का कितना दुःख हमें सहना पड़ रहा है! अच्छा होता यदि केला जी ने केनेडा की आबादी और उसकी स्वराज्य पद्धति पर तथा दक्षिण अफ़रीका में हिन्दुस्तानियों की दुर्दशा पर कुछ और अधिक लिखा होता। किस तरह उन लोगों में जो अपने ईसाई धर्म की रक्षा और स्वतन्त्रता के लिए अमरीका भाग गये थे। अमरीका के सचमुच स्वतन्त्र हो जाने पर ऐसे लोग भी निकले जो अपनी 'राज भक्ति' प्रमाणित करने को केनेडा चले आये इस पर और उनके यहां जो कई राजनैतिक समस्यायें हमारे देश की समस्याओं की सी ही हैं, उन पर लिखना आवश्यक है। पिछले दो ढाई सौ वर्षों में एक छोटे से टापू इंग्लैण्ड ने अपना इतना अधिक साम्राज्य फैला लिया और इसी बीच इस मुल्क हिन्दुस्तान ने अपना विश्व-व्यापी वैभव खो दिया! क्या यह हमारी उपेक्षा का विषय है? क्या हमें ऐसी पुस्तकों की ऐसी अवहेलना करनी चाहिये?

'हमारी राष्ट्रीय समस्यायें' में तेरह विषयों पर लिखा गया है—जिनमें मुख्य हैं—राष्ट्रीयता के साधन, राष्ट्रबल, संगठन, शिक्षा और साहित्य, एकता तथा

स्वाधीनता। परिशिष्ट में—'हिन्दुस्तान किसका ?' शीर्षक लेख इस संस्करण में बढ़ा दिया गया है। यह बहुत अच्छा लेख है। फिर भी केला जी के यह लिखने पर कि 'हिन्दुस्तान उन्हीं लोगों का होगा जो खुद ऊंचे वर्ण या जाति के होकर दूसरों को नीच मानने वाले न हों, स्वयं राजा, पूंजीपति, या ज़मीन्दार होकर दूसरों को दीन और दरिद्र बनाने वाले न हों।' बहुत से विद्वानों और देशभक्तों को आपत्ति हो सकती है, क्योंकि इसके आगे ही उन्होंने कहा है 'हम किसी वर्ग का विलुप्त होना तभी चाहते हैं जब वह दूसरों को विनष्ट करने में लगा हो।' और इस समय जो वास्तविक अवस्था है वह उन्हें ऐसे विनष्टिकारक कार्यों को अवश्य दिखला रही होगी।—वि० वर्मा

पोर्तुगीज़ पूर्व अफ्रीका में हिन्दुस्तानी—लेखक श्री ब्रह्मदत्त भवानी दयाल। प्रवासी-भवन, अजमेर।

प्रस्तुत पुस्तक में पोर्तुगीज़ पूर्व अफ्रीका के हिन्दुस्तानियों के रहन सहन और विचारों का विस्तृत परिचय है। और यह लिखने वाले कोई यात्री नहीं हैं, वहीं के निवासी हैं; इसलिए इस किताब का एक ऐतिहासिक मूल्य भी है। सामाजिक दृष्टि से विचार करने वालों के लिए भी इसमें कुछ मसाला मिल सकता है। कौन सामाजिक नियम वहाँ की परिस्थिति में हिन्दुस्तानियों के अपनेपन की रक्षा कर सकता है; और उसका वहां क्या व्यावहारिक रूप है, यह इस किताब से जाना जा सकता है। पर ऐसा लगता है कि लेखक को सिर्फ़ वहां के हिन्दुओं की ही ज़्यादा जानकारी है; मुसलमानों की जानकारी कम है। अच्छा तो यह होता कि दोनों क़ौमों की अच्छी जानकारी इस किताब में होती। संभव हो तो, अगले संस्करण में ऐसा कर दिया जावे।

प्रस्तुत पुस्तक भारतीय राजनीति में दिलचस्पी रखने वालों को ज़रूर पढ़नी चाहिये।—विनोद

फलाहार चिकित्सा—लेखक, कविराज महेन्द्रनाथ पाण्डेय, आयुर्वेदविशारद—पृष्ठ संख्या २०९ सजिल्द। मूल्य २।) प्रकाशक—महेन्द्र रसायनशाला, कटरा, इलाहाबाद।

यह पुस्तक दो साल से 'लिखकर रखी थी।' अतः 'समय समय पर बराबर इस पुस्तक में सुधार करने' का सुभीता लेखक को प्राप्त हो गया। इसी से इस विषय पर निकली हुई अन्य पुस्तकों से यह कहीं बढ़ी-चढ़ी हो सकी है। 'कौन फल किस के साथ खाँय', 'फलों के कल्प' गूदेदार और रसदार फलों पर विस्तृत विवरण और 'रोग निवारण में फलों के उपयोग' इसपुस्तक की विशेषतायें है। वैसे अभी फलों पर बहुत खोज जारी है और केवल चिकित्सा की ही दृष्टि से नहीं बल्कि औद्योगिक दृष्टि से भी इन पर लिखा जाना चाहिए। अनेक फलों से इस औद्योगिक युग में तरह तरह से न जाने कितने व्यवसाय किये जा सकते हैं। ज़रूरत है कि ऐसे व्यवसायों का रहस्य साधारण लोगों तक पहुँचा दिया जावे; नहीं तो इन पर भी विदेशियों की शनिश्चरी दृष्टि पड़ रही है और वे हमारी असहाय अवस्था का लाभ उठाकर सहज ही अपने ढंग से हमीं को काम में लाकर मनमाना लाभ उठायेंगे तथा इस देश के अनेक फलों को भी उठा ले जावेंगे—फलों की तो 'राशनिंग' की भी ज़रूरत न होगी। प्राकृतिक चिकित्सा का फलाहार चिकित्सा एक विशेष अंग है। प्रयाग में प्राकृतिक चिकित्सा के कई विशेषज्ञ मौजूद हैं। पांडेय जी को उनका पूरा सहयोग प्राप्त है। वे अपना सम्पूर्ण समय चिकित्सा की खोजों में ही लगा रहे हैं। फलतः डाक्टर सत्यप्रकाश जी ने जो बधाई इस रचना पर उन्हें दी है उसके वे सर्वथा अधिकारी हैं। लोगों को पुस्तक अपनानी चाहिए।

—वि० वर्मा

लड़ाई का हाल

उत्तरी अफ़रीका की लड़ाई में पूरे छः मास लग गये और सिसली टापू की लड़ाई अड़तीस दिनों में ख़तम हो पाई। चर्चिल साहब ने रूज़वेल्ट से मिल कर आगे की तैयारी के लिए निर्णय करना आवश्यक समझा और वे इसके लिए इङ्गलैण्ड से रवाना हो गये।

क्विबेक में विगत ११ अगस्त से चर्चिल और राष्ट्रपति रूजवेल्ट तथा दोनों देशों के सैनिक विशेषज्ञों का जो सम्मेलन शुरू हुआ वह गत २५ अगस्त को समाप्त हो गया।

मार्शल चांगकाई शेक के प्रतिनिधि के रूप में श्री टी० वी० सुंग सम्मेलन के विचार-विमर्श में सम्मिलित रहे।

'इस सम्मेलन का प्रधान उद्देश्य जापान के विरुद्ध युद्ध संचालित करने तथा चीन को अधिकाधिक मदद पहुँचा सकने के सम्बन्ध में विचार करना था। इस सम्मेलन में यह भी विचार किया गया कि इस वर्ष के अन्त होने के पहले ब्रिटेन, अमेरिका और रूस के प्रतिनिधियों का एक त्रिराष्ट्र-शक्ति सम्मेलन किया जाय। इसके सिवा यह भी निश्चय किया गया है कि अब जैसे जैसे ब्रिटेन और अमेरिका के युद्ध-प्रयत्न गम्भीरतर एवं विस्तृत होते जायेंगे वैसे वैसे साथी मुल्कों के नेता अपेक्षाकृत थोड़ी थोड़ी अवधि के बाद मिला करेंगे। जहां तक जर्मनी और इटली के साथ युद्ध का सम्बन्ध है, सोवियट रूस को उसकी पूरी रिपोर्ट दी जाती रहेगी। वाशिंगटन के कूटनीतिक क्षेत्रों का कहना है कि इस सम्मेलन में जापान के विरुद्ध युद्ध के सम्बन्ध में विचार-विनिमय का होना इस बात का काफ़ी संकेत है कि रूस इसमें क्यों नहीं शामिल हुआ।'

रूस न तो मित्र राष्ट्रों के लड़ाई के ढङ्ग से संतुष्ट है, न उनकी शान्ति-योजना से। वह न तो अमरीका के 'अङ्तालीस राष्ट्रों के संघ' की भांति का 'युरोप के राष्ट्रों का संघ' पसन्द करता है और न युरोप में उस प्रकार के विभाग ही जैसे इङ्गलैण्ड चाहता है। इन विभागों से उसकी पोलैंड से वैसी ही शत्रुता हो जावेगी जैसी इस लड़ाई के पहले थी। वह 'कम्यूनिज़्म' को मानते हुए गोरे और रंगीन आदि के प्रश्नों को सहन ही कैसे कर सकता है! फिर भी जब इन मत-भेदों को लेकर जरमनी यह कहता है कि उससे रूस मित्रता करने को तैयार है तो उसे कड़े से कड़ा उत्तर मिल जाता है क्योंकि जरमनी से तो उसकी जीवन-धारा और भी मेल नहीं खाती। अमरीका से रूसी राजदूत लिटविनोफ़ को हटा लेने के बाद से 'एक तूफ़ान सा उठ खड़ा हुआ है।' पर यह अपने आप शान्त हो जावेगा—विशेषकर इसलिए कि इस समय रूस से मो० मैस्की इङ्गलैंड पहुँच गये हैं और क्विबेक से मि० ईडन वहां वापस आ गये हैं और इन दोनों में जो बातचीत हो रही है उससे यह आशा की जाती है कि चर्चिल, रूज़वेल्ट और स्टैलिन में निकट-भविष्य में ही बातें हो सकेंगी।

× × ×

पहले यह ख़बर आई कि रूसी सेना खारकोव की दिशा में बढ़ती जा रही है और जर्मन फ़ौजें उसका दृढ़ मुक़ाबला करने में संलग्न हैं। फिर समाचार आया कि गत २३ अगस्त को जर्मनों ने खारकोव खाली कर दिया और लाल सेना का उस पर क़ब्ज़ा हो गया।

रूसी खारकोव की विजय का पूरा उपयोग करते हुए जर्मनों की अगली रक्षा-पंक्ति में घुस गए और उन्होंने जर्मन अधिकृत टागनरोग नगर, अज़ोव सागर तथा डोनबास के खानों के केन्द्र स्टालिननगर के रेलवे यातायातों को काट दिया।

इसके सिवा वोरोशिलवग्राड के दक्षिण-पश्चिम भी रूसियों की सफलता के कारण जर्मनों की स्थिति बिगड़ी और उनके हज़ारों हज़ार सैनिक, सैकड़ों वायु-

यान, टैंक तथा बेशुमार अन्य युद्ध-सामग्रियां बरबाद हो गईं।

अब जर्मनों ने टैगनरोग भी खाली कर दिया है। यूक्रेन तथा डोनेज की तरेटी के पास लड़ाई चरम सीमा पर है।

बरलिन में बेहद तेज़ी की बमबाज़ी के फल-स्वरूप बरलिन सरकार वहां से हट गई है। फ्रांस की ओर से सशस्त्र विरोध होने की सम्भावना को रोकने के लिए वहां के लोगों के हथियार छीन लिये जा रहे हैं। डेनमार्क में जरमनी की सेनायें घुस चुकी हैं और स्वेडन को 'तीव्र चेतावनी' दी जा चुकी है। ग्रीस में और बल्कान प्रदेश में भी जरमन सेनायें मौजूद हैं। इटली में मुसोलिनी के पतन के बाद मित्र-दल को यह आशा थी कि वहां ऐसी गवर्नमेंट क़ायम हो सकेगी, जो मित्र राष्ट्रों की शर्तें मान लें; पर अभी तक ऐसा नहीं हुआ। वहां भी जरमन फ़ौजों की ही प्रधानता हो रही है। पर दक्षिण इटली में मित्र राष्ट्रों की ओर से भारी हवाई हमले हो रहे हैं। जरमनी ने स्वेडन के मामले को लेकर स्पष्टतः कहा है कि 'यूरप में किसी राष्ट्र को वहां के अधिकांश राष्ट्रों के हित के विरुद्ध काम न करने दिया जावेगा।' सब ओर उसे हमले के ख़तरे का सामना करना पड़ रहा है।

'दक्षिण-पश्चिमी प्रशान्त स्थित मित्र राष्ट्रों की सदर मुकाम की एक विज्ञप्ति में बतलाया गया है कि अमेरिकन सेनायें निर्विरोध रूप से न्यू जार्जिया तथा वनावना के बीच स्थित अरुन्डेल द्वीप में उतर पड़ी हैं।

जनरल मैकआर्थर के सदर मुकाम से बतलाया गया है कि मित्र सेनायें सलामुआ में कुछ पीछे हटीं।' इसी तरह वहां युद्ध जारी है।

और इसी तरह चीन में जापान का युद्ध चला जाता है। बीच बीच में चुंकिंग पर बम-वर्षा भी होती रहती है। चीनी कोई न कोई जगह वापस लेते ही रहते हैं। अगर उन्हें हवाई जहाज़ों की मदद मिल सकती तो वे बहुत कुछ कर सकते। अब लंका में लार्ड मौन्टेनबैटन इसलिए आ रहे हैं कि वहां से जापानियों के विरुद्ध सामुद्रिक और हवाई युद्ध किये जा सकें। बरमा वापस लेकर और इस तरह बरमा-रोड को—जिसमें सब सामान चीन जाता है—फिर से अपने लिए खोल कर ही मित्र-राष्ट्र चीन को पूरी सहायता दे सकते है। आशा है सितम्बर मास के अन्त होने के पहले ही हमें इस क्षेत्र में कुछ न कुछ कार्य अवश्य दिखाई देगा।

'लार्ड लुई के बारे में यह भी कहा जाता है कि डीपे और पश्चिमी यूरोप के बाद अन्य स्थानों पर मारे गये छापों का नेतृत्व उन्होंने ही किया था और उन्होंने इन छापों की योजना जरमनी की शक्ति-परीक्षा के लिए की थी। इससे अनुमान किया जाता है कि भारत और लंका के सामने के तट पर रंगून से लेकर सिंगापुर तक छापे मार कर जापान की शक्ति की परीक्षा की जावेगी और जहां जापान की शक्ति कमज़ोर होगी वहीं पर हमला किया जावेगा।'

'यदि बर्मा रोड न खुली और चीन को मित्र-राष्ट्रों से पर्याप्त यात्रा में मदद न मिली तो चीन टिक सकेगा', यह विश्वास के साथ नहीं कहा जा सकता' क्योंकि वह अपने ही साधनों के बल पर ६ साल तक युद्ध करते करते थक गया है। आशा है अब उसे वह सहयोग मिल सकेगा, जिसकी उसे बेहद आवश्यकता है—विशेषतः इसलिए कि यह सभी मानते हैं कि 'जापान बड़ा ही भीषण शत्रु है। इस का कारण यह है कि आज उसके अधिकार में युद्ध आरम्भ होने की अपेक्षा बहुत अधिक साधन हैं।'

चर्चिल और रूज़वेल्ट साहब ने क्विबेक में यह भी कहा है कि पराधीन देशों के उद्धार के लिए वहाँ के लोगों का सहयोग भी आवश्यक है (backing of the people at home is equally necess-ary) अतः ज़रूरत इस बात की है कि जिस तरह अमरीका फिलीपाइन्स द्वीप को स्वतन्त्र कर देने का वादा कर चुका है, वैसे ही ब्रिटिश सरकार बरमा और भारत दोनों के प्रति करे। और भारत में इस वादे को जितना व्यावहारिक रूप दिया जा सकता है दे दें।

सम्पादकीय-विचार

वाइसराय का 'अंतिम' भाषण

चलते चलाते भी लार्ड लिन लिथगो अपने उस भाषण में, जो उन्होंने केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभाओं के संयुक्त अधिवेशन में दिया और जो उनका ऐसा अन्तिम भाषण है, बिना 'ज़हर उगले' और 'बेतुकी' बातें कहे न रह सके। अपना, और अपनी सरकार का दोष उन्होंने हिन्दुस्तान और कांग्रेस के मत्थे ही मँढ़ना चाहा। किन्तु समय की लहरें इतने आगे बढ़ चुकी हैं कि स्वयं लन्दन और अमरीका के अनेक पत्रों ने इस भाषण को 'खोखला', 'प्रतिक्रियावादी' 'व्यर्थ बातों से भरा हुआ' बतलाया। कुछ पत्रों ने तो इससे कहीं कड़े शब्दों का प्रयोग किया। कैसा अच्छा होता अगर वाइसराय सच्चे हृदय से अपना दोष स्वीकार कर लेते और इस देश के नेताओं को मिलकर काम करने का वैसा अवसर दे देते जैसा वे इस महायुद्ध के प्रारम्भ से—बल्कि उससे पहले से ही—चाह रहे हैं और जिसे प्राप्त किये बिना वे इस युद्ध में सच्ची मदद देनेमें सर्वथा असमर्थ हैं। किन्तु अब तो एक अधिकारी द्वारा स्पष्टतः कह दिया गया है कि "लड़ाई के समय तक भारतीय समस्या बिल्कुल स्थगित (cold storage में) रहेगी।" इस पर हमारा यही कहना है कि यह सम्भव नहीं है। अस्तु। लार्ड साहब ने जो कुछ कहा वह यह है—

'मुझे इस बात का बहुत दुःख है कि यद्यपि युद्ध में भारत ने बड़ा भाग लिया और कई प्रकार से उसका दर्जा बहुत ऊंचा उठा तथापि वैधानिक क्षेत्र में उसकी यथेष्ट तरक्की न हो सकी। फिर भी ऐसा न हो सकने का कारण यह नहीं है कि उसके लिए सम्राट् की सरकार या स्वयं मेरी ओर से प्रयत्नों की कमी अथवा उत्साह या सदिच्छा का अभाव था। युद्ध के शुरू से ही मैंने सब दलों को मिलाने का यथासम्भव पूर्ण प्रयत्न किया और सरकार के मन्तव्यों के सम्बन्ध में जो कुछ भी शंकायें थीं, उन्हें दूर करने का उद्योग किया, किन्तु मुझे दुःख है कि मेरे सारे प्रयत्न असफल रहे और सम्प्रदाय, दल तथा इनके आपसी घृणा-द्वेष एवं अधिकार लालसा ने रोड़े अटकाए और खिंच पैदा कर दी। मुझे इस बात का बराबर दुःख बना रहेगा कि युद्ध के इन चार वर्षों के दरम्यान जो प्रयत्न किये गये, उनके बावजूद भी हम अपने उद्देश्य के नज़दीक नहीं पहुँच सके और आज भी भारत के अन्दर आन्तरिक भेदभाव, साम्प्रदायिक दुश्मनी और भारत को सर्व प्रथम न रखकर इन्हीं पारस्परिक घृणा एवं द्वेषपूर्ण भावनाओं के साथ लिपटे रहने का रवैया मौजूद है, जिसके चलते उन्नति के मार्ग में आगे बढ़ना असम्भव हो रहा है।

'फिर भी यदि हिन्दुस्तान अपनी वर्तमान स्थिति में परिवर्तन लाना चाहता है, तो उसी को अपनी समस्याओं का हल ढूंढ़ना पड़ेगा। मैं जानता हूँ कि हाल में कई तरह के अस्थायी वैधानिक हेरफेर के सुझाव पेश किए गए हैं. किन्तु ऐसे वैधानिक परिवर्तनों से असली समस्या का हल नहीं निकल सकता। इस तरह की योजनाओं से उलटे वर्तमान एकता नष्ट हो जायगी तथा युद्धोपरान्त की समस्याओं को हल करने में और भी कठिनाइयां उपस्थित होंगी। इसके सिवा युद्ध काल के अन्दर तो इस तरह की अस्थायी व्यवस्थायें हो ही नहीं सकतीं। असली समस्या तो भविष्य की है, पीछे देखना बेकार है। प्रान्तीय शासन की परीक्षा हो चुकी है। यह बिलकुल ठीक और काम में ला सकने लायक है! वर्तमान समय में वह छः प्रान्तों में जारी है। अन्य प्रान्तों में यह स्थगित है, क्योंकि जिनके हाथों में शक्ति दी गई थी वे अपनी ज़िम्मेवारी निभाने के लिये तैयार नहीं थे।'

'ज़िम्मेवारी' कौन नहीं समझ पा रहा है या कौन उससे दूर भागता है, इसके लिए अमरीका के प्रसिद्ध साप्ताहिक 'न्यू रिपब्लिक' में 'एशिया' के सम्पादकीय विभाग के श्री कैटेल मिचेल के हाल में ही प्रकाशित एक लेख से थोड़ा सा उद्धरण ही काफ़ी होगा। उन्होंने लिखा है—'भारत में भारतीय सरकार की स्थापना सम्भव है। वहां की वर्तमान स्थिति क्रिप्स के वहां जाने के समय से अधिक ख़तरनाक है।...कांग्रेस देश का सब से बड़ा दल है जिसमें सब धर्मों और सब आर्थिक दलों (economic groups) के लोग हैं। उसने यह नहीं चाहा कि गवर्नमेन्ट उसके लिए ही अपनी शक्ति छोड़े और उसने कांग्रेस द्वारा नियंत्रित सरकार के लिए सत्ता कभी नहीं माँगी। उसने तो मि० जिन्ना को भी सरकार बनाने के लिए कहा।...पाकिस्तान की माँग बाधक मालूम होती है। पर यदि ब्रिटेन राष्ट्रीय सरकार बनाने को कहे, तो उसमें सम्मिलित होने के लिए कोई दल इनकार न करेगा।'*

इन्हीं विचारों से श्री अप्टन सिंक्लेयर भी सहमत हैं। किन्तु, तारीफ़ की बात यह है कि सिन्क्लेयर सा० ने इस समय हमारे पूर्ण स्वतन्त्रता पाने की सम्भावना के विरुद्ध जो कुछ कहा है उसे तो सब समाचार पत्रों में प्रकाशित होने के लिए भेज दिया गया और ये पूरी बातें 'अमृत बाज़ार पत्रिका' के एक 'विशेष सम्वाददाता' ने लिख भेजीं तब हम लोग इन्हें जान सके।

× × ×

किसानों से क़र्ज़े

गवर्नर लोग भी वाइसराय से पीछे नहीं हैं। सूबों के लोग तो कुछ भी स्वतन्त्रता नहीं पा सके पर इन लोगों ने नये विधान से बहुत कुछ 'स्वतन्त्रता' पा ली है। अब केन्द्रीय गवरमेन्ट इनकी 'स्वतन्त्रता' को ही पेश करके अपनी ज़िम्मेदारी से, जब चाहती है तब, दूर हट जाती है। खाद्य-पदार्थों के मामले से लेकर लोगों को सज़ा देने और उनसे तरह तरह से रुपये वसूल करने के मामले तक में केन्द्रीय सरकार का ऐसा ही रवैया देखा जा रहा है। फलतः गवर्नर लोग बहुत कुछ मनमानी कर सकते हैं। बिहार की गवर्नमेन्ट छः करोड़ रुपये लड़ाई के चन्दे में ले रही है और हमारे सूबे की सरकार सात करोड़ से ऊपर वसूल कर चुकी है। यह ज़रूर है कि यह सब लड़ाई के बाद तरह तरह से 'ब्याज के सहित' लौटाल दिया जावेगा—पर देने वालों की दशा के लिए तो बहुधा यह कहावत लागू होती है—'घड़ी में घर जले, अढ़ाई घड़ी भद्रा!' जो किसान स्वयं क़र्ज़ में डूबा हुआ है और जिसके साल भर तक खाने-पहरने तक का ठीक ठिकाना नहीं वह किसी सरकार को 'क़र्ज़' क्या देगा? और यहां ८० फ़ी सदी किसान हैं तथा किसानों में ९९ फ़ीसदी से ऊपर की दशा ऐसी ही है। हमारे गवर्नर साहब ने यह भी कहा है कि 'चरखे और बैल गाड़ी का युग गया—' इसमें संदेह ही किसे हो सकता है? 'चरखा-संघ' को ८ लाख की हानि हुई है और बैल-गाड़ी से हम खाना-कपड़ा पा ही कैसे सकते हैं? यह दूसरी बात है कि रेलगाड़ी के मौजूद होते हुये भी पंजाब में जो खाद्य-पदार्थ खरीदा पड़ा है वह बंगाल नहीं पहुँच रहा है—हाँ, इस देरी से क्या? वह, जभी रेल का प्रबन्ध हो जाये तभी पहुँच तो सकता है!

× × ×

'आर्डिनेन्स'

ऐसी मनमौजी काररवाइयों के विरुद्ध भी पार्लियामेन्ट की भूल से आवाज़ें उठाई जा रही हैं। संघ-अदालत में गवर्नर जनरल के विशेष अधिकारों की सीमाओं पर बहस हो रही है। लाहौर के कुछ नज़रबन्दियों की ओर से मलिक बरकत अली बोल रहे हैं। उन्होंने स्पष्टतः कहा है—'इस न्यायालय की स्वतन्त्रता की कसौटी जनता की उस व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा होगी जिस पर आघात हुआ है। न्यायालय को शासन-सत्ता का सामना करते हुए 'आर्डिनेन्स' को अवैध घोषित कर देना चाहिये।'

* अक्षर हमने बड़े किये हैं—सम्पादक

'मनुष्यों' द्वारा डाले हुए दुर्भिक्ष से हाहाकार !

अब से क़रीब चार मास पहले जून के 'मॉडर्न रिव्यू' (Modern Review) में सब से पहला सम्पादकीय नोट 'न्यू स्टेट्समैन एण्ड् नेशन' के उस टिप्पणी को लेकर लिखा गया था, जिसका शीर्षक 'भारत में मनुष्यों द्वारा डाला हुआ दुर्भिक्ष' था। इस टिप्पणी में यह बतलाया गया था कि बम्बई में चावल का भाव १ या १½ पेंस प्रति पौंड के स्थान पर एक शिलिंग प्रति पौंड हो गया है और आलू का मूल्य प्रति पौंड ९ पेन्स है। इसके आगे सुयोग सम्पादक ने लिखा था—

'These are prices which would break us. They mean death by hunger to the Indian masses....Food riots are becoming common...The policy seems to be to rely on ruthless severity, for a general order has been given to troops to fire without warning. That is an impolitic cruelty which Mr. Amery will have to justify to Parliament, if it fulfills its duty अर्थात् चीज़ों के दाम इतने बढ़े चढ़े हैं कि हम लोग भी नहीं दे सकते—इससे भारतीय जनता भूख से मरेगी ही। भूख सम्बन्धी झगड़े जगह जगह उठ खड़े हुए हैं—इन्हें सख़्ती से दबा देने की नीति जान पड़ती है। आम तौर पर फ़ौजों को, बिना कोई चेतावनी दिए हुए, गोली चला देने का हुक्म दिया जा चुका है। यह एक ऐसी अनुचित बेरहमी है, जिसके लिए एमरी सा० को पार्लियामेन्ट के सामने जवाब देना होगा—अगर पारलियामेन्ट अपने कर्तव्य का पालन करती है।

इस 'अन्तिम' शर्त को लेकर 'मॉडर्न रिव्यू' के सुयोग्य सम्पादक ने प्रो० हेरोल्ड लास्की की उस सूची की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहा, जिसमें उन्होंने यह प्रमाणित कर दिया है कि इस समय के शासक दल के सभी मुख्य सदस्यों का भारतीय साम्राज्य से आर्थिक स्वार्थ है। 'इसीलिये वे 'जन-तन्त्र' या 'स्वतन्त्रता' के नाम पर अपने कर्तव्य का पालन नहीं कर सकते।'

यह तो हुई चार मास पहले की बात। अब जो दुर्दशा विशेषतः बंगाल की और साधारणतः सभी सूबों की हो रही है, उसके बारे में क्या कहा जावे ? पंजाब के प्रधान मन्त्री ख़िज़र हयात ख़ां और एक अन्य मन्त्री सर छोटू राम ने केन्द्रीय सरकार और बंगाल सरकार दोनों के विरुद्ध मुनाफ़ाख़ोरी और ज़बरदस्ती माल इकट्ठा रख छोड़ने (hoarding) के सम्बन्ध में जो बयान दे दिये हैं, उनसे इनकी सारी पोल खुल गई है। उनका कहना है कि पंजाब में तमाम खाद्य-पदार्थ ख़रीदा हुआ पड़ा है। उसका केवल २८ प्रतिशत बाहर ले जाया गया है। और वह भी १२॥) मन लेकर १५) मन आटा मिलों को दिया गया और उनसे १९) मन ख़रीद कर २०) मन बेंचा जा रहा है। 'अमृत बाज़ार पत्रिका' ने बतलाया कि इसका यहीं अन्त नहीं होता—वह तीस रुपये मन और इससे भी अधिक मूल्य में बिकता है !' 'अमृत बाज़ार' ने यह भी दिखलाया कि खाद्य-पदार्थों के विभाग में कितने अफ़सर लोग कितनी ऊँची तनख़्वाहों पर काम कर रहे हैं—कोई चार हज़ार रुपये प्रति मास पा रहे हैं, कोई दो हज़ार, कोई चौदह सौ ! कहने की ज़रूरत नहीं कि ये सब अंग्रेज़ अफ़सर हैं। विलायत से खाद्य-विशेषज्ञ; राशनिंग-विशेषज्ञ और तरह तरह के विशेषज्ञ इस देश में आते हैं और ऐसा नहीं है कि इनसे सचमुच हमारी खाद्य-समस्या हल होती हो बल्कि वह बराबर उलझती और बिगड़ती जाती है !

'अमृत बाज़ार पत्रिका' को इस भयानक गड़बड़ी पर कहना पड़ा है—It is a scandal to civilization. It is a disgrace to any administration worth the name. It is a challenge to humanity. अर्थात् यह सभ्यता को बदनाम करने वाली है, किसी भी शासन के लिए—जो इस नाम के योग्य हो—लज्जाप्रद है और मानवता के लिए 'चैलेन्ज' है। किन्तु इस युद्ध-

काल में जिन्हें ऐसी मानवता, बदनामी और लज्जा की परवाह ही नहीं है उनसे क्या कहा जावे ! पत्रिका का कहना है—His Majesty's Government now & then tells us that its obligations to the Indian people are irrevocable. A Government which fails to save men & women from starvation must not indulge in this provocative nonsense.

अर्थात् ब्रिटिश गवर्नमेन्ट जब तब यह कहती है कि उसके भारतीय जनता के प्रति ऐसे कर्तव्यपूर्ण बंधन है, जो अटल-अचल हैं। उस गवर्नमेन्ट के जो पुरुषों और स्त्रियों को भूखों मरने से नहीं बचा सकती ऐसी उत्तेजनाप्रद मूर्खता की बात नहीं करनी चाहिये।

श्री एम० एन० राय तक जिन्होंने 'रैडिकल' डिमोक्रेटिक पार्टी, स्थापित की है और जिन्हें गवर्नमेन्ट अपना विशेष हितेच्छु समझे बिना नहीं रह सकती, क़रीब क़रीब यही मत प्रकट कर चुके हैं। वे भी गवर्नमेन्ट का मुख्य कर्तव्य जनता का पालन-पोषण करना मानते हैं। पर यह गवर्नमेन्ट तो इस समय भी यह प्रमाणित करने को तैयार है कि किसानों के पास आवश्यकता से अधिक अनाज है और वे 'बेहद' खाने लगे हैं। बनियां लोग भी बहुत सा अनाज दबाये बैठे हैं। अगर कोई निर्दोष है तो गवर्नमेन्ट ! कलकत्ते की सड़कों पर एक लाख से अधिक भूखे पड़े हुए हैं और घरों के भीतर भूखे लोगों की जो दुर्गति है उसका वर्णन नहीं हो सकता। १७७० की भांति एक तिहाई या उससे अधिक आबादी के मर जाने की आशंका हो रही है। चारों ओर से चन्दे भेजे जा रहे हैं। खाना मिल नहीं रहा। फिर भी गवर्नमेन्ट का यही कहना है कि 'खाना-पीना बहुत भेजा जा रहा है—लोग चाहें तो रुपये जमा करके बंगाल में ही सरकार से अनाज या रोटियां—जो चाहें—ख़रीद सकते हैं। और अच्छा तो यही है कि गवर्नमेन्ट को ही 'रिलीफ़' के रुपये दे दें !' जयपुर से कुछ मारवाड़ी सज्जन पांच लाख लोगों के खिलाने योग्य सामान भेजने का प्रबन्ध करने को तैयार थे। उन्हें भी ऐसा ही उत्तर मिला है। रेल के अधिकारी महोदय का कहना है कि सूबे की गवर्नमेंट सामान नहीं ले जाती और सूबे की गवर्नमेन्ट का कहना है कि रेल के डिब्बे का प्रबन्ध नहीं होता ! जो हो, लोग भूखों मरते जाते हैं। अस्पतालों में जगह नहीं है। बाहर भी जगह नहीं है। 'स्टेट्समैन' ने भी भूखों मरते लोगों के चित्र छापे हैं और गवर्नमेन्ट की भरपूर निन्दा की है ! वि० व०

सोवियत् रूस का संस्कृति प्रेम

हिन्दुस्तान के मशहूर ग्रन्थ, हिन्दुस्तान के विश्व-कोष महाभारत का रूस की भाषा में अनुवाद हुआ है, इस खबर को इस सरकार बहादुर ने ठाट-बाट के साथ छापा है और भारतीय पत्र-पत्रिकाओं ने भी उसी सुर में अपना सुर मिलाया है। जैसे रूस में हिन्दुस्तान के सम्बन्ध में यह कोई नया और अनोखा काम हुआ है ! अथवा उसमें इन प्रभुओं का भी कुछ कृतित्व है।

दर असल सोवियत् रूस में भारतीय विद्या के अनुसन्धान का काम कोई नया नहीं है। भारतीय ज्ञान के पिपासु स्व० आचार्य श्चेर्वात्स्की ज़ार के रूस से भागकर हिन्दुस्तान आये थे और उन्होंने नदिया में संस्कृत का गहरा अध्ययन किया था। यूरोप में भारतीय दर्शन के वे सबसे बड़े पंडित थे। हाल ही में प्रकाशित उनके "बुद्धिस्ट लॉजिक" ग्रन्थ पर प्रसिद्ध दार्शनिक पं० सुखलाल जी ने कहा था—

"इस ग्रन्थ का पठन-पाठन काशी के न्यायाचार्य के अन्तिम खण्ड में अवश्य कर देना चाहिये। ऐसे ग्रन्थ के पढ़े बिना आदमी की आँखें ही नहीं खुल सकतीं कि भारतीय दर्शन का विकास क्रमशः कैसे होता चला आया है।"

सोवियत् रूस ने भारतीय विद्या की जानकारी के लिये ही आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी और महापंडित राहुल सांकृत्यायन को रूस बुलाया था। रूस का महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर को निमन्त्रित करके

भुलाना भी उसके गहरे भारत-प्रेम—भारतीय संस्कृति प्रेम—का सबूत है।

जबकि हिन्दुस्तान के विश्वविद्यालयों में तिब्बती भाषा की जानकारी का कुछ भी प्रबन्ध नहीं है, उस वक्त बौद्ध ग्रन्थों के ज्ञान के लिए रूस में तिब्बती भाषा की जानकारी के लिए विराट आयोजन है। राहुल जी की पत्नी तवारिश लोला इन्दो-तिब्बती विभाग की सेक्रेटरी हैं और उन्होंने तिब्बती-रूसी भाषा का एक कोष भी लिखा है।

इस प्रकार सोवियत् रूस में भारतीय संस्कृति का अनुसन्धान कोई अनोखा काम नहीं है। सोवियत् रूस ने जो कुछ किया या कर रहा है, साम्यवादी संस्कृति में वह सहज और स्वाभाविक है। संस्कृति और कला की रक्षा वर्गहीन समाज में ही सम्भव है, इसका प्रमाण रूस पेश कर रहा है। 'विनोद'

अपनी बात

'विश्ववाणी' के प्रधान सम्पादक डा० अख़्तर हुसेन रायपुरी ने पिछले अङ्क में अपने इलाहाबाद आने के बारे में सूचना दी थी। वे अपने लिखे अनुसार यहां आये और चार दिन रह कर चले गये। किन्तु उनके इन चार दिनों की स्मृति हमारे मानस-पटल पर चित्रित रहेगी। वे यहां से बम्बई गये और वहां से कई स्थानों में होते हुए अमृतसर पहुँचेंगे। इसीलिए इस बार लड़ाई का हाल और सम्पादकीय टिप्पणियां वे नहीं लिख सके।

यों तो जब से भाई विश्वम्भरनाथ जी जेल भेज दिये गये और भाई अख़्तर हुसेन ने उनके काम के सँभालने की ज़िम्मेदारी ले ली तभी से हम उनकी उदार और विद्वत्तापूर्ण विचार-धारा को समझते बूझते आये हैं, पर उनके यहां आने पर हमने उनकी हृदय की वह वेदना देखी, जिसे इतनी दूर से देखना—इस तरह देखना सम्भव न था। हम सहज ही एक दूसरे को और अच्छी तरह समझ सके और अपने कामों के लिए विचारों की एकता कायम कर सके। इन पंक्तियों का लेखक डाक्टर अबुलफ़ज़्ल के साथ का लाभ उठा चुका है—उन डाक्टर अबुलफ़ज़्ल के जो संस्कृत और अरबी दोनों में यकसाँ विद्वान हैं और जिन्हें दूसरे देशों में जाकर संस्कृत की 'पवित्र पुस्तकों' का अध्ययन करना पड़ा है। उन्होंने 'कुरान' का जो अनुवाद किया, उससे बहुत से मुसलमान उनसे नाराज़ हो गये। पर वे तो 'सुधार समिति' (Reform Society) के संस्थापक थे। उन पर इस नाराज़ी का बुरा असर नहीं पड़ा। वे ज्यों के त्यों उदार रहे और सत्य के अनुसन्धान में संलग्न रहे। भाई अख़्तरहुसेन भी अंग्रेज़ी और फ्रेंच के साथ हिन्दी उर्दू, फ़ारसी और बंगाली के ही नहीं संस्कृत के भी विद्वान हैं। उनका वह निबन्ध (Thesis) जिसे लिखकर उन्होंने फ्रांस में डाक्टर की उपाधि पाई 'संस्कृत नाटकों में' हिन्दुस्तानी जनता की दशा' पर है। हमने उनसे यह अनुरोध किया है कि वे फ्रेंच से हिन्दी में अनुवाद करके इसका कुछ अंश 'विश्ववाणी' में भी अवश्य भेजें।

और बातों के साथ उन्होंने बतलाया कि उन पर श्री माधवराव सप्रे का कैसा प्रभाव पड़ा और फ्रांस में कैसे सच्चे हिन्दुस्तानी रंग में उन सभी लोगों को, जो यहां से वहां इस तरह जाते हैं, सराबोर हो जाना पड़ता है। हमें चार दिन बहुत थोड़े जान पड़े—बहुत अधिक और सुन्दर बातें थीं और समय बहुत कम था। और अनेक साहित्य-सेवियों की यह इच्छा थी कि उनके स्वागत में इकट्ठा हो कर कुछ विचार-विनिमय किया जावे। कुछ लोगों ने ऐसा किया भी। अच्छा होता यदि उस समय और लोग भी पधारने की कृपा करते। साहित्यसेवियों की दशा, तरह तरह के चलते-पुरज़े लोगों द्वारा उनका शोषण, प्रगतिशील साहित्य तथा प्रगतिशील साहित्य के नाम पर मनमाना साहित्य, इन सब पर आपस में बातचीत हुई। श्री इलाचन्द जोशी, श्री रामप्रसाद घिल्डियाल 'पहाड़ी', श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त आदि प्रसिद्ध साहित्य-सेवीगण पधारे थे।

भाई अख़्तरहुसेन ने मार्क्सवाद का विशेष परिश्रम से अध्ययन किया है और वे इस विषय पर हिन्दी

से पहले लिख चुके हैं। पर इधर वे उर्दू में ही लिखते रहे हैं। 'विश्ववाणी' मार्क्सवाद की 'वैज्ञानिक विवेचना' की उपेक्षा नहीं करती। उसके पहले ही अङ्क में 'उद्देश्यों' पर लिखते हुए सभी विचार-धाराओं को पाठकों के सामने लाने की बात स्पष्टतः कही गई है। जो विद्वान् कहते हैं कि 'आगामी समाज-विधान की ठोस नींव मार्क्सवाद की परवाह न करने से नहीं बल्कि उसके सभी वैज्ञानिक सिद्धान्तों को समझने और उन्हें व्यावहारिक बना देने पर ही बनेगी।' उनकी बातों पर पूरी तरह सोच-विचार करना होगा। हमें हर्ष है कि इस विषय पर लिखते रहने का वादा रायपुरी जी ने किया है।—वि० व०

शान्तिनिकेतन का चीन-भवन

स्व० गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने शान्तिनिकेतन में चीन-भवन की स्थापना से जिस भारतीय संस्कृति के आदान-प्रदान की पुरानी परिपाटी को फिर से शुरू किया था, वह अब अपने पूरे विकास पर है। इस समय चीन-भवन में प्रो० तान-युन-शान की देख रेख में चीन विद्यार्थी भारतीय विद्या का अध्ययन तो कर ही रहे हैं; साथ ही भिक्षु शान्ति जी और श्री कृष्ण किंकर सिंह जी चीनी भाषा और संस्कृति का भी अनुसन्धान कार्य कर रहे हैं।

'चीन-भवन' का महत्व इस समय कई दृष्टियों से संसार के लिए खास आकर्षण रखता है। चीन-भवन में इस समय कई ऐसे चीनी ग्रन्थ सुरक्षित हैं, जिनकी बाकी प्रतियों को जापानी बरबता ने बर्बाद कर दिया है। इस तरह चीनी-ज्ञान-शृङ्खला की ऐसी कड़ियाँ चीन-भवन में सुरक्षित हैं, जिनका जगत् में और कहीं पाया जाना दुर्लभ हो गया है।

प्रो० तान-युन-शान महोदय खुद थोड़ी हिन्दी सीख रहे हैं। उनकी हार्दिक इच्छा है कि चीनी-भारतीय संस्कृति के अध्ययन का यह केन्द्र महान एशिया के पुनरुद्धार में कुछ ठोस काम करे। जल्दी ही हम चीन के खास विद्वानों के लेख और खास कर मार्शल चियाङ्ग काई शेक की लेख-माला 'विश्ववाणी' के पाठकों के आगे पेश करने वाले हैं।—विनोद

[पृष्ठ १५१ में दूसरी पंक्ति से कुछ भाग ऐसा रह गया, जिसे लेखक महोदय ने बाद को लिख भेजा। वह नीचे दिया जाता है—सम्पादक]

लेखक ने उन समकालीन युद्धों में भाग नहीं लिया, जो मुस्लिम राज्य को प्रसारित करने के लिये लड़े जा रहे थे। पर वह समकालीन था इस कारण विश्वसनीय है।

हसन निज़ामी का काम और भी लेखकों ने जारी रखा पर इनमें तबक़ात नासिरी' के लेखक मिनहाज़ सिराज विशेष उल्लेखनीय हैं। मिनहाज़ का जन्म ११९२ ई० में हुआ था। इनकी माता उच्च वंश की थीं और इन्होंने अपने बालपन का कुछ समय राज्य परिवार ही में बिताया। तीस वर्ष की अवस्था में उनका विवाह हुआ। उस समय चंगेज़ ख़ाँ के आक्रमण प्रारम्भ हो गये थे। मिनहाज़ ने खुरासान छोड़कर भारत आने का निश्चय किया।

६२१ हिजरी में मिनहाज तुलक से रवाना हुए। पर वे ६२४ हिजरी के पहिले भारत नहीं पहुँच सके। रास्ते में ताजुद्दीन तीगीन ४३ दिनों तक क़ैद किये रहे। छूटने के पश्चात् गज़नी होते हुए और फिर नाव द्वारा भारत पहुँचे और कच्छ में उतरे। कच्छ में वे फ़िरोज़ी कालेज के प्रधान बन गये। कच्छ के सुल्तान नासिरउद्दीन ने अपने पुत्र बहराम शाह की सेना का 'काज़ी' बना दिया।

इसी समय दिल्ली सम्राट् अल्तमश ने कच्छ पर हमला किया। मिनहाज़ मलिक ताजुद्दीन के द्वारा सम्राट् से मिले। सम्राट् ने उन्हें दिल्ली चलने की आज्ञा दी। मिनहाज़ प्रसन्नता से सम्राट् के साथ साथ दिल्ली पहुँचे।

१२३२ ई० (६२९ हिजरी) में जब अल्तमश ने ग्वालियर पर हमला किया मिनहाज भी उनके साथ थे। गढ़ के विजय के पश्चात वे वहां के काज़ी बना दिये गये।

अल्तमश की मौत के बाद सुल्तान रज़िया के समय में भी वे उसी पद पर रहे। यह समय बहुत ही नाज़ुक था। कोई भी सम्राट् अपने शासन की बागडोर के लिये निश्चित नहीं था। मिनहाज़ ने इन झगड़ों को तै करना चाहा था। यह बात साफ़ है कि उसने पूरा प्रयत्न किया।

हिन्दी उर्दू दोनों में प्रकाशित हो गई

हज़रत मुहम्मद और इसलाम

लेखक 'भारत में अंगरेज़ी राज' के रचयिता

पंडित सुन्दरलाल

२५० पृष्ठ की सजिल्द, सचित्र, एण्टीक काग़ज़ पर छपी, सरल और सुन्दर पुस्तक का मूल्य

केवल डेढ़ रुपया : डाक खर्च अलग

विश्ववाणी के स्थायी ग्राहकों को पुस्तक केवल पौने मूल्य में

[डाक खर्च ≡ आना अलग]

१५ वर्षों की लगातार खोज और मेहनत से, सैकड़ों पुस्तकों के अध्ययन के बाद यह पुस्तक तय्यार हुई है। पुस्तक में अरब का भूगोल और इतिहास, प्राचीन अरबों के सामाजिक जीवन, उनके धार्मिक विश्वास, उनकी पूजा के तरीक़े, मुहम्मद साहब का जन्म, इसलाम का प्रचार, रोम और ईरान के साथ टक्कर, आदि विषयों का अत्यन्त सरल और चित्ताकर्षक वर्णन है। चित्रों और नक़्शों से पुस्तक की उपयोगिता बेहद बढ़ गई है। पुस्तक इतने आकर्षक ढङ्ग से लिखी गई है कि प्राचीन घटनाएं मानों क़ब्र से निकल कर बोलने लगती हैं।

काग़ज़ की तंगी से पुस्तक का दूसरा संस्करण लड़ाई के बाद निकलेगा। जल्दी से जल्दी अपना आर्डर भेजिये वरना प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।

पंडित सुन्दरलाल जी की दूसरी पुस्तक

गीता और क़ुरान (प्रेस में)

मैनेजर विश्ववाणी बुक-डिपो, साउथ मलाका, इलाहाबाद

मुद्रक और प्रकाशक—विशम्भरनाथ, विश्ववाणी प्रेस, साउथ मलाका, इलाहाबाद

इस अंक के कुछ लेख

इनके अतिरिक्त अन्य अनेक विचारपूर्ण लेख, श्री गुणचंद जी की कहानी और कई उत्कृष्ट कवितायें।

वार्षिक मूल्य ६) 'विश्ववाणी' कार्यालय, इलाहाबाद एक अङ्क का ।।=)

विषय-सूची

अक्तूबर १६४३

जो सज्जन 'विश्ववाणी' के नये ग्राहक बनें वे अपने पत्र में 'नया ग्राहक' लिखने की कृपा करें। हमारे पुराने ग्राहक, पत्र व्यवहार करते समय अपने पत्र में अपना ग्राहक नम्बर और 'पुराना ग्राहक' लिखने की कृपा करें।

जो सज्जन अपने पत्र का उत्तर चाहते हों वे कृपया जवाबी कार्ड भेजने की कृपा करें।

—मैनेजर

युक्तप्रान्त, पंजाब, बम्बई, मद्रास, मध्यप्रान्त और बरार, होलकर राज्य, मेवाड़, जोधपुर, मैसूर और काश्मीर के शिक्षा विभागों द्वारा स्कूल और कालेज लाइब्रेरियों के लिए स्वीकृत

वर्ष ३, भाग ६ | अक्तूबर, १९४३ | अङ्क ४, पूरे अङ्क ३४

बापू के चरणों में

आचार्य गुरुदयाल मल्लिक

बहुत पहले मैंने अपने एक ईसाई मित्र से एक भजन की कुछ पंक्तियाँ सुनी थीं। जब कभी भगवान बुद्ध या हज़रत ईसा सरीखे मानवता के पुजारी की वर्षगाँठ मनायी जाती है, तो वे अक्सर मेरे दिमाग में घूम आती हैं। वे पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

ईसा यदि हजार बार भी,
पैदा हों बेथलहम में—
पर आत्मा अनाथ तेरी,
यदि रमे न वे तेरे मन में।

मैं जब गान्धी जी के आगामी वर्षगाँठ पर सोचता हूँ, तो मेरा मन मुझसे पूछता है, "क्या गान्धी जी तुम्हारे मन में आ बसे हैं? आज बीस साल से तुम गान्धी-जयन्ती मनाते आ रहे हो। क्या इससे तुम्हारे आचरण या गुणों में रत्ती भर भी फ़रक पड़ा है?" और तब फिर लज्जा से मेरा सिर झुक जाता है।

गान्धी जी को प्यार करने या उनमें जीवित रहने का मतलब है अपने आप को सत्य की खोज में खपा देना। क्या मैंने ऐसा किया है? इसके लिये क्या मैंने कभी निश्चय किया है कि मार्ग में जो भी बाधायें आवें मैं ईश्वर और मनुष्य मात्र के प्रति अपने व्यवहार में कठोर सदाचार का पालन करूंगा? मुझे अफ़सोस है कि मैं अभी ऐसा नहीं हो पाया हूं। इसके विपरीत मैं वहीं खड़ा हूँ जहाँ समझौता और अर्ध सत्य अपना डेरा डाले हुये हैं।

गान्धी जी से स्नेह करने का मतलब है अपने मन और आत्मा में यह दृढ़ विश्वास जमा लेना कि आत्मा एक है और अविभाज्य है। फिर ऐसा विश्वास रखते हुये आत्मा के सम्पूर्ण अंगों को, बिना उनके अधिकारों का किसी तरह विवेचन किये, प्रेम से आदर करना चाहिये, क्योंकि गान्धी जी अपने अधिकार की अपेक्षा मनुष्य के प्रति अपने कर्तव्य पर ज़्यादा ज़ोर देते हैं। जहाँ तक मानव प्रेम का सम्बन्ध है, इसका फल यह होता है कि ऊँच-नीच, धनी-ग़रीब, विद्वान-मूर्ख और काले-गोरे की भावना दूर भगा दी जाती है। परन्तु मैं क्या हूं? अब भी तो मेरा मन जात-पांत, श्रेणी या रंग की संकीर्ण भावना से आक्रान्त है!

गान्धी जी में श्रद्धा रखने का अर्थ है, अटल ईश्वर भक्ति और पददलित, अनाथ, असक्त तथा दुखियों की निस्काम सेवा। क्या मुझमें बापू की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई दैहिक और आत्मिक पवित्रता का रंचमात्र (कण भर) भी असर है ?

गान्धी जी के सन्निकट होने का मतलब है अधिकार की सभी भावनाओं से अलग होना। अपने प्रत्येक स्वाँस के तार तार को इस सत्य से 'हे चिन्तन ! तुम्हारा ही सब कुछ है, मेरा कुछ भी नहीं।' झंकृत करते रहना चाहिये। मेरा प्रत्येक कार्य मेरी तुच्छता और मेरी हैसियत का दुनियाँ के सामने इज़हार करता रहता है।

अन्त में गान्धी जी में एकात्म होने का अर्थ है ईश्वर की निम्नतर सृष्टि में उतर पड़ना, जिससे तुम्हें प्रत्येक प्राणी में उसकी पूर्णता प्रतीत हो।

संक्षेप में अब स्वीकार करना पड़ता है कि रस्म-रिवाज की रूढ़ि के कारण ही प्रत्येक वर्ष मैं गान्धी जी के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ; परन्तु वास्तव में यह गान्धी जी के सिद्धान्तों के प्रति दृढ़ संकल्प की श्रद्धांजलि नहीं होती।

फिर भी मेरा अन्तरतम अनन्त प्रेम और असीम श्रद्धा से बापू के चरण रज को अविरल चूमता रहता है। कभी-कभी मुझे ऐसा लगता है कि मेरी आत्मा गान्धी जी की आत्मा का अभिनन्दन कर रही है। बस फर्क यही रहता है कि उनका ब्रह्म जागृत है और मेरा सुप्त।

अपने इस आत्म-विवेचन में मैंने गान्धी जी की प्रतिभा और महानता की कुंजी पा ली है। प्याज के छिलके की तरह आत्माभिमान को निरन्तर अलग करते रहने ही से ब्रह्म का पूरा ज्ञान हो सकता है। पर दुख है जिस स्वार्थ ने मेरी चिर जागृत, चिर सजग और चिर सेवावनत आत्मा को ढँक लिया, उसी से मैं चिपटा हुआ हूँ !

बापू के क़दमों पर चलना एक महान वरदान है। यह वरदान आजीवन सत्य, प्रेम, न्याय, सादगी, समता और स्वतन्त्रता की साधना करने से ही मिल सकता है। क्या हम लोग इसके लिये तैयार हैं ? यदि हाँ, तो मैं कहूँगा कि बापू का जीवन व्यर्थ नहीं है। हम लोग कितने भाग्यशाली हैं कि इतिहास के उस काल में पैदा हुये, जब मनुष्य के रूप में ईश्वर चल रहा है और हमारे बीच काम कर रहा है।

बापू के प्रति

श्री कृष्णदास एम० ए०

हे महापुरुष, हे वीतराग, हे मुक्त देह, हे अनासक्त !
हे विश्व-बन्धु, हे विश्ववंद्य, हे पूर्ण मनुज, हे मनुज-भक्त !
श्रेणी-संघर्ष-समन्वय के हे गौरवपूर्ण मंत्रद्रष्टा !
कटु-संघर्षों के बीच अचल, चिर सत्य अहिंसा पथ स्रष्टा !
अविरल अशान्ति के पार देव ! तुमने चिर शान्ति चित्र देखा,
तब आँखों में जग ने देखी, आशा की धुंधली-सी रेखा,
प्राचीन युगों की थाती से तुम वर्तमान के बन सहचर,
ले चले विश्व को साथ-साथ शिव-सत्य-सुन्दरम् के पथ पर !

तव कृशित देह में प्रतिबिम्बित है महा मनुजता क्षीणकाय,
तेरे जीवन का श्वाँस - श्वाँस 'बहु जन हिताय बहुजन सुखाय' !
इस तिमिराच्छादित जगती में 'तमसोमाज्योतिर्गमय' कहाँ ?
है जब साम्राज्य असत्यों का तब 'असतोमासद्गमय' कहाँ ?
है आपस का सम्बन्ध आज, शोषण - हिंसा पर टिका हुआ,
मानव, दुख का पुतला मानव, कौड़ी - कौड़ी पर बिका हुआ।
चल रहा विश्व में सभी तरफ़ खुल कर अनीति का राज - काज,
इसका उन्मूलन किये बिना है कठिन अहिंसात्मक समाज !
इस विघटन की परिपाटी का बुझ जाय नहीं जब तक प्रदीप,
तब तक कैसे हम पहुँचेंगे, उस महा शान्ति के कुछ समीप ?
पर पीड़न की, पर शोषण की जब तक न व्यवस्था बदल जाय,
व्यवधान विसंगतियों की भी जब तक न अवस्था बदल जाय।
जब तक मानव हो कर स्वतंत्र, अपने को मानव कह न सके,
जब तक मानव इस जगती में मानव हो कर के रह न सके।
यदि ऊँच - नीच का भेद-भाव संघर्ष-द्वन्द हो नहीं बन्द,
तब मानव कैसे हो सकता है पूर्ण मनुज सच्चिदानन्द ?

× × × ×

आयें जो आयें विपदायें, आयें जो आयें बाधायें,
हम कर्मनिरत, आसक्ति-विरत निर्बाध सदा बढ़ते जायें।
हम भी गगनांचल में विचरें, हम में भी पंख लगा दो ना,
हम भी हो जायें समदर्शी, हम में वह ज्योति जगा दो ना !
दीपक से दीपक जला करे, यों अमर ज्योति जलती जाये,
यों ही ज्योतिर्मय परम्परा अविरल - अबाध चलती जाये।
मेरी भावुकता छिपी हुई इन शब्दों के आवरणों में,
इस भावुकता का मूल श्रोत बापू ! अर्पित तव चरणों !!

नैनी जेल १९४३

यहूदियों पर भारतीय संस्कृति का प्रभाव

पं० सुन्दरलाल

यहूदियों के राजनैतिक इतिहास को बयान करने से पहले उनकी धार्मिक और सांस्कृतिक प्रगति की ओर एक नज़र डालना आवश्यक है। किसी भी क़ौम के धार्मिक विचारों, उनकी सामाजिक प्रथाओं और उनके राजनैतिक जीवन में गहरा सम्बन्ध होता है। एक का दूसरे पर ज़बर्दस्त असर पड़ता है।

दो सदियों के अन्दर जब कि एक तरफ़ फ़लस्तीन में यहूदियों को यूनानी क़ौम के बुरे से बुरे पहलुओं से वास्ता पड़ा, दूसरी तरफ़ जो लाखों यहूदी समय समय पर राजनैतिक उथल पुथल के दिनों में मिश्र और दूसरे देशों में जा जा कर बस गये, उनमें से ज़्यादातर के अनुभव दूसरी तरह के रहे। उनका यूनानी संस्कृति के एक भिन्न और श्रेष्ठतर पहलू से सम्बन्ध हुआ। दूसरे देशों में उन्होंने तिजारत में ख़ूब हिस्सा लेना शुरू किया। जगह जगह उनकी बस्तियां काफ़ी ख़ुशहाल थीं। ख़ासकर जो यहूदी मिश्र में जाकर बसे उनके साथ टॉलेमी बादशाहों के उदार और प्रबुद्ध शासन में ख़ूब अच्छा सलूक हुआ। उन्हें पूरी धार्मिक आज़ादी हासिल थी। यूनान की उन्नत विद्याओं से उनका परिचय हुआ। साहित्य और दर्शन के अध्ययन का और इनमें उन्नति का उन्हें अपूर्व अवसर मिला।

इसी समय ईसा से दो सौ बरस पहले मिश्र की नई राजधानी सिकन्दरिया में तौरेत और दूसरे यहूदी धर्म ग्रन्थों का पहली बार यूनानी ज़बान में तर्जुमा हुआ। और कई यहूदी ग्रन्थ यूनानी और इबरानी ज़बान में लिखे गये।

वह समय संसार के अन्दर बड़ी बड़ी धार्मिक और सांस्कृतिक लहरों का समय था। बौद्ध धर्म के प्रचारक और उनके साथ साथ भारतीय अध्यात्म दर्शन और विज्ञान समस्त पूरबी और पच्छिमी संसार में फैलते आ रहे थे। उस समय की मिश्र की राजधानी सिकन्दरिया और भारत की राजधानी पाटलीपुत्र के बीच राजदूतों, दार्शनिकों और विद्वानों का आना जाना और तिजारती माल तथा ज्ञान-विज्ञान का आदान-प्रदान बराबर जारी था और दोनों दरबार में प्रेम-सम्बन्ध था। यही कारण था कि टॉलेमी राजवंश के लोग कई सौ साल तक अपनी उदारता और अपने असाधारण विद्या-प्रेम के लिए विख्यात थे और उनके शासन काल में मिश्र ने फिर एक बार ज्ञान-विज्ञान में ख़ूब उन्नति की।

बौद्ध धर्म अफ़ग़ानिस्तान, चीन, तुर्किस्तान और ईरान से होता हुआ धीरे धीरे समस्त पच्छिमी संसार में फैल रहा था। ईसा के जन्म से पहले समस्त पच्छिमी एशिया और ख़ास कर सुरिया में सैकड़ों बौद्ध मठ और असंख्य बौद्ध विहार क़ायम हो चुके थे। बौद्ध भिक्खु रोमी साम्राज्य के एक एक कोने में अपना प्रेम और शान्ति का सन्देश पहुंचा रहे थे। किसी दूसरे धर्म से उन्हें टक्कर न थी। न वे दूसरों के किसी देवता की पूजा का निषेध करते थे और न अपने किसी देवता की पूजा का प्रचार। वे केवल विश्व प्रेम, नम्रता, सदाचार के नियमों, आत्मसंयम और आत्मशुद्धि को मानव उन्नति के मुख्यतम साधन बताते थे जब कि संसार का एक बहुत बड़ा भाग 'मेरा इष्ट देव सच्चा और दूसरों का झूठा, मेरी उपासना विधि ठीक और दूसरों की ग़लत,' इन तुच्छ झगड़ों में पड़ा हुआ था। बौद्ध धर्म ने पूजा और पूज्य इन दोनों की ओर से उदार और उदासीन रहते हुए मानव सदाचार और विश्व प्रेम के ऊपर ज़ोर दिया, और इन्हीं को ऐहिक तथा पारलौकिक दोनों तरह के कल्याण का मार्ग बताया। कोई भी मनुष्य अपने प्राचीन पैतृक धर्म का पालन करते हुए इन नये सिद्धान्तों का आदर कर सकता था और उनके अनुसार जीवन निर्वाह करने का

प्रयत्न कर सकता था। यही कारण है कि करोड़ों जापानी अपने प्राचीन शिनतो धर्म को आज तक मानते हैं और बौद्ध धर्म को भी। उनसे कई गुने चीनी प्राचीन चीनी ताओ मत के अवलम्बी भी हैं और बौद्ध धर्म के भी।

बौद्ध भिक्खुओं और प्रचारकों के अलावा उन दिनों और बहुत से भारतीय सन्त भारत से जा जाकर पच्छिम एशिया, अफ़रीका और यूनान के जंगलों में कुटिया बनाकर रहते थे, और इन सब देशों के बड़े बड़े विद्वान और महात्मा उनसे मिलकर धार्मिक, नैतिक और दार्शनिक शिक्षा ग्रहण करते थे। इनमें एक ख़ास गिरोह था जिन्हें यूनानी इतिहासलेखक 'जिम्नो सोफ़िस्ट' या 'हाइलोबियो' नाम से पुकारते हैं और बड़े प्रेम और आदर के साथ उनका ज़िक्र करते हैं। जिम्नो सोफ़िस्ट का शब्दार्थ 'नंगे फ़िलासफ़र' या 'दिगम्बर तत्ववेत्ता' और हाइलोबिया का अर्थ 'वानप्रस्थ' है।

ये लोग ज़्यादातर दिगम्बर ही रहते थे। इनके अनुसार जितना कम से कम खाकर शरीर चल सकता है, उससे अधिक खाना, या जितने कम से कम कपड़े से काम चल सकता है उससे अधिक कपड़ा उपयोग करना आत्मोन्नति में बाधक है। इनमें से कुछ 'शमन' कहलाते थे और कुछ 'ब्राह्मण'। इन दिगम्बर महात्माओं का जो कुछ हाल यूनानी लेखकों ने लिखा है, उससे ज़ाहिर है कि इनमें से अनेक का सम्बन्ध जैन धर्म से भी था। किन्तु इतिहास से एक और बात बिलकुल स्पष्ट है वह यह कि जैन, बौद्ध और हिन्दू तीनों धर्मों के विद्वान उन दिनों एक साथ दूर दूर के देशों में जाते थे, तीनों हर जगह मिल कर प्रेम के साथ रहते थे, और इनमें से अनेक का रहन सहन और उनके उपदेश तीनों धर्मों के सामान्य सिद्धान्तों और बहुमूल्य रत्नों का एक सुन्दर समन्वय होते थे। यूनानी इतिहास से पता चलता है कि ईसा से कम से कम चार सौ साल पहले ये दिगम्बर भारतीय तत्ववेत्ता पच्छिमी एशिया में पहुँच चुके थे।

पोप के पुस्तकालय के एक लातीनी लेख से जिसका हाल में अनुवाद हुआ है पता चलता है कि ईसा की जन्म की शताब्दी तक इन दिगम्बर भारतीय दार्शनिकों की एक ख़ासी बड़ी संख्या इथियोपिया (अफ़रीका) के जंगलों में रहती थी, और अनेक यूनानी विद्वान वहीं जाकर उनके दर्शन करते थे और उनसे शिक्षा लेते थे।

यूनान के दर्शन और अध्यात्म का इन दिगम्बर महात्माओं पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि चौथी सदी ई० पू० में प्रसिद्ध यूनानी विद्वान पिरो ने भारत आकर उनके ग्रन्थों और सिद्धान्तों का यानी भारतीय अध्यात्म और भारतीय दर्शन का विशेष अध्ययन किया और फिर यूनान लौट कर एलिस नगर में एक नई यूनानी दर्शन पद्धति की स्थापना की। इस नई पद्धति का मुख्य सिद्धान्त था कि इन्द्रियों द्वारा वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति असम्भव है, वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति केवल अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा ही सम्भव है, और उसके लिए मनुष्य को सरल से सरल जीवन व्यतीत करके आत्मसंयम और योग द्वारा अपने अन्तर में धँसना चाहिए। भारत से लौटने के बाद पिरो दिगम्बर रहता था। उसका जीवन इतना सरल और संयमी था कि यूनान के लोग उसे बड़ी भक्ति की दृष्टि से देखते थे। वह योगाभ्यास करता था और निर्विकल्प समाधि में विश्वास रखता था।

ऐस्सेनी और क़ब्बालह

बौद्ध भिक्खुओं और इन भारतीय आत्माओं के प्रभाव से दूसरी सदी ई० पू० में यहूदियों के अन्दर 'ऐस्सेनी' नामक एक और नई सम्प्रदाय क़ायम हुई। यहूदी इतिहास लेखक यूसुफ़ और फ़ाइलो ने और कई यूनानी इतिहास लेखकों ने विस्तार के साथ इन लोगों का हाल लिखा है।

इन लोगों की बस्तियाँ, जिन्हें बड़े बड़े मठ या ख़ानकाहें कहा जा सकता है, शहर से दूर होती थीं। बस्ती के अन्दर हर एक की कुटिया अलग किन्तु एक दूसरे के पास पास थी। वे आजन्म अविवाहित रहते

थे और बड़ा सरल संयमी तथा तपस्या का जीवन व्यतीत करते थे। सारी बस्ती एक कुल की तरह रहती थी, जिसका एक कुलपति होता था। सब की समस्त सम्पत्ति सारे कुल की सम्पत्ति होती थी। सब का एक जगह भोजन बनता था और एक स्थान पर बैठ कर सब एक साथ भोजन करते थे।

प्रति दिन कई घण्टे हर व्यक्ति को अपने हाथ से कुछ न कुछ श्रम करना पड़ता था, जिसका समस्त लाभ सामूहिक कोष में जाता था। इस श्रम में मुख्य काम ये थे—बस्ती के खेतों में श्रम करके नाज पैदा करना, भोजन बनाना, सब के लिये कपड़ा बुनना और अन्य आवश्यक धन्धे करना। किसी काम के लिए दूसरे मनुष्य को नौकर, दास या गुलाम बना कर रखने को वे पाप समझते थे। कोई अपने अलग गुज़ारे के लिये कोई अलग काम न कर सकता था।

हर ऐस्सेनी ब्राह्ममुहूर्त में उठता था और सूर्योदय से पहले प्रातःक्रिया, स्नान, ध्यान, उपासना आदि से फ़ारिग़ हो जाता था। सुबह के स्नान के अतिरिक्त दोनों समय भोजन से पहले स्नान करना हर एक के लिये ज़रूरी था। उनका सब से मुख्य सिद्धान्त था 'अहिंसा'। इसलिये हर तरह की पशु-बलि, मांस-भक्षण या मदिरापान के वे विरुद्ध थे। उनका केवलमात्र भोजन रोटी-साग होता था। ठण्डे पानी के अलावा वे कभी और चीज़ न पीते थे। भोजन शुरू करते समय और ख़त्म करने पर वे मिलकर ईश्वर को धन्यवाद देते थे। वे केवल सफ़ेद कपड़े पहनते थे। बालों में तेल लगाना पाप समझते थे। किसी के पास पहने हुए कपड़ों के अलावा कपड़ों का दूसरा जोड़ा न होता था। यहूदी मंदिरों में पशुबलि के कारण वे इन मंदिरों में न जाते थे। किन्तु प्राचीन धर्म की ओर अपनी श्रद्धा दर्शाने के लिये समय समय पर शुद्ध उपहार और जलाने की धूप यरुसलम के मंदिर को भेजते रहते थे।

ईरान की मिथ्री सम्प्रदाय के प्रभाव से अन्य अधिकांश आस पास की क़ौमों के समान वे सूर्य का विशेष आदर करते थे और उसे ईश्वर की दिव्य ज्योति का भौतिक चिन्ह मानते थे। उपासना के समय सदा सूर्य की ओर मुंह कर लेते थे। बालार्क के उदय होते ही प्रत्येक ऐस्सेनी उसकी ओर मुंह करके यहूदियों के प्रसिद्ध मंत्र 'शेमा' का उच्चारण करता था। ईरानियों के समान वे इन तरह के देवताओं या फ़रिश्तों में भी विश्वास रखते थे, जो मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति में सहायक हो सकते हैं।

हर ऐस्सेनी का कर्तव्य होता था कि दिन के साधारण दैनिक श्रम के बाद आस पास की मामूली आबादियों में जाकर दीन दुखियों और दरिद्रों की सेवा करे। यदि इस काम में उसे यह अनुभव होता कि उसकी बस्ती की सामूहिक सम्पत्ति में से किसी चीज़ के ज़रिये किसी दीन दुखिया की कोई आवश्यकता पूरी हो सकती है, तो उसे अधिकार होता था कि बिना कुलपति या किसी दूसरे से पूछे वह तुरन्त उस चीज़ को उसे लाकर दे दे। इस एक कार्य के अलावा किसी दूसरे कार्य के लिये वह कुल की किसी चीज़ को बिना कुलपति की इजाज़त के हाथ न लगा सकता था।

इस सब से बचा हुआ समय और ख़ास कर रात का बहुत सा समय वह एकान्त सेवन, धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन, मनन और योग के अभ्यास में बिताता था। निस्सन्देह पवित्र जीवन, दीन दुखियों की सेवा, शारीरिक श्रम और योग द्वारा चित्त को स्थिर करना, ये चार बातें ऐस्सेनियों के अनुसार आत्मा की उन्नति के चार मुख्य साधन थे। आध्यात्मिक उन्नति की दृष्टि से हर ऐस्सेनी को कई उत्तरोत्तर श्रेणियों में से होकर निकलना पड़ता था।

ईसा के जन्म के समय इनकी तादाद ख़ूब बढ़ी हुई थी। सुरिया, फ़लस्तीन और मिश्र के पहाड़ों और जंगलों में ठंडे पानी के चश्मों के पास जगह जगह इनकी बस्तियाँ थीं। फ़ाइलो के समय में इनकी कुल संख्या चार हज़ार बताई जाती है।

इतिहासलेखक फ़ाइलो अपने समय के भारतीय और ईरानी सन्तों, महात्माओं के चरित्र और उनकी तपस्या की प्रशंसा करते हुए लिखता है कि ठीक इसी तरह के तपस्वी यहूदियों में ऐस्सेनी थे। यूनानी इतिहासलेखक स्ट्रैबो उन्हें "दार्शनिकों और वैज्ञानिकों के संघ" (Guilds of philosophy and Scientists) कह कर वर्णन करता है और लिखता है कि अफलातून जैसे दार्शनिक और विज्ञानवेत्ता उनके दर्शन करने और उनसे उपदेश लेने के लिये आते थे।

अफ़रीका की किसी किसी ऐस्सेनी बस्ती में ये लोग एक एक सप्ताह एकान्त सेवन करते थे और एक प्रकार की समाधि में पड़े रहते थे। फ़ाइलो लिखता है कि उनके इस लम्बे एकान्त सेवन का उद्देश्य होता था "ध्यान द्वारा परमेश्वर के व्यापक अस्तित्व के साथ अपनी आत्मा के मिला कर एक कर लेना।" इनमें से कई विशेष नामों या मंत्रों का जाप भी करते थे। समय समय पर उनमें अनेक दार्शनिक विषयों पर चर्चा होती थी। भजन गाये जाते थे और कहीं कहीं ईश्वर-स्तुति के साथ एक प्रकार का नाच भी होता था।

योग की विधियों और ध्यान के तरीक़ों को वे सिवाय दीक्षितों के दूसरों को न बताते थे। सरल भोजन और संयमी जीवन के कारण इनकी उमरें ख़ूब लम्बी होती थीं और अपने चरित्र और तत्व-ज्ञान के लिए आस-पास के संसार में वे बड़े आदर की दृष्टि से देखे जाते थे।

अपने मठों के अन्दर नये सदस्य के रूप में वे या तो केवल इतने छोटे बालकों को लेते थे जिन्हें शुरू से अपने रहन सहन और सिद्धान्तों में पक्का कर सकें और या युवावस्था पार किये हुए उन लोगों के लेते थे, जिन्हें सांसारिक भोग विलास की ओर अधिक आकर्षण न रह गया हो। आगन्तुक के अपनी समस्त धन-सम्पत्ति सामूहिक सम्पत्ति में मिला देनी पड़ती थी। पहले तीन साल उसे उम्मीदवार रहना पड़ता था। इस तीन साल के अन्दर उसे बड़े बड़े उपवास रखने पड़ते थे, व्रत करने पड़ते थे और कई तरह से अपने मन और इन्द्रियों के साधना पड़ता था। इतिहास-लेखक यूसुफ़ के अनुसार अन्त में उसे दीक्षा से पहले कुलपति के सामने इस तरह प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी—

"मैं परमात्मा का भक्त रहूँगा। मैं मनुष्य मात्र के साथ सदा न्याय का व्यवहार करूँगा। स्वयं अपनी इच्छा से या किसी दूसरे के कहने से भी मैं कभी किसी की हिंसा न करूँगा न किसी के हानि पहुँचाऊँगा। मैं सदा बुरे लोगों से दूर रहूँगा। मैं भले लोगों की सहायता करूँगा। मनुष्य मात्र के साथ मैं अपने वचनों का पालन करूँगा। अपने ऊपर के अधिकारियों के साथ सच्चा व्यवहार करूँगा, क्योंकि सिवाय परमात्मा के किसी दूसरे से किसी को कोई अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता। यदि स्वयं मुझे कोई अधिकार प्राप्त होगा, तो उसके कारण न मैं अपने व्यक्तिगत विचार या अपनी व्यक्तिगत सत्ता किसी दूसरे पर लादूंगा और न अपनी विशेष पोशाक या विशेष ढङ्ग द्वारा दूसरों पर अपना बड़प्पन दिखाऊँगा। मैं सदा सत्य से प्रेम करूँगा और असत्य से घृणा। मैं सदा अपने हाथों को चोरी से और अपनी आत्मा को पाप की कमाई से पाक रखूंगा। मैं अपने भाइयों (यानी कुल के दूसरे लोगों) से कभी कोई बात न छिपाऊँगा और न उनके किसी रहस्य के दूसरों पर प्रकट करूँगा, चाहे इसमें मेरे प्राण भी क्यों न चले जांय।"

सिवाय इस एक अवसर के वे और कभी किसी तरह की शपथ न खाते थे।

आमतौर पर इनके मठों में केवल पुरुष ही भरती किये जाते थे, किन्तु अफ़रीका में वे कहीं कहीं स्त्री जिज्ञासुओं को भी भरती कर लेते थे।

जिन विविध इबरानी शब्दों से ऐस्सेनी शब्द का विकास माना जाता है, उनके अर्थ हैं "मौन रहने वाला," 'धर्मनिष्ठ' और 'सन्यासी'।

ईसा से क़रीब एक सौ साल बाद से फिर इन लोगों का कहीं पता नहीं चलता। इतिहासलेखक यूसुफ़ लिखता है कि यूनान के पाइथेगोरियन और

स्टोइक दार्शनिकों ने अपने अनेक सिद्धान्त इन्हीं ऐस्सेनियों से सीखे। ईसाई धर्म में मठों और महन्तों की प्रथा भी ऐस्सेनियों ही से चली।

उसी समय के निकट बौद्ध और हिन्दू दर्शन के प्रभाव से एक और विचार शैली ने यहूदियों में जन्म लिया जिसे क़ब्बालह कहते हैं। १९ वीं सदी तक ज़्यादहतर यूरोपियन विद्वान इस शैली और उसके ग्रन्थों को तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे। किन्तु अब इस सदी में उसकी ओर आदर और उसे अधिक जानने की उत्सुकता बढ़ती जा रही है। क़ब्बालह का अर्थ 'क़ुबूल किया हुआ' यानी 'स्वीकृत' है। इनकी मुख्य पुस्तक 'ज़ोहर' है, जो पहली सदी ईसवी में लिखी गई। ज़ोहर का अर्थ है 'रोशनी'। ज़ोहर में तौरेत का एक भाष्य है, और उसके अलावा, ईश्वर, जीव, सृष्टि, मुक्ति आदि अनेक गूढ़ विषयों का दार्शनिक विवेचन है।

क़ब्बालह के कुछ थोड़े से सिद्धान्त ये हैं—ईश्वर अनादि, अनन्त, अपरिमित, अचिन्त्य, अव्यक्त और अनिर्वचनीय है, उसे केवल 'वह यह भी नहीं,' 'वह यह भी नहीं' (नेति, नेति—उपनिषद्) इस तरह के वाक्यों द्वारा ही बयान किया जा सकता है। वह 'अस्तित्व' और 'चेतनता' से भी परे है। उस अव्यक्त से किसी प्रकार व्यक्त की उत्पत्ति हुई, अचिन्त्य से चिन्त्य की। मनुष्य परमेश्वर के केवल इस दूसरे रूप का ही चिन्तन और मनन कर सकता है। इसी से सृष्टि सम्भव हुई। इसमे एक दूसरे के पश्चात् अनेक आध्यात्मिक, मानसिक, और भौतिक लोकों की उत्पत्ति हुई, लगभग इस प्रकार जिस प्रकार किरणों की सूर्य से। इन लोकों में दस मुख्य गिने जाते हैं। हर लोक के साथ अव्यक्त का एक विशेष अंश या रूप व्यक्त होने लगा। जिस प्रकार ईश्वर को अनिर्वचनीय कहना और अव्यक्त और व्यक्त का अन्तर उपनिषदों की परिभाषाओं से मिलता हुआ है, उसी प्रकार अव्यक्त के एक एक अंश का व्यक्त होना हिन्दू अवतार के सिद्धान्त से मिलता हुआ है। क़ब्बाली फ़रिश्तों और देवताओं पर विश्वास रखते थे और उन्हें मनुष्य की उन्नति में सहायक मानते थे।

मनुष्य की आध्यात्मिक मानसिक और शारीरिक रचना ठीक विश्व की आध्यात्मिक, मानसिक और भौतिक रचना के अनुरूप है। इसलिये जो कुछ मनुष्य के पिण्ड में है, वही विशाल ब्रह्माण्ड में है।

जीवों की उत्पत्ति परमेश्वर के व्यक्त रूप से हुई है। मुक्ति प्राप्त करने के लिए जीव को शरीर धारण करना पड़ता है। जिन मनुष्यों की आत्मा ज्ञान और शुभ कर्मों द्वारा शुद्ध और बुद्ध हो जाती है, वे मृत्यु के बाद परमात्मा में लीन हो कर मुक्त हो जाते हैं और जो इस दरजे को प्राप्त नहीं हो पाते उन्हें, जब तक वे शुद्ध और बुद्ध न हो जावें, अपने कर्मों के अनुसार जन्म-जन्मान्तरों और अनेक योनियों में से निकलना होता है। इस प्रकार ये लोग 'कर्म और पुनर्जन्म' दोनों भारतीय सिद्धान्तों के क़ायल थे। ईश्वर-प्रार्थना, धार्मिक जीवन और योग द्वारा मन को एकाग्र करके अपने आपको विश्व की आत्मा के साथ एक कर लेना इसी को वे आत्मशुद्धि, आत्मोन्नति और अन्त में मुक्ति का साधन बताते थे।

क़ब्बालह की पुस्तकों में योग के मुख़्तलिफ़ दरजों, शरीर के भीतर के चक्रों और अभ्यास के रहस्यों का ज़िक्र है। यूरोपियन इतिहासज्ञ स्वीकार करते हैं कि क़ब्बालियों ने यह सब बौद्ध और हिन्दू धर्मों ही से लिया।*

---

* पंडित सुन्दरलाल जी की पुस्तक "विश्व के सांस्कृतिक इतिहास" के "यहूदी संस्कृति और सम्प्रदाय नामक अध्याय का एक अंश।

मौर्यों के पतन के बाद ब्राह्मणों की प्रति-क्रान्ति

डाक्टर भूपेन्द्रनाथ दत्त

१८४ ई० पूर्व में मौर्यों के ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र सुंग ने राजा बृहद्रथ को मार कर मौर्य सिंहासन पर क़ब्ज़ा कर लिया। पुष्यमित्र के सिंहासन पर बैठते ही ब्राह्मण-प्रतिक्रिया की ऐसी भीषण लहर उठी जिसने सारे भारतीय समाज को दहला दिया। पुष्यमित्र पहला ब्राह्मण था जो कभी किसी राज सिंहासन पर बैठा और इसके बाद से ब्राह्मणों की गिनती भी शासक वर्ग में होने लगी। ऐतिहासिक उल्लेख मिलता है कि इस घटना की यादगार में पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ का समारोह किया। इस यज्ञ के आयोजन से पुष्यमित्र का उद्देश्य शायद वैदिक कर्मकाण्ड को फिर से चालू करना रहा होगा। 'मञ्जुश्री मूल-कल्प' का बौद्ध लेखक लिखता है कि सिंहासन पर बैठने के बाद पुष्यमित्र ने बौद्ध मठों को गिरवा दिया, बौद्ध-स्मृति-चिन्हों को नष्ट करवा दिया और बड़े बड़े सच्चरित्र बौद्ध भिक्खुओं को क़त्ल करवा दिया।[1]

इस सम्बन्ध में ऐतिहासिक मतभेद है कि पुष्यमित्र का उद्भव कहाँ तक ब्राह्मणों की प्रतिक्रिया का नतीजा था।[2] इसमें कोई सन्देह नहीं कि बौद्ध सत्ता के ख़िलाफ़ ब्राह्मणों की प्रतिक्रिया उस समय अपनी चरम सीमा पर पहुँची, जब बलख के यूनानी राजा मेनान्दर ने भारत पर चढ़ाई करके साकेत (अवध) तक के प्रदेशों पर क़ब्ज़ा कर लिया। उस मनोवैज्ञानिक मौके से फ़ायदा उठाकर सारा ख़मियाज़ा सम्राट् अशोक के उत्तराधिकारी के सर पर डाल दिया गया, जो अपने महान पूर्वज के आदेश के अनुसार दुश्मन को ताक़त से जीतने की अपेक्षा प्रेम से जीतने का क़ायल था।

सुंग सेनापति के नेतृत्व में ब्राह्मणों की इस प्रतिक्रिया को स्वर्गीय श्री जायसवाल ने रूढ़िवादी प्रतिक्रान्ति के नाम से पुकारा है।[3] इस प्रतिक्रान्ति की पूरी तसवीर हमें 'मानव धर्मशास्त्र' में मिलती है। इसी मानव धर्मशास्त्र को मनुस्मृति कहा जाता है। श्री जायसवाल के अनुसार यह धर्मशास्त्र पुष्यमित्र के समय लिखा गया और इस धर्मशास्त्र की व्यवस्थाओं को देखते हुए पता चलता है कि उसका एक उद्देश्य पुष्यमित्र के विश्वासघात का नैतिक समर्थन भी था।[4] 'नारद स्मृति' के अनुसार इसका रचयिता सुमति भार्गव नामक व्यक्ति था।[5] या कम से कम उसने पुरानी 'मनुस्मृति' में प्रतिक्रियावादी नई व्यवस्थाएं शामिल कर दीं। यही एक कारण हो सकता है, जिससे हमें मनुस्मृति के अन्दर अलग अलग व्यवस्थाओं में ज़बरदस्त विरोध का आभास होता है!

जो आदमी भी ध्यान से इस 'मानव धर्मशास्त्र' को पढ़ेगा उसे साफ़ साफ़ दिखाई दे जायगा कि इस धर्मशास्त्र ने कौटिल्य के अर्थशास्त्र और मौर्यों के शासन नियमों का बिलकुल ख़ात्मा कर दिया। इसके पृष्ठों में नीचे के तीन वर्णों के प्रति नफ़रत भरी हुई है। शूद्रों के प्रति और दूसरे वर्णों के प्रति इसका घृणा-भाव बिलकुल स्पष्ट है।[6] जायसवाल इस बात को स्वीकार करते हैं कि इस मानव धर्मशास्त्र

१—Jayaswal—"An Imperial History of India". P. 18.

२—H. C. Rai Chaudhari—"Political History of Ancient India"

३—Jayaswal—"Manu and Jagna. valkya.', PP, 40-41.

४—Ibid.

५—Ibid also Jolly—P. 21.

६—Ibid—P. 199.

के अन्दर "राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक द्वेष-भाव भरा हुआ है।" हो सकता है कि इसीलिए इस धर्मशास्त्र को इतना मान और इतनी प्रतिष्ठा मिली। इतनी शीघ्रता के साथ जो यह स्वीकार कर लिया गया उसका कारण यह हो सकता है कि राजा ने इसे अपनी स्वीकृति दी और यह सुंग राज्य का माना हुआ व्यवस्था-शास्त्र हो गया।[७]

मानव धर्मशास्त्र या मनुस्मृति की विवेचना करने पर उसमें आपको इस प्रकार की व्यवस्था मिलेगी कि किस परिस्थिति में आप किस प्रकार के राजा को नष्ट कर सकते हैं (७-२७,२८,१११)। शायद पुष्यमित्र के विश्वासघात को जायज़ क़रार देने के लिये ही यह व्यवस्था हो। फिर यह शास्त्र शूद्रों के बिलकुल विरुद्ध है। इसमें ब्राह्मणों को आदेश है कि वे शूद्र राजाओं के राज्य में न रहें (४-६१) कोई शूद्र न्यायाधीश नहीं हो सकता (८-२०)। मौर्य काल में शूद्रों के खिलाफ़ ऐसा कोई प्रतिबन्ध न था। इस शास्त्र के अनुसार जिस राज्य में बहुत बड़ी तादाद में उन्नत-मना शूद्र रहते हैं और जहाँ द्विज नहीं रहते वहाँ अकाल और तरह तरह की बीमारियाँ हो जाती हैं और वह राज्य बहुत जल्दी नष्ट हो जाता है (८-२२)। यह व्यवस्था साफ़ साफ़ मौर्य राज्य के विरुद्ध थी। इस शास्त्र के शुरू के श्लोकों में ब्राह्मणों को शूद्र स्त्रियों से विवाह की इजाज़त थी (३,१२-१३), किन्तु बाद के श्लोकों में यह इजाज़त वापस ले ली गई (३,१४-१९)। इसमें लिखा है—"इतिहास और कथाओं में कहीं इस बात का उल्लेख नहीं है कि ब्राह्मणों और क्षत्रियों ने आपत् काल में भी शूद्र स्त्रियों से विवाह किया हो (३-१४)।" यह कितनी अनैतिहासिक बात है! पुराने इतिहास में और अर्थ-शास्त्र में असवर्ण विवाह के काफ़ी उल्लेख मिलते हैं (अर्थशास्त्र भाग ३, अध्याय ७-१६४)। मानव धर्मशास्त्र में एक जगह लिखा है—"दासी के पुत्र उसके स्वामी की सम्पत्ति हैं" (९-५५)। अर्थात् यह धर्मशास्त्र पशुओं, घोड़ों और गुलाम मनुष्यों की सन्तति में कोई फ़र्क़ नहीं करता। इसके विपरीत अर्थशास्त्र में साफ़ लिखा है कि दासी पुत्र भी 'आर्य' है। सम्राट् अशोक ने इस बात की घोषणा कर दी थी कि क़ानून की दृष्टि से ब्राह्मण और शूद्र सब बरा-बर हैं, किन्तु मानव धर्मशास्त्र ने सम्राट अशोक की इस व्यवस्था को रद्द करके एक ही जुर्म में ब्राह्मण और शूद्रों के लिये अलग अलग सज़ाओं की व्यवस्था कर दी। मानव धर्मशास्त्र के अनुसार यदि कोई द्विज किसी शूद्र के साथ क्रूर व्यवहार करता है तो उसे कम सज़ा मिलेगी, किन्तु यदि कोई शूद्र किसी द्विज के साथ क्रूर व्यवहार करता है, तो उसे अधिक सज़ा मिलेगी (८-२६७,२७७;३६६-३७६)। इसके अनुसार ब्राह्मणों का पुराना प्रभुत्व फिर क़ायम हो गया। किन्तु शूद्रों के प्रति वैरभाव की चरम सीमा उस समय पहुँची जब यह व्यवस्था दी गई कि—"यदि कोई शूद्र किसी द्विज को दुर्वचन कहे तो उसकी जीभ काटली जाय, क्योंकि वह नीच है (८-२७०)।[८] इसके विपरीत अर्थशास्त्र कहता है कि—"राजा ऐसे पुरोहित को बरख़ास्त कर दे जो आज्ञा देने पर भी किसी अयाज्य को वेद पढ़ाने से इनकार करता है, या जो किसी अयाज्य के यज्ञ में शामिल होने से इनकार करता है (अर्थशास्त्र भाग-१, अध्याय १०-१६)। अर्थशास्त्र की इस व्यवस्था के अनुसार शूद्रों को वेद पढ़ने और यज्ञ करने दोनों का अधिकार था। मानव धर्मशास्त्र ने इस अधिकार को छीन लिया। यही नहीं आगे चलकर मानव धर्मशास्त्र कहता है—"यदि कोई शूद्र किसी द्विज के नाम और जाति की चरचा अपमानजनक शब्दों में करता है, तो दस अंगुल लम्बी लोहे की कील उसके मुँह में घुसेड़ देनी चाहिये" (८-२७१)। एक दूसरी जगह लिखा है—"यदि कोई अद्विज घमण्ड के साथ किसी ब्राह्मण को उसके कर्तव्य का बोध कराये तो

७—Jayaswal, of. cit., PP. 40-41

८—'The Laws of 'Manu'—translated by Buhler.

राजा को ऐसे अद्विज के मुंह और कान में जलता हुआ गरम तेल डलवा देना चाहिये" (८-२७२)। एक और जगह लिखा है—"शरीर के जिस अंग से कोई शूद्र उच्च जाति वाले को चोट पहुँचाये उस शूद्र के उस अंग को काट डालना चाहिये। यह मनु की शिक्षा है" (८-२७९) । वर्ण व्यवस्था का इससे अधिक क्रूर रूप और क्या हो सकता है !

इस तरह मानव धर्मशास्त्र ने मौर्यों की शासन व्यवस्था के समता के सिद्धान्त को एक क़लम नष्ट कर दिया और शूद्रों को सम्पत्ति के अधिकार से वञ्चित कर दिया। धर्मशास्त्र के अनुसार—"ब्राह्मण को दास-शूद्र की सम्पत्ति फ़ौरन ज़ब्त कर लेनी चाहिये, क्योंकि शूद्र की अपनी कोई सम्पत्ति नहीं" (८-४१७)। इसके अतिरिक्त "दास को सम्पत्ति रखने का कोई अधिकार नहीं क्योंकि उसकी सम्पत्ति उसके स्वामी की सम्पत्ति है" (८-४१६)। इसके विपरीत अर्थशास्त्र दास को सम्पत्ति के मालिक होने का अधिकार देता था (अर्थशास्त्र ३, अध्याय १३-१८२)। अर्थशास्त्र के अनुसार—"दास की सम्पत्ति उसकी मृत्यु के बाद उसके रिश्तेदारों को मिलेगी और रिश्तेदारों के अभाव में उसके स्वामी को।" (उपरोक्त-१८३)। एक ओर धर्मशास्त्र ने शूद्रों के लिए घोर असुविधाएं कर दीं और दूसरी ओर ब्राह्मणों के लिये विधान किया—"यदि धन के अभाव में राजा मृत्यु शय्या पर पड़ा हो तब भी उसे वेद पढ़े हुए ब्राह्मण से राज-कर नहीं लेना चाहिये" (७-१३३)। यहाँ भी अशोक के विधान को तोड़ा गया। मानव धर्मशास्त्र आगे चलकर कहता है—"दास, दस्यु और चांडाल को गवाह के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता" (८-६६)। इसके विपरीत अर्थशास्त्र शूद्र को गवाह के रूप में स्वीकार करने में कोई परहेज़ नहीं करता (अर्थशास्त्र ३, अ० ११-१७४)। धर्मशास्त्र के अनुसार शूद्र गवाह के शपथ लेने के बाद भी उसे जिस्मानी कष्ट देकर उसके झूठ-सच का पता चलाया जाता था जब कि कौटिल्य के अनुसार किसी भी गवाह की गवाही लिखकर उसकी साधारण रूप से जांच करानी चाहिये, किसी गवाह को शारीरिक यातना पहुँचाने की ज़रूरत नहीं। आर्थिक दृष्टि से भी धर्मशास्त्र ने शूद्रों की स्थिति अत्यन्त असुविधाजनक रखी है। धर्मशास्त्र के अनुसार—"महाजन को ब्राह्मण क़र्ज़दार से दो आना प्रतिशत, क्षत्रियों से तीन आना प्रतिशत, वैश्यों से चार आना प्रतिशत और शूद्रों से पांच आना प्रतिशत ब्याज लेना चाहिये" (८-१४२) जब कि कौटिल्य के अनुसार "हर सैकड़ा हर महीने सवा आना ब्याज लेना ही जायज़ है।" (अर्थशास्त्र ३, अ० ११-१७३)। ब्याज के सम्बन्ध में अर्थशास्त्र ने विविध जातियों के बीच कोई तमीज़ नहीं की।

इस तरह मानव धर्मशास्त्र ने अशोक के समय की व्यवहार समता को बिलकुल नष्ट कर दिया। ब्राह्मणों को किसी भी अपराध में मृत्युदण्ड देना नाजायज़ क़रार दिया। "ब्राह्मण ने चाहे जो अपराध किया हो उसकी हत्या कभी न करनी चाहिये। केवल उसे देश से बाहर निकाल देना चाहिये, उसकी सारी जायदाद उसे दे देनी चाहिये और उसको ज़रा सा भी शारीरिक कष्ट नहीं पहुँचाना चाहिये।" (८-३८०)। "ब्राह्मण वध से अधिक गर्हित दुनिया में कोई दूसरा पाप नहीं है। इसलिये राजा को दिमाग़ में भी इस विचार को नहीं लाना चाहिये कि उसे किसी ब्राह्मण की हत्या करनी है।" (८-३८१)। दूसरी ओर शूद्र के सम्बन्ध में लिखा गया है—"यदि कोई स्वामी शूद्र को दासता से मुक्त भी करदे, तब भी वह शूद्र स्वतन्त्र नहीं हो सकता। उसके लिये दस्युता स्वाभाविक है इसलिये कौन उसे दस्युता से मुक्त कर सकता है ?" (८,४१२-४१४)।[९] इस तरह शूद्रों को अर्थशास्त्र और सम्राट अशोक ने जो कुछ व्यावहारिक समता दी थी, उसे 'मानव धर्मशास्त्र' ने वापस ले लिया।

मानव धर्मशास्त्र ने जन्म और उत्तराधिकार को भी यथेष्ट प्रधानता दी है।[१०] मानव धर्मशास्त्र

९—Buhlers' translation.

१०—Ibid--PP. 319-321

के अनुसार—"सब वर्णों में जो बच्चे शास्त्रानुसार विवाहित स्त्रियों से (ऐसी स्त्रियों से जो सजातीय हों और और कुमारी के रूप में विवाह में प्राप्त की गई हों) पैदा हुए हों वे अपने पिता के वर्ण के ही माने जायंगे।" इस व्यवस्था के अन्दर शास्त्रानुकूल विवाह और सवर्ण विवाह के ऊपर ज़ोर दिया गया है। आगे एक जगह लिखा है—"द्विज पुरुषों को अपने से एक दरजा नीचे की पत्नी से जो सन्तान प्राप्त हो वे भी पिता से ही वर्ण को प्राप्त करती हैं और उनका एकमात्र दोष उनकी माँ के कारण है (१०-६)।" इस व्यवस्था के अनुसार असवर्ण विवाह जायज़ है, किन्तु नीची जाति की माँ का दाग़ सन्तान पर रह जाता है। आगे चलकर इसे विस्तार से समझाया गया है—"ब्राह्मण की सन्तान क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र स्त्री से, क्षत्रिय की सन्तान वैश्य और शूद्र स्त्री से, वैश्य की सन्तान शूद्र से ये छहों सन्तानें 'अपासद' कहलाती हैं।[११] यह व्यवस्था उस पहले की व्यवस्था को काट देती है, जिसके अनुसार अपने से एक दरजा नीची जाति की स्त्री से प्राप्त सन्तति पिता के वर्ण को प्राप्त होती है। जो सन्तान अपासद कहलाएंगी वे कैसे पिता के वर्ण को प्राप्त कर सकती हैं? मानव धर्मशास्त्र की एक और व्यवस्था में कहा गया है—"द्विजों की जो सन्तानें एक दरजा नीचे के वर्ण की स्त्री से हों वे अपनी माँ की हीनता के कारण 'अनन्तरम' कहलाती हैं। इस व्यवस्था से यह ज़ाहिर है कि हीन जातीय माँओं की सन्तानें पिता के वर्ण को प्राप्त नहीं कर सकतीं। पूर्व व्यवस्थाओं की तुलना में यह एक विरोधी और बाद की व्यवस्था मालूम होती है।

फिर मानव धर्मशास्त्र 'खिचड़ी वर्णों' का ज़िक्र करता है। उसके अनुसार—"वर्णों की मिलावट से, जिन स्त्रियों के साथ विवाह नहीं होना चाहिये, उनके विवाह से और कर्तव्यच्युत होने से अपवित्र जातियाँ बन गई हैं।[१२]" (१०-२४)। इस तरह भिन्न जातीय माँ बाप की सन्तानें मनु के अनुसार वर्णसंकर हैं। इसका साफ़ मतलब यह है कि इजाज़त होते हुए भी मानव 'धर्मशास्त्र' असवर्ण विवाहों को प्रोत्साहन नहीं देता।[१३] इसका ब्राह्मणों की उस प्रतिक्रान्ति से मेल है जिसका उद्देश्य जन्मगत वर्णाश्रम धर्म के अनुसार सामाजिक व्यवस्था फिर से स्थापित करना था।

मानव धर्मशास्त्र में इस बात पर ज़ोर दिया गया है कि उच्च वर्ण के लोगों का रक्त नीच वर्ण के लोगों से अधिक पवित्र होता है। "यदि कोई कुल ब्राह्मण पुरुष और शूद्र स्त्री के संयोग से फले और बढ़े तो इस तरह के कुल की लड़कियों की ब्राह्मणों के साथ शादी होने से वह नीच कुल सातवीं पीढ़ी में उच्च-वर्ण ब्राह्मण कुल हो जायगा।" (१०-६४)। इसके अनुसार ब्राह्मण पिता और अद्विज माता की पुत्री यदि किसी ब्राह्मण से ब्याही जाय और इस संयोग से उत्पन्न लड़की फिर किसी ब्राह्मण को ब्याही जाय और यह क्रम सातवीं पीढ़ी तक चलता रहे तो उसके बाद की संततियाँ ब्राह्मण हो जायंगी, क्योंकि मानव धर्मशास्त्र कहता है "अच्छा वीर्य सदा प्रशंसनीय है।" (१०-७२)। यही नियम सभी जातियों के लिये लागू है। इस सम्बन्ध में कहा है—"शूद्र पुत्र इस तरह से ब्राह्मण के पद को प्राप्त होता है और इसी नियम से ब्राह्मण शूद्र की स्थिति को पहुँचता है। यही नियम क्षत्रिय-पुत्र के लिये है और यही नियम वैश्य-पुत्र के लिये है।" (१०-६५)। इसका अर्थ यह है कि उच्च वर्ण के पुरुष के संयोग से संतति का दरजा ऊंचा होता है और निम्न वर्ण पुरुष के संयोग से सन्तति भी निम्न वर्ण की होती है।

११—Ibid PP. 403-404.

१२—Jones' translation of "The Ordinances of Manu" P 343.

१३—मानव धर्मशास्त्र के अन्दर यह विरोधीभाव इसलिये है कि उसमें दो तरह की व्यवस्थायें हैं। पुरानी व्यवस्था 'मनुस्मृति' है और नई सुमति भार्गव की लिखी हुई 'मानव धर्मशास्त्र' है। सुमति भार्गव के ऊपर ब्राह्मण-प्रतिक्रिया का स्पष्ट असर है—लेखक।

अन्त में वंश परम्परा के प्रश्न का इस तरह ज़िक्र किया गया है—ब्राह्मण पिता और अनार्य माता के संयोग से उत्पन्न सन्तान श्रेष्ठ है या अनार्य पिता और ब्राह्मण माता के संयोग से उत्पन्न सन्तान ? धर्मशास्त्र इसका उत्तर देता है कि यदि ब्राह्मण पिता की सन्तान में 'पाक' और 'यज्ञ' की विशेषता है तो वह अनार्य पिता की सन्तान की अपेक्षा उच्चतर है। (१०-६६)। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि वंश क्रम में पिता की महानता है, माता की नहीं।[१४]

मानव धर्मशास्त्र में ब्राह्मणों की उच्चता का प्रतिपादन हमें राजनैतिक क्षेत्र में भी मिलता है। एक जगह लिखा है—"राजा को चाहे जितना ख़तरा क्यों न हो तब भी उसे ब्राह्मण के क्रोध को न जगाना चाहिये, क्योंकि क्रुद्ध ब्राह्मण क्षण भर में राजसत्ता को नष्ट कर सकता है··· । चाहे विद्वान हो या अपढ़ ब्राह्मण महा देवता के समान है।" (९,३१३-३१७)। इस वाक्य में हमें ब्राह्मण ग्रन्थों और ब्रह्मजय सूत्रों की प्रति ध्वनि मिलती है। राजा के लिये भी आदेश है कि राजा को ख़ानदानी पुरोहितों के परिवार से सात या आठ मन्त्री चुनने चाहिये जो ऊंचे कुल के, परखे हुए, साहसी और वेद शास्त्रों में निपुण हों। (७-५८)। इस व्यवस्था के अनुसार तो ब्राह्मण-ब्यूरोक्रैसी अनिवार्य हो जाती है क्योंकि वेद शास्त्रों में ब्राह्मणों के अतिरिक्त और कौन निपुण होगा ? अर्थ-शास्त्र ने मंत्रियों के चुनाव के लिए इस तरह की कोई क़ैद नहीं रखी जिसमें केवल ब्राह्मण ही आ सकें। अर्थशास्त्र के अनुसार अमात्य सम्पत (मन्त्री) के पद के लिये ये गुण ज़रूरी हैं कि वह देश का अधिवासी हो, ऊंचे ख़ानदान का हो और कलाओं में निपुण हो। (अर्थशास्त्र १, आ० ८-१४ अ० ९-१५)। कौटिल्य बहुदन्ति के पुत्र से सहमत है कि मन्त्री के लिये आवश्यक गुण यह होना चाहिये कि वह "ऊंचे ख़ानदान का हो और विद्वान हो।" अन्त में धर्मशास्त्र राजनैतिक क्षेत्र में एक बहुत बड़ी मांग पेश करता है। उसके अनुसार—"प्रधान सेनापति का पद, प्रधान न्यायाधीश का पद, राज-प्रबन्ध करने वाले राजा का पद—ये सब पद स्वीकार करने योग्य वही है जो वेदों का पूर्ण ज्ञाता हो।" (१२-९९-१००)। इसका अर्थ यह है कि मानव धर्मशास्त्र स्पष्ट इस बात का आदेश देता है कि वेदों के ज्ञाता ही इन पदों पर आसीन हो सकते हैं। इससे पूर्व किसी भी स्मृति में इस तरह का कोई आदेश नहीं मिलता। शायद, जैसा कि श्री जायसवाल कहते हैं, ब्राह्मण पुष्यमित्र के राज्य हड़पने की यह नैतिक वकालत हो।

इसी धर्मशास्त्र में हमें "राजा के दैवी अधिकार" की दलील मिलती है। इसी मानव धर्मशास्त्र में ही पहली मरतबा 'नर-देव' के विचार का प्रतिपादन किया जाता है। इससे पता चलता है कि भारत में उस समय तक सामन्तशाही का निर्माण हो चुका था। इस तरह ब्राह्मणों की सत्ता क़ायम होते ही वर्णों की भी नई हैसियत हो गई। जातियों की सामाजिक जगह बदल गई।

एक दूसरा धर्मशास्त्र जो ब्राह्मणों की प्रभुता के काल में लिखा गया 'वसिष्ठ स्मृति' है। केन के अनुसार इसका रचना-काल ईसा की पहली सदी है।[१५] हालांकि इस स्मृति में ऐसे विचार ज़ाहिर किये गये हैं जो पुराने मालूम होते हैं और इसमें आपस्तम्ब का भी समर्थन है फिर भी इसमें जो ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है उससे यह मालूम पड़ता है कि यह ग्रन्थ उस समय लिखा गया जब ब्राह्मणों की प्रभुता थी। मालूम होता है वसिष्ठ स्मृति ऐसी जगह लिखी गई जहाँ अतिथि के स्वागत में गोवध का पुराना रिवाज तब भी जारी था, हालांकि यदा कदा गाय की जगह बकरा हलाल करने की भी प्रथा चल पड़ी थी (अध्याय-४)। उसमें एक स्थान पर

१४—इस सम्बन्ध में मध्यकालीन यूरोप में ग़ुलामों के संसर्ग से उत्पन्न सन्ततियों और मनुस्मृति का तुलनात्मक अध्ययन दिलचस्प है।

१५—Kane, P. 58.

लिखा है—"ब्राह्मण या क्षत्रिय अतिथि के लिये गृहस्थ या तो परिपक्व अवस्था का बैल रांध सकता है या बकरा।"[१६] इससे स्पष्ट अनुमान लगाया जा सकता है कि 'वसिष्ठ स्मृति' उत्तर भारत में ही कहीं लिखी गई है।

वसिष्ठ का आदेश है कि तीनों उच्च वर्णों की सेवा करना शूद्र का धर्म है। इस दृष्टि से वसिष्ठ मनु से भिन्न नहीं है।[१७] फिर वह कहते हैं—"यदि कोई द्विज शूद्र का अन्न खाकर मृत्यु को प्राप्त होता है तो वह दूसरे जन्म में या तो गाँव का सुअर होता है या उसी शूद्र के घर पैदा होता है।[१८] (अ० ३)। फिर वह पंडितों से कहते हैं—"म्लेच्छों की भाषा न सीखो।[१९] (अ० ३)। एक दूसरी जगह लिखा है—"कुछ लोग कहते हैं कि शूद्र शव के समान हैं इसलिये शूद्र के निकट वेदों का पाठ नहीं होना चाहिये।"[२०] (अ० १५)। ऐसे अ-ब्राह्मण पुरुष के लिए जिनका ब्राह्मण स्त्रियों से सम्बन्ध है वसिष्ठ नीचे लिखी सज़ा का विधान करते हैं—"यदि कोई शूद्र ब्राह्मण स्त्री के परिचय में है तो राजा को उस शूद्र को 'विरण' घास में बंधवा कर ज़िन्दा आग में डलवा देना चाहिये। यदि कोई वैश्य ब्राह्मण स्त्री के परिचय में है तो राजा को उस वैश्य को 'लोहित' घास में बंधवा कर आग में डाल देना चाहिये और यदि कोई क्षत्रिय ब्राह्मण स्त्री के परिचय में है तो राजा को उसे 'सर' घास में बंधवा कर आग में डाल देना चाहिये।"[२१] (अ० १९)। वसिष्ठ स्मृति के न्याय का यह नमूना है। वर्ण के हिसाब से सज़ा की मात्रा भी बढ़ती जाती है।[२२] (अ० १९)।

कुछ अंशों में वसिष्ठ स्मृति और दूसरी स्मृतियों से अधिक कड़ी है, क्योंकि वसिष्ठ स्मृति में क्षत्रियों को सज़ा देने का जो विधान है वह उससे पहले कभी किसी स्मृति ने नहीं दिया। इसमें ब्राह्मणों का दरजा बहुत ऊंचा कर दिया गया। इस चीज़ को अधिक सफ़ाई से समझने के लिये वसिष्ठ स्मृति के एक दूसरे विधान पर ध्यान दीजिये। उसमें लिखा है—"ब्राह्मण का धन अपहरण करके अपराधी के रोंगटे खड़े हो जाने चाहिये। उसे भाग कर राजा के पास जाना चाहिये और उससे कहना चाहिये 'मैं चोर हूँ! राजन्, मुझे सज़ा दीजिये' राजा को तब उसे उदम्बर लकड़ी का बना हुआ हथियार देना चाहिये जिससे वह अपने आपको मार डाले। वेदों में लिखा है कि मृत्यु के बाद वह अपराधी पवित्र हो जाता है।" (अ० १८)।[२३] जब तक राजा भी ब्राह्मण न हो तब तक इस तरह की व्यवस्था प्रचलित करना सहज नहीं। मनु और वसिष्ठ में ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का आदि से अन्त तक बखान है और यह श्रेष्ठता उस समय तक अर्थहीन है जब तक इसकी पीठ पर राजकीय वरद-हस्त न हो। इससे यह प्रतीत होता है कि ये दोनों स्मृतियाँ ब्राह्मणों के शासन काल में ही लिखी गईं। किन्तु श्री जायसवाल के अनुसार 'वसिष्ठ संहिता' को अधिक प्रमुखता नहीं मिली और वह अन्तिम प्रमाण के रूप में कभी नहीं स्वीकार की गई।[२४] अब हम याज्ञवल्क्य स्मृति पर ग़ौर करेंगे।

पातञ्जलि ने अपने महाभाष्य में इस पर बहस की है कि उच्च वर्ण जातियों के बर्तनों में यदि कोई खाये तो वे बर्तन अपनी शुद्धता नहीं खोते। पातञ्जलि को पुष्यमित्र का समकालीन माना जाता है इसलिये कि पातञ्जलि ने अपने महाभाष्य में पुष्यमित्र के अश्वमेध यज्ञ की चरचा की है। (महाभाष्य ३, २ १२३)। पाणिनि ने अपने व्याकरण में एक जगह लिखा है—शूद्राणाम् अनिरवसितानाम्' (२-४-१०) अर्थात् 'ऐसे शूद्र जो अलहदा नहीं किये गये गये।' पातञ्जलि इसकी व्याख्या करते हुये लिखता है कि ऐसे शूद्र जो आर्यावर्त से अलग नहीं किये 'अनिर्वासित' कहलाते हैं और वह आर्यावर्त की सीमा का भी उल्लेख करता है। किन्तु यह भी

१६—२२—वसिष्ठ संहिता—अनु० एम० एन० दत्त, पृष्ठ० ७६४, ७५५, ७७१, ७७२, ८०२, ८०६, ८१० ।

२३—वसिष्ठ संहिता, पृष्ठ—८०८।

२४—Jagnavalkya–oq. cit. 66.

लिखता है कि इस सीमा में शक और यवन भी रहते हैं। तब अनिर्वासित से तात्पर्य यह होगा कि आर्य निवास से जो निर्वासित नहीं। और आर्य निवास क्या है? आर्य गाँवों में रहते हैं, घोशों (गोचर भूमि) में रहते हैं, नगरों में रहते हैं और सम्बन्ध (वैश्यपुरी) में रहते हैं। और इन निवासों में चांडाल और डोम भी रहते हैं।[२५] किन्तु इनका शुमार आर्यावर्त में नहीं है। इससे तात्पर्य यह निकला कि अनिर्वासित वे लोग हैं जो यज्ञ में आहुति देने में शामिल हैं। किन्तु पातञ्जलि रजक (धोबी) और तन्तुवाई (जुलाहा) को भी अनिर्वासित मानता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जिन लोगों के खाने के बाद बर्तन धोकर रख लिये जाते हैं, वे अनिर्वासित हुए और जिनके खाने के बाद बर्तन अशुद्ध होकर फेंक दिये जाते हैं वे निर्वासित समझे जाते थे।

इससे यह ज़ाहिर होता है कि आर्यनिवास में रहने वाले आर्य कहलाते थे। इसलिये शूद्र भी आर्य थे क्योंकि उनके भोजन करने पर आर्य अपने बर्तन फेंक नहीं देते थे। केवल वे लोग जिनकी औलादें आज अन्त्यज कहलाती हैं आर्य नहीं समझे जाते थे। इसका अर्थ यह हुआ कि शूद्र हालांकि द्विज नहीं थे फिर भी आर्य थे। कौटिल्य भी इसी विचार का था। मनु ने भी कहीं यह नहीं लिखा कि शूद्र अनार्य हैं। फिर मनु के अनुसार शक और यवन भी शूद्र हैं। पातञ्जलि शूद्रों को डोम से ऊँचा समझता है। उन्हें अनिर्वासित मानता है। पातञ्जलि ने शूद्रों को ये सुविधायें उस समय दीं जब मनु शूद्रों और यवनों के विरुद्ध गरज रहे थे। पातञ्जलि की इस विवेचना से यह पता चलता है कि धोबियों के समान कुछ जातियाँ पहले पवित्र समझी जाती थीं, किन्तु बाद में उन्हें पतित समझा जाने लगा।[२६] अहिन्दू यवन अनिर्वासित हो सकते हैं, यह विचार आज ध्यान में भी नहीं लाया जा सकता। इससे इस बात का समर्थन होता है कि जातियों और उपजातियों की भिन्न भिन्न काल में भिन्न भिन्न अवस्था रही है।

२५—स्मृतियों के अनुसार चांडाल और डोम नगर की सीमा के बाहर रहते हैं—लेखक।

२६—यम संहिता धोबियों को पतित वर्ण का समझती है—लेखक।

गोस्वामी जी की विचार-धारा

(प्रत्यालोचना)

पं० भगीरथप्रसाद दीक्षित, साहित्यरत्न

सितम्बर सन ४३, की 'सरस्वती' में अगस्त की 'विश्ववाणी' में प्रकाशित "गोस्वामी जी की विचारधारा" शीर्षक लेख पर सुयोग्य सरस्वती-सम्पादक ने एक टिप्पणी दी है। इस टिप्पणी में उक्त विद्वत्प्रवर ने मेरे उन प्रमाणों व बातों पर कुछ भी विचार नहीं किया जिन्हें मैंने उस लेख में उपस्थित किया है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वे ऐसे आलोचनात्मक लेखों का महत्व स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं और न अपने मत के विरुद्ध कोई बात सुनने को तैयार हैं। स्वर्गीय पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी 'कालिदास की निरंकुशता' तक लिखकर अपने को गौरवान्वित मानते थे और 'सरस्वती' की यही विशेषता समझी जाती थी। उसे एक उच्चकोटि की पत्रिका का पद प्राप्त था, क्योंकि विचार-विमर्श की ही उसमें प्रधानता रहती थी।

सम्पादक महोदय ने उस आलोचनात्मक शैली का परित्याग कर एक ऐसे मार्ग का अनुकरण किया है जो न तो समीचीन ही है और न देश व समाज के लिये हितकर ही माना जा सकता है।

आपने हिन्दी संसार के सेन्टीमेंट (धार्मिक भावनाओं) को अपील कर उसे मेरे विरुद्ध भड़काने का प्रयत्न किया है। इसे वर्तमान काल में कोई भी पसन्द नहीं कर सकता। जिन शब्दों द्वारा आपने हिन्दी समाज को उत्तेजित करने का उद्योग किया है वे ये हैं—

"उनके इस बे बुनियाद आरोप से एक ऐसी महान् रचना का अपमान होता है जो इस देश के लाखों आदमियों का अति पवित्र धर्म ग्रन्थ है।"

आपने इतना कह कर ही सन्तोष नहीं कर लिया वरन् जोश में आकर फिर लिखते हैं—"हम हिन्दी-प्रेमियों का ध्यान दीक्षित जी के उस लेख की ओर आकृष्ट करते हैं ताकि वे देखें कि उनके हिन्दी के ये साहित्यरत्न जी उनके साहित्य के आधुनिक वेद को किस प्रकार ज़लील करने को उतारू हैं।"

हम 'सरस्वती' के विद्वान् सम्पादक से यही बात ज्ञात करना चाहते हैं कि क्या वे हिन्दी-संसार से आलोचनात्मक विचारों और देश-हितकर भावों को हटा देना चाहते हैं ? क्या उनके इन उद्योगों से समाज का कुछ लाभ हो सकता है ? और क्या संकुचित विचारों को समाज में भरना साहित्य में सड़ाँयँद लाने का प्रयत्न न माना जायगा ? जो विचार मेरे द्वारा गोस्वामी जी के विषय में समाज के सामने रक्खे गये हैं तथा जो उदाहरण उनकी रचनाओं से दिये गये हैं वे ही इस बात का प्रमाण हैं कि उनमें तथ्य अवश्य है और उनका उत्तर न दे सकने के कारण हिन्दुओं की धार्मिक भावनाओं को उत्तेजित करने का व्यर्थ प्रयास किया गया है। उन्हें बे बुनियाद, निराधार, क्लिष्ट कल्पना, और विकत्थना मात्र कहने से हिन्दी संसार को नहीं बहकाया जा सकता। हमारा यह समाज पर्याप्त जागरूक हो चुका है। उसे अपनी भलाई-बुराई सब अपनी आँखों देखनी और विचार में लानी है। वह अन्धविश्वासी बनकर ऐसे चरवाहों के पीछे भेड़ रूप में जाने को कदापि तैयार नहीं है।

बीस वर्ष पूर्व भूषण के विचार जनता के समक्ष रखते समय भी इसी प्रकार की भावनायें मेरे विरुद्ध उठाई गई थीं जैसी 'सरस्वती' सम्पादक ने इस समय प्रकट की हैं। परन्तु इतने काल के विचार-विनिमय के परिणामस्वरूप आज उनमें से बहुत से विचार सर्वमान्य हो चुके हैं, शेष के विषय में भी दबी ज़बान स्वीकारोक्ति होती जाती है। गोस्वामी तुलसीदास के विषय में भी समाज को यह कड़वी दवा अवश्य पीनी पड़ेगी। इसके बिना उसका कल्याण नहीं और न उसके उद्धार की आशा की जा सकती है।

हिन्दू जाति के लिये यह आलोचना संजीवनी बटी का काम देगी। यदि समाज अपना उत्थान चाहता है तो उसे अपने मार्ग का परिष्कार और संशोधन अवश्य करना पड़ेगा। अपनी त्रुटियों का मार्जन किये बिना उसके लिये कोई चारा नहीं। ऐसी दशा में उक्त सम्पादकीय भावनाएँ कहाँ तक उचित और समयानुकूल हैं इस पर विचार करने का कष्ट लोगों को उठाना पड़ेगा।

'सरस्वती'-सम्पादक ने तुलसीकृत रामायण को 'आधुनिक वेद' बतलाया है परन्तु इतनी सीधी सादी बात भी आपकी समझ में नहीं आई कि उसमें पाँच प्रतिशत भी वैदिक भावना नहीं है।

हमारे शास्त्रों का मुख्य विधान 'तर्कं वेदाः' सर्वमान्य रहा है और जब तक हमारा समाज इस मार्ग का अनुसरण करता रहा, तब तक सदैव उन्नत पथ पर अग्रसर रहा। 'वादे वादे जायते तत्त्व बोधः' वाली कहावत कितनी महत्त्वपूर्ण एवं सारगर्भित है ! इस सबको भुला कर या मिटा कर ये सम्पादकप्रवर राष्ट्र का हित चाहते हैं, जो कदापि सम्भव नहीं।

मैंने अपने लेख में गोस्वामी जी और उनके रामचरितमानस की भूरि भूरि प्रशंसा भी की है—उनका शैव वैष्णव सहयोग, उनकी गार्हस्थ जीवन की व्यवस्था, कई आदर्श चरित, पारिवारिक उत्थान, और पारस्परिक व्यवहार के लिये उनके कथन सदैव आदरणीय माने जायँगे। इनके अतिरिक्त उनका सब से महत्त्वपूर्ण कार्य तत्कालीन साहित्य के प्रभाव से अछूते रह कर, अश्लीलता से बचते हुए, परिष्कृत साहित्य का उत्पादन और परिवर्द्धन करना है। भाषा पर जैसा अधिकार गोस्वामी जी का था वैसा आज तक किसी कवि का नहीं हो सका। जहाँ ये

(शेष २४० पृष्ठ पर)

मुस्लिम काल के इतिहासकार

श्री हरिशंकर एम० ए०

फ़िरोज़ की मृत्यु के पश्चात् दिल्ली का साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। दूर दूर के सूबे स्वतन्त्र हो गये। अमीरों की शक्ति बढ़ गई थी। चारों तरफ़ अराजकता का साम्राज्य था। ऐसे समय में किसी अच्छे साहित्यिक अथवा इतिहासकार का पैदा होना कठिन था। विशेषकर उस समय जब इतिहासकारों को अपनी जीविका के लिये सुल्तानों और धनियों के ऊपर निर्भर रहना पड़ता था। उस समय के इतिहास के लिए हमें एक इतिहासकार मिलता है जिसने इस नाज़ुक समय का वर्णन किया है। यहया बिन अहमद बिन अब्दुल्ला सरहिंदी (Yahaya bin Ahmad bin Abdulla Sirhindi)[1] ने अपनी पुस्तक 'तारीख़-मुबारकशाही' सुल्तान मुबारक शाह के समय की घटनाओं का वर्णन करने के लिये लिखा है।

लेखक ने अपना इतिहास गोरी वंश के जन्मदाता से प्रारम्भ किया है। प्राप्त हस्तलिपि के अनुसार उसने अपना इतिहास १४४८ ई० में समाप्त किया है। लेखक हमें बताता है कि यह इतिहास उसने सुल्तान मुबारक शाह को भेंट करने के लिये लिखा था। सुल्तान फिरोज़ तक की घटनाओं को तो उसने पुस्तकों के आधार पर लिखा पर फिरोज़ के उत्तराधिकारियों के इतिहास के लिये उसने उस समय के सैनिकों से और स्वयं अपने अनुभव से लिखा है। अपने विषय में इतिहासकार ने कुछ भी नहीं लिखा।

यहया एक इतिहासकार नहीं कहा जा सकता। वह एक अच्छा क्लर्क है जो तिथियों और घटनाओं को लिख सकता है। परन्तु सैयद वंश के लिये यहया ही हमारा प्रधान आधार है। फिरिस्ता, बदाऊनी, निज़ामउद्दीन और बाद के और भी इतिहासकारों ने इसके लिये यहया से मदद ली है और कृतज्ञता प्रकट की है।

सैय्यद वंश के पश्चात् दिल्ली का सिंहासन लोदियों के हाथ में आया। इस काल का कोई भी इतिहासकार नहीं है। इसलिये हमें इस काल के लिये मुग़लकालीन इतिहासकारों से मदद लेनी पड़ती है। ये अफ़ग़ान इतिहासकार सच्ची दृष्टि से इतिहासकार नहीं है वरंच किम्वदन्तियों, और कहानियों के इकट्ठा करने वाले हैं। फिर भी हमें बहुत कुछ ज्ञान इतिहास के विषय में हो जाता है।

इन इतिहासकारों में 'तारीख़ दाऊदी'[2] के लेखक अब्दुल्ला विशेष उल्लेखनीय हैं। विद्वानों के अनुसार यह पुस्तक १६०५ ई० के लगभग जहांगीर के शासनकाल में लिखी गई थी। लेखक हमें बताता है कि उसने इधर उधर बिखरे अफ़ग़ानों के इतिहास को इकट्ठा किया है। पुस्तक बहलोल लोदी के समय से प्रारम्भ कर मुहम्मद आदिलशाह सूर और दाऊद शाह तक लिखी गई है। दाऊद शाह के ही नाम पर लेखक ने पुस्तक का नाम 'तारीख़ दाऊदी' रक्खा है। लेखक ने तिथियां कम दी हैं पर किम्वदन्तियों और कहानियों की संख्या काफ़ी है।

दूसरी पुस्तक वाक़ियात मुस्ताक़ी (Wakiyat-Mustaqi)[3] है। इसके लेखक शेख़ रिज़कुल्ला मुस्ताक़ी हैं। अब्दुलहक़ के अनुसार लेखक एक अच्छा यात्री और सूफ़ी था। बातचीत की कला में तो बहुत ही उच्चकोटि का था। इस पुस्तक में हमें हिन्दी के कुछ शब्द भी मिलते हैं। शेरशाह

---

१ Elliot and Dawson. Vol IV (6 to 88).

२ Elliot vol. IV—434.

३ Elliot vol. IV—534.

का अच्छा वर्णन है और कुछ हद तक समाज और आर्थिक दशा का भी वर्णन है।

तीसरी पुस्तक जो हमें अफ़ग़ानों के विषय में बतलाती है वह तारीख़-इ-सलातीन अफ़ग़ाना (Tarikh-i-Salatin Afghana)[४] है। उसके लेखक अहमद यादगार ने अपनी पुस्तक में अपने को सूर बादशाहों का सेवक माना है। उन्होंने अपनी पुस्तक में बहलोल लोदी से लेकर हेमू के क़त्ल तक की घटनाओं का वर्णन किया है। हुमायूं बादशाह के भाई मिर्ज़ा असकरी के गुजरात के प्रान्त के शासन के समय लेखक के पिता ने मन्त्री का कार्य किया था। अहमद यादगार ने भी और अफ़ग़ान लेखकों की तरह तिथियों पर विशेष ध्यान नहीं दिया।[५]

चौथी उपयोगी पुस्तक जो हमें इस काल के विषय में बतलाती है वह मखज़ान-अफ़ग़ानी (Makhzani-Afghani)[६] है। इस पुस्तक के लेखक नियामतउल्ला ने अफ़ग़ानों का वंश आदम से जोड़ने का प्रयत्न किया है। उसने अपनी पुस्तक १६१२ ई० में समाप्त की। डा० क़ानूनगो के अनुसार अफ़ग़ानों के भिन्न भिन्न जिरगाहों की वंशावली का वर्णन इस पुस्तक की विशेषता है।[७]

इन सब पुस्तकों में सबसे अच्छी पुस्तक (विशेषकर शेरशाह के सम्बन्ध में) तारीख़ शेरशाही है[८] जिसे अब्बास ख़ां शेरवानी ने सम्राट् अकबर के आज्ञानुसार लिखी थी। सम्राट् से हमारे इतिहासकार को ५०० का मनसब भी मिला था पर अपने शत्रुओं के कारण अब्बास को अपना मनसब खो देना पड़ा।

अब्बास अपने को शेरशाह सूरी के वंश का बतलाता है। और उसका वर्णन वह एक जाति-उद्धारक और नेता के रूप में करता है। इस पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अब्बास ने बराबर अपने चरित्रों के मुंह से ही घटनाओं का वर्णन कराया है। इससे यह पुस्तक और भी रुचिकर हो उठती है। और इसी कारण इस पुस्तक को एक राजनैतिक नाटक कहा गया है।

अपने चरित्रनायक के वर्णन को और भी आकर्षक बनाने के लिये अब्बास ने पुस्तक में बहुत सी किम्वदन्तियां और कहानियां जोड़ दी हैं। अब्बास ने शेरशाह के शासन-प्रबन्ध का आधार वर्णन किया है। और इस दृष्टि से यह पुस्तक बहुत ही उपयोगी है। लेखक ने शेरशाह के सारे क़ानून एक ही स्थान पर लिखकर हमारी बहुत बड़ी कठिनाई दूर कर दी है जो हमें शेरशाह के शासन के विषय में खोजने में पड़ती।

शेरशाह की आलोचना जो उसने मुग़लशासकों पर लिखते हुए की है केवल अकबर के इतिहास-प्रेम ही के कारण हम तक पहुंच सकी है। कुछ भी हो, अब्बास एक आवश्यक और उपयोगी इतिहासकार है। बहुत से वर्णनों में वह अकेला है।

अफ़ग़ानों के शासन के अन्तिम बादशाह इब्राहीम लोदी की हार के पश्चात् मुग़लों का आगमन भारतीय इतिहास का एक अमर पृष्ठ है।

जिस समय मुग़ल बादशाह बाबर ने भारत में अपना पाँव रक्खा उस समय तक हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के काफ़ी निकट आ चुके थे। धार्मिक सन्तों ने इस विषय में काफ़ी काम किया था। नानक, कबीर, और चैतन्य का आगमन इस की पराकाष्ठा थी। मुग़लों ने इस को समझा और उन्होंने एक भारतीय राष्ट्र-निर्माण का गौरव पाया। यह सही है कि कुछ शासकों की मूर्खता के कारण अकबर का वह सुखद स्वप्न भङ्ग हो गया जिसमें उसने एक ऐसे भारत की कल्पना की थी जहां एक धर्म न होते हुये भी विशेष धार्मिक मतभेद नहीं

---

४ Elliot—Vol. V—1.

५ Text published by A. S. of Bengal.

६ Elliot and Dowson—Vol V. P. 67.

७ Sher Shah—Dr. Qanungo

८ Elliot & Dowson—Vol. IV P. 301

होगा और जहां भारत-राष्ट्र का हर एक प्राणी भारतीय होगा। फिर भी संस्कृति में काफ़ी दूर तक हिन्दू और मुसलमान एक हो सके। चित्रकला में ही देखिये। हिन्दू और फ़ारसी चित्र कला ने मिल कर एक नई चित्रकला को जन्म दिया जिसे हम भारतीय चित्रकला कह सकते हैं। इतिहास इसे मुग़ल चित्रकला के नाम से जानता है। शिल्पकला को ले लीजिये! ताजमहल आज भी खड़ा हुआ इस संयुक्त कला का सबूत दे रहा है। बीजापुर का गुम्बट (Dome) संसार के सब गुम्मटों में श्रेष्ठ है। दिल्ली की कुतुबमीनार ऐसी इमारत है जिसकी समता संसार में नहीं है। क्या कारण था कि और मुस्लिम राज्यों में ऐसे सुन्दर भवन निर्माण नहीं हो सके? इसका एक यही कारण था कि यह दो संस्कृतियों का सम्मिलन था जिसने ऐसे सुन्दर भवनों का निर्माण किया।

इतिहास की तरफ़ देखिये। हमें गर्व है कि मुग़लकाल में इतिहासकारों की कमी नहीं है और हम दावे के साथ कह सकते हैं कि संसार के तत्कालीन इतिहास में भारतीय इतिहासकार कम नहीं थे।

'मुग़ल राज्य के जन्मदाता' सम्राट् बाबर स्वयं एक अच्छे कवि और लेखक थे। आज भी उनकी 'आत्म-कहानी'[९] बड़े बड़े इतिहासकारों को चकित कर देती है। इतना बड़ा योद्धा, जिसका अधिक समय युद्धों में व्यतीत हुआ, किस तरह ऐसा ग्रन्थ लिखने में समर्थ हो सका यह आश्चर्य की बात है।

बाबर ने अपनी आत्मकथा अपनी मातृ भाषा चगताई तुर्की में लिखी है। यह तीन भागों में विभाजित है। (१) फरगना—जिसमें सम्राट ने अपने जीवन के प्रारम्भ की घटनाओं का वर्णन किया है (२) काबुल—किस तरह बाबर ने काबुल विजय किया और उसके बाद किस तरह भारत ने उन्हें आकर्षित किया (३) तिसदेम—इसमें भारत की घटनाओं का वर्णन है। प्रथम भाग और द्वितीय भाग का पहला हिस्सा तो वर्णात्मक रूप में लिखा गया है। बाद का भाग तिथिवार (डायरी) लिखा गया है। पूरी पुस्तक में दो बड़े बड़े खाली स्थान हैं। प्रथम सन् १५०८ से १५१९ तक और दूसरा १५२० से १५२५ तक। पुस्तक में हमें सितम्बर १५२९ तक की घटनाओं का वर्णन मिलता है।

बाबर अचानक यह बताते हुये अपनी कहानी प्रारम्भ करता है कि वह १२ वर्ष की अवस्था में सिंहासन पर बैठा। इसके बाद अपने पूर्वजों के विषय में भी बताया है—विशेषकर अपने पिता और दो चार और भी पुरुष स्त्रियों का वर्णन उसने इतने सुन्दर रूप में लिखा है जैसा एक चित्रकार ही कर सकता है। अपने पिता के विषय में वह लिखता है "वह अपना अचकन इतने ज़ोर से बांधते थे कि उन्हें अपना पेट तक बांधना पड़ता था। अगर कभी नहीं बांधते तो अचकन फट भी जाता था।"[१०]

अपने मित्रों के साथ किस तरह उसने बड़े बड़े युद्धों में भाग लिया—किस तरह नदी पार किया, कैसे पहाड़ पर चढ़ा इन सब का वर्णन हम उसी के शब्दों में पढ़ सकते हैं। एक स्थान पर लिखा है "अपनी ११ साल की उम्र से अब तक मैंने कभी लगातार दो रमज़ान एक ही स्थान पर नहीं बिताया।"

फिर "आज के दिन मैंने हर एक हाथ गिनते हुए गंगा नदी पार किया। मैंने तैंतीस हाथ में गङ्गा पार किया और बिना रुके ही फिर लौट आया। मैंने और भी नदियां पार की हैं, पर गङ्गा नहीं पार की थी।"

ऐसा ही घटनायें हम हर सफ़े में पाते हैं और आश्चर्य से उस दूर खड़े मनुष्य की तरफ़ देखते हैं जो दिन रात युद्धों में मग्न रहने पर भी इतना अच्छा वर्णन लिख सका।

फरगना, काबुल और विशेषकर हिन्दुस्तान का उसने बहुत सुन्दर वर्णन किया है। उसके अनुसार

९—Babernama-Erskine-Introduction.
Babernama-Beveredge 2 Vols.

१०—Memoirs.

आम भारत का सर्वश्रेष्ठ फल है। यहां के जानवर, कृषक, कला, पहाड़, राजा, नदी, नाले, इमारतें, रस्म रिवाज़, पहनावा, भोजन हर एक विषय का हमें वर्णन मिलता है और इस दृष्टि से अपने काल की यह पुस्तक सर्व श्रेष्ठ है। अपनी क्रूरताओं को भी छिपाने का बाबर ने प्रयत्न नहीं किया।

ऐतिहासिक दृष्टि से यह पुस्तक बड़े महत्व की है। डा० बनरजी के अनुसार यह पुस्तक 'मुग़ल काल की बाइबिल' है।[११] अभी तक कोई भी घटना हमें प्राप्त नहीं हुई है जो ग़लत साबित हुई हो और इसी कारण बाबर आत्म कहानीकारों का 'राजकुमार' कहा जाता है।'

बाबर के मित्र और साथियों में भी कितने ही साहित्यिक थे पर ऐसी सुन्दर उपयोगी पुस्तक उनमें से कोई भी नहीं लिख सका। बाबर अपने समय का सर्व श्रेष्ठ इतिहासकार कहा जा सकता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से हुमायूं का समय शून्य सा है। उसके सभी इतिहासकार अकबर के समय के थे। इनमें भी तीन इतिहासकार यह हैं।

प्रथम इतिहासकार मिर्ज़ा हैदर हैं।[१२] इन्होंने अपनी पुस्तक 'तारीख़ रशीदी' अपने कश्मीर के शासन काल में लिखी। स्वयं इन्होंने बाबर और हुमायूं का साथ दिया था। और कन्नौज के युद्ध का तो इन्होंने स्वयं संचालन किया था। हुमायूं के निर्वासित हो कर सिन्ध की तरफ़ बढ़ने के पश्चात ये कश्मीर चले गये और वहां के शासक नियुक्त हो गये।[१३]

ऐतिहासिक दृष्टि से यह पुस्तक महत्व की है। जहां जहां बाबर की जीवनी स्तब्ध है वहां वहां मिर्ज़ा हैदर की पुस्तक से हमें उसके पूरा करने में मदद मिलती है। बाबर के चचाज़ात भाई होने के कारण हैदर मिर्ज़ा हर एक बात को जानते थे।

'तारीख़ रशीदी' एक विश्वसनीय और उपयोगी पुस्तक है।

हुमायूं की बहिन गुलबदन बेग़म ने अपना हुमायूं नामा[१४] अकबर की आज्ञा से उसी सम्राट् के समय में लिखा। गुलबदन ने हुमायूं का उत्थान पतन देखा था। छोटी अवस्था में बाबर की सेना का भारत की ओर प्रस्थान, हुमायूं का राज्याभिषेक, हार जीत, उत्थान पतन सब उनकी आंखों के सामने ही से गुज़रा था। स्त्री होने के कारण वे रनिवास (हरम) की बातों की जानकार थीं और रनिवास की स्त्रियों के विषय में हमें इससे काफ़ी ज्ञान प्राप्त होता है।

पर गुलबदन इतिहासकार नहीं हैं। सीधी-सादी भाषा में जो कुछ उन्होंने देखा था उसी का वर्णन उन्होंने अपनी पुस्तक में कर दिया है। विशेषकर अपने ख़ास भाई हिन्दाल के प्रति कहीं कहीं वे कोई बात छिपा जाती हैं। बाबर की एक स्त्री से हुमायूं थे, और दूसरी स्त्री से गुलबदन बेग़म और हिन्दाल का जन्म हुआ था।[१५]

तृतीय उपयोगी पुस्तक हुमायूं के सेवक जौहर[१६] ने लिखी है। जौहर हुमायूं का सेवक था और निर्वासन के समय फ़ारस और क़ाबुल में बराबर हुमायूं के साथ रहा। उसके संस्मरण उपयोगी हैं पर उसमें हुमायूं का वर्णन उसी प्रकार किया गया है जिस तरह एक सेवक अपने स्वामी का करता है।

ख्वान्दमीर[१७] नामक इतिहासकार ने भी बहुत सी उपयोगी पुस्तकें लिखी हैं। उसका जन्म १४७५ ई० में हेरात में हुआ था। जन्म काल ही से

११—Dr. Bannerjee–Humayun Badshah–Bibliography.

१२—Tarikh-i-Rashidi.

१३—Elliot Vol. I Page 127.

१४—Humayun nama – Gulbadan Begam–Translated by Mr. Beveredge.

१५—Empire builder 2 Sixteenth, Century—R. Williams.

१६—Memoirs of Himayun—English Translation.

१७—Elliot Vol V

उसका इतिहास की तरफ़ आकर्षण था। इधर उधर ट्रान्सआक्सीयाना में घूमने के बाद ख्वान्दमीर भारत में आया। हुमायूं ने उसका स्वागत किया। सम्राट् के बङ्गाल आक्रमण के समय ख्वान्दमीर भी उनके साथ था। हुमायूं के शासन काल के लिये उसकी पुस्तक 'हुमायूंनामा' अथवा 'क़ानून हुमायूं' विशेष उपयोगी है। इसमें सम्राट् के नये क़ानून और अख़्तियारों का हमें वर्णन मिलता है।

हुमायूं के बाद सम्राट् अकबर भारत के सम्राट् हुये। अकबर का काल भारतीय कला, भारतीय साहित्य, भारतीय संस्कृति, भारतीय राष्ट्र और भारतीय धर्म का एक महान काल है। इस महान सम्राट् की आंखों से संस्कृति का कोई भी भाग अछूता न रहा। क्या धर्म, क्या नवराष्ट्र-निर्माण, क्या चित्रकला, क्या शासन-प्रबन्ध हर एक वस्तु नये रूप में, नई शक्ति के साथ हमारे सामने उपस्थित हो गई।

और आश्चर्य की बात है कि अकबर स्वयं हर एक बातों में दख़ल रखते थे। यह सब देखकर हमें आश्चर्य होता है कि यह सम्राट् इतना ज्ञान कैसे प्राप्त कर सका था।

अपनी अवस्था शक्तिशाली बनाने के पश्चात् ही सम्राट् ने आज्ञा निकाली कि जितने लोग गत सम्राटों के विषय में कुछ भी जानते हों वे अपना संस्मरण लिखें और शीघ्र से शीघ्र सम्राट् के दरबार में उसे उपस्थित करें। अबुलफ़ज़ल[१८] हमें बताता है कि प्रथम बार तो किसी ने ध्यान ही नहीं दिया। पर जब शीघ्र ही दूसरी कड़ी आज्ञा हुई तब लेखों, संस्मरणों और इतिहासों का आना प्रारम्भ हो गया। सूबों, परगनों और कानूनगो, पटवारी—सबसे काग़ज़ात मँगाये गये। इस तरह पूरा का पूरा साम्राज्य एक इतिहास की पुस्तक के लिये तैयार कर दिया गया। एक अलग ऐतिहासिक विभाग खोला गया। अबुलफ़ज़ल उसके प्रधान नियुक्त हुये। वे स्वयं विद्वान् थे—उन सब काग़ज़-पत्रों को पढ़ते और दूसरे काग़ज़ों से मिलाते। फिर एक अध्याय लिखते। अध्याय लिखने के पश्चात् अकबर को स्वयं पढ़कर सुनाते। सम्राट् उन्हें सुनते, उनका संशोधन करते। और अबुलफ़ज़ल हमें बताता है कि सम्राट् की स्मृति इतनी तीव्र थी कि बहुत छोटी छोटी बातें और अपने बहुत छोटी उम्र तक की बातें तक उन्हें साफ़ याद थीं।

अबुलफ़ज़ल का यह इतिहास "अकबरनामा" और "आईन-ए-अकबरी" के नाम से प्रसिद्ध हुआ। आईन भी अकबरनामा का एक भाग कहा जा सकता है। इसकी रचनाशैली[१९] साहित्यिक है। अबुलफ़ज़ल ने अपनी पुस्तक अकबरनामा सम्राट् की आज्ञा से लिखी—लिखने के समय यह साफ़ बता दिया गया था कि यह साहित्यिक चीज़ होनी चाहिये, क्योंकि इतिहास उतना स्थाई नहीं होता है जितना साहित्यिक चीज़ें। इसी कारण 'अकबरनामा' की शैली कुछ कठिन है। पर अबुलफ़ज़ल इसके लिये मजबूर थे। उनके पत्रों से और और दूसरे लेखों से साफ़ है कि यह उनकी आम शैली नहीं थी। 'अकबरनामा' में भी कहीं कहीं हम सीधी शैली पाते हैं।

यहां पर थोड़ा सा अबुलफ़ज़ल के विषय में लिख देना अनुचित न होगा। शेख़ मुबारक के द्वितीय पुत्र अबुलफ़ज़ल का जन्म १४ जनवरी १५५१ में हुआ था।[२०] विद्वान शेख़ मुबारक ने अपने पुत्र को स्वयं ही शिक्षा दी थी। अकबर के गद्दी पर बैठने के सत्तरहवें साल अबुलफ़ज़ल ने दरबार में सम्राट् का दर्शन किया। बीस सवारों के मनसबदार नियुक्त कर दिये गये। इसी छोटे से पद से अबुल-फ़ज़ल अपने जीवन-पथ का प्रारम्भ करता है और उन्नति करते करते सम्राट् का मन्त्री, सर्वश्रेष्ठ मित्र और शिक्षक आता है।

१८—Abul Fazl Introduction to Akbernama.

१९—Ghani—History of Pesiaon litrature under the Mughals.

२०—Blochman-J. A. S. B. 1869.

सम्राट् ने अबुलफ़ज़ल की कितने ही स्थानों में मदद की। दोनों के विचारों में काफ़ी समानता थी, विशेषकर धार्मिक विचारों में। यही कारण था जिससे दोनों एक दूसरे के ऐसे निकट आ सके।

यह कहना कि अबुलफ़ज़ल बादशाह के सेवक थे और उनकी पुस्तक चापलूसी से भरी हुई है बिलकुल ग़लत होगा। यह सही है कि अबुलफ़ज़ल ने बादशाह की तारीफ़ की है पर इस तारीफ़ के कई कारण थे। अबुलफ़ज़ल अपने समय के प्रभाव और अपने विश्वास के कारण जो कुछ लिख सकते थे वही उन्होंने लिखा है।

सम्राट् ने अबुलफ़ज़ल की जो कितने ही समय मदद की इससे उनका हृदय सम्राट् के प्रति कृतज्ञता के भाव से ज़रूर भर गया था। दोनों मित्र थे। अबुलफ़ज़ल का विश्वास था कि सम्राट् जो कुछ कर रहे हैं, उससे राष्ट्र का विशेष भला होगा। इन्हीं कारणों से वे उसकी त्रुटियों को अच्छी तरह देख नहीं सकते थे। इसके अलावा बादशाह स्वयं सब बातों को देखते और उनमें संशोधन करते थे। फिर अबुल-फ़ज़ल कैसे कोई ऐसी बात लिख सकता था जो सम्राट् के विरुद्ध हो? इतनी कठिनाई के होते हुये भी अबुलफ़ज़ल ने इतिहासकार के कर्तव्य को नहीं भुलाया। जहां कहीं आवश्यकता होती है वह सही बात की तरफ़ इशारा कर देता है। इसके सिवा अबुलफ़ज़ल ने कोई बात झूठ नहीं लिखी है और न अपने मन से कोई बात लिखी है। कहीं कहीं उसने पूरी घटनायें नहीं लिखीं और उन्हें छिपाने का प्रयत्न किया है। अकबर के शत्रुओं की तरफ़ भी उसने कड़ाई से काम लिया है।

उसकी कठिनाइयों को देखते हुये हम कह सकते हैं कि अबुलफ़ज़ल मुस्लिम काल का सर्वश्रेष्ठ इतिहास-कार है। हमें और लेखकों से ज्ञात होता है कि एशिया के सम्राट् अकबर की तलवार से अधिक अबुलफ़ज़ल की क़लम से भय खाते थे। पूरे मुस्लिम काल में 'आईन-ए-अकबरी' के समान कोई भी पुस्तक नहीं मिल सकती। अफ़ीफ़ ने इसके पहले थोड़ा प्रयत्न किया था, पर दोनों में आकाश पाताल का अन्तर है। इसके सिवा इतना अधिक समाचार किसी और इतिहासकार को नहीं मिला। साम्राज्य की सारी की सारी शक्ति किसी भी पुस्तक के लिये इस भाँति कभी इकट्ठी नहीं कर दी गई। 'अकबरनामे' की तिथियां बिल्कुल सही हैं। अभी तक केवल विन्सेन्ट स्मिथ ने ही एक तिथि अकबर के जन्म के विषय में ग़लत साबित करने का प्रयत्न किया है। पर नवीन इतिहासकारों ने साबित कर दिया है कि अबुलफ़ज़ल की ही तिथि सही और ठीक है।

अबुलफ़ज़ल भारतवर्ष का एक महान इतिहास-कार हैं और हम उसके लिये विशेष नाज़ कर सकते हैं।

अकबर के लिये हम बदाउनी की पुस्तक को भी नहीं भूल सकते हैं।[२१] बदाऊनी का पूरा नाम अबुल क़ादिर बदाउनी है। इसका जन्म २१ अगस्त १५४० में रनथम्भौर के पास हुआ था। कुछ रोज़ तक शेख़ मुबारक की पाठशाला में शिक्षा पाने के पश्चात् इधर उधर घूम कर बदाउनी सम्राट् अकबर के दरबार में आया। सम्राट् ने उसे मदद-ए-माश (Madad-i-Mash) अथवा मनसब स्वीकार करने के लिये कहा। उस समय बदाउनी ने मदद-ए-माश ही स्वीकार किया, क्योंकि बीस ही घुड़सवार से प्रारम्भ करने की उसकी इच्छा नहीं थी।

यह एक आवश्यक घटना है कि बदाउनी और अबुलफ़ज़ल दोनों एक साथ कुछ ही दिन के हेर फेर में आये थे। पर जहां एक तरफ़ अबुलफ़ज़ल सम्राट् के इतने निकट पहुँच सके, वहाँ दूसरी तरफ़ बदाउनी अपने उसी पुरानी ज़मीन पर रह गये। प्रकृति के अनुसार बदाउनी के हृदय में द्वेष की आग भड़क उठी। पर अबुलफ़ज़ल अथवा फ़ैज़ी ने कभी भी उसके प्रति द्वेष की ज्वाला नहीं भड़कने दी। एक बार जब सम्राट् बदाउनी से नाराज़ थे, इन्हीं की कृपा से बदाउनी अपनी ज़मीन, बचा सका था।

२१—Blochman J. A. S. B. 1869.

हमें याद रखना होगा कि पहले बदाउनी ने सम्राट् की मदद की—विशेष कर मुल्ला लोगों को वादविवाद में हराने में उसका भी हाथ था। पर बाद में बदाउनी सम्राट के प्रति विद्वेषी हो उठा। कदाचित् वह सम्राट् से और कुछ मान की आशा करता था। पर यह उसकी भूल थी। सम्राट ने उसे मदद-ए-माश से अधिक से अधिक ज़मीन जो दी जा सकती थी दी थी।

बदाउनी एक कट्टर मुसलमान था। सम्राट् की धार्मिक नीति उसे पसन्द नहीं थी। उसी कारण उसके हृदय में सम्राट् के प्रति विद्रोहाग्नि भड़क उठी। इसकी छाप उसकी पुस्तक में साफ़ है।

संस्कृत पुस्तकों के अनुवाद के समय अकबर ने बदाउनी को महाभारत और रामायण का अनुवाद करने को दिया। इच्छा न रहने पर भी उसे यह काम करना पड़ा क्योंकि सम्राट् की आज्ञा थी।

ब्लाचमैन के अनुसार भारतीय इतिहासकारों में बदाउनी का समझना सब से कठिन है। पर उसकी पुस्तक को हम कई कारणों से भुला नहीं सकते। यह किताब अकबर के प्रति मुल्लाओं का रुख बताती है; यह दूसरे ही दृष्टिकोण से लिखी गई है, जिसका जानना अकबर की जानकारी के लिये आवश्यक है।

बदाउनी स्वयं स्वीकार करता है कि उसने अपनी पुस्तक तारीख़ बदाउनी के लिये 'तबक़ात अकबरी' और और भी कई पुस्तकों से मदद ली है। वह अपना इतिहास १००४ हिजरी (१५९५-९६) के शुरू के समय तक समाप्त करता है। ऐसा कहा जाता है कि यह पुस्तक छिपा कर रक्खी और लिखी गई थी और जहांगीर के शासन काल में लोगों के सामने आई। पर जहांगीर अपने आत्मचरित्र में इसके विषय में कुछ भी नहीं कहता है।

बदाउनी की पुस्तक विशेषकर संस्कृति के दृष्टि से काफ़ी उपयोगी है। इसमें साधु सन्तों का भी बयान और जीवनियां हैं। पर तिथियां काफ़ी ग़लत हैं। ऐसा मालूम होता है कि बदाउनी ने 'अकबर-नामा' को पढ़कर उससे मदद लेना मंज़ूर नहीं किया। नहीं तो इतनी ग़लती न होती।

बदाउनी ने अकबर के ऊपर उसके क़सूर को दिखाने का प्रयत्न किया है; इसलिये तिथिवार बर्णन छोड़ कर अपनी दृष्टि से सम्राट् के सब दोषों को एक साथ लिखा है।

राय चौधरी[२२] ने कहीं ठीक लिखा है कि बदाउनी ने कई बातें अपने मत को साबित करने के लिये छोड़ भी दी हैं। मस्लन् वह लिखता है कि सम्राट् ने मस्जिदों को बन्द कर दिया। पर यह नहीं लिखा कि क्यों और कब? यह उस समय की बात है जब बंगाल में बग़ावत खड़ी हो उठी थी और मुल्ला लोग बड़े रोब से बाग़ियों का साथ दे रहे थे। यह बात बता देने से कई बातों पर रोशनी पड़ती है।

बदाउनी एक उपयोगी इतिहासकार है। पर सिर्फ़ उसकी ही किताब पढ़ने से हम सम्राट् अकबर के बारे में धोखे में पड़ सकते हैं। इसलिये यह पुस्तक बहुत विश्वसनीय नहीं है। फिर भी हमें अकबर के बारे में इस पुस्तक से काफ़ी मदद मिलती है और हम इसे भूल नहीं सकते।

अकबरी काल का तीसरा इतिहासकार निज़ाम-उद्दीन[२३] अहमद बख्शी है। इसके पिता ख्वाजा मुकीम हारवी बाबर के समय में एक अच्छे ओहदे पर थे। अकबरी हकूमत के नवें साल में निज़ाम-उद्दीन गुजरात के सूबे का बख्शी मुक़र्रर किया गया। बग़ावत के समय निज़ामउद्दीन ने बहुत ही बहादुरी के साथ बाग़ियों का सामना किया। निज़ामउद्दीन की मृत्यु सम्राट् के शासन के ३९ वें वर्ष में हुई।

बदाउनी और निज़ामउद्दीन में काफ़ी दोस्ती थी और निज़ामउद्दीन की मौत के बाद बदाउनी रोया भी था। वह लिखता है "निज़ामउद्दीन अपने पीछे बड़ा नाम छोड़ गया है। हममज़हब और दोस्ती के नाते हम लोग एक दूसरे के पास थे।"

२२—Din Ilahi Ray Choudhry.
२३—Elliot Vol. V Page 177

निज़ामउद्दीन ने अपनी पुस्तक सुबुक्तगीन से प्रारम्भ कर अकबर के ३७ वें शासन काल तक का समाप्त की है।

निज़ामउद्दीन एक अच्छा इतिहासकार है। बदाउनी की तरह उसने अपना इतिहास किसी विशेष मक़सद से नहीं लिखा, इसीलिये वह अपनी किताब में निष्पक्ष रह सका है। यह पहली किताब है, जो नये तर्ज़ पर लिखी गई थी और जिसमें सिर्फ़ भारतवर्ष का ही वर्णन है। ऐरस्कीन के अनुसार यह सब से अच्छा इतिहासकार है। और भी विद्वानों ने इसको ऊँची जगह दी है।

पर हमें याद रखना होगा कि निज़ामउद्दीन सदर दफ़्र में नहीं था। उसके पास हर मज़मून का उतना ज्ञान नहीं था, जितना अबुलफ़ज़ल को था। वह भी बादशाह को उतना नहीं समझ सका था, जितना अबुलफ़ज़ल। फिर भी उसने निष्पक्षता से सारी बातों का बयान किया है और हम उसके आभारी हैं।

अकबर-काल इतिहास के विद्वान पैदा करने के लिहाज़ से मुस्लिम काल का सब से अच्छा समय कहा जा सकता है। इसके बाद इतिहासकार और भी हुये; पर इतने ऊँचे नहीं। शाहजहाँ ने अपने बादशाहनामा के लिये इतिहासकारों की तलाश की; पर अबुलफ़ज़ल के समान वह कोई विद्वान न पा सका। औरंगजेब से इतिहासकला का पतन शुरू होता है। और उसके बाद दो चार मुस्लिम इतिहासकार सितारों को छोड़ कर-अन्धकार का युग है।

ऐतरेय ब्राह्मण की कथा

एक ऋषि की ब्राह्मणी और शूद्रा दो स्त्रियां थीं। उस समय यज्ञस्थल में बालक को बैठा कर शिक्षा देने की व्यवस्था थी। यज्ञ शुरू हुआ, माताओं ने शिक्षा-लाभ के लिए बालक को पिता के पास भेज दिये। उस समय उन महर्षि ने अपनी ब्राह्मणी पत्नी के गर्भजात पुत्र को गोद में बैठा कर आदर के साथ शिक्षा दी; लेकिन शूद्रा पत्नी की सन्तान की यज्ञस्थल में उपेक्षा की। इस दुःख से शूद्रा स्त्री का बालक मां की गोदी में आकर रोने लगा। और बोला—"मां, पिता ने मुझको जैसे पहचाना ही नहीं।" सुनकर मां भी रोने लगी। बालक ने फिर कहा—"मां, मेरी शिक्षा का फिर क्या उपाय होगा?" मां ने कहा—"तुम्हारे पिता ही जब उपेक्षा करते हैं, तो और किसके पास जांय? अच्छा मैं तो शूद्र-कन्या हूँ, अर्थात् पृथ्वी की सन्तान हूँ; अपनी धरती माता को बुला कर देखूं।" यह कह कर उसने धरती माता को बुलाया।

माता वसुन्धरा ने आकर कहा—"भय नहीं, सभी ज्ञान तो हमारे अन्दर निहित हैं, बालक को मुझे दे दो, मैं इसे शिक्षा दूंगी।" पृथ्वी माता ने बालक को सभी शास्त्रों में पंडित कर के उसकी मां के पास भेज दिया। उस समय बालक के मन में बाल्यकाल के अपमान का प्रतिशोध जगा। उसने ऋग्वेद पर सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण ग्रन्थ लिखा।...और वह जो शूद्रा अर्थात् इतरा का पुत्र था, इसे खूब मजे में जनाने के लिए उसने अपने ब्राह्मण ग्रन्थ का नाम रखा—ऐतरेय ब्राह्मण। इस शूद्रा मां की सन्तान का असल नाम ऐतरेय नाम के नीचे दबा पड़ा है। मही का शिष्य होने से उसे महीदास भी कहते हैं।...इस ऋषि की सब कथा 'ऐतरेयालोचनम्' ग्रन्थ में स्व० सत्यव्रत सामश्रमी महाशय ने लिखा है।

"भारतीय संस्कृति"—"आचार्य क्षितिमोहन सेन

पिता

श्री गुण वर्धन

शहर से किनारे नाले-परनालों से भरा कच्चे मकानों का ढेर है। सरकारी बम्बों पर छोटी-बड़ी पनिहारनें अपनी ओढ़नी और अञ्चल सम्हाले मिट्टी के घड़े और बाल्टियाँ लिये अपनी बारी का इन्तज़ार करती हैं। लंबे फ़ासिले पर गड़े सरकारी लैम्प सँकरी गलियों को रोशन करने की कोशिश में सबेरा कर देते हैं। बस्ती के ठीक पीछे ही एक बावली है। यही शहर का घूर है। गाड़ी के गाड़ी कूड़ा-करकट बावली हज़म कर गई है, फिर भी अभी उसकी भूख बुझी नहीं है। सड़ी-गली चीज़ें ही इसके जिम्मे पड़ती हैं। डोमड़े भी लापरवाही से दो-चार कुत्ते-बिल्ली इसको दे जाते हैं। गीध, चील-कौवों की सराँय है। आवारा कुत्ते जब चाँव-चाँव झाँव-झाँव से बावली को परेशान करने लगते हैं, तो वह गुस्से में फुफकारने लगती है। 'लीडर' रोड पर चलने वाले बाबू रूमाल से नाक दाबे सरपट भाग जाते हैं।

बस्ती टुकुर-टुकुर अपनी पड़ोसिन बावली को देखा करती है। उसको भी गन्दगी से नफ़रत है। इसकी गन्दी हवा उसके मकानों को उजाड़ती रहती है, बर्बाद करती रहती है। फिर भी वह चुप है। सोचती है, अगर बोलूंगी तो उजाड़ दी जाऊँगी। इस डर से वह सब अत्याचार सहते हुये अपनी ज़िन्दगी बिता रही है।

हुसेना इसी बस्ती का वफ़ादार बाशिन्दा है। यह सच है कि उसको लाख-दो लाख लोग नहीं जानते, फिर भी दो-पाँच सौ से उसका सलाम-दुआ है ही। मोहन बनियाँ, रामचरन महाजन, पल्टू बूचड़ और डाक्टर वर्मा हुसेना के अपने हैं। इनके अलावा नाके की पुलिस, चौराहे का सिपाही और साथी एक्केवान उसको ख़ूब पहचानते हैं।

हुसेना एक्केवान है। घोड़े का दाना और घर की खर्ची मोहन देता है। उधार-बाक़ी लगा ही रहता है। कमाई तो इतनी होती नहीं कि ईद और मोहर्रम नग़द-नग़द हो जाय। रामचरन की हुन्डी चला ही करती है। पल्टू का भी आगे-पीछे का हिसाब है। समय-समय पर डा० वर्मा से सलाम करना ही पड़ता है। यार दोस्त और सिपाही सिविक गार्ड टेट थामे ही रहते हैं। इनसे जो बचा खुचा उसी से उसका संसार चलता है।

हुसेना कई लड़कों का बाप है। उसकी उमर पूरे पचास में एक कम है। लेकिन उसे अब्बा कहने वाला अब एक ही है। लाड़-प्यार में पला है। खैरुल अब सत्रह साल का है। इसने न मकतब देखा न मस-जिद। इसे गलियों से मोह है, जहाँ सारा दिन कौड़ी-गोली खेला करता है। कभी आना दो आना हारता है तो कभी इसका भी छक्का लाल होता है।

खैरुल को पैसे की कमी नहीं पड़ती। कभी अम्मा की आँख बचा कर सन्दूकची साफ़ कर देता है तो कभी बाप के नशे में देख उसकी टेट झाड़ लेता है। अगर ऐसे भी कुछ हाथ न लगता, तो बाप के साथ एक्के पर चल देता। हुसेना बड़ा ख़ुश होता कि खैरुल अब रास्ते पर आ रहा है; मगर जहां दो-चार आने हाथ लगे कि रफ़ू चक्कर हो जाता और फिर अपने पुराने अड्डे पर आकर हार-जीत में जुट जाता।

हुसेना चाहता कि खैरुल कम से कम एक्केवानी ही में मन लगावे। रोज़ा नमाज़ नहीं जानता नहीं सही, पर रोटी का ज़रिया तो कुछ न कुछ सीखना ही चाहिये। आज वह है, रुपये बारह गन्डे कमा लेता है। किसी तरह नून-रोटी चल जाता है। अगर कल वह आँख मूंद ले तो क्या हो ! ज़िन्दगी का क्या ठीक, आज हैं कल नहीं तो ऐसी हालत में खैरुल और उसकी मां का क्या होगा। ये किस घाट लगेगीं ! कभी कभी हुसेना यह सब सोचा करता है। लेकिन

जहां यार-दोस्त मिले, एक-आध पुड़िया उड़ी कि सब चंगा। मुंह से धुआं उगलता तो मालूम पड़ता मानों चिलम पर अपनी सारी चिन्ताओं को फूंक दिये हो।

× × ×

हुसेना के समझाने-बुझाने का असर खैरुल पर कुछ न पड़ता। दिन-ब-दिन उसकी आदत बढ़ती ही गई। हुसेना अब लात-घूंसे और छड़ी से खैरुल की खबर लेता। लेकिन उसकी एक-एक छड़ी खैरुल को चोरी करने, जूआ खेलने और दंगा-फ़साद करने में आगे ही बढ़ाती।

अब तक तो वह घर का ही माल उड़ाता था। परन्तु अब उसकी आवश्यकतायें बढ़ गयी थीं। यार-दोस्त, सिनेमा, पान-बीड़ी, कीमा-कबाब सब तो उसे चाहिये था; पर घर में इतना कहां कि वह उसका सहारा ले। फिर घर में बड़ी निगरानी रहती। नजमा पैसे सावधानी से रखती और हुसेना भी अब उसे पास फटकने नहीं देता। परन्तु ये सारे प्रतिबन्ध खैरुल के रास्ते को नहीं रोक सके।

घर से निकल कर अब पास पड़ोस में हाथ साफ़ करने लगा। किसी का बधना ग़ायब होता तो कोई शाम को अपनी लालटेन खोजता। साइकिल की बत्ती और घण्टी अक्सर उसके हाथ लग जाती। जहां भी चवन्नी-अठन्नी की गुन्जाइश होती, वह हाथ साफ़ कर देता। और कोई हरा-भरा बैठकख़ाना नज़र आता, तो वह झट अपना काम बना लेता। किताबें, लैम्प, घड़ी, छड़ी कुछ न कुछ हाथ लग ही जाता। दो-चार मिनट में दिन भर का काम बन जाता। फिर क्यों सारा दिन एक्के पर भैया बाबू चिल्लाया करे।

हुसेना की निगाह में यह गुनाह था और खैरुल आवारा था। पर अपनी नज़र में वह उतना ही पाक-साफ़ था, जितना और लोग दावा करते हैं। वह देखता कि दो-दो जीव दिन रात खटते हैं फिर भी पूर नहीं पड़ता। कभी घोड़े को घास नहीं तो अब्बा खाली प्याज-रोटी खाते हैं। उसे दिन भर खिचखिच करना पसन्द नहीं और न उसे प्याज-रोटी ही पसन्द है। होटल में कीमा-कबाब पकते उसने देखा है। उसकी ख़ुशबू उसके मुंह में पानी भर देती। लोगों को चाय की चुस्कियां लेते देख उसकी ज़बान डोल जाती। सिनेमा के गाने उसके मन में राग पैदा करते। खैरुल खूब जानता था कि एक्केवानी में ये मज़े न मिलेंगे।

हुसेना को बड़ी जलन थी। नजमा रोज़ कुछ न कुछ खैरुल का दास्तान बयान कर चार आँसू बहा लेती। हुसेना डरता कहीं पुलिस न पीछे पड़ जाय। अपने तो जायगा ही साथ में मेरी इज़्ज़त भी धोदेगा और जलील ऊपर से होना पड़ेगा। जो दो चार रुपये की साख है वह भी जाती रहेगी। उसे अपनी नालायक सन्तान पर ग़ुस्सा आता। वह उसे जीभर गालियां देता और कोसता। अगर ग़ुस्से में वह कभी मिल जाता तो लात जूते से उसकी ख़बर लेकर अपने गुबार निकालता।

पर अब गाली-मार से खैरुल अभ्यस्त हो गया था। मार पड़ती रहती और वह गालियाँ बकता रहता। बराबर लड़ने की ताक़त तो थी नहीं, बस गालियां दे कर ही चोट सहता जाता। नजमा ही बाप बेटे को अलग करती। मोहल्ले-टोले के लिये नई बात न थी। खैरुल को बचाने के बदले सब उसे बददोआ ही देते। हां, राहचलतू भले ही उसकी हालत पर तरस खाते और हुसेना को भला बुरा कहते चले जाते।

× × ×

हुसेना तंग आकर अब खैरुल की ख़ैरियत से उदासीन रहने लगा। एक्के से अपनी रोज़ी कमाता और रूखी सूखी खा कर अपनी टूटी खाट पर पड़ रहता। किसी की शिकायत पर कान न देता जैसे उसके लिये खैरुल मर गया हो।

अक्सर जब वह घर लौटता तो खैरुल लापता रहता। लेकिन आज बात बिलकुल उलटी नज़र आई। हुसेना जब रात को घर लौटा तो देखता क्या

है कि खैरुल उसी की टूटी खाट पर पड़ा कराह रहा है, पर उसने कुछ भी ध्यान न दिया। मुंह फेर कर घोड़े का साज रखने चला गया। रात भर वह बुखार में कराहता रहा। किसी ने ध्यान न दिया। सुबह वह पीड़ा से चिल्लाने लगा सिर में भयङ्कर पीड़ा थी, जैसे फटा जा रहा हो। इस भयङ्कर पीड़ा से पहले उसे कई कै भी हुई थी, पर घर के बाहर रमजान मियाँ के अड्डे में। यहीं वह कै करते-करते बेदम हो गया था तभी उसके साथी एक्के पर लाद कर घर पहुंचा गये थे।

आज तड़के ही हुसेना एक्का ले कर चला गया, उधर ध्यान भी न दिया। लेकिन नजमा से न रहा गया। पास आई देखा अब भी वह आँखें बन्द किये कराह रहा है। वहीं बैठ कर नजमा उसके सिर पर हाथ फेरने लगी। अम्मा की सहानुभूति पा उसकी आँखें भर आईं। भरे गले से बोला—'अम्मा, मैं मरा जा रहा हूँ। मेरा माथा फटा जा रहा है। देखो, मैं गर्दन भी नहीं घुमा सकता, अम्मा।' वह सब सुनती गई, बोली कुछ न पर चिन्ता की काली रेखा उसके मुंह पर पुत गई। पुत्र की हालत देख उसका मन उतर गया।

दोपहर को हुसेना जब घर लौटा तो उसने बड़ी आरजू-मिन्नत की। खैरुल में चलने की शक्ति तो थी न। हुसेना डाक्टर से दवा ले आया पर उसका कुछ असर न हुआ। हालत बिगड़ती ही गई। अब वह बक-झक करने लगा। अब पहचान की शक्ति धीरे धीरे कम होने लगी। रात में वह खाट से उठ कर भागने लगा। नजमा को झटक देता। हुसेना उसे दबाये रखता। वह उसे लात घूंसे चलाता, गालियां बकता। रात बड़े संकट से कटी। सुबह ही हुसेना डाक्टर के घर दौड़ा।

"डाक्टर वर्मा खैरुल की हालत देख कर निराश हो गये। हुसेना को बाहर बुला कर कहा।

'हालत ठीक नहीं है। मेनन्-जाइटिश (गर्दन तोड़) हो गया है; जल्दी से अस्पताल ले जावो, नहीं तो हाथ मलना होगा।'

'ओ' बदहवासी में हुसेना के मुंह से निकल गया।

'हाँ, लो यह चिट्ठी बड़े डाक्टर को देना।'

'खैरुल अस्पताल में भर्ती तो कर लिया गया पर खैरात में इतनी कीमती दवा नहीं दी जाती कि उसकी जान बच सके। बीमार की हालत नाजुक थी। डाक्टर को हुसेना की जईफ़ी पर तरस आता था पर बेचारे लाचार थे।

'हुसेना बेबस उनका मुंह ताक रहा था, डाक्टर कुछ देर तक सोचते रहे फिर हुसेना से बोले,—'देखो भाई हम से जो बन पड़ेगा करेंगे, पर उससे काम न चलेगा। अगर तुम इंजेक्शन का इन्तज़ाम कर सको तो हमारी भी तरकीब काम कर जाय। क्यों, क्या सोच रहे हो।'

'जैसा आप कहें ?'

'हाँ, लो यह चिट। इस दवा का दाम तो बहुत बढ़ गया है और अब लड़ाई की वजह से आती भी नहीं। देखो अगर मिल जाय तो तुम्हारी क़िस्मत।'

'कितने को मिलेगी ?' धीरे से हुसेना ने पूछा।

'दस, बारह रुपये फ़ी शीशी से क्या कम होगा। अगर मिले तो सात शीशी अभी लेना फिर बाद को कहेंगे।'

हुसेना सिर झुकाये पुर्जा लिये चला जा रहा था। शायद सोच रहा था कि ये सत्तर-अस्सी कहां से आयें। बीबी के पास ऐसी कोई रक़म नहीं कि गिरवीं रखे। रूपे की बाली और चूड़ी तो शायद ही एक आध शीशी ख़रीद सके। तब क्या हो। कर्ज़ लिया जाय, लेकिन उसकी भी उम्मीद नहीं। रामचरन अब एक फूटी कौड़ी भी न देंगे। उनकी हुन्डी भी दो महीने से रुकी है। फिर क्या हो ! "एक्का जो है", अन्तरतम की एक धीमी आवाज़ कह गई। हुसेना सोचने लगा। यही तो पूंजी है, जिससे नून-रोटी नसीब हो जाती है। अगर वह हाथ से निकल गया तो दाने न मिलेंगे। बे मौत मरना होगा।

'खैरुल बुरा है, लाख बुरा है पर है तो तेरी सन्तान। तेरे मरने पर क़ब्र पर दिया न जलाये पर तेरा नाम तो चलता रहेगा।' आवाज़ ने फिर दोहराया। हां ठीक है, नाम ही के लिये इन्सान सब कुछ करता है। दूध-पूत नाम ही के लिये तो है। खैरुल मेरी औलाद है। मैं उसका बूढ़ा बाप हूँ। मैं मर जाऊँ तो कोई हर्ज नहीं पर खैरुल··नहीं। वह ज़िन्दा रहेगा। मेरा नाम चलेगा। एक्का-घोड़ा फिर हो सकता पर खैरुल जा कर नहीं लौट सकता; नहीं लौट सकता। हुसेना की पलकें भीग गईं।

यह विचार आते ही हुसेना जल्दी-जल्दी भागा। सीधे आया रामचरन महाजन के पास। बोला—'खैरुल बीमार है, महाजन।'

रामचरन एक पटेबाज। वह ख़ूब पहचानता है इस तरह की आवाज़ को। बोला—'तो हम क्या करें।'

'गुस्सा न हो भैया; एक्का-घोड़ा ही रख लें।'

'अरे एक्का-घोड़ा तो है लेकिन रुपया कहां है!'

'महाजन आपै तो हैं। गाढ़े दिन में कौन काम आवे।'

महाजन नरम-गरम कह कर असामी की गरज़ को समझ लेते हैं और फिर जैसा देखते हैं, वैसा बना लेते हैं। रामचरन समझ गया कि अब शिकार ठीक रास्ते पर है।

बोला—'भाई सो तो ठीक है लेकिन आज कल रुपये पैसे की तंगी है। रक़म डूबती जा रही है फिर भी तुम्हारे जैसे आ जाते हैं तो इन्कार भी करते नहीं बनता। हां, तो क्या लोगे एक्के-घोड़े का?'

'बन्धक रखलें महाजन! बेचने का इरादा नहीं है।'

'पागल हो रहे हो क्या; जर-ज़मीन थोड़े ही है जो बन्धक रख लें। अरे यह तो जानवर है। रोज चलता है। न जाने किस दिन मर जाय। एक्का ही टूट-फूट जाय। फिर तो रक़म पानी में गई न। मैं ऐसे में हाथ नहीं डालता। ले जाओ कहीं और।'

'और कहां जाँय महाजन?'

'तो हम क्या करें? हम तो बेचीनामा करा सकते हैं। और कुछ नहीं।'

'अच्छा आप जो कहें।'

'क्या लोगे, बोलो जल्दी।'

'महाजन आपै समझ लें। बिलकुल नया एक्का-घोड़ा है। महीना भर भवा साज भी बदलवाया है।'

'नया क्या है, आज दो साल से हाँक रहे हो। ख़ैर, जो भी हो सत्तर देंगे। देखो मन बैठा लो।'

'नहीं महाजन। डेढ़ सौ से ज़्यादा तो हमारा लगा है। और आप सत्तर सुना रहे हैं।'

'अरे तुम्हारा लगा तो कमाया नहीं क्या? देखो पांच और दे देंगे।'

'नहीं भैया, इतने से दवाई का काम न होगा।'

'तो हम क्या दवा का ठेका लिये हैं? बस, अब एक पाई भी नहीं। तबीयत हो तो बेचो नहीं, जाओ।'

हुसेना समझ गया कि अब इसमे एक पाई भी नहीं निकलने को। चलो इस वक़् जो मिल रहा है वही सही, कुछ काम चलेगा ही।

'बैठे क्या हो? रास्ता देखो।'

'मेरी एक बिनती है, भैया। आप जो दे रहे हैं सो देही रहे हैं। मगर हांकने के लिये हमको दे दें, नहीं तो मर जायंगे।'

'हां, हां, जैसे तुम वैसे गैर। हमको भाड़े से मतलब। भाड़ा दो तुम ही हांको।'

सत्तर और पांच पर हुसेना की पूंजी बिक गई। पचास की पांच शीशी सिरम् इंजेक्शन ले हुसेना अस्पताल आया। लम्बर पक्चर ने बुखार का विष खींच लिया और सिरम् ने खैरुल को शक्ति दी। उसकी हालत सुधरने लगी। अब धीरे-धीरे वह उठने-बैठने लगा।

एक दिन हुसेना देर से मिलने आया। कुछ पैसे बचा कर छटाक भर अंगूर भी लेता आया। खैरुल बहुत देर से इन्तज़ार कर रहा था। अब्बा को देखते ही वह उठ बैठा।

"लेट जा बेटा !' बड़े स्नेह से हुसैना ने कहा
'मैं नहीं लेटूंगा, तुम देर क्यों करते हो ?'

'अच्छा अब देर न होगी, भैया; क्या करूं जब इधर की सवारी मिल जाती है तभी आ जाता हूँ। कभी अबेर-सबेर हो ही जाती है। खैरुल लेट गया। हुसैना अंगूर के एक एक दाने चुन-चुन कर उसे खिलाने लगा।

'अब मैं बिलकुल ठीक हो गया हूं, अब्बा।' अंगूर खाते हुये खैरुल ने कहा।

'हाँ बेटा, अब तू अच्छा हो गया है। डाक्टर साहब से पूछ कर तुमको घर ले चलेंगे।' अंगूर का दाना उसके मुंह में डालते हुये हुसैना ने कहा।

'थोड़ा दुबला हो गया हूं, अब्बा ! फिर ठीक हो जाऊंगा।'

'हां बेटा !'

'अब मैं एक्का हांकूगा अब्बा। तुम घर बैठना। तुम बूढ़े हो गये हो न।' हुसैना की खिचड़ी दाढ़ी में उंगली फेरते हुये खैरुल ने कहा।

'हाँ बेटा ! ले खाले।' उसका गला भर आया। चार-पांच दानों को एक बार ही उसके मुंह में डालते हुये हुसैना ने खैरुल को सीने से लगा लिया। उसकी धँसी और सूखी आंखों से पानी की धारा फूट पड़ी।

'अब्बा !!!'

'बेटा !'

हुसैना ने एक पूंजी खो कर आज दूसरी, उससे महान, पाई है। आज उसका तन प्रसन्न है, मन प्रसन्न है। उसको आशा मिली है, उसकी अभिलाषा जगी है। इसी खुशी में उसकी आँखें स्नेहबिन्दु का अर्घ्य-दान कर रही थीं।

मन की गुलामी और सम्प्रदायवाद

श्री रघुवीरशरण 'दिवाकर'

आज दुनिया में चारों तरफ़ आज़ादी के ही तराने सुनाई पड़ते हैं। जो अपनी आज़ादी के लिए जद्दोजहद कर रहे हैं, वे तो आज़ादी के सच्चे दीवाने हैं ही, लेकिन जो दूसरों को गुलाम बनाए रखने या बनाने के लिए नर-संहार कर रहे हैं, वे भी आज़ादी के ही गीत गा रहे हैं और सचमुच दूसरों की आज़ादी हड़पने के लिए चिन्तातुर होते हुए भी वे अपनी आज़ादी को बनाए रखने के लिए सजग और प्रयत्नशील हैं। यद्यपि स्वार्थ और अहंकार ने कुछ मनुष्यों को दूसरों को गुलाम बनाने के लिए उत्सुक बना रखा है, पर जहाँ तक जनता का प्रश्न है, जहाँ तक एक साधारण व्यक्ति का सम्बन्ध है, हम कह सकते हैं कि आज दुनिया के प्रायः सभी मनुष्य स्वभावतः मनुष्यमात्र की स्वतन्त्रता की ही ओर अग्रसर हो रहे हैं। जिसको भी देखिए आज वह आज़ादी की इस विश्वव्यापी लहर के प्रवाह में ही बह रहा है।

इस लहर को देखने से पता लगता है कि दुनिया गुलामी की ज़ंजीरों से छुटकारा पाने के लिए बुरी तरह बेचैन है और इस परिचय से हम संतोष का ही अनुभव करते हैं। लेकिन यह देख कर हमारे सन्तोष को और हमारी आशा को ठेस ही पहुँचती है कि यह आज़ादी की लहर जीवन की गहराई तक उतरने में और वहाँ बह कर मानव-जीवन को स्वच्छ और परिपुष्ट बनाने में असमर्थ ही रही है। हम राजनीति और अर्थनीति के दृष्टिकोण को ही लेकर—अपने जीवन के एक अंग को ही सामने रखकर—स्वतन्त्रता के तत्व को समझने की कोशिश करते हैं और यह भूल जाते हैं कि यह स्वतन्त्रता आवश्यक—अति आवश्यक होते हुए भी सब कुछ नहीं है, बल्कि इससे आगे मनुष्य के मन, मनुष्य के मस्तिष्क, मनुष्य की अंतरात्मा, मनुष्य की विचार-धारा, मनुष्य की वृत्ति और मनुष्य के व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता भी है और उसे पाना राजनैतिक व आर्थिक स्वतन्त्रता से कम

नहीं, बल्कि ज़्यादह ज़रूरी है। एक भौतिक स्वतन्त्रता है तो दूसरी आध्यात्मिक स्वतन्त्रता है और निःसंदेह आध्यात्मिक स्वतन्त्रता भौतिक स्वतन्त्रता से कहीं ज़्यादा महान है। यद्यपि स्वतन्त्रता मूल तत्व के रूप में अपने इन दोनों अंगों को—बाह्य और अंतरंग रूपों को—समाविष्ट किए हुए है और सचमुच दोनों में शरीर और आत्मा की तरह घनिष्ट सम्बन्ध भी है, लेकिन फिर भी दोनों ही अपने अपने पृथकत्व को लिए हुए हैं और शरीर और आत्मा की तरह इन दोनों को भी हम एक दूसरे से अलग-अलग देख और समझ सकते हैं।

भौतिक स्वतन्त्रता नष्ट होने पर मनुष्य का शरीर ही ग़ुलाम बन पाता है और शरीर को ग़ुलामी उसके व्यक्तित्व के विकास में बाधा डालती है; लेकिन आध्यात्मिक स्वतन्त्रता की क्षति होने पर मनुष्य का मन ही ग़ुलाम हो जाता है और मन की यह ग़ुलामी उसके व्यक्तित्व को ही नष्ट कर देती है। आज हम शरीर की स्वतन्त्रता के युद्ध में संलग्न हैं और यह शुभ ही है; लेकिन अशुभ यह है कि हम शरीर की स्वतन्त्रता की धुन में मन की स्वतन्त्रता को उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगे हैं। हमारी ही नहीं दुनिया की ही यह हालत है। इस शरीर की स्वतन्त्रता की ओर जितना ध्यान दिया जा रहा है, यदि उतना ही ध्यान मन की स्वतन्त्रता की ओर दिया जाय, तो इससे शरीर की स्वतन्त्रता के मिशन को तो सहायता मिलेगी ही, साथ ही मनुष्य के व्यक्तित्व की सर्वांगीण उन्नति के लिए भी मार्ग प्रशस्त हो जायगा और तभी सच्चे अर्थों में मनुष्य में मनुष्यता का प्रादुर्भाव होगा।

आज दुनिया के अनेक देशों में स्वतन्त्रता की जो झाँकी दिखाई दे रही है, रूस चीन और भारत आदि देशों में स्वतन्त्रता के लिए जो संघर्ष हो रहा है, उससे हमें यह आशा होने लगी है कि वह समय ज़्यादा दूर नहीं है, जब संसार के सभी राष्ट्र स्वतन्त्र होंगे और प्रत्येक स्वतन्त्र राष्ट्र में व्यक्ति को शारीरिक सुख व संतोष मिल सकेगा; लेकिन मन की स्वतन्त्रता के विषय में अभी कम ही आशा की जा सकती है, यद्यपि इस विकास-युग में मन की स्वतन्त्रता के मिशन को शक्ति मिली है। पहिले की अपेक्षा आज मनुष्य का मानसिक विकास अधिक हो पाया है। अन्धविश्वास व अन्धानुकरण के चक्रजाल से अपने को मुक्त करने में उसने कुछ सफलता भी प्राप्त की है; लेकिन शरीर की स्वतन्त्रता की ओर वह जितने वेग से आगे बढ़ा है उसे देखते हुए मन की स्वतन्त्रता प्राप्त करने की इस अत्यन्त धीमी गति से असन्तोष ही होता है और कहना पड़ता है कि मन की ग़ुलामी नष्ट करने के लिए अभी तक उसने जो कुछ किया है वह नगण्य ही है।

जिस तरह शरीर की ग़ुलामी को दूर करने के मार्ग में क़दम-क़दम पर मुश्किलें हैं, उसी तरह मन की ग़ुलामी से मुक्त होने के मार्ग में भी कठिनाइयाँ हैं। वहाँ शत्रु बाहर है तो यहाँ शत्रु अपने भीतर ही है। वहाँ अताइयों का सामना है, तो यहाँ संस्कार, शिक्षा-दीक्षा आदि से टक्कर है। वहाँ साम्राज्यवाद से लोहा लेना पड़ता है, तो यहाँ सम्प्रदायवाद से संघर्ष करना पड़ता है। जिस तरह साम्राज्यवाद तरह तरह के रूप धारण करके मनुष्य को ग़ुलाम बनाए हुए है, उसी तरह इस विविध रूपधारी सम्प्रदायवाद ने भी मनुष्य को अपने चंगुल में फँसा रखा है। पूर्ण स्वतन्त्रता पाने के लिए ज़रूरी है कि हर तरह के साम्राज्यवाद और हर तरह के सम्प्रदायवाद दोनों को नष्ट किया जाय।

सम्प्रदायवाद मन की स्वतन्त्रता का सब से बड़ा शत्रु है। मन को ग़ुलाम बनाने वाली सभी शक्तियाँ इसके कार्यक्षेत्र में आ आती हैं। सदियों से मन की स्वतन्त्रता के सभी शत्रुओं के सिर पर सवार हो कर सम्प्रदायवाद मनुष्य के व्यक्तित्व को रौंदता रहा है और आज भी रौंद रहा है। उसका विषैला प्रभाव संसार के कोने कोने में, उन देशों में भी जो राजनीति व अर्थनीति की दृष्टि से काफ़ी स्वतन्त्र हैं, फैला हुआ है। संस्कार, शिक्षा-दीक्षा, नगण्यता का भान आदि सभी पर यह अपना अधिकार जमा कर, चारों

ओर से मनुष्य की मनुष्यता को जकड़ कर, उसे गुमराह बना रहा है।

सम्प्रदायवाद त्रुटियों और दोषों से भरपूर है; लेकिन उसकी सब से बड़ी त्रुटि यह है कि वह हमें किसी व्यक्ति या वाद विशेष के प्रति पूर्ण श्रद्धा रखने तथा पूर्णरूप से उसका अनुकरण करने के लिए बाध्य करता है और मनुष्य के चारों तरफ़ ऐसा जाल बिछाता है कि मनुष्य उसमें फँस कर आत्म-समर्पण कर बैठता है। यही त्रुटि अन्य त्रुटियों की जन्मदाता है और इसी पर मन की स्वतन्त्रता को नष्ट करने का उत्तरदायित्व है।

सम्प्रदायवाद के ऐसे आदेश का ही परिणाम है कि हिन्दू, मुसलमान, जैनी, ईसाई, सिख, पारसी आदि कहलाने वाले मनुष्य अपने अपने बाड़े बनाकर और अपनी हृदय-वृत्तियों, भावनाओं व विचार-धाराओं को संकुचित सीमाओं में घेर कर अन्धानुकरण कर रहे हैं। ईसाइयों का यह विश्वास है कि सर्वोत्कृष्ट नैतिक जीवन के लिए, जीवन की पूर्ण सफलता के लिए, ईसामसीह के जीवन का अनुकरण तथा उनकी प्रत्येक आज्ञा का अक्षरशः पालन आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। मुसलमान एक अल्लाह को मानते हुए भी हज़रत मुहम्मद को आदर्श समझ कर उनके नक़शे-क़दम पर चलना ही पसन्द करते हैं। इसी तरह बुद्ध, हिन्दू, जैन आदि सभी सम्प्रदाय-वादियों ने नैतिकता को किसी एक पूर्वकालीन पैग़म्बर, महात्मा आदि के जीवनचरित्र अथवा उसके उपदेशों के आधार पर खड़ा किया है। नैतिकता का ऐसा ढांचा बनाने में और लोगों को उसकी ओर खींचने में वे निःसंदेह एक हद तक सफल हुए हैं; लेकिन इस सफलता में एक महान असफलता छिपी हुई है, इस जय में एक भयंकर पराजय निहित है और वह यह कि अब यह एक हद तक मनुष्यों को कुछ लाभ पहुँचा कर, मानव सुख में कुछ वृद्धि कर के, अब हानि और अहित करने की तरफ़ अग्रसर हो चली है, यहाँ तक कि पहिले वह मानव-सुख में जो कुछ वृद्धि कर सकी थी अर्थात् मानव समाज के सुख के मूलधन में जो कुछ ब्याज बढ़ा सकी थी, उसे घटाकर अब वह मूलधन पर भी हाथ साफ़ करने लगी है।

एक ही शिक्षक अथवा मार्ग-प्रदर्शक का अनुकरण करने के इस व्यवहार से स्व-विकास के कठिन काम को कुछ सरल और सहज बनाने की कोशिश की थी और सचमुच कुछ व्यक्तियों ने इससे लाभ भी उठाया था और अभी भी कुछ लाभ उठा रहे हैं। लेकिन जहाँ तक सामूहिक दृष्टि से विशाल जन-समुदाय का प्रश्न है, इसने दुनिया को पथ-भ्रष्ट ही किया है और इसका कारण यही है कि कोई भी व्यक्ति हर प्रकार से पूर्ण आदर्श जीवन नहीं बिता सकता है; जब कि हम किसी व्यक्ति को ही पूर्ण मानकर आँख मीचे उसका अनुकरण करने लगते हैं। भूल करना मनुष्य का स्वभाव है। कोई भी व्यक्ति अभी तक त्रुटियों अथवा दोषों से रहित नहीं रह सका है। सभी ने भूलें की हैं, अपराध किए हैं, कर्तव्यों की अवहेलना की है और पूर्ण में तो क्या अंश में भी पूर्णता प्राप्त करने में असफलता ही प्राप्त की है। अधिक से अधिक उनका जीवन एक काल्पनिक महान आदर्श जीवन का छोटा-सा अंग ही बन सका है। सच तो यह है कि मनुष्य का शरीर, मन और मस्तिष्क की बनावट ही ऐसी है कि वहाँ पूर्णता की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

किसी भी व्यक्ति को, चाहे वह कितना भी महान और प्रभावशाली क्यों न हो, पूर्ण मान कर उसका अन्धानुकरण करने की नीति मानव जीवन के लिए एक बहुत बड़ा अभिशाप है, जो उन्नति के मार्ग को ही नहीं बल्कि उसके मूल द्वार को ही रोक दिया करता है। जो कुछ ईसा ने किया, एक कट्टर ईसाई वही करने की तो कोशिश करता ही है, साथ ही वह यह भी सोचता है कि कोई भी ऐसा काम करना अनावश्यक बल्कि पाप ही है, जिसे उसके ईसामसीह ने नहीं किया है। इस नकारात्मक अनुकरण की धुन में ही ईसाई पादरियों ने विज्ञान का अध्ययन नहीं किया और न गणित ही सीखा, क्योंकि ईसामसीह ने

भी ऐसा नहीं किया था। एक कट्टर मुसलमान एक तसवीर या मूर्ति नहीं ख़रीदता है, क्योंकि मुहम्मद साहब ने तेरह सौ वर्ष पहले अरब में मूर्ति पूजा का बहिष्कार किया था। आज भी मुसलमान बहु विवाह को उचित मानता है, क्योंकि मुहम्मद साहब ने कभी इसकी अनुमति दी थी। उसका यह विश्वास है कि चार पत्नियाँ तक रखना गुनाह नहीं होगा; लेकिन जहाँ पाँच पत्नियाँ रखीं कि गुनाह आ सकेगा! हिन्दू के बहु पत्नित्व में चार क्या चार सौ और चार हजार की भी सीमा नहीं है! जैनी के लिए तो उसके मनगढ़ंत इतिहास में, जिसको वह पूर्ण सत्य समझता है, छयानवे हज़ार पत्नियों तक का उदाहरण है। इस तरह हर सम्प्रदाय में से लेकर दस बीस नहीं बल्कि सैकड़ों हज़ारों उदाहरण दिए जा सकते हैं; जिससे पता लगता है कि सम्प्रदायवाद की मदिरा पीकर मनुष्य की विचारधारा इतनी बुरी तरह जकड़ कर रह गई है कि बुद्धि के होते हुए भी वह बुद्धिमानी का दिवाला निकाल चुका है।

हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, जैनी, सिख, किसी को भी लीजिए उसका यह विश्वास है कि उसके सम्प्रदाय की सीमाओं से बाहर कुछ भी ग्रहण करने योग्य नहीं है, जो कुछ भी सार वस्तु है वह उन सीमाओं में ही घिरी हुई है। उसका यह विश्वास यहाँ तक बढ़ गया है कि यदि कोई उसके पैग़म्बर या महात्मा आदि को महान व परम आदरणीय मनुष्य कहते हुए भी उसमें कुछ मानवीय त्रुटियों व कमज़ोरियों का होना स्वीकार करे, अथवा उसके मान्यवाद में समय देश काल की परिस्थिति के परिवर्तन के कारण किसी परिवर्तन का सुझाव करे, तो वह इसे अपमान ही समझता है। वह यह सोच ही नहीं पाता है कि उस महापुरुष की बुद्धिमत्ता और अनुभवशीलता उच्च कोटि की होते हुए भी सीमित थी और उसके सिद्धांत व नियम अपने अपने देश व काल की परिस्थिति से अपेक्षित थे। सचमुच सम्प्रदायवाद के प्रभाव ने लोगों को यह सरल सत्य स्वीकार करने के योग्य भी नहीं रखा है कि किसी भी महात्मा ने पूर्ण और सदैव एक-सा रहने वाला सत्य प्रतिपादित नहीं किया है और न किया ही जासकता था। आज की बुद्धिमत्ता आने वाले काल की मूर्खता बन सकती है, आज की व्यवस्था कल आउट-ऑफ़-डेट बन सकती है, आज के उपयोगी नियम व विधान कल निरर्थक व अनुपयोगी बन सकते हैं, आज की जीवन-धारा देश काल की परिस्थिति के परिवर्तन के साथ साथ अपने प्रवाह की दिशा में परिवर्तन कर सकती है, यह सीधी सादी बात समझ पाना भी उन बेचारों के वश की बात नहीं रह गई है।

सचमुच जितना सरल है यह समझना, उतना ही कठिन है सम्प्रदायवाद के लिए यह स्वीकार करना कि सब से अच्छा और सब से बुद्धिमान और महान मार्ग प्रदर्शक भी मानव समाज के सम्मुख सभी गुणों का आदर्श उपस्थित नहीं कर सकता, क्योंकि छोटे से जीवन में उन सब को प्रकट करने का अवसर पाना कठिन ही नहीं असंभव है। ईसा और सुक़रात ने बलिदान के जो उदाहरण पेश किए हैं, बुद्ध, महावीर नहीं कर सकते थे, क्योंकि उन्हें कम असहिष्णु लोगों में उपदेश देने का मौक़ा मिला था। जिसकी वजह से वे न पकड़े गए और न फाँसी के तख़्ते पर लटकाए गए। जिस तरह बुद्ध और महावीर ने गृहत्याग कर यह सिद्ध कर दिया कि पत्नी तथा परिवार से समाज अधिक प्रिय है, मोह से कर्तव्य अधिक अभीष्ट है, उस तरह ईसा परिवारविहीन होने के कारण परीक्षा न दे सके। महावीर और बुद्ध से पत्नी को छोड़ना सीखा जा सकता है, तो सुक़रात और मुहम्मद से पत्नी के साथ रहना सीखा जा सकता है। आज पराधीनता की जंजीरों में जकड़े हुए भारत का कर्णधार गांधी जिस विद्रोह और संघर्ष को महान पुण्यमय शक्ति का परिचय दे सका है और दे रहा है, वह बुद्ध और महावीर कैसे दे सकते थे! राम और कृष्ण जो उदाहरण पेश कर सके ग़रीब घराने और जंगली प्रदेश में पैदा हुए मुहम्मद वैसा उदाहरण कैसे पेश कर सकते थे? इस तरह अगर किसी व्यक्ति में विभिन्न गुणों की योग्यता अौसर

की भीतर विद्यमान है, पर परिस्थिति व समयाभाव से वह सब को विकसित नहीं कर पाता, अर्थात् सब को व्यवहार में नहीं ला पाता, तो क्योंकर हम मानव जीवन की सभी समस्याएँ सुलझाने के लिए उससे प्रेरणा पा सकते हैं ? सचमुच ही भाई चारे के लिए मुहम्मद से, सेवा के लिए ईसा से, अहिंसा के लिए महावीर से, दया और मध्यम मार्ग के लिए बुद्ध से, कर्मयोग के लिए कृष्ण से, मर्यादा पालन के लिए राम से, अन्याय के प्रतिरोध के लिए गांधी से प्रेरणा ली जा सकती है। सब को महान मानकर, हरएक की विशेषता से कुछ कुछ सीख कर, अपने जीवन के सभी अंगों को परिपुष्ट किया जा सकता है। लेकिन यदि हम एक को ही पूर्ण, सम्पूर्ण, परिपूर्ण, मान बैठेंगे तो हम जीवन के एक अंग के ही लिए वहाँ पौष्टिक पदार्थ पा सकेंगे और यह एक घाटे का ही सौदा होगा।

हम देखते हैं कि जो व्यक्ति मुसलमान के घर पैदा हो गया है, वह मुहम्मद साहब के ही गीत गाता है, क़ुरान और हदीस में ही ग़ोते लगाता है और हिन्दुओं, जैनियों, बौद्धों आदि सब को व उनके महात्माओं तक को घृणा व तिरस्कार की दृष्टि से देखता है। उसका यह विश्वास है कि जो कलमा पढ़ लेता है, जो नमाज़ पढ़ता है, जो क़ुरान का पाठ करता है, उसे बहिश्त का पासपोर्ट मिल जाता है और जो अभागा नहीं पढ़ पाता है, उसके लिए दोज़ख रिज़र्वड (Reserved) है। यही हाल एक जन्मगत हिन्दू का है, जो यह समझता है कि राम और कृष्ण के गुणगान में, रामायण, महाभारत, गीता, पुराण, उपनिषद् और वेदों के पठन-पाठन तथा गायत्री मन्त्र के उच्चारण में ही मनुष्य का कल्याण निहित है। एक जैनी को यह विश्वास है कि सूत्रों के वाचन तथा नमोकार मन्त्र, भक्तामर व समायिक पाठ के उच्चारण पर ही आत्मा का कल्याण निर्भर है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन छह द्रव्यों को न मानने वाला व्यक्ति चाहे वह कितना ही सदाचारी, परोपकारी व न्यायवान हो, एक जैन की दृष्टि में मिथ्यावादी है और उसका भविष्य दुःखमय है। ईसाई, पारसी, बौद्ध आदि सभी सम्प्रदायों की यही रफ़्तार बेढंगी है, जो सदियों से अभी तक चली आ रही है। यह तो रही जन्म की बात, लेकिन यदि एक हिन्दू बच्चे का मुसलमान के घर में पालन हो तो बड़ा हो कर वह एक हिन्दू को काफ़िर ही समझेगा और इसी तरह एक मुसलमान के बच्चे का पालन हिन्दू परिवार में हो तो वह भी मुसलमानों को म्लेच्छ ही समझ सकेगा। यह सब संस्कारों एवं शिक्षा का ही परिणाम है। संस्कार अच्छे होते हैं और बुरे तथा शिक्षा दीक्षा भी अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की होती है; अतः जो संस्कार या शिक्षा दीक्षा मात्र का परिणाम है, उसका सत्य से कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं हो सकता। लेकिन हम देखते हैं कि संस्कार, शिक्षा दीक्षा ने लोगों के दिलों व दिमाग़ों को ऐसा ग़ुलाम बना रखा है कि वहाँ मौलिक रूप से सत्य और असत्य को समझने के लिए कोई आधार ही नहीं है। जो यह समझता है कि "जो मेरा है वह सत्य है," "जो सत्य है वह मेरा है" वह सच्चे दृष्टि-कोण को कहाँ से पा सकता है ? कितने हिन्दू मुसलमान, ईसाई, जैनी, बौद्ध आदि ऐसे हैं, जिन्होंने एकांत में बैठ कर ठंडे दिल से यह समझने की कोशिश की है कि आख़िर जन्म व लालन-पालन के कारण अर्थात् संस्कारों व शिक्षा दीक्षा के ही कारण किसी व्यक्ति अथवा वाद विशेष में एकांत रूप से ऐसी पूर्ण श्रद्धा क्यों रखी जाय कि बाहर के विशाल विश्व के किसी भी व्यक्ति व तत्व के लिये वह ज़रा भी शेष न रहे ? क्यों न अपने को मनुष्य मात्र का समझ कर सभी व्यक्तियों और वादों को देखा-भाला जाय और जहाँ भी जो अच्छाई मिले उसे निःसंकोच ग्रहण करके अपने व्यक्तित्व का विकास किया जाय ? संस्कारों का प्रभाव यहाँ तक मन की गहराई में पहुँच गया है कि कभी कभी मनुष्य यह अनुभव भी करने लगता है कि वह सचमुच विवेकपूर्वक ही अपने सम्प्रदाय में आरूढ़ है। यह अवस्था तो और भी भयंकर है, क्योंकि यहाँ मन ही नहीं बुद्धि भी संस्कारों की ग़ुलामी में आ जाती है और फिर वह संस्कारों

के अनुकूल ही विचार करती है और उन्हीं के अनुरूप निर्णय किया करती है और फिर कहने लगती है उस व्यक्ति से, "धन्य है तू जो इस सम्प्रदाय में आने का सौभाग्य प्राप्त कर सका," और इससे वह व्यक्ति पा लेता है कुछ वह जिसे वह संतोष मानना चाहता है। कहने की कोई ज़रूरत नहीं कि संस्कारों की ऐसी ग़ुलामी से निकलना साधारण मनुष्य के लिए मामूली बात नहीं है।

सम्प्रदायवाद की इस चहारदीवारी में घिर कर मनुष्य अपने ऊपर निर्भर रहना नहीं सीख सका है। वह दूसरों के विश्वासों से ही विश्वास पाने और उनकी बुद्धि से ही हर समस्या को देखने की तथा उनके निर्णय को ही अपना निर्णय बनाने की नीति बना कर निश्चिन्त हो जाना चाहता है। लेकिन वह महा प्रमादी भूलता है कि जिस तरह दूसरों के दांतों से कुछ नहीं खाया जा सकता, दूसरों के कानों से कुछ नहीं सुना जा सकता, दूसरों की नाक से कुछ नहीं सूंघा जा सकता, उसी तरह दूसरों की बुद्धि से कुछ नहीं समझा जा सकता और दूसरों के हृदय से कुछ अनुभव नहीं किया जा सकता। साधु, सन्यासी, पुजारी, गुरु, महन्त, माता-पिता, मित्र, पड़ोसी आदि सभी साथी किसी बात की निन्दा करें, लेकिन उसकी अंतरात्मा उसकी प्रशंसा ही करे, तो ऐसी हालत में दूसरों के हृदयों से घृणा सीख कर वह दूसरों को ही धोखा नहीं देगा, बल्कि अपनी अन्तरात्मा के प्रति भी दग़ाबाज़ी करेगा और इससे किसी भी अंश में उसका कल्याण न हो सकेगा।

मनुष्य को चाहिए कि अपनी अन्तरात्मा के प्रति पूर्ण रूप से वफ़ादार रहे और कभी कभी दूसरों की अन्तरात्मा का ग़ुलाम न बने। दूसरों के मन और मस्तिष्क उसके व्यक्तित्व में समाविष्ट नहीं हैं। ये बाहरी चीज़ें हैं। उसकी अपनी चीज़ तो उसकी अन्तरात्मा ही है, उसका मार्गदर्शक तो उसकी अन्तरात्मा ही है। जब कभी दूसरों के मत से वह सहमत न हो सके तो यह समझ कर ही असहमत रहने के लिए उसे सहमत होना चाहिए कि उनमें और उसमें व्यक्तित्व की दृष्टि से विभिन्नता है। और जिसके व्यक्तित्व के भीतर का उसे पता नहीं है, जिसके सुख दुःख का उसे अनुभव नहीं है, जिसके गुणों और अवगुणों का उसे ठीक परिचय नहीं है। जिसके मनकी उमंगों और विचार धाराओं का उसे प्रत्यक्ष नहीं है, उसके कारण वह अपने व्यक्तित्व को क्यों नष्ट करे, अपनी अन्तरात्मा को क्यों पददलित करे? उसे यह सदैव याद रखना चाहिये अन्तरात्मा अपमानित होने पर विद्रोही बन जाया करती है, जिसके कारण मनुष्य कभी सुख की नींद नहीं सो सकती है, और यदि वह सहयोगी रहे तो उससे बड़ा मित्र, मार्गप्रदर्शक भी कोई नहीं है। वास्तव में इस जीवन में अन्तरात्मा ही मनुष्य का सर्वस्व है, वही उसका पिता माता, पति या पत्नी, पुत्र पुत्री, मित्र और पड़ोसी है, वही उसका अपनापन है और वही वह है। ऐसे साथी का अनादर करना निःसन्देह अपने को दूसरों का ग़ुलाम बनाकर अपने सर्वनाश को निमन्त्रण देना है।

यह दुनिया न मालूम कब से है और कब तक रहेगी, अनादि अनंत है, अथवा कभी इसका जन्म हुआ था और कभी महाप्रलय में विलीन हो जायगी। ईश्वर है या नहीं, परलोक है या नहीं, स्वर्ग नर्क है या नहीं, मोक्ष है या नहीं, इन सब प्रश्नों को लेकर यह मनुष्य नाम का प्राणी बड़े बड़े दावे करता है सो करे, हम तो उससे यही कहना चाहते हैं कि अपने को ही सत्य का ठेकेदार न समझ, जो कुछ तेरा है, उसे ही सत्य मत मान, अपने विचारों को अपरिवर्तनीय न समझ, और सम्प्रदायवाद की चहारदीवारी से निकल कर अपने दिल और दिमाग़ को सभी तरह की ग़ुलामियों से आज़ाद कर के सब में अपने को और अपने में सब को देखने की उदार दृष्टि रखकर अपनी ज़िन्दगी के थोड़े से दिन सन्तोषपूर्वक बिता दे, इसी में तेरे जीवन की सार्थकता है।

अन्तर्ज्वाला

श्री सम्पतिराय भटनागर

यों ही न चली जायेगी, युग - युग की घोर तपस्या।
इन बलिदानों के बल से, हल होगी कठिन समस्या।
लाखों युवकों ने जिसमें, सर्वस्व भस्म कर डाला।
कुछ रंग नया लायेगी, भारत की अन्तर्ज्वाला॥

× × ×

जो देश - प्रेम मतवाले, आज़ादी के दीवाने।
बुनते हैं विषम दशा में, समता के ताने - बाने।
जलने में जो सुख पाते, जिनका तप - त्याग निराला।
उनको प्रकाश पहुंचाती, पग - पग पर अन्तर्ज्वाला॥

× × ×

धन - मद के प्याले पीकर, जो महलों में मदमाते।
पर - घर में आग लगाकर, हैं आप तापने जाते।
वे भी अब समझ सकेंगे, है पड़ा किसी से पाला।
अंगार लिये आती है, कुटियों से अन्तर्ज्वाला॥

× × ×

ये टैङ्क और ये तोपें, दिन रात आग बरसातीं।
विधि की सारी रचना को, जो भस्मीभूत बनातीं।
बमवर्षक करते रहते, इस वसुधा का मुंह काला।
सबको ठण्डा कर देगी, दुखियों की अन्तर्ज्वाला॥

× × ×

है हवन हो चुका पूरा, होताओं की आहुति भी।
विद्युत - सी दमक रही है, प्रज्वलित कान्ति की द्युति भी।
लो, अग्निदेव आते हैं, ले साम्य - सोम का प्याला।
सुख - शान्ति लिये आयेगी, दलितों की अन्तर्ज्वाला॥

राजा रवि वर्मा और उनकी चित्रकला

अध्यापक श्री शंकरदेव विद्यालंकार, साहित्यभूषण

उन्नीसवीं शती की चौथी पचीसी में भारत भूमि में जातीय जागरण और सांस्कृतिक समुत्थान की अनेक प्रवृत्तियां आरम्भ हुईं। उन दिनों हमारा राजनीतिक चैतन्य कांग्रेस द्वारा प्रस्फुटित हुआ। धार्मिक एवं सामाजिक सुधार की प्रक्रिया आर्य-समाज, ब्रह्म समाज आदि के द्वारा प्रारम्भ हुई। इसी प्रकार साहित्य, संगीत, शिल्प और कला आदि के विषय में भी विविध प्रक्रियायें प्रबुद्ध हुईं। चित्र विद्या और शिल्प कला के विषय में उस समय जो नवीन प्रयास प्रारम्भ हुआ, उसके पुरस्कर्ता दो प्रतिभावान् कलाविद् थे—प्रथम श्री राजा रवि वर्मा और दूसरे शिल्पाचार्य अवनीन्द्रनाथ ठाकुर। इन दोनों कलाकारों ने दो धाराओं में अपना अपना कार्य प्रारम्भ किया। दोनों की शैलियाँ जुदी जुदी थीं। इस लघु लेख में प्रथम कलाविद् स्वर्गीय राजा रवि वर्मा के विषय में विचार किया जायगा।

प्राच्य कला के विशिष्ट मीमांसक डाक्टर आनन्द कुमार स्वामी तथा स्वर्गीय ई० बी० हावेल महोदय ने राजा रवि वर्मा की कला को पाश्चात्य चित्र-शैली का हलका अनुकरण और नाटकीय छाया वाली कह कर उसका योग्य सम्मान नहीं किया है। इन विश्रुत विवेचकों के विधान में थोड़ा सत्य का अंश अवश्य होगा, इतना मान कर भी हम को स्पष्टतया स्वीकार करना होगा कि राजा रवि वर्मा में एक कलाकार का प्रबल उत्साह और नवीन पथ प्रवर्तक की स्फूर्ति विद्यमान थी। कोई कलाकार हमारे अपने माने हुए आदर्शों और मन्तव्यों के अनुसार यदि हमको ठीक नहीं जँचता, तो उसे सर्वथा ही स्वीकार न करना उचित नहीं प्रतीत होता। सच्चे टीकाकार और समीक्षक का दृष्टिबिन्दु ऐसा नहीं होना चाहिए। सच्चा मीमांसक तो शिल्पकार या कलाकार की मानसिक रचना समझने का पहले प्रयत्न करता है। उसकी भावनाओं का हिस्सेदार बनता है। जिस उमंग और रसिकता के साथ चित्रकार चित्र बनाता है, उस उमंग और स्फूर्ति को वह अनुभव करता है और इस प्रकार संसार को उस कलाविद् का परिचय कराता है।

× × ×

सन् १८५७ की सशस्त्र क्रान्ति—जिसे स्वातन्त्र्य-पुजारी वीरश्रेष्ठ सावरकर स्वातन्त्र्य सिद्धि की पहली सवारी कहते हैं—के पश्चात् भारत में किसी भी स्थान पर पहले की सी स्थिति नहीं रही थी। मुग़ल-साम्राज्य भूशायी हो चुका था। उसमें से बिखरे हुए छोटे मोटे देशी रजवाड़े कला-कारीगरी का पोषक होने का झूठा आडम्बर कर रहे थे। महाराष्ट्र-साम्राज्य के विधायकों ने भी कला के सुन्दर अवशेषों की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। और इस प्रकार कलालक्ष्मी शोभाहीन और क्षीण हो गई! उसके बाद भारत में आँग्ल-सत्ता का उदय हुआ। उन दिनों सामान्य प्रजाजनों का ऐसा मत बन गया था कि अंगरेज़ लोग जो कुछ करते हैं, वह अच्छा ही करते हैं और वह अनुकरणीय ही होता है। राजा लोग, नवाब और सेठ-साहूकार अपनी गृह-सज्जा और ठाठ यूरोपीय शैली पर सजाने लगे थे। राज्य प्रासादों का निर्माण, उपस्कर (फर्नीचर), पोशाक, रथ, वाहन आदि सभी वस्तुओं में शैलियों का मिश्रण शुरू हो गया था। जो राज्य इस प्रकार के परिवर्तन शीघ्रता से करे, वह सुधारप्रिय और संस्कारवान् माना जाता था। देश के बुद्धिमान् और विद्वान् लोगों की भी यही मनोवृत्ति हो गई थी। पुरानी प्रणालिकाओं पर आरूढ़ हिन्दू रायबहादुर और रायसाहब लोग कचहरियों में जाने के लिए कोट-पतलून का साज सजने लगे थे। भारत माता की कला-लक्ष्मी के नमूने रह गये थे केवल देव मंदिरों में और पर्वतों की कन्दराओं के अन्दर। महलों की

चित्रकारी शनैः शनैः मिटती जा रही थी। राजा-महाराजाओं की चित्र-पोथियाँ अंगरेज़, फ्रेंच, और जर्मन लोग जहाँ तहाँ से खोज-खोज कर हस्तगत कर रहे थे। दूसरी ओर. इस देश के राजा और अमीर लोग यूरोपीय चित्रों और मूर्तियों से अपने महल और बंगले सजाने में दत्तचित्त थे। यहाँ के अखुट धन से यूरोप में चित्रकार और कलाकार विशेष प्रेरणा और प्रोत्साहन प्राप्त कर रहे थे। लोगों की यह धारणा बन गई थी कि इटली, फ्रांस, इङ्गलैण्ड और जर्मनी के सिवाय अन्यत्र कहीं चित्रकार हैं ही नहीं। परदेश मे किसी कारीगर के यहाँ आने पर ये राजा, अमीर उमराव और श्रीमान् लोग ऊँची से ऊँची क़ीमत देकर अपनी तसवीर तैयार करने में गौरव समझते थे। इङ्गलिस्तान का कोई भी चित्रकार गवर्नर की चिट्ठी लेकर रजवाड़ों में घूमकर, दो वर्ष के बाद स्वदेश लौटने पर, नवाब बन जाता था। हमारी मातृभूमि में उन दिनों आत्मदैन्य की भावना साहित्य, कला और शिक्षा-दीक्षा आदि सभी क्षेत्रों में फैल रही थी। वह हमारे मानसिक अवसाद का ज़माना था। नए और पुराने के संघर्ष का युग था।

× × ×

ऐसे समय में ट्रावनकोर के राज महल में बालक रवि वर्मा ने चित्र बनाने का खिलवाड़ शुरू कर दिया था। राज परिवार का आत्मीय जन होने के कारण कुमार रवि वर्मा राजमहल में सर्वत्र छूट से भ्रमण कर सकता था। उन दिनों एक पुराना चितेरा राज-महल की भित्तियों पर चित्र बना रहा था। रवि वर्मा घण्टों तक उसकी कारीगरी को अनिमेष निहारता रहता था। ट्रावनकोर और मदुरा की ओर एक प्रकार की विशिष्ट चित्र शैली चालू थी, जिसके नमूने अभी तक उपलब्ध होते हैं। रवि वर्मा के चित्रों में इस शैली की छाया होती थी। बाद को उनकी तूलिका के प्रौढ़ हो जाने पर भी, उनके पात्रों में इस शैली की छाया दूर नहीं हुई। ट्रावनकोर की मूल चित्र शैली राजपूत और मुग़ल-शैली से सर्वथा निराली है। उसमें अधिकतया देवी देवताओं के ही चित्र हैं। इन चित्रों में अंकित मुकुटों, हाथ के आभूषणों, स्त्रियों की भृकुटियों, नासिकाओं, तथा ओष्ठों की बनावट मदुरा के चित्रों से खूब मिलती जुलती है। रवि वर्मा यूरोपीय शैली से चित्र बनाने लगे, इससे पूर्व ही इस मदुरा शैली के आकार उनके मन पर अच्छा प्रभाव अंकित कर चुके थे। अपने कुमार-काल में रवि वर्मा देवताओं के चित्र बड़े कौशल के बना लेते थे और ट्रावनकोर नरेश की ओर से उनको बहुत प्रोत्साहन प्राप्त होता था। यह बात उक्त राजकीय चित्रकार को पसन्द नहीं थी। अतः जिस समय वह चित्रकारी करता था, उस समय रवि वर्मा को अपने से दूर रहने की युक्ति-प्रयुक्ति किया करता था।

× × ×

कुछ समय बाद एक इटालियन चित्रकार ट्रावन-कोर के राज्य दरबार में आया। उसने राज कुटुम्ब के चित्र तैलरंगों द्वारा, व्यक्तियों को सामने से निहार कर तैयार किए। कुमार रवि वर्मा को यह प्रक्रिया देखने का सुन्दर सुयोग प्राप्त हुआ। इतना ही नहीं उसने अपने बनाये कितने ही चित्र इटालियन कला-विद् को दिखाए। उन्हें देख कर उक्त चित्रकार ने रवि वर्मा की प्रतिभा के लिए बहुत सुंदर उद्‌गार प्रकट किए। और साथ ही तैल चित्रकारी (Oil Paintry) की बहुत-सी बारीकियाँ रवि वर्मा को सिखाईं।

मनुष्य को निहार कर कारीगरी अधिकाधिक सादृश (तद्रूप) होती है और तैल के रंग अच्छा परिणाम लाते हैं—यह बात रवि वर्मा के मन में घर कर गई और इसी समय से वास्तव में उनका कृतित्व प्रारम्भ हुआ।

चित्र विद्या के प्रति रवि वर्मा के मन में अतिशय प्रेम था। अतः इटालियन चित्रकार के चले जाने पर भी उन्होंने खूब धैर्य और निष्ठा के साथ चित्रकला का अनुशीलन और अभ्यास चालू रखा। थोड़े समय के अन्दर ही वे सजीव पात्रों को निहार कर आबेहूब (तादृश) चित्र तैयार करने लगे। ट्रावनकोर नरेश ने उनको सब प्रकार की अनुकूलताएँ प्रदान कीं।

आत्मश्रद्धा और स्वपुरुषार्थ के बल पर चौबीस वर्ष की उगती उमर में उन्होंने मद्रास प्रांत की चित्र प्रदर्शनी में स्वर्ण पदक प्राप्त कर लिया। मनुष्य को निहार कर चित्र बनाना तो यूरोप के चित्रकारों को ही आता है—इस धारणा को रवि वर्मा ने असत्य सिद्ध कर दिया। उन्होंने मद्रास के गवर्नर तथा अन्य संभ्रान्त पुरुषों के चित्र तैयार किए। "कुएँ के किनारे खड़ी हुई सुन्दरी" नामक मनोहर चित्र रवि वर्मा ने चौबीस वर्ष की उगती जवानी में बनाया था। इस समय रवि वर्मा का नाम एक श्रेष्ठ चित्रकार के रूप में भारत भर में फैल चुका था। उन दिनों राजागण और अमीर लोग यूरोपीय चित्रों को मोल लेने के लिए मनमाना पैसा खर्च कर डालते थे। परदेशी प्रेम कथाओं और इतिहास-कथाओं के चित्रों से राजमहलों की दीवारें भरी हुई थीं। देशी कारीगरों की कुछ पूछ नहीं थी। उनका दरजा बहुत हलका माना जाता था।

× × ×

उन्हीं दिनों अमेरिका के शिकागो नगर में एक विश्व-प्रदर्शनी का आयोजन हुआ। इस प्रदर्शनी के लिए रवि वर्मा ने पौराणिक कथाओं तथा हिन्दू-नारियों के बारह चित्र भेजे। इन चित्रों का वहाँ पर बड़ा सत्कार हुआ। उस समय के प्रवाह के अनुसार गायकवाड़ नरेश श्री सयाजीराव भी अपने महल के लिए यूरोपीय चित्रों पर खूब पैसे खर्च रहे थे। रवि वर्मा की कमनीय कृतियाँ उनके देखने में आईं और स्वदेश आते ही उन्होंने रवि वर्मा को बड़ोदा आने का आमन्त्रण दिया।

रवि वर्मा राज-निमन्त्रण को स्वीकार कर बड़ोदा पधारे। उस यात्रा में तैयार किए हुए उनके सोलह चित्र अभी तक बड़ोदा के राज-प्रासाद में विद्यमान हैं। इनमें "मत्स्यगंधा और शान्तनु" तथा "हरिश्चन्द्र" के चित्र बहुत बढ़िया हैं। बड़ोदा का काम समाप्त करके रवि वर्मा ने गुजरात-काठियावाड़ के राजाओं और श्रीमानों में परिभ्रमण किया। इस प्रवास में बनाई हुई कृतियां भी अभी तक यत्र तत्र विद्यमान हैं। भावनगर के राजमहल के लिए भी इस प्रवास में रवि वर्मा ने कई सरस रचनाएँ अपनी चतुर कूँची से तैयार कीं। यूरोपीय चित्रकार कितनी ही देशीय छायाओं को अवगत करने में निष्फल रहते थे। इस कार्य में रवि वर्मा ने बहुत कौशल दिखाया और इसलिए उनको अच्छी ख्याति प्राप्त हुई। भावनगर में रहकर बनाए हुए इनके चित्रों में स्वर्गीय गौरीशंकर उदयशंकर की तसवीर पात्रालेखन का सुन्दर नमूना है।

अभी तक रवि वर्मा सृष्टि के पास जो कुछ था उसको चित्रित करने में ही कुशलता प्राप्त कर सके थे। वस्तु-निर्माण में उनकी कल्पना वेगवती नहीं बन पाई थी। तो भी मानव-शरीरालेखन में उनकी कला-चातुरी स्पष्ट निहारी जा सकती थी। "विश्वामित्र और मेनका" का उनका बनाया चित्र इस बात का अच्छा नमूना है। इस धरती पर उपलब्ध होने वाले नर-नारियों के सिवाय इसमें दूसरा और कोई तत्व नहीं है, ऐसा कहकर इस चित्र को एक किनारे नहीं रख सकते। यद्यपि इस चित्र की रचना नाटकीय है, तथापि उसमें शक्य उच्च सामग्री का उपयोग हुआ है। विश्वामित्र के आलेखन के लिए जैसा तेजस्वी शरीर चाहिए, वैसा बनाने का खूब प्रयत्न किया गया है। ऐसे तपस्वी को दुनिया की तरफ़ आकृष्ट करने के लिए "मेनका" के रूप-निर्माण में राजा रवि वर्मा शिथिल नहीं हुए।

× × ×

कहा जाता है कि राजा रवि वर्मा के चित्रों में ऊँची जीवन-भावनाएँ नहीं, कल्पना नहीं, प्रेरणा नहीं, और उत्साह नहीं। परन्तु जब हम "सीताभूमि प्रवेश" "राम समुद्र मंथन" आदि चित्रों को निहारते हैं, तब मालूम होता है कि उन्होंने कला के उच्च प्रदेशों में भी सिद्धि प्राप्त करनी आरम्भ की थी! जीवन के उत्तरार्ध में उनका ध्यान वस्तु-विधान पर खूब गया था। "स्नान गृह में बेगम" आदि रचनाएँ तो ऐसी हैं कि उनके मुकाबले की कृतियां मिलना मुश्किल है। राजा रवि वर्मा की कला-

चातुरी का पूर्णस्वरूप हम लोग निहार नहीं सके हैं। बावन वर्ष की उमर में राजा रवि वर्मा ने स्वयं अपने उद्‌गार प्रकट किये थे कि—"कला के सच्चे स्वरूप के दर्शन तो मुझे अब होने लगे हैं, परन्तु अब जीवन-दीप बुझता हुआ प्रतीत होता है।" इस कलास्वामी की कला का आदर्श कैसा रहा होगा ! बड़ोदा-निवास के समय "अर्जुन-सुभद्रा" के चित्र की तैयारी शुरू की कि सायंकाल हो गया। दो दीपक मँगाकर काम चालू रखा। प्रातःकाल चार बजे संतोष-कारक रेखा विधान करने पर ही अपना आसन छोड़ा। ऐसा आग्रह, प्रेम और निष्ठा रखने वाले कलाकार की कला में कुछ तत्व नहीं ऐसा कहना, अन्याय करना होगा।

× × ×

सुन्दर और सुडौल शरीर के व्यक्तियों को देख कर रवि वर्मा किसी प्रकार से उनको सामने बिठा कर, शीघ्र रेखाएँ अंकित कर लेते थे। सम्भव हो तो पूरा चित्र तैयार कर लेते थे। "साधु" नामक उनका चित्र इसी प्रकार तैयार किया हुआ है।

रवि वर्मा भारतीय चित्रों को यूरोप के चित्रों जितनी ही कुशलता के साथ अंकित कर सकते हैं, यह देख कर साहसिक सेठ खटाऊ ने लोनावला में रवि वर्मा लीथो प्रेस स्थापित किया। छपाई के लिए दो जर्मन कारीगर नियुक्त किए गए। लगभग दस लाख रुपये की पूंजी से यह अनुष्ठान किया गया और राजा रवि-वर्मा के हस्ताक्षर वाले कलाचित्र भारतवर्ष में घर-घर पहुँच गए। जर्मन और इटालियन चित्रों की स्पर्धा में इन चित्रों ने अच्छी लोकप्रियता प्राप्त की। देश का पैसा परदेश जाने से रुक गया। इस दृष्टि से रविवर्मा की कृतियों का विजय भारतीय कारीगरी के इतिहास में अंकित होना चाहिए। करोड़ों मनुष्य इन चित्रों से घरों को सजा कर सुन्दर मनुष्य को देखना सीख सके होंगे। कला के आदर्शों पर समीक्षा करने वाला उन दिनों कोई नहीं था। किसी को इसका विचार भी नहीं आता था। जो नयनों को भाया, वह मन को भाया, यही अवस्था विद्यमान थी। अब तो जनता मनुष्य जीवन और कला के साथ उसके गाढ़ सम्बन्ध पर विचार करना सीख गई है।

चिन्ता का विषय तो यह है कि राजा रवि वर्मा के मूल चित्रों की तीन चौथाई खूबी उनके मुद्रित चित्रों में नहीं उतर सकी है तथा दूर प्रान्त के विद्वान् उनका मूल्यांकन करते हुए भूलें कर गए हैं।

राजा रवि वर्मा मानव चित्रकार थे। उनकी कला में "वस्तुविधान" का आकस्मिक योग हुआ। वह पूर्णतया विकसित हो सके उससे पूर्व ही उनका देह विलय हो गया। यदि वे दस वर्ष और जीवित रहते तो अपनी परिपक्व चित्रणा द्वारा भाव भरे चित्र बना-कर दिखा सकते। इतनी कमी होते हुए भी भारतीय चित्रकला के इतिहास में राजा रवि वर्मा अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं और सादृश्यालेखन में वे पाश्चात्य चितेरों जितनी ही पटुता रखते थे यह तो सर्वमान्य ही है।

इस लेख को तैयार करने में मुझे अपने मान्य चित्र-कार मित्र श्रीयुत रविशंकर रावल से बहुत सहायता मिली है। उनके इस स्नेहमधुर सौजन्य के लिए अनु-गृहीत हूँ।—लेखक

नये संसार का राजनैतिक तथा आर्थिक आधार

श्री रवीन्द्रनाथ सान्याल

संसार एक नई दुनिया की प्रसव-वेदना से पीड़ित है। हम लोग जो इस युग से सम्बंधित हैं, घटनाओं के इतने सन्निकट हैं कि उन शक्तियों का ठीक-ठीक अनुमान नहीं कर सकते, जो इस समय काम कर रही हैं। किन्तु एक बात को स्वीकार करना ही पड़ेगा कि यह युद्ध पहले के और सब युद्धों से अधिक भयानक और विनाशकारी है। इसका अंतिम निर्णय युद्धस्थल में नहीं होगा। संसार के सम्मुख जो समस्यायें हैं, वह युद्ध में नहीं बल्कि उसके पश्चात् हल होंगी। यह एक विश्वव्यापी और सामूहिक युद्ध है, जिसमें जाति, वर्ण, वर्ग, शान्तिप्रिय प्रजा और युद्ध में लिप्त सैनिकों में कोई अन्तर नहीं। यह केवल कुछ राजनीतिज्ञों के वश की बात नहीं है कि वे बैठ कर इस युद्ध के भाग्य का निर्णय कर दें, यह सारे भूखण्ड पर फैला हुआ युद्ध है। नया संसार, जो इस युद्ध के फलस्वरूप बनेगा, वह आधुनिक संसार से सर्वथा भिन्न होगा।

विद्यार्थी की हैसियत से हमारा यह कर्तव्य है कि हम संसार के पुनःनिर्माण और संगठन में अपना तुच्छ भाग लेने के लिए तय्यार रहें। हमें इस प्रश्न के मूल तत्व पर विचार करना है। परन्तु हमें एक बात का ध्यान रखना होगा। राजनीति और अर्थशास्त्र के जो नियम और सिद्धान्त हमारे विश्वविद्यालयों में प्रचलित हैं और जिनका हम अध्ययन करते हैं, वे इस कार्य के लिए उतने उपयोगी नहीं हैं; क्योंकि इन सिद्धान्तों का निर्माण उस समय हुआ था जब कि अवस्था आज से बिलकुल भिन्न थी।

१९ वीं शताब्दी में, विशेषतः इङ्गलैण्ड में राज्य को बार-बार इस बात की चेतावनी दी जाती थी कि वह आर्थिक क्षेत्र में जहां तक हो सके कम से कम हस्तक्षेप करे। राजनीति और अर्थशास्त्र दोनों के भिन्न भिन्न नियम थे और इस बात की चेष्टा की जाती थी कि ऐसे अवसर नहीं के बराबर होने चाहिए जबकि राजनीति आर्थिक स्वतन्त्रता का अपहरण करे।

इसका यह अभिप्राय नहीं है कि इस सिद्धान्त को लोगों ने मान ही लिया। हर वर्ग के साम्यवादियों ने, जिनमें फ्रांस के साइमन, इङ्गलैण्ड के ओमेन, मार्क्स और लेनिन इत्यादि का नाम विशेष उल्लेखनीय है, इसकी कड़ी आलोचना की। साम्राज्यवाद और राष्ट्रवाद के नायकों ने भी इसका खण्डन किया। जान स्टुअर्ट मिल और मार्शल ने भी इसके विरुद्ध अपना मत प्रकट किया। लेकिन यह सब होते हुए भी १९ वीं शताब्दी के अधिकांश भाग में इसी सिद्धांत का बोलबाला था।

इस तरह हम देखते हैं कि प्रचलित आर्थिक सिद्धान्त केवल उसी हद तक राज्य के हस्तक्षेप की आज्ञा देता है, जिससे Private Property सुरक्षित रहे और Free Competition में कोई बाधा न पहुँचे।

इसके विपरीत, राजनीति में भी आधुनिक काल के आरम्भ से ही तीन मुख्य सिद्धान्तों में बड़ा भेद है।

(१) जिन्होंने राजनीति का आधार मनुष्य के स्वत्वों और अधिकारों पर रक्खा है।

(२) जिनका सिद्धान्त उपयोगिता पर निर्भर है।

(३) जो आदर्शवादी हैं।

पहले सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि मनुष्य के कुछ मुख्य अधिकार और स्वत्व हैं और राज का काम उन्हीं की रक्षा करना है। इसके विरुद्ध शेष दोनों दल का विचार है कि अधिकारों और स्वत्वों की बात एक मूर्खता है। राज्य का संचालन इस उद्देश्य से और इस प्रकार होना चाहिए कि अधिकतम जनता को अधिकतम लाभ मिल सके। यद्यपि

सिद्धान्त के विचार से इन दोनों दलों में भी बड़ा मतभेद है। परन्तु क्रियात्मक रूप से दोनों का उद्देश्य विशेष अधिकारों और ख़ास फ़ायदों का विरोध करना है।

आदर्शवादी इस बात पर ज़ोर देते हैं कि राज का उद्देश्य समाज की उन्नति है। इसका मूल सिद्धान्त है कि व्यक्तिगत हित राज्य के लिए न्योछावर कर देना चाहिए। मनुष्य का कोई व्यक्तित्व नहीं है। उसे समाज के लिए मरना और जीना सीखना चाहिए। साम्यवादी राज्य का संगठन इस प्रकार करना चाहते हैं कि इसका हर एक सदस्य राज्य के नियंत्रण में पूर्णतः रहे।

इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि मनुष्य क्रांति अथवा विकास द्वारा राज्य का ढांचा बदल सकता है और इस प्रकार सारे राजनैतिक सम्बन्ध को फिर से स्थापित कर सकता है। परन्तु प्रायः यह कहा जाता है कि आर्थिक नियमों को बदलना मनुष्य की शक्ति से बाहर है। यह बात ठीक नहीं है। उन आर्थिक नियमों को जो किसी आर्थिक पद्धति में प्रचलित होते हैं, यह पद्धति स्वयं बदल सकती है। अस्तु, यह बात सत्य है कि राज का विधान सरकार द्वारा निश्चित किया जाता है और आर्थिक नियम राजनीति द्वारा स्थापित नहीं वरन् निर्धारित किए जाते हैं।

एक वर्ग का यह कहना कि मनुष्य के कुछ स्थायी राजनैतिक अधिकार होते हैं, ठीक नहीं। क्योंकि स्थायी शब्द ही भ्रमात्मक है। अधिकार का अर्थ उन स्वत्वों से है, जो एक परिवर्तनशील समाज के लिए उपयुक्त हैं। अधिकार सामाजिक व्यवस्था पर निर्भर होता है।

अर्थशास्त्र में भी हम इसी प्रकार की भूल करते हैं जब हम जगतव्यापी नियम स्थापित करने की चेष्टा करते हैं और इस बात को मान लेते हैं कि ये नियम सर्वमान्य हैं और प्रत्येक दशा में लागू होंगे।

अर्थशास्त्र का अधिकार से कोई सम्बन्ध नहीं है। अधिकार का निर्णय करना नीति शास्त्र (Ethics) का काम है।

राजनीति और अर्थशास्त्र के परस्पर सम्बन्ध पर यथोचित रूप से प्रकाश डालने वाला सर्व प्रथम लेखक हेगिल (Hegel) था, जिसे हम एक प्रकार से मार्क्सवाद (Marxism) का सौतेला पिता और फ़ैसिस्टवाद का जन्मदाता कह सकते हैं। हेगिल के अनुसार समाज का विकास और उत्थान मनुष्य के आर्थिक सहयोग और सम्बन्ध पर निर्भर है। समाज में वर्गवाद का जन्म आर्थिक सहयोग से होता है। परन्तु हमें भूलना न चाहिये कि हेगिल का वर्गीकरण मार्क्स के वर्गीकरण से सर्वथा भिन्न है। हेगिल ने समाज को तीन भागों में विभाजित किया है—(१) कृषक वर्ग (२) व्यवसायी वर्ग और (३) शासक वर्ग। दूसरे वर्ग को उसने तीन भागों में बांटा है (१) शिल्पकार (२) Manufacturer (३) व्यवसायी। यह बात प्रत्यक्ष है कि हेगिल ने समाज का विभाजन सामूहिक कार्य पर किया है। इसलिये उसके विभाजन में वर्ग-संघर्ष (Class Struggle) का कोई स्थान नहीं है। प्रत्येक वर्ग राष्ट्र की एक विशेष सेवा करता है। किसी वर्ग का दूसरे से प्रतिस्पर्द्धा या द्वेष नहीं है। हेगिल ने पूंजीवाद और मज़दूरों में कोई भेद नहीं रक्खा है। मार्क्स के समान हेगिल के वर्गों में श्रेणी-संघर्ष की कोई सम्भावना नहीं।

मार्क्स का सिद्धान्त आर्थिक और राजनैतिक दोनों दृष्टिकोण से विचारणीय है। यह हेगिल के सिद्धान्त से समानता रखते हुए भी सर्वथा भिन्न है; दोनों का सिद्धान्त यद्यपि विकासवाद पर निर्भर है परन्तु मार्क्स के वर्गों में आपस में घोर संघर्ष, कलह और प्रतिस्पर्द्धा है। हेगिल के समान मार्क्स कभी नहीं कहता कि मनुष्य के कुछ ऐसे स्वत्व हैं जो कभी नहीं बदल सकते।

वास्तविक बात यह है कि राज का ढांचा आर्थिक अवस्था पर बहुत कुछ निर्भर होता है। जब एक बार राज का निर्माण हो गया, तो वह परिवर्तन को संदेहात्मक दृष्टि से देखता है; क्योंकि इससे उसके हितों पर आघात पहुँचाता है। इसलिए राज्य का परिवर्तन उत्पत्ति के साधनों के अनुसार धीरे-धीरे नहीं होता

वरन् एकाएक होता है। क्रांति, जो संचित शक्तियों के फलस्वरूप प्रकट होती है, राज को बदल देती है।

अस्तु, यह बात प्रत्यक्ष है कि इतिहास में परिवर्तन स्वतः नहीं होता, बल्कि यह परिवर्तन मनुष्य के निरन्तर उद्योग का फल होता है। संसार के परिवर्तन करने में मनुष्य का बहुत बड़ा हाथ होता है।

अब हमारे पाठकों को यह बात स्पष्ट हो गई होगी कि अर्थशास्त्र और राजनीति दोनों को अलग नहीं रक्खा जा सकता।

प्रचलित आर्थिक पद्धति का आधार exchange economy है; परन्तु आगामी आर्थिक जीवन का आधार सम्पूर्ण सामूहिक जीवन होगा।

संसार में जो नई विचार-धारा प्रवाहित हो रही है, उसके लिए हमें प्रस्तुत रहना चाहिये। युद्ध के पूर्व का संसार अपनी अन्तिम सांस ले रहा है। आधुनिक सभ्यता का सुन्दर भवन अब भी उसी शान से खड़ा है। परन्तु इसकी जड़ें हिल चुकी हैं। अब एक नये युग का निर्माण होगा, जिसका आधार व्यक्तिगत स्वार्थ पर कदापि नहीं रक्खा जा सकता। बली निर्बलों का शोषण न कर सकेंगे। हमें समाज के सामूहिक जीवन, सामूहिक हित को देखना पड़ेगा। संसार में जो साधन और शक्ति प्राप्य है, उसका उपयोग ग़रीबी के दूर करने, बीमारी को हटाने और मनुष्य मात्र का जीवन सुखी बनाने में करना पड़ेगा। व्यक्तिगत स्वार्थ को मानव-हित और समाज की रक्षा के लिये तिलाञ्जलि देना होगा।

नभ-वाणी

श्री भगवतीप्रसाद चन्दोला, एम॰ ए॰

आज गरजता मेघ शून्य में,
मुखरित फिर नभ की वाणी—
"आपन आपन मेड़ संभारो
बह्यो जात है पानी।"

रोमाँचित तृण - दल, हर्षित कण,
प्रमुदित तप्त - पिपासित धरणी,
केका - नर्त्तन - चंचल - बन - थल,
भरे पाल तिरती है तरणी।

कृषक - लली टकटकी लगाए
देख रही नभ का परिवर्त्तन,
मेघों की द्रुत उमड़ - घुमड़ वह
औ' चपला का चंचल नर्त्तन।

झूला डाल ग्राम - बालाएँ
गाती हैं मिल वर्षा - मंगल,
उधर दिहाती युवक जोड़ते
डू - डू आदि खेल के दंगल।

वह केका - दल, कृषक - लली,
वह ग्राम - वधू औ' ग्राम-युवक,
सब समझ रहे—क्या समझ रहे
नभ की वाणी का मर्म सुभग!

आज गरजता मेघ शून्य में,
मुखरित फिर नभ की वाणी—
"आपन आपन मेड़ सँभारो
बह्यो जात है पानी।"

वर्तमान महायुद्ध के कुछ रहस्य

श्री विजय वर्मा

पोलैंड उन देशों में था जो तैयार न होने पर भी अपने को तैयार समझते हैं, समर्थ न होने पर भी अपने को समर्थ समझते हैं और असहाय होने पर भी अपने को साथियों से सुदृढ़ मानते हैं। जरमन राजनीतिज्ञों को उसकी इन सभी कमज़ोरियों का पता था। वे जानते थे कि आधुनिक अस्त्र-शस्त्रों से और नये ढङ्ग की लड़ाई से अभी पोलैंड कितना दूर है। पूर्वी यूरप के प्रारम्भिक युद्ध क्षेत्र में ही जरमनी अपने नवीन शस्त्रों के प्रभाव की परीक्षा करना चाहता था। युद्ध की सब बातों पर उन्होंने विस्तारपूर्वक विचार कर लिया था। अपनी योजनायें अच्छी तरह तैयार कर ली थीं। मशीन की तरह काम करना भर शेष रह गया था।

पिल्सुड्स्की का पोलैंड के निर्माण में काफ़ी हाथ था। खेद की बात है कि पोलेंड के राष्ट्रीय और सैनिक पतन की ज़िम्मेवारी भी उसी के मत्थे पड़ी। विदेशों के मामले में बेक और सैनिक मामले में रीग स्मिग्ली (Rydg-Smigly) इस पतन की ओर और भी शीघ्रता से पोलैंड को ले गये। पोलैंड नितांत अकेला पड़ गया। १९३४ के जनवरी में जरमनी और पोलैंड में जो समझौता हुआ था उसके अनुसार जरमनी अपने को सशस्त्र कर सकता था और वह ऐसा करता गया। अगर पिल्सुड्स्की और बेक ने फ्रांस को अपना साथी बना लिया होता तो पोलेंड जरमनी के आक्रमण के समय ऐसा असहाय न होता। किन्तु पोलैंड तो ज़ीकोस्लोवाकिया को भी अपना साथी न रख सका। उसने ज़ीकोस्लोवाकिया को धोखा दिया। फलतः जरमनी का ऐसे स्थान पर प्रभुत्व हो गया जो दक्षिण पोलैंड पर विजय पाने के लिए विशेष महत्वपूर्ण थी।

१९३९ के ग्रीष्म काल में सोवियट की उन शर्तों को मानने से पोलैंड ने इनकार कर दिया जो उसकी रक्षा के लिए आवश्यक थीं। इसके साथ ही उसने पूर्वी यूरप की किसी बड़ी शक्ति द्वारा अपने बचाये जाने का अन्तिम अवसर खो दिया।

अगर ज़ीकोस्लोवाकिया और सोवियट संघ सहायक बने रहते तो पोलैंड अपने पश्चिमी प्रदेशों को—कोरिडर पोसेन और उत्तरी सिलीसिया को—स्वयं आक्रमण करने के लिए बहुत अच्छे स्थान बना सकता। किन्तु अपने सहायकों से अलग हो जाने पर ये ही स्थान उसके लिए ख़तरे के हो गये। उसने फिर भी इनका लड़ाई के लिए उपयोग करने का प्रयत्न किया। इससे उसकी हार निकटतर आ गई।

रीग-स्मिग्ली (Rydg-Smigly) को पोलैंड की रक्षा के लिए क़िलेबन्द पंक्तियों की आवश्यकता ही न जान पड़ी थी! उन्होंने जनरल गैमलिन (Gamelin) से ऐसा स्पष्टतः कह दिया था। वे समझते थे कि नेपोलियन की भांति वे अपनी फ़ौज़ों से तीव्र गति से आक्रमण करा सकते हैं। उन्हें अपनी साधारण फ़ौज की कार्य शक्ति का ठीक अन्दाज़ न था। वे शत्रु की युद्ध-कला की श्रेष्ठता को भी न समझ पाये थे।

जुलाई १९३९ में पोलैंड के प्रचार विभाग ने एक पुस्तिका में जिसका स्कैन्डीनेविया में वितरण किया गया था, कहा था—'अगर जरमनी का पोलैंड पर आक्रमण हुआ तो पोलैंड इसका उत्तर देने को समर्थ होगा। वह पूर्वी प्रशा पर जवाबी हमला करेगा और पोसेन से जरमनी पर आक्रमण कर देगा।' सच तो यह है कि जरमनी ने पोलैंड की फ़ौजी गति-विधि से उसकी रण-योजना अच्छी तरह समझ ली थी। १९३९ के ग्रीष्मकाल से पोलैंड की फ़ौजें जरमनी की चौहद्दी पर रखी गईं थीं। उनका सब से दृढ़ भाग वारसा के उत्तर यानी पोसेन (Posen) और कोरिडर के एक विशेष क्षेत्र में था।

ये दोनों स्थान जरमनी के घेरे में आ सकते थे। कोरिडर और पोसेन में सेनायें रख कर पोलैंड जरमनी का विरोध सिलीशिया में करना चाहता था, डैनज़िग को ले लेना चाहता था और पूर्वी प्रशा पर आक्रमण करना चाहता था। लड़ाई की इससे बुरी योजना कठिनाई से बनाई जा सकती थी। इसमें जरमनी की आक्रमणकारी शक्ति की भयंकरता का कुछ ख़याल ही न किया गया था, और यह पोलैंड की फ़ौजों से ऐसे कामों की आशा रखती थी जो उनके साधनों की कमी के कारण उनके लिए किसी तरह सम्भव न था। रक्षा की पंक्ति को छोटी रख कर अपना बचाव किया जा सकता था। पर इस ओर उनका ध्यान न था।

फ्रांस के एक सैनिकलेखक ने लिखा था—पोल लोगों को चाहिए था कि अपनी रक्षा के स्थान विसचुला, बग और सान नदियों के किनारे बनाते। ये ही स्थान उसके लिए स्वाभाविक रक्षा के स्थान थे। इसके विरुद्ध रीग स्मिगली ने ऐसी युद्ध-पंक्ति बनाई जो जरमनी के गोलों की आग की पहुँच के भीतर थी और जरमनी के शक्तिशाली पैन्ज़र विभागों का शिकार बन सकती थी। इस तरह पोलैंड ने अपने को जरमनी की फ़ौजों के जाल में फँसा दिया। जनरल ब्राचिस (Brauchitsch) ने मौक़ा देखा और पोलैंड पर केवल आक्रमण ही नहीं किया बल्कि उस आक्रमण को एक महान विजय में परिणत कर दिया।

सैनिक विज्ञान के एक प्रमाणिक जरमन लेखक, जनरल वीज़ेल (Wetzell) ने, जो पिछले महायुद्ध के समय लूडेन डोर्फ के नीचे प्रधान अधिकारी थे और इस समय एक सैनिक पत्र के प्रधान सम्पादक थे, लिखा था—पोल लोगों के पास फ़ौजों की जितनी संख्या थी उसके हिसाब से कहीं अधिक पंक्तियां उन्होंने बना लीं। जरमनी की सेना अधिक होने से और उसके आज कल के युद्ध-विज्ञान में दक्ष होने से पोल लोगों को इस बुरी तरह परास्त कर सकी कि हाल के सैनिक इतिहास में इसकी मिसाल नहीं मिलती।'

जनरल नीसेल (Niessel) का कहना है कि पोल सेना ने मित्रदल से हवाई और समुद्री सेनाओं की सहायता पाने का पूरा भरोसा किया था, किन्तु वे उसी प्रकार भ्रम में थे जैसे मित्रदल के लोग उनकी विरोधिनी शक्ति की अत्यधिक सम्भावनाओं के बारे में। १९३९ के ग्रीष्मकाल तक जनरल गैमीलिन ने लन्दन में पोल सेना की प्रशंसा के गीत गाये थे।

जरमनी की पाँच सेनाओं ने पहली सितम्बर १९३९ को पोलैंड पर आक्रमण किया। ये तीसरी चौथी, आठवीं, दसवीं और चौदहवीं नम्बर की सेनायें थीं। इनमें पैंतालीस पैदल दल थे, पाँच पैंज़र दल, चार हलके मशीन वाले, छः मोटर वाले और दो ऐसे हवाई दल जिनमें तेइस सौ लड़ाई के जहाज़ थे। तूफ़ानी दल का एक विशेष भाग था। जरमनी की इस तीसरी पार्लियामेण्ट (Third Reitch) का युद्ध का ढंग कैसा भयानक था और कैसा वैज्ञानिक था इस सब का पता इसी से लगाया जा सकता है।

जब लड़ाई शुरू हुई तब तक पोलैंड के लोग अपनी सेनायें ठीक तरह सुसज्जित न कर सके थे और न सब लोगों को तैयार कर सके थे! लड़ाई शुरू हो जाने पर तो इसमें अपने आप रुकावट पड़ गई। पहली सितम्बर को पोल सेना में चालीस से लेकर पैंतालीस तक पैदल दल थे। इनमें से कुछ दलों में पूरे आदमी न थे! दस घुड़सवार दल थे और मशीनरी से सुसज्जित केवल एक दल। अगर इन्हें पूरी तरह तैयारी का अवसर मिल जाता तब भी पोलैंड की फ़ौज की विरोधिनी शक्ति विशेष न बढ़ सकती। यह सम्भव न था कि वे आधुनिक शस्त्रों की कमी की कमज़ोरी को किसी तरह पूरा कर लेते। अतः और अधिक सेनायें होने पर केवल कैदियों की संख्या और अधिक हो जाती। केवल पैदल सेनाओं की तुलना का इस समय कुछ अर्थ नहीं होता। जरमनी की गोलेबारी की और मशीन की शक्ति भयंकर और कहीं बढ़ी चढ़ी थी।

जरमनी की रण-योजना यह थी कि पोल सेना को अपने घेरे में डाल कर वारसा (Warsaw) बिलकुल तहस नहस कर दिया जाय। वारसा के पश्चिम में पोसेन और कोरिडर में जो पोल सेना थी उसे घेर कर उसे भी वे नष्ट कर डालना चाहते थे। पोलैंड की सीमा से बगर नदी तक क़रीब तीन सौ मील की गहराई की औसत से जरमन सेनायें काम करना चाहती थीं।

चार मंज़िलों में लड़ाई लड़ी गई और समाप्त कर दी गई। पहली सितम्बर से चार सितम्बर तक सीमा पर लड़ाई हुई। यह पहली मंज़िल थी। इसमें बचाव के स्थानों की पोल सेनाओं को चकनाचूर कर दिया गया। जरमनी के तूफ़ानी दल, पैंज़र और हलके दल एक साथ दौड़ पड़े और वे पोल सेनाओं के संगठन को तोड़ फोड़ कर उन्हें पीछे हटाते गये। पहली सितम्बर को ही जरमनी के उन सैनिक हवाई जहाज़ों ने जो लुतवाफ़ा (Luft waffe) के नाम से प्रसिद्ध हैं पोलेंड के हवाई जहाज़ों के क्षेत्रों और अड्डों पर ऐसा तेज़ धावा किया कि पोलैंड की हवाई जहाज़ों की शक्ति बहुत कुछ नष्ट होगई और जरमनी को हवाई श्रेष्ठता प्राप्त हो गई। पोलेण्ड की कोरिडर सेना काट दी गई। जरमनी की चौथी सेना ने, जो पोमरैनिया में थी, अपना सम्बन्ध जरमनी की तीसरी सेना, से जो पूर्वी पुशा में थी, जोड़ लिया। पोमरैनिया वाली जरमन सेना के सेनापति जनरल वान् क्लूग (General von Kluge) थे और पूर्व की सेना जनरल कूशलर (General Kuichler) के अधीन थी।

९ सितम्बर तक जरमनी की आठवीं सेना वारसा (Warsaw) के निकट पहुँच गयी। इसी दिन जरमन की दसवीं सेना के साथ, उसी के एक भाग की तरह काम करने वाली 'पैन्ज़र' सेना विस्चुला नदी के तट, रैडम के दक्षिण में, सैन्डोमीज़ (Sandomyz) के क़रीब जा पहुंची। चौदहवीं सेना का तूफ़ानी भाग गैलीशिया में सान नदी की पंक्ति तक बढ़ गया।

लड़ाई के पहले दस दिनों में सेना का अग्र भाग १२५ से १७५ मील तक चला गया। इसी समय जरमनी की तीसरी सेना जो पूर्वी प्रशा से चली थी वारसा के उत्तर-पूर्व में आ गई। इस तरह चारों ओर से घेरा डालने के साधन आ जुड़े। उत्तर से वह बड़ा घेरा आ रहा था जो वारसा के पीछे से पोल लोगों को फँसा लेना चाहता था। उत्तर और दक्षिण से उन सब स्थानों पर घेरा डालने का प्रयत्न हुआ था जो कुत्नो (Kutno) के पास, ब्ज़ूरा (Bsura) के तट पर, वारसा और पोसेन के बीच में थे। १० सितम्बर तक इस प्रयत्न में ऐसी सफलता मिल चुकी थी कि यह बीच की जगह उस बोरे के समान हो रही थी जो बराबर सिकुड़ता जाता हो। पोल सेनाओं का गला फँस गया। दक्षिण की तरफ़ से एक घेरा उस त्रिभुज की ओर था जो ब्रेस्ट-वारसा-लबलिन से बना था।

जरमन 'लुत्वाफ़ा' (विशेष हवाई सेना) का भी इस बीच बराबर उपयोग किया जा रहा था। २ से ६ सितम्बर के बीच में इसने पोल सेना के लौटने और सामान पाने के साधनों को नष्ट भ्रष्ट कर दिया। लोव ब्रेस्ट-ग्रोडनो के पश्चिम की रेलवे पर बम्ब फेंक कर उन्हें भी तोड़-फोड़ दिया गया था जिससे पोल सेनायें इकट्ठी नहीं हो सकती थीं। जब पोल सेनायें पूरी तेज़ी से पीछे भागीं तब उन्होंने सड़कें नष्ट की हुई पायीं।

'लुत्वाफ़ा' ने पोलैण्ड की लौटती हुई सेनाओं को ऐसे टुकड़ों में बाँट दिया जो आपस में मिल न पावें और 'पैंज़र' सेनाओं ने इस काम को और भी पूरा कर दिया। इससे पोल सेनाओं का संगठित रूप से युद्ध करना असम्भव हो गया।

लड़ाई के पहले ही, जब यह स्पष्ट नहीं हुआ था कि पोलैण्ड को पहले जरमनी से लड़ना पड़ेगा या सोवियट् संघ से, एक लेखक ने यह लिख दिया था कि फ़ौलादी सेनाओं (Tank divisions) के सामने पोल सेना खड़ी नहीं रह सकती।

दस सितम्बर तक यह स्पष्ट हो गया कि पोल सेना विस्चुला-सान के किनारे अपनी रक्षा पंक्ति अब स्थापित नहीं कर सकती।

इसके बाद अन्तिम सप्ताह आया। यह ग्यारह से अठारह सितम्बर तक रहा। इसमें लड़ाई का तीसरा दौर दिखाई दिया जो अन्तिम प्रमाणित हुआ। इसमें पोल सेना की बरबादी पूर्णता को पहुंच गई। इसके पहले ही जर्मन सेनायें आपस में इस तरह मिल गई थीं कि भिन्न भिन्न दिशाओं से बची खुची पोल सेना को घेर सकें। तीसरी, चौथी और आठवीं जरमन सेनायें जूरा (Bsura) के तट पर वारसा के पश्चिम में आपस में मिल गईं। यहीं पर पोलैंड की कोरिडर (Coridor) सेना, पौसेन की सारी सेना और सिलीशिया की सेना का कुछ भाग घेर लिया गया। इनमें नौ पूरे डिवीज़न थे और बाक़ी दस डिवीज़नों के भाग थे। पोल सेनाओं ने असाधारण साहस के साथ लड़ाई लड़ी। कहीं कहीं, विशेष-कर लेन्ज़ीका (Lencigyca) में उन्होंने स्वयं आक्रमण किया। जरमनी को हवाई सेनायें भेजनी पड़ीं। पोल लोगों के पास अब ऐसी लाभदायक सेना न थी। केवल एक हफ़्ते की लड़ाई में पोल सेना परास्त हो गई और जरमनों ने एक लाख सत्तर हज़ार पोल-सैनिकों को बन्दी बना लिया। इसी बीच जरमन की दसवीं सेना रैडम में पाँच पोल सेनाओं (Divisions) को घेर कर साठ हज़ार लोगों को क़ैदी बना चुकी थीं। पोलैण्ड के मध्य और दक्षिण भागों में जरमन की पैन्ज़र सेनाओं ने विशेष हानि पहुँचाई। एक जनरल ने लिखा था—पोलैण्ड की आठ या नौ डिवीज़न सेनायें बग और विसचुला के बीच में घिर गईं। जरमनी के दो या तीन पैन्ज़र डिवीज़नों के कारण उसे बहुत अधिक शारीरिक और मानसिक कष्ट उठाना पड़ा। वे असंगठित हो गयीं और फिर अपने आप को निश्चित स्थानों पर संगठित न कर पाईं।'

'लुत्वाफ़ा' का भी सब जगह इस्तैमाल किया गया। वारसा और मोडलिन के बीच का स्थान तीसरी जरमन सेना के द्वारा उत्तर पूर्व से घेरा गया। सत्रह सितम्बर को ब्रेस्ट (Brest) के चालीस मील दक्षिण ब्लोडोवा (Bladova) स्थान पर तीसरी (पूर्वी प्रशा की) और दसवीं (सिलीशिया की) सेनाओं के पैन्ज़र विभाग जो देख भाल के लिए नियुक्त थे, आपस में मिल गये। इनके ज़रिए बग नदी पर पोल सेना बिना किसी बचाव की आशा के घेर ली गई।

पूर्वी प्रशा से जनरल गुडेयन (Gudeion) की अध्यक्षता में एक तूफ़ानी फ़ौज चली। यह चौथी सेना पोमेरैनिया (Pomerania) की सेना के एक भाग की तरह आगे बढ़ती गई। कोरिडर पार करके पूर्वी प्रशा होते हुए तीसरी सेना यानी पूर्वी प्रशा वाली सेना के साथ यह मिल गई। नरीव (Nariv) से बील्स्क (Bielsk) और ब्रेस के मैदान में इसने काम किया। दो सप्ताहों में ही इसने साढ़े तीन सौ से चार सौ मील तक की यात्रा की।

अठारह सितम्बर के बाद मुख्य लड़ाई समाप्त हो गई। अब इधर उधर की कुछ सेनाओं को बरबाद कर देना भर बाक़ी रह गया। विरोध के ये क्षेत्र दूसरों से सर्वथा अलग थे, जैसे वारसा और मोडलिन के बीच का स्थान, वारसा, ब्रेस्ट, और लबीलन त्रिभुज के स्थान, ब्रेस्टरप्लीट का क़िला, ग्डीनिया (Gdynia) और हेला।

इन क्षेत्रों में भी, बावजूद इसके कि जरमन सेनायें रण-कौशल में कहीं बढ़ी चढ़ी थीं, उन्हें कई ख़तरों का सामना करना पड़ा। ९ सितम्बर को वारसा के सामने जरमनों का एक पैन्ज़र डिवीज़न मार भगाया गया। बारूद की कमी से उसे भागते हुए गहरे ख़तरे का सामना करना पड़ा। एक और जरमन पैन्ज़र डिवीज़न पर पियेट्रको (Piotrkou) में पोलैण्ड के एक पैदल डिवीज़न ने बहादुरी के साथ हमला किया। और वह बहुत कठिनाई से अपने को बचा सका।

अंगरेज़ों के सैनिक आलोचक लेफ़्टीनेन्ट कर्नल बर्न (Burne) ने यह ठीक कहा था कि जरमन सेनाओं के बीच में इतना अधिक स्थान रहता था कि

पोल सेनायें आक्रमण कर सकती थीं किन्तु पोल सेनाओं के पास आजकल के टैंक-प्रतिरोधक और हवाई जहाज़ों की मार के प्रतिरोधक थे ही नहीं। उनके पास प्रत्याक्रमण करने के लिए आधुनिक अस्त्र शस्त्र भी न थे। उनकी हवाई शक्ति कुल पाँच सौ से छः सौ हवाई जहाज़ों की थी जब कि आक्रमण करनेवाली जरमन सेना के पास तेइस सौ हवाई जहाज़ थे। पोल सेना के इन हवाई जहाज़ों में से अधिकांश का खात्मा भी लड़ाई के प्रारम्भ में ही कर दिया गया था। उनकी आधुनिक यन्त्रों से सुसज्जित एकमात्र सेना को जरमनी के पाँच 'पेन्ज़र' डिवीज़नों और चार हल्के यन्त्रों के डिवीज़नों का सामना करना पड़ा।

अगर पोल-सेना आधुनिक यन्त्रों और अस्त्रों से सुसज्जित होती और उसे ज़ेकोस्लावाकिया और सोवियत् संघ का सहयोग प्राप्त होता तो वह प्रथम श्रेणी की सेना प्रमाणित हुई होती। उसकी वीरता में सन्देह नहीं हो सकता। स्लाव जाति के सिपाही के सारे गुण उसमें थे। उसकी ऐसी हार इतिहास की एक विशेष घटना है, जिससे सभी देश बहुत कुछ सीख सकते हैं।

जीवन - गीत

श्री सुबोध अग्रवाल एम० ए०, बी० टी०

प्राण की संगीत - लहरी

साँस के दो तार जग के
वाद्य पट झंकृत निरंतर
काल सुख - दुख में विभाजित
हास्य - रोदन राग सुन्दर
सफल जीवन औ' मरण के
मध्य की ध्वनि - तान गहरी—प्राण की संगीत लहरी।

सजग कर आकाश - पृथ्वी
थपकियाँ देता प्रभंजन
ताल पर, लय पर थिरकता
प्रकृति के पग का प्रकम्पन
चन्द्र तारक जड़ित अंचल
प्रात को बनता सुनहरी—प्राण की संगीत लहरी।

कोटि युग से कोटि युग तक
नृत्ययुत संगीत अक्षुण्ण
देव का आमोद - साधन—
प्रकृति - मानव का रुनुनझुन
प्रलय - इंगित रोक देगा
तान यदि त्रुटिपूर्ण ठहरी—प्राण की संगीत लहरी।

गणेश

महात्मा भगवानदीन

'श्री गणेशाय नमः, बिस्मिल्लाहिर्रहिमानिर्रहीम, ॐ नमः सिद्धेभ्यः' ये ऐसे वाक्य हैं जिनको लोग अक्सर काम शुरू करने के पहिले ज़बान पर लाया करते हैं। सब से पहिले वाक्य 'गणेशायनमः' में जिन गणेश जी का नाम लिया गया है, उन्हीं का ज़िक्र हम नीचे करेंगे। इससे भी पहिले हम यह बता देना चाहते हैं कि 'नमः' यानी नमस्कार से लोगों का क्या मतलब होता है। नमस्कार शब्द उस क्रिया के लिये काम में लाया जाता है जिसके ज़रिये हम अपनी देहाकृति से दूसरों तक यह भाव पहुँचाते हैं कि जो कुछ आप कह रहे हैं, वह हमें स्वीकार है। आज कल भी किसी सवाल के जवाब में जब हम बिना बोले अपनी स्वीकृति देना चाहते हैं तब अपने सर को झुका देते हैं और अगर अस्वीकृति बतलाना चाहते हैं तो सर को दायें बायें हिला देते हैं। इसलिये नमः शब्द का अर्थ सिर्फ़ इतना ही रह जाता है कि हम उस किताब, आदमी या वाक्य को ठीक समझते हैं जिसको हम नमस्कार करते हैं।

जब हम गणेश जी को नमस्कार करते हैं तो इसका अर्थ होता है कि हम गणेश जी को ठीक मानते हैं। अब सिर्फ़ यह सवाल रह जाता है कि ये गणेश जी कौन और क्या हैं? यों तो सनातनी हिन्दू मानता है कि गणेश जी महादेव के पुत्र और पार्वती-नन्दन हैं और इस नाते वह उनको पूज लेता है और हर एक काम के शुरू में उनकी याद कर लेता है, पर इतना जानने से आज कल के पढ़े लिखों की तसल्ली नहीं होती, वे कुछ और भी जानना चाहते हैं। महादेव जी और पार्वती कौन हैं, इसके सम्बन्ध में तो फिर कभी बतलाया जायगा, परन्तु गणेश जी क्या हैं इसको कुछ विस्तार के साथ बताना ही आज के लेख का विषय है।

गणेश जी का रूप बतलाने से पहिले हम आप को आपके छोटे बच्चे की ओर ले चलेंगे। यह बात किसी से छिपी हुई नहीं है, कि हर बच्चा ज्ञान-प्राप्ति का बड़ा इच्छुक होता है। वह अपनी उस इच्छा को पूरी करने के लिये न मालूम कितनी चीज़ें तोड़ता फोड़ता है और उन टूटी फूटी चीज़ों के टुकड़ों से कितनी अनोखी और बे तुकी चीज़ें तैयार करता है। खेल में लग कर वह किस तरह अपनी भूख प्यास भूल जाता है। अपनी प्यारी माँ की आवाज़ तक ध्यान में मस्त होने के कारण नहीं सुन पाता और किस तरह अपनी मरज़ी के मुवाफ़िक़ एक भी काम हो जाने पर ख़ुश ख़ुश ख़्याली लड्डू खाता हुआ माँ की गोद में आ बैठता है। इन सब बातों को अगर आज का कार्टून बनाने वाला कोई शकल दे तो अजब नहीं कि वह शकल गणेश जी की मूर्ति से मिलती जुलती बन जाय। ऐसा क्यों होगा? इस सवाल का जवाब ही गणेश जी की पूरी व्याख्या कर देगा।

असल में गणेश जी ज्ञान की मूर्ति हैं। हिन्दुओं के पुराने चित्रकला मर्मज्ञों ने ज्ञान की यह तस्वीर बनाई है। आइये, अब उस तस्वीर की ओर चलें। उस तस्वीर में हमें नीचे लिखी हुई बातें देखने को मिलेंगी—

१—गणेश जी की सवारी है चूहा।

२—गणेश जी का सारा जिस्म आदमी है, सर हाथी का।

३—हाथी का सर होते हुये भी दाँत एक ही है।

४—हाथ चार हैं।

५—पेट बड़ा है।

६—दायें बायें दो देवियाँ खड़ी हैं एक का नाम ऋद्धि, दूसरी का नाम सिद्धि है।

चित्र का वर्णन यहाँ ख़त्म हो जाता है। हाँ, इनकी ख़ुराक है लड्डू।

गणेश जी ज्ञान की मूर्ति रहें, सवारी चूहा क्यों? यह सवाल है, जो जवाब की अपेक्षा रखता है। अगर हम यह जान लें कि ज्ञान किस चीज़ पर सवार है, यानी ज्ञान के लिये कौन चीज़ ज़रूरी है, तो यह समझने में ज़रा भी देर न लगेगी कि गणेश जी की सवारी चूहा क्यों।

ज्ञान के लिये सब से ज़्यादा ज़रूरी है विश्लेषण (analysis)। किसी चीज़ का विश्लेषण करने के लिये उसे तोड़ फोड़ कर देखना ज़रूरी है, जैसे बच्चे आमतौर पर किया करते हैं। चूहा, गिलहरी, खरगोश इस काट छाँट में उस्ताद हैं, इसलिये विश्लेषण का चिन्ह यही हो सकते हैं। चित्रकार ने इसलिये इनमें से चूहे को छाँट लिया। यही कारण है कि हाथी के सर वाले गणेश जी की सवारी चूहा ठहराई गई।

बच्चों के सम्बन्ध में ज्ञान हासिल करने के लिये दूसरी बात यह बतलाई गई थी कि वे अपनी टूटी फूटी चीज़ों से अनोखी और बेतुकी चीज़ें तैयार करते हैं, इसी क्रिया का नाम संश्लेषण (synthesis) है। मेल-बिठाना (संश्लेषण) ज्ञान का दूसरा नाम है। ज्ञानी विपरीत शक्तियों को एक जगह लाकर अपना काम ले सकता है। आग पानी मिला कर वह रेल-गाड़ी खिंचवा रहा है। ज्ञान की इस बेतुकी संश्लेषणशक्ति को दिखाने के लिये ही चित्रकार ने आदमी के बदन पर हाथी का सर लगा कर बतलाया है।

बच्चे के सम्बन्ध में हमने एक बात और कही थी। वह यह कि वह अपने चित्त को अपने काम में इतना एकाग्र कर लेता है कि दूसरे की सुन तक नहीं पाता। ज्ञानी में इस तरह की एकाग्रता होना ज़रूरी है। ज्ञान का एक गुण और भी है। वह इस जगत के आदि कारणों को खोजने की ओर दौड़ता है। ज्ञान की इस प्रवृत्ति को दिखलाने के लिये चित्रकार के पास यही तीन साधन थे (१) गणेश जी को एक आँख वाला बनाना—पर ऐसा करने से चित्र बद-सूरत हो जाता (२) एक कान वाला बनाना—तब भी चित्र दूषित रहता (३) एक दाँत वाला बनाना—यही उसने अपनाया—इससे चित्र की सुन्दरता बनी रही और काम हो गया। बिना सुझाये बहुत कम लोगों का ध्यान इस ओर जाता है कि गणेश जी एक दाँत वाले हैं; यों तो गणेश जी के अनेक नामों में उनका एक नाम एकदन्ता भी है। बस चित्रकार ने ज्ञान की इस आदि कारण-की-खोज-की ताक़त को एक दाँत के ज़रिये दिखलाया।

बहुत काम करने वाले आदमियों के लिये आज के दिन तक यह मुहावरा कि उसके चार हाथ हो गये हैं, काम में आता है। ज्ञानी, अज्ञानी की अपेक्षा बहुत ज़्यादे काम करने की ताक़त रखता है। ज्ञान की इस ज़्यादे काम करने वाली ताक़त को दिखाने के लिये ही चित्रकार ने गणेश जी के चार हाथ बनाये।

ज्ञानी के सिवाय अज्ञानी के लिये यह बात मुश्किल ही नहीं बल्कि नामुमकिन है कि वह किसी बात को छिपाये रक्खे। यह बात किसी से छिपी हुई नहीं है कि बात को न छिपा सकने के लिये, न पचा सकने का मुहावरा काम में आता है। इसीलिये लोग कहा करते हैं कि अमुक आदमी बिलकुल ना समझ है, उसके पेट में कोई बात पचती ही नहीं; और इसलिये भेद की बातें बच्चों और नासमझ मर्द औरतों को नहीं बताई जातीं। यह मुहावरा भी किसी से छिपा हुआ नहीं है कि बहुत बातों को छिपाये रखने वाले आदमी के लिये अक्सर यह कहा जाया करता है कि उसका बहुत बड़ा पेट है; उसके पेट में जो बात गई वह गई। बस ज्ञान की इस भेद-को-हज़्म कर जाने वाली ताक़त को दिखलाने के लिये चित्रकार ने गणेश जी का पेट सेठों जैसा बड़ा बनाया।

दुनिया में कोई ताक़त बग़ैर ज्ञान की मदद के हासिल नहीं हो सकती और न विजय ही प्राप्त हो सकती है। शक्ति और विजय की प्राप्ति में ज्ञान ही कारण होता है, इसलिये ऋद्धि और सिद्धि को देवियों

की शक्ल देकर गणेश जी के दायें बायें खड़ा करके चित्रकार ने ज्ञान के परिणाम को चित्रित किया।

हिन्दुस्तान में आम रिवाज है, कि विजय के बाद मिठाई बाँटी जाती है। गणेश जी की खुराक लड्डू बताकर कलाकार ने यह दिखला दिया है कि ज्ञान का परिणाम सदा आनन्दपूर्ण होता है।

अब रह गई सिर्फ़ यह बात कि हर काम में सब से पहिले गणेश जी ही की पूजा क्यों होती है? इस सवाल का जवाब बिलकुल सीधा और साफ़ है। 'हर काम के शुरू में गणेश जी की पूजा करो', इस वाक्य को चित्रकार की भाषा में न कह कर सीधी भाषा में यों कहा जायगा कि हर काम को शुरू करने से पहिले ज्ञान की सलाह ले लो और उसी का हुक्म मानकर काम को आगे चलाओ, यानी हर काम को सोच समझ कर करो। जो भी आदमी सोच समझ कर काम करता है वह सीधे और साफ़ मानों में गणेश जी की पूजा कर के काम करता है, इस लिहाज़ से गणेश सनातनी हिन्दुओं के देवता नहीं, किन्तु दुनिया के सारे समझदारों के देवता हैं।*

* किसी अगले अङ्क में गणेश के ऐतिहासिक रूप पर भी लेख प्रकाशित किया जावेगा—सम्पादक

(२०६ पृष्ठ का शेष)

सब बातें प्रशंसनीय हैं वहाँ उनकी रचना में कुछ दोष भी दिखलाई देते हैं—उनकी ओर से आँखें बन्द कर लेना न तो वांछनीय है, न उपेक्षणीय और न प्रशंसनीय ही कहा जा सकता है।

शूद्रों की भर्त्सना, स्त्रियों का अपमान, रामभक्ति के आवेश में समाज को अकर्मण्य बनाने की योजना, हिन्दू-मुस्लिम मेल में बाधा डालकर पारस्परिक कलह का परिवर्द्धन करना इत्यादि कुछ बातें ऐसी हैं जो समाज के लिये घातक सिद्ध हो रही हैं। इन्हें कदापि हितकर और मनोनीत नहीं कहा जा सकता।

इसी प्रकार उनका ब्राह्मणों के साथ अनुचित पक्षपात भी केवल ब्राह्मणेतर व्यक्तियों को ही नहीं अनेक निष्पक्ष ब्राह्मणों को भी बहुत खटक रहा है।

"पूजिय विप्र शील गुण हीना। शूद्र न पूजिय ज्ञान प्रवीना।" इसका समर्थन शायद ही कोई निष्पक्ष ब्राह्मण कर सके। हम लोगों में गुण दोष विवेचन की क्षमता और सहिष्णुता आनी ही चाहिये। यदि हमारी नीति पक्षपात पूर्ण रहेगी तो देश, राष्ट्र और समाज सब का पतन अवश्यम्भावी है, जो समाज सत्यान्वेषी नहीं होता उसके उत्कर्ष की आशा आकाश-कुसुमवत् है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि साधारण शिक्षित तथा अपढ़ जनता की सदाचारिक वृत्तियों के संशोधनार्थ गोस्वामी जी की रचना में पर्याप्त सामग्री मिल जाती है; परन्तु शिक्षित समाज का बिना विचारे गोस्वामी जी की रचनाओं का अध्ययन करना कदापि श्लाघ्य नहीं है। ऐसे ग्रन्थों को अन्धविश्वास पूर्वक पढ़ने के कारण हमारे भीतर अनेक दुर्गुण भर गये हैं। उनसे समाज की रक्षा करना हम सब का परम कर्तव्य है। रामायणादि ग्रन्थों को सावधानी से ही पढ़ना और समझना चाहिये। इसी से देश, जाति और राष्ट्र का कल्याण हो सकता है अन्यथा नहीं।

वेदों को 'गड़रियों का गीत' आदि लिखा गया है, पुराणों पर अनेक प्रकार के लेख लिखे गये और लिखे जा रहे हैं, इन सब के लिये 'सरस्वती'-सम्पादक की लेखनी क्यों कुंठित हो गई है और यहाँ एक बार ही उनकी धार्मिकता क्यों उमड़ पड़ी है? जो वेदनिंदक चार्वाक का मत समर्थन करे और गोस्वामी तुलसीदास जी का रञ्चमात्र भी दोष देखने का साहस न कर सके उसके हृदय की थाह पाना विशेष रहस्य बन जाता है।

अन्त में हम फिर स्पष्ट कहे देते हैं कि इस प्रकार की टिप्पणियों से न तो ऐसी समालोचना ही बन्द होगी और न गोस्वामी जी ऐसे लोगों के संकुचित विचारों की विवेचना से किसी को विरत किया जा सकता है।

गाँधी और विश्व-व्यवस्था

श्री जैनेन्द्रकुमार

गाँधी जेल में हैं और एक वर्ष के अधिक से उनकी कोई सीधी आवाज़ हमें नहीं मिली। कल एक बन्धु वर्तमान महा पुरुषों को गिन रहे थे। गाँधी को उनमें प्रथम रखने में उन्हें कठिनाई थी। जगद्-व्यवस्था में उनका कोई प्रकट दान नहीं दीखता। शेष नाम जो उनकी गणना में आये, आज के युद्ध से सीधा सम्बन्ध रखने वाले पुरुष थे।

उन भाई की कठिनाई आज के आलोचक की कठिनाई है। शासन के और युद्ध के मैदान से गाँधी अलग हैं और बन्द हैं। विश्व का भाग्य बन रहा है, देशों की सीमाएँ मिट-बन रही हैं और भावी व्यवस्था की दागबेल डाली जा रही है। यह सब गाँधी के बिना लेखे में लिये हो रहा है। इससे क्यों न कहा जाय कि कर्म के धरातल पर गाँधी अनिवार्य नहीं हैं ?

प्रकटतः यह सच है। युद्ध में दो ही पक्ष हैं। तीसरा कोई पक्ष नहीं है। और युद्ध समूची मानवता का है। विश्व का भाग्य पलड़े में है और सभ्यता के अगले क़दम का निर्णय होना है। ऐसे समय जो किनारे पर है और इतिहास के मध्य में नहीं है, उसे विश्व-विचार की दृष्टि से शून्यवत् ही समझना चाहिए। शत्रु भी विचारणीय है, मित्र भी विचारणीय है; पर जो यह है न वह ऐसा व्यक्ति हिसाब में आने योग्य नहीं ठहरता।

पर युद्ध में असली दो पक्ष नहीं हैं, वह त्रिभुजात्मक है। तीसरी भुजा मुखर नहीं है किन्तु वही शेष दो को आधारमूल है।

कहा जाता है कि लड़ाई में जर्मनी, जापान और इटली एक ओर हैं; ब्रिटेन, अमरीका, रूस, चीन आदि दूसरी ओर। भाव होता है कि वे देश लड़ रहे हैं। पर युद्ध-घोषणा उन देशों की सरकारों ने की है। देश के नाम पर वहाँ की सरकार को ही बोलने का हक़ है, यह ठीक है। लेकिन यह भी विदित हो कि एक देश की सरकार और उस देश के लोग यानी शासक और शासित, राजा और प्रजा पूरी तरह एक नहीं होते। अनुशासन और क़ानून में वे एक होते हैं; हृदय में और यथार्थ में दोनों अभिन्न नहीं होते। इसी से सरकारें बदला करती हैं; विद्रोही शासक हो जाते हैं और शासक दंडित हुआ करते हैं।

यह पक्ष अधिकांश अलग रहता है। यह असंगठित और गर्भित रहता है। उसके ऊपर से दल-वर्ग ही मुखर हुआ करते हैं। जब यह मूल पक्ष किसी गहरी व्यथा से उभार पाता है तब विस्फोट फूटता है और साम्राज्य ध्वस्त हो जाते हैं।

ऊपर शासकों की लड़ाई है। उनको बल निस्संदेह नीचे जन सामान्य में से पहुँचता है। प्रजा लड़ती और लहू बहाती है। परिणाम में एक शासक गिरता, दूसरा उठता है। रक्त बहा कर शासकों में परिवर्तन होता है। परिवर्तन से शान्ति आती है और फिर शासन चलता है और शासकों में स्पर्धा होती और युद्ध होता है। और प्रजा फिर कष्ट सहने को आगे आती है।

सरकारें सब जनता के बल से पुष्ट हैं। क्या आज का लोकतंत्र या अधिनायकतंत्र या क्या फिर पुराना छत्रतंत्र—सबका अधिष्ठान जनता है। जन वहीं से आते हैं, धन वहीं से आता है और अन्न वहीं से आता है। बड़े युद्ध उन्हीं के बल पर और उन्हीं की छाती पर लड़े जाते हैं।

इस भाँति प्रत्येक युद्ध में दीखने में दो भुजाएँ आती हैं। पर उन दोनों को तीसरी का सहारा है। वह तीसरी भुजा जो स्थायी है धरती में चिपक कर रहती है, श्रम जिसका धन है, पर जो मूक है और सहना जिसका काम है।

गाँधी इस युद्ध में वह तीसरी भुजा है। उसकी जेल इसका प्रमाण है कि वह भुजा सजग है।

इस समय विश्व की राजनीति राष्ट्रीय नहीं रह गई है। गाँधी को भी राष्ट्रीय समझना भूल होगी। कांग्रेस राष्ट्रीय हो, गाँधी मानवीय है। अन्तर्राष्ट्रीय शब्द फिर कूट राष्ट्रवादी नीतियों के चक्र का द्योतक है। गाँधी के साथ वह भी नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय चालों के पार उसका शुद्ध मानवी पक्ष है।

देशों के लोग वह मानते हैं जो उन देशों की सरकारों ने उन्हें मानना बताया है। वे अपने हित को दूसरे के विरोध में देखते हैं क्योंकि उन्हें ऐसे देखने की शिक्षा दी गई है। उन्हें अपनी रक्षा की चिन्ता है, दूसरे के आक्रमण का भय है, अपने सत्वों का लोभ है, विस्तार की आकांक्षा है—क्योंकि यह सब उनमें भरा गया है।

पर क्या उन्हीं देशों में लोग नहीं हैं जो जानते हैं कि श्रम से धन उत्पन्न होता है और लड़ाई में समय बरबाद होता है? क्या अन्दर ही अन्दर लड़ने वाले तक नहीं जानते कि दुनिया हम सब की है और परमात्मा एक है और मिल बाँट कर हमें रहना चाहिए?

लेकिन वैर चेता दिया गया है और लोगों को अपनी ही भीतर की बात सुनने का अवसर नहीं है। प्रकृत मानव के प्रतिनिधि हो कर उसकी अन्तस्थ आशा-आकांक्षाओं को वाणी देने वाले लोग हैं भी तो प्रचार के कोलाहल में वे अनसुन रहते हैं, या फिर उन्हें बलात् चुप कर दिया जाता है।

गाँधी मानवता की वही अन्तस्थ ध्वनि है। उसे पहचान लिया गया है। वह जागरूक है और मंद नहीं होगा। बीच के राजकारण के चक्रों में भी वह नहीं घिरेगा। वह स्पष्ट, दृढ़ और ऊर्ध्व, जगा ही रहेगा। और उसे जेल में रोका जायेगा तो यह कृत्य ही स्वयं उसकी जगह बोलेगा।

आगामी विश्व-व्यवथा की चर्चा है। लेकिन ब्रिटेन, अमरीका या किसी और देश का शासक, जो अपने राष्ट्रीय स्वार्थ की भाषा में सोचता और चलता रहा है, क्या विश्व-शान्ति और विश्व-व्यवस्था के संबंध में किसी दूसरी बुद्धि या दृष्टि से निर्णय ले सकेगा? आज अङ्गरेज़ है, अमरीकन है, जर्मन है, जापानी है; वह कहाँ है जो आदमी है? सब अभ्यासी हैं कि अपने को इस-उस देश का मानें और बाद कहीं अपने को आदमी मानें। वह व्यवस्था क्या विश्व-बन्धुत्व की होगी, जहाँ हर व्यवस्थापक अपने देश के स्वार्थ का प्रतिनिधि होगा? क्या इस प्रकार की मंत्रणा बड़ी शक्तियों को और मजबूत और छोटी शक्तियों को पराधीन रखने का ही साधन न हो जायगी? क्या ऐसी परिषद् में से शान्ति या व्यवस्था आ सकेगी?

ऐसे समय गाँधी ही है जो प्रकृत मानव का पक्ष लेकर खड़ा है। क्या गाँधी ने नहीं कह दिया कि हिंसा से मिलने वाला स्वराज्य उसे नहीं चाहिए? ऐसा राज्य सब का स्वराज नहीं होगा। आत्म शासन नहीं, किसी न किसी रूप में वह परशासन ही होगा। क्या गाँधी ने हमेशा स्पष्ट नहीं किया कि उसका कर्म देश के लिए नहीं, मनुष्य के लिए है और वह राजनैतिक नहीं, धार्मिक है?

युद्ध जब यह शान्त होगा, देश आपस में निबट चुके होंगे, तब विजयी पक्ष को अपना हिसाब जनता के हाथों सौंपना होगा। या तो युद्ध के परिणाम स्वरूप साम्राज्य महा साम्राज्य होंगे और औसत मनुष्य दुगना जकड़बन्द होगा या फिर राष्ट्रीय स्वार्थ की भाषा में सोचने वालों को विश्व परिभाषा में रहने वालों के लिए जगह खाली कर देनी होगी। हर हालत में, इस त्रिभुजात्मक युद्ध में विजयी भुजा को, अब नहीं तो फिर, शेष तीसरी भुजा से निबटना होगा।

यही तीसरी भुजा निहत्थी है, क्योंकि उसके पास काम करनेवाले दो हाथ हैं। दुःख उसका बल है। वह धरती से लगी है, क्योंकि इसी में से सब उठते और अन्त में इसी में आ मिलते हैं। सिर ऊँचा करके जो आज शासक बना है और धमक के साथ धरती पर पैर रखता है, आखिर वह भी धरती का है और उसी में आ मिलेगा। इसलिए इन धरती वालों का बल अहिंसा है। क्योंकि कोई उनसे पर नहीं, सब अपने हैं। इसलिए उनमें वैर नहीं है, पक्ष नहीं है। क्या

इङ्गलैण्ड और क्या जर्मनी—ये नाम तो अलग-अलग काम चलाने भर के लिए हैं। धरती मां को सब एक है। उसे इङ्गलैण्ड-जर्मनी में अन्तर नहीं। दोनों लड़ते हैं इसलिए दोनों भूल में हैं, क्योंकि दोनों धरती को उजाड़ते हैं। इस तीसरी भुजा का एक ही धन, एक ही बल और एक ही नियम है; वह है श्रम। ऊपर वालों के विलास के और बैर के सब खेल धरती से लगे लोगों के सतत श्रम पर चलते हैं। इस भुजा का धर्म सहते रहना और मेहनत करते जाना है।

गाँधी और कुछ नहीं है, मानवता के इसी अन्त-स्वरूप का प्रतिनिधि है। वह मनुष्य जाति का अन्त-र्मन है। उसे दाब कर लड़ा जा सकता है, उसको टाला जा सकता है, अनसुना किया जा सकता है। पर अन्त में उससे सुलझना ही होगा। उससे अपना हिसाब साफ़ किये बिना गति नहीं। इसमें कितने भी दिन लगें, पर होनहार यही है।

बात कुछ बड़ी मालूम होती है। पर यह भूल है कि गाँधी मर कर मर जायेगा। शायद अशरीरी हो कर वह और प्रबलता से जीयेगा। स्वयं लुप्त होकर जनता के अन्तर भावों में व्याप्त हो कर वह एक ऐसी शक्ति बन उठेगा कि यदि उससे पहले शासकों ने उससे निबटारा न कर लिया होगा, तो फिर वह शक्ति अप्रतिरोध, दुर्निवार्य, अटक न सकेगी और किसी की सुनेगी भी नहीं। गाँधी-पुरुष के हाथों जो संयत है, जनता की प्रकृति से मिल कर वही उद्दाम दुर्द्धर्ष हो उठेगी। तब जो न हो जाय थोड़ा है। जन-मन तब एक अन्धे वेग से उभरेगा। उस बाढ़ में क्या-क्या न तहस नहस हो जायगा, कहा नहीं जा सकता।

पर वह संभावना शुभ नहीं है। विवेक में से ही मुक्ति आयेगी। आवेग तो नवीन बन्धन की सृष्टि कर उठेगा। इसी से गाँधी के जीवन के प्रभाव के दो पक्ष हैं। एक ओर उन्होंने लोक चैतन्य को जगाया है तो दूसरी ओर उसी के उफान पर छींटे भी डाले हैं। कहीं भी गर्मी को भड़कने नहीं दिया है। जब तक रोष की अग्नि विवेक की शांति नहीं बन गई है, गाँधी ने उसे दबाया ही है।

राजनीतिक वर्ग के लिए यह अनहोनी बात है। जिस शक्ति को चेता कर राजनीति अपना काम चलाती है, उसी को अस्वीकार करके गाँधी ने अपने नेतृत्व का निर्माण किया है। क्रोध, स्पर्धा, द्वेष आदि भड़का कर सब कहीं राजनीतिक दल अपने को संग-ठित और सशक्त बनाते हैं। यहाँ इकले गाँधी ने ऐसे सब दलों को मानो थामे रखा है। शासकों के लिए गाँधी के प्रभाव का यह पहलू बहुत क़ीमती है, यद्यपि राजनैतिक उस पर दंग हैं।

इस प्रकार जनता के साथ अभिन्न और उसका प्रिय हो कर भी गाँधी उसका शास्ता है। वह शासकों की भाषा में दूसरे शासकों के साथ निबट सकता है। यह सुविधा गाँधी के साथ ही सम्भव है। अन्यथा लोकनेता (Democratic Leaders) लोक शासित भी होते हैं, और शांति चर्चा में वे विशेष सहायक नहीं होते। गाँधी पूर्णतया आत्म-शासित है, इसलिए वह सर्वोच्च शासक-कोटि का व्यक्ति है। शासकों और नायक की मंत्रणा में गाँधी सिद्धान्त-वादी नहीं जंचेगा। आधुनिक राजनेताओं (Diplomats) से गाँधी इसी जगह अलग है। वह अत्यन्त व्यावहारिक है। उँगलियों से काम करना जानता है। वह श्रमिक है और काम काजी है। वह मुद्दे की बात पकड़ता है और बौद्धिक घुमावों में नहीं पड़ता। वह आदर्श की चर्चा से काम की बात को अलग कर सकता है। अमरीकी विल्सन की तरह आदर्शवादी योजना में उसका बहकना या उसको बहकाना संभव नहीं है। वह स्वप्नदर्शी हो कर भविष्य के लिए वर्त-मान को नहीं टाल सकता, न अल्पदर्शी राजनीतिक की तरह वर्तमान के लिये भविष्य को क़ीमत में दे सकता है।

उसकी नीति सीधी है। अहिंसा के लिये उसे चर्चा नहीं, चर्खा चाहिये। मानव के विषम सम्बन्ध भावनामात्र से सम और शुद्ध न होंगे, उसके लिए कर्म चाहिए। कर्म यानी श्रम। उत्पादक श्रम को केन्द्र मान कर हमें अपने लिये नवीन अर्थ व्यव-स्था का निर्माण करना होगा। इससे धन केन्द्रित न

होगा। एक ओर दरिद्रता का उन्माद और दूसरी ओर विलास का आलस उससे समाप्त होगा। संगृहीत धन से औरों में दैन्य और संग्रहाधिपति में दंभ बढ़ता है। इस तरह लोभ और द्वेष का चक्कर चल पड़ता है। तब अस्त्र-शस्त्र तैयार होते हैं, जिससे सम्पत्ति की रक्षा और बढ़वारी हो। इस सम्पत्ति को मूल में लेकर शासन-संस्था का जन्म होता है। अपने और प्रजा के बीच छोटे-मोटे सम्पत्तिशालियों और अधिकारियों की श्रेणी पैदा करके शासन अपने को अनिवार्य बनाता है। विभाजन हकूमत का मन्त्र है। ऐसी अवस्था आने पर श्रम की क़ीमत लगभग समाप्त हो जाती है और चाटुकारिता और चतुराई की क़ीमत बढ़ जाती है। श्रमिक दलित होता है और प्रभु-स्वार्थ में साधनभूत हो कर श्रमहीन प्रभुता प्राप्त करता है। ऊपर के लोग तब समय काटने और खाना पचाने के लिए तरह-तरह के उपाय रचते हैं और श्रमिक को पसीना बहा कर भी समय और खाना नहीं जुटता। यह वैषम्य जीवन के प्रकृत मूल्यों को भुलाने से फैलता है और गाँधी का प्रयत्न उन्हीं मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा है।

गाँधी के जीवन में कोई जटिलता नहीं है। वह सहज और स्वच्छ है। बुद्धि उस पर गोरखधन्धा रच सकती है। लेकिन उसमें उलझन नहीं है। उसका मूल भाव है श्रम और प्रेम। श्रम के बिना प्रेम विलास हो जाता है, यज्ञ नहीं रहता। वह ऐसे अकृतार्थ भी होता है। जो प्रेम भोग है वह श्रमहीन है और स्वार्थमय है। वही योग होकर कर्म रूप और पारमार्थिक होता है। श्रम से चेतना स्वाधीन होती है और व्यक्ति निर्भीक बनता है। तब वह अपने को इन्कार करने की लाचारी में नहीं पड़ता और अपने भीतर के सत्य के स्वीकार में बाहरी किसी बल के भी प्रतिकार में उद्यत रहता है। ऐसा प्रेमी, यानी अहिंसक, सत्याग्रही हो कर विद्रोही होता है।

यह प्रकृत मानव-मान का पक्ष शासकों के विचार में कदाचित ही कभी उपस्थित होता हो। वे दफ़्तरी द्वारा नक़्शों और अंक-गणनाओं से मानव जाति की अवस्था का अनुमान कर अपनी व्यवस्था किया करते हैं। जनता उनकी फाइलों में रहती है। उसके सुख-दुःख के साथ उनके मन के अन्तस्सूत्रों का विशेष सम्बन्ध नहीं होता। प्रकृत नहीं बल्कि मुखर पक्ष की ओर ही उनका ध्यान जाता है और तब या तो लोभ से या दमन से उसे चुप किया जाता है। इन शासकों की व्यवस्था में अथवा युद्ध में एक व्यक्ति एक अंक होता है और गणित से उन्नति नापी जाती है।

दूसरी ओर भावुक लोग हैं जो समक्ष के व्यक्ति में विश्व देखते हैं और वहीं अपने राग का केन्द्र बना बैठते हैं। ऐसा राग द्वेष पर पलता है। अधिकांश जन इसी गणना में आते हैं। वे ही फिर शासित होते हैं।

इन दोनों वर्गों में ऐक्यरूप, शासकों में शासक, और साधारणों में साधारण है गाँधी। उनकी जनमन के साथ एकता स्थापित हुई है। फिर भी उनकी दृष्टि जनता की अनेकता के पार कहीं ऐसी आंतरिकता पर है कि दायें-बायें असंख्य मरते हुओं, बिलखते हुओं के बीच से उनकी गति, या उनकी मुस्कराहट मन्द नहीं होती। वह निर्ममों में निर्मम हैं। शासक के समान बुद्धि की तटस्थता और भक्त के समान हृदय की आत्मीयता—गाँधी एक साथ स्वयं में दोनों का समन्वय हैं।

गाँधी अपने इकले व्यक्तित्व में दोनों तटों का संयोजक है। आदर्श और यथार्थ, स्वप्न और श्रम, धर्म और राजकारण, समन्वय और विश्लेषण। इसमें इस युद्ध के अन्तर जब कि विश्वशांति परिषद् हो, या जगद्-व्यवस्था के संबन्ध में विचार हो, गाँधी की उपस्थिति वहां अनिवार्य है। गाँधी न हो तो उनकी नीति होगी ही। उस दृष्टि और उस नीति से अलग किसी दूसरी तरह मानवहित साधन और स्थिर शांति का विधान हो सकेगा यह सम्भव नहीं दीखता।

द्विवेदी जी का "कबीर"

शान्ति भिक्षु

कबीर-वाणी की ऐतिहासिक और वैज्ञानिक ढंग से परख और पड़ताल हिन्दी में अभी शुरू ही हुई है। फिर भी ज्यों ज्यों यह अध्ययन बढ़ता आ रहा है त्यों त्यों नये नये तथ्य प्रकाश में आते आ रहे हैं। कुछ बरस पहले कबीर पर कही गई बातों में से कितनी ही आज पुरानी पड़ गई हैं और आज जो कुछ कहा जा रहा है उसमें भी आगे चलकर हेर-फेर करना पड़े तो वह कुछ अचरज की बात न होगी। यह हर्ष की बात है कि विद्वानों का ध्यान कबीर (तथा अन्य सन्तों) की ओर आकृष्ट हुआ है और आज तक की पड़ताल के प्रकाश में उनके देखने का प्रयास किया जा रहा है। यहां कबीर पर लिखी एक ऐसी ही पोथी के बारे में पाठकों के सामने कुछ चर्चा करनी है जिसमें काफ़ी ताज़ी सामग्री का समावेश है। इस पुस्तक "कबीर" के लेखक पं० हज़ारीप्रसाद जी द्विवेदी से हिन्दी जगत् सुपरिचित है। द्विवेदी जी की "हिन्दी-साहित्य की भूमिका" को जिन लोगों ने देखा है वे जानते हैं कि उनके विमर्श कितने सुलझे हुए और पक्के आधारों पर निर्भर रहते हैं। द्विवेदी जी की भूमिका ने हिन्दी-साहित्य को पहचानने की बारीक निगाह दी है और आज उनके 'कबीर' से सन्त कबीर की आत्मा को बहुत कुछ ठीक ठीक पहचाना जा सकता है।

आदमी पर उसके वंश और वंश परम्परा के संस्कारों का बड़ा असर पड़ता है। एक देहाती कहावत है : "जिहिकर जस बाप महतारी तिहिकर तस लरिका।" बेटे में मां-बाप और पुरखों के गुण-अवगुण का देखना दुनिया का चलन है। इस चलन के हिसाब से यदि लोग कबीर को भी देखें तो उन्हें कौन रोक सकता है? कबीर के बारे में अब तक यही पता था कि वे मुसलमान जुलाहे के घर पैदा हुए थे, इसलिये उनकी वाणी में जहां कहीं इस्लामी विचार-धारा से सादृश्य मिलता, पण्डित लोग यह कूता करते थे कि उसमें इस्लाम मज़हब की छाप है। इस्लाम में दो तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं। पहली बात है—तौहीद (=एकेश्वरवाद), दूसरी बात है जात पांत को न मानना और तीसरी बात है उसका रहस्यवाद जो सूफ़ियों की देन है। कबीर-वाणी में से इन तीनों बातों का पता बता देने वाले बहुत से वचन ढूंढ़ निकाले जा सकते हैं और निकाले भी गए हैं और उन वचनों की आड़ में यह बात चुपके से समझा दी गई है कि सन्त कबीर पर इस्लामी विचारों की बहुत बड़ी छाप है। इधर द्विवेदी जी ने एक बिल्कुल नई कहानी पेश की है। उन्होंने कबीर के वंश की पड़ताल करके जो निष्कर्ष निकाला है वह ऊपर कही गई बात से बिल्कुल उल्टा है। उन्होंने जुलाहा जाति के पुरावृत्त की पड़ताल करते हुए यह बताया कि कबीर जिस जुलाहा जाति में उत्पन्न हुए थे उसको मुसलमान हुए बहुत पीढ़ियां नहीं बीतीं थी और वह आश्रमभ्रष्ट योगियों की जाति थी जिसमें कबीर के समय तक भी योगियों के संस्कारों की प्रचुर छाप थी। इस निष्कर्ष ने कबीर के अध्ययन का नया अध्याय खोला है। जहाँ कबीर पर मुसलमानी प्रभाव कूता जा रहा था वहाँ अब उनकी वाणी में योगियों के प्रभाव कूतने की बारी आई। आज जब हम कबीर की वाणी को देखते हैं तो उसमें योगी या अवधूत को सम्बोधन कर अनेकों बातें कही गई हैं—अनेकों बातें नहीं, बहुत बारीक बातें कही गई हैं और उन बारीक बातों को कबीर ने पोथी पढ़कर नहीं सीखा था और न उनके सीखने के लिये उन्होंने संन्यास ही लिया था प्रत्युत ये बातें उनको अपनी वंश परम्परा से मिली थीं। द्विवेदी जी ने काफ़ी ज़ोर दे कर कहा है—"कबीर पन्थियों का और कोई दावा ठीक हो या नहीं, उनका यह दावा सोलह आने संगत है कि

कबीरदास मुसलमान नहीं थे, क्योंकि मुसलमानी वंश में जन्म और लालन पालन होना ही किसी को मुसलमान नहीं बना देता। जन्म से वे मुसलमान रहे हों या नहीं, विश्वास में वे एक दम मुसलमान नहीं थे। उन्होंने कहीं भी अपने को मुसलमान नहीं कहा। मुस्लिम-धर्म-साधना से उनका सम्बन्ध नाम मात्र को ही था" (पृ० १३६)। द्विवेदी जी ने अपनी पोथी के एक बड़े भाग में योगियों और उनकी विचार-धारा की चर्चा की है। कबीर पर इन योगियों के प्रभाव की बात करने से पहले भारत के धार्मिक और दार्शनिक प्रवाह पर एक निगाह डाल लेना बहुत ही उचित होगा, क्योंकि बिना इस व्यापक और संपूर्ण दृष्टि के योगियों की विचार-धारा समझना सहज नहीं है।

भारत अनेकों पीढ़ियों से धार्मिक और दार्शनिक भाव बटोरता चला आ रहा है। उसने जिन सद्‌गुणों का संचय किया है उनकी तह में धर्म और दर्शन के भाव छिपे हैं। आज वह जिन दुर्गुणों का शिकार है उनके भीतर भी धार्मिक और दार्शनिक भावों की सड़ाँद घर किए हुए है। भारत के धर्म और दर्शन का प्रवाह ठीक नदी के प्रवाह के समान है। नदी का प्रवाह बन्द हो जाने से जैसे छोटे छोटे जोहड़ बन जाते हैं वैसे ही धार्मिक और दार्शनिक प्रवाह के निरुद्ध हो जाने पर उसमें संकीर्णता आ जाती है और वह जनता की चीज़ न होकर इने गिने लोगों की सम्पत्तिमात्र हो जाता है। ऐसे अवसर पर महात्माओं का उदय वर्षा का काम करता है। संकीर्ण जोहड़ों का पानी वर्षा के पानी में मिलकर बह चलता है। नदी में फिर प्रवाह आ जाता है। भारतीय इतिहास के मध्ययुग के अन्त में जब महात्मा कबीर हुए धर्म और दर्शन का प्रवाह रुक गया था और अनेकों मत-पन्थों के जोहड़ बन गये थे। कबीर-वाणी की वर्षा में वे जोहड़ फिर नदी बनकर बह चले और वह नदी आज एक तीर्थ बनी हुई है।

वैदिक कर्म-काण्ड, दार्शनिक विवाद और कृच्छ्र तप ऊँचे लोगों की ही चीज़ रह गये थे तब बुद्ध (५२७ ई० पू०) ने अपने उपदेशों से जनता की धार्मिक प्यास को बुझाया था। बुद्ध के धर्म-विनय में स्त्री और शूद्रों को भी वही स्थान था जो क्षत्रिय ब्राह्मण, राजा और बड़े बड़े गृहपतियों (सेठों) को। इसमें "स्त्रीशूद्रौ नाधीयेताम्" या "न शूद्राय मतिं दद्यात्" की बात न थी। फिर भी यह धर्म पूरा आचारप्रधान था और इसमें देवी-देवताओं की पूजा-अर्चा का कोई स्थान न था। जनता शायद उस समय इतनी समझदार न थी कि देवी-देवताओं को एकदम छोड़ देती, फलतः यह धर्म बहुत दिनों तक जनता को आकर्षित न कर सका और पौराणिक धर्म, जिसका बीज वेदों के उपासना-काण्ड में छिपा था, सातवाहन युग (२१० ई० पू० १७६ ई०) में अंकुरित और पल्लवित हुआ। इस युग में देवताओं की प्रतिमायें बनीं और उनकी पूजा वैदिक-पद्धति के होम और यज्ञों से न हो कर मन्दिरों में षोड़शोपचार द्वारा होने लगी। यहां यह फिर ख़याल कर लेना ज़रूरी है कि इस नये धर्म में भी समाज की निचली तह में पड़े चण्डाल एवं तादृश दूसरे अछूतों को कोई स्थान न था। वे न मन्दिर जा सकते थे और न उन्हें पूजा का अधिकार था। वे वृक्षों और प्रेतों पिशाचों की पूजा में ही लगे थे और इस नये धर्म से वञ्चित थे; फलतः इसकी दूसरी प्रतिक्रिया हुई। जनता का देवी देवताओं के प्रति आकर्षण देख कर बुद्ध-धर्म ने भी उनको अपनाना चाहा और आचार्य नागार्जुन के समय (१५० ई०) से उसमें भी बुद्ध और बोधिसत्वों की भक्ति और पूजा-अर्चना की प्रथा चल पड़ी। इस पूजा-अर्चना में फिर सब को स्थान मिला। आगे चल कर इस प्रवाह में फिर विकार आया—महायान से एक नया पन्थ वज्रयान निकल पड़ा। छठी शती में अन्ध्रदेश के श्री पर्वत पर यह पहले पहल प्रकट हुआ। इसमें अलौकिक सिद्धियों और उन सिद्धियों के लिये की जाने वाली गुह्य साधनाओं का प्राधान्य था। यही प्रवृत्तियां बाद में पौराणिक धर्म में भी प्रकट हुईं। शैवों में पाशुपत, कापालिक तथा वैष्णवों में गोपी-लीला

सम्प्रदाय आदि इसी प्रवृत्ति के सूचक हैं। शाक्तों में यह प्रवृत्तियाँ और भी उग्र रूप में प्रकट हुईं। और होतीं भी क्यों नहीं? उस समय मुक्ति के लिये ही नहीं, मान और पूजा के लिये भी सिद्धियों का पाना ज़रूरी था। वज्र-यान की इन कल्पनाओं ने मुक्ति को बहुत सस्ता कर दिया सो वह सहज-यान भी कहलाने लगा। ८०० ई० से ११०० ई० तक इस सिद्ध-पन्थ में ८४ सिद्ध हुए जिनमें गोरखनाथ का नाम बहुत प्रसिद्ध है। इन सिद्ध और योगियों का जनता पर एक चिर तक प्रभाव रहा। भारतवर्ष में इसलाम के प्रवेश और प्रसार के प्रथम युग अर्थात् मुग़लों से पहले इन योगियों का बड़ा मान था। फिर भी सर्व-साधारण से यह बहुत दूर थे। जनता कंकड़ पत्थर पूजने में ही अपने को सनाथ समझ रही थी। पौराणिक धर्म इस समय बहुत जटिल हो गया था। वह भाव-प्रधान या तत्वज्ञान प्रधान न हो कर कर्म-काण्ड-प्रधान हो गया था। पण्डितों का ध्यान भाव और तत्व ज्ञान की ओर था भी नहीं, वे व्रत, उपवास और पूजा-पाखण्ड से ऊपर उठना न जानते थे। हेमाद्रि आदि पण्डितों के स्मार्त निबन्धों में पौराणिक धर्म के इसी जटिल रूप का परिचय मिलता है। उनमें वर्ष के भीतर २००० के लगभग व्रत-उपवासों की चर्चा है। इन सब मत-पन्थों के ऊपर इस्लाम का आक्रमण भी होने लगा था। यद्यपि इस्लाम की तौहीद भारतीयों के लिये नई चीज़ न थी पर उपासना की एकरूपता और सामाजिक-समता एवं उदारता एक ऐसी वस्तु थी जो भारतीयों के पास न थी। फलतः भारत की अनेकों जातियों ने इस्लाम को अपनाना भी शुरू कर दिया था। भारतीय धर्म का भी इस्लाम पर प्रभाव पड़ा था और चौदहवीं शती में मध्य एशिया में वैष्णवों की भक्ति इस्लाम के सूफ़ी सम्प्रदाय में फूट पड़ी थी। इस प्रकार जब भारतीय धर्म अनेक प्रकार की भावनाओं का जमघट था १४५६ ई० में कबीर का जन्म हुआ।

कबीर तक की भारतीय-विचारधारा की मुख्य प्रवृत्तियों को चुने तो पांच रूपों में देखी जा सकती हैं। पहली प्रवृत्ति है वर्ण भेद या समाज में ऊँच नीच और छुआछूत का भाव, यह प्राचीन वैदिक धर्म में भी था पर उतना जटिल नहीं, बाद में वह जटिल हो गया और पौराणिक धर्म तथा परवर्ती हिन्दू धर्म में अपनी छाप जमाए रहा। बुद्ध ने पहले पहल इस भाव का विरोध किया और वही विरोध भाव महायान, वज्रयान, सहजयान और पाशुपत आदि हिन्दू तन्त्र यान में चलता आता रहा। दूसरी प्रवृत्ति है श्रुति स्मृति पुराण आदि पर विश्वास करना, जो वर्ण भेद की भांति ही हिन्दुओं—पौराणिकों—को मान्य है पर बुद्ध से लेकर सिद्ध योगियों तक सब को अमान्य है। तीसरी प्रवृत्ति है बाह्याचार जिसे वैदिक-पौराणिक हिन्दू मानते हैं पर बौद्ध और पाशुपत आदि हिन्दू-तन्त्रयानी नहीं मानते। चौथी प्रवृत्ति है आत्मवाद अर्थात् स्थिर या नित्य किसी ईश्वर, परम तत्व या आत्मा आदि को मानना, इसको बौद्ध और बौद्ध तान्त्रिक नहीं मानते बाक़ी सब मानते हैं। पांचवीं प्रवृत्ति है मुक्त्यर्थ साधना। यह साधना दो प्रकार की है। एक का सम्बन्ध योग से है जिसका आरम्भ विशेष रूप से वज्र-यान से हुआ है और जो पाशुपत आदि हिन्दूतन्त्रों में और भी विकसित हुई है। दूसरी साधना भक्ति है जो पुराने पौराणिक धर्म, महायान और परवर्ती सन्तों में पाई जाती है। इन दोनों साधनाओं के दो रूप हैं—एक क्रियारूप या कर्मकाण्ड रूप जिसका सम्बन्ध बाह्याचार से है, दूसरा भाव रूप जो उसकी विचार-धारा को बताता है। इन प्रवृत्तियों में से सामाजिक ऊँच नीच भेद को न मानना और तौहीद या एक ईश्वर या परम तत्व को स्वीकार करना इस्लाम में भी था।

इन प्रवृत्तियों में से वर्ण भेद या सामाजिक ऊँच-नीच भाव पर कबीर ने कटाक्ष किये हैं। ऊपर हम देख चुके हैं कि इस वर्ण भेद के खण्डन की परम्परा बहुत पुरानी है। बुद्ध से लेकर योगियों तक सब ने इस पर प्रहार किए हैं। फिर यदि कबीर ने भी उसको लताड़ा तो वह कोई नई बात न थी। कबीर ने जहाँ श्रुति स्मृति पुराण और पोथी-पत्रों, पौराणिकों और

योगियों के बाह्याचार को आड़े हाथों लिया वहाँ इस्लाम पर भी उन्होंने दया नहीं की। इस्लाम के बाह्याचार और उसकी उपासना-पद्धति पर वे व्यंग्य कसे बिना न रह सके। उन्होंने कह डाला—"काँकर पाथर जोरिकै मसजिद लई बनाय। ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे क्या बहरा हुआ ख़ुदाय।" हिन्दुओं और योगियों के बाह्याचार का खण्डन देख लोग यह सन्तोष शायद कर लेते हों कि कबीर पर इस्लाम की छाप है इसलिये खण्डन किया है। पर इस्लाम पर कबीर ने जो फबतियां कसी हैं वह किस प्रभाव के कारण? सचमुच इसका क्या उत्तर है? यह एक उलझन थी जिसे द्विवेदी जी ने सुलझाया है। कबीर के वंश का सम्बन्ध जब योगियों से जुड़ जाता है तब हम देखते हैं कि वर्ण-भेद, श्रुति आदि शास्त्र और बाह्य-आचार पूजा-पाठ आदि के खण्डन की एक पुरानी परम्परा थी और योगी भी उसी परम्परा के एक अंग थे। योगियों से ही वह सब संस्कार कबीर को मिले थे जो कि उनकी वाणी में प्रतिबिम्बित हुए थे।

कबीर के वंश और वंश परम्परा के संस्कारों की पड़ताल के अनन्तर द्विवेदी जी ने कबीर के मत का अनुसन्धान किया है। कबीर सिद्ध-योगी, पौराणिक हिन्दू और मुसलमान सब पर कटाक्ष करते रहे हैं। हाँ, यह बात अवश्य है कि योगियों के सम्बन्ध में वे बहुत बारीक और सूक्ष्म तत्वज्ञान का भी उल्लेख करते हैं। पण्डितों और मुल्लाओं के कोरे बाह्याडम्बर का ही ज़िक्र कर उसकी खिल्ली उड़ाते हैं। "हिन्दू तुरक दुहूँ नहिं नेरा" कह कर कबीर हिन्दू और मुसलमान दोनों से भागते रहते हैं। जोगी और अवधूत से वह ख़ूब भिड़ते हैं, उससे ख़ूब गहरी बातें करते हैं पर उसके मार्ग को बेकार ही समझते हैं। ऐसी दुविधा में कबीर का अपना मत क्या है? जैसे जन्म-वंश की परम्परा का ज्ञान किसी व्यक्ति के विचारों को एक हद तक जानने में मदद देता है वैसे ही गुरु-वंश की परम्परा का ज्ञान भी व्यक्तित्व और उसमें ओत-प्रोत विचार-धारा के समझने में सहायक होता है। कबीर रामानन्द के शिष्य थे अतः उनका रामानन्द के साम्प्रदायिक विचारों से प्रभावित होना ही चाहिए। इस सम्प्रदाय में अनन्य भक्ति को ही मोक्ष का अव्यवहित उपाय मानते हैं—इस पर किसी को विमति नहीं है, अन्य बातों में भले ही कुछ मत-भेद हो। कबीर वाणी में भी यही अनन्य भक्ति उस तरह व्याप्त है जैसे इक्षुरस इक्षुकाण्ड में व्याप्त रहता है। इसके बिना कबीर की वाणी रस पेलने के बाद इक्षु की खोई के समान रह जाती है। इस भक्ति को ही केन्द्र मान कर द्विवेदी जी ने कबीर की वाणी को देखा है। योग पन्थी संस्कार कबीर की वंश-परम्परा की देन थे, पर उनसे उन्हें शान्ति न मिली थी। भक्ति उनके गुरु की देन थी और उससे कबीर को शान्ति मिली थी। यही कारण है कि कबीर भक्ति को सिर माथे स्वीकार करते हैं और योग की गहराई को उथला ही समझते हैं। कबीर जिस भगवान् की भक्ति करते हैं उसके लिये मन्दिर और मस्जिद दोनों में नहीं जाना पड़ता, उसकी प्रतिमा भी नहीं बन सकती, वह अवतार भी नहीं लेता बल्कि वह घट घट में रम रहा है और इसी लिये वह राम है। कबीर से पहले मनुष्य ने भक्ति को अपने हृदय से बाहर निकाल दिया था और उसे मन्दिर और प्रतिमाओं के व्याज से कंकड़-पत्थर बना डाला था कबीर ने उसे फिर हृदय में बिठलाने का यत्न किया। कबीर का प्रयत्न सफल भले ही न हुआ हो, भले ही दुनिया मन्दिर और मस्जिद अथवा कबीर के शब्द में कहें तो कंकड़-पत्थर के ढेर को ही भगवान् का घर समझती रही हो, पर कबीर का यत्न सचमुच ही एक अच्छी दिशा में हुआ था। जिसने कबीर के इस भक्ति-भावना को बिना ठीक समझे ही कुछ और ही और समझना चाहा, वह बहुत ग़लतफ़हमी में पड़ा रहा। कबीर की वाणी में कहीं अद्वैतवाद, कहीं विशिष्टाद्वैतवाद कहीं एकेश्वरवाद आदि का लेश देखकर वे यही समझ बैठे थे कि कबीर का अपना कुछ मत था ही नहीं। इधर उधर की अटपटी वाणी बोल कर रोब गाँठना ही आता था। सच बात तो यह है कि कबीर

पर पण्डितों और आलोचकों का अब तक प्रायः उपेक्षा का भाव ही रहा है। लोग जब कबीर पर कुछ कहना चाहते थे तो उनके मन में यह भाव रहता ही था कि कबीर एक जुलाहा था और आज के जुलाहे का चित्र उनके सामने आये बिना न रहता था। आज के जुलाहे को तो समय-गति से ज्ञान प्राप्त करने के बहुत से साधना प्राप्त हैं पर उस समय के जुलाहे की दशा आज से भी गई बीती होगी। उस समय का जुलाहा कोरा ताने बाने का ही जीव होगा। उसके वंश से कौन आशा कर सकता है कि वह कोई विचारक दे सकता है? इस उपेक्षा के कारण कबीर के साथ बहुत अन्याय हुआ है। धैर्य के साथ कबीर पर विचार करने की शायद पण्डितों को ज़रूरत ही न मालूम पड़ती थी। जहाँ तक मुझे पता है द्विवेदी जी ने गहराई से इस विषय पर ध्यान दिया है, उन्होंने कबीर-वाणी को धैर्य और श्रद्धा के साथ विवेचन करने का यत्न किया है।

कबीर की वाणी का आज भी कबीर के सम्प्रदाय में परिपालन होता है। कबीर-पन्थियों को परम्परागत वे संस्कार बहुत सुलभ हैं जिनसे कबीर की वाणी के गूढ़ तत्व समझे जा सकते हैं। कबीर पर टीका टिप्पणियां भी हुई हैं जो उनके वचनों को समझने में मदद दे सकती हैं। पर कबीर की वाणी काफ़ी पुरानी है। वह फुटकर पदों के रूप में है, उसमें स्पष्ट एक कथावस्तु नहीं है। यह भारतीय जलवायु का दोष है कि कोई ग्रन्थ लीजिए उसमें कुछ न कुछ प्रक्षिप्त अंश मिल ही जाएंगे। तुलसी कबीर के अपेक्षा अर्वाचीन हैं पर उनकी रामायण में अनेकों क्षेपक हैं। और तो और पूरा एक काण्ड ही क्षेपक रूप से उसमें जोड़ दिया गया है। क्षेपक मिलाने के दो कारण होते हैं। पहला कारण होता है ग्रन्थ को अधिकाधिक पूर्ण रूप देना। दूसरी बात होती है उसमें नई विचार-धारा का समावेश। कबीर के बारे में पहला कारण नहीं हो सकता, कबीर ने कोई ग्रन्थ नहीं लिखा था जिसके पूरा करने की ज़रूरत उनके चेलों को पड़ती। हाँ, नई विचार-धारा के समावेश की बात ख़ूब सम्भव है। भारत में कोई सम्प्रदाय ठीक उसी रूप में रह नहीं पाता जिस रूप में उसका प्रवर्तक रखता है। वस्तुतः परिवर्तनशील जगत् में कोई चीज़ वैसे के वैसे रह भी कैसे सकती है?

द्विवेदी जी ने कबीर पर इस दृष्टि से भी विचार किया है। भगवान् की अनन्य भक्ति और वह भक्ति जिसमें बाह्य उपचार की कुछ ज़रूरत नहीं है कबीर का अपना सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त उनकी वाणी में जगह जगह फूटा है। पर कबीर के चेले कबीर को कोरे भक्त के रूप में न देखना चाहते थे, वे कबीर को उस आसन पर बिठाना चाहते थे जहां तक दूसरे न पहुँचे हों। इस प्रकार के आसन पर बिठाना कोई कठिन काम नहीं है। पुराणों ने यह रास्ता दिखा रखा है। जिस पुराण को लीजिये यही बात मिलेगी। अपने अपने उपास्य को ही सब कुछ बनाना उनका ध्येय है। जब इस प्रकार का रास्ता ही खुला है तब कोई मुश्किल बात नहीं जो कबीर को सब से ऊँचे आसन पर न बिठा दिया जाए। कबीर-पन्थियों ने यही किया। उनकी विचारधारा के अनुसार सत्य पुरुष आदि तत्व है, उनसे निरञ्जन हुआ, निरञ्जन ने माया को उत्पन्न किया और उस माया के संयोग से ब्रह्मा, विष्णु और शिव उत्पन्न हुए। उनसे यह सृष्टि हुई। निरञ्जन ने सूक्ष्मवेद को हृदय में धारण किया और उनकी सांस से स्थूलवेद ऋक् यजुः साम और अथर्व उत्पन्न हुए। इस प्रकार सारा संसार निरञ्जन और वेदों के चक्कर में पड़ा है। इनसे उद्धार करने के लिये सत्य पुरुष ने जो अपना स्वरूप उत्पन्न किया वही कबीर साहब हैं। वे संसार के त्राणकर्ता हैं। सत्ययुग में सुकृति नाम से, त्रेता युग में मनीन्द्र नाम से, द्वापर में करुणामय स्वामी के नाम से और कलियुग में कबीर के नाम से वे अवतीर्ण हुए। ठीक, यह तो होना ही चाहिए था। जिन कबीर ने बार बार पौराणिक धर्म के आडम्बर और अवतार-वाद का विरोध किया वे स्वयं अवतार धारी बन गए! घट घट व्यापी राम की घोषणा करने वाले कबीर का राम या सत्यपुरुष हाड़मास की गठरी के रूप

में अवतार लेने ही लगा! यह कल्पना स्पष्ट ही परवर्ती है। कबीर के हृदय के साथ इसका मेल बैठ हो नहीं सकता। इस कल्पना के अनुसार संसार का जाल फैलाने वाला निरञ्जन है, पर कबीर के वचनों में अनेकों जगह निरञ्जन उस भगवान के लिये व्यवहृत हुआ है जिसे कबीर घट घट व्यापी मानते हैं। वे साफ़ ही कहते हैं—"एक निरञ्जन सूं मन लागा" जिस निरञ्जन से कबीर ने मन लगाया है वह दुनिया का जाल फैला कर बाद में ठगने वाला बन गया! द्विवेदी जी ने निरञ्जन तथा कितने ही शब्दों की अच्छी पड़ताल की है, पर इस दिशा में एक व्यापक प्रयत्न की आवश्यकता है। सब से बड़ी आवश्यकता है: घट घट व्यापी राम की भक्ति की तथा वाह्य आडम्बर एवं सामाजिक वर्ण भेद के विरोध की—जो कबीर के अभिमत सिद्धान्त हैं उनके प्रकाश में उन सब स्वीकृत और अस्वीकृत विश्वासों का विश्लेषण करना जो कबीर वाणी में गुंथे हुए हैं और यह परखना कि इन सिद्धान्तों के साथ उनका कितना सामाञ्जस्य और असामञ्जस्य है।

यहाँ तक पाठकों से धीरे धीरे बात करते हम कितने ही विमर्शों पर पहुँच चुके हैं। उन सब को यहाँ एकत्र करके देखना है कि कबीर के बारे में हमारी अब क्या धारणा बन सकती है। कबीर मुसलमान जुलाहे के घर पैदा हुए थे और उनका हिन्दुओं से रोजाना ही साबिक़ा रहता था। हिन्दुओं की सामाजिक अनुदारता के वे भुक्तभोगी थे अतः उसकी शिकायत करना उनके लिये बहुत स्वाभाविक था। मुसलमानी धर्म में पले थे वे ज़रूर, पर उसे भी वह हिन्दुओं के जैसा ढकोसलेबाज़ समझते थे, इसलिये उस पर भी उन्होंने व्यंग्य कसे हैं। योगियों के संस्कार उन्हें वंश परम्परा से मिले थे और उस पन्थ की वे गूढ़ातिगूढ़ बातें जानते थे पर उसकी साधना से उन्हें सन्तोष न था। हिन्दू और मुसलमानों के उपासना-मार्ग को वे दिखावा ही समझते थे अतः उससे उनका सन्तुष्ट होना सम्भव हो न था, फलतः हिन्दू, मुसलमान और योगी तीनों के रास्ते, जो कबीर के समय खूब प्रचलित थे, कबीर को शान्ति न दे सकते थे। ऐसी दशा में कबीर को रामानन्द जैसे गुरु मिले और उन्होंने शान्ति पाई। यह भक्ति जो उन्होंने गुरु से पाई अवतारधारी किसी लीलापुरुष राम की न थी, पर घट घट व्यापी राम की थी, जिसके लिये मन्दिर-मस्जिद, पुरान और कुरान दोनों की ज़रूरत नहीं थी। यच्च यावत् वाह्योपचार से विरत हो हृदयेन भगवान् से प्रेम करना ही कबीर को पसन्द था।

कबीर के इस रूप में एक बड़ी विशेषता है। कबीर मुसलमान के वंश में उत्पन्न भले हुए हों पर वे भारतीय धर्म-साधना की परम्परा के जो ब्राह्मणों, श्रमणों, योगियों और तांत्रिकों, और भक्तों की साधनाओं के संयोग से बनी है—एक अनन्य रत्न हैं। कबीर का भक्तों में अपना स्थान है। उनकी भक्ति भी अपनी भक्ति है—भले ही उसको उन्होंने वैष्णवों से सीखा हो। जो वैष्णवों की भक्ति है वही कबीर की भक्ति नहीं। एक को वाह्योपचार की अपेक्षा है और दूसरी को केवल हृदय से ही काम है। कबीर के इस परम्परागत रूप को समझ लेने पर उनकी भक्ति में सूफ़ियों के रहस्यवाद की छाया भाँपने की प्रवृत्ति अपने आप कुण्ठित हो जाती है। और कुण्ठित होनी भी चाहिये क्योंकि कबीर स्वयं अपनी भक्ति को अपने वैष्णव गुरु की ही देन समझते हैं—

कबीर धनि वे सुन्दरी जिन जाया वैस्नो पूत।
राम सुमिरि निरभै हुआ सब जग गया अऊत॥
सत गुरु के परताप ते मिटि गयौ सब दुख दंद।
कहु कबीर दुविधा मिटी गुरू मिलिया रामानंद॥

कबीर के इस परम्परानुबद्ध रूप के समझने में द्विवेदी जी ने बड़ा श्रम किया है। इस रूप के सहारे कबीर की वाणी का एक सर्वाङ्गी विमर्श हिन्दी में लाया जा सकेगा और कबीर पर नये ढङ्ग से पड़ताल करने का मार्ग मिल सकेगा।

लड़ाई का हाल

अमरीका से लौट कर चर्चिल साहब ने जो भाषण अपने यहाँ दिया उसमें उन्होंने यह बता दिया कि असिल में मित्र-दल की इटली के जनरल बादोग्लियो और वहाँ के बादशाह से १५ अगस्त को ही सुलह की शर्तें निश्चित हो चुकी थीं। स्पेन में स्थित राजदूत सर होर ने इसमें विशेष भाग लिया था। बादोग्लियो-सरकार की ओर से भेजे गये लोगों ने स्पेन में जाकर मित्र-दल की ओर से भेजे गये लोगों से सब बातें तै की थीं। सिसली आधी जीती गई थी तभी यह समझौता हो जाने से मित्र दल को विशेष लाभ हुआ।

बादोग्लियो के इस आत्म-समर्पण का पूरा लाभ मित्र दल ने इटली पर हमला करते समय उठाया। कई स्थानों पर उनकी फ़ौजें जहाजों से उतर पड़ीं और वहाँ अपना क़ब्ज़ा आसानी से कर लिया। १० सितम्बर को बादोग्लियो ने खुल्लम खुल्ला अपने को मित्र-राष्ट्रों की ओर घोषित किया और जरमनी के विरुद्ध लड़ने के लिए अपने मुल्क वालों से अपील की। इसके पहले ही मुसोलिनी और उनके दल के अधिकांश अधिकारी लोगों को कैद करवा दिया गया था और उनकी फ़ौजों में अधिकांश को, जिन्होंने बादोग्लियो-सरकार का साथ नहीं देना चाहा, तितर बितर कर दिया गया था। फिर आज़ादी पा लेने पर मुसोलिनी ने न केवल बादोग्लियो और बादशाह को किन्तु रेडक्रास को भी धोखेबाज़ ठहराने का प्रयत्न किया है। कहा है कि रेड क्रास ने ही 'हमले से बचाने' का आश्वासन देकर फँसा दिया। हिटलर ने विशेष प्रबन्ध करके अपने छतरीवालों के ज़रिये मुसोलिनी को छुड़ाया और उसके कई सरदारों तथा मुसोलिनी के दामाद सियानो को भी। उसने तेज़ी के साथ अपनी फ़ौजें इटली में भेज कर, दो-तिहाई मुल्क पर क़ब्ज़ा भी कर लिया। बादोग्लियो और बादशाह को इटली छोड़कर भागना पड़ा। इस सब के कारण मित्र-दल को उतना अधिक लाभ न हो सका जितना वे चाहते थे। 'उत्तरी व केन्द्रीय इटली पर कस कर अपना पंजा जमाने के अतिरिक्त मुसोलिनी को नाटकीय और साहसी ढङ्ग से बादोग्लिओ की कैद से छुड़ा कर हिटलर ने इटालियन जनता में बुद्धि-भ्रम पैदा कर लड़खड़ाते फासिस्ट शासन-तंत्र को पुनरुज्जीवित करने का प्रयत्न किया है। इस गृह-युद्ध की आड़ में जरमनों को शासन व व्यवस्था के नाम पर और भी अधिक अपना फ़ौजी पंजा कसने का मौक़ा मिलेगा।' पहले सलेरनो में जरमनों ने डट कर मोरचा लिया। मित्र दल को बहुत नुक़सान उठाना पड़ा। पर वे इसकी परवा न कर बराबर नई फ़ौजें और लड़ाई का सामान भेजते गये। इससे वह पाँचवीं सेना जो घिरने पर आ गई थी, साहस के साथ, धीरे धीरे आगे बढ़ने योग्य हो गई। आठवीं सेना भी उससे आकर मिल गई। नेपल्स के रास्ते में दो दर्रों पर जरमन मुक़ाबिला करते रहे, लेकिन उन पहाड़ियों में से जो अभेद्य समझी जाती थीं, कई एक मित्र दल के हाथ में आगयीं। फिर समाचार आया कि नेपल्स को, जो कल-कारख़ानों, शस्त्रों और फ़ौजों का महत्वपूर्ण स्थल है, जरमन तहस नहस कर रहे हैं। और अब यह समाचार आ गया कि नेपल्स पर पूरी तरह मित्र-दल का ही क़ब्ज़ा होगया। दूसरी ओर टारंटो, ब्रिंडसी और बारी आदि के ले लेने से मित्र दल की फ़ौजें फ़ागिया की ओर बढ़ीं जो नेपल्स और सलेरनो को जोड़ने-वाला रेलवे-जंकशन है। 'इस पर अधिकार हो जाने से बलकान के देशों और हंगरी पर हवाई हमले करने के लिए मित्र-दल को सुविधा हो जायगी।'

जिब्राल्टर की ओर भी फ़ौजें इकट्ठी हो रही हैं। 'रूमानिया टर्की के ज़रिये मित्र-दल से सुलह की बात चीत कर रहा है। यूरोप के अन्य कई हिस्से भी मित्र दल के स्वागत की तैयारी कर रहे हैं।' कुछ हिस्से ऐसे भी हैं जो केवल रूसी

सेना का स्वागत करना चाहते हैं। स्टैलिन का भी कहना है कि यूरोप में कैसा शासन-प्रबन्ध रहे और वह किस तरह स्थापित किया जाय, इसके बारे में रूस की सम्मति को महत्व दिया जाना चाहिये और उस शासन-प्रबन्ध की स्थापना में सोवियट का हाथ रहना चाहिए। 'ऐसे मत-भेद कहीं और न बढ़ जायँ, ब्रिटेन-अमरीका-रूस के 'त्रि-राष्ट्र'-सम्मेलन में यही भय है।' सम्मेलन के न होने से रूस-जरमन संधि की चर्चायें ज़ोर पकड़ती हैं! बादोग्लियो अब दक्खिन इटली में पहुंच गये हैं। उन्होंने अपने 'साम्राज्य' की वापिसी और अपनी सरकार की स्वीकृति चाही। उनकी ये माँगें स्वीकार नहीं की गईं।

सोमास, कास, सारडीनिया आदि कई द्वीपों पर और ब्रिंडसी के सिवा अन्य कई महत्वपूर्ण बन्दरगाहों पर भी मित्र-दल का क़ब्ज़ा हो गया है।

इधर रूसी क्षेत्र में सोवियट सेना बराबर आगे बढ़ती जा रही है। कीव यूक्रेन की राजधानी है। यूक्रेन ही रूस का खाद्यभाण्डार है। गेहूँ सब से अधिक यहीं होता है। इसके निकल जाने से ही उसे अपने खाने के लिये बहुत अंशों में दूसरों पर अवलम्बित होजाना पड़ा। अगस्त के अंत में कीव क़रीब १७० मील दूर था। इस एक मास में ओरेल, दोनबास, ब्रियान्स्क, नोवोरिस्क के महत्व पूर्ण बन्दरगाह, पोलटावा और सेमेलन्स्क आदि पर क़ब्ज़ा करके, रूसी सेनायें कीव और पावलोग्राड तक पहुंच रही हैं। नीपर नदी को सेनायें छै जगह पार कर चुकी हैं। ओरेल २३ और समोलन्स्क २५ मास जरमनों के हाथ में रहे।

दक्षिणी पच्छिमी प्रशान्त सागर में सालमुआ के हवाई अड्डे पर और न्यूगिनी के अन्तिम बड़े अड्डे 'ले' पर मित्र सेनाओं का अधिकार हो गया है। यह भी प्रकाशित हुआ है कि यहां के जनरल श्री मैक आर्थर को लार्ड मौन्ट बैटन के, जो दक्खिन एशिया की फ़ौजों के कमाण्डर हुए हैं, नीचे काम करना पसन्द नहीं। वे उनकी जगह अपना नेतृत्व चाहते हैं या फिर यह कि दोनों के नेतृत्व अलग अलग रहें। अमरीका ने फिलीपाइन की आज़ादी की घोषणा कर दी है। इससे वे फिलीपाइन वापिस लेकर उसे ही आधार बनाकर वहाँ से ही जापानियों से लड़ना ठीक समझते हैं।

चीन अपने 'साधारण साधनों' से आज कल के सम्पूर्ण वैज्ञानिक साधनों का उपयोग करने वाले और उसके पिछले छै वर्षों में चीन के अनेक श्रेष्ठ भागों तथा बन्दरगाहों को अत्यन्त क्रूरता के साथ छीन लेने वाले जापान के साथ वीरता से लड़ता जा रहा है। अब जापान ने 'पूरे' चीन की 'आज़ादी' का प्रलोभन देकर फिर सुलह का प्रस्ताव रखा है। पर श्री सुंग ने कहा है कि उसके जाल में कोई राजनैतिक दल नहीं फँस सकता, 'यद्यपि चीन के बहुत से लोग लड़ते लड़ते थक गये हैं और उनके लिए यह बहुत बड़ा प्रलोभन है।' असल में वे ख़ूब जान गये हैं कि जापान ऐसे साम्राज्यवादी टापू का 'पूरे' चीन और उसकी 'आज़ादी' से क्या मतलब होता है। उनकी कठिनाई यही है कि उनमे 'सहानुभूति' रखने हुए भी उनके देश के ऐसे विशाल होने और उसकी आबादी ४५ करोड़ होने के कारण हवाई जहाजों का बनाना सिखाना तो दूर, उन्हें कोई काफ़ी हवाई जहाज देने को भी अभी तक तैयार नहीं।

अब जल्दी ही जापान के साथ पूरी तेज़ी से 'विशेष मित्र-दल' की—इंग्लैण्ड और अमरीका की—फ़ौजों की लड़ाई शुरू कर देने के दिन आरहे हैं!

सम्पादकीय-विचार

महात्मा गांधी की ७५ वीं जन्म-तिथि

'अगर हम अपने नमक के प्रति, (हिन्दुस्तानी) क़ौम के प्रति, उन गीतों के प्रति जिन्हें हम गाते हैं सच्चे हों, अगर हम भगवद्गीता और क़ुरान के प्रति सच्चे हों, तो हम अपना प्रोग्राम बाक़ी नौ महीनों में पूरा कर लेंगे, और इसलाम, पंजाब तथा भारत को आज़ाद कर लेंगे। एक लाख परदेशी व्यक्तियों का एक ऐसी क़ौम को जिसमें तीस करोड़ लोग हैं, मनमाने नियंत्रण में रखना उन शासकों और शासितों, दोनों को भ्रष्ट करने वाला है। और वे अपनी मनमानी क्यों करा सकते हैं? हम में फूट डाल दी गई है इसीलिए उन्होंने शासन किया है। मैं झूम के यह स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लेने को कि ब्रिटिश गवर्नमेण्ट 'फूट डालो और राज करो' की नीति पर चलाई जाती है, कभी भूल नहीं सका हूँ। इसी से असहयोग की सफलता के लिए सब से महत्वपूर्ण जरूरत हिन्दू-मुसलिम एकता की होने से मैं उस पर जोर देता आया हूँ। किन्तु उसे केवल ज़बानी एकता या व्यापारी बनिया की सी एकता न होनी चाहिए। उसे ऐसी एकता होनी चाहिए जिसमें हृदयों के मिलन के आधार पर विशालता आवे।'

ये पंक्तियां महात्मा जी ने अपने 'तरुण भारत' (Young India) के २२ सितम्बर सन् १९२० के अङ्क के लिए लिखी थीं। आज करीब २३ साल बाद भी इनकी हमारे लिए वैसी ही आवश्यकता है। इसी अंक में पहले लेख और 'गांधी और विश्व-व्यवस्था' में यह भली-भांति बतलाया गया है। 'बापू' के रास्ते पर चलना ही सच्ची श्रद्धांजलि अर्पण करना है। पाठकगण तो यह जानते ही हैं कि 'विश्ववाणी' के संरक्षक पंडित सुन्दरलाल जी महात्मा जी के 'सत्य' और 'अहिंसा' आदि सिद्धान्तों को पूरी तरह मानने वालों में हैं और वे यह भी न भूले होंगे कि इसके संचालक तथा सम्पादक भाई विश्वम्भरनाथ जी ने 'विश्ववाणी' के पहले अङ्क में ही यह लिखा था कि "विश्ववाणी' के सम्पादक ने पिछले बीस बरस में जो कुछ भी सीखा है उसका सारा श्रेय पूज्य पण्डित सुन्दरलाल जी को ही है। उन्हीं के मार्ग-प्रदर्शन का परिणाम है कि आज हमने इतना गुरुतर भार लेने का साहस किया है। उन्होंने दया करके विश्ववाणी के मार्ग-प्रदर्शन का ज़िम्मा अपने ऊपर लिया है यह विश्ववाणी के पाठकों का सौभाग्य है।" साथ ही उसी अङ्क में 'हमारा उद्देश्य' लिखते हुए उन्होंने यह भी स्पष्टतः कह दिया था कि "ज्योंही इस अप्राकृतिक हालत से निकल कर दुनिया का दिल और दिमाग़ ठीक होगा वह इस आन्दोलन के ठीक ठीक रूप को देख सकेगी और इस बात को भी समझ सकेगी कि जो अहिंसात्मक तरीक़ा हिन्दुस्तान ने पाशविक शक्ति का मुक़ाबला करने, उसे निकम्मा कर देने और उसकी जगह ले लेने का जारी किया है वही एक मात्र तरीक़ा उस नाशकर चक्र को तोड़ने और उससे बाहर निकलने का है जिसमें यूरोप ने अपने को और सारी दुनिया को फँसा रखा है।" और यह भी कि "अपने देश के सम्बन्ध में 'विश्ववाणी' भारतीय इतिहास की आवाज़ यानी भारतीय आत्मा की पुकार को पाठकों के सामने लाने और उसे समझने की कोशिश करेगी। यह पुकार संक्षेप में भारत के महान आदर्शों की एकता और सारे भारत के महापुरुषों की सच्ची समता, मेल और भाई चारे की पुकार है। इसी ने हिन्दुस्तान को उन सब देशों, जातियों और धर्म के लोगों का आश्रय-स्थान और उनका घर बना रखा था जो समय समय पर इस देश में आकर बसते रहे और जिनका इस ज़मीन ने सदा प्रेम के साथ स्वागत किया।"

यह सब हमें इसलिए उन अंकों से फिर लेना पड़ा क्योंकि 'विश्ववाणी' अपना पहला ही साल ठीक तरह बिता सकी। दूसरे साल का अन्त होने के बहुत पहले ही, १० अगस्त १९४२, को इसके संरक्षक पंडित सुन्दरलाल जी को और उसी साल के अन्तिम मास में इसके संचालक और सम्पादक भाई विश्वम्भरनाथ जी को उस 'क़ानून' के अनुसार जिसे स्वयं यहां की सर्वोच्च 'सरकारी' क़ानूनी अदालत 'ग़ैर क़ानूनी' कह चुकी है, 'भारत-रक्षा के लिए' जेल में ले जाकर 'डिटेन' कर लिया गया। वे दूसरे साल इसके सात विशेषांक—और वे भी एक से एक बढ़कर—निकाल चुके थे, जो हिन्दी-संसार में सर्वथा नई बात थी। पर पहले साल ही अक्टूबर वाले अङ्क में गाँधी-जयन्ती पर लिखने-लिखाने का अवसर भाई विश्वम्भरनाथ जी को मिल सका। उस अङ्क में सब से पहला स्थान दिया गया था जो कुछ स्व० गुरुदेव श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने गांधी-जयन्ती पर कहा था उसे। गुरुदेव ने अन्य बातों के साथ यह कहा था—

'पश्चिम के असर से भारतीय संस्कृति की एकता नष्ट-भ्रष्ट हो रही थी, उसमें छूत छात का भीषण और प्राणनाशक रोग लग गया था। हिन्दू और मुसलमान अपने राष्ट्र के कल्याण की ओर से मुंह फेर कर आपस में संरक्षण के उन छोटे छोटे टुकड़ों के लिये लड़ने लग गये थे, जिन्हें शासक लोग ख़ूब समझ बूझ कर उनकी ओर फेंका करते थे। हमारे देश के निवासी इतने अधिक पतित हो गये थे कि बहुत से लोगों को इस बात में सन्देह होने लग गया था कि भारतवर्ष कभी अपने ही आदमियों की प्रतिभा के बल खड़ा हो भी सका था या नहीं। आख़िर में एक ऐसा सच्चा महात्मा और जनता का एक ऐसा बड़ा नेता पैदा हुआ, जो हमारे यहाँ बहुत पुराने समय के ऋषियों और महर्षियों की कोटि का है और जिसका आदर करने के लिये हम सब लोग आज यहां इकट्ठा हुये हैं। वह है महात्मा गांधी। अब इस देश के भविष्य के सम्बन्ध में किसी को निराश होने की ज़रूरत नहीं, क्योंकि जो अजेय शक्ति सिरजन का कार्य करती है, वह अब हमें प्राप्त हो गई है। महात्मा गांधी ने हम लोगों को एक रास्ता दिखा दिया है। यदि हम लोग उस रास्ते पर चलें, तो न केवल अपनी ही रक्षा करेंगे, बल्कि और लोगों को भी उनकी रक्षा के काम में सहायता पहुँचा सकेंगे।'

और यह भी कि—'हम लोगों के बीच में आज जो महात्मा आया है, उसकी सब से बड़ी विशेषता यह है कि वह हर तरह के व्यक्ति या राष्ट्रगत स्वार्थ-परता के भाव से बिलकुल मुक्त है।'

इन पंक्तियों के लेखक को भी पूज्य पंडित सुन्दरलाल जी के जीवन और उनकी शिक्षा-दीक्षा से उनके सामने बैठ कर अपनी अत्यन्त साधारण शक्ति के अनुसार कुछ प्राप्त करने का सौभाग्य १९३० के 'स्वतन्त्रता दिवस' के कुछ ही पहले से—यानी अब से एक युग और एक साल के क़रीब से—प्राप्त हो सका है। पंडित जी कांग्रेस के 'पूर्ण असहयोगी दल' में ही सदैव रहे और उस समय तो एक तरह उस सब से भी अलग हो, मनुष्य के व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों प्रकार के जीवन को उस उच्चतर धरातल पर खड़ा करने के साधन में संलग्न हो चुके थे जहाँ न खड़े होने से हमारे परिवार, हमारे देश और हमारी दुनिया का काम ठीक तरह चल नहीं रहा है। जब उनका 'भारत में अंगरेज़ी राज' प्रकाशित हुआ और उसके पहले और पीछे जब वे 'संसार का सांस्कृतिक इतिहास' (Cultural History of the World) लिखने में लगे रहे तब उनके निकट बैठकर काम करने के विशेष सुअवसर मिले। 'माया' को मुस्तफ़ी जी के साथ शुरू करने और साल भर किसी तरह चलाते जाने के समय और 'सहेली' के सम्पादन-काल में तथा इंडियन प्रेस की सुलभ-'सरस्वती सीरीज़' के लिए अपने चारों उपन्यासों को लिखते समय भी बीच-बीच में उनकी ५६ चक वाली सच्ची कुटी में जाकर उनके और भाई विश्वम्भरनाथ जी के पास बैठने से ही बहकाने वाले प्रलोभनों पर विजय पाने

की शक्ति और नवीन आशा, प्रबल विश्वास तथा नई स्फूर्ति की प्राप्ति हो जाती थी। जब-तब भी मंज़र-अली सोख्ता और महात्मा भगवानदीन से भी सामान्वित होने का अवसर मिल जाता था। भाई मुज़फ़्फ़रहुसेन तो पंडित जी के 'विशिष्ट' परिवार में अपनी सरलता के साथ अपने ढङ्ग से विशेष प्रभावदायक हैं ही। उनसे भी वहीं पहले पहल भेंट हुई। 'विश्ववाणी' के प्रकाशन के बाद जब महात्मा गाँधी के आश्रम में कई मास रहकर पंडित जी यहाँ आये तब कुछ समय बाद 'हज़रत मुहम्मद और इस्लाम' प्रकाशित की गयी और 'गीता और क़ुरान' पर अध्ययन करने और लिखने का काम-काज चला। इस काम में भी पंडित जी ने मुझे अपने साथ लेने की कृपा की, क्योंकि इस सम्बन्ध में अपने अनेक विचारों को वे समय समय पर मुझे बतला चुके थे। वे इन्हीं कामों में लगे थे तब इस नौकरशाही ने 'भारत रक्षा' के लिए उन्हें भी १० अगस्त को जेल में ले जाकर ठहरा दिया। श्रद्धेय सोख्ता जी तथा भाई मुज़फ़्फ़रहुसेन को भी पकड़ा गया और अन्त में भाई विश्वम्भर जी को भी। अब यहाँ रह गया 'विश्ववाणी' का ही काम, जिसमें सहयोग देना आवश्यक हो गया। इसी सब के नाते यह लेखक भी महात्मा गान्धी को श्रद्धाञ्जलि समर्पित करने का एक क्षुद्र अधिकारी बनने का समझने का साहस कर रहा है। सहयोगी 'शुभचिन्तक' के शब्दों में वह कहना चाहता है—

'युग-पुरुष, अरे ओ युग-द्रष्टा,
हे युग - नायक, शत नमस्कार,
युग-निर्माता, हे युग - स्रष्टा,
हे युग-वाणी, शत नमस्कार !'

और 'हिन्दुस्तान' के शब्दों में—

'निराशा में आशा साकार,
अँधेरे में पथ-दीप ज्वलन्त
देश के गौरव, बल, अभिमान,
दीर्घजीवी हों, गान्धी सन्त !'

दोषी कौन ?

बंगाल की पीड़ा और उसके हाहाकार में कमी होने की जगह वृद्धि ही होती जा रही है। और जान पड़ता है बंगाल की सी ही दशा कई सूबों की होने जा रही है। वहाँ अन्नाभाव से लोग तड़प-तड़प कर मर रहे हैं। भूख की असह्य यंत्रणा से माता-पिता अपनी सन्तानों को, सन्तानें माता-पिता को, भाई भाई को, पति स्त्री को और स्त्री पति को छोड़ देने के लिए मजबूर हैं। इतना ही नहीं, इनमें से कई एक अपनी और एक दूसरे की हत्या भी कर रहे हैं। माँ-बाप के अपनी सन्तान को दस बीस रुपयों में ही नहीं, कुछ आनों और कुछ पैसों में भी बेंच देने के समाचार प्रकाशित हो चुके हैं। एक स्त्री एक आने की लाई के लिए अपने बच्चे को उतने में ही बेच रही थी ! ऐसे दृश्य, इतने विकराल और व्यापक रूप में, इस देश के सिवा और कहीं संभव ही नहीं हैं ! स्वयं ब्रिटेन के अनेक पत्रों का यह कहना था—जैसा कि पिछले अङ्क में एक पत्र से लिखा जा चुका है—कि 'भूख की यन्त्रणा लोग इस तरह कहीं भी बरदाश्त न कर सकेंगे।' यहाँ की अंग्रेज़ी सरकार ने यह दिखला दिया कि उनका यह विचार ठीक नहीं ! इतना ही नहीं, हमारी इस दुर्दशा का दोष खुले शब्दों में 'हिन्दुस्तानी मंत्रि-मंडल' पर थोपा जारहा है और हिन्दुस्तानियों की 'स्वशासन की अयोग्यता' को ही इस अवस्था के लिए उत्तरदायी ठहराया जा रहा है। यह भी कहा जाता है कि मंत्रि-मंडल ने पहले कह दिया था कि बंगाल में वहाँ के सब लोगों के लिए चावल काफ़ी है और '१९३५ के भारतीय शासन-विधान के अनुसार सूबों को खाद्य पदार्थों के प्रबन्ध के बारे में पूरी आज़ादी दे दी गई है ! बंगाल में हिन्दुस्तानी मंत्रि-मंडल मौजूद है। इसलिए उसी पर इस शर्मनाक हालत की ज़िम्मेदारी है।' कैसी बेहयाई और धोखेबाज़ी से भरा यह सब तर्क है ! बंगाल में उसके 'सब दलों के मंत्रि-मंडल' में से प्रधान मंत्री श्री फ़ज़लुल हक़ को जिस निरंकुशता के साथ अपनी जगह

से हटाया गया उसे कौन भूल सकता है ? उस मंत्रि-मंडल को इसीलिए तो तोड़-फोड़ दिया गया क्योंकि वह जनता के प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझकर उसके अनुसार कार्य भी करना चाहता था ! कहा गया कि नया मंत्रि-मंडल खाद्य पदार्थों का प्रबन्ध करने में समर्थ हो सकेगा ! पर बंगाल का चावल एक कम्पनी के और अधिकारियों के ज़रिये ख़रीदकर गवर्नर महोदय अपने विशेषाधिकार से चुपचाप बाहर, अफ़रीका तक, भेजवा सके और बंगाल में भी फ़ौज़ी और 'सिविल' लोगों के लिए आवश्यकता से कहीं अधिक रखवा सके ! साढ़े चार करोड़ रुपये तो उस कम्पनी—इस्पहान एण्ड कम्पनी—को ही इस 'तिजारत' में मिल गये ! तब फिर बंगाल की आधे से अधिक आबादी भूखों क्यों न मरे ! अनाज पिछले मंत्रि-मंडल के समय बीस रुपये और कहीं कहीं तीस रुपये मन था। पर अब पचास रुपये और शहर से बाहर अस्सी नब्बे रुपये मन तक है। ढाके में तो सौ रुपये मन हो जाने का समाचार आया है। पर—जैसा कि डा० श्यामाप्रसाद मुकुर्जी ने भी अपने एक वक्तव्य में कहा है—चावल या आटा कितने ही स्थानों पर 'किसी भाव भी' मिल ही नहीं रहा है। ज़रूरत यह है कि 'छे हज़ार जगहों में केन्द्र खोल कर कम से कम हज़ार हज़ार मन अनाज प्रत्येक केन्द्र में भेज दिया जावे।' 'सरकार' चाहे तो उसके लिए यह कुछ भी कठिन काम नहीं है। पंजाब के प्रधान मन्त्री और रसद-मन्त्री यह बतला चुके हैं कि वहाँ जितना माल केन्द्रीय सरकार के प्रबन्ध के अनुसार ताले के अन्दर गोदामों में रखवा दिया गया था उसका दो तिहाई से अधिक अभी तक वहीं मौजूद है—न तो केन्द्रीय सरकार ने उसके रुपये दिये और न उसे हटाया ! (सूबे की सरकारों ने भी इस तरह जो मनमानी की है, उसे सब जानते ही हैं।) ग़ल्ला चारों ओर से बङ्गाल जा सकता है और आजकल के हवाई जहाज़ों के 'वैज्ञानिक' समय में एक दिन में काफ़ी पहुँचाया जा सकता है, पर 'काफ़ी से कहीं अधिक' ग़ल्ला तो बंगाल-सरकार के पास वहीं मौजूद है !

हमारे साथी भाई 'विनोद' जी कलकत्ते में जिन दर्दनाक दृश्यों को अपनी आँखों से देख आये हैं उन पर वे इस अङ्क में बहुत कुछ लिखना चाहते थे। पर एक फोड़े से परेशान होने और फिर उसका ऑपरेशन कराने से वे ऐसा नहीं कर सके। जहाँ जहाँ लोग भूख-यन्त्रणा से तड़प रहे हैं वहाँ सरकारी गोदामों से इस समय ग़ल्ला दे देने और अपने लिए फिर मँगा लेने में क्या कठिनाई है ? यही प्रश्न उनके, हम सब के और अन्य लोगों के सामने है। पर क्या खाद्य विशेषज्ञों और प्रति दिन बढ़ते जाने वाले रसद-विभाग के इतने अधिक अफ़सरों की समझ में यह सीधी-सादी बात भी नहीं आती ? अवश्य आती होगी। तब इसका असली रहस्य क्या है ?

अंग्रेज़ी शासन शुरू होने के बाद १७७० में बङ्गाल में जो 'भयङ्कर अकाल' पड़ा था और जिसमें 'मनुष्यों' (!) द्वारा डाले हुए इस अकाल के समान ही, एक तिहाई आबादी मृत्यु-मुखमें पड़ गई थी, उसके बारे में महात्मा गान्धी के 'यंग इण्डिया' पत्र में लिखते हुए, आँकड़े देकर, दीनबन्धु एन्ड्रयूज़ साहब ने यह दिखलाया था कि उस साल अँग्रेज़ी-सरकार ने वहाँ से पिछले सालों से भी अधिक रुपयों की तहसील-वसूल की थी ! दो सौ साल के क़रीब यहाँ 'राज्य' करने पर भी इस नौकरशाही-व्यवस्था में वही शोषण का भाव और वही हृदयहीनता मौजूद है। असिल में जिस 'अंग्रेज़ी लोकतन्त्र' का गुणगान करते ब्रिटेन के टोरी, 'उदार' और अन्य साम्राज्यवादी दलों के ही लोग नहीं, मजदूर दल के भी अनेक लोग, कभी नहीं थकते और इस समय तो थक ही नहीं सकते, उसकी पोल संसार भर के सामने पिछले महा युद्धों और इनके बीच के ज़माने में पूरी तरह खुल चुकी है। अंग्रेज़ जाति अब भी अपनी उन्नीसवीं सदी की प्रभुता के गर्व के मद में डूबी हुई है। पर अब बीसवीं सदी का भी आधा बीत जाने में सात साल से कम रह गये हैं और बीसवीं सदी के इन तैंतालीस वर्षों में बाक़ी दुनियाँ सोती नहीं रही है। अब यूरप और अमरीका ही नहीं, एशिया भी सब कुछ समझ-

बूझ रहा है ! इसलिए 'केन्द्रीय' सरकार और सूबे की 'सरकारें' एक दूसरे पर 'अदूरदर्शिता और कुप्रबन्ध का तथा 'लेने के देने न देने' और उचित सामञ्जस्य न रख सकने का दोष लगाने का खिलवाड़ छोड़ कर संसार के सामने अपने मानवी उत्तरदायित्व को समझें और उसे सँभाल सकें तो सँभालें; नहीं तो अब उनका 'परम सहायक' अमरीका ही उनके मनमाने शासन की बुराइयों का चारों ओर प्रचार कर उनसे यह 'बोझा' छोड़ देने को कहने लग गया है। हाल में ही प्रकाशित श्री ओवन लेटिमोर (जो राष्ट्रपति च्यांगकाई शेक के अमरीकी सलाहकार रह चुके हैं) तथा और और लोगों के बयान और Empire in Transition (बदलता हुआ साम्राज्य) और American Empire in Asia (एशिया में अमरीकी साम्राज्य) नामक नई पुस्तकें इसी के परिणाम हैं। हम फिर कहते हैं कि यह सभी जानने समझने योग्य हो गये हैं कि वस्तुतः दोषी साम्राज्यवादी अंगरेज़ी-सरकारी ही है।

नम्र निवेदन

पराधीन देशवालों के कुछ लोगों के कुछ काम प्रत्येक क्षेत्र में—साहित्य के क्षेत्र में भी—स्वाधीन देश वालों के लोगों के कामों से ऐसे दूसरे ढङ्ग के होते हैं कि जब-तब आश्चर्य और दुःख से अभिभूत हो जाना पड़ता है। एक ओर गांधीवाद को पूंजी-वाद, फासिस्टवाद, प्रो-नाज़ीवाद और प्रो-जापानी आदि साबित करने, हिन्दुस्तान में चीन की तरह चरखे चलाने और अपने बेकार आदमियों की ही शक्ति का उपयोग कर अन्य ऐसे आवश्यक कामों को प्रतिक्रियावादी या विज्ञान के विरोधी काम प्रमाणित कर देने और हिन्दुस्तानी भाषा को हिन्दी और उर्दू को बिगाड़ने वाली भाषा दिखला देने के 'हठ' प्रयत्न हैं, तो दूसरी ओर राजस्थानी, बुंदेल-खण्डी आदि आदि बोलियों को हिन्दी से स्वतन्त्र और विश्वविद्यालय में पढ़ाने योग्य दिखाने तथा राजस्थानी और बुंदेलखण्डी आदि 'जनपदों' को बना कर उनमें सोवियत् रूस के ढङ्ग से उन्हीं 'स्थानों' की मातृ-भाषाओं में 'साहित्य' की रचना कर उसके प्रचार करने की योजनायें हैं और तीसरी ओर हिन्दू संस्कृति को मुसलिम आदि के संसर्ग और प्रभाव से सर्वथा अलग-थलग—अछूती—और 'अपने ढङ्ग से रहने वाली' या 'स्वयं विकसित होने वाली' मानने और तुलसीदास तथा रामायण आदि के विरुद्ध कुछ भी स्वतन्त्र विचार प्रकट करने वालों को राम, कृष्ण और वेद आदि के विरुद्ध लिखने वालों से भी कहीं घृणित तथा 'ज़लील' कार्य करने का सार्टीफिकेट दे देने के 'अजीब व ग़रीब नज़ारे' हैं।

पं० गोरखनाथ चौबे एम० ए० का 'राष्ट्रीयता से लोकप्रियता' शीर्षक एक लेख 'विश्ववाणी' के पिछले अङ्क में प्रकाशित हुआ था। चौबे जी को यह आशा थी कि कोई न कोई लेखक उनके इस लेख पर अपने विचार अवश्य प्रकट करेगा। 'विश्ववाणी' में प्रकाशित अन्य कई विद्वान् लेखकों, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री भीष्म साहनी एम० ए०, पं० श्यामनारायण एम० ए० साहित्यरत्न, श्री प्रकाश-चन्द्र गुप्त एम० ए०, आदि के लेखों की कुछ बातों के बारे में लोगों ने यहाँ हमारे पास आकर चर्चायें तो कीं, पर किसी ने इनमें से किसी के बारे में कुछ भी लिख कर नहीं दिया—यद्यपि ऐसा करने को उनमें से कुछ लोग कह गये थे। परन्तु पिछले अङ्क में एक लेख पं० भगीरथप्रसाद दीक्षित ने गोस्वामी जी की विचार-धारा शीर्षक लिखा था, उसके सम्बन्ध में प्रतिष्ठित पत्रिका 'सरस्वती' में एक 'नोट' तुरन्त निकल गया। और यह ऐसी पत्रिका है जो आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के सम्पादन-काल और उसके बाद श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी के सम्पादन-काल में ही नहीं बल्कि इस समय भी 'स्वतन्त्र' विचारों से भयभीत नहीं होती, बल्कि उन्हें अपनाना चाहती है। यह हम इसलिए निस्सन्देह कह सकते हैं क्योंकि हमें 'सरस्वती' के दोनों सुयोग्य सम्पादकों के साथ काफ़ी रहने का सुअवसर मिल चुका है। श्रद्धेय पं० देवीदत्त जी शुक्ल से तो इन

पंक्तियों के लेखक का साधारण परिचय उसी समय हो गया था जब श्रद्धेय पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी 'सरस्वती' के प्रधान सम्पादक थे। यह लेखक बख्शी जी (अब छाया-सम्पादक) के छोटे भाई के साथ कालेज में था। वे भी उस समय कहानीलेखक थे और इस लेखक ने साहित्य-सेवा के क्षेत्र में यकदम महारथी बन जाने की इच्छा और अभिलाषा से बेचैन हो कर एफ० ए० में पढ़ते समय ही अपनी पहली-रचना— भारत रहस्य—का प्रकाशन स्वयं प्रारम्भ कर दिया था और यह 'निश्चय' किया था कि जब तक महात्मा गान्धी का यह 'धर्म युद्ध' चलता रहेगा और यह देश ठीक तरह से आज़ाद न हो जायगा तब तक जनता के सामने 'भारत-रहस्य' उपन्यास के अनेक भागों के रूप में उस युद्ध और सच्चे मानव जीवन के रहस्यों को रखता रहेगा। पर इस संसार में हम कैसे साधारण व्यक्तियों के जाने कितने 'निश्चय' तरह तरह से 'अनिश्चय' में बदल जाते हैं। अस्तु। शुक्ल जी से पिछले डेढ़ युग—अठारह साल से—और श्री उमेश जी से जब से वे 'सरस्वती'-सम्पादक हुए तभी से इस लेखक का इतना काफ़ी साथ रहा है कि वह ऐसा कहने का अपने को अधिकारी समझता है।

अभी 'सरस्वती' के जनवरी-फ़रवरी के अङ्कों में ही श्री अम्बिकाप्रसाद बाजपेयी के लेख गोस्वामी तुलसीदास जी की रामायण की ही कुछ बातों को इतिहासविरुद्ध प्रमाणित करने को निकले। उनके बारे में दो पत्र-पत्रिकाओं में यह प्रकाशित हुआ है कि उनसे 'आर्ष ग्रन्थों के प्रति अश्रद्धा फैलती है।' इन लेखों का 'सरस्वती' में प्रकाशित होना हमारी बात को पुष्ट करता है। फिर 'सरस्वती' के इसी सितम्बर वाले अङ्क में ही जाति-पाँति के ख़िलाफ़ श्री संतराम जी का एक लेख मौजूद है। श्री भगीरथप्रसाद दीक्षित ने भी इस जाति पाँति की व्यवस्था बनी रहने के लिए गोस्वामी जी ने जो विचार प्रकट किये हैं उन्हें ही तो देश के लिए हानिकारक बतलाया है। अपने इस विचार में वे अकेले नहीं हैं। अन्य कितने ही मान्य व्यक्ति भी ऐसे विचार प्रकट कर चुके हैं। फिर दीक्षित जी पर और इस लेख पर ऐसा नोट लिखना जिससे संकुचित, प्रतिक्रियावादी और साम्प्रदायिक भावनाओं को उभाड़ मिले 'सरस्वती'-सम्पादकों के 'कर्तव्यपालन' में कैसे आ सकता है और ऐसा करना उन्हें कैसे शोभा दे सकता है? विश्ववाणी के इसी अङ्क में ब्राह्मणों की 'प्रतिक्रान्ति' पर प्रसिद्ध विद्वान् डा० दत्त का एक लेख है। अगले अङ्क में ब्राह्मणवाद पर हमारे साथी 'विनोद' जी लिखना चाहते हैं। इन सब पर गम्भीरता से विचार करना पड़ेगा—कटु और साम्प्रदायिक भावों के साथ नहीं। अन्त में हम तो यही कहेंगे कि यह हमारी इस डेढ़ दो सौ साल की कठिन और भाँति भाँति से बहकाने वाली पराधीनता का ही एक विशेष कुफल है कि ऐसे उदार और स्वाधीन विचारों वाले लोगों के हाथों से भी ऐसा 'नोट' निकल गया।

अपनी बात

(१) 'विश्ववाणी' के सम्पादक-त्रय में इसके प्रधान सम्पादक भाई अख़्तरहुसैन कश्मीर-ग्लैशियर की यात्रा में हैं, नहीं तो 'लड़ाई का हाल' और सम्पादकीय विचार वे ही लिखते। पाठकगण यह जानते हो हैं कि उनका समाजवाद 'सच्चे राष्ट्रवाद' का विरोधी नहीं। महात्मा गान्धी के व्रत के समय मार्च १९४३ के अङ्क में उन्होंने जो लाइनें लिखी थीं कम से कम उन्हें ही उन लोगों को पढ़ जाना चाहिए जो यह अब भी नहीं समझ पाते, और व्यर्थ ही 'विश्ववाणी' की नीति के बारे में तरह तरह की बातें फैलाते हैं। उन्होंने स्पष्टतः लिखा था—'भारत ने अपने इतिहास में दो महात्मा पैदा किये हैं—गौतम बुद्ध और गांधी···'और श्री जमनादास द्वारकादास ने अभी गान्धी जयन्ती पर गान्धी जी को सब से बड़ा 'समाजवादी' कहा है। 'समाजवाद' समझने की चीज़ है,—चिढ़ने की नहीं।(२) भाई विनोद जी स्वस्थ होकर, अगले मास में हमारा साथ दे सकेंगे और जो लेख उन्हें लिखना है उसके लिए तो कभी से काफ़ी से अधिक मसाला इकट्ठा कर चुके हैं। (३) जनवरी के अङ्क में हम कुछ विशेषतायें रखना चाहते हैं। (४) यह अङ्क गांधी-जयंती सप्ताह के कुछ बाद निकल रहा है।

—विजय वर्मा

मुद्रक और प्रकाशक—विश्वम्भरनाथ, विश्ववाणी प्रेस, साउथ मलाका, इलाहाबाद

संरक्षक
पण्डित सुन्दरलाल (जेल में)

सम्पादक
विश्वम्भरनाथ (जेल में)
अख़्तर हुसैन रायपुरी

न व म्ब र १ ९ ४ ३

इस अंक के कुछ लेख

इनके अतिरिक्त जैनेन्द्रकुमार का धारावाहिक उपन्यास, कहानी और कुछ कविताएं

वार्षिक मूल्य ६) 'विश्ववाणी' कार्यालय, इलाहाबाद एक अङ्क का ॥=

विषय-सूची

नवम्बर १६४२

जो सज्जन 'विश्ववाणी' के नये ग्राहक बनें वे अपने पत्र में 'नया ग्राहक' लिखने की कृपा करें। हमारे पुराने ग्राहक, पत्र व्यवहार करते समय अपने पत्र में अपना ग्राहक नम्बर और 'पुराना ग्राहक' लिखने की कृपा करें।

जो सज्जन अपने पत्र का उत्तर चाहते हों वे कृपया जवाबी कार्ड भेजने की कृपा करें।

—मैनेजर

युक्तप्रान्त, पंजाब, बम्बई, मद्रास, मध्यप्रान्त और बरार, होलकर राज्य, मेवाड़, जोधपुर, मैसूर और काश्मीर के शिक्षा विभागों द्वारा स्कूल और कालेज लाइब्रेरियों के लिए स्वीकृत

वर्ष ३, भाग ६ | नवम्बर, १९४३ | अङ्क ५, पूरे अङ्क ३४

यहूदी जनता का धर्म

पंडित सुन्दरलाल

लाखों बल्कि करोड़ों 'यहूदी जन साधारण के सीधे सादे विश्वास, उनके पूजा पाठ आचार-विचार और कर्मकाण्ड पर इन सब लहरों का प्रभाव अत्यन्त परिमित रहा। एक ओर शुरू से आखिर तक के चारों ओर के हालात और आत्मरक्षा की ज़रूरत ने उन्हें संकीर्ण और स्थितिपालक होने के लिए मजबूर किया, और दूसरी ओर मिस्रियों, सुमेरियों, ईरानियों या यूनानियों के समान उनकी कोई अपनी उन्नतर संस्कृति न होने के कारण वे साधारण रूढ़ि-पूजा से अधिक ऊपर न उठ सके। यहूदी क़ौम अधिक विशाल सुमेरी क़ौम की एक टूटी हुई शाख़ थी। इसी तरह वह जिई और इसी तरह उसका अन्त हुआ। यहूदी जन सामान्य की उपासना की विधि और उनकी कुछ मुख्य मुख्य रूढ़ियों के बारे में यहाँ लिखा जाता है।

अबराहाम ने उस समय के बाबुल की हालत को देख कर बड़े बड़े मन्दिरों और धनाढ्य पुरोहितों का विरोध किया था। किन्तु आम लोगों को अपने दिल की तसल्ली के लिए अपनी पूजा-विधि में किसी न किसी तरह के रूप रंग, किसी न किसी स्थूल वस्तु की ज़रूरत होती ही है। इसी बात को देख कर अबराहाम ने भी किसी न किसी तरह के सीधे सादे मन्दिर की ज़रूरत महसूस की और जगह जगह इस तरह के मन्दिर याहवे के नाम पर क़ायम किये।

अबराहाम के पोते याक़ूब ने जलावतनी के दिनों में अपनी जन्मभूमि से दूर जब इस बात को महसूस किया कि ख़ुदा सब जगह एक है तो जिस तरह फ़ीनीशिया के लोग और आसपास की अन्य क़ौमें किया करती थीं उसी तरह याक़ूब ने याहवे के नाम पर एक पत्थर खड़ा करके उस पर तेल चढ़ाया और जगह को 'बैथ-एल' अल्लाह का घर, अरबी-बैत इलाह,' वैदिक संस्कृत—'वस्थं इला' नाम दिया। हज़ारों साल तक यह मन्दिर इसी नाम से मशहूर रहा।

जब तक यहूदी ख़ानाबदोश रहे उनके ज़्यादातर मन्दिर ख़ेमों की शक्ल में होते थे। जब वे स्थायी बस्तियों में आबाद हो गये उनके मन्दिर भी पक्के और बड़े बड़े बनने लगे। धीरे धीरे जब सुलेमान ने यरूसलम के मन्दिर को तामीर कराया तो छोटे छोटे स्थानीय मन्दिरों का महत्व घटता गया और यरूसलम के मन्दिर का बढ़ता गया। राष्ट्रीय एकता को बनाये

रखने और उसे मज़बूत करने की ग़रज़ से ज़्यादातर यहूदी नेताओं और नबियों ने इस प्रवृत्ति मेंमदद दी।

अबराहाम और मूसा दोनों ने प्रतिमा पूजा का निषेध किया था। किन्तु यहूदी मन्दिर में न केवल याहवे की प्रतिमा बल्कि जगह जगह आस पास के और देवी देवताओं की प्रतिमाएं भी रक्खी जाने लगीं। इन दूसरे देवताओं को याहवे से छोटा समझा जाता था, किन्तु उनकी पूजा से निषेध जगह जगह हटा लिया जाता था और याहवे की पूजा के साथ साथ उनकी पूजा होती रहती थी।

अलग अलग युगों में यहूदियों के धार्मिक विचारों पर नज़र डालने और आसपास के देशों के विचारों से उनकी तुलना करने पर दोनों में काफ़ी समानता और सम्बन्ध दिखाई देते हैं। ज़रथुस्त्र से पहले ईरान में अनेक देवताओं की पूजा का रिवाज था। ज़रथुस्त्र ने उस विचार का खण्डन करके एक अहुरमज़्द की उपासना का आदेश दिया। अनेक प्राचीन देवताओं को ज़रथुस्त्र ने केवल अहुरमज़्द के अलग अलग गुणों या शक्तियों का सूचक बताया। अहुरमज़्द के विरुद्ध हर मनुष्य को बहकाने वाली पाप की प्रवृत्ति का भी उसने ज़िक्र किया, किन्तु उसके किसी पृथक व्यक्तित्व को नहीं माना।

ज़रथुस्त्र के कुछ सदियों बाद ईरानियों के विचारों में फिर से अवनति शुरू हुई। शायद साधारण मनुष्य अधिक दिनों तक केवल शुष्क सदाचार के नियमों और निराकार के पूजा के सहारे नहीं जी सकता। उन्हें किसी न किसी तरह के कर्मकाण्ड और स्थूल पूजा की आवश्यकता होती ही है। यह भी मुमकिन है कि ईरानियों को अपने विशाल साम्राज्य के अन्दर जगह जगह जिन रंग-बिरंगे देवी-देवताओं और उनकी तरह तरह की पूजा विधियों से वास्ता पड़ा उन्होंने ईरानियों के दिलों में भी अपना असर डाला। यह भी ज़ाहिर है कि कोई इतना बड़ा साम्राज्य या कोई मनुष्य समूह अनन्तकाल तक एक समान सजीव, सक्रिय, जागरूक और दूसरों के लिए उपयोगी नहीं रह सकता।

ज़रथुस्त्र ने जिन 'अमेशास्पंता' (अमर गुणों) को अहुरमज़्द के केवल गुण विशेष कह कर बयान किया था वे ईरान में अलग अलग देवता मान लिये गये। विश्व के अन्दर या मनुष्य के अन्दर भलाई और बुराई की दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के स्थान पर अनेक देवता (असुर) और उनके विरुद्ध अनेक दैत्य (देव) गढ़ लिए गये। इस तरह यूनान में अहुरमज़्द को सहायता देने वाले अनेक फ़रिश्तों उनके काम में बाधा डालने वाले अनेक शैतानों की कल्पना ने जन्म लिया। अनेक प्राचीन वैदिक देवी देवताओं की पूजा भी फिर से होने लगी और कुछ नये देवता दूसरे देशों से आकर ईरान में पुजने लगे। नये नये कर्म काण्ड फिर से चल पड़े। पुरोहितों का ज़ोर और उनका संगठन बढ़ा। यज्ञों और बलियों को फिर से महत्त्व दिया जाने लगा। कर्मकाण्ड ने सदाचार की जगह ली। शरीर की पवित्रता और छुआछूत ने हृदय की शुद्धता का स्थान लिया और एक सार्वभौम मानव धर्म बनते बनते ज़रथुस्त्री मत एक देश विशेष का सम्प्रदाय बनकर रह गया। इन सब अनुन्नत विचारों और अन्धरूढ़ियों का किसी न किसी रूप में फ़लस्तीन के अन्दर फैलना भी लाज़िमी था।

बाबुल के निर्वासन से यहूदियों के लौटने के पहले उनके धर्म में फ़रिश्तों और शैतानों का कोई ज़िक्र नहीं मिलता। किन्तु उसके बाद से एक 'याहवे' और मनुष्यों के बीच में अनेक फ़रिश्ते और शैतान माने जाने लगे। फ़रिश्तों को शुरू में यहूदी 'बेनी-इलोहिम' यानी ईश्वर के पुत्र कहते थे। शैतान को वे शुरू में ईश्वर का एक आज्ञाकारी फ़रिश्ता मानते थे, जिसका ख़ास काम मनुष्य के हृदय की बुराइयों का पता लगाकर उन्हें इस तरह के प्रलोभन देना था, जिनसे छिपी हुई बुराई प्रगट हो सके और फिर उसके उन्मूलन के उपाय हो सकें। धीरे धीरे इससे बदल कर ईरानी 'अंग्रमैन्यु' की तरह शैतान भी ईश्वर का बाग़ी और बहकाने वाला रह गया। इसके बाद एक शैतान से अनेक शैतान हो गये। फ़रिश्तों औ शैतानों के जितने नाम यहूदियों में प्रचलित थे

वे सब उन्होंने ईरानियों और बाबुलियों से लिये। मसलन ईरान का "ऐश्मदैव" इबरानी में 'अशमे दइव' हो गया। ईसाइयों और मुसलमानों में आज तक जितने नाम अलग अलग फ़रिश्तों और शैतानों के प्रचलित हैं, वे सब इन्हीं यहूदी नामों से लिये गये हैं और या तो ईरानी और बाबुली नामों से बिगड़ कर बने हैं या उनका अनुवाद हैं।

देवी, देवताओं, फ़रिश्तों और शैतानों की इस रेल-पेल में केवल एक याहवे की पूजा होना नामुमकिन था। यहूदी धर्म-ग्रन्थों तक में याहवे को "दूसरे सब देवताओं से महान"* कहा जाने लगा। इन फ़रिश्तों और शैतानों को अनेक गन्दी गन्दी रस्मों द्वारा प्रसन्न रखने की कोशिशें की जाने लगीं। इनके विषय में अनेक पौराणिक कथायें प्रचलित हो गईं जो इराकी और इरानी कथाओं की नकलें थीं। मिकाइल को जब से यहूदी अपने क़ौम का ख़ास संरक्षक (फ़रिश्ता) मानने लगे, सृष्टि को आदि में उसी तरह शैतान से युद्ध करना पड़ा था जिस तरह इराक़ में ज्योति के देवता 'मरदुक' को और ईरान में अहुरमज़्द को अन्धकार और अन्याय की शक्तियों के विरुद्ध लड़ना पड़ा था।

इसी तरह प्राचीन मिश्र में एक सुनहरे बछड़े की पूजा का रिवाज था। मूसा के पुत्र आरान ने मिश्र से लौट कर यहूदियों में इस सुनहरे बछड़े की पूजा का प्रचार किया और उसे याहवे ही का एक रूप मान कर सदियों उसकी पूजा होती रही। बाबुल में 'बाल' के नाम से उदय होते हुए सूर्य की पूजा होती थी। उसकी अनेक प्रतिमाएं थीं। यहूदियों में भी सदियों बाल की पूजा हुई। अबराहाम के जन्म स्थान उर नगर का ख़ास देवता चन्द्रमा था। यहूदियों में भी चाँद की पूजा ख़ूब होती रही। हर यहूदी महीना शुक्ल पक्ष की दूज से शुरू होता है। आज तक यहूदी दूज को त्योहार की तरह मानते हैं। चाँद को ईश्वर का एक 'शकीना' चिन्ह या साक्षात् रूप मानते हैं और आज तक पूर्णिमा से पहले एक दिन नियुक्त करके चाँद को नमस्कार करते हैं। और बहुत से विदेशी देवताओं और नक्षत्रों की पूजा का भी रिवाज था और अनेक यहूदी पुरोहित तक ख़ुशी से उसमें हिस्सा लेते थे।

*PS L x x x VI, 6·

मन्दिरों की पूजा विधि का तौरेत में पूरा पूरा हाल मिलता है। हर मन्दिर के अन्दर लकड़ी का एक चौखटा सन्दूक़ होता था। यरुसलम के मन्दिर में इस सन्दूक़ के अन्दर पत्थर की वे दो सिलें रखी थीं, जिन पर मूसा ने अपने धर्म की दस आज्ञाएं लिख रखी थीं या जो अल्लाह ने लिखी लिखाई मूसा को दी थीं। छोटे मन्दिरों की सन्दूक़ों में इसकी नक़लें रहती थीं। इस सन्दूक़ को यहूदी अपने मन्दिर की सबसे पाक चीज़ मानते थे। ठीक इसी तरह के सन्दूक़ प्राचीन मिश्रियों के मन्दिरों में होते थे, और जिस तरह मिश्री उन्हें कभी कभी जुलूस में निकालते थे उसी तरह यहूदी निकालते थे। तौरेत में मिश्रियों और उनके रिवाजों का बार बार ज़िक्र आता है।

यहूदी मन्दिरों का मुंह सदा पूरब की ओर होता था। पूजा करने वाले अपना मुंह सदा यरुसलम के प्रधान मन्दिर की ओर रखते थे और उस मन्दिर को तमाम यहूदी अपना 'क़िबला' कहते थे। लोग जूते बाहर उतार कर नंगे पैर मन्दिर में जाते थे। सिर पर टोपी या साफ़ा का होना ज़रूरी था। आज तक यूरोप के अन्दर भी यहूदी मन्दिरों में चमड़े के जूते नहीं जा सकते और सिर पर टोपी या हैट होना ज़रूरी है। मन्दिर के सब से भीतर के हिस्से में सिवाय पुरोहित के और कोई नहीं जा सकता। हर मन्दिर में एक सुनहली शमई या बत्तीदान होता था, जिसमें सात दिये या बत्तियां जलती रहती थीं। यह ख़याल रखा जाता था कि कम से कम एक न एक बत्ती चौबीस घन्टे बराबर जलती रहे। एक छोटी-सी वेदी पर धूप जलती रहती थी। सामने एक चौकी पर जिस पर सोना मढ़ा रहता था चढ़ावा यानी खाने का सामान होता था। बाहर एक बर्तन में पानी होता था और हर मनुष्य भीतर जाने से पहले अपने हाथ पैर धो लेता था। एक तरफ़ हवन की वेदी होती थी, जिसके

पास हवन करने की थालियाँ और तरह तरह के बर्तन रखे होते थे। वेदी अन्दर से लकड़ी की होती थी। उसके ऊपर पीतल मढ़ा होता था।

हर ख़ास मौके पर मन्दिर के अन्दर यहूदी धर्म-ग्रन्थों का पाठ होता था। ये ग्रन्थ मन्दिर ही में अहतिआत से रखे रहते थे। जिस तरह हिन्दुओं में वेद पाठ के अनेक ढङ्ग हैं और मुसलमानों में क़ुरान की क़िरअत के अनेक तरीक़े, उसी तरह यहूदियों में तौरेत बड़ी लय के साथ सोलह विविध तरीक़ों से पढ़ी जाती थी।

थोड़े ही दिनों में तौरेत की इबरानी ज़बान और यहूदी बोल चाल की अरामी ज़बान में वैसा ही अन्तर पड़ गया, जैसा संस्कृत और प्राकृत में या संस्कृत और हिन्दी में। तौरेत के एक एक पद को लोगों को समझाने के लिए अनुवाद करना पड़ता था किन्तु धर्म-ग्रन्थ की ज़बान देव बानी इबरानी ही रही। इस बात में ज़्यादातर यहूदी जन सामान्य इतने संकीर्ण थे कि जिस समय सिकन्दरिया में उन यहूदियों के लाभ के लिए जो इबरानी भूल गये थे, और यूनानी अच्छी तरह जानते थे, तौरेत का यूनानी में तर्जुमा किया गया तो यरुसलम में बहुत बड़ा शोक मनाया गया। ये लोग 'सुअर पालने वाले' को और उस आदमी को जो 'अपने बेटे को यूनानी विद्यायें सिखाता है' दोनों को एक समान याहवे के श्राप का पात्र बताते थे। सिवाय अपने धर्म ग्रन्थों के और किसी चीज़ को पढ़ना भी वे पाप समझते थे।

यहूदियों में अनेक त्योहार मनाए जाते थे। ये त्योहार थोड़े बहुत उलटफेर के साथ आज तक मनाये जाते हैं। ईरानी शासन के शुरू में जब हज़ारों निर्वासित यहूदी बाबुल से लौटे, तो इन त्योहारों की संख्या बढ़ी। उनके मनाने के ढंग में भी बाबुली या ईरानी तरीक़ों पर अनेक परिवर्तन हुए। कोई कोई त्योहार कई-कई दिन तक मनाये जाते थे। उनमें तीन मुख्य ये थे—

बसन्त ऋतु में 'पासोवर' था, या ईस्टर का त्योहार जो आज तक यहूदियों और ईसाइयों, दोनों, का ख़ास त्योहार है। यह त्योहार मूसा के साथ यहूदियों के मिश्र से लौटने की यादगार बताया जाता है। किन्तु उसका ख़ास सम्बन्ध ऋतु से था। गेहूं की नई बालें ठीक उसी समय तैयार होती थीं। पुरोहित नई बालों को लेकर याहवे के सामने हिलाता था। हिन्दुओं की होली के समान हवन में उन बालों की आहुति दी जाती थी। कई दिन तक छुट्टी और ख़ुशी मनाई जाती थी। बिना ख़मीर का भोजन खाया जाता था। एक ख़ास तरह के भजन गाये जाते थे, जिन्हें हल्लेल कहते थे। हवन के अन्दर पशुओं की बलि चढ़ाये जाने का ऊपर ज़िक्र आ चुका है। हर त्योहार पर ख़ास तौर पर बलि होती थी। पासोवर के त्योहार में शराब पिये जाने का भी ज़िक्र मिलता है। आज तक यहूदियों की समरितन सम्प्रदाय के लोग ठीक उसी तरह इस त्योहार को मनाते हैं और पशुओं की बलि भी चढ़ाते हैं। प्राचीन बाबुल में भी यह त्योहार क़रीब क़रीब इसी तरीक़े पर मनाया जाता था।

सात सप्ताह बाद जब गेहूँ और जौ की फ़सल कटकर आती थी 'पेन्टे कोस्ट' का त्योहार मनाया जाता था। कहा जाता है कि उस दिन ईश्वर ने मूसा को दस आज्ञाएँ वाली शिलाएँ प्रदान की थीं। इसमें नये गेहूँ की ख़मीरी रोटी याहवे के सामने चढ़ाई जाती थी।

शरद ऋतु में सात दिन तक लोग घरों से निकल कर ख़ेमों में रहते थे। इसे 'टैबरनेकल' की दावत कहते थे। इस त्योहार में सबसे ज़्यादा पशुओं की और विशेषकर बैलों की बलि चढ़ाई जाती थी।

दाऊद जैसे पैग़म्बर ने भी महामारी शान्त हो जाने की ख़ुशी में आग के अन्दर पशुओं की बलि चढ़ाई। यहूदी धर्म-ग्रन्थों में आज तक बड़े विस्तार के साथ नियम दिये हुए हैं कि जानवर को कौन वध करे, किस तरह बलि चढ़ाई जावे और कौन किन किन तरीक़ों पर अलग अलग रस्मों को अदा करे।

बाद के दिनों में ऊपर के तीनों त्योहारों पर घर के सब मर्द यरुशलम के मन्दिर की यात्रा करते थे, जिसे यहूदी 'हज' कहते थे।

सन् १६५ ईसा पूर्व से जब कि यहूदी देशभक्त यूदा ने यरुसलाम के मन्दिर को यूनानियों के हाथों से आज़ाद किया, उस विजय की ख़ुशी में यहूदियों में एक नया त्योहार जारी हो गया, जिसे 'दियों का त्योहार' कहा जाता है। दिसम्बर के महीने में आठ दिन हर रोज़ रात को घरों में, गलियों में और बाज़ारों में ख़ूब दिये जलाये जाते हैं, दावतें होती हैं और ख़ुशियाँ मनाई जाती हैं।

जब यहूदियों का नया वर्ष शुरू होता था, तो शुक्ल पक्ष की दूज को वे नौरोज़ मनाते थे और उस दिन दिनभर तुरही बजाते थे। ख़ास ख़ास त्योहारों पर ये लोग कभी कभी दिन भर और कभी ज़्यादा उपवास रखते थे। आज तक बहुत से यहूदी हर सोमवार और बृहस्पतिवार को उपवास रखते हैं। अनेक तीस दिन के लिये शराब, अंगूर इत्यादि कई चीज़ों के न खाने, बाल न बनवाने और मन्दिर में रहकर लगातार भजन करने का व्रत ले लेते थे।

नौरोज़ के दस दिन बाद एक दिन सबके साल भर के पापों के प्रायश्चित का दिन मनाया जाता था। दिन भर सब उपवास रहते थे, अपने शरीर को कष्ट देते थे और शाम को दो बकरे लेकर एक याहवे के नाम पर बलि चढ़ा देते थे और दूसरा सबके पापों का बोझ उसके सिर पर रखकर शैतान या अज़ाज़ील के नाम पर जंगल में छोड़ आते थे। इस दिन को यहूदी आज तक 'योम किप्पर' (अरबी, योम कफ़्फ़ारह) कहते हैं। अज़ाज़ील और शैतान दोनों ईरान में दैत्य सरदारों के नाम थे।

ज्योति-शिखा

श्री कृष्णदास एम० ए०

दीपक जले जला ही जाए।

आवें कठिन वायु के झोंके,
आवें वे चंचल तम होके;
पर दीपक की ज्योति-शिखा को
कोई बुझा न पाए;—दीपक जले जला ही जाए।
जब तक रहे दिया में बत्ती,
जब तक तेल एक भी रत्ती,
घोर तमिस्रा की छाती पर,
यह प्रकाश घहराए;—दीपक जले जला ही जाए।
मानव अपनी संस्कृति भूला,
निज गति भूला, निज मति भूला,
गति-मति-हीन मनुजता को,
यह मुक्ति-मार्ग बतलाए;—दीपक जले जला ही जाए।
अपना जीवन आप मिटा कर,
अपनी किरणों को बिखरा कर,
घर-घर में प्रकाश की रेखा
यह दीपक विकसाए;—दीपक जले जला ही जाए।

भारतीय राष्ट्रीयता के मौलिक तत्व

सर सर्वपल्लि राधाकृष्णन्

सरसरी तौर पर देखने वाला कोई भी विदेशी यात्री यह समझेगा कि हिन्दुस्तानियों को इस समय किसी चीज़ से इतनी दिलचस्पी नहीं जितनी राजनीति से। जो अधिक गम्भीर विषय युगों से हमारा ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते आये हैं उन्हें हम इस समय लगभग भूल चुके हैं। लोगों में यह आम धारणा दिखाई देती है कि दीर्घ पुरातन काल में हम जीवन को जिस सांस्कृतिक दृष्टि से देखते थे वास्तव में वह वैसा नहीं है बल्कि कहीं अधिक कठोर और निर्दय है। मैं इससे इनकार नहीं करता कि राजनीति के प्रति इस दिलचस्पी के लिये काफ़ी वजह है। मात्र शारीरिक आवश्यकताओं के लिये संघर्ष पर जो ज़ोर इस समय दिया जा रहा है, वह इससे पहले भारत में कभी नहीं दिया गया था। बर्नर्ड शा कहते हैं कि ग़ुलामी से मुल्क की वही कैफ़ियत हो जाती है जो किसी मनुष्य की एक भयानक फोड़े से हो जाय। ग़ुलामी मनुष्य को दूसरी बात सोचने ही नहीं देती। वह हर नीमहकीम को अपनी नब्ज़ दिखाने के लिए तैयार रहता है। पश्चिम से जो हमें शिक्षा मिली है वही इस राजनैतिक उथल-पुथल के लिये ज़िम्मेवार है। इस शिक्षा ने हमारे अन्दर एक सामाजिक धड़ाके का सा काम किया है। उसने हमारी शक्ति पर मानो एक चिनगारी रख दी है। यूनान के प्राचीन नगर और गणतन्त्रों की राजनैतिक विचारधारा ने हमें स्वाधीन नागरिकता और न्याय्य सामाजिक व्यवस्था की शिक्षा दी है। हमने यह सीखा है कि ऐसी हर सरकार जो शासितों की इच्छा के बिना शासन करती है, ग़ुलामी का ही दूसरा नाम है। ठीक ठीक शासन चलाना राज का उतना लक्ष्य नहीं जितना लोगों को शिक्षित करना। राज का उद्देश्य स्वशासन या जन-शासन के लिये लोगों को शिक्षा और अवसर देना होना चाहिये। यदि उनका इस्तेमाल न हो तो मांस पेशियाँ भी गल जाती हैं। यदि फैलाये न जाँय तो स्नायुतन्तु सख़्त हो जाते हैं। नए विचारों की नई झांकी पाकर मानव के हृदय में उत्सुकता और बेचैनी जाग उठती है। यह हर रुकावट पर दाँत काटने लगता है। भारत की इस विद्रोह-भावना को देखकर अंगरेज़ों का हृदय गर्व से भर जाना चाहिये। वह उनके लिये ख़ुश होने और प्रशंसा की वस्तु है, निन्दा की नहीं। मालूम होता है हमने पश्चिम से एक बात और सीखी है और वह यह कि सफलता मिल जाय तो सब साधन जायज़ हैं और अपने देश का फ़ायदा होता हो तो नैतिक कमियाँ भी माफ़ हो सकती हैं। राजनैतिक सदाचार का यह दृष्टिकोण एक बिलकुल अलग चीज़ है और हमारे यहाँ की यह मर्यादा कि हिंसा या अन्याय एक ऐसा पाप है जिसके लिये किसी को क्षमा नहीं

किया जा सकता, बिलकुल एक दूसरी चीज़ है। ये दोनों एक दूसरे से परस्पर असंगत हैं। हमारी असली राष्ट्रीयता का यह मतलब है कि हम अपनी आत्मा को क़ायम रखने के लिये, अपनी आन को बनाये रखने के लिए और अपनी अखंडता के लिये अपनी शक्ति भर हर तरह से कोशिश करें और दुनिया की समस्याओं को हल करने में अपने ख़ास ढङ्ग को क़ायम रखें। हम अपने आपे को क़ायम रखने के लिये आज़ादी चाहते हैं ताकि संसार की भावी उन्नति में हम अपना अलग और ख़ास हिस्सा ले सकें। अगर हम अपना व्यक्तित्व खो बैठे तो हमारे लिये यह सब कर सकना असम्भव होगा। हमें अपनी आत्मा को अंगरेज़ी आत्मा या रूमी आत्मा बनाने की कोशिश नहीं करनी चाहिये, बल्कि हमें इन देशों से भी वे सब चीज़ें ले लेनी चाहियें जो हमारी अपनी आत्मा के उत्तरोत्तर विकास में मदद दें। हम केवल उसी चीज़ से फ़ायदा उठा सकते हैं जिसे हम अपने रंग में रँग कर अपने व्यक्तित्व का अंश बना सकें।

लेकिन सच यह है कि हम सवाल के ऊपर बहुत लोग बहुत ढीले ढाले तरीके से सोचते हैं। हमारे बहुत से नेताओं के दिमाग़ों में भी अंगरेज़ी हुकूमत का विरोध और अंगरेज़ी संस्थाओं से प्रेम ये दोनों चीज़ें एक बड़े अजीब तरीके से मिली हुई हैं। उन्हें अपने देश को पश्चिमी सांचे में ढालने की ख़्वाहिश ज़्यादा मालूम होती है। वे इसे एक दूसरा यूरोप बना देना चाहते हैं। जब कभी वे पश्चिमी संस्थाओं की टीका टिप्पणी भी करते हैं तो उसमें भी कार्लमार्क्स और टाल्सटाय, रोमाँ रोलाँ और बरट्रेण्ड रसल जैसे पश्चिमीय विचारकों के विचारों की ही ध्वनि आती है। हम कभी कभी तो बड़े ज़ोरों के साथ पश्चिम का दम भरने लगते हैं और कभी कभी उतने ही ज़ोरों के साथ हिन्दुस्तानियत का। हमारी तबीयतें बदलती रहती हैं। हम एक परिवर्तन के युग में पैदा हुये हैं और उसी में रह रहे हैं। हमारे दिलों पर भविष्य के लिये अनिश्चितताओं का बोझ है। हमारे दिमाग़ों में गड़बड़ और अव्यवस्था है। जो संग्राम चुपचाप मनुष्यों की आत्माओं के अन्दर होते रहते हैं, वे उन दिखावटी संग्रामों के मुक़ाबले में जो राजनैतिक रंगभूमि पर होते रहते हैं, ज़्यादा महत्व के होते हैं। हमारे विश्वविद्यालयों का काम यह होना चाहिये था कि वे इन बुनियादी समस्याओं पर, इन मौलिक चीज़ों पर लोगों के विचारों को ठीक और संगठित करते। लेकिन दुर्भाग्यवश हमारे देश के विश्वविद्यालय उदासीनता और अकर्मण्यता के रोग में फंसे हैं।

सामाजिक और सांस्कृतिक मामलों में हालत इससे बहुत ज़्यादा अच्छी नहीं है। मालूम होता है कि हम परस्पर विरोधी हालतों के बीच में झूलते रहते हैं। कभी हम गर्व से भर जाते हैं और कभी अपने को तुच्छ समझने लगते हैं। हम बराबर अपने कन्धों के ऊपर से मुड़ मुड़ कर यह देखते रहते हैं कि दूसरे क्या कर रहे हैं। हमारी हालत दयनीय है। हमें यह चिन्ता सताती रहती है कि दूसरे हमें देखकर हंसने न लगें। एक तरफ़ तो हम अपने राष्ट्रीय शरीर के नासूरों पर शरमाते रहते हैं और दूसरी तरफ़ हमें यह सूझ ही नहीं पाता कि इन नासूरों को कैसे दूर किया जावे। वह सनातन मर्यादा जो हमारी रक्षा कर सकती थी चीथड़े चीथड़े हो चुकी है। उसमें सैकड़ों पैबन्द लगे हुये हैं। वह क्रान्तिकारी जो चारों तरफ़ की ठोस परिस्थिति को नज़रअन्दाज़ करके केवल बुद्धि से अपना रास्ता तय करना चाहता हो हमारे सारे भूतकाल को एक क़लम मिटा देना चाहता है। प्राचीनता का पुजारी भी उसी दरजे तक सच्चे इतिहास और जीवित घटनाओं को नज़रअन्दाज़ करके वर्तमान काल को साफ़ मिटा देना चाहता है। हमारी अन्दर की एकता टुकड़े टुकड़े हो रही है। हमारी सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक शक्तियों की एकाग्रता टूट गई है। और विश्वविद्यालय की उस तालीम से हमें क्या फ़ायदा जो हमारी उस एकता और एकाग्रता को फिर से क़ायम न कर सके, नये और पुराने का सामंजस्य न करा सके?

पुराने ज़माने के बढ़बढ़ कर राग गाना आसान है। लेकिन अगर हम उन विचारों के सनातन जाल में सन्तुष्ट पड़े रहें जो निर्जीव रूढ़ियाँ बनकर रह गये हैं, तो ये हमारे पतन की एक असन्दिग्ध पहचान होगी। जीवन के बहाव में भूतकाल वर्तमान नहीं है और न हो सकता है। उन्नति की पहचान ही नवीनता और साहस है। पतन की पहचान नक़लची होना और रूढ़ियों को चिपटे रहना है। पुराने ज़माने के लोगों की बुद्धि चाहे कितनी भी पूर्ण रही हो जिन नाम रूपों और रूढ़ियों के अन्दर इस बुद्धि ने अपने को प्रकट किया वे नाम रूप और रूढ़ियां अन्तिम नहीं हो सकती। इन नाम रूपों और रूढ़ियों को तोड़कर नये सिरे से गढ़ने की ज़रूरत है। हमें अपने जीवन की आत्मा को, उसकी आन्तरिक भावना को फिर से जगाना चाहिये और उसे नये उद्देश्यों को पूरा करने में लगाना चाहिये। किसी भी क़ौम की आत्मा का पता इससे नहीं चलता कि वह क़ौम पुराने ज़माने में क्या थी और न इससे चलता है कि वह इस समय क्या है। जब हम किसी भी क़ौम के इतिहास को ध्यान से पढ़ते हैं तो हमें कोई न कोई चीज़ गहरी और बुनियादी उस इतिहास में मिलती है। वही चीज़ है जो सदा नई नई शक्लें, नये नये नाम रूप धारण करती रहती है, यद्यपि वह आत्मा किसी नाम रूप में भी अपने पूर्ण विकास को प्राप्त नहीं होती, अपने को पूरी तरह प्रकट नहीं कर पाती। क़ौम की आत्मा को केवल इस निरन्तर बढ़ते हुये आदर्श के शब्दों में ही बयान किया जा सकता है। यही क़ौम के दिलों और दिमाग़ों में काम करने वाला वह अमल उसूल, वह तत्व है जो उस क़ौम की किसी भी समय की अवस्था विशेष में बहुत अधूरा समझा जा सकता है। लेकिन अगर हम उस क़ौम के मुख़्तलिफ़ ज़मानों की हालतों का तरतीबवार एक दूसरे के बाद रखकर अध्ययन करें तो उस तत्व को साफ़ साफ़ देख सकते हैं। जीवन का रहस्य उत्तरोत्तर उन्नति और परिवर्तन में है। भारत में ख़ास ज़ोर इसी बात पर दिया गया है कि मनुष्य और विश्व, पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनों के अन्दर जो एक आत्मा काम कर रही है वही जीवन है, वही सत्य है और हमें जहाँ कहीं भी मिल सके वहीं सत्य की खोज करनी चाहिये। भारत ने अपने हाथ हमेशा इसी जीवन को बढ़ाने, उन्नत करने, और विकसित करने की तरफ़ बढ़ाये हैं। अनावश्यक नाम रूपों और रूढ़ियों के जिस गोरखधन्धे ने हमें जकड़ रखा है वह तभी टूट सकता है जब हम अपनी सच्ची आत्मा को फिर से साक्षात कर लें। जितना कूड़ा कर्कट सदियों में हमारे पास जमा हो गया है और पीढ़ी दरपीढ़ी चला आ रहा है उसे जला डालना होगा। केवल उसे जलाकर ही हम अपनी स्थायी और अटल सम्पत्ति को क़ायम रख सकते हैं। इन्हीं मौलिक तत्वों की बिना पर हम राष्ट्रीयता को वास्तविक भारतीय रूप दे सकते हैं।*

---

* एक भाषण—सम्पादक
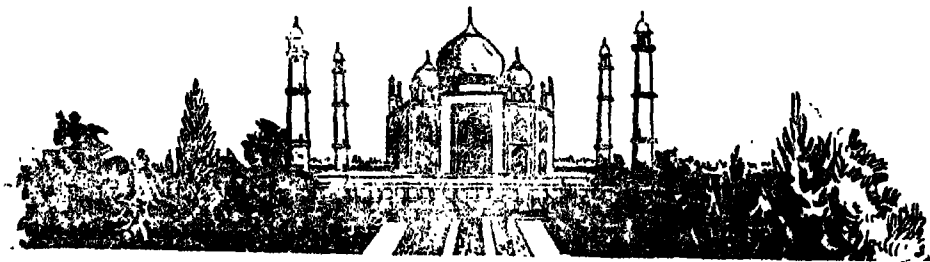
बैल और किसान

श्री मन्नूलाल शर्मा "शील"

तक तक तक तक बैल !

हुई ठीक दुपहर है प्यारे,
मृगमरीचिका चली किनारे,
खेत पड़ा है पैर पसारे,
ओ मौके के मीत हमारे !

तुम पर बड़ा भरोसा मुझको,
मैंने पाला - पोसा तुमको,
मेहनत के दिन यार न झिझको,
हिम्मत मत हारो मत ठिठको !

तय कर ली है हमने तुमने
साथ हराई गैल । तक तक०

आती होगी घर की रानी,
लिये तुम्हें चोकर की सानी,
मुझको लपसी ठण्डा पानी,
पली प्रेम में, ठगी, बिकानी !

फर-फर उड़ती चूनर काली,
आती होगी बनी मराली,
रँजे नयन, अधरों में लाली,
अंग - अंग में भरे बहाली !

मृदु मुसकान चपल चितवन से
ठगती छलिया छैल । तक तक०

देखो अन्तर करो न साथी,
बिचक-बिचक पग धरो न साथी,
मेरे साथी, जग के साथी,
तन के साथी, मन के साथी !

बीघा डेढ़ हो गया उनका,
पूरा काम हो गया उनका,
मुझको रोटी, तुमको तिनका,
है आधार यही जीवन का !

चलो पेट भर लें चल करके
दुखिया बैल टहैल । तक तक०

पूर्वी अफ़रीका में इसलाम और ईसाई धर्म

श्री नारायण दास बी० ए०, सी० ई०

अफ़रीका की जंगली और रेतीली भूमि में सदियों से इसलाम और ईसाई धर्म में प्रतिस्पर्धा चल रही है। उत्तरी अफ़रीका में अरबों और तुर्कों के शासन के कारण इसलाम की जड़ें इतनी गहरी जम गई हैं कि ईसाई धर्म राजनैतिक विजेता की हैसियत से भी उससे टक्कर न ले सका। दक्षिण अफ़रीका में इसलाम की व्यापक पहुँच नहीं हो सकी और इसीलिये वह वहाँ के अफ़रीकी क़बीलों में व्यापक असर नहीं पैदा कर पाया। पूर्वी और पश्चिमी अफ़रीका में सदियों तक ग़ुलामों की बिक्री चलती रही। पूर्वी अफ़रीका में यह व्यापार लगभग अरबों के हाथ में था। पश्चिमी अफ़रीका का ग़ुलामों का व्यापार यूरोप के ईसाइयों के हाथों में था। धीरे-धीरे ग़ुलामों का यह व्यापार समाप्त हो गया और अरबों की राजनैतिक सत्ता भी समाप्त हो गई। पूर्वी अफ़रीका पर इस समय ईसाइयों का राजनैतिक आधिपत्य है; इसलाम वहाँ केवल अपने नैतिक आधार पर स्थिर है। इस दृष्टि से पूर्वी अफ़रीका में इसलाम और ईसाई धर्म की होड़ की विवेचना ख़ासी दिलचस्प है।

इसलामी दुनिया में तुर्कों और ईरानियों को छोड़कर राष्ट्रीयता की भावना उतनी प्रधान नहीं है जितनी मज़हब की है। मज़हब का स्थान विरासत और क़ौमीयत से कहीं ऊंचा है। यदि आप एक अफ़रीकी मुसलमान से उसके क़बीले का नाम पूछें तो वह अपने को 'म्बिसलामु' बतायेगा। म्बिसलामु का अर्थ पूर्वी अफ़रीका की 'स्वाहेली' भाषा में मुसलमान है। शुरू के ईसाई भी अपने आपको इसी तरह ईसाई कहते थे। ईसा स्वयं व्यक्ति या जाति की उच्चता के क़ायल नहीं थे। हज़रत ईसा स्वयं यहूदी थे, किन्तु यहूदियों में सर्वश्रेष्ठ वर्ग 'फ़ैरिसीज़' के प्रति उनकी बड़ी कठोर भावना थी क्योंकि फ़ैरिसीज़ निम्नस्तर के यहूदियों के साथ बुरा व्यवहार करते थे, जो हज़रत ईसा की नज़रों में एक जघन्य अपराध था। राल्फ़ वाल्डो ट्राइन हज़रत ईसा के सम्बन्ध में लिखता है—"क्रूर राज कर्मचारियों और पापियों के साथ भोजन करते थे। यहूदी पुरोहित और धर्मगुरु इसे घृणित और अशुद्ध बताते थे। ये लोग अपने अहंकार में और अपने बड़प्पन और पवित्रता के ख़याल में और अज्ञान में इतने डूबे रहते थे कि उन्हें अपने अन्दर ईश्वर के कभी दर्शन हो ही नहीं सकते थे।"

लेकिन आजकल के ईसाई धर्म या पादरी धर्म की बाबत यह नहीं कहा जा सकता। आजकल इस धर्म के सबसे अच्छे नुमाइन्दे यूरोप की वे क़ौमें हैं जो अपने को ईसा मसीह का अनुयायी कहती हैं। आजकल का ईसाई धर्म हमें इन्हीं के आचार-व्यवहार और इन्हीं के उपदेशों से समझना होगा। ये लोग जातीय यानी राष्ट्रीय पक्षपात, ख़ास ख़ास जातियों के विशेषाधिकार और गोरी क़ौमों के विशेष उत्तर-दायित्व के प्रचारक हैं।

इसलाम और ईसाई धर्म में बड़ा फ़र्क़ यह है कि ईसाई धर्म में क़ौल का अमल से यानी उपदेशों का व्यवहार से कोई सम्बन्ध नहीं है। अफ़रीका का निग्रो काफ़ी होशियार है। वह इसे ख़ूब देखता और समझता है। इसलाम इस बात में बिलकुल दूसरी तरह का है। नार्मन लेज़ लिखता है—"ईसाई धर्म के मुक़ाबले में इसलाम को फैलने में एक बहुत बड़ी मदद इस बात से मिलती है कि इसलाम के उसूल ज़िन्दगी बसर करने के सीधे सादे और नपे तुले उसूल हैं। एक तरफ़ तो शायद आज तक कोई आदमी भी उस तरह ज़िन्दगी बसर नहीं कर पाया जिस तरह ईसा ने कहा था, और दूसरी तरफ़ लाखों आदमी ठीक उसी तरह ज़िन्दगी बसर कर चुके हैं जिस तरह मुहम्मद ने बतलाया था।"

इसलाम एक एशियाई धर्म है। एशिया वाले ही उसके मानने वाले हैं। वे उसके सीधे सादे उपदेशों को समझते हैं। ईसा के उपदेशों की बाबत यह बात नहीं है। हज़रत ईसा एशियाई थे। उनके उपदेश उस समय इबरानी (हिब्रू) भाषा में ही दिये गये हैं। इबरानी एक एशियाई भाषा है। लेकिन विधि का यह एक चमत्कार है कि हज़रत ईसा के अनुयायी आजकल अधिकतर यूरोप और अमरीका की पश्चिमी क़ौमें हैं। इन लोगों तक हज़रत ईसा के उपदेश सदियों बाद लातीनी भाषा में तर्जुमा हो कर पहुँचे। लातीनी एक पश्चिमी भाषा थी जो इस समय वैसी ही मुरदा है, जैसी सदियों पहले की इङ्गलिस्तान की मलका ऐनी। इसके मुक़ाबले में अरबी अभी तक एक ज़िन्दा भाषा है। वह लाखों की बोलचाल की ज़बान है। क़ुदरती नतीजा यह है कि यूरोप और अमरीका की क़ौमें उस अपने एशियाई पैग़म्बर की बताई हुई रूहानी सचाइयों और उसके उपदेशों को समझने और उन्हें अपने जीवन में ढालने के कम या ज़्यादा नाक़ाबिल हैं। उनकी फ़ितरत के लिये ही ऐसा कर सकना असम्भव है। इसके अलावा जिस तरह इञ्जील के तरजुमे हर ऐरी ग़ैरी ज़बान में आज़ादी के साथ कर लिये जाते हैं, उस तरह से क़ुरान के तरजुमे की इजाज़त नहीं है। इसलिये क़ुरान के उपदेश आज तक ठीक उन्हीं शब्दों में जिनमें हज़रत मुहम्मद ने कहा था या लिखा था और उसी भाव और उसी रंग में लोगों को सुनाये जाते हैं और उसी तरह लोग उन्हें सुनते समझते हैं। यह बात सच है कि इसमे फ़ायदा भी है और नुक़सान भी है; क्योंकि अरबी ज़बान का सीखना आसान नहीं है और अधिकांश मुसलमान क़ुरान की बारिकियों से नावाक़िफ़ रहते हैं और अपनी पाक किताब की आयतों को बिना मतलब को ठीक ठीक समझे केवल ज़बान से दोहराते रहते हैं।

लेकिन इससे एक फ़ायदा यह है कि इसलाम धर्म आज तक एक सीधा सादा धर्म है। पूर्वी अफ़रीका के लोग जिसे आमतौर पर इसलाम समझते हैं, वह रहन सहन के नीचे लिखे थोड़े से क़ायदे हैं जिनका न किसी गहरी फ़िलासफ़ी से सम्बन्ध है और न किसी गूढ़ अध्यात्म से। अफ़रीका के मुसलमान सुन्नी हैं। उन्हें अरबों से ही इसलाम का उपदेश मिला है। शिया वहाँ पर केवल हिन्दुस्तान से गये हुये खोजे या बोहरे हैं जो वहाँ के मुस्तक़िल बाशिन्दे नहीं हैं। इसलिये अफ़रीका का इसलाम नीचे लिखी छै बातों के अन्दर पूरी तरह आ जाता है—

(१) अल्लाह एक है और मुहम्मद उसका भेजा हुआ रसूल है।

(२) हर मुसलमान बच्चे को ख़तना कराना चाहिये और मुसलमानों को ऐसे गोश्त से जिसमें ख़ून हो और सुअर के गोश्त से परहेज़ करना चाहिये।

(३) प्रति दिन पांच बार सब मुसलमानों को मिलकर जमात में नमाज़ पढ़नी चाहिये। लेकिन इस एक बात पर अमल आमतौर पर केवल जुमे के दिन एक वक़्त होता है और वह भी बहुत थोड़े से आदमी जमा हो कर नमाज़ पढ़ते हैं।

(४) रमज़ान के पूरे महीने रोज़े रखने चाहियें। इसमें भी आमतौर पर ज़्यादहतर लोग रमज़ान के महीने में सिर्फ़ दो दिन यानी पहले दिन और इक्कीसवें दिन रोज़ा रखते हैं। बाक़ी दिन मामूली खाते पीते रहते हैं।

(५) मुसलमानों को एक ख़ास तरह के नाम और ख़ास तरह की पोशाक रखनी चाहिये। इसमें जहाँ तक पोशाक का सम्बन्ध है तरह तरह के मुसलमानों में सिर्फ़ एक चीज़ ऐसी रह गई है जिसे क़रीब क़रीब सब पहनते हैं और वह है लाल तुर्की टोपी।

(६) सब मुसलमान भाई हैं, केवल नाम के लिये नहीं जैसा ईसाइयों में है, बल्कि असलीयत में। इस भाई चारे की सब से बड़ी अलामत यह है कि पूर्वी अफ़रीका में आजकल अलग अलग क़बीलों और जातियों के क़रीब क़रीब तीस लाख मुसलमान हैं और इन सब की आपस में ब्याह शादियाँ होती रहती हैं।

अब हम इस चीज़ का आजकल के ईसाइयों और ईसाई धर्म के साथ मुक़ाबला करना चाहते हैं। हम इन दोनों धर्मों के केवल अमली पहलुओं का मुक़ाबला करेंगे। उनके बारीक़ सिद्धान्तों या फ़िलासफ़ी से हमारा कोई ताल्लुक़ नहीं। नार्मन लेज़ केनिया के ऊपर अपनी किताब में लिखता है—"पूर्वी अफ़रीका के ईसाइयों में कोई भाई चारा नहीं है। इन लोगों के लिये यह भी जरूरी नहीं है कि वे भाई भाई की तरह रहने की कोशिश तक करें।" आगे चलकर वह लिखता है कि—"ज्ञान की कुंजियाँ सब पादरियों के हाथों में हैं। दौलत कमाने के तरीक़ों का भी उन्होंने ही ठेका ले रखा है। कोई दूसरा ईसाई बिना ज़बरदस्त कशमकश और आत्मसंयम के न ज्ञान प्राप्त कर सकता है न धन। मुसलमानों में यह बात नहीं है। हमारी नज़रों में इसलाम का भाईचारा एक थोथी और बेमेल चीज़ हो सकती है; लेकिन अफ़रीका वालों के लिये वह बड़े काम की चीज़ है। यह भाईचारा जितना है सच्चा और असली है। मुसलमान सब एक क़तार में खड़े होते हैं जब कि ईसाई कभी एक क़तार में खड़े नहीं होते।" ये एक सच्चे अंगरेज़ के शब्द हैं।

पूर्वी अफ़रीका में चार पश्चिमी देशों के पादरी अलग अलग अपने धर्म का प्रचार करते हैं। इनके अलग अलग मिशन हैं। फ़्रान्स और इटली के पादरी रोमन कैथलिक सम्प्रदाय के हैं। अंगरेज और अमरीकन आमतौर पर प्रोटेसटैण्ड फ़िरके के हैं। ये अङ्गरेज और अमरीकन पादरी मिलकर काम कर सकते थे; लेकिन इनके अपने देशों में इनमें इतने आपसी झगड़े हैं और और भी कई कारण हैं, जिनकी वजह से ये अलग अलग ही काम करने पर मजबूर हैं। इनमें से जो भी मिशन अपना काम शुरू करता है, वह पहले वहाँ पर एक स्कूल खोलता है जिसमें मामूली लिखना पढ़ना, थोड़ा सा हिसाब और क़रीब चौथे दरजे तक की अङ्गरेज़ी पढ़ाई जाती है। इसके साथ साथ कोई ईसाई भजनों की किताब होती है और एक इञ्जील जैसे जान या लूक की इञ्जील। शुरू में वहाँ की गवर्नमेण्ट ने इन मिशनों को बहुत कम मदद दी, लेकिन हाल में जब से कि इनके बड़े बड़े पादरी हिन्दुस्तानियों के ख़िलाफ़ आन्दोलन में शामिल हो गये हैं, तब से गवर्नमेण्ट भी इन मिशनों को बड़ी बड़ी रक़में मदद के लिये देने लगी है।

नार्मन लेज़ लिखता है कि—"इञ्जील के नये अहदनामे का सब से बड़ा उपदेश यह बताया जाता है कि हर ईसाई ख़ुदा का बच्चा है और बादशाह का बेटा और सारी दुनिया का उत्तराधिकारी है इत्यादि। समझदार अफ़रीका निवासियों को जब इस बात का पता चलता है, चाहे मिशनरी उनसे कहें या न कहें तो वह अपने आपको इस बात का हक़दार समझता है कि सब ईसाइयों के साथ एकसा बरताव किया जाय और यूरोपीय या अफ़रीकन सब ईसाई एक दूसरे के भाई हैं···जो भी हो पादरी लोग इस बराबरी और भाईचारे का जहाँ तक हो सकता है बहुत ही कम ज़िक्र करते हैं। सौ में एक यूरोपियन भी ऐसा नहीं है जो यह मानता हो कि यूरोपियन ईसाई और अफ़रीकन ईसाई दोनों को एक दूसरे के साथ ऐसा व्यवहार करना चाहिये कि मानो वे एक ही कुटुम्ब के आदमी हों।"

ईसाइयों में एक आदमी को एक से ज़्यादा बीबी नहीं हो सकती। मुसलमानों में एक आदमी को चार बीबियों तक की इजाज़त है। लेकिन पर-स्त्री के साथ व्यभिचार ईसाइयों में इतना ज़्यादा बुरा और घृणित नहीं समझा जाता जितना मुसलमानों में समझा जाता है। अफ़रीका के लोगों में एक से ज़्यादा स्त्री के साथ विवाह करने का रिवाज चला आता है। लेकिन पर-स्त्री के साथ व्यभिचार को वे आमतौर पर बुरा समझते हैं और उससे बचते हैं। इस एक बात की वजह से भी वे इसलाम को ईसाई धर्म से ज़्यादा अच्छा समझते हैं और यह स्वाभाविक है।

इन दोनों धर्मों और उनके मानने वालों में आमतौर पर यही फ़र्क़ है। ईसाई धर्म बड़े बड़े ऊँचे

सिद्धान्तों की बातें करता है, लेकिन उसके अनुयायी व्यवहार में उन सिद्धान्तों से कहीं गिरे हुये दिखाई देते हैं। इसलाम सदाचार के कुछ सीधे सादे नियम हमारे सामने पेश करता है और उसके मानने वाले ईमानदारी से उस पर अमल करते हैं।

इस सब के होते हुये भी पूर्वी अफ़रीका में इसलाम बढ़ता हुआ दिखाई नहीं देता। वहाँ के लोग धीरे धीरे अपने शासकों के धर्म यानी ईसाई धर्म की तरफ़ बढ़ते चले जा रहे हैं। जब से तुर्कों ने ख़िलाफ़त का अन्त कर दिया—जो कि इसलाम की एक बहुत पुरानी सीमा-चिन्ह थी—तब से लोग इसलाम की तरफ़ और भी उदासीन होते जा रहे हैं। वजह बड़ी साफ़ है। सरकार ने बहुत से ईसाइयों को क़बीलों का सरदार मुक़र्रर कर दिया है। क़ुदरती तौर पर इन लोगों का बहुत असर पड़ता है और ये बड़े क्रियाशील भी होते हैं। अफ़रीका निवासियों में यही पढ़े लिखे होते हैं। यही ज्यादा धन कमाते हैं। और इन्हीं की ज्यादा इज़्ज़त होती है। भविष्य धन वालों और बाअसर लोगों के हाथों में ही दिखाई देता है। जैसे बाक़ी सब दुनिया में वैसे ही अफ़रीका में भी धन का देवता 'मैमन' लोगों के दिमाग़ों और उनके जिस्म दोनों पर शासन करता है, ख़ासकर उस समय जब कि वह देवता ईसाई धर्म की फ़ैशनेबुल और अपटुडेट वेश भूषा में सुसज्जित हो कर हमारे सामने आता है।

फ़ाहियान की भारत-यात्रा

श्री के० पी० एस० मेनन, आइ० सी० एस०

भाप और पेट्रोल से चलने वाली सवारियों के युग में आज बेचारे घोड़े की कोई क़द्र ही नहीं रह गई। रेलवे ट्रेन और मोटरकार भी अब पुरानी पड़ने लगीं। हवाई उड़ान का अब ज़माना आ गया है। पलक मारते सैकड़ों मील दूरी नाप ली जाती है। इस द्रुतगामी युग में जब हम महान चीनी यात्री फ़ाहियान की यात्रा के वर्क़े उलटते हैं तो हमें हैरत होती है कि दसों हज़ार मील की यात्रा, और वह भी पैदल, कैसे पूरी की होगी! फ़ाहियान चौथी सदी का एक प्रसिद्ध चीनी बौद्ध भिक्षु था। उसकी भारत-यात्रा का उद्देश्य चीनी बौद्धों के लिये यहाँ से बौद्ध धर्म ग्रन्थों का ले आना था। उसकी महान यात्रा ज्ञान की खोज और सत्य की शोध में थी। मध्य चीन से वह पैदल रवाना हुआ। गोबी के भयंकर रेगिस्तान और हिन्दुकुश की बर्फ़ीली पर्वत-श्रेणियों को पार करता हुआ वह पैदल बङ्गाल की खाड़ी तक आया और वहाँ से जहाज़ द्वारा लंका और जावा की यात्रा करते हुये वह वापस चीन पहुँचा। उसकी समुद्र-यात्रा पैदल यात्रा से भी कहीं अधिक ख़तरनाक साबित हुई। फ़ाहियान को इस यात्रा में १५ वर्ष लगे, जिनमें से ९ वर्ष चलने में बीते और बाक़ी अध्ययन में। वह अपनी यात्रा में न कुछ कम तीस मुल्कों के बीच से होकर गुज़रा। वह अपनी यात्रा की सख़्ती और अकेलेपन के बारे में लिखता है—"यात्रा में हमें केवल अपनी ही परछाईं दिखाई देती थी और जिसे देखकर हमारा दिल उदासी से भर जाता था।" अपने देश की टीस उसके इन शब्दों से ज़ाहिर होती है—"जब मैंने लंका में देखा कि एक व्यापारी रेशमी चीनी पंखा भगवान बुद्ध की प्रतिमा पर भेंट चढ़ा रहा है, तो मेरा हृदय द्रवित हो गया और मेरी आँखें आँसुओं से भर गईं।" यदि फ़ाहियान आज इस बीसवीं सदी में पैदा हुआ होता, तो उसने अपनी यात्रा और ही तरह से की होती। वह नाश्ता करने के बाद अपने घर चांगान से हवाई जहाज़ से रवाना हुआ होता, आसाम के किसी हवाई अड्डे पर उसने दोपहर को

भोजन किया होता और रात के भोजन के समय कलकत्ते पहुंच गया होता। उसने अमरीकन तरीक़े से अपनी भारत-यात्रा पर एक पुस्तक भी लिखी होती जिसे हम 'मार्डन' यात्रा वर्णन कह सकते। किन्तु उसका यह वर्णन उस वर्णन से कितना भिन्न होता जो वह अपनी उस पुरातन यात्रा में बाँस की पत्तियों और रेशम पर लिखकर छोड़ गया है, जिसकी उस यात्रा के सामने आज की बग़ैर रुके अटलांटिक की हवाई यात्रा फीकी और साधारण मालूम होती है। फ़ाहियान की वह यात्रा हमें आज की अपनी जल्दबाज़ी की उपयोगिता पर सोचने को विवश करती है।

फ़ाहियान के यात्रा-वर्णन से ऐसा मालूम होता है कि यात्रा के प्रारम्भ में उसके साथ कुछ थोड़े से मित्र भी थे। कम से कम उनका कारा शहर तक साथ रहा। कारा शहर रूसी तुर्किस्तान के पास कहीं रहा होगा। वहाँ के बाशिन्दे "तबियतों के ख़ूंख़ार और अजनबियों के प्रति अपने बर्ताव में इतने कमीने" थे कि फ़ाहियान के तीन साथियों ने वापस चीन लौट जाने का निश्चय किया। हुइ-चिंग नामक एक चौथा साथी 'सफ़ेद कोह' की बरफ़ीली चोटियों पर फ़ाहियान की भुजाओं में ही मृत्यु को प्राप्त हुआ। वहाँ इतनी ठण्ड थी "कि दांत कटकटाते थे और सारा बदन थर थर कांपता था।" केवल एक साथी फ़ाहियान के साथ भारत पहुँचा; किन्तु यहाँ आकर जो उसने बौद्ध धर्म की शान देखी और उसकी तुलना में उसे अपने देश में बौद्ध धर्म की अवस्था इतनी शोचनीय मालूम हुई कि उसने भारत में रहकर ही निर्वाण-प्राप्ति की साधना का निश्चय किया। फ़ाहियान के सामने एक महान मिशन था। बड़ी से बड़ी आफ़तें और बड़े से बड़े आकर्षण उसे अपने उद्देश्य से विचलित न कर सकते थे। उसे तो वापस चीन पहुंच कर अपने देश में बौद्ध धर्म की बुनियादों को दृढ़ करना था। उसके रास्ते में ज़बरदस्त बाधायें थीं। यात्रा के प्रारम्भ में ही गोबी का हज़ारों मील लम्बे चौड़े रेगिस्तान को पार करने का सवाल था। फ़ाहियान लिखता है—"गोबी के रेगिस्तान में न आकाश में पक्षी थे न धरती पर पशु। गरम गरम हवा चारों ओर भूत की तरह भनभनाती फिरती थी, जिसके मुक़ाबले का अर्थ था मृत्यु।"

उत्तर भारत के बरफ़ीले पहाड़ गोबी के मरुस्थल से कुछ कम ख़तरनाक न थे। बारहों महीने, सर्दी और गर्मी में जिनकी चोटियाँ फ़ुटों बरफ़ से ढकी रहती हैं। फ़ाहियान का ऐसा विश्वास था कि उन चोटियों पर—"भयंकर जन्तु रहते हैं जो ज़रा से छेड़ने पर ज़हरीली हवा की फुंकार मारते हैं और जिनके नथनों से बारिश, बरफ़ और पत्थर बरसने लगते हैं।" फ़ाहियान लिखता है—"इन जन्तुओं से दस हज़ार आदमियों में से कहीं एक बचकर निकल पाता है।" फ़ाहियान बचकर निकल आया, किन्तु वह ऐसा वैसा यात्री तो नहीं था। उसके हृदय में विश्वास की एक ऐसी ज़बर्दस्त भावना थी जो पहाड़ों को हिला सकती थी। चाहे पथहीन रेगिस्तान होता—"जहाँ भूले भटके यात्रियों की सूखी हड्डियों के अतिरिक्त कोई रास्ता दिखाने वाला न मिलता।"; चाहे हिन्दुकुश पहाड़ की बरफ़ीली चोटियाँ होतीं "जहाँ अगला क़दम रखने की जगह न होती और आँखों में अंधेरा छा जाता," और चाहे समुद्र की लहरें होतीं "जो गरजती हुई उठकर एक दूसरे से टकरातीं और फेन छोड़तीं, जिनमें बड़े बड़े घड़ियाल और समुद्री जीव-जन्तु किलोलें करते"; इन सब आफ़तों में फ़ाहियान के सामने एक ही लक्ष्य रहता कि ज्ञान की मशाल को और धर्म की सच्ची भावना को उसे अपने देश "बाहरी दुनिया" में यानी चीन ले जाना है। "उसकी आत्मा की आन्तरिक ज्योति ही उदास क्षण में उसे ढाढ़स बंधाती और उसका पथ-प्रदर्शन करती थी।"

फ़ाहियान के लिये चीन वास्तव में "बाहरी दुनिया" था। भारत में बौद्ध धर्म का जो गौरव था और जो प्रतिमा थी उसकी तुलना में चीन बाहरी दुनिया ही था। अफ़ग़ानिस्तान से लेकर गंगा के दहाने तक, जहाँ फ़ाहियान दो वर्ष तक बौद्ध सूत्रों

का अध्ययन और बौद्ध मूर्तियों का रेखाङ्कन करता रहा, सारा देश बौद्ध मठों और बिहारों के जाल से गुंथा पड़ा था। बौद्ध धर्म के कुछ पुराने केन्द्र ज़रूर फीके पड़ गये थे। उदाहरण के तौर पर बुद्ध की जन्मभूमि कपिलवस्तु के सम्बन्ध में फ़ाहियान लिखता है—"कपिलवस्तु में न राजा रह गया है न जनता। सारी नगरी खंडहर और वीरान हो गई है, केवल कुछेक पुजारी और लगभग दस परिवार वहां रहते हैं। रास्ते में शेर और जंगली हाथियों के हमले का भय रहता है।" फ़ाहियान लिखता है—"कपिलवस्तु जाने वाले यात्रियों को ख़तरे से बहुत बचकर जाना चाहिये।" कुशीनगर जहां भगवान बुद्ध निर्वाण को प्राप्त हुये इसी तरह वीरान पड़ा था। ऐसा मालूम होता है कि अशोक के बाद की शताब्दियों में बौद्ध धर्म धीरे धीरे अपनी जन्मभूमि छोड़कर अधिक उत्तर में केन्द्रीभूत हो गया था। अफ़ग़ानिस्तान में उस समय कम से कम तीन हज़ार बौद्ध भिक्खु रहे होंगे। सरहद में बन्नू का ज़िला बौद्ध धर्म का केन्द्र था, जहां बौद्ध मठों और बिहारों में हज़ारों बौद्ध भिक्खु और सन्यासी रहते थे। ये सबके सब 'हीनयान' के अनुयायी थे। खोतान में 'गोमति' नामक एक बहुत बड़ा बिहार था। पेशावर में सम्राट कनिष्क का एक पागोदा (बुद्ध-मन्दिर) था जो "चार सौ फ़ुट ऊंचा था जिसमें तरह तरह के बेल बूटे, पच्चीकारी और सुनहला काम बना हुआ था।" यह पागोदा यात्रियों के लिये बड़े आकर्षण की चीज़ थी। फ़ाहियान के अनुसार—"संसार के समस्त पागोदाओं में पेशावर का यह पागोदा सब में श्रेष्ठ और सब में उत्कृष्ट है।" किन्तु जिस चीज़ ने फ़ाहियान को सब में अधिक आकृष्ट किया वह यह मठ, बिहार और मन्दिर नहीं थे बल्कि बौद्ध भिक्खुओं का भव्य आचार-व्यवहार और बौद्ध धर्म का जनता पर सुन्दर प्रभाव था। यदि आचार-व्यवहार से मनुष्य योग्य और उत्तम होता है, तो इन चीज़ों ने निश्चय ही पुरातन भारत के भिक्खुओं और सन्यासियों को योग्य और उत्तम बनाया था। फ़ाहियान लिखता है—"गोमति के बिहार में भिक्खुओं का आचार व्यवहार बहुत गम्भीर रहता है। वे अपनी पूजा और ध्यान में मग्न रहते हैं। वे निश्चित क्रम के अनुसार व्यवस्था के साथ बैठते हैं। वे ज़रा भी शोरगुल नहीं करते। अधिकांश समय मौन रहते हैं। वे अपने भिक्षापात्र को नहीं भरते, न परोसने वालों से अधिक खाना मांगते हैं। जब किसी चीज़ की ज़रूरत होती है तो हाथ के इशारे से मांगते हैं।" राजाओं का आचार-व्यवहार, उनके तौर तरीक़े उस ज़माने में उतने ही निर्दोष समझे जाते थे, जितने साधुओं और भिक्खुओं के। फ़ाहियान को यह देखकर बड़ा ही सन्तोष हुआ कि राजा लोग साधुओं और भिक्खुओं की बड़ी इज़्ज़त करते थे। "जब ये लोग बौद्ध भिक्खुओं को कोई चीज़ भेंट करते हैं, तो अपने मुकुट सर से उतार लेते हैं और जब उन्हें खाना खिलाते हैं, तो अपने बाल बच्चों और ख़ास ख़ास दरबारियों सहित सामने खड़े रहते हैं। खाना हो चुकने के बाद वे ज़मीन पर खुद फ़र्श बिछा कर प्रधान भिक्खु की तरफ़ मुंह करके बैठ जाते हैं। इन लोगों के सामने वे चौकियों या किसी ऊंची चीज़ पर बैठने का साहस नहीं कर सकते।" बौद्धकाल का यह वर्णन इसलिये और भी महत्व का है क्योंकि फ़ाहियान गुप्त साम्राज्य के समय भारत आया था। अङ्गरेज़ इतिहासकार बड़े खुश हो कर उस काल को—"हिन्दू प्रतिक्रिया का समय कहते हैं।" कम से कम जहां तक फ़ाहियान के लिखे हुये वृत्तान्तों का सम्बन्ध है न हमें किसी प्रतिक्रिया की कोई निशानी मिलती है और न बौद्ध धर्मावलम्बियों को किसी तरह की तकलीफ़ें दिये जाने का ज़िक्र मिलता है।" फ़ाहियान यह भी साफ़ लिखता है कि उन दिनों अयोध्या में और उसके आस पास कट्टर हिन्दू धर्म के मानने वाले मौजूद थे। एक जगह उसने लिखा है कि—"यहां पर ९६ अबौद्ध सम्प्रदायों के लोग मौजूद हैं जो सबके सब भौतिक संसार को सत्य मानते हैं।" लेकिन एक ऐसे ईश्वर की कल्पना जो एक ख़ास सम्प्रदाय के लोगों से बाहर दूसरी सम्प्रदायों के इष-

देवों को ईर्षा की दृष्टि से देखता हो, जिसे अङ्गरेज़ी में "A Jelous God" कहते हैं, इस तरह की कल्पना ही वास्तव में पाश्चात्य कल्पना है। इस तरह की कोई कल्पना या धार्मिक अनुदारता हमें समुद्र गुप्त और विक्रमादित्य के उन शासनकालों में भी बिलकुल दिखाई नहीं देती, जिन शासनकालों में हमें उत्तर भारत के अन्दर हिन्दू कला और हिन्दू संस्कृति का आश्चर्यजनक पुनरुद्धार देखने को मिलता है।

इस तरह के धार्मिक साम्राज्य का रहस्य जानने के लिये भी हमें दूर जाने की ज़रूरत नहीं है। फ़ाहियान के अपने वृत्तान्तों से ही हमें इसका पता चल जाता है। बौद्ध धर्म के अन्दर यह चीज़ स्वाभाविक और मौलिक थी। भगवान बुद्ध ने जो सबसे बड़ा काम किया वह यही था कि उन्होंने अपने आन्तरिक ज्ञान की नई मदिरा को हिन्दू धर्म की पुरानी बोतलों में ढाला। किन्तु यह मदिरा इतनी तेज़ थी, इसका असर इतना जादू भरा था कि उसने अन्ध विश्वासों और रूढ़ियों के उस सब रहे सहे कचरे को जो सदियों के ब्राह्मण-प्रभुत्व ने उन बोतलों में जमा कर दिया था बाहर निकाल कर फेंक दिया। दूसरे शब्दों में बुद्ध ने हिन्दू धर्म का बहैसियत एक धर्म के विरोध नहीं किया, बल्कि ब्राह्मणों ने जिस धर्म को अपना पेशा बना रखा था उसका विरोध किया। ब्राह्मणों ने भी इसका बदला लिया। धीरे धीरे उन्होंने बौद्ध धर्म पर वार किया। उसे अपने क़ाबू में किया, उसके अन्दर मूर्त्ति पूजा और उसके साथ चलने वाली भावना को प्रवेश दिलाया, बौद्ध धर्म के शुद्ध प्रारम्भिक तेज को रूढ़ियों के बादल से ढक दिया, उसे इतनी चतुराई के साथ तोड़ा और मरोड़ा कि फ़ाहियान के समय का बौद्ध धर्म सनातन हिन्दू धर्म के सब वाह्याडम्बरों से घिरा हुआ दिखाई देता था, यहां तक कि स्वयं बुद्ध भगवान हिन्दू देवताओं में से एक दिखाई देने लगते हैं जिन्हें ब्रह्मा ने अपना सन्देश देकर दुनिया में भेजा था। बौद्ध धर्म का रूप कहां से कहाँ पहुँचा। समय ने उससे किस तरह बदला लिया। बुद्ध ने बिलकुल साफ़ साफ़ शब्दों में—"जादू-टोने, शकुन परीक्षा, फलित, देवताओं के नाम पर बलि, जन्तर मन्तर" जैसी चीज़ों का ज़बर्दस्त निषेध किया था। लेकिन फ़ाहियान जिस बौद्ध धर्म का हमें हाल सुनाता है उसमें ये सब चमत्कार भरे हुये हैं। स्वयं बुद्ध के पद-चिन्हों के, उनकी खोपड़ी की, उनके दांतों की, उनके पीकदान की, उनके दण्ड-कमण्डल की, सब की पूजा होती थी। जहाँ कहीं बुद्ध भगवान ने अपने गीले वस्त्र सुखाये या अपने केश मुंडवाये या पैर के नाखून कटवाये वहीं एक स्तूप खड़ा हो गया। चीनी भाषा में तक्षशिला का अर्थ "सिर मुंडवाना" है। तक्षशिला का नाम तक्षशिला इसलिये पड़ा क्योंकि कहा जाता था कि वहाँ पर बुद्ध ने एक भूखे बाघ को आहार पहुँचाने के लिये अपना शरीर दे दिया था। बुद्ध भगवान अपनी माता को, जो मर चुकी थी, अपना धर्म समझाने के लिये तीन महीने स्वर्ग में जाकर रहे थे। जब वहाँ से उतरे तो पहले पहल कपिशा में क़दम रखा; इसीलिये वह एक तीर्थ बन गया। अयोध्या के बाहर एक जगह है जहाँ बुद्ध भगवान ने दतून करके उसे ज़मीन में गाड़ दिया था और वह दतून उसी क्षण एक दस फ़ुट ऊँचा दरख़्त बन गया। बनारस में बुद्ध ने जिन लोगों को अपना धर्म समझाया, उनमें से पाँच सौ अन्धों को उसी समय से दिखाई देना शुरू हो गया। इन चीज़ों के होते हुये फ़ाहियान की पुस्तक में हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म के कोई आपसी झगड़े दिखाई नहीं देते तो क्या आश्चर्य है। क्योंकि उस समय तक बौद्ध धर्म इतना बदल गया था कि वह हिन्दू धर्म ही का एक ऐसा विचित्र और अप्राकृतिक रूप रह गया था जिसे देखकर हिन्दू धर्म के पुनरुद्धार के समय में भी ब्राह्मण लोग हंसते थे और घृणा दिखाते थे।

अन्धविश्वासों का जो घना जंगल शुरू के बोधि-वृक्ष के चारों तरफ़ उग खड़ा हुआ था, उससे बाहर निकल कर उस स्वतन्त्र वायुमण्डल में प्रवेश करना, जिसका ख़ाका फ़ाहियान ने खींचा है, बड़ा सुखद

मालूम होता है। गुप्त सम्राटों के ज़माने में राजनैतिक जीवन की सबसे ख़ास चीज़ मालूम होता है आज़ादी थी। फ़ाहियान का अपना बयान इतना चमकता हुआ है कि उसे उसी के शब्दों में देना ठीक होगा। वह लिखता है—"लोग सुखी और ख़ुशहाल हैं। न किसी की रजिस्ट्री होती है और न राज की तरफ़ से किसी तरह की रोक थाम है। सिर्फ़ जो लोग राजा की ज़मीन जोतते हैं वे जो कुछ उस ज़मीन से मुनाफ़ा करते हैं उस पर लगान अदा कर देते हैं जो जाना चाहते हैं जा सकते हैं। जो ठहरना चाहें ठहर सकते हैं। राजा की तरफ़ से किसी को शारीरिक दण्ड नहीं दिया जाता। मुजरिमों पर उनके जुर्म के अनुसार केवल जुर्माना ले लिया जाता है। यहाँ तक कि राज के ख़िलाफ़ बग़ावत करने वाले का भी यदि वह दूसरी बार वही जुर्म करे तब सिर्फ़ दाहिना हाथ काट लिया जाता है। देश भर में कोई किसी जानदार की हिंसा नहीं करता, न कोई शराब पीता है, न कोई प्याज़ या लहसन खाता है। लेकिन चांडालों को बस्ती से अलग रखा जाता है। चांडाल एक तरह के पतित लोग होते हैं।" वास्तव में वह एक आदर्श सामाजिक व्यवस्था थी, जिसमें एक मात्र कलंक की चीज़ चांडालों का अस्तित्व था। इस शान और क़रीब क़रीब आदर्श शासन को उस फ़ौलादी स्वेच्छा शासन के साथ तुलना करनी चाहिये जिसका कौटिल्य ने समर्थन किया है। इस तरह की तुलना से हमें समाजवाद और व्यक्तिवाद का वह भेद जो युगों से चला आ रहा है साफ़ दिखाई देने लगता है। कौटिल्य एक ऐसे समाज का चित्र हमारे सामने पेश करता है "जनता को पीस देने वाली नौकरशाही के प्राणनाशक फ़ौलादी पंजे के अन्दर जिसका दम घुट रहा था।" पाँच सदियाँ गुज़र जाने के बाद एक ऐसी शासन पद्धति देखने को मिलती है जहां ज़्यादा से ज़्यादा राजनैतिक क्षमता और उसके साथ व्यक्ति की स्वतन्त्रता में कम से कम हस्तक्षेप दोनों मिले हुये दिखाई देते हैं। क्या वह बौद्ध धर्म जो राजर्षि अशोक ने इतनी दया के साथ दुनिया के सामने रखा इस परिवर्तन का कारण नहीं था? यदि था तो यह सोचकर कुछ सन्तोष होता है कि यद्यपि बौद्ध धर्म के धार्मिक पहलू को ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड और रूढ़ियों के जंगल में चारों तरफ़ से ढक दिया था फिर भी राजनैतिक क्षेत्र में बौद्ध धर्म की जड़ें दूर दूर तक गहरी पहुँच गई थीं। बौद्ध धर्म ने हिन्दू समाज में इनसानियत पैदा की। बौद्ध धर्म ने भारतीय राजनीति से कौटिल्य की कुबुद्धि को इस तरह बाहर कर दिया, जिस तरह किसी का भूत झाड़ा जाता है। लेकिन राजनीति में कौटिल्य बार बार पैदा होते रहते है और दिखाई देते रहते हैं। यूरोप में कौटिल्य ने मैकियेवैली के रूप में जन्म लिया, विज्ञान के सूक्ष्म परों के ऊपर इसी भावना ने फिर से एशिया में प्रवेश किया। कौटिल्य की भावना फिर हमारे राजनैतिक जीवन पर क़ाबू हासिल कर रही है और करेगी, जब तक कि बुद्ध जैसी ही कोई महान आत्मा आकर हमारी उससे रक्षा न करे।

दो भाई

श्री रामस्वरूप बी० ए०, एल-एल० बी०

जेठ का महीना था और दोपहर का समय। लू और धूप बेरहमी के साथ सताने में लगी हुई थीं। इने-गिने ही ऐसे व्यक्ति दिखलाई दे रहे थे जो किन्हीं विशेष कारणों से बाध्य होकर घर में छिपकर न रह सकते थे।

ठाकुर तेजसिंह नन्दगाँव के ज़मींदार थे। आज उनके मुक़दमे की तारीख़ थी। वे शहर आ रहे थे। इक्केवाला घोड़े की सामर्थ्य और उसके कष्ट को न समझ कोड़े मार मार कर उसे भगा रहा था। ठाकुर ने देखा सड़क पर फिरते हुए एक दुर्बल और नंगे बालक को। वह सोच ही रहे थे कि किस प्रयोजन से यह बालक इतनी कड़ी धूप सह रहा है कि उनका इक्का लड़के के समीप पहुँच गया और उसने करुण स्वर में पुकारा "बाबू!"

इक्का लड़के को छोड़कर आगे बढ़ गया परन्तु ठाकुर की आज्ञा से फिर लड़के के समीप पहुँचाया गया।

"क्या है?"—ठाकुर ने पूछा।

"बाबू भूख लगी है—दो दिन से कुछ नहीं खाया।"

आशापूर्ण नेत्रों से लड़के ने ठाकुर को देखा।

"तेरे माँ-बाप क्या करते हैं?"

"मेरे माँ बाप कोई नहीं हैं। ऐसे ही फिरता रहता हूँ और जब कोई कुछ दे देता है तो खा लेता हूँ।"

ठाकुर को उस अनाथ और असहाय बालक पर दया आ रही थी, परन्तु वे सोच न सके कि क्या करें। वे सोच रहे थे—'इसे आज यदि मैंने कुछ दे भी दिया तो इससे क्या होगा? रोज़ रोज़ तो मैं यहाँ आता नहीं। मैंने सुना था कि मुसलमानों में अपनी जाति बल्कि धर्म वालों के लिए बड़ा प्रेम है। वे अपने में से किसी की विपत्ति नहीं देख सकते फिर इस बच्चे को कोई क्यों नहीं अपनाता? बिचारा भूख से मरा जा रहा है·····।'

"बाबू, बहुत देर हो रही है"—इक्के वाले ने सावधान किया।

"बाबू, भूख लगी है।"

"मेरे साथ गाँव चलोगे?" ठाकुर ने कुछ हिच-किचाते हुए कहा।

"गाँव? मुझे ले जायँगे? नहीं, मुझे कुछ खाने को दिलवा दीजिए।"

"वहाँ तुमको रोज़ खाना देंगे।"

कुछ समय तक लड़का ठाकुर के मुख को देख-कर मानो उसके मन के भाव पढ़ता हुआ शान्त रहा; फिर बोला—

"चलिए।"

× × ×

इक्का चला जा रहा था। बच्चा चुपचाप बैठा हुआ शायद कल्पना में मग्न था और ठाकुर बच्चे की ओर स्नेह से देख रहे थे कि इक्के वाले ने कहा—"मालिक यह तो मुसलमान का लड़का है; इसे आप······।"

'तो क्या हुआ? कोई हर्ज नहीं। क्या इसका मतलब यह है कि मुसलमान का लड़का होने के कारण इसे मैं भूखों मरने के लिए छोड़ दूँ? आद-मियत क़ौमों और धर्मों के भेद को नहीं देखती, कर्तव्य को देखती है।"

"लेकिन अगर कोई मियाँ आपसे इसके लिये झगड़े तो?"

"तो मैं बच्चे को उन्हें सौंप दूँगा बशर्ते कि वे इसे पालने की ज़िम्मेदारी ले लें।"

"लेकिन मुसलमानों ने कब हमारा ख़याल किया है?"

"सब मुसलमान एक से नहीं होते ! मुझे याद है एक बार मेरे एक रेल के डब्बे में घुसते ही एक ने कहा—

"एक और आए।"

दूसरे ने धीरे से कहा—"काफ़िर।"

"परन्तु आदमियत रखने वाले भले आदमी भी वहाँ थे। उन्हीं में से एक ने इन दोनों को फटकारा—"इसी तरह अमरीका रूस वग़ैरह की तरह आज़ादी हासिल करोगे ? सिर्फ़ मज़हब के मुख़्तलिफ़ होने से ही क्या हमें किसी को बुरी निगाह से देखना चाहिए ? हम लोग जब तक इसे समझ कर एक मक़सद से मिलने की कोशिश न करेंगे, तब तक क्या कुछ हो सकेगा ?"

'यह सुन मैंने भी कहा था—"जैसे अमरीका की कांग्रेस ने कैथेलिक, प्रोटेस्टेन्ट आदि को जो इङ्गलैण्ड में बेहद लड़ रहे थे, अपने यहाँ आपस में मिला दिया वैसे ही हमारी कांग्रेस भी हिन्दू और मुसलमानों को मिलाने की कोशिश कर रही है और हम अगर ज़रा भी सोचें, तो समझ जाँय कि ऐसा करने से हमारे मुल्क भर की, और हरेक की हमारी सब की भलाई है। भला एक घर में कहीं दोस्त और दुश्मन रह सकते हैं ? यह नामुमकिन है। अगर घर पर अपना क़ब्ज़ा रखना है, तीसरे के क़ब्ज़े में अपने घर को न आने देना है और अमन-चैन की ज़िन्दगी बसर करना है तो आपस की दुश्मनी या ग़लतफ़हमी हटाओ; अपने दिलों को मिलाओ, दुनिया को देख कर चलो—आँखें खोलो, पुराने ज़माने में जाने या रहने की कोशिश में मत लगे रहो। हम हिन्दोस्तानी पहले हैं और हिन्दू-मुसलमान बाद को। हिन्दोस्तान हिन्दू और मुसलमान दोनों का एकसा वतन है—दोनों को इसी में रहना है और इसी की मिट्टी में मिलना है। इनमें से कोई भी दूसरे को धोखा देकर या दूसरे पर अन्याय करके ख़ुद ठीक तरह नहीं रह सकता।" मेरी बातें सुनकर सब लोग ख़ुश हो गये। फिर उन्होंने मेरी ओर देखकर कहा "आओ, आओ, भाई जान, बैठो।"

'इस रेल की घटना ने मुझे ऐसी बुद्धि दी—मेरी आँखें इस तरह खोलीं कि ठीक राह पर चल खड़ा हुआ। उस समय से मैं क्या हिन्दू और क्या मुसलमान सबको अपना भाई समझता हूँ—चाहे उनका व्यक्तिगत धर्म कुछ भी हो—शिया, सुन्नी, वैष्णव, शाक्त राधास्वामी, आर्यसमाजी, सिक्ख आदि के भेदों की तरफ़ न देखकर मैं आदमियत की ही तरफ़ देखता हूँ। यह बच्चा सच्चा आदमी बन सकता है।"

तो आपकी इच्छा ! मैंने तो अपने मन की बात कही थी······।"

"मैं तुम्हारे संकुचित विचारों से सहमत नहीं।"

× × ×

एक वर्ष बाद—

ठाकुर तेजसिंह के यहाँ बहुत-सी औरतें इकट्ठी होकर गाने बजाने में लगी हुई थीं। बाहर गाँव वालों को मिठाइयाँ बांटी जा रही थीं। ठाकुर बहुत प्रसन्न दिखलाई दे रहे थे। प्रसन्न होते भी क्यों न ! आज उन्हें एक पुत्र के पिता होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। ठाकुर ने इब्राहीम की उँगली पकड़ी और अपनी स्त्री के पास जा पहुँचे। मुसलमान दाई ने बच्चे को उठाकर ठाकुर को दिखलाया तो वे कहने लगे—"ख़ुदा दिल देखता है और कुछ नहीं। जब उसने देखा कि हम लोग बच्चा पाल सकते हैं, तो तुरन्त एक बच्चा और दे दिया। देखा, इब्राहीम को भाई किस तरह मिला है।"

"मैं भी यही सोचती हूं; लेकिन उधर भी देखा ?"—आँगन की ओर संकेत करके ठकुरानी ने कहा।

"क्या बात है ?"

"तुम इन्हें (इब्राहीम की ओर नेत्र से संकेत करके) अपने साथ लिये हो इसी से कुछ औरतें नाराज़ होकर लौटी चली जा रही हैं। बोलने की हिम्मत नहीं पड़ी; नहीं तो न जाने क्या क्या कहतीं।"

"क्या कहती ? मेरी समझ में नहीं आता कि रूठकर या नाराज़ होकर धमकी देने से लोग क्या कर लेंगे ? जिन्हें ऐसा बहुत द्वेष है कि एक लड़के का हमारे साथ सुख से रहना नहीं देखा जाता, उन्हें यहां आने की कोई ज़रूरत नहीं है । मैं तो इसे नहीं छोड़ सकता । इब्राहीम ही तो मेरा पहला लड़का है ।"

"पराए लड़के के लिए—चाहे वह अपने भाई का ही हो—टोला-पड़ोस वालों से तनकर रहने से क्या लाभ ?"

"पराया लड़का ? दूसरे से उत्पन्न होने से ही लड़का पराया लड़का हो जाता है ? जिससे भी प्रेम किया जाय वही अपना है । मैं तो इसे अपने लड़के की ही तरह प्यार करता हूँ इसलिए यह मेरा लड़का है । तुमको ईश्वर ने लड़का दे दिया है इसलिए अब तुम इसे पराया कहने लगी हो । परन्तु ख़बरदार आगे कभी तुम्हारे मुंह से ऐसी बात न निकले । अगर निकली तो मनुष्य भले ही कुछ न कहे, लेकिन दुनिया जिसके सहारे चलती है, वह इसे कब तक सहेगा ?"

ठकुरानी इब्राहीम को प्यार ज़रूर करने लगी थीं —पहले उसे मुसलमान समझकर उसके कुछ दूर दूर रहती थी, फिर उसकी निष्कपट बातों ने, स्नेह ने, और कामों ने उनके मातृस्नेह को उभाड़ दिया । पर अपने पेट से उत्पन्न हुए लड़के से इब्राहिम के लिए ठाकुर का अधिक प्रेम देखकर उन्हें दुःख और द्वेष हुआ । परन्तु वह ठाकुर के स्वभाव को जानती थीं और ईश्वर के कोप से भी डरीं इसलिए नम्र भाव से बोलीं—"मुझसे ऐसी ग़लती न होगी । अगर मैं इब्राहीम से पराए जैसा व्यवहार करने लगूँ तो ईश्वर जरूर नाराज़ हो जायगा ।"

(२)

अब इब्राहिम १७ साल का जवान था । गांव के वातावरण में पला तथा ठाकुर के स्नेह से सिंचित वह एक सुंदर पुरुष था । ठाकुर का पुत्र कमलसिंह ११ वर्ष का था । दोनों भाई की तरह रहते थे और दिन रात के साथी थे । इतना प्रेम था दोनों में जितना शायद सहोदरों में भी न हो ।

इब्राहीम को शिक्षा उर्दू में ही दी गई थी, परन्तु कमलसिंह के साथ उसने हिन्दी का भी ज्ञान प्राप्त कर लिया था । उसके लिए 'मुस्लिम संस्कृति द्वारा स्वीकृत कपड़ों' का आयोजन किया गया था; परन्तु कमलसिंह भी उसी की तरह कुरते और पाजामे में ही रहना पसन्द करता ।

ठाकुर को इब्राहीम की शादी की चिन्ता हुई तो उन्होंने कुछ आदमी दूर के गाँवों में भेजे, परन्तु कोई भी कन्या देने को राज़ी न हुआ । मुसलमानों ने कहा "लड़के को हमारे यहां भेज दो तो शादी कर देंगे ।"

ठाकुर ने कहलवाया--"इब्राहिम और उसकी बीवी के लिये अलग मकान का इन्तज़ाम कर दिया जायगा ।"

तब भी राज़ी न होने पर ठाकुर ने इब्राहीम से सब बातें बतलाईं ।

इब्राहिम ने कहा, "कोई फ़िक्र नहीं, मैं आपको छोड़कर नहीं जा सकता । मुझे शादी की ज़रूरत ही नहीं है ।"

"तुम्हारी शादी तो मैं ज़रूर करूँगा ।"

"आपका हुक्म सर आंखों पर, लेकिन शादी के लिए मैं आपको छोड़कर किसी और का नहीं बनूंगा । मैं ऐसे लोगों की लड़की को अपनी बीवी नहीं बनाना चाहता, जो मुझे सिर्फ़ इस वजह से बद समझते हैं कि एक हिन्दू ने मुझे पाला है और मैं हिन्दू के यहां से और कहीं जाना नामंज़ूर करता हूँ ।"

"इस हिन्दू और मुसलमान के फ़र्क़ को मैं भी पसन्द नहीं करता और यही वजह है कि मैं कांग्रेसी बनकर एक ऐसी जमात में जा मिला हूं, जिसमें हम सब भाई-भाई हैं और वतन की आज़ादी ही हमारे लिए सब कुछ है ।"

"मैं भी अपनी ज़िन्दगी वतन के लिए ही लगाऊँगा । यही मेरा भी मक़सद है, जिसे मैं किसी वक़्त नहीं भूलूंगा ।"

"शाबास! मैं तुम से बहुत ख़ुश हूँ। मेरे मरने के बाद तुम ही मेरे इस चिराग़ में तेल दोगे, जिससे आज़ादी की लौ रोशन रहेगी।"

× × ×

चार वर्ष बाद—

"बेटा कमल! तुम बेकार की ज़िद क्यों करते हो! अगर तुम्हारे पिता इस बारे में कुछ नहीं कह रहे हैं, तो क्या मैं भी चुप्पी साधे रहूँ! मैं अब बूढ़ी हो गई बेटा! मेरे लिए एक सहारे की—बहू की—ज़रूरत है······।"

"माँ, मैं तुमसे कई बार कह चुका कि मैं शादी नहीं करूँगा। सहारे के लिए महाराजिन और इतनी नौकरानियाँ हैं तो सही।"

"बेटा, इब्राहिम को तो कोई लड़की देने को तैयार नहीं है इसी से वह क्वांरा बैठा है, नहीं तो······।"

"पहले उनकी शादी होगी और तब मेरी।"

"देखते हो कमल कैसी ज़िद कर रहा है!"

"कमल होशियार लड़का है, वह तुम्हारे फुसलाने में नहीं आएगा। यह तो क़ायदे की बात है कि पहले बड़े लड़के की शादी हो"—दफ़्तर से आए हुए ठाकुर ने कोट उतारते हुए कहा।

"तुम लोग कांग्रेसी हो गए हो तो इसका मतलब यह थोड़े ही है कि देशप्रेम के लिए अपने घर को उजाड़ लो। बेटा कमल, तुम सोचो तो कि हमारा वंश, घर-गृहस्थी······।"

"यदि देश की भलाई के लिए वंश, जाति, घर-गृहस्थी, सुख, आनन्द सब की भेंट चढ़ानी पड़े तो भी मैं पीछे न हटूँगा। भारतवासी होने के नाते भारत के प्रति जो हमारा कर्तव्य है पहले उसे करना है। वंश और जाति की रक्षा में बंधे बने रहकर ही तो हम परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़ते गए। अब जब हमारी आँख खुली है तो हम बेड़ियों को तोड़ने की प्राणपण से चेष्टा करेंगे।"

"ठीक है बेटा! हम तीनों का यही कर्तव्य है। हम प्रतिज्ञा करते हैं कि जीवन-पर्य्यन्त देश की भलाई में लगे रहेंगे। जब शादी का ठीक समय आ जायगा तो भगवान् देरी न करेगा"—ठाकुर ने कमल की पीठ को थपथपाते हुए कहा और हर्ष से अपने अन्तरिक्ष में बैठे भगवान् की ओर देखना चाहा।

(३)

इब्राहीम, कमलसिंह और ठाकुर तेजपालसिंह अपने अनुपम त्याग और सेवा द्वारा प्रसिद्ध नेताओं में गिने जाने लगे। जनता इनका जितना आदर करती ये लोग उतने ही नम्र बनते जाते थे, कर्मशील तो थे ही; अपने व्याख्यानों द्वारा नर-नारियों को एकता की सलाह देते और उनके हृदयों को देश-प्रेम की लगन तथा उत्साह से भर देते थे।

ठकुरानी बेटों की ज़िद से उदास और निराश हो चुकी थीं, परन्तु जब कभी वे अपने पति और बेटों के बारे में चर्चा सुनतीं उनके हृदय में आनन्द का स्रोत बहने लगता और सर गर्व से ऊँचा हो जाता। यह सब होते हुए भी उन्हें कमलसिंह के अविवाहित रहने का इतना दुःख था कि कभी-कभी वे सोचने लगतीं—"मैं बिना बहू देखे मरी जाती हूँ"—और वे रोने लगतीं।

इस समय इन तीनों नेताओं का यश सम्पूर्ण भारत में फैल चुका था। एक अन्य नेता आज़िम-बेग ने अपनी लड़की इब्राहिम को देने की इच्छा प्रकट की। ठाकुर ने सहर्ष स्वीकृति दे दी। इब्राहिम की शादी हो गई। कमलसिंह ने भी अपने भाई का अनुसरण किया। पंढरपुर के ठाकुर ने अपनी इकलौती कन्या का हाथ कमलसिंह को सौंप दिया।

× × ×

अब ठाकुर तेजसिंह और उनकी पत्नी इस संसार में नहीं हैं। इब्राहीम और कमलसिंह पहले की ही तरह देश-सेवा में लगे हुए हैं। यदि कभी उनकी पत्नियों में खटपट हो जाती है तो दोनों उनको ठीक राह पर ले आते हैं। आज भी वे दोनों भाई ठाकुर के जलाए हुए चिराग़ में तेल देकर उसे जलाए हुए हैं।

वर्तमान संकट और संसार का भविष्य

श्री विजय वर्मा

हिसाब लगा कर देखा गया है कि अगर इस दुनियाँ की आबादी अबकी तिगुनी बढ़ जावे तब भी उसे खाने-पहरने आदि की कमी नहीं हो सकती। पर ऐसी कमी न होने के लिये कुछ आवश्यक शर्तें हैं। क्या इन शर्तों को पूरा करने वाली अवस्था लाने के लिये ही संसार में लड़ाइयों पर लड़ाइयां हो रही हैं? यथेष्ट अन्न और काफ़ी वस्त्र प्रत्येक को मिलने की सम्भावना होने के स्थान पर दुनियां की तीन चौथाई आबादी की लूट खसोट बढ़ती जाती है। लूटने वाले साथी भी आपस में एक दूसरे का गला दबोच देने की ताक में हैं। सुव्यवस्था तथा शान्ति की जगह संसार के प्रत्येक भाग में—प्रत्येक समाज और प्रत्येक देश के घर घर और कोने कोने तक में—दुर्व्यवस्था तथा अशान्ति अपना डेरा डाले हैं। ऐसा नहीं है कि लोग सिद्धान्त में इन शर्तों को न मानते हों। विशेषतः रूस और अमरीका तो बहुत ज़ोर-शोर से इस बात का प्रचार करते आये हैं कि उन्हें इन शर्तों को बाक़ी सबसे मंज़ूर कराने के लिए ही यूरूप और एशिया के सभी देशों के युद्धों में भाग लेना है। पर इन्हें व्यावहारिक रूप देने के लिए वर्तमान समय के सत्ताधारियों में से सचमुच कितने तैयार हैं? पैबन्दों से तो अब कुछ काम चलता नहीं।

पहले महायुद्ध के पहले ग्रेटब्रिटेन की अपने देश से बाहर दूसरे देशों में चार अरब पौंड की पूंजी लगी हुई थी। फ्रांस की थी केवल एक अरब अस्सी करोड़ और जर्मनी की एक अरब बीस करोड़। इसी तरह ग्रेटब्रिटेन का साम्राज्य भी फ्रांस और जरमनी आदि का कई गुना था। अपने इस तरह फैले हुए राज्य में अपना माल भेजने में जो सुविधा ग्रेट ब्रिटेन को थी वह दूसरों को कैसे नसीब होती? इसी तरह अपने राज्यों से अपनी आवश्यकतानुसार कच्चा माल लेने का जो अधिकार वह अपना समझता था और समझता है वह दूसरे देशों को कैसे मिलता? इसका नतीजा यह था कि जरमनी या अन्य देश अपनी मशीनों के बल से चाहे जितना अधिक माल तैयार कर सकते पर बिना ग्रेट ब्रिटेन की मरज़ी के वे उसे खपा न सकते थे और उसकी स्वीकृति अपने देश की भलाई को प्रथम स्थान देने के बाद भी अन्य कई बातों पर विचार करके दी जाती थी। पहले महायुद्ध के पहले जरमनी को और दूसरे महायुद्ध के पहले जापान को भी यह अवस्था अत्यन्त अपमानजनक एवं असह्य जान पड़ी। वास्तव में इसमें जरमनी या जापान को उतना बुरा मानने का अवसर न था जितना स्वयं उन देशों को जिनका तरह तरह का कच्चा माल बाहर भेजा जाता है और दूसरे देशों से 'पक्का' होकर फिर वहीं आकर कई गुने मूल्य पर बिकता है और जिन्हें अपने खाने पहरने का आवश्यक सामान भी दूसरे देशों को देकर उनसे सैकड़ों-हज़ारों ऐसी वस्तुएँ मंगानी पड़ती हैं जिन्हें बना लेने के सब साधन उनके पास हैं—सिवा स्वतन्त्रता के।

यूरुप की आबादी जितनी है उसके लिए खाने की सामग्री यथेष्ट तब समझी जाती है जब क़रीब दस करोड़ आदमियों के लिए खाने-पीने का सामान बाहर से आवे। १९३९ के जुलाई महीने में क़रीब डेढ़ करोड़ परिवार बेकारी की दशा में रहते थे। जो देश स्वाधीन हैं वे अपने यहां के सब लोगों का ऐसा हिसाब रखते हैं कि उन्हें सदैव यह मालूम होता रहे कि उनके यहां कौन कौन और कितने लोग बेकार हैं। वे बेकारी की दशा में लोगों के खाने-पहरने का प्रबन्ध भी करते हैं, उनके बाल बच्चों के खाने-पीने और शिक्षा के लिए ज़िम्मेदार होते हैं, और वृद्धावस्था में प्रत्येक को पेन्शन देते हैं। यह सब गवनमेंट का आवश्यक कर्तव्य निर्धारित हो गया है। इस बात

का भी प्रबन्ध किया जाता है कि बेकारों को जल्दी से जल्दी कोई न कोई काम मिल जावे। उस लड़ाई के पहले जरमनी अपने देश की आवश्यक खाद्य सामग्री का पचासी प्रतिशत अपने ही यहां पैदा कर लेता था। उसे केवल पन्द्रह प्रति शत बाहर से मंगाना था किन्तु फ्रांस आदि देशों की दशा ऐसी न थी। लड़ाई के बाद जरमनी की शक्ति भी चालीस प्रति शत कम हो गई इसलिए वहां के लोगों को भी भूख की यन्त्रणा का सामना करने के लिए तैयार होना पड़ा।

मई १९१९ में केवल आस्ट्रिया में क़रीब चार लाख आदमी राजयक्ष्मा के अस्पताल में पड़े हुए थे। समाचार पत्रों में उन बच्चों के चित्र छप रहे थे जो बारह वर्ष से नीचे थे और बिना उचित खाद्य सामग्री के दुर्बल से दुर्बलतर होते जाते थे—गाल पिचके जाते थे, आँखें बैठी जाती थीं।

हिन्दुस्तान ऐसे देश में जो स्वाधीन नहीं है और इसीलिये जहां के बेकारों की संख्या का कोई हिसाब तक नहीं रखा जाता, न बेकारों के प्रति कोई विशेष कर्तव्य समझा जाता है, तरह तरह के रोगों के शिकार होना और कीड़ों मकोड़ों की तरह मर जाना एक साधारण सी बात है किन्तु स्वाधीन देशों में ऐसा होना साधारण बात नहीं है। ऐसा होने पर वहां गवर्नमेंट का चलना ही असम्भव हो जाय। इसी लिये जरमनी सबसे पहले अपना यह कर्तव्य समझता था कि अपने यहां के सब लोगों के खाने और पहिरने का ठीक प्रबन्ध करे। पर पिछली लड़ाई समाप्त होने के बाद उस पर गहरा जुर्माना किया गया था। उसकी वसूली के लिए उससे दस करोड़ पौंड प्रति वर्ष मांगा जाता था। वह इसे कैसे अदा करता?

अगर लड़ाई के प्रारम्भ होने के पहले की भांति भी वह दूसरे देशों से कच्चा माल पा जाता तो अपनी मशीनों द्वारा तरह तरह की चीज़ें बना कर बाहर भेजता। किन्तु यह असम्भव हो गया था। फलतः उसने उधार लेने की इच्छा प्रकट की। अमरीका महाजन के रूप में तुरन्त सामने आया और इस अवसर से उसने पूरा लाभ उठाना चाहा किन्तु नतीजा उल्टा हुआ। क़रीब चालीस करोड़ पौंड उधार देने के बाद अमरीका ने यह साफ़ तौर से देख लिया कि उसका यह धन पानी में ही चला गया क्योंकि जरमनी के सिक्के—मार्क—की क़ीमत बेहद गिर गई—इतनी अधिक कि वह नहीं के बराबर कही जा सकती थी।

दूसरी ओर स्वयं ग्रेट ब्रिटेन पर अमरीका का सत्तानबे करोड़ बीस लाख पौंड का क़र्ज़ा चढ़ गया था और इंगलैण्ड भी इसे देने में असमर्थ हो रहा था। १९२२ में ही उसने भी अपनी यह इच्छा प्रकट की कि अमरीका 'परोपकार के भाव से नहीं बल्कि स्वार्थ के भाव से ही इस ऋण को छोड़दे क्योंकि बिना ऐसा किए स्वयं उसके व्यापार का चलना सम्भव न होगा और उसके मज़दूरों को काम न मिलेगा।'

यह बात न थी कि अंगरेज़ी पूंजीपतियों के पास धन की विशेष कमी हो गई रही हो किन्तु उनकी चाल यह थी कि अगर यह कर्ज़ा न अदा करना पड़े तो संसार भर में उनकी शक्ति और भी दृढ़ हो जायगी और उनका रंग पूरी तरह जम जावेगा।

उधर फ्रांस अपनी शक्ति बढ़ाने और जर्मनी की शक्ति को पूरी तरह मटियामेट कर देने की चालें चल रहा था। वह चाहता था कि जर्मनी छोटी छोटी कई रियासतों में बँट जावे। और उसकी कोयले की मुख्य खदानों के स्थानों पर यानी आल्सेस-लोरेन में स्वयं फ्रांस का आधिपत्य रहे तथा जर्मन जनता कभी शस्त्रों से सुसज्जित न हो पावे। इसीलिए १९२२ में उसने रूहर (Ruhur) के कोयले के क्षेत्र पर क़ब्ज़ा कर लिया। किन्तु इसका फल भी सर्वथा उल्टा हुआ। सम्पूर्ण जर्मन जाति में एक बिजली सी चमक गई। वे हिटलर के नेतृत्व का महत्व स्वीकार करने लगे। ग्रेट ब्रिटेन और इटली ने भी फ्रांस के इस कार्य को पसन्द नहीं किया। अंगरेज़ी शक्ति की यह इच्छा कभी न थी कि यूरप

में फ्रांस अन्य सब शक्तियों से इतना बढ़ जाये। वह तो शक्ति-संतुलन की नीति को ही यूरुप के लिए काम में लाना चाहता था—जिससे वह सबका सरपंच बना रहे।

रूस में जो समाजवादी पंचायती राज्य लेनिन के नेतृत्व में स्थापित हो गया था उसकी निगाह में फ्रांस, जर्मनी और ग्रेट ब्रिटेन, तीनों ही में पूंजीवादी शासन-पद्धति होने के कारण जनता अर्थात् मज़दूरों और किसानों आदि साधारण लोगों के पास अभी तक यथेष्ट विकास प्राप्त करने के साधन नहीं हैं। प्रथम महायुद्ध के प्रारम्भ होने के कई साल पहले १९०७ ईसवी में स्टटगर्ट की द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशन में लेनिन ने ही यह प्रस्ताव रखा था कि अगर यूरुप में युद्ध छिड़े तो साम्यवादियों को चाहिये कि वे अपने अपने देश के किसान और मज़दूरों को उभाड़ कर ऐसी राज्यक्रांति खड़ी कर दें जिसमें पूंजीशाही का लोप हो जाय और संसार भर में साम्यवादी राज्य की स्थापना सम्भव हो सके। किन्तु जब १९१४ में महायुद्ध प्रारम्भ हुआ तब लेनिन के बहुत समझाने पर भी 'समाजवादी नेताओं में से अधिकांश ने अपने अपने देश का ही साथ दिया।' फ्रांस और इङ्गलैण्ड और अमरीका तक के मज़दूर यह देख रहे थे कि अगर संसार भर में साम्यवादी राज्य हो जाये और प्रत्येक देश स्वतन्त्र हो जावे तो पराधीन और पिछड़े हुए देशों का शोषण बन्द हो जाने से वे इतनी अधिक मज़दूरी न पा सकेंगे। केवल जरमनी में 'यहूदी व्यापारियों के अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव के कारण उनके कारखानों के मज़दूरों ने ऐसे साम्यवादी राज्य का स्वागत करना चाहा और इसका एकमात्र फल यह हुआ कि जर्मनी की राष्ट्रीय शक्ति कमज़ोर पड़ती गई और अन्त में यही उसकी हार का एक प्रधान कारण हुआ। फलतः हिटलर ने इसे यहूदियों के संसारव्यापी षड्यन्त्र का नाम दिया और यहूदियों का कट्टर वैरी बन बैठा। उन्हें जरमन देशों से निकाल देने का उसने दृढ़ संकल्प कर लिया।'

जिन लेखकों ने उस महायुद्ध के वास्तविक रहस्यों के परदे खोले उनमें एच० जी० वेल्स का नाम विशेष प्रसिद्ध हुआ। जिस बेदर्दी के साथ, बिना जनता के वास्तविक लाभ के विचारों के, सिपाहियों को युद्धक्षेत्र की अग्नि में झोंका गया उसका उन्होंने सच्चा और हृदयदावक वर्णन लिखा। उन्होंने यह आशा भी प्रकट की कि भावी संसार उन लोगों को जो उस युद्ध के समय विचक्षण बुद्धिमान्, देशभक्त और प्रतापी नेता माने गये थे संकीर्ण-बुद्धि, संकीर्ण हृदय और पागलों जैसा समझेगा। विशेषतः वरसाई की संधि में जिस क्षुद्रता का परिचय दिया गया उसने उन्हें ग्लानि और रोष से भर दिया था। १८७० ई० में जरमनी ने फ्रांस को पराजित करके वरसाई में सुलह की थी। उसी स्थान पर इस तरह संधि की गई मानो जरमनी की उस पिछली जीत का पूरा बदला व्याज सहित चुकाया जा रहा हो। लोगों को सब से अधिक निराशा अमरीका से हुई। उसके प्रेसिडेन्ट उडरो विल्सन ने लड़ाई के समय ऐसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था जो सभी देशों की जनता को अपने लिए सचमुच लाभप्रद दीखे थे। उनका नाम दुनिया के एक छोर से दूसरे छोर तक बड़े आदर के साथ लिया जाने लगा था। किन्तु जब उन सिद्धान्तों को कार्यरूप में परिणत करने का समय आया तब वे सब हवा में उड़ गये। साम्राज्यवादी और पूंजीवादी शक्तियाँ प्रबल से प्रबलतर हो गईं। हिन्दुस्तान ज्यों का त्यों पराधीन रहा, यद्यपि उसने अपने धन-जन की पूरी आहुति दी थी। जरमनी को ऐसा जकड़ने का प्रबन्ध किया गया कि वह किसी तरह अपने बन्धन न तोड़ सके। उस के सब प्रदेश (Colonies) छीन लिये गये और उस पर इतना जुरमाना किया गया कि वह उसे देकर किसी तरह पनप न सके बल्कि पराधीन देशों के समान निर्बल हो जावे। रूस में सोवियत् राज्य क़ायम हो जाने से अंग्रेज़ी और अमरीकन गवर्नमेंटें उससे

[३०५ पृष्ठ]

ब्राह्मण्यवाद

बैजनाथ सिंह "विनोद"

जिस प्रकार व्यक्ति में अन्तरमुखता और बाह्य-मुखता होती है, उसी प्रकार समाज में और जातियों में भी ये वृत्तियाँ होती हैं। दरअसल सामुदायिक जीवन और सामाजिक बर्तन की प्रणाली के घात-प्रतिघात से ही व्यक्ति और जाति में इन दोनों वृत्तियों का विकास होता है। संसार में सभी जगह ये दोनों वृत्तियां मिलती हैं। हिन्दुस्तान के इतिहास में भी हम इन दोनों वृत्तियों को पाते हैं। सामूहिक जीवन में हम इन दोनों वृत्तियों को जातीयता तथा अन्तर्जातीयता या राष्ट्रीयता तथा अन्तर्राष्ट्रीयता कह सकते हैं।

यहाँ एक भ्रम भी सम्भव है। आज जिस राष्ट्रीयता को हम देख रहे हैं, वह हमारे प्राचीन इतिहास में नहीं है; पर वह उसी जाति की चीज़ है, जिसका विकसित रूप आज की राष्ट्रीयता है। प्राचीन भारत की राष्ट्रीयता या जातीयता ब्राह्मण्यवाद के सहारे थी। दूसरे शब्दों में प्राचीन भारत में ब्राह्मण्यवाद राष्ट्रीय धर्म था। उसी तरह प्राचीन भारत में अन्तर्जातीयता या अन्तर्राष्ट्रीयता भी थी। जन्मगत, देशगत और रंगगत बन्धन से परे, आचार मूलक और कर्मों के आधार पर विकसित इसी अन्तर्जातीयता के भाव ने बौद्ध धर्म का रूप लिया। दूसरे शब्दों में प्राचीन भारत में अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रतिनिधित्व बौद्ध धर्म कर रहा था।

प्राचीन भारतीय समाज के मूल में संरक्षित सामग्री के रूप में हमें ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त का वह मन्त्र मिलता है, जिसमें लिखा है "उस प्रजापति के मुख ब्राह्मण, बाहु क्षत्रिय, उरु वैश्य थे, और पदों से शूद्र उत्पन्न हुए।"[1] आचार्य क्षितिमोहन सेन महोदय कहते हैं—"ऋग्वेद में ब्राह्मण शब्द कम ही आया है। जहाँ आया है वहाँ भी ज्ञानी या पुरोहित के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। क्षत्रिय शब्द का उल्लेख भी बहुत ज़्यादा नहीं है और वैश्य तथा शूद्र का तो एक मात्र उल्लेख पुरुष-सूक्त के इस मन्त्र में ही है।"[2] और पड़ताल करने के बाद आचार्य सेन कहते हैं—"इस प्रकार देखा गया कि यह वर्ण-भेद जन्मगत है। ब्राह्मण से ब्राह्मण, क्षत्रिय से क्षत्रिय, वैश्य से वैश्य और शूद्र से शूद्र उत्पन्न होता है।"[3] इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे देश में चार वर्णों की यह वर्ण-व्यवस्था बहुत पुरानी है; और जब से है तभी से जन्मगत है।[4] पर क्या यह हमारे ही देश में है? प्राचीन चीन के चौ (Chou) वंश के राजत्व काल में चीनी समाज भी चार श्रेणी में विभक्त था। इजिप्ट, बेबीलोनिया और प्राचीन एशिया माइनर के समाज में भी इसी तरह श्रेणी-विभाग था। प्राचीन बेबीलोन के पुरोहित जिस ढङ्ग के वस्त्र पहनते थे, उसी ढङ्ग के वस्त्र से आवृत्त मूर्ति मोहन-जो-दड़ो में मिली है। ईरान आदि देशों में भी पुरोहितों का प्राधान्य था। पुरोहित शासक भी होता था। आर्यों के अन्दर भी ऋषि लोग थे। हिन्दुस्तान में आर्यों के आगमन के बाद आर्यों के ऋषियों और यहां के पुरोहितों का स्वार्थ एक होने के कारण यह दोनों धार्मिक क्रियाओं द्वारा समाज पर प्राधान्य रखने वाले दल एक हुए हों तो अचरज नहीं। बहुत से विचारकों का ऐसा मत है भी। वृत्रासुर राजा था, उसे इन्द्र ने मारा। इन्द्र को ब्रह्महत्या का पाप भी लगा, जिसका उसने प्रायश्चित् भी किया।

आर्यों के समाज में ऋषि विचारक हैं, तपस्वी हैं, मान्य हैं; किन्तु समाज के नेता या संचालक इन्द्र हैं। इन्द्र योद्धा हैं, तपस्वी नहीं हैं। इन्हीं इन्द्रों में से

१, २, ३—आ० क्षितिमोहन सेन "भारतवर्ष में जाति भेद" पृष्ठ ७

४—यद्यपि शुरू में उसके अन्दर लचीलापन भी था। आज की सी वर्जनशीलता पहले नहीं था।

किसी ने पुरों की दासता-जन्य सभ्यता को ढहा कर पुरन्दर की उपाधि धारण की थी; किन्तु फिर उन्हीं दासता की (सामन्ती) सभ्यता के लोगों में उन्हीं का शासक होकर इन्द्र अपनी सभ्यता के साथ उन्हीं में मिल गया। लेकिन एक समय के इन संघर्षों के परिणाम स्वरूप शासन-तन्त्र पर से पुरोहित को हटना पड़ा और उस पर राजन्य आसीन होगया। किन्तु शासन-तन्त्र पर से पुरोहित के हट जाने पर भी, बिना उसके शासन-तन्त्र का चलना शायद सम्भव नहीं था। पर फिर भी राजन्य को ब्राह्मण वर्ग राजा मानने को राज़ी न था। वह सोम को अपना राजा मानता था और राज कर देने के लिए भी तैयार नहीं था। यह संघर्ष सदियों तक चलता रहा। पर आगे चल कर यह समन्वय या समझौता हुआ कि "केवल पुरोहित ब्राह्मण कर से मुक्त है।"[५] धार्मिक मामलों में पहले तो वैदिक यज्ञ और अवैदिक पूजा-पद्धति में विरोध रहा। पर आगे चलकर धीरे-धीरे दोनों में समझौता चलने लगा। जिस विष्णु को भृगुने लात जमाया, उसी विष्णु ने इन्द्र की जगह हथियाली। महादेव भी शिव बनकर, रुद्र का रूप धारण करके आ घुसा। उधर यज्ञ में कर्मकाण्ड का विधान इतना बढ़ा कि सामन्त, राजा, महाराजा और राजाधिराजा याज्ञिक क्रिया-कलापों भर ही रह गये। लड़ना, सम्पत्ति जुटाना और यज्ञ कर के ब्राह्मणों को दान देना ही उनका काम रह गया।

पर जब से ब्राह्मणों के कर्मकाण्डों का बखेड़ा पैदा हुआ, उसी समय से आचार और मानवी कर्मों को प्रधानता देने वाले अन्तर्जातीय या अन्तर्राष्ट्रीय विचारों का जन्म भी मुनियों और यतियों के अन्दर हो चला था। उसका विकास धीरे-धीरे समाज में हो चला। शासनतन्त्रों में उसका प्रभाव बढ़ा। परिणाम स्वरूप उपनिषदों की विचार-धारा का जन्म हुआ। उपनिषदों की विचार धारा में राजन्य या क्षत्रियों की प्रधानता थी। ज़ाहिर है कि यह ब्राह्मणवादी कर्म-काण्डों के विरुद्ध हुए संघर्षों का फल या समन्वय था। पर आगे चलकर इसी विचार-धारा की परम्परा में महावीर और बुद्ध का विकास हुआ। इनमें से एक आत्मवादी और दूसरा अनात्मवादी था। आगे चलकर हज़ार साल तक जो इन दोनों के विचारों को लेकर भारतीय संस्कृति में संघर्ष चला, उसी के परिणाम स्वरूप भारतीय संस्कृति मानव संस्कृति की अधिकारिणी बन पाई।

ब्राह्मणवाद किसी कबीले का धर्म नहीं; यह धर्म समाज पर सत्ता क़ायम रखने वाले समूह का है। शुरू में रक्त शुद्धि या दूसरे कबीले से अलग रहना और वर्जनशीलता की "मैना" भावना सभी प्राचीन जातियों में पाई जाती है। यह भावना हिन्दुस्तान की पुरानी जातियों में भी थी। रक्त-शुद्धि की भावना ही कौलीन्याभिमान के मूल में है। आर्यों के संघर्ष के बाद सत्ता पुरोहितों के हाथ से हटी; किन्तु यहाँ के समाज की प्रकृति में उनका प्राधान्य था; इसलिए बिना उनके शासन-शकट का चलना कठिन था। प्रकृति को संतुष्ट रखने का उपदेश कौटिल्य भी देता है। इसलिए राजन्य या क्षत्रिय शासकों को ब्राह्मण प्राधान्य कबूल करना पड़ा। इस तरह दोनों का स्वार्थ एक हो गया। दोनों अन्योन्याश्रित हो गये। इसीलिए ब्राह्मणवाद योद्धा और धर्मभाव समन्वित हुआ।

ब्राह्मणवाद के अन्दर भिन्न-भिन्न समय में भिन्न भिन्न जातियाँ मिलती गई हैं। शुरू में ब्राह्मणवाद विदेशी जातियों से संघर्ष करता है; इस संघर्ष में देश की सामाजिक प्रकृति का उपयोग करता है; और बाद में विदेशी जातियों के देवता को अपने किसी देवता के अन्तरभुक्त करके उसे मिलाता है और उस जाति के पुरोहित वर्ग को ब्राह्मण तथा सैनिक और सामन्तों को क्षत्रिय वर्ण का करार दे देता है। यही कारण है कि हिन्दुस्तान में सैकड़ों कबीलों के टोटेम देवता के रूप में मौजूद हैं, और ब्राह्मण तथा क्षत्रियों की सैकड़ों क़िस्में हैं। इस तरह ब्राह्मणवाद

५—जायसवाल—"हिन्दू राज-तन्त्र" [भाग २] पाद टिप्पणी २२६; और डा० दत्त "परिचय" वर्ष १०, खण्ड २, संख्या १

तब तक किसी विदेशी जाति से संघर्ष करता है, जब तक वह वर्ण-व्यवस्था को क़बूल न कर ले। और वर्ण-व्यवस्था को क़बूल कर लेने के बाद उस जाति का पुरोहित और योद्धा वर्ग तो हिन्दू समाज के अन्दर उच्च और अच्छी श्रेणी में चला जाता है; बाक़ी ज़्यादा से ज़्यादा संख्या—जिसमें शिल्पी, रथ-कार, और सेवकों की श्रेणियां हैं—शूद्र श्रेणी में जाकर अपने भाग्य को कोसती और पूर्व कर्म के नाम पर रोती हैं। यही कारण है कि हिन्दू समाज में शूद्रों की संख्या अन्य तीनों वर्ण (द्विजों) के बराबर ही नहीं, ज़्यादा है।

इस तरह ब्राह्मण्यवाद किसी एक जाति या किसी एक कबीले का धर्म नहीं है। यह बहुत-सी ऐसी जातियों और कबीलों का धर्म है, जिसने वर्ण-व्यवस्था को क़बूल किया हो। यह वर्ण-व्यवस्था वैसे तो चार श्रेणियों में मानव-समुदाय को बांटती है; किन्तु इसी के अन्दर एक और विभाजन है, जिसके ज़रिये द्विज और शूद्र दो श्रेणियों में मानव-समुदाय बंट जाता है। आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से ये द्विज सर्वश्रेष्ठ शक्ति सम्पन्न हैं। शूद्र तो एक मात्र सेवा के लिये समझा गया है और तरह तरह से उसको उसी लायक़ बनाए रखने की व्यवस्थाएं भी बनती रही हैं। कौटिल्य से पहले आम शूद्र को नागरिकता का अधिकार तक नहीं था। सिर्फ़ कहीं कहीं बहुत धनी शूद्र ही पौर-जनपद के सदस्य हो सके थे। सब से पहले कौटिल्य ने ही 'आर्य-प्राण' कह कर शूद्रों को नागरिकता का अधिकार दिया।

बौद्ध धर्म के प्रभाव से जब ब्राह्मण्यवाद का ज़ोर कुछ कम हुआ, तो शूद्र कहे जाने वाले लोगों का कुछ निस्तार शुरू हुआ। चन्द्रगुप्त मौर्य ने इस दिशा में राजनीतिक दृष्टि से कुछ महत्वपूर्ण काम किये। फिर अशोक ने उस परम्परा को आगे बढ़ाया। जहाँ पहले यह था कि मुक़दमों का फ़ैसला करने के लिए न्यायाधीश ब्राह्मण ही हो, वहाँ उसने इस नियम को अमान्य किया। उसका प्रधान मन्त्री राधा गुप्त भी ब्राह्मण नहीं था। उसके ऐलानों में भी ब्राह्मणों का विशेष महत्व नहीं क़बूल किया गया। अशोक ने बौद्ध धर्म को बहुत आगे बढ़ाया। बौद्ध धर्म का प्रचार ब्राह्मण्यवाद पर आघात भी करता था—उससे पुरोहित श्रेणी के स्वार्थों पर बाधा पड़ती थी। पर चूंकि बौद्ध धर्म अन्तर्जातीय धर्म था; इसलिए उसमें विदेशी शकों और तुखारों आदि को आने का मौक़ा था। और जब मौर्य साम्राज्य सैनिक दृष्टि से निर्बल पड़ गया, तो शकों ने गङ्गा जमना के कछार तक अपना अधिकार जमा लिया। इधर मौर्यों की नीति अहिंसा की थी और उधर शक अपने राज्य में अपने विरोधी ब्राह्मणों को मारते और उनके धार्मिक कामों को असम्भव बनाते जा रहे थे।[६] इसीलिए मौर्यों के विरुद्ध समाज में असन्तोष बढ़ा, जिसके परिणाम स्वरूप सेनापति पुष्यमित्र ने बृहद्रथ को मार कर राज्य पर अधिकार कर लिया। और ब्राह्मणों का प्रभाव बढ़ता ही गया।

सेनापति पुष्यमित्र ने राज्य पर अधिकार करके ब्राह्मण्यवाद का खुला समर्थन किया और अशोक द्वारा क़ायम की हुई सामाजिक व्यवस्था को बदल दिया; इधर पुष्यमित्र और उधर गौतमी पुत्र सातकर्णी ने ब्राह्मण्यवाद को प्रोत्साहन दिया। इसके बाद ही

६—"एक बौद्ध-धर्म ही ऐसा था, जिसके द्वारा विदेशी शक लोग उस प्राचीन सनातनी और अभिमानी समाज का मुक़ाबला कर सकते थे जो मनुष्यों के प्राकृतिक तथा जातीय विभागों के आधार पर संगठित हुआ था। ब्राह्मणों की वर्ण-व्यवस्था के कारण ये म्लेच्छ शासक बहुत ही उपेक्षा और घृणा की दृष्टि से देखे जाते थे, जिससे उन म्लेच्छों को बहुत बुरा लगता था और इसलिए उस सामाजिक व्यवस्था के नाश के लिए वे लोग अनेक दबाव करते थे, जो उन्हें बहिष्कृत रखती।" [पृष्ठ ६१]

"ये म्लेच्छ लोग ब्राह्मणों की हत्या करते हैं और उनके यज्ञों तथा धार्मिक कृत्यों में बाधा डालते हैं······।"

···"उस समय वेदों के वाक्य व्यर्थ हो जायँगे, शूद्र लोग "भो" कह कर समानता सूचक शब्दों में [ब्राह्मणों को] सम्बोधन करेंगे और ब्राह्मण लोग उन्हें आर्य कह कर सम्बोधन करेंगे। जायसवाल—'अन्धकार युगीन भारत" [पृष्ठ ६८-६९]

नागों, वाकाटकों और भारशिवों का काल आता है। ये सभी ब्राह्मण या ब्राह्मण्यवादी राजा थे। उस समय जैसी सामाजिक अवस्था थी, उसको देखते हुए यह ब्राह्मण्यवादी प्रतिक्रिया स्वाभाविक भी थी। उस ब्राह्मण्यवाद के अन्तर्गत ही देश का राष्ट्रीय जीवन अपने को सुरक्षित रख सकता था। उस समय की अन्तर्राष्ट्रीयता जगत् व्यापी नहीं थी कि हम अपनी राष्ट्रीयता को उसके लिए कुर्बान कर देते—यद्यपि उस समय भी ब्राह्मण्यवाद में अनेक खामियाँ थीं। पर जिस समय—"शकों ने खूब समझ बूझ कर सामाजिक क्रान्ति उत्पन्न करने का प्रयत्न किया था। उनकी योजना यह थी कि उच्च वर्ग के लोगों और कुलीनों का दमन किया जाय, क्योंकि वही लोग राष्ट्रीय संस्कृति तथा राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के रक्षक थे। इस प्रकार वे लोग ब्राह्मणों और क्षत्रियों का सब प्रकार से दमन करते थे। हिन्दू राजाओं की सैनिक शक्ति से शक लोग नहीं घबराते थे, क्योंकि उस पर वे विजय प्राप्त कर ही चुके थे; पर हिन्दुओं की सामाजिक प्रथा से उन्हें बहुत डर लगता था। वे जन साधारण के मन में भय उत्पन्न करके और उन्हें बल पूर्वक धर्म भ्रष्ट करके तथा अपने धर्म में मिला करके आचार भ्रष्ट करना चाहते थे।···उन्होंने कई बार एक साथ बहुत से लोगों की जो हत्याएं कराई थीं, उनका उल्लेख गर्ग-संहिता और पुराणों में भी है। वे लोग इस देश का बहुत सा धन अपने साथ बैक्ट्रिया लेते गये थे।"[७] जिस समय राष्ट्र के के सिर पर ऐसी विपत्ति हो, उस समय वही राष्ट्र का धर्म होगा, जिससे उसकी रक्षा हो। चूंकि ब्राह्मण धर्म ने वह काम किया, इसलिए जनता का वह धर्म बना। और चूंकि बौद्ध धर्म ने इन शकों को अपने में क़ायम रखा; इसलिए ही उसी समय से बौद्ध धर्म के प्रति उच्च श्रेणी में एक प्रकार की उपेक्षा और विरोध का भाव शुरू हुआ।[८]

इस काल में ब्राह्मण्यवाद का जो ज़ोर हुआ, उसके मूल में नागों का विशेष महत्व है। मालवगण भी ऊपर चल कर नागों की एक शाखा में मिल जाता है। विद्वानों की राय है कि नाग जाति का निवास हिन्दुस्तान में आर्यों के आगमन के भी पहले था। बहुत सम्भावना यह है कि नागों के हाथ से आर्यों ने सत्ता छीनी और फिर वह नागों की सनातनी सभ्यता में अपनी वैदिक सभ्यता के साथ मिल गये। वाकाटक वंश का संस्थापक विन्ध्य शक्ति"···जो जन्म भर कट्टर ब्राह्मण बना रहा (चकार पुण्येषु परं प्रयत्नम्), वस्तुतः किलकिला के वृषों का एक सेनापति था।" वृष भारशिवों को कहते थे। इस तरह हम देखते हैं कि ब्राह्मण्यवाद का पुनरुद्धार करने में प्राचीन काल के ब्राह्मण्यवादियों का ही विशेष हाथ है।

पर इस काल में ब्राह्मण्यवाद का जो पुनरुद्धार हुआ, उसमें भी काफ़ी लचीलापन था। विन्ध्य-शक्ति के लड़के प्रवरसेन प्रथम ने क्षत्रिय राजकुमारी से शादी की थी। ब्राह्मण्यवाद को क़बूल कर लेने पर छोटी जातियों का ऊपर उठना उस काल में सम्भव था। उसी काल में एक सर्व भारतीय साम्राज्य की नींव पड़ी, जिसे गुप्तों ने पूरा किया। उसी काल के लगभग (अर्थात् २५० ई० में) संस्कृत के पक्ष में एक बड़ा साहित्यिक आन्दोलन आरम्भ हुआ था; जिसकी पूर्ण सफलता गुप्तों के समय में हुई। उस समय सामाजिक पुनरुद्धार या सुधार का जो आन्दोलन शुरू हुआ, उसमें वर्ण-व्यवस्था पर ज़ोर दिया गया था और ऐसा इसलिए किया गया था कि कुशान शासन के समय जो बातें समाज के अन्दर घुसी थीं, उन्हें निकालना था। लेकिन चाहे मलेरिया रोग को मारने के लिए ही कुनैन का प्रयोग किया गया हो; पर उसका शरीर पर बुरा असर तो होगा ही। सना-

---

७—जायसवाल "अन्धकार युगीन भारत" १०१-१०२

८—राष्ट्रीय शत्रु होने के कारण ही आज अंग्रेज क़ौम हिन्दुस्तान की घृणा का पात्र है। और अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीति के कारण ही कम्युनिस्टों के "पीपुल्स वार" के नारे के प्रति लोगों की उपेक्षा है। यदि अंग्रेजी सरकार कांग्रेस की मांग मंजूर कर लेती, तो हिन्दुस्तान में दूसरी ही फ़िज़ा होती।—लेखक

तनी वर्ण-व्यवस्था की पुनर्स्थापना का बुरा फल भी सामने आने लगा। बौद्ध प्रभाव वाले गणतन्त्र—चाहे वह विदेशियों के प्रभाव में न भी हों—बुरी नज़र से देखे जाने लगे। कैवर्तों, पंचकों, मद्रकों, लिच्छवियों और कारस्करों आदि को इसलिये बुरा कहा गया—शूद्र कोटि में रखा गया—कि वह लोग सनातनी चातुर्वर्णाश्रम को नहीं मानते थे। वेद को प्रमाण न मानने वालों को व्रात्य कह कर गालियाँ दी गईं। गुप्त राज-वंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त प्रथम का इसलिए विरोध किया गया था कि उसका लिच्छवियों से सम्बन्ध था और उसने ब्राह्मण सम्राट् प्रवरसेन प्रथम का साम्राज्याधिकार मानने से इन्कार किया था। पर जब समुद्रगुप्त ने ब्राह्मण्यवादी नीति के आगे आत्मसमर्पण कर दिया—वाकाटक सम्राटों के ब्राह्मण्यवादी पुनरुद्धार नीति को क़बूल कर लिया, संस्कृत को राजकीय भाषा बनाकर उसे अपने दरबार में स्थान दिया—तब उसे विष्णु के समकक्ष स्थान दिया गया। "एरन में समुद्रगुप्त द्वारा स्थापित जो विष्णु की मूर्ति है, उसे जिस किसी ने देखा होगा, उसे स्वयं समुद्रगुप्त का भी स्मरण हो आया होगा और उसने उस मूर्ति में स्वयं समुद्रगुप्त की आकृति और परिच्छद देखे होंगे।"[१] यह सही है कि गुप्तों की नीति उदार और शान्तिप्रिय थी; पर यह उदारता वहीं तक थी, जहाँ तक ब्राह्मण्यवाद में सम्भव था।

आन्ध्र सातवाहन काल के पहले से शुरू करके वाकाटक भारशिव तक दक्षिण में ब्राह्मण्यवाद जा चुका था। पल्लव राजे ख़ुद भी कुलीन ब्राह्मण थे और उन्होंने वर्ण-व्यवस्था का प्रचार भी किया। गुप्तों के काल में यह प्रक्रिया और भी बढ़ी। साम्राज्य की नीति ब्राह्मण्यवादी होने के कारण आम लोगों पर भी उसका ख़ासा असर बढ़ रहा था। फलतः ब्राह्मण्यवाद विरोधी व्रात्यों के प्रति समाज में हीन भावना भी बढ़ रही थी। गुप्तों की नीति गणतन्त्रों के समूल नाश की थी। वह गणतन्त्रों की सामाजिक प्रथा और शासन-तन्त्र को मिटा कर एक साम्राज्य के लिये सभी जगह एक-सी सनातनी वर्ण-व्यवस्था के कायल थे। इसीलिए गुप्तों का गणतन्त्रों से बराबर संघर्ष था। पर अन्त में गुप्तों ने इन गणतन्त्रों का ख़ात्मा करके भारतीय स्वाधीन-चिन्तन और आत्म-चेतना का एक बारगी दम घोंट दिया। पर इसका यह अर्थ नहीं कि बौद्ध धर्म सर्वथा मिट गया। नहीं ऐसा नहीं था। किन्तु ये दोनों धर्म भी अपने पूर्व रूप में नहीं रह गये थे। जैन धर्म ब्राह्मण्यवाद से समझौता की ओर झुक गया था। बौद्ध धर्म में भी महायान पन्थ के साथ घुन लग गया था। महायान का सारा साहित्य संस्कृत में है, जो बताता है कि किस सामाजिक ज़रूरियात से प्रेरित होकर बौद्धों ने जन-भाषा में लिखना बन्द करके पुरोहित-सामन्त भाषा (संस्कृत) में लिखना शुरू किया। महन्ती प्रथा का विकास हुआ, जिससे बौद्ध संघों में भी नाना तरह की बुराइयां पैदा हो गईं। पर बौद्धों के दार्शनिक चिन्तन का असर बाकी था। नालन्दा और विक्रम-शिला विद्यापीठों का विकास भी इसी काल में हुआ। किन्तु शासन सूत्र पर ब्राह्मण्यवाद का प्रभाव था, जिसका असर बहुत व्यापक था। गणतन्त्र नष्ट कर के उनकी परिषद् की जगह गुप्तों के करद राजे नियुक्त हुए। इसीलिये इस काल में सारा देश सामन्ती शासन के अन्दर आ गया। सनातनी वर्ण-व्यवस्था के अनुकूल सारा साहित्य तैयार होने लगा। पौराणिक देवताओं में वैदिक रूह फूंक कर और सम्पूर्ण देश की प्रधान नदियों की अर्चना करके ब्राह्मण्यवाद की छाया में एक भारतीय संस्कृति का निर्माण किया गया।

पर जिस गुप्त साम्राज्य के अन्दर इस भारतीय संस्कृति का निर्माण हुआ; जिस गुप्त साम्राज्य की छाया में हिन्दू धर्म का ८५%प्रतिशत बना है, उस गुप्त साम्राज्य के सम्बन्ध में इतिहास कहता है—"विष्णु पुराण के इतिहास लेखक का राजनीतिक सिद्धान्त यह था कि वह कभी किसी के साथ शक्ति और बल का प्रयोग करना पसन्द नहीं करता था;

१—जायसवाल "अन्धकार युगीन भारत" पृष्ठ २६१

और उसकी कही हुई जो एक मात्र बात हिन्दुओं को पसन्द आ सकती थी, वह उस प्रकार की शासन प्रणाली थी, जैसी भारशिवों ने प्रचलित की थी, जिसमें सब राष्ट्रों का एक संघ स्थापित किया गया था और जिसमें प्रत्येक राष्ट्र को पूरी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्राप्त थी। हिन्दू गण-तन्त्रों में जो संघ वाली शासन प्रणाली किसी समय प्रचलित थी' उसी का विकसित और परिवर्द्धित रूप भारशिवों वाले संघ का था। वह बराबरी का अधिकार रखने वाले राष्ट्रों का एक संघ था, जिसमें सब लोगों ने मिलकर एक शक्ति को अपना नेता मान लिया था। यदि गुप्त लोग भी इसी प्रणाली का प्रयोग करते, तो पौराणिक इतिहास लेखक अधिक अच्छे शब्दों में उनका उल्लेख करता।"[१०] पर गणतन्त्रों का नाश कर के सामाजिक असमानता के सिद्धान्त पर गुप्तों ने अपने काल में सामाजिक व्यवस्था कायम की। और गुप्तों ने यह सब किया अपनी साम्राज्यवादी नीति की सफलता के लिए।

पर इसका फल आगे चल कर बहुत बुरा हुआ। शूद्रों की संख्या बढ़ती गई। ये शूद्र सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक सभी मामलों में पिछड़े, सताए और दबाए हुए थे। शकों ने अपने समय में इन्हें कुछ ऊपर उठाया भी था; इस तरह उनमें से कुछ अपना मूल्य भी समझ रहे थे। जो कुछ बौद्ध बच गए थे, उनके साथ भी सामाजिक द्वन्द चल रहा था। गुप्त साम्राज्य की केन्द्रिय शक्ति के कमज़ोर होते ही सूबों के गवर्नर स्वतन्त्र हो गए; छोटे-छोटे सामन्तों में द्वन्द चलने लगा। उन्हें रोकने वाला सामाजिक अनुशासन ख़तम ही हो गया था। पर इस समय भी हर्षवर्धन के रूप में एक हिन्दू शक्ति थी। हर्ष ने हिन्दू साम्राज्य को कायम रखने की कोशिश की; लेकिन सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से जर्जर व्यवस्था गिरती ही गई। बौद्ध होने के कारण हर्षवर्धन को मारने का षड्यन्त्र भी ब्राह्मणों ने किया। शैव शशाङ्क ने नालन्दा विहार को जलाया और बौद्धों पर ज़ुल्म भी किया। पर हर्ष की कोशिश से उत्तर-पच्छिम भारत में बौद्ध धर्म का प्रभाव था। शायद इसी प्रभाव को मिटाने के लिए ब्राह्मणों ने आबू पहाड़ पर आख़िरी बार शुद्धि मूलक यज्ञ कर के एक अग्निकुल को जन्म दिया। याद रहे इस अग्निकुल की पैदाइश उस जगह होती है, जहाँ क्षत्रपों का शासन था; जहाँ विदेशी शकों का प्रभाव था। इसीलिए डा० भूपेन्द्रनाथ दत्त महाशय कहते हैं—"इसका अर्थ यह है कि क्षत्रप चस्तन ही "सिंह" उपाधि धारण करके शुद्धि क्रिया द्वारा क्षत्रियत्व को प्राप्त हुए, एवं इन्हों ने ही "अग्निकुल राजपूत" नाम धारण किया।"[११] इस तरह ब्राह्मण्यवाद ने आख़िरी बार अपनी सत्ता की रक्षा के लिए "राजपूतों" रूप का कवच धारण किया था। आबू पहाड़ पर यह शुद्धि मूलक यज्ञ सातवीं शताब्दी में हुआ। और शुद्धि की यह प्रक्रिया दसवीं शताब्दी तक जारी थी। इसके बाद जातिवाद और वर्ण-व्यवस्था ठोस होकर अचल होगई। यह आन्दोलन बिहार तक व्यापक था। इस आन्दोलन ने बचे हुए भारतीय मानव समुदाय को द्विजत्व की दो श्रेणियों में बाँट दिया। सरदार, सामान्त, विद्वान और पुरोहित तथा बड़े बड़े व्यापारी तो द्विज की उच्च श्रेणी में मिल गए, बाकी लोग शूद्र बनकर ब्राह्मण्यवाद की बलि चढ़ गए। इस तरह जो परम्परा से उपेक्षितों, शोषितों और अपमानितों की संख्या थी, वह इस काल में और भी बढ़ गई।

हम यह देखते हैं कि शुरू में राष्ट्र-सत्ता पर ब्राह्मणों का अधिकार था। वह समाज-सत्ता के भी स्वामी थे। बाद में जब राष्ट्र-सत्ता पर क्षत्रियों का अधिकार हुआ, तब भी समाज के अधिकारी होने के नाते ब्राह्मणों की प्रधानता थी और उन्होंने अपने स्वार्थ को क्षत्रियों में भी बाँट दिया। फिर वैश्य भी उसमें मिले। इस तरह ब्राह्मण्यवाद की राष्ट्रीय प्रकृति में समाज की उच्च श्रेणी या यों कहें कि शोषक श्रेणी

१०—जायसवाल—"अन्धकार युगीन भारत" पृष्ठ ४६५

११—डा० दत्त—"परिचय" वर्ष ११, खण्ड १, संख्या ३

का स्वार्थ निहित है। राष्ट्र पर इसी श्रेणी का आधिपत्य था, इसीलिये ब्राह्मणवाद राष्ट्रीय धर्म था। इस तरह ब्राह्मणवाद एक सबल, सशक्त ऐसी श्रेणी का धर्म है, जिसका समाज पर बराबर से अधिकार रहता आया है। और इसीलिए ब्राह्मणवाद क्रमशः ब्राह्मण और क्षत्रियों के स्वार्थ के लिये ही जीता और बढ़ता है। जो पहले इसमें कुछ अच्छाई नज़र आती है, उसका कारण उसके विरोधी और भारतीय प्रकृति के धर्मों का जीवित रहना है। इसलिये हम बौद्ध धर्म के पतन के साथ साथ ब्राह्मणवाद में ठोसपन, पथराना और पतन पाते हैं। ब्राह्मणवाद दूसरों के श्रम पर निर्भर रहता है, वह परोपजीवी धर्म है, इसलिए वह शूद्रों को बराबर क़ायम रखता है और उनकी आत्म चेतना को मारने के लिये नाना तरह के विचारों को धर्म के नाम पर फैलाता रहता है। ब्राह्मणवाद असमानता मूलक है, असमानता लेकर ही वह सदैव चला है, इसीलिए कभी उसमें समानता नहीं आई। ब्राह्मण धर्म की इस असमानता ने ही सदैव उसका विरोधी पैदा किया है और इन्हीं विरोधों के कारण उसमें परिवर्तन हुआ है। ब्राह्मणवाद में ऐसा परिवर्तन तब तक भारतीय मालूम होता है; जब तक विदेशी जाति अपनी संगठित सामाजिक व्यवस्था को लेकर नहीं आती। पर जब दसवीं शताब्दी में तुर्क विजेता अपनी समानता मूलक इसलामी व्यवस्था लेकर आते हैं और ज़ोरों से "मुसलमान बिरादरान" का ऐलान करते हैं, तब असमानता मूलक ब्राह्मणवाद अपनी सैनिक शक्ति के साथ छिन्न-भिन्न हो जाता है। तुर्क विजेताओं द्वारा सिन्ध जीतने का रहस्य सैनिक शक्ति में उतना नहीं है, जितना 'समनियों' बौद्धों द्वारा उनको भेद बताने और उनका स्वागत करने में है। समनियों के ऐसे कामों का रहस्य सिन्ध के ब्राह्मणवादी राजा की उस नीति में छिपा है, जिससे प्रेरित हो कर उसने इन समनियों के मन्दिरों को छीना, पूजा बन्द कराया तथा इन पर और भी जुल्म किये। तारानाथ का कहना है—"मगध के अनेक बौद्ध भिक्षु तुर्कों के दूत का काम करते और चारों ओर के राजाओं तथा सर्दारों के साथ तुर्कों का सम्बन्ध क़ायम करते थे।" किन्तु यहाँ यह याद रहे कि उस समय राजनीतिक सत्ता सभी जगह ब्राह्मणवाद के हाथ में थी। बौद्ध धर्म सभी जगह समाज की निचली श्रेणी में तन्त्र-मन्त्र और टोना टोटका आदि के ज़रिये शूद्र श्रेणी के सहारे जीवित था। इसी श्रेणी के लोगों ने आगे चल कर बहुत ज़ोरों से इसलाम कबूल किया और आज मुसलमानों में मोमीन नाम से उन्हीं की संख्या सब से ज़्यादे है। इस तरह अन्तर्जातीय भावों के लोप और ब्राह्मणवाद के चरम उत्कर्ष ने हिन्दुस्तान को ऐसी जगह पहुँचा दिया, जहाँ से उसकी धारा ही दूसरी हो चली।

पहली शताब्दी ई० पू० से, जब से ब्राह्मणवाद का पुनरुत्थान शुरू हुआ, हिन्दुस्तान के अन्दर सम्प्रदायवाद की प्रकृति बढ़ने लगी। इस सम्प्रदायवाद ने सातवीं शती में ठोस रूप धारण कर लिया। इसी समय से हिन्दुस्तानी समाज का श्रेणी-संघर्ष सम्प्रदायों के अन्तर्गत हो गया। इन सभी सम्प्रदायों में वैष्णव धर्म की प्रकृति अन्तर्जातीयता परक थी। इसीलिये उसमें ग्रहणशीलता बहुत थी। शायद इसी को लक्ष करके डा० दत्त साहब ने वैष्णव धर्म को आक्रमण शील कहा है। पर रामानुजाचार्य के समय से इस वैष्णव धर्म में भी घुन लग गया। इसीलिये सम दृष्टि सम्पन्न युग गुरू रामानन्दजी को उनसे अलग होना पड़ा। रामानन्द जी गुण और भक्ति को प्रधान मानते थे, जाति को नहीं, कुल को नहीं। पर उन्होंने शास्त्र पंथावलम्बियों, वर्ण-व्यवस्थावादियों, का शायद विरोध भी नहीं किया। यही कारण है कि जहाँ कबीर सरीखे अन्तर्जातीयता वादी महात्मा उनके शिष्य हुए, जिसके अन्दर सभी भारतीय जातियों को एक कर देने की तीव्र प्रेरणा थी; वहाँ ही महाकवि तुलसीदास भी उनके शिष्यों में हुए, जो शास्त्र-पंथी, जन्म जात के अभिमान, जाति-पाँति और वर्ण-भेद के सब से बड़े समर्थक थे। इसीलिये उन्होंने प्रचारित किया—"पूजिय शूद्र न वेद प्रवीणा।" तुलसीदास का समाज-दर्शन घोर प्रतिक्रियावादी मनु का एडीशन है।

पर वैष्णव प्रभाव के कारण तुलसीदास जी मनु ऐसे क्रूर नहीं थे; इसीलिये उनके समाज में शूद्र अपनी पतित हालत के साथ भगवान की उपासना कर सकता है। शायद यही कारण है कि उन्होंने अपने राम से किसी तपस्वी शूद्र की गर्दन नहीं कटवाई। तुलसीदास जी की भाषा भी लोक प्रचलित अवधी नहीं है; संस्कृत गर्भित संभ्रान्त अवधी है। किसी भी दृष्टि से देखा जाय तुलसीदास जी ब्राह्मणवादी ही सिद्ध होंगे। और ब्राह्मण्यवाद मध्य काल में राष्ट्रीय धर्म नहीं रह गया था। वह सिर्फ़ एक वर्ग का मुर्दा धर्म रह गया था। मध्य काल में जिस धर्म की नींव कबीर ने डाली, उसी में भारत की राष्ट्रीयता थी। पर कबीर का मत स्थापित स्वार्थ के लोगों के हितों के विरुद्ध था। उस मत में ब्राह्मण, मन्दिर, शास्त्र, संस्कृत जन्म-जात का अभिमान, जाति-वाद और ब्राह्मण्यवाद सभी का विरोध था। इसीलिये स्थापित स्वार्थ के (द्विज) लोगों ने कबीर के मतवाद को नहीं चलने दिया। जीते जी कबीर को गालियाँ दी गईं। पर जब कबीर के विचारों की नींव समाज के अन्दर चली गई, तब ब्राह्मण्यवादियों ने जुलाहे कबीर को विधवा ब्राह्मणी का सन्तान बताकर उस पर ब्राह्मण्य-वादी प्रभाव सिद्ध करना चाहा। जैसे उन्होंने बुद्ध को विष्णु का अवतार बना कर किया था।

इसके बाद हम ब्रिटिश काल में आ जाते हैं। इस काल के पहले जिस जाति ने हिन्दुस्तान को विजय किया, वह हिन्दुस्तानी हो गई। पर अंग्रेज़ों ने ऐसा नहीं किया। उन्होंने हिन्दुस्तान से दूर बैठ कर हिन्दुस्तान को चूसने की नीति क़ायम की। अंग्रेज़ों के हिन्दुस्तान में जमने के साथ ही यूरोप में व्यावसा-इक क्रान्ति हो चुकी थी। स्वार्थ मूलक शासन और शोषण की नीति ने पहले तो अहलकार और क्लर्क पैदा किया; फिर गुमास्ता और एजेन्ट् भी उसी नीति से पैदा हुए। पहले तो अंग्रेज़ी शिक्षा और यूरोप-प्रवास शुरू हुआ; बाद में उसी के ज़रिये नए क़िस्म की राष्ट्रीयता हिन्दुस्तान में आने लगी। समाज प्रेमी-सजग और अंग्रेज़ों के साथ दोस्ती के कारण यह राष्ट्रीयता पहले हिन्दुओं में आई और अंग्रेज़ों ने पहले हिन्दुओं को—स्वाभाविक कारणों से—बढ़ाया। इस काल में ब्राह्मण्यवाद की समाधि पर चिराग़ जलानेवाले स्व० राजा राममोहन राय और स्वामी दयानन्द सरस्वती हुए। स्वामी दयानन्द सर-स्वती जी का ब्राह्मण्यवादी रुझान वेद पर उसी तरह ज़ोर देता है, जिस तरह मुसलमानों ने क़ुरान पर ज़ोर दिया है। बाद में वेद के दयानन्द भाष्य को वही स्थान दिया गया, जो इसलाम में पैग़म्बर को है। स्वामीजी ने अपने आन्दोलन को वैदिक आदर्श पर चलाना चाहा। पर समाज उससे कहीं आगे बढ़ चुका था। राजा राम-मोहन राय यूरोप से प्रभावित थे। उनके आन्दोलन में बुर्जुआज़ी का ज़्यादा असर था। इन दोनों समाज सुधारकों का असर हिन्दू समाज पर ज़्यादा पड़ा। अंग्रेज़ों की शोषण और विषम नीति के कारण तथा यूरोप के प्रभाव से हिन्दुस्तान में राष्ट्रीयता बढ़ती गई। फिर अंग्रेज़ों ने उस राष्ट्रीयता पर नियन्त्रण रखने के इरादे से कांग्रेस को जन्म दिया। किन्तु चोर चोरी के लिए ही रोशनी जलाते; पर उससे जागने वाला तो चोर को पहचान कर उसके पीछे लाठी लेकर पड़ेगा ही। वही हुआ भी। कांग्रेस दिनों दिन अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद की विरोधी संस्था होती गई। और आज तो महात्मा गान्धी जी के नेतृत्व में वह अंग्रेज़ों के हाथ से शासन-सत्ता छीनने के लिए बिलकुल तैयार है। इसी काल में हिन्दुस्तान में भी वैज्ञानिक उद्योग वाद का ज़ोर बढ़ा। युगों से चले आते गृह-उद्योग नष्ट होने लगे। शिल्पी अपनी स्वाधीनता खो कर मिलों के मज़दूर होते गए। रेल की पटरियों और मिलों के साथ मजदूरों की संख्या बढ़ती गई। ग्राम छोड़ कर शहरों के प्रवास और मिलों में सामूहिक मेहनत और सामूहिक जीवन ने उनके पुराने रूढ़ि-जन्य विश्वासों को ढीला किया। फिर एन० एम० जोशी से लेकर पी० सी० जोशी तक ने उन्हें एक नई चेतना दे दी। उद्योगीकरण ने सम्पत्ति का केन्द्रिय करण शुरू किया। इसमें ब्रिटिश नीति ने भी योग दिया।

फलतः धीरे-धीरे ज़मीनों पर से किसानों का अधिकार हटने लगा। किसानों की हालत ख़राब होने लगी और उसी के साथ सरकारी एजेंटों के रूप में एक ज़मीन्दार श्रेणी का जन्म हुआ। फिर इस नीति ने किसानों के अन्दर अंग्रेज़ों तथा ज़मीन्दारों दोनों के विरुद्ध संघर्ष की भावना पैदा कर दी। मुसलमानों के अन्दर सर सैयद अहमद ख़ाँ के ज़माने से हिन्दुओं से भय—जिसका कारण ब्राह्मणवाद की वर्जनशीलता और स्वार्थ था—और अपने अलग संगठन की भावना पैदा हुई। और ब्रिटिश कूट नीति के साथ मिलकर आज पाकिस्तान के रूप में हमारे सामने है।

इस तरह आज हम यह देखते हैं कि जिन आधारों पर ब्राह्मणवाद क़ायम था, वह सब नष्ट हो जा रहे हैं। विज्ञान की नई रोशनी में वर्ण-व्यवस्था और जातिवाद के लिए कहीं जगह नहीं है। ब्राह्मणवाद के अन्दर हिन्दुस्तान का श्रेणी-संघर्ष वहाँ आ गया है, जहाँ उसका अन्त निश्चित है। आज की राष्ट्रीयता वहाँ पहुँच गई है, जहाँ सभी जातियों के लिये आत्मनिर्णय का अधिकार और सभी के लिए विकास का समान अवसर लाज़मी है। अतः हम कह सकते हैं कि अब हिन्दुस्तान ब्राह्मणवाद के अन्धकार से निकल कर साम्यवाद के प्रकाश में आ रहा है।

टिड्डी दल

श्री एस० टी० मोजेज़ एम० ए०, एफ़० ज़ेड० एस०, एफ़० आर० ए० एल०

सभ्य मानव का सब में ज़बर्दस्त और पुराना दुश्मन टिड्डी दल ही रहा है। वेद पुराण और बाइबिल में इसका बवा और बला की तरह वर्णन किया गया है। जिधर इसका आक्रमण हो जाता है समृद्ध से समृद्ध जनता दाने दाने को मुहताज हो जाती है। छान्दोग्य उपनिषद में इस बात की चरचा है कि ऋषि साकरायन को कुरुओं का देश इसलिये छोड़ना पड़ा चूंकि टिड्डी दल के हमलों के कारण वहाँ भयङ्कर अकाल और निर्जनता फैल गई थी। बाइबल में भी इस बात का वर्णन है कि प्राचीन मिस्र में टिड्डी दल को भयङ्कर प्लेग के ही रूप में देखा जाता था। टिड्डी दल मानव जाति के लिये सदा से घातक और विनाशकारी रहा है। एक प्राचीन यूनानी राजनीतिज्ञ ने, जो सम्भवतः प्राणिविज्ञान के ज्ञाता नहीं थे, एक जगह न रहने वाले पक्षियों का दो श्रेणियों में बंटवारा किया है। एक श्रेणी में उन्होंने अबाबील जैसे पक्षियों को रखा है जो अपने पीछे अपने ठहरने का कोई निशान नहीं छोड़ जाते। दूसरी श्रेणी में उन्होंने टिड्डी दल को रखा है, विनाश और वीरानी जिनके पदचिन्ह हैं। प्राचीन तामिल साहित्य में टिड्डी को तीनों की जाति में गिना गया है। मलयाली साहित्य में उसे पक्षी अथवा गाय भी कहा गया है। कन्नड़ साहित्य में उसका एक ऐसे घोड़े के रूप में वर्णन किया गया है जो लंगड़ी लूली हालत में पीछे पड़ा रह गया है। पिछले दस बारह वर्षों से दक्षिण अफ़रीका, मिस्र, फ़िलिस्तीन, यमन, तुर्किस्तान, चीन और हिन्दुस्तान सब टिड्डी दल के कमोबेश शिकार हो रहे हैं। अनेक वर्ष बीते जब सिन्ध प्रान्त में ज़बर्दस्त बाढ़ आई। बाढ़ की मुसीबत अभी ख़त्म भी न हुई थी कि टिड्डी दल का आक्रमण हुआ और रबी की तमाम फ़सल चट कर डाली। भारत सरकार की 'सेण्ट्रल एग्रिकलचरल रिसर्च कौंसिल' ने टिड्डी दल के सम्बन्ध में काफ़ी सोच विचार किया है, किन्तु अभी तक इस बला से बचने का कोई निश्चित उपाय नहीं निकला है। टिड्डी दल अपनी यात्रायें किसी एक ही देश तक सीमित नहीं रखता। बड़े बड़े समुद्र उसके रास्ते में बाधक नहीं। उसके भ्रमण अन्तर्राष्ट्रीय होते हैं।

कोषकार टिड्डी को पतिंगे से भिन्न बताते हैं। किन्तु प्राणि विज्ञानविशारद पतिंगों को दो श्रेणियों

में बाँटते हैं। एक वे जिनकी लम्बी शलाकायें होती हैं और जो मट्ठर होते हैं और दूसरे वे जिनकी छोटी शलाकायें होती हैं और जो तेज़ होते हैं। प्राणि-विज्ञानशास्त्री टिड्डी को इसी दूसरी श्रेणी में रखते हैं। वैसे सभी पतिंगे पौधों के लिये हानिकारक होते हैं। नर पतिंगे अकसर गवैये होते हैं और अपने संगीत से ही मादा पतिंगों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। ईसप की कहानियों में लिखा है कि एक मूर्ख गधे को यह विश्वास था कि पतिंगों का संगीत वास्तव में ओस चाटने का परिणाम है। चुनांचे उसने ओस चाटना शुरू किया ताकि अपनी रेंक को संगीत में बदल सके। ग़रीब बेचारा ओस चाट चाट कर मर गया किन्तु उसका रेंकना संगीत में न बदला। वास्तव में पतिंगों का संगीत उनकी शलाकाओं की रगड़ से उत्पन्न होता है। हालांकि हमारे कानों के लिये उनकी आवाज़ केवल एक बेसुरी 'भन भन' होती है फिर भी उस आवाज़ में इतना प्रबल आकर्षण होता है कि वह मादा पतिंगे में काम प्रवृत्ति का संचार करके उसे नर पतिंगे की तरफ़ बरबस खींच लाती है। लम्बी शलाकाओं वाले पतिंगे अपनी शलाकों और पैरों को रगड़ कर संगीत स्वर पैदा करते हैं और छोटी शलाकों वाले अपने पंखों से संगीत पैदा करते हैं। अमरीकन टिड्डी का स्वर उच्चारण कुछ इस प्रकार का होता है—"काटी डिड, ओ शी डिड, काटी डिड।" किन्तु उसकी प्रियतमा 'काटी' का प्रत्याह्वान होता है यह भेद प्राणि-विज्ञानशास्त्रियों पर अभी नहीं खुला।

ये पतिंगे अपने अंडे ज़मीन पर या पौधों पर रखते हैं। भिन्न भिन्न पतिंगों के अंडों की तादाद भी भिन्न भिन्न होती है। धान के पौधों की पतिंगी एक मरतबा में ६० अंडे रखती है जब कि टिड्डी एक बार में १००-१२० अंडे रखती है। प्राचीन अरब साहित्य में टिड्डी के अंडों की तादाद ९९ लिखी हुई है। अरब साहित्य में जो टिड्डियों का उल्लेख है उसमें टिड्डी कहती है—"ऐ इनसानों! हम अल्लाह की फ़ौज हैं। हममें से हर टिड्डी ९९ अंडे देती है, जिस दिन हम सौवाँ अंडा देने लगेंगी उस दिन दुनिया में क़यामत बरपा हो जायगी।" टिड्डियों के अंडों से जब बच्चे निकलते हैं तब उनके पंख नहीं होते। वे रेंगते हुये फ़ौजी अनुशासन के साथ क़तारों में खेतों में घूमते हैं। धीरे धीरे उनके पर फूटते हैं और कई बार बदलते हैं। पंखहीन अवस्था में जब वे एक साथ क़तारों में रेंगते हैं तभी उन्हें आसानी से नष्ट किया जा सकता है। टिड्डियों के अंडे सुरक्षित हालत में लम्बे अरसे तक पड़े रहते हैं। निरन्तर प्रवासी टिड्डियों की उम्र भी लम्बी होती है। अनेक देशों के साहित्य में "टिड्डियों जैसी बड़ी उम्र होने" का आशीर्वाद दिया जाता है। टिड्डियों के मुक़ाबले में पतिंगों को रक्षा के स्वाभाविक साधन हासिल होते हैं। हर मौसम और पौधों के रंग के अनुसार पतिंगों के पंखों का रंग भी बदल जाता है। उनके पंखों में पत्तों जैसी नसें भी उभड़ आती हैं। सन् १६८८ में लेडन शहर में पतिंगों और टिड्डियों की एक नुमाइश हुई। इसमें एक भारतीय टिड्डी भी थी जिसके पंख दालचीनी के पत्तों की तरह थे और जिसे कौतुक से लोग चलता फिरता पत्ता कहते थे।

अथर्ववेद में टिड्डियों को नष्ट करने के लिये बहुत से मन्त्र दिये गये हैं, किन्तु दुर्भाग्य से ये मन्त्र इनके नष्ट करने में आज कल कामयाब नहीं होते। आधुनिक विज्ञान इसके लिये हवाई जहाज़ इस्तेमाल करता है। हवाई जहाज़ से एक ख़ास क़िस्म की गैस टिड्डियों पर छिड़की जाती है जिससे वे मर जाती हैं। और कई तरह के कीड़े पाले जाते हैं जो टिड्डियों पर छोड़ दिये जाते। ये कीड़े टिड्डियों को खा जाते हैं। पक्षी बन्दर और गिलहरियाँ भी बड़े चाव से टिड्डियों को खाते हैं। टिड्डियों से बचने का पहला काम यह होना चाहिये कि टिड्डियों को उतरने ही न दिया जाय। ख़ूब शोरगुल मचाने, घन्टे घड़ियाल और टीन बजाने से टिड्डियों का उतरना रोका जा सकता है। यदि मादा टिड्डियाँ खेतों में या झाड़ियों में उतरें तो उन्हें अन्डे देने से पहले बटोर कर दफ़न कर दिया जाय या जला दिया जाय। टिड्डियों को नष्ट करने में असली

मशालों से भी काम लिया जा सकता है। सिन्ध में टिड्डियों को नष्ट करने में ऐसा ज़हरीला गैस भी इस्तेमाल किया गया है जो दूसरे पौधों के लिये विनाशकारी न साबित हो। अफ़रीका में टिड्डियों को नष्ट करने के लिये संखिया की गैस इस्तेमाल होनी शुरू हुई। नतीजा यह हुआ कि यूरोप के वे समस्त पक्षी जो अफ़रीका में सरदी बिताते हैं, संखिया के ज़हरीली गैस से मरी हुई टिड्डियों को खाकर मर गये। टिड्डियों को नष्ट करने के लिये चाहे जो तरीक़ा इस्तेमाल हो प्रधान चीज़ यह है कि नष्ट करने में जल्दी करनी चाहिये। इन्तज़ार और सुस्ती इसमें घातक होती है। सब गांव वालों को मिलकर इसमें मदद देनी चाहिये। मलाबार में धान के कीड़ों ने बेहद नुक़सान पहुँचा और व्यक्तिगत प्रयत्न से वे नष्ट नहीं किये जा सके। उनके ख़िलाफ़ जब सामूहिक लड़ाई छेड़ी गई तभी उन्हें नष्ट किया जा सका। टिड्डी मेंड़ों और बांधों में अन्डे देती है। पहली बरसात के समय अन्डे देकर वे खेतों में निकल आती हैं। यदि मेंड़ों और बांधों को दूर दूर तक गरमियों में खुरच दिया जाय तो जेठ बैसाख की गरमी से अन्डे नष्ट हो कर एक बड़ी मुसीबत से किसान आसानी से बच सकते हैं।

अनेक देशों में टिड्डियाँ चाव से खाई जाती हैं। फ़िलिप्पाइनो, अरब, निग्रो, हाटेनटाट, चीनी आदि जातियाँ टिड्डियों का तरह तरह से भोजन करती हैं। टिड्डियों को सुखा कर बंगाल में भी उनकी रसेदार तरकारी बनाई जाती है। हज़रत मूसा ने यहूदियों को चार क़िस्म की टिड्डियाँ खाने की इजाज़त दी है। कहा जाता है सन्त जान दी बैपटिस्ट आदतन अपने भोजन में टिड्डी और शहद खाया करते थे। कई पादरियों का कहना है कि ईसाई धर्म ग्रन्थों में सन्त जान की जिस रोटी का ज़िक्र है वह टिड्डियों के चूरे से ही बनाई जाती थी। टिड्डियों के साथ शहद एक ज़रूरी जुज़ है। शहद में मिला कर खाने से टिड्डी जल्द हज़म होती है। हाटेनटाट जाति के लोग टिड्डियों के अन्डों का ज़ायकेदार शोरबा बनाते हैं। अरब भी टिड्डियों को पीस कर उनका आटा इस्तेमाल करते हैं। इस आटे में प्रोटीन और चरबी की मात्रा बेहद होती है और कारबो हाइड्रेट प्रधान चीज़ों के साथ मिलाकर खाने में यह बेहद स्वास्थ्यवर्धक साबित हुआ है। अफ़रीका में यह भोजन पशुओं और सुअर को बेहद खिलाया जाता है। मुर्गियों के खाने में यदि इसका पाँच फ़ी सदी चूरा मिला दिया जाय तो उनके अन्डे देने की शक्ति बढ़ जाती है। दक्षिण अफ़रीका से हर साल टिड्डियों का तेल और भोजन यूरोप भेजा जाता है। टिड्डियों के तेल में ख़ास तारीफ़ यह है कि अधिक से अधिक उंचाई पर भी वह जमता नहीं। इसलिये इस तेल को हवाई जहाज़ के इञ्जनों में बेहद इस्तेमाल किया जाता है और उसकी बड़ी मांग है। हमारे देश हिन्दुस्तान में जहाँ टिड्डियों की भरमार है हम दक्षिण अफ़रीका से सबक़ सीख कर इस मुसीबत को भी व्यापारी फ़ायदे की चीज़ बना सकते हैं। टिड्डियों का तेल और भोजन हमारे विदेशी निर्यात की एक प्रधान चीज़ बन सकती है।
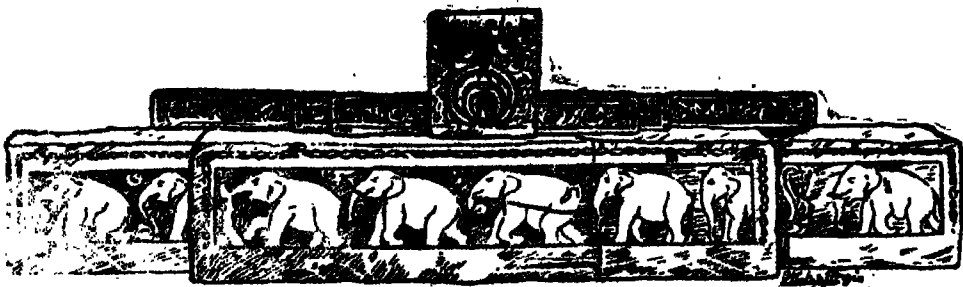
जज़िया : इतिहास और असलियत

श्री हमीद हसन बी० ए० एल-एल० बी०

आम तौर पर समझा जाता है कि जज़िया एक जाबिराना टैक्स था जो मुसलिम राज में ग़ैर मुसलमानों से ज़बरदस्ती लिया जाता था। ग़ैर मुसलमानों के ऊपर इस्लाम का यह एक अन्याय था। लेकिन न परदे का रिवाज, जिसे आजकल इतना बुरा भला कहा जाता है, इसलाम के साथ दुनिया में आया और न जज़िया पहले पहल इसलाम ने वसूल किया।

इसलाम की पैदायश से बहुत पहले ईरान की उन्नति के दिनों में जज़िया नाम का टैक्स उस देश में मौजूद था। ईरान के मशहूर बादशाह नौशेरवान आदिल के ज़माने में जो ज़रथुस्त्री धर्म का मानने वाला था और उससे पहले भी जज़िये का ईरान में आम रिवाज था। नौशेरवाँ ने अपनी फ़ौज के अफ़सरों और सिपाहियों को जज़िया माफ़ कर दिया था। जज़िया अरबी शब्द नहीं है। यह एक ईरानी शब्द है जो बाद में अरबी भाषा में भी शामिल हो गया। इस का मतलब यह था कि ज़रूरत पड़ने पर अपने देश की रक्षा के लिये फ़ौज में भरती होना हर मज़बूत जिस्म वाले आदमी का फ़र्ज़ है, जो फ़ौज में भरती हो जाते थे उनसे जज़िया नहीं लिया जाता था। लेकिन जो भरती होने से इनकार करते थे उनसे इस सेवा के बदले में कुछ नियत सालाना टैक्स ले लिया जाता था। इसी टैक्स का नाम ईरान में जज़िया था। इसलाम की पैदायश के दिनों में मुहम्मद साहब ने यह नियम बना दिया कि देश की रक्षा के लिये कभी भी ज़रूरत पड़ने पर फ़ौज में भरती होना हर मुसलमान का फ़र्ज़ है। सिर्फ़ मुसलिम मदरसों के अध्यापक और कुछ ख़ास ख़ास पेशेवाले इससे बरी थे। जो ग़ैर मुसलिम लोग मुसलमानों के राज में रहते थे उनके जान माल की हिफ़ाज़त करना मुसलिम बादशाह का फ़र्ज़ माना जाता था। लेकिन उन्हें ज़बरदस्ती फ़ौज में भरती करने की इसलाम ने कभी इजाज़त नहीं दी। अकसर ग़ैर मुसलिम क़बीलों के लोग मुसलमान बादशाहों की फ़ौजों में भरती होना पसन्द भी नहीं करते थे। इसलिये क़ुदरती तौर पर जो ग़ैर मुसलिम ज़रूरत पड़ने पर भी फ़ौज में भरती होने से इनकार करते थे उनसे उनकी रक्षा के बदले में थोड़ा सा मुक़र्रिरा टैक्स ले लिया जाता था जिसे जज़िया कहते थे। मुसलमान बादशाहों ने जज़िये का शब्द और उसका रिवाज दोनों ज़रथुस्त्री ईरानियों से सीखे। इसके साथ ही जो ग़ैर मुसलिम क़बीले भी ज़रूरत पड़ने पर फ़ौज में भरती होने के लिये तय्यार हो जाते थे उनसे जज़िया नाम का कोई टैक्स नहीं लिया जाता था। मशहूर मुसलिम विद्वान शिबली ने जज़िये पर एक छोटी सी किताब लिखी है जिसमें उन्होंने जज़िया शब्द की व्युत्पत्ति और उसके इतिहास पर ख़ासी अच्छी बहस की है।

हज़रत मुहम्मद और पहले चार ख़लीफ़ाओं ने जिन्हें 'ख़ुलफ़ाये राशिदीन' कहा जाता है ग़ैर मुसलिम रियासतों के साथ जो जो सन्धियाँ कीं उनमें यह साफ़ लिखा है कि ग़ैर मुसलिम रिआया या ग़ैर मुसलिम रियासतों से उनके जान माल की हिफ़ाज़त के बदले में जज़िया लिया जावेगा। हज़रत मुहम्मद ने मुसलमान बादशाहों को ग़ैर मुसलिम रिआया के बारे में जो फ़रमान लिखे हैं उनमें ये शब्द साफ़ आते हैं— "उनकी हिफ़ाज़त करना मुसलमानों का फ़र्ज़ है। उनके दुश्मनों से उन्हें बचाना हमारा फ़र्ज़ है।" ख़लीफ़ा उमर ने अपनी मृत्यु से पहले जो हिदायतें मुसलमानों को दीं उनमें एक यह थी कि ग़ैर मुसलिम रिआया के जान माल की हिफ़ाज़त मुसलमानों का फ़र्ज़ है। अल्लामा शिबली ने अपनी किताब में मुसलमानों और ग़ैर मुसलमानों के बीच इस तरह की बहुत सी सन्धियों की नक़ल दी है जिनमें मुसलमानों के इस फ़र्ज़ और उसके बदले में उनके जज़िया वसूल

करने के हक़ इन दोनों का ज़िक्र है। सन् १२ हिजरी में ख़ालिद इब्न वलीद ने ग़ैर मुसलमानों के साथ जो सन्धि की उसमें ये शब्द आते हैं—"सलूबा बिन नस्तोमा और आपके क़बीले वालों के साथ मैंने जज़िया लेने और आपकी हिफ़ाज़त करने का अहदनामा किया है। इसलिये आपकी हिफ़ाज़त करना और आपके जान माल की सलामती हमारा फ़र्ज़ है। जब तक हम अपने इस फ़र्ज़ को पूरा करेंगे तब तक ही हमें जज़िया लेने का हक़ है। अगर हम यह फ़र्ज़ पूरा न कर सकेंगे तो हमें जज़िया लेने का कोई हक़ न होगा।"[१]

अरब और इराक़ के बहुत से मुसलिम हाकिमों ने वहाँ के ग़ैर मुसलमानों के साथ समय समय पर बहुत से अहदनामे किये। पैग़म्बर-ए-इसलाम के कई एक साथियों ने भी जो सहाबा कहलाते हैं इस तरह के अहदनामों पर दस्तख़त किये। इन अहदनामों में साफ़ लिखा है, 'जब तक जज़िया बराबर लिया जाता रहेगा ग़ैर मुसलमानों की हर तरह से हिफ़ाज़त की ज़िम्मेवारी मुसलमानों पर होगी।' इन अहदनामों में एक बात और भी बढ़कर है। इनमें लिखा है कि अगर वहाँ के ग़ैर मुसलमान बाहर की किसी क़ौम के साथ कोई समझौता करेंगे तो मुसलमान हाकिम उन समझौतों को मानेंगे और बाहर की जिन क़ौमों को भी यह ग़ैर मुसलमान मदद देना चाहेंगे या उनकी रक्षा करना चाहेंगे मुसलिम हाकिम अपने देश में उन्हें पनाह देंगे। एक सन्धि में इराक़ के लोगों ने लिखा है—"हमने ख़ालिद से जिस जज़िये को देने का वादा किया था उसे हमने अदा कर दिया है इस शर्त पर कि अगर कोई मुसलमान भी या किसी दूसरी क़ौम के लोग हमें किसी तरह का नुक़सान पहुँचाना चाहेंगे तो मुसलमान जमात और उनके अफ़सर हमारी इस सलामती के लिये ज़िम्मेवार होंगे।"

ये अहदनामे और समझौते बिलकुल साफ़ हैं। उस ज़माने के इतिहास से साफ़ पता चलता है कि इस तरह के अहदनामे और आपसी समझौते महज़ रद्दी के टोकरे की चीज़ें नहीं समझे जाते थे बल्कि दोनों पक्ष उन पर सच्चाई से अमल करते थे।

इस सच्चाई की शाम (सीरिया) के इतिहास में एक बड़ी सुन्दर मिसाल मिलती है। दो मुसलमान सेनापति अबु ओबैदा और ज़र्राह रोमी सेनाओं के मुक़ाबले में मुल्क पर मुल्क जीतते चले जा रहे थे। रोम के सम्राट् हरकुल ने एक बहुत बड़ी नई सेना जमा करके मुसलमानों पर हमला किया। दोनों मुसलमान सेनापतियों ने रोम की इस नई सेना का मुक़ाबला करने में अपने को असमर्थ पाया। उन्होंने जितना धन उस वक़्त तक वहाँ के ग़ैर मुसलमानों से बतौर जज़िये के वसूल किया था उसकी एक एक पाई उन्हें वापस कर दी। मुसलमान सेनापतियों के फ़रमानों में ये शब्द आते हैं—"जब कभी जो कुछ जज़िया और ख़िराज वसूल किया गया है वह जिनसे लिया गया है उन्हें तुरन्त वापस कर दिया जावेगा। उन्हें कह दिया जावे कि हमने यह धन तुमसे इस शर्त पर लिया था कि हम तुम्हारे शत्रुओं से तुम्हारी हिफ़ाज़त करेंगे। लेकिन अब हालात ऐसे हैं कि हम तुम्हारी हिफ़ाज़त की ज़िम्मेवारी अपने ऊपर नहीं ले सकते।"

उस देश के ग़ैर मुसलमान, जो अधिकतर ईसाई थे बहुत ख़ुश थे और उन्होंने अपने इन मुसलिम हाकिमों को आशीर्वाद देते हुये उनसे कहा—"ईश्वर करे कि हमारे नगरों का शासन फिर से आप ही के हाथों में आजावे। अगर आपकी जगह रोम वाले होते तो वे कभी हमें एक पैसा भी वापस न देते, बल्कि जो कुछ हमारे पास रहा सहा है वह उसे भी हमसे छीन लेते।"

यह बात भी याद रखनी चाहिये कि जो ग़ैर मुसलमान अपने मुसलिम शासकों के मातहत फ़ौज में भरती होना स्वीकार कर लेते थे उन्हें जज़िये से उसी तरह बरी रखा जाता था जिस तरह मुसलमानों

१—Vide Tabain Annals—Edited by Rosegarten, Vol. II, P. 48.

को। इसकी कुछ मिसालें यहाँ दी जाती हैं। ख़लीफ़ा हज़रत उसमान के ज़माने में हदीब बिन मुसलेमा ने जरा जिमाह के देश को फ़तह किया। वहाँ की ग़ैर मुसलिम रिआया ने फ़ौज में भरती होना स्वीकार कर लिया। उनसे किसी तरह का जज़िया नहीं लिया गया। बहुत दिनों बाद ख़लीफ़ा वासिक़ बिल्ला अब्बासी के ज़माने में ग़लती से उन पर जज़िया लगा दिया गया। उन्होंने ख़लीफ़ा से शिकायत की। फिर से फ़ौरन उनका जज़िया हटा दिया गया। ख़लीफ़ा उमर के ज़माने में भी जो ज़िम्मी यानी ग़ैर मुसलिम फ़ौज में काम करना मंजूर कर लेते थे उनसे जज़िया नहीं लिया जाता था। ख़लीफ़ा उमर ही के ज़माने में आरमीनिया के ग़ैर मुसलिम सेनापति के साथ यह सन्धि की गई थी—"इस शर्त के ऊपर सुलह की जाती है—जब कभी किसी से जंग होगी या और कोई ज़रूरत होगी तो आप मुसलमानों का साथ देंगे। इस शर्त पर आप से जज़िया नहीं लिया जायगा। लेकिन जो कोई भी घर पर रहना चाहे वह आज़र-बाइजान के लोगों की तरह अपने घर पर रहे और जज़िया दे दे।" जार्जिया और दूसरे देशों के ग़ैर मुसलमानों के साथ जो सन्धियां की गईं उनमें लिखा है—"अगर हम किसी ज़िम्मी (ग़ैर मुसलिम) से लड़ाई में मदद लेंगे तो उससे जज़िया नहीं लिया जायगा।...जिनसे जज़िया लिया जाता है उसके बदले में हम उनकी भीतर और बाहर के शत्रुओं से हिफ़ाज़त करने के लिये ज़िम्मेवार होंगे। अगर हम तुम्हारी हिफ़ाज़त नहीं कर सकेंगे तो जज़िया का धन तुम्हें वापस कर दिया जावेगा। जो लोग फ़ौज में भरती होने को तय्यार हैं वे हमेशा जज़िया देने से बरी रहेंगे।"

अल्लामा शिबली ने लिखा है कि जज़िये से जो कुछ रुपया वसूल होता था वह फ़ौज के लिये सामान ख़रीदने में, सरहदों की हिफ़ाज़त में और क़िले बन्दी करने में ख़र्च होता था। अगर कुछ इनसे बचता था तो वह पुलों, नहरों और मदरसों पर ख़र्च होता था।

जज़िये की बाबत एक और टैक्स था जिसे 'सदक़ा' कहते थे। 'सदक़ा' सिर्फ़ मुसलमानों से लिया जाता था, ग़ैर मुसलमानों से नहीं। इस सदक़े का रुपया ग़रीबों और मुहताजों पर ख़र्च किया जाता था। इन ग़रीबों और मुहताजों में मुसलिम और ग़ैर मुसलिम का फ़र्क़ नहीं किया जाता था।[२]

हज़रत शिबली ने दिखलाया है कि जज़िया आम तौर पर हर आदमी से ढाई फ़्रैंक सालाना से लेकर नौ फ़्रैंक सालाना तक लिया जाता था और मुसलिम इतिहास भर में कभी भी किसी से तीस फ़्रैंक सालाना से ज़्यादा जज़िया नहीं लिया गया। किसी लखपती या करोड़पति से भी कभी इससे ज़्यादा नहीं लिया जाता था। एक फ़्रैंक आजकल के क़रीब क़रीब दस आने के बराबर होता है। औरतों से, २० वर्ष से नीची उम्र के और ५० वर्ष से ऊपर उम्र के आदमियों से, अपाहिजों, लंगड़ों, लूलों, पागलों, अन्धों और उन ग़रीब लोगों से जिनकी कुल सम्पत्ति दो सौ दिरहम या इससे कम हो कोई जज़िया नहीं लिया जाता था। एक दिरहम क़रीब पांच आने के बराबर होता था।

हिन्दुस्तान में भी जो ग़ैर मुसलिम मुसलमान बादशाहों की फ़ौजों में भरती हो जाते थे उनसे कभी जज़िया नहीं लिया जाता था।

[किताबुल ख़िराज के अनुसार जज़िया आमतौर पर इस हिसाब से लिया जाता था—अमीरों से ४८ दिरहम, यानी क़रीब १५ रुपया सालाना, औसत दरजे के लोगों से २४ दिरहम, यानी क़रीब साढ़े सात रुपया और बाक़ी लोगों से जैसे कारीगर वग़ैरह १२ दिरहम, यानी पौने चार रुपया सालाना। जज़िया में नक़द के बजाय तिजारत का सामान, मवेशी और सुइयाँ जैसी चीज़ें भी ली जा सकती थीं, सिर्फ़ सुअर, शराब और मुरदा जानवर देने की मुमानियत थी। किसी भी धर्म के पुरोहितों और महन्तों से जज़िया

२—'किताबुल ख़िराज'—लेखक इमाम अबु यूसुफ़; पृष्ठ—७२।

नहीं लिया जाता था। अबु यूसुफ़ लिखता है कि जज़िया जमा करने वाले अफ़सरों को ख़ास हिदायत थी कि उसकी वसूली में किसी से किसी क़िस्म की सख़्ती न करें। इसके अलावा यद्यपि आमतौर पर जज़िया मुसलमानों से नहीं लिया जाता था लेकिन फिर भी मुसलिम इतिहास में दोनों तरह की मिसालें काफ़ी मिलती हैं। एक इस बात की जो ग़ैर मुसलिम फ़ौजी ख़िदमत से इनकार नहीं करते थे उनसे कभी जज़िया नहीं लिया जाता था और दूसरी इस बात की कि जो मुसलमान फ़ौजी ख़िदमत से इनकार करते थे उनसे भी उसी तरह जज़िया वसूल किया जाता था जिस तरह ग़ैर मुसलमानों से। मिसाल की तौर पर मिस्र में वहाँ के मुसलमानों ने फ़ौजी ख़िदमत से बरी किये जाने की दरख़्वास्त की तो उनसे बजाय फ़ौजी ख़िदमत के जज़िया वसूल किया जाने लगा।[3] इस तरह की मिसालें भी मिलती हैं कि जिनमें ग़ैर मुसलमानों ने मुसलिम फ़ौज की सिर्फ़ इस तरह की कोई ख़िदमत की जैसे उन्हें पानी पहुंचाना तो उनसे जज़िया नहीं लिया जाता था।

हमें यह भी याद रखना चाहिये कि इस वक़्त तक संयुक्त राष्ट्र अमरीका की कई रियासतें ऐसी हैं जिनमें सब बालिग़ मरदों के लिये फ़ौजी ख़िदमत लाज़मी है, और जो लोग इस ख़िदमत से बरी होना चाहते हैं उनसे फ़ौज के ख़र्च के लिये फ़ी आदमी कुछ सालाना टैक्स ले लिया जाता है।

—सम्पादक]

३—De La gonquiere–P. I4.

अनाम स्वामी

श्री जैनेन्द्रकुमार

वे बोले, "आदमी का वश थोड़ा है। सत्य की जिसे लगन है सम्प्रदाय उसे न फंसायगा। पर जो विभूति में से भाव और ऐश्वर्य में से ही ईश्वर को ले सकने योग्य हैं, उसके लिए दूसरी क्या गति है? सम्प्रदाय की वृहत्ता में से धर्म की महत्ता उसे पकड़ मिलती है। तो भी पीछे क्या होगा इसका कौन बोझ ले। आज वह बीज नहीं डाल जाना है जिसका कल कटु फल हो, यही ध्यान रखा जा सकता है।"

मैंने कहा, "आश्रम पीछे मठ बन गये हैं।"

"और व्यक्ति मूर्त्ति!" हँसते हुए बोले, "अरे भाई, आदमी के मोह का क्या कर लोगे? आश्रम मिटाकर मठ की सम्भावना मिटे तो मूर्त्ति की सम्भावना को मेटने के लिए अपने को ही न मिटा देना होगा? निस्सन्देह इह वही है। तो भी जिन्होंने आत्मा की साधना में अनात्म का परिहार ही किया, आत्मा की जगह उनकी हड्डी पूजी जाती है। इस विडम्बना के नाश का सिवा इसके क्या उपाय है कि हर व्यक्ति सत्य के सम्मुख हो?"

मैंने कहा, "आश्रम का नाम और आपकी निकटता का परिचय जो आपके रहते लोगों के व्यवसाय की पूंजी बन रहा है सो पीछे तो जाने क्या होगा!"

बोले, "परमात्मा में अविश्वास रखने को तुम मुझे नहीं न कह सकते भाई! भविष्य उसके हाथ मानकर मैं चुप हूं। आज तो मैं अपने को नास्तिवत् यानी शून्य बनाने का ही प्रयास कर सकता हूँ। वह कर रहा हूँ। यह सच ही है कि मुझसे हुआ वह मैंने किया नहीं है। अपने में मैं असमर्थ हूं। सामर्थ्य मुझसे यदि कुछ प्रगटी तो मेरी वह कब थी। अपना रहकर तो मैं तुच्छ ही था। अतिरिक्त यदि मुझमें कुछ मिला तो मेरा वह नहीं था। यह मैंने कहा है और कहता हूँ। मेरी निजता तो अविचारणीय ही है। प्रार्थनीय एक वह है। यह भी सच है कि मैं नहीं रहूंगा और मेरा कुछ नहीं रहेगा। कोई नहीं रहेगा और किसी का कुछ नहीं रहेगा। कोई कितना

भी मेरे या किसी के बारे का कुछ पार्थिव रोक रखना चाहे, पर वह तो धूल ही होगा। इतिहास में पुरुष कल्पना के पुरुष होकर ही ज़िन्दा रह सके हैं। कल्पना पार्थिव के पार पारमार्थिक की ओर बढ़ती है। वह अपने रूपाकार तक बना लेती है। जो राम और कृष्ण भगवान के रूप में भारत के हृदय में विराजमान हैं वे भारत की आदर्श निष्ठा में से बने हुए हैं। महाभारत और रामायण के कथानक उस आस्था को धारण रखने वाले उपकरण के रूप में ही सत्य हैं। अन्यथा तो राम के कुटुम्बी अथवा कृष्ण की रानियों की किसी को चिन्ता नहीं है। पार्थिव-आधार लेकर जो सत्य प्रकट हुआ है, वह उस पार्थिव लाग लपेट में घिर कर नहीं रहने वाला है। इसलिए उसके पार्थिव पक्ष पर बहुत ज़्यादा ठहरने की ज़रूरत नहीं है। आज जो नैमित्तिक रूप में साधक है, वही आगे अहंकृत हो कर बाधक हो रहेगा। पर सत्यार्थी के लिए यह बाधा नहीं है, बुद्धि-दोष के लिये ही वह तो है। किन्तु यदि अपनी मूर्त्ति के पत्थर पर भक्त किसी का अंगुलि-स्पर्श न सहे तो इसमें उसकी भूल क्या समझी जा सकती है? अपनी उपासना केंद्रित करने को उसे मूर्त्ति और मूर्त्ति के लिए पत्थर चाहिए। इस लिहाज़ से क्या पत्थर के प्रति तुम कुछ सदय नहीं हो सकते? आश्रम-वासी दयापात्र ही हैं और मैं भी दयापात्र हूँ—लेकिन छोड़ो, यह बताओ कि पिछले दो सप्ताह कैसे तुम टाल गये।"

मैंने कहा, "कारण इसमें दया भी है।"

बोले, "दया होगी ही। बचपन के एक तुम साथी हो। पर उसके बाद के दावेदार अनेक हैं भाई! अब मेरे पास मेरी अपनी सुविधा नहीं है। मेरा मन कौन देखे? इससे अब मैंने अपने मन को उस बारे में चुप कर दिया है। इससे ज़्यादा तरस की बात कुछ और बता सकते हो? पर सच मानो कि तरह-तरह की प्रवृत्तियों में मैं रस लेता दीखता हूं तो उससे कुछ अधिक रस तुम्हारी साथ की बातों में मुझे मिलता है। लेकिन सुनो तो भाई, एक दम विरक्ति को ही क्या तुमने अपना विषय बना लिया है। घर में कौन कौन हैं—कभी उनको साथ लेकर आओ न!"

बात इस तरह मुझ पर आ लौटेगी सो पता न था।

उस दिशा में मैं भाग्यशाली नहीं हूं। पत्नी खो चुका हूं। बेटी विधवा है, सुसराल से तिरस्कृत है, पास रहती है। इधर उसमें अन्तर देखता हूं। तेज़ी से वह बड़ी-बूढ़ी बनी जा रही है। अभी तक अपनी कन्या में और उस रास्ते से बाक़ी बातों में भी वह रस लेती थी। पर उदिता सयानी हो रही है। स्वाधीन चिन्तना पसन्द करती है। चाहती है कोई उसको अपनी ज़िम्मेदारी न माने। आई० ए० का इम्तहान देकर इलाहाबाद से छुट्टियों में आई हुई है। लड़का आई० सी० एस० है और भारतीयता उसे विदेशी है। कुछ रोज़ रहने को अभी आया था। पर यहां एक से दूसरा दिन उसे भारी होने लगा और चला गया। इस तरह घर का हाल, तीन-तेरह है।

यही संक्षेप में मैंने सुना दिया। बोले, "कभी उन मां-बेटियों को ओर नहीं तो घुमाने ही साथ ले आये होते।"

बोला "मैंने कहा था। पर उसने उत्साह नहीं दिखाया। तो भी एक रोज़ खींच कर लाना होगा। उदिता चली जाय तब—।"

"क्यों, उदिता क्यों चली जाय?"

"वह गुस्ताख़ जो है। सब का मज़ाक करती है। उसकी काट छांट कहीं रुकती नहीं। कन्या है, इससे और बिगड़ी है। वह तो भागी यहां आये, मैं ही रोक रहा हूं।"

बोले "कन्या है, इसी से न रोक रहे हो! आख़िर अदालती न्यायी ठहरे न!"

आख़िर मैंने माना कि उदिता आयगी।

फिर पूछा "करुणा कौन है?"

बोले, "इतनी बार यहां आये और उसे नहीं जाने। नन्दिनी उसी के ज़िम्मे है। और मैं भी।

बम्बई के सेठ की लड़की है। पति से बनी नहीं। इससे यहां है।

पूछा "जाना नहीं चाहती ?"

हँस कर बोले "देख नहीं लिया तुमने कि पूछते हैं तो हरबार मूंड़ी हिलाती है !"

सुन कर मैं चुप रहा और असंगत बातें मन में उठने लगीं। मुझे देखते रहे, देखते रहे। अनंतर बोले, "क्यों, कहां पहुँच गये हो ?"

इधर बिना ध्यान दिये मैंने कहा, "एक बात पूछना चाहता हूँ। सोचता था कि पूछूं कि नहीं।"

बहुत हँसे, बोले, "इजाज़त चाहते हो ! इजाज़त है। पूछो।"

"आपका विवाह हुआ ?"

बोले, "हुआ।"

"वह हैं ?"

"स्वर्ग में ! हो सकती हैं।"

सुनकर मैं उनकी ओर देखता हुआ चुप रह गया। कुछ देर इस तरह मुझे सह कर बोले, "नहीं, इस तरह नहीं चलेगा।"

मैंने कहा, "मैं कुछ और ही सोच कर आया था। पर अब—

हंस कर बोले, "चलो, मुझे कहने का कष्ट बचा। हां, अब अगली बार।"

कह कर बिना देर लगाये वह उठ खड़े हुए। शाम का समय था। गौ नन्दिनी के पास ही करुणा थी। पहुँच कर उसकी पीठ पर धौल जमाया, कहा- "गौ की भाषा की बारह खड़ी एक दिन की है पर दीखता है तुम अब तक नहीं सीखी हो—नन्दिनी !" पर गौ पहले ही आंख मूंद कर और मुंह खोल कर उनकी ओर मुख़ातिब हो कर कुछ कर रही थी।

× × ×

मंजु नहीं, उदिता ही आयी। वह तो उसी पर निहाल हो पड़े। देखते ही खिलखिला कर हँसे। उदिता के कंधे पर हाथ रखकर बोले, "तुम्हीं न उदिता हो ! चलो मैं तुम्हें करुणा को सौंप आऊँ। वह यहाँ का सब तुम्हें दिखा लायगी, तब घूमने चलेंगे। चलोगी ?" कहते हुए उसे साथ लेकर वह तभी चले गये। और मुझे बैठे वहाँ रहने के लिए कमरे में छोड़ गये।

पाँच-सात मिनट में अकेले वह लौटे। बोले, "उदिता की माँ नहीं आई न ! फिर सही ! दर्द का अब क्या हाल है ? वह प्रयोग किया था ?"

मैंने कह दिया कि किया था पर दर्द को तो रहना ही दीखता है।

बोले, "जिसका संचय दीर्घकालिक यत्न से हो उसका परिहार तुर्त-फुर्त क्यों होने लगा भाई ! रोग यत्न से जुड़ता है। स्वास्थ्य अनायास एक बार मिल कर लौटता प्रयत्न से ही है। पर करने की उमर जवानी, भोगने की बुढ़ापा यह भी सच है। बस जो जवानी को याद रहे कि कल वही बूढ़ी होगी—

सुनकर मुझे अच्छा नहीं लगा। कहा, "जवानी की कमाई पर बुढ़ापा चले, पर बुढ़ापे की भी कुछ कमाई होती है। अब तो उसी की आशा है। सिर-दर्दी तो साथ ही चलनी है।"

बोले, 'चले तो चले, पर मिट्टी का प्रयोग छोड़ना नहीं। लेख देख लिया। मुझमें प्रतिपादन नहीं। बात जैसी बनी कह छोड़ता हूँ। पुष्टि औरों का काम है।"

पूछा, "आपका उस बारे में अभिप्राय क्या है ? आप अहिंसा कहाँ से पाते हैं ?"

"सत्य में से।"

इतना कह कर वह चुप गंभीर दिखाई दिये।

मैंने शंका की, "है सो सत्य। हिंसा भी है ही। तो सत्य में से अहिंसा पाने का मतलब ठीक-ठीक मैं नहीं समझा।"

बोले, "सत्य खंडित नहीं हो सकता। यदि है सो सब सत्य में अखंड है, अपने से दूसरे के प्रति हमारा अनैक्य भाव असत्य है। सबके प्रति यह ऐक्य भाव आत्मौपम्य ही अहिंसा है।

मैंने कहा, "अखंड में तो हिंसा-अहिंसा का द्वैत भी सम्भव नहीं। उस दृष्टि से अहिंसा का प्रश्न ही नहीं उठना चाहिए।"

बोले, "हाँ सत्य से एकाकार होने पर वह प्रश्न भी नहीं रह जायगा। साधना-पथ में वह है ही है। हम सब नहीं हैं इसी से अहिंसा हमारे लिए धर्म है।"

पूछा, "तब आचरण में अहिंसा का क्या अभिप्राय माना जाय?"

बोले, 'आत्मैक्य भाव अहिंसा का मूल है। "दूसरे के साथ न करें जो हम अपने लिये न चाहें।" "आत्मवत् सर्वभूतेषु," इत्यादि नीति-नियम उसी में से प्राप्त होते हैं।"

"दया हम अपने लिए नहीं चाहते। तो भी दूसरे के लिए इष्ट बताई है। तो क्या दया धर्म नहीं है?"

"हाँ, दया अहिंसा की शुद्ध अथवा चरम अवस्था नहीं है। अपने प्रति दया-ममता को हमें जगह नहीं देनी होगी। अपने को तो कसते रहना ही शुभ है। सच्चे अहिंसक को दूसरे भी अपने ही जैसे हैं। इससे वह सदय से अधिक निर्दय दीख सकता है। सदय बन कर क्या हम अपने को आराम-भोग दें? सच्चे लोग अपने तईं वैसा आराम न देंगे। इससे अहिंसा दया से आगे भी जायगी। असल में दूसरों को माना हुआ सुख देने के विचार से अहिंसा का सम्बन्ध नहीं है। घर में एक-दूसरे का ख्याल रखकर सब चलते ही हैं। एक दूसरे के लिए दुख और पाप तक उठाते हैं। फिर भी यज्ञार्थ न होने के कारण वहां अहिंसा का मर्म नहीं है। अहिंसा का आचरण राग भाव से नहीं किया जा सकता। अहिंसा की साधना स्वयम् उत्तरोत्तर वीतराग होते जाना है। वीतरागी का जीवन ही अहिंसामय है। इस तरह दूसरे के प्रति की जाने वाली चीज़ न होकर अहिंसा तो आत्मसाधना का ही रूप है। हिंसा-अहिंसा का मन के परिणामों से सम्बन्ध है। किसी के मरने जीने या दुख-सुख उठाने से उसका सम्बन्ध नहीं है। न-मरने या सुख पहुँचाने की परिभाषा में उसका मतलब समझना भूल में डाल सकता है। ज्यादातर बहस उसी धरातल पर चला करती है। हिंसा-अहिंसा को कर्म में देखना ग़लती है—वह तो कर्ता में यानी मन में है।

मैंने कहा, "ऐसे तो अहिंसक-हिंसा और हिंसक-अहिंसा जैसे शब्द सम्भव हो सकेंगे। इसमें तो गोलमाल होगा।"

बोले, "गोलमाल है ही। कर्म का विशेषण मान कर हिंसा और अहिंसा का भेद पाना असम्भव है। कर्म का कितना भाग हमें दीखता है? भावांश तो उसका दीखता नहीं है। उससे अलग करके कृत्यांश पर से कुछ फैसला नहीं हो सकता। योगी भी खाता है, भोगी भी खाता है। पर दोनों के मन में अन्तर है। अन्तर मानसिक भूमिका है। अहिंसा को मैं इसी से कायिक नहीं, आत्मिक गुण का स्थान देता हूँ।"

मेरा मन माना नहीं। मैंने कहा, "ठहरिये। राम ने रावण की सेना का संहार किया। रूपक छोड़कर उस युद्ध को लीजिये। कृष्ण ने भी शस्त्र धारण किया। दोनों को हम पूर्ण मानते हैं। प्रगटतः उन्होंने हिंसा की। लेकिन उनकी हिंसा-अहिंसा थी—क्या हम यह न मानें? इसलिए नहीं कि उसमें प्राणिघात नहीं था, बल्कि इसलिए कि वे धर्मारूढ़ पुरुष थे और उनमें व्यक्तिगत कषाय न थी?'

बोले, "रूपक के बिना राम और कृष्ण पर विचार करना सम्भव नहीं है। व्यक्ति तो पूर्ण होता नहीं। अतः भगवत्-रूप देकर हम उन्हें लेते हैं। इसलिए उनसे होने वाले प्राणिघात को भी रूपक में ही मानना चाहिये। जगत में आँख प्रत्यक्ष ही मृत्यु हमारी सहायता कर रही है। यमदेव उन ईश्वर के ही तो प्रहरी हैं। फिर भी ईश्वर को हम दयालु जानते हैं। दुनिया में मृत्यु को जीवित रखना हमारे निकट हिंसा का नहीं वरन् करुणा का प्रमाण है। राम और कृष्ण में हम वही उपमा लें। व्यक्ति हो कर व्यक्ति का वध करने का हक़ किसी को नहीं आता। उसमें प्रमाद गर्भित है। वह तो विधाता का दायित्व है। व्यक्ति कर्तव्य जान कर यदि उस दायित्व को अपने हाथ लेता है तो उसकी बुद्धि अप्रमत्त नहीं मानी जा सकती। लेकिन अपने से उतनी दूर जाकर अहिंसा का विचार हमसे भी

जायगा। किसी के जीने या मरने से अहिंसा का सम्बन्ध बेशक नहीं है। मद्रु मशुमारी बढ़ गई, यह दावा अहिंसा का नहीं हो सकता। पर मारने और मरने में फ़र्क़ है। मारने में व्यक्ति का निमित्त आ जाता है। मारने वाला मारने का कर्तृत्व मन पर लिये बिना हाथ नहीं उठा सकता। पर कर्तृत्व सब ईश्वर का है। ईश्वर का साधन बन कर मार रहा हूँ—यह दावा मेरी समझ मे पूरा नहीं उतर सकता। क्योंकि वह काम भावावेश के बिना सम्भव नहीं। इसलिए इस कारण नहीं कि कोई मरता है, बल्कि इस कारण कि मारने वाला मारना विचारता है वह हिंसक है। मारने का फल मरना न भी हो, बल्कि उसके फल में किसी को किंचित् मात्र भी चोट न पहुँची हो, तो भी वह हिंसा है। फल चाहे डटकर सुखकारी भी दिखलाया जा सके, तो भी वह हिंसा है। फल से उसकी अपेक्षा नहीं, भाव में ही बंध है। इस तरह अहिंसा मुख्यता मे दूसरे के प्रति नहीं की जाती, विधाता के प्रति किये गये आत्मार्पण यानी विधान के प्रति साधी गई एक स्वरता का ही वह तो रूप है।"

मैं उस बात को सहसा समझा नहीं। पूछा, "अहिंसा सामाजिक नीति यदि बने तो वह अन्तर्मुखी ही तो नहीं रह सकती। मानव सम्बन्धों पर समाज का आधार है। अपने में कोई अहिंसक हो, यह नहीं, बल्कि औरों के प्रति अहिंसक हो, यह समाज की मांग है।"

बोले, "हो तो सही। लेकिन समाज तो भी एक दायार है उसे आगे भी कुछ है जिसके आगे कुछ और है। अहिंसक अखिल के प्रति होना होगा कि नहीं? उस अखिल के प्रति अहिंसक होने की बात को समझा जायगा तो मालूम होगा कि उसका अर्थ फिर आत्म-सम्मुख होने के अतिरिक्त दूसरा नहीं रह जाता। अखिल हम से अलग नहीं, हममें भी है। हम उसमें हैं। उसको पाने के लिये हाथों को लपकाने से तो नहीं चलेगा। ऐसे ही समाज को पाने के लिए एक-एक करके आदमी की गिनती को चुकाने की कोशिश से भी नहीं चलेगा। इसलिये सच्चे तौर पर सामाजिक और समाजगत बनने के लिये भी हमें अपने भीतर के विकारों को शांत करने मे शुरू कराना होगा। बाहर के लोगों पर अहिंसा उतारने की चेष्टा के बजाय अपनी वृत्ति में अहिंसा को गहरी उतारने में लाना होगा। सीमित शरीर और क्षेत्र में रहकर भी अहिंसा की उत्तरोत्तर असीम उपलब्धि होगी तो ऐसे ही। अन्यथा परिमाण और विस्तार के माप में आने वाली वस्तु नहीं है अहिंसा। उसको अहिंसा कहा, प्रीति, सहानुभूति या किसी ऐसे दूसरे शब्द मे नहीं कहा। कारण प्रीति, सहानुभूति आदि व्यक्ति से की जाती है, अहिंसा व्यक्ति के प्रति नहीं होती। सत्य में अखण्ड लगन रखने से 'अहिंसा फलरूप आप ही प्राप्त होती है। दुनिया में भलाई नाम से जो हम पहचानते हैं, वह एक तरह से स्थिति को ही मज़बूत बनाती है, गति में वेग नहीं देती। इसलिये उस भलाई की अपर्याप्तता ही हमेशा प्रकट होती रही है। जो पीछे युगप्रवर्तक माने गये हैं, उनमे युग रुष्ट भी रहा है। भले आदमी भलाई का आदर्श नहीं बन पाये। भलाई-बुराई के आधार पर आपस में भेद-भाव और ऊंच-नीच की विषमता रचकर चलने वाली समाजनीति को संस्कार और गति उनसे मिली है, जो स्वयं उससे उत्तीर्ण रहे हैं। महापुरुष वे हुए हैं जिन्हें काफ़ी लोग असाधु ही कह सके। अहिंसा भी केवल मात्र स्वीकृत नहीं है। उसमें निषेध की प्रबलता है। स्थिति में स्थित्यंतर लाये बिना अहिंसा सध नहीं सकती। इसीलिये उसका दायित्व समाज के व्यक्तियों और समाज की मान्यताओं के प्रति नहीं है, बल्कि उन सब को पार कर उस महत्व की ओर है, जो नित्य और अखण्ड है। उपयोगिता के बल पर इसीलिये उसको समझने में सदा कठिनाई रही है और रहेगी।"

यह तो पुरानी ही बात आ गई। धर्म व्यक्ति और भगवान के बीच की बात है और अहिंसा भी व्यक्ति और भगवान के बीच का धर्म है। "ऐसे" मैंने शंका की "अहिंसा धर्म असामाजिक न हो रहेगा?"

बोले, "नहीं, समाज-संस्कृति से विकास की क्षमता उसमें तभी आ पायेगी। समाजहित में जो आबद्ध है वह गति द्वारा समाजस्थिति को लाभ पहुँचाने में असमर्थ हो रहेगा। यानी उपकार या परहित की दृष्टि सच्ची अहिंसा के लिये ना काफ़ी है।"

मैंने कहा कि यह तो हम सनातन आदि प्रश्न से आ टकराये। आदि जीव है कि जगत ? 'मैं' पहले कि 'यह' पहले ? आदि में चित् है, कि सत् है ? पदार्थ पहले कि पदार्थत्व की चेतना पहले ? स्रष्टा अथवा कि सृष्टि—कौन आदि या अनादि ? प्रस्तुत के पार हो कर जिसको हम मानें, वह भी फिर हमारी ही कल्पना तो है—इत्यादि तर्क देकर लोग साबित करते हैं—जगत को माया कह कर जैसे किसी ईश्वर को सत्य कहना ठगाया जाना है। इसलिए वे किसी ऐसे भ्रम को अंगीकार नहीं कर सकते जिसका अंतिम समर्थन लोक-मंगल नहीं है। अहिंसा को क्या जन-कल्याण के लक्ष से बँधा न माना जाय ?"

बोले—"नहीं। प्राणवान् पुरुष कब बँधा रहा है ? वह देखो—उदिता किससे बँधी है ? आओ—देख चुकीं ?"

कहने के साथ उदिता पास आई और प्रश्न कर उठी—"करुणा क्यों मेरे साथ नहीं आई ? आपने मने कर रखा है ?"

बोले—करुणा अक्सर खुद ही अपने को मने कर लिया करती है। थकीं तो नहीं ? अब चलें।

करुणा ने भँवें मोड़ लीं। कहा—"ज़िन्दगी एक बाड़ा है, जिसे निषेधों की काँटेदार बाड़ों से रोक रखना होगा कि कोई चर न जाये—क्यों स्वामी जी, यही न ?"

सुनकर हैरत में मैंने उदिता को देखा।

स्वामी हँसते हुए अपनी जगह से उठे, बोले—चलो काँटे की बाड़ से बाहर निकल कर बात होगी। घूमने चलती हो न ? आओ।"

कहने के साथ उदिता को बाँह से पकड़ कर उन्होंने साथ ले लिया।

चलते-चलते हँसते हुए स्वामी ने उदिता से कहा—"तुम अपने इस बाबा को तत्त्व में लगने देती हो, अपने आस पास क्यों नहीं लगाये रखती ?

उदिता जल्दी हारती नहीं। उसका ख़याल है कि नारी जाति के गौरव की रक्षा का दायित्व हम न उठाएँगी तो हिन्दुस्तान गिरता ही जायगा। इसलिए वह जवाब में सदा उद्यत रहती है। हम चले तो बोली—"आपके आश्रम की विराग-वृत्ति का मैं तो समर्थन कर नहीं सकूंगी, स्वामी जी !"

वह बोले—"समर्थन नहीं, आलोचना तो करोगी। वही चाहिए। पर आश्रम को तो अब हम छोड़ रहे हैं।—यह देखो, इधर आओ। यूनिवर्सिटी कब जाओगी ?

"पाँच-सात रोज़ में जाऊँगी" और बोली—"एक बात बताइए। आप घड़ी को उल्टी क्यों चलाना चाहते हैं ? सभ्यता बढ़ आई है। हम बर्बर युग में नहीं पहुँच सकते। और आप पुरानी दकियानूसी बातों को पोषण देते हैं। आपका असर इतना है, पर वह काम ज़िहालत को मज़बूत करने में आता है।"

मैंने कहा—"उदिता—"

पर वह हँस कर बोले—"बताओ, क्या करूँ ?"

उदिता ने बेधड़क कहा—"मज़हब ने हमें मूर्खता में डाल रक्खा है। वह सत्यानाश की जड़ है। मज़हब है तब तक ग़ुलामी है। ईश्वर को मालिक मान कर धरती पर भी मालिक की हमें ज़रूरत रहेगी। बस ऐसे स्वतन्त्रता कभी आही नहीं सकती। मज़हब हुकूमत के हाथ का हथियार है। ग़रीब इससे चुप रहते हैं और अमीरों की अमीरी को खटका नहीं आता। मज़हब है तब तक उनमें अपनी क़िस्मत को बदलने का हौसला नहीं है। मैं मानती हूँ कि दुनिया को झूठ और ईश्वर को सच मानकर दुनिया की तरक़्क़ी तो हो नहीं सकती। और इस दुनिया से दूसरे लोक को किसी ने देखा कि उसकी बात करने जायँ ?"

उदिता की नासमझी पर मैं कुछ कहूँ कि वह बोले—"देखो अभी इधर जितने रोज हो और भी

आना और यहाँ का सब कुछ बारीकी से देखना। काफ़ी कुछ तुम्हारे पास जमा हो जाय तब यूनिवर्सिटी पहुँच कर एक-एक त्रुटि मुझे लिखना कोई बात तुम्हारी न समझ सकूं और अपनी न समझा सकूं तो ख़याल रखना कि जिस जनता पर तुम मेरा असर बतलाती हो मैं उन्हीं की-सी बुद्धि का हूँ। हिन्दुस्तान मूढ़ है तो मैं उन मूढ़ों के बीच का ही आदमी हूँ। मुझे उनके लायक रहना भी है। काबिल बनकर उनकी पहुँच से दूर पड़ जाऊँ तो इसमें मुझे अपना भी भला नहीं दीखता। पर उदिता, मुझको सहारा दो कि मैं थकूं नहीं।

कह कर एक हाथ उदिता के कंधे पर रख लिया और बोले—"पैदल कितनी दूर तुम चली चल सकती हो?"

बोली—मैं चली तो ज़्यादा नहीं, पर कोई चले तो उसके साथ मैं हार नहीं सकती।"

"जीत सकती हो?"

"हाँ। राइरिटिंग, स्विमिंग, बोरिंग—

"उदिता, खाना बना कर खिलाने को मुझे बुलाओ, तो मैं तुम्हारे घर आऊँगा।"

बोली—"सुना है आप तो आग का बना खाते नहीं।"

बोले—"सो मुझ पर छोड़ो। तुम बनाओ और बुलाओगी, यह कहो।'

बोली—"बनाया तो नहीं, पर हाँ बनाऊँगी।"

"राम रे, कच्चा-पक्का खिलाओगी? नहीं तुम्हें तसल्ली हो जाय कि तुम्हारे हाथों बना खाना मुझ जैसे बूढ़े आदमी को खा लेना चाहिए, तब तुम बुलाना, भूलोगी तो नहीं? कब आशा करूँ?"

मैंने कहा—"उदिता, कल से ही अभ्यास शुरू कर दो। तुम्हारी वजह से ही यह वैरागी अपने घर आयें, तो बड़ी बात है।"

बोले—"वैरागी कहकर अभी मेरे मामले को डिसमिस कराने की इच्छा क्यों करते हो भाई? झूठ को भी जिसे वैरागी कहा जा सके, उसे उदिता घर में न घुसने देगी। क्यों उदिता?"

उदिता का मुँह शर्म से लाल पड़ गया और उसने धीमे सिर हिला कर इस बात से इन्कार किया।

बोले—"उदिता, इन अपने बाबा को कहो कि विरागी अगर होऊँ भी, तो तुम्हारे सामने मुझे विडम्बना से बचायें। नहीं तो कहीं ऐसा न हो कि आलोचना का वास्ता भी तुम मेरे साथ न रखो और मुझे जो अपनी और आश्रम की त्रुटियाँ मालूम हो सकती हैं, वह फ़ायदा भी मेरा रह जाये।"

उदिता सुनकर चुप रह गई थी और वह हठात् लाल पड़ी आ रही थी।

बोले—"उदिता तुमने संस्कृति पढ़ी या नहीं?

"मैंने तो नहीं पढ़ी। इसीसे कहता हूं कि तुम ज़रूर पढ़ना। इन्कार करने के लिए ही सही, एक बार अपने शास्त्रों को जान लेना ज़रूरी है। हमारी परम्परा और हमारा समाज जिन मान्यताओं के आधार पर चल रहा है उनके मूल में पुरुषाओं से प्राप्त हुई हमारी क्या विरासत है, इसको समझ-देखने में कुछ हानि तो नहीं है, उदिता! परिवर्तन भी तो समझ बूझ कर ही होगा। लेकिन अब आगे कहाँ चलोगी, चलो लौट चलें।"

लौटते हुए उदिता के कन्धे का सहारा लिये-लिये मुझ से बोले—"अहिंसा की बात का मेल पश्चिम के समाजवाद और समाज शास्त्र से इसी से तो नहीं होता है कि अपने से पार कुछ समर्थनीय आदर्श वे नहीं मान पाते हैं। तभी तो समाजवाद और शास्त्र से घोर व्यक्तिवाद यानी अहंवाद को जन्म दिया गया है। अहिंसा के बिना जनतंत्र या समाज-तंत्र, अधिनायक तन्त्र को बुलावा ही है। हमारी दृष्टि और हमारा प्रयोजन कितनी दूर तक जाता है उस परिधि को चारों ओर लेकर हम अपने समाज का निर्माण करते हैं। राष्ट्रवाद इसी प्रकार का तो एक समूह या समाजवाद है। राष्ट्र के भीतर वह अहिंसा की उपयोगिता देखता है, पर राष्ट्र के बाहर अपनी वैदेशिक नीति में उसे हिंसा भी उचित लग आती है। इसी से तो कहता हूं कि हिंसा पर समाज का दायरा

ठीक नहीं। बाहरी समाज के लिए हिंसा मानली जायगी तो उस समाज के लिए भी एक दिन हिंसा उचित दीख सकने लगेगी। इससे अहिंसा के तो स्वयं सिद्ध मूल्य ही रखो। प्रयोजन को लेकर ही नहीं, साधन के रूप में ही नहीं, बल्कि साध्य के रूप में भी अहिंसा ही धर्म है, यही मान कर चलने में श्रेय है।"

मैं चुपचाप साथ चल रहा था। तारे उग आये थे। हम तीन ही थे। शेष सुनसान था। उनकी चाल तेज़ थी। उदिता ज़ोर लगा कर साथ दे रही थी। मुझे भी साथ रखने में असुविधा होती थी। लेकिन बात करते-करते वह चुप हुए तो चाल कुछ और भी तेज़ हो गई। उनकी निगाह सामने थी। हम साथ हैं, क्या यह उन्हें याद था?

अन्त में मैंने कहा—"ज़रा धीमे न चलिए?"

बोले—"तुम आना। हमने बातों में देर कर दी है। उदिता तू तो दौड़ सकती है? या लठिया ले कर मैं अकेला चलूं? प्रार्थना में देर होगी, चल।"

साफ़ था कि उदिता पिछड़ना नहीं चाहती थी।

बोली—"चलिए न, मैं तो नहीं थकी।"

कहकर आवश्यकता से अधिक लम्बे डग वह भरने लगी।

उन्होंने हँस कर कहा—"अच्छा, तो क्या मुझे भगाएगी?"

कहकर वह सचमुच कदम उठा कर भागने लगे। हँसती हुई उदिता भी साथ भाग चली।

अकेला पड़कर मैं अपने विचारों में हो रहा। सोचने लगा कि यह व्यक्ति अपने महत्व से भी बड़ा है। प्रतिष्ठा या सम्मान उसके ऊपर हो कर नहीं रह सकता। मानो हर क्षण हर बोझ अपने ऊपर से परे झाड़ देकर वह निस्संग निर्ग्रंथ भाव से चल रहा है। गुरु-गम्भीर है, पर शिशु-सरल है। उसकी अनायासता किसी ओर से भी कुंठित नहीं हो सकी है।

कि देखा उदिता गाड़ी लिये आ रही है। बोली—"बाबू जी, आपको प्रार्थना में रहना हो तो चलिए आपको उतार आऊँ। मैं तो सीधी घर जाऊँगी। आप रहें तो गाड़ी भेज दूँगी।"

गाड़ी में बैठते हुए मैंने कहा—"तू तो प्रार्थना में रहना चाहती थी न उदिता?"

बोली—"हाँ पर अब नहीं। आपको आश्रम छोड़ दूँ?"

मैंने कहा—"नहीं, चलो घर ही चलो।"

कहना चाहिए कि मुझे उदिता का व्यवहार समझ में नहीं आया।

[२८२ पृष्ठ से आगे]

भी बहुत चिढ़ी हुई थीं। सोवियत् राज्य ने उस बेढब क़र्ज़ को जो ज़ार ने अपने निरंकुश शासन-काल में लिया था, अदा करने से इन्कार कर दिया था। फिर नाराज़ी क्यों न होती ? उसे 'पंचों की सभा' में बुलाया तक नहीं गया। उसे भी इसकी क्यों परवाह होती ? पोलैण्ड को स्वाधीनता मिली, पर वह पुरानी स्वाधीनता न थी। उसमें एक तिहाई संख्या वाले दल को दबाये रखना अनिवार्य था। सम्पूर्ण यूरुप और भी अनेक नये 'देशों' की 'राष्ट्रीयता' में बँट गया।

हिटलर ने अपनी कट्टरता के कारण यह विश्वास प्रकट किया कि उसे ईश्वर ने एक विशेष और 'महान्' कार्य के लिए इस समय दुनिया में भेजा है। उस कार्य का कुछ बयान उसने जब वह १९२४ में लेन्डसबर्ग के जेलखाने में डाल दिया गया था और उसकी पार्टी ग़ैर क़ानूनी क़रार दे दी गई थी तब एक पुस्तक में, जिसका नाम उसने 'मेरा संघर्ष' रक्खा, लिखा। इसमें उसने बताया कि 'कार्लमार्क्स का साम्यवाद यहूदी पूंजीपतियों के अन्तर्राष्ट्रीय षड्यन्त्र का परिणाम है।' वह अंगरेज़ों तथा अमेरिकनों के 'लोकतन्त्रों' को 'अपने अपने देश की जनता को बेवक़ूफ़ बना कर वोट लेने और अन्य देशों की जनता का शोषण करने का साधन' मानता है। जरमनी को 'अपमानित अवस्था से छुड़ा कर उसकी फिर से उन्नति करने और गत अभ्युदय को ही नहीं बल्कि उससे बढ़कर वैभव और आत्मसम्मान प्राप्त करने के लिए, जो 'उग्र कार्यक्रम' उसने तैयार किया वह दो मुख्य आधारों पर अवलम्बित था।

इनमें पहला था संसार की सभी जातियों में आर्य जाति की श्रेष्ठता और इनमें भी जरमनों की श्रेष्ठता की घोषणा। हिटलर ने सिद्ध करना चाहा कि 'संसार में आर्य जाति विशेष प्रतिभा और गुण सम्पन्न जाति है। अन्य कोई जाति उसका सामना नहीं कर सकती। इसी जाति का यह परम कर्तव्य है कि वह संसार भर के लोगों का उनके सच्चे सुख, सच्चे ऐश्वर्य और सच्ची शान्ति के लिए नेतृत्व करे और अन्य जातियों का यह कर्तव्य है कि वे आर्य जाति के नेतृत्व को स्वीकार करें।' जरमनी में वह आर्य जाति का 'शुद्धतम' रूप देखता है। यहूदियों को, जिन्हें वह अनार्य कहता है, अपने देश से इसलिए भी निकलवा देना उसने उचित समझा।

यहूदियों की सभ्यता को वह ऐसे पूंजीपतियों की सभ्यता समझता है 'जिन्हें अपने देश का और मानवता का उचित ध्यान नहीं है और जिन्होंने राष्ट्रीयता को तोड़ने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूरों के दल के नाम से एक ऐसी पार्टी बनाई है जो अपने अपने देश का तो यथेष्ट अहित कर सकती है किन्तु संसार भर में फैले हुए इन पूंजीपतियों का कोई वास्तविक अहित नहीं कर सकती।' इसलिए नाज़ी-पार्टी इन पूंजीपतियों की सब से अधिक विरोधिनी है।

हिटलर के कार्यक्रम का दूसरा आधार था जरमन साम्राज्य का 'पूरा विस्तार'। पहले महायुद्ध में जो भूलें हो गईं थीं उनसे बच कर इस तरह आगे बढ़ने का निश्चय उसने किया जिसमें वह जरमन साम्राज्य में पोलैण्ड और रूस के यूक्रेन प्रदेश को, यूरोप के ज़ेकोस्लेवेकिया तथा नारवे, बेलजियम आदि देशों को और अन्त में सम्पूर्ण यूरुप को अपने अधीन कर सके। भीतर ही भीतर उसने यह निश्चय भी किया कि संसार में सब से अधिक फैले हुए अंगरेज़ी साम्राज्य को छिन्न भिन्न कर के उसकी शक्ति नष्ट कर दी जावे और अफ्रीका में जरमनी के जिस उस 'प्रदेश' (Colony) को युद्ध में छोड़ देना पड़ा उसे फिर से प्राप्त किया जावे तथा चीन और सम्पूर्ण पूर्व एशिया में जापानी साम्राज्य के फैलने में सहायता दी जावे।

आर्थिक स्वार्थों की एकता होने से रंग-भेद, भाषा-भेद, धर्म-भेद आदि के बावजूद जरमनी और जापान की घनिष्ठता बढ़ती गई। दोनों ही यह चाहते थे कि एक ओर रूस के और दूसरी ओर

ब्रिटेन-अमरीका के फैलाव को रोका जावे और अपना फैलाव किया जावे । यूरुप में चालीस करोड़ के क़रीब संख्या वाले लोगों को—'सब युरोपियनों भर को'—'एक राष्ट्र' बना कर' शक्तिशाली नई व्यवस्था चला देने' का दम जरमनी के नेताओं ने भरा। और ऐसी ही बातें पूर्वी एशिया के सब लोगों के लिए जारी कर देने के लिये जापान ने। वस्तुतः दोनों ही के नेताओं ने अपने अपने देश वालों की शौर्यपूर्ण समृद्धिकी वृद्धि और दूसरे देशों के समृद्धि-नाश एवं उनके शोषण की ही योजनायें बनाईं। दूसरे देशों को कृषिप्रधान रखकर और अपनी मशीनों के तथा कारख़ानों के सामानों के ख़रीदार उन्हें बना कर वे ऐसा करना चाहते हैं। दूसरे देशों के आदमियों से अपनी एजेन्सी, मज़दूरी और क्लर्की आदि के ही काम लेना चाहते हैं। 'युरोपीय-संघ', या 'यूरोप के राष्ट्रों का संघ, 'एशिया संघ' या 'एशिया के राष्ट्रों का संघ' आदि बनाने की लम्बी चौड़ी बातें वे इसीलिये करते हैं।

सर्व साधारण लोगों की कठिनाई यह है कि उन्हें अमरीका, रूस आदि की 'उद्धारक शक्ति' पर भी वैसा विशेष भरोसा नहीं हो सकता। ज़ीकोस्वावकिया के एक विशेष अधिकारी ने यह साफ़ कह दिया है कि "बिना बाहरी शक्ति से सहायता पाये 'भीतरी बग़ावत' इस वैज्ञानिक युग में—हवाई जहाज़ों, टैंकों आदि के समय में—सफल हो ही नहीं सकती।' स्मट्स साहब ने अमरीकन सेनाओं की विशेष संख्या यूरुप में कई मोरचों पर अगले साल उतरने की बात कही। पर अमरीका को यह बात पसन्द नहीं आई। 'अपने तरुण सिपाहियों की जानें हमें अपने उन सामानों से जो उधार और रेहन खाते दिया जा रहा है कहीं अधिक प्यारी हैं।' एक अधिकारी ने कह दिया है। और साथ ही कुछ 'सिनेटर' ब्रिटेन अधिकारियों को इसके लिए दोष दे रहे हैं कि 'वे इस समय और लड़ाई के बाद भी अपने देश के स्वार्थों और हितों पर तो विशेष दृष्टि रखना चाहते हैं पर जब अमरीकन ऐसा करते हैं तो उन्हें 'मित्र-दल के हितों का विरोधी' कहने लगते हैं।' 'अब अमरीकनों को भी अपने देश के हितों का विशेष ध्यान रखना होगा।'

पर वस्तुतः इस बार अमरीका इस लड़ाई के शुरू से ही अपने देश की ही ओर ख़ास तौर से देख रहा है। इस समय तक भी वहां चाइनीज़ लोगों तक के ख़िलाफ़ क़ानून (Chinese Exclusion Act) रद्द नहीं हो पाया। एशिया के लोगों का रहन सहन वे अपने से कहीं नीचा समझते हैं और कहते हैं कि 'इनके ख़िलाफ़ क़ानून न रहे और ये लोग आकर अमरीका में बसने लगें तो हम आफ़त में पड़ जावेंगे।' हाँ, अपने कमान्डर-इन्चीफ़ के अधीन अपनी फ़ौजें अमरीका ने चीन में भेज रखी हैं—यद्यपि उतने हवाई जहाज़ वह कभी नहीं भेज सका जितने चीनी चाहते हैं। पाँच सौ हवाई जहाज़ों से ही वे बहुत कुछ कर सकने का दावा करते थे। इतने भी नहीं मिले !

इधर ओवन लेटिमोर आदि ने साफ़ साफ़ लिखा—'राजनैतिक समस्या के साथ विश्व-समस्या का एक पहलू भी जुड़ा हुआ है,—वह है जातीय समस्या। पहले से यह तअस्सुब चला आ रहा है कि जिन लोगों का रंग सफ़ेद नहीं है वे उन्हीं लोगों द्वारा शासित होने लायक़ हैं जो गोरी जाति के हैं।' ब्रिटेन का कट्टर साम्राज्यवादी दल जिसमें चर्चिल एमेरी आदि मुख्य हैं, अपने दिमाग़ को ऐसे ही संस्कारों से भरा पाता है। फलतः वह महात्मा गांधी और कांग्रेस के भी यह बार बार विश्वास दिलाने पर भी कि 'यह मुल्क फ़ैसिस्टों का पूरा तरह सामना करना चाहता है' अपनी वर्तमान दमन-नीति को इस हद तक भी नहीं छोड़ पाता कि सब नेताओं को आज़ादी देकर उन्हें कुछ कहने सुनने का अवसर दे। अपने यहाँ की अनेक जातियों, अनेक धर्मों और बिल्कुल अलग अलग प्रकार की अनेक भाषाओं आदि के इतिहास की ओर ध्यान न दे वह इस देश को इन्हीं आधारों पर अनेक 'स्वतन्त्र भागों' और 'आज़ाद क़ौमों' में बाँट देने की ओर अपने मनमाने

ढङ्ग से बदलना चाहता है। इस देश में तरह तरह से उसके इशारों पर नाचने वाले और इसे ही 'रूसी लोकतन्त्र' कह उसकी 'नौकरशाही' के कंधे से कंधे भिड़ा कर साथ देने वाले तो हैं ही।

परन्तु जापान ने हाल में ही चीन की नानकिंग-सरकार से नई सुलह की है, जिसे नानकिंग-गवर्नमेण्ट के प्रेज़ीडेन्ट डा० वांग चिंग वी ने इन दोनों के बीच 'सदा क़ायम रहने वाली मित्रता और महान एशिया के निर्माण के प्रति एक बड़ी देन' बताया है। 'प्यूपिल्स वार' में यह भी प्रकाशित हुआ कि जापान ने सुभाष बाबू को सभापति बना कर हिन्दुस्तान की 'क़ौमी सरकार' बना डालने का स्वांग भी रच डाला है। अब जब 'मित्र-दल को अपनी विजय निकट आती दीखती है और रूस और अमरीका परस्पर विरोधी विधानों के होते हुए भी मिल रहे हैं' तब ब्रिटेन के अधिकारियों का भी यह परम कर्तव्य हो जाता है कि वे कांग्रेस का विश्वास करें, उसे अपने साथ लें और उसकी बातें मान कर उसे यह सुअवसर दें कि वह अपने देश भर को ऐसी पूरी तरह फ़ासिस्टों के विरुद्ध खड़ा कर दे जैसा और कोई नहीं कर सकता। संसार में स्थायी शांति और 'चारों प्रकार की सच्ची स्वतन्त्रताओं' की बातों में तभी सब को विश्वास हो सकता है और यही संसार के उज्ज्वल भविष्य के लिए और यहाँ के वर्तमान संकटों को यथा शक्ति कम करने के लिए सब से बड़ी आवश्यकता है, जैसा कि अब 'प्रिवी कौन्सिलर' श्री श्री निवास शास्त्री आदि तक कहने लगे हैं।

वे लोग भूल करते हैं जो यह समझते हैं कि इस देश के चालीस करोड़ लोगों को अब भी मनमाने ढङ्ग से बेवकूफ़ बनाया जा सकता है और 'मियां की जूती मियां का सिर' चरितार्थ करते हुए उनका मनमाना शोषण किया जा सकता है। यह सच है कि इन डेढ़ दो सौ वर्षों में ब्रिटेन ने यहाँ देहात देहात में फैले हुए मदरसों और उद्योगों को हटा कर अपनी शिक्षा का ऐसा ढङ्ग चला लिया है कि मुश्किल से पन्द्रह फ़ीसदी लोग 'पढ़े-लिखे' हैं और जनता के अपने पैरों पर खड़े होने के औद्योगिक सहारे इतने कम रह गये 'जो नहीं के बराबर' कहे जा सकते हैं, और न तो यहाँ यूरप, अमरीका आदि में चलने वाले कई हज़ार कारख़ानों की भाँति के कारख़ाने हमारी ज़रूरी चीज़ों के लिए खोले जाते हैं, न उनकी जगह पुराने ढंगों से ही चीज़ें बनाने दी जाती हैं, फिर भी यह सत्य दोपहर के सूर्य के प्रखर प्रकाश के समान दिखलाई दे जाना चाहिए कि जाग्रति की जो लहरें इस विशाल देश में अब तक फैल चुकी हैं वे किसी तरह अब हटाई नहीं जा सकतीं। और इन्हें हटाने का प्रयास मानवी सभ्यता और वास्तविक लोकतन्त्र के अनुकूल हो भी नहीं सकता।

जापान ने सर्व साधारण चीनियों से जो 'हैन्स' (Hans) कहलाते हैं वहाँ के मुसलमानों को जो 'हुई हुई' कहे जाते हैं अलग करना चाहा था, पर वह कामयाब न हुआ। वे सब चीनी ही रहे और सब हिन्दुस्तानियों को भी उन्होंने हिन्दुस्तानी ही रहने का सन्देश भेजा। इसी तरह 'कम्युनिस्टों' ने भी 'चीनी' ही रह कर अपने देश का साथ दिया है। महात्मा गान्धी ने एक बार लिखा था 'हम ऐसी केन्द्रीय शक्ति बना सकते हैं जिसमें 'हिन्दुओं के बहुमत' का प्रश्न ही न रह जावे।' वस्तुतः हुकूमत की समस्यायें धर्म से नहीं बल्कि राजनीति और अर्थशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाली होती हैं। आज इङ्गलैण्ड में जो हुकूमत है उसे कोई 'प्रोटेस्टैन्टों के बहुमत' की हुकूमत तो नहीं कह सकता। अमरीका आदि के लिखित विधान के आधारों को हिन्दुस्तान का नाम आते ही क्यों ध्यान से उड़ा दिया जाता है? क्या कोई ऐसा देश भी है जहाँ कभी 'जन्म से अछूता का भाव' न पैदा हुआ हो? क्या अनेक देश ऐसे नहीं हैं जहाँ यहां से भी बुरी जाति-श्रेणियाँ बनीं और क्या कई देश ऐसे नहीं हैं जिनमें ऐसी अवस्था अब भी है? किन्तु क्या वे इन कारणों से 'पराधीन' किये या रखे जा सकते हैं? ऐसी कसौटियों पर कसे जाने से, या वैसी 'अव्यावहारिक समता' चाहने से

जैसी यहाँ चाहा जाया करती है, कभी कोई देश स्वाधीन हो सकता है ? स्वाधीनता के बाद जो आज 'अव्यावहारिक' है वही बहुत कुछ या पूरी तरह व्यावहारिक बनाया जा सकता है पर क्या उसके पहले ऐसा करना सम्भव है ?

संसार का भविष्य अपनी संकीर्णताओं को छोड़ कर बीसवीं सदी के नये दृष्टिकोण और नवीन जागृति को ध्यान में रख कर, चीन और हिन्दुस्तान जैसे विशाल देशों को अपना 'वास्तविक साथी' बना लेने से ही मित्र-दल के लिए यथेष्ट उज्जवल होगा न कि यह कहने से कि 'बंगाल की इस असहाय अवस्था ने यह साबित कर दिया कि हिन्दुस्तानी राज्य-प्रबन्ध करने के क़ाबिल अभी नहीं है,' और 'बंगाल की ग़रीबी ने यह दिखलाया कि अभी लोकतन्त्र हिन्दुस्तान में नहीं चल सकता क्योंकि इसके चलाने के लिये लोगों के पास खाने-पहरने की चिन्ता से मुक्त होकर सोचने-समझने और लोककार्य करने का समय चाहिए जो ऐसी अवस्था में हिन्दुस्तानियों को नसीब नहीं।' यह सब कहना जले पर नमक लगाना और कटु भावों को कहीं अधिक बढ़ाना है। विलायत के 'न्यू स्टेट्समैन एण्ड नेशन' आदि की भाँति के पत्रों ने सब कांग्रेसी नेताओं आदि के छोड़ने की राय दी है। उसे मान लेने की सुबुद्धि आनी ही चाहिये।

देशव्यापी अन्नसङ्कट

श्री हर्ष वर्धन

आज सारा देश अन्न-संकट से ग्रस्त है। पिछले अगस्त से राष्ट्रीय नेताओं की गिरफ़्तारी और कांग्रेस के ऊपर दमन के कारण देश में जो विकट परिस्थिति उत्पन्न हो गई है, उसने इस अन्न संकट को और भी जटिल तथा भयंकर बना दिया है। चीज़ों के दाम चौगुने-पंचगुने बढ़ गए हैं। खुले बाज़ारों से ग़ल्ला बिलकुल ग़ायब है। भारतीय जनता के सर पर भूख, काल और महामारी के भूत सवार हैं। परिस्थिति दिन प्रति दिन बिगड़ती ही जा रही है। कलकत्ते से रोज़ ही कितने लोगों की भूख से तड़प-तड़प कर मरने की ख़बरें आती हैं। सैकड़ों भूख से अधमरे, निस्सहाय अस्पतालों में भर्ती किए जाते हैं। तमाम देश से सहायता जाने और कितने ही मुफ़्त भोजनालयों (लंगरों) के खुलने के बावजूद भी परिस्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं हो सका है। अन्य स्थानों से भी लोगों के भूख से मरने, बच्चों के खाना माँगने पर, अपनी विवशता से खीझ कर या तो उन्हें ही ख़त्म कर देने या आत्महत्या कर लेने तथा बच्चों को सड़क पर भाग्य के सहारे छोड़ कर भाग जाने और मुट्ठी भर अनाज के लिए तन बेचने या ४,३ रुपयों में लड़कियों के बेच डालने की कितनी ही ख़बरें नित्य ही अख़बारों में आती हैं। देश का विशाल जन-समूह अन्नाभाव से पीड़ित है। अब प्रश्न केवल बहुत ऊँचे दामों या अनाज की कमी का नहीं है। आज परिस्थिति यह है कि अधिकतर देशवासियों को खाने-पीने की चीज़ें मिलने का कोई ठिकाना ही नहीं है। नियन्त्रित अनाज सारे देश में खुले बाज़ारों से बिलकुल ग़ायब है। अधिकतर शहरों में स्त्री-पुरुषों को सेर आध सेर अनाज के लिए अन्त-विहीन पाँतों में खड़ा रहना पड़ता है। एक दिन चूल्हा जलाने के लिए कितनी ही मुसीबतें उठानी पड़ती हैं। केवल शहरों की ही नहीं, गाँवों की दशा इससे भी बुरी है। अन्न की चोरी और निर्यात ने देश के बहुत से भागों में अकाल की दशा पैदा कर दिया है। राष्ट्रीय सङ्कट जनता की सबसे सामान्य आवश्यकता, अन्न तक फैल गया है। इसीलिए अन्न के दंगे होने लगे हैं। जब लोग भूख से पागल होते हैं, वे स्वार्थ वश अन्धे हो कर एक दूसरे को खाने लगते हैं। सारे देश में अव्यवस्था तेज़ी के साथ फैल रही है। राष्ट्रीय अव्यवस्था

बढ़कर सामाजिक अव्यवस्था का रूप धारण कर रही है।

उपरोक्त बातों से जो प्रश्न उपस्थित होते हैं उनके उत्तर में सरकार सारा दोष अनाज चोरों के सर मढ़ कर अपनी उन पापपूर्ण करतनियों को छिपाना चाहती, जिनके वशीभूत होकर उसने लाखों टन गल्ला फौज के लिए ख़रीद कर और उसको रोक कर सड़ाया है तथा बहुत कुछ विदेश भेजा है। और ऐसा करके वह भूखी जनता को सारे व्यापारी वर्ग के विरुद्ध भड़काने का प्रयत्न करती है। वह कहती है कि ये सारा अन्न दबा कर बैठ गए हैं और वह इस मामले में बिलकुल निर्दोष है। इस कथन में यहां तक तो सत्यता अवश्य है कि आज देश का बहुत कुछ अन्न इन्हीं अनाज चोरों की खत्तियों में छिपा है। लेकिन प्रश्न यह उपस्थित होता है कि आख़िर अभी हाल में ही क्यों इन इजारेदारों ने अनाज जमा करना शुरू किया है। किन बातों से यह चोरी सम्भव हो सकी है? सरकार अपनी सफाई दे कर यह छिपाना चाहती है कि राजनीतिक और आर्थिक मामलों में उसकी दिवालिया और दोषी नीति ही के कारण ही देश में अनाज चोर और इजारेदारों का जन्म हुआ है या वह अपने को बचा कर चोरी को प्रोत्साहन देती है।

इसके विपरीत, अनाज चोर फौज़ी अधिकारियों की ख़रीदारी और अनाज के बाहर भेजे जाने की ओर संकेत करके अपने पापों पर परदा डालने का प्रयत्न करता है। 'उनका कहना है कि बर्मा से चावल आना बन्द हो गया है और फौज़ी अधिकारी हिन्दुस्तान और मध्य-पूर्व की सेनाओं के लिए बहुत सा अनाज ख़रीदते रहते हैं; इन्हीं दो कारणों से अन्न की कमी हो गई है और लोगों की यह दुर्दशा है।' इनके कथन में भी हमें कुछ सत्यता मिलती है। यह सच है कि सरकार ने सेना के लिए अन्न ख़रीदते समय जनता के हितों की ओर क़तई ध्यान नहीं दिया है। फौज़ी अधिकारियों के ठीकेदार सीधे देहातों में जा कर ज़्यादा दामों में अन्न इकट्ठा करते हैं। कभी कभी ये नियन्त्रित भाव से अधिक दाम दे कर किसानों से अन्न ख़रीद लेते हैं और कभी उनको बिलकुल अनुचित दामों पर अनाज बेचने के लिए मजबूर करते हैं। मार पीट और घूसख़ोरी में सरकारी कर्मचारियों और पुलिस वालों का पूरा सहयोग रहता है। लेकिन इन सब का नतीजा ऊँचा दाम और अनाज की कमी हो सकती है। इससे इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता कि आख़िर देश का सारा अनाज चला कहां गया? जब कि यहाँ केवल गेहूं और चावल की पैदावार ९८ करोड़ मन प्रति वर्ष है। इस प्रकार से वह भी अन्न संकट की गम्भीरता की सफ़ाई देने में असफल हैं। 'उसकी इस सफ़ाई का भी केवल यही नतीजा होता है कि जनता में निराशा बढ़ती है और अव्यवस्था फैलती है।'

'अतः सरकार और अनाज-चोर, दोनों के उत्तर केवल कुछ अंशों में सच हैं। दोनों एक दूसरे पर दोष लगा कर स्वयं अपने पापों को और इस सङ्कट के शुरू करने के दायित्व को छिपाने का प्रयत्न करते हैं और दोनों असली कारण को नहीं बता पाते।'

वास्तव में अन्न-सङ्कट राष्ट्रीय सङ्कट का ही अत्यन्त गम्भीर और नग्न तथा भयंकर रूप है। इस बात में भी कोई सन्देह नहीं कि इसका मूल कारण सरकार की ही आर्थिक और राजनीतिक नीति है।

लड़ाई के आरम्भ होते ही, देश में दाम बढ़ने की पहली बड़ी लहर १९३९ में आई। सरकार इससे कुछ हिली डुली तो अवश्य लेकिन सप्लाई का बिना कोई उचित प्रबन्ध किए और जनता से सहयोग पाने के प्रयत्न किए बिना, नियन्त्रित दामों की घोषणा कर दी। इसके फलस्वरूप मंहगी और बढ़ी। फ्रांस की पराजय, सोवियत् पर आक्रमण होने और जापान के युद्ध में प्रवेश करने से दाम और बढ़े। 'इस प्रकार से युद्ध के बाद से जब कभी सट्टेबाज़ी के कारण दाम बढ़े, सरकार की मुख्य नियन्त्रण नीति उन्हें क़ानूनी क़रार देती गई।'

अन्न पर बड़े बड़े महाजनों के अधिकार जमा लेने से छोटे छोटे व्यापारियों का भी व्यापार नष्ट हो रहा है। बड़ी मछली छोटी को निगलने में व्यस्त है। कहीं कहीं तो सरकार ने तैयार माल पर तो नियन्त्रण लगा दिया है, किन्तु कच्चे माल में दामों को यूं ही छोड़ दिया है। मिसाल के लिए, सरसों और सरसों के तेल के सम्बन्ध में यही हुआ। दूसरे, प्रान्तीय सरकारों की सप्लाई की नीति पर केन्द्रीय सरकार का कोई नियन्त्रण नहीं है। पंजाब में कितने ही मन गेहूं के इकट्ठा होने पर भी, दूसरे प्रान्तों के ज़िक्र को छोड़िए, वहीं के लोगों को उसके दर्शन तक नहीं होते। नीलगिरी में आलू पड़े सड़ते हैं, किन्तु बाहर जाने पर रोक लगी हुई है। उत्तरी भारत से चीनी बम्बई लाई जाती है और बम्बई की चीनी उत्तर को भेजी जाती है। रेलों पर तो पूर्णतः 'मिलिट्री' का क़ब्ज़ा है। शहरी आबादी का सारा जीवन अस्त-व्यस्त होता जा रहा है, लेकिन इस ओर उनका ध्यान भी नहीं जाता। उत्पादन को बढ़ाने के लिए भी सरकार की ओर से सक्रिय प्रयत्न नहीं किया गया है। भारत में अभी १० करोड़ एकड़ भूमि परती पड़ी है और वह खेती करने के योग्य है, लेकिन उसका एक इन्च भी अभी तक काम में नहीं लाया गया है।

जापान के युद्ध में प्रवेश होने के बाद और विशेषकर बर्मा पर जापानी आधिपत्य जाने से परिस्थितियाँ और भी बिकट हो गईं। अब हिन्दुस्तान पर भी जापानियों ने हवाई आक्रमण करना शुरू कर दिया है। इससे परिस्थिति के और भी भयंकर होने की सम्भावना है। अंग्रेज़ शासकों के सम्मुख यह प्रश्न नग्नरूप में उपस्थित है कि जनता के सहयोग से हम देश की रक्षा की जाय या उस निरीह जनता को संगीनों द्वारा कुचल कर? उनकी साम्राज्यवादी नीति ने उन्हें दूसरे रास्ते को अपनाने के लिए विवश किया है। उन्होंने जनता की शक्ति बढ़ाने की अपेक्षा फासिज़्म को अधिक उकसाया है!

तो क्या ऐसी दशा में भी यह प्रश्न हल हो सकता है? हाँ! अवश्य। उसका कारण यह है कि देश में अब भी इतना ग़ल्ला अनाज-चोरों की खत्तियों में छुपा है कि यदि जनता महाजनों पर दबाव डाल कर उसे बाहर निकाल सके तो सब को अन्न मिल सकता है। यह निकम्मी सरकार ऐसा नहीं कर सकती, और न तो जनता में उसके प्रति कोई प्रतिकार भाव है। यह सरकार तो स्वयं अपनी दमनकारी नीति के कारण इतनी कमज़ोर और अकेली हो चुकी है कि उसे कोई रास्ता ही नहीं सूझ रहा है।

'८ अक्टूबर को रेडियो पर बोलते हुए बङ्गाल के गवर्नर सर टॉमस रदर फोर्ड ने स्वयं अपने मुंह से शासन-व्यवस्था की असफलता और दिवालियेपन को स्वीकार किया। उन्होंने कहा कि दुर्भिक्ष-ग्रस्त बङ्गाल के किसी भी क्षेत्र में अकाल के नियमों को नहीं लागू किया जा सकता, क्योंकि लाख कोशिश करने पर भी सरकार के पास इतना स्टॉक नहीं जमा हो सका कि वह अकाल-नियमावली के अनुसार भी लोगों को भोजन देने की व्यवस्था कर सके। उन्होंने यह भी कहा, "सट्टेबाज़ी लोगों के प्राण ले रही है। क्या किसी सामाजिक दबाव के द्वारा मनुष्य जाति के विरुद्ध इस महाअपराध को रोका नहीं जा सकता!"

इससे प्रत्यक्ष है कि सरकार अपने निकम्मेपन को महसूस कर रही है और निस्सहाय होकर जनता का मुंह ताक रही है। लेकिन इस महसूस करने से कुछ नहीं हो सकता। देश को अन्न-सङ्कट से उबारने का रास्ता एकमात्र राष्ट्रीय नेताओं की रिहाई है। पर हमें सरकार की कोरी आलोचना न करनी चाहिए। इस समय अपने अन्दर के झगड़े को भी अलग रखने की ज़रूरत है। इस समय ज़रूरत इस बात की है कि हम भूख से मरते लोगों के लिए कन्धा से कन्धा भिड़ा कर सहायता कार्य करें, और ग़ल्ले की समस्या को लेकर अपना संगठन करें अपने कामों के अन्दर पैदा हुई कठिनाइयों को संसार के सामने रखकर हुकूमत को यथा शक्य दबावें। इस गहन कुहासे में भी हमें हिम्मत न हारना चाहिए।

लड़ाई का हाल

पिछले दिनों रूस के मैदान में पीछे हटते-हटते जब जर्मन सिपाही नीपर नदी के पार पहुँच गये तो जर्मन हाई कमान की ओर से ऐलान हुआ कि यह हमारी वापसी की आख़िरी हद है। जर्मन सेना रूसियों को आगे न बढ़ने देगी। इस ऐलान के बाद लाल सेना ने नया हमला शुरू किया और इस नदी को कई जगह पार कर लिया। जर्मन जान तोड़कर मुक़ाबला कर रहे हैं और लड़ाई दक्षिण में मारियोपोल के शहर के अन्दर और यूक्रेन की राजधानी कीफ़ के बाहर हो रही है। सफ़ेद रूस में रूसी गोमेल-विटेस्क लाइन पर प्रहार कर रहे हैं; अगर नीपर की क़िलाबन्दी टूट गयी तो जर्मनों को बहुत पीछे हटना होगा और यह देखते हुए कि जाड़े का मौसम आ रहा है इसकी सम्भावना भी है। पीछे हटने से युद्ध-क्षेत्र संकुचित हुआ या नहीं और हिटलर अपनी फँसी हुई फ़ौजों का कुछ हिस्सा दक्षिणी और पश्चिमी यूरोप के लिये निकाल सका या नहीं, यह कहना कठिन है।

रूस की लड़ाई के पीछे जो राजनीतिक दांव-पेंच हो रहे हैं, उनके विषय में भी ठीक से कुछ नहीं मालूम। यह तो सच है कि जर्मनी और रूस में किसी न किसी तरीक़े से समझौते की बातचीत हुई और इसकी पहिल जर्मनी की ओर से हुई। पर यह भी निश्चित है कि रूस की शर्तें इतनी कड़ी थीं कि बात चीत आगे न चल सकी। नाज़ी जर्मनी और सोवियत् रूस में अब कोई सुलह नहीं हो सकती, यह ध्रुव सत्य है। यह दूसरी बात है कि सैनिक आवश्यकता अकेले लड़ते हुए रूस को किसी जगह दम लेने के लिये रोक दे। यह बात मास्को की त्रि-राष्ट्र कानफ्रेंस के बाद साफ़ हो जायेगी। युद्ध की भावी गति ही नहीं बल्कि यूरोप का पुनर्निर्माण भी इस सम्मेलन की सफलता पर निर्भर करता है।

इस देश में रूस की ख़बरें जिस ढँग से छपती हैं उनसे अन्दाज़ा होता है कि इस सम्मेलन में रूस का यह रुख़ होगा :

(१) ब्रिटेन और अमेरिका पश्चिमी यूरोप में इसी साल दूसरा मोर्चा खोलें। इसके बिना जर्मनी की समर-शक्ति नहीं टूट सकती।

(२) रूस की सीमा वही होगी जो मई सन् १९४१ में थी। रूस इस विषय में किसी से बातचीत भी नहीं करेगा।

(३) जब तक यूरोप की लड़ाई ख़तम न हो, रूस पूर्वी एशिया के मामलों में हस्तक्षेप न करेगा।

(४) यूरोप के पुनर्निर्माण और स्लाव देशों के (पोलैंड, चेकोस्लोवेकिया, यूगोस्लाविया, बलगारिया आदि) भविष्य के बारे में ख़ास तौर पर, रूस की सम्मति अनिवार्य है।

मास्को कानफ्रेंस अभी शुरू ही हुई थी कि ब्रिटिश साम्राज्य के धनोधोरी मार्शल स्मट्स ने न जाने क्या कह दिया कि यूरोप में दूसरा मोर्चा अगले साल क़ायम होगा। यह महानुभाव कभी ऐसी-वैसी बात नहीं कहते और उनके कथन से रूसी ज़रूर खटकेंगे। दूसरे मोर्चे की राह में सब से बड़ी रुकावट जहाज़ों की कमी बतलायी जाती थी, पर अमेरिका के एक सरकारी मोहकमे ने बतलाया है कि मित्र राष्ट्रों के पास इतने जहाज़ हैं कि पचास लाख अमेरिकन सिपाही सामान के साथ यूरोप में उतारे जा सकते हैं। इस हालत में कौन कह सकता है कि दूसरा मोर्चा सैनिक समस्या है या राजनीतिक?

इटली में मित्र-सेनाएँ धीरे धीरे रोम की ओर बढ़ रही हैं। उनकी गति इतनी सुस्त है और जर्मन ऐसे कड़ियलपन का सुबूत दे रहे हैं कि यह लड़ाई जल्दी ख़तम होता नज़र नहीं आती। मित्र सेनाओं की सुस्ती का कारण यह भी हो सकता है कि वह दक्षिणी यूरोप के दूसरे हिस्सों पर चढ़ाई की तैयारी

कर रही हैं। उन्होंने मार्शल बोडेग्लियो को अपना सैनिक सहयोगी मान लिया है और इस पर अबीसीनिया के बादशाह ने तीव्र आक्षेप किया है। इसमें सन्देह नहीं कि इटली के गृह-युद्ध से मित्र राष्ट्रों को लाभ हुआ है। पर बोडेग्लियो ने इटली के जनवादी दलों का सहयोग लेने से इन्कार क्यों किया और क्या यह सच नहीं है कि वह बीस साल तक फ़ैसिस्ट सरकार की सेवा कर चुका है? अगर मित्र-राष्ट्र ऐसे ही लोगों के हाथ में शासन-सूत्र देना चाहते हैं, तो उन पर यह अभियोग लग सकता है कि उन्हें फ़ासिज़्म से विरोध नहीं, बल्कि ब्रिटेन और अमेरिका के विरोधी फ़ासिस्टों पर आक्षेप है कि वह नाज़ीवाद को ज़रूर मिटाना चाहते हैं पर साथ ही साथ सामाजिक क्रांति के ख़तरे को भी रोकना चाहते हैं। और इसके लिये उन्हें इटली और पोलैण्ड की प्रतिक्रियावादी आश्रित् सरकारों के सहयोग की ज़रूरत है। देखने वाले देख रहे हैं कि जैसे जैसे मित्र राष्ट्रों की विजय की सम्भावना बढ़ती जाती है, उनके कार्यक्रम का प्रगतिवादी अंश काफ़ूर की तरह उड़ता जाता है।

आस्ट्रेलिया के युद्ध क्षेत्र में अमेरिका की नौ-शक्ति और हवाई ताक़त का आधिपत्य है। पर इससे यह नतीजा न निकालना चाहिये कि जापान हर जगह कमज़ोर है। यह जापान के नये साम्राज्य का सबसे दूर का इलाक़ा है। अपने नैतिक प्रभाव को बढ़ाने के लिये अमेरिका ने फ़िलीपीन द्वीप-समुदाय की स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी है। उधर जापान ने भी अपने विजित इलाक़ों में से कई को आज़ाद कर दिया है। ब्रिटेन ने अब तक ऐसा नहीं किया। बल्कि उसके नेता साफ़ कहते हैं कि वे अपने साम्राज्य के लिये लड़ रहे हैं। इन नेताओं में पूँजीपति और मज़दूर सभी शामिल हैं।

२१ अक्तूबर

सम्पादकीय-विचार

स्वर्गीय बाबू रामानन्द चटर्जी

३० सितम्बर सन् १९४३ की शाम को क़रीब ७½ बजे कलकत्ते में "माडर्न रिव्यू" और "प्रवासी" के सम्पादक, और "विशाल भारत" के मालिक तथा संस्थापक बाबू रामानन्द चटर्जी का स्वर्गवास हो गया। बाबू रामानन्द चटर्जी इस देश के सबसे पुराने, सबसे वृद्ध और चोटी के पत्रकार थे। अंग्रेज़ी मासिक "माडर्न रिव्यू" और बंगला मासिक "प्रवासी" दोनों को उन्होंने आज से क़रीब ३६ साल पहले उस समय इलाहाबाद से निकालना शुरू किया था, जब कि रामानन्द बाबू कायस्थ पाठशाला कॉलेज इलाहाबाद के प्रिन्सिपल थे। "प्रवासी" का नाम प्रवासी इसीलिये रक्खा गया क्योंकि वह बंगाल के बाहर से निकलनी शुरू हुई थी। ये दोनों पत्रिकाएं इस देश की मानी हुई सर्वोच्च कोटि की पत्रिकाएँ हैं। थोड़े ही दिनों में प्रयाग का क्षेत्र रामानन्द बाबू की सेवाओं के लिये और दोनों पत्रिकाओं के फलने फूलने के लिए बहुत तंग दिखाई देने लगा। रामानन्द बाबू को कलकत्ते जाना पड़ा और वहीं पर ७६ साल की आयु में उनका देहावसान हुआ।

स्वर्गीय बाबू रामानन्द चटर्जी एक मामूली पत्रकार न थे। जिन लोगों ने "माडर्न रिव्यू" या "प्रवासी" की पहले १४ साल की जिल्दों को ध्यान से पढ़ा है, उन्हें मालूम है कि बाबू रामानन्द चटर्जी का पद इस देश में शुद्ध राष्ट्रीयता के तामीर करने वालों में बड़ा ऊँचा पद था। देश की विविध नैतिक राजनैतिक और सामाजिक, समस्याओं पर स्वर्गीय रामानन्द बाबू के लेखों और उनकी टिप्पणियों ने हज़ारों ही शिक्षित देशभक्तों की शिक्षा और उनके मार्ग-प्रदर्शन का काम किया है। प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में रामानन्द बाबू को इन ३५ वर्ष के अन्दर के आधे से अधिक शिक्षित भारतीय देशभक्तों के 'मानसिक पिता' कहना अत्युक्ति न होगा।

स्वर्गीय बाबू रामानन्द चटर्जी केवल एक पत्रकार ही न थे। वह एक गम्भीर और प्रौढ़ विचारक भी थे। अपनी आत्मा के साथ वे निष्कपट, निर्व्याज, और सर्वथा सच्चे थे। किसी तरह के दिखावे या बनावट की उनमें छाया तक न थी। इतने सच्चे देश सेवक और योग्य विद्वान होते हुए भी उनमें अपने बड़प्पन या किसी तरह की चमकने की ज़रा भी चाह न थी। वह स्वभाव से एकान्त प्रेमी और शरमीले थे। जिन लोगों का ३५ वर्ष तक उनके साथ लगातार परिचय रहा है, उनका ख़याल है कि अपनी अन्तरतम आत्मा की आवाज़ के विरुद्ध स्वर्गीय बाबू रामानन्द चटर्जी के क़लम या उनकी ज़बान ने कभी एक शब्द भी नहीं निकाला।

कलकत्ते पहुंचने के बहुत दिनों बाद बाबू रामानन्द चटर्जी ने "माडर्न-रिव्यू" या "प्रवासी" के तर्ज़ पर एक उच्चकोटि का हिन्दी मासिक निकालने का विचार किया। "विश्ववाणी" के संरक्षक पण्डित सुन्दरलाल जी की सलाह से, जिनका स्वर्गीय बाबू रामानन्द चटर्जी के साथ सन् १९०७ से घनिष्ट व्यक्तिगत स्नेह था, "विशाल भारत" के सम्पादन का भार पं० बनारसीदास जी चतुर्वेदी को सौंपा गया। पंडित बनारसीदास जी चतुर्वेदी ने जिस लगन और योग्यता के साथ "विशाल भारत" का सम्पादन किया, और उसे वास्तव में देश की सर्वोच्चकोटि की पत्रिकाओं में स्थान दिया, यह हिन्दी पाठकों को बताने की ज़रूरत नहीं है। हिन्दी संसार में "विशाल भारत" द्वारा पं० बनारसीदास चतुर्वेदी जी की अमूल्य सेवाएँ सदा के लिए यादगार रहेंगी। इस सम्बन्ध में केवल एक बात ख़ास बताना ज़रूरी है। बाबू रामानन्द जी "विशाल भारत" के मालिक थे। पं० बनारसीदा उनसे वेतन पाने वाले सम्पादक। देश की साम्प्रदायिक समस्या जैसे गम्भीर और नाज़ुक विषय पर दोनों के दृष्टिकोणों में साफ़ और गहरा अन्तर था। पं० बनारसीदास जी जैसे के लिए भी अपनी अन्त आत्मा के विरुद्ध कोई शब्द लिख सकना या चुप रह जाना दोनों नामुमकिन थे। दोनों में दिल खोलकर बात चीत हुई रामानन्द बाबू ने पं० बनारसीदास जी को अपने ढंग से अपने स्वतन्त्र विचार इस समस्या और हर समस्या पर प्रगट करने, यहाँ तक कि स्वयं रामानन्द बाबू के लेखों और तक़रीरों पर स्वतन्त्रता के साथ टीका करने की पूरी आज़ादी दी। "विशाल भारत" की जिल्दें अभी तक मौजूद हैं। पं० बनारसीदास जी ने इस आज़ादी का पूरा पूरा उपयोग किया। निस्सन्देह स्वर्गीय बाबू रामानन्द चटर्जी का यह स्वतन्त्रता-प्रेम और उनकी उदारता इस देश के पत्र-पत्रिकाओं के इतिहास में शायद ही अपनी दूसरी मिसाल रखती हो। संसार के पत्र-पत्रिकाओं के इतिहास में भी इसकी कम ही मिसालें मिलेंगी।

स्वर्गीय बाबू रामानन्द चटर्जी के इलाहाबाद के ज़माने के उनके ख़ास मित्रों और साथियों में हिन्दी प्रदीप के विद्वान् सम्पादक, स्वतन्त्रता के शैदाई और कायस्थ पाठशाला कॉलेज के उस समय के संस्कृत के प्रोफ़ेसर स्वर्गीय पं० बालकृष्ण जी भट्ट का ज़िकर न कर सकना असम्भव है। भट्ट जी की गणना वर्तमान हिन्दी के जन्मदाताओं और निर्माताओं में की जाती है। रामानन्द बाबू और भट्ट जी में घनिष्ट स्नेह था। दोनों में से किस की देशभक्ति ने किससे अधिक प्रोत्साहन पाया यह कह सकना कठिन है। "राइज़ आफ़ दी क्रिश्चियन पावर इन इण्डिया" के ख्यातनामा लेखक स्वर्गीय मेजर बामनदास बसु से भी रामानन्द बाबू का सदा घनिष्ट प्रेम और लगभग कौटुम्बिक सम्बन्ध रहा। कलकत्ते चले जाने के बाद से रामानन्द बाबू जब कभी इलाहाबाद आते तो स्वर्गीय मेजर बसु ही के यहां ठहरते थे। ब्रह्मसमाज के साथ भी रामानन्द बाबू का ख़ास तअल्लुक़ था। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर, दीनबन्धु सी० एफ़० एन्डरूज़ और बाबू रामानन्द चटर्जी इन तीनों की घनिष्ठता इतनी बढ़ी हुई थी कि आमतौर पर इन तीनों की एक त्रिमूर्ति मानी जाती थी। तीनों क़रीब क़रीब हम उमर थे। रामानन्द बाबू इनमें सबसे छोटे थे। एक दूसरे के बाद यह तीनों महा-

पुरुष इस पृथ्वी से अपनी अपनी लीला समाप्त करके उठ गए। वर्तमान भारत के गौरव में तीनों का ज़बरदस्त हाथ था। भारतीय राष्ट्रीयता के निर्माण में रामानन्द बाबू का हिस्सा एक अपने ही शान्त ढंग का था किन्तु इन तीनों में किसी से कम ठोस न था।

बाबू रामानन्द चटर्जी का देहावसान इस देश के पत्रकारों की दुनिया में और राष्ट्रीयता के क्षेत्र में एक ऐसी महान क्षति है, जो आसानी से पूरी नहीं हो सकती। "विश्ववाणी" के नज़रबन्द सम्पादक पण्डित विश्वम्भरनाथ जी और आजकल के सम्पादक डा० अख़्तर हुसेन रायपुरी तथा संयुक्त सम्पादकों को भी स्वर्गीय रामानन्द बाबू के साथ व्यक्तिगत स्नेह का सौभाग्य प्राप्त था, जिसका उन्हें सदा गर्व रहेगा। "विश्ववाणी" की ओर से हम इस शोक के अवसर पर स्वर्गीय रामानन्द बाबू के ज्येष्ठ पुत्र बाबू केदार नाथ चट्टोपाध्याय, उनकी पुत्रियों श्रीमती तारादेवी और श्रीमती सीतादेवी और उनके कनिष्ठ पुत्र श्री अशोक चट्टोपाध्याय के साथ हार्दिक समवेदना प्रगट करते हैं, और स्वर्गीय आत्मा की ओर भरे हुए दिल से अपनी श्रद्धा की अंजलि अर्पित करते हैं।

—य०

पुराने और नये वायसराय

लार्ड लिनलिथगो चले गये और आशा है कि हमेशा के लिये चले गये। उनके जाते समय इस अभागे देश में जेलों के सिवा हर तरफ़ सूनापन है। अंगरेज़ों के राजकाल में भारत को कभी इतने बड़े संकट का सामना न करना पड़ा था। दमन, भूख, हमले का ख़तरा—एक मुसीबत हो तो गिनायी जाय। लार्ड लिनलिथगो के वकील इन सब की सफ़ाई आसानी से पेश कर सकते हैं। वह कहेंगे कि यह सङ्कट दूसरों की अभिसन्धि का परिणाम है। कांग्रेस की साज़िश के कारण सरकार को दमन के लिये विवश होना पड़ा; दुर्भिक्ष के लिये नालायक़ वज़ारतें और अनाज चोर ज़िम्मेदार हैं; जापानी ख़तरे का डर देशद्रोहियों के कारण बढ़ गया है। अगर बात यही है तो सरकार किस मर्ज़ की दवा है। अगर अनाज होते हुये भी न मिल सके, अगर कांग्रेस हिंसा के ख़िलाफ़ और देश-रक्षा के पक्ष में हो, अगर जनता अपने देश के लिये लड़ने को तैयार हो—और यह तीनों बातें निर्विवाद हैं—तो मुजरिम कौन है? जुर्म उस शासनमद का है जिसने मिस्टर अमेरी और लार्ड लिनलिथगो की आंख पर पट्टी बांध रखी थी। उन्होंने कांग्रेस और जनता का सहयोग प्राप्त करने के लिये क्या किया और बंगाल को दुर्भिक्ष से बचाने के लिये क्या किया?

दुःख है कि बहुत दिनों से ब्रिटिश पार्लमेंट ने अपने कर्मचारियों से जवाब तलब करने का तरीक़ा छोड़ दिया है। रायटर ने सूचना दी है कि किसी ने पार्लमेंट को लार्ड लिनलिथगो से जवाब तलब करने की राय दी है। लार्ड क्लाइव और वारेन हेस्टिंग्स पर जो मुक़दमे चले थे, उनसे भारत के अंगरेज़ शासकों के मिज़ाज दुरुस्त हो गये थे। क्या अच्छा हो कि और कुछ नहीं तो भारत के दुर्भिक्ष को ही लेकर लार्ड लिनलिथगो से जवाब मांगा जाये। राजनीतिक अंधेर के विषय में इनसे पूछना बेकार है। यह वही कर रहे थे जो मि० चर्चिल और मि० अमरी कह कह रहे थे। यह दोनों ब्रिटेन के प्रतिक्रियावादी साम्राज्यवाद के प्रतीक हैं।

× × ×

लार्ड वेवल नये वायसराय बनकर आये हैं। ऐसे मौक़ों पर पहिले राजनैतिक क्षेत्रों में ख़याली घोड़े दौड़ाये जाते थे कि अब पॉलिसी बदलेगी और इस इस तरह की तबदीलियाँ होंगी। पर इस बार किसी ने अटकलपच्चू बातें न कीं। ठोकरें खा कर सब समझ गये कि आज़ादी ख़ैरात में नहीं बँटा करती। इस वरदान के योग्य बनने के लिये राष्ट्र को बड़ी सख़्ती झेलनी पड़ती है। इस अग्निपरीक्षा में हम असफल रहे, यह चुपचाप मान लेना चाहिये। लार्ड वेवल जो चाहें करें। यह देश ब्रिटेन के पास बन्धक है और हम अपनी हैसियत किरायेदार से

ज़्यादा नहीं समझते। पराजय की ग्लानि और क्षोभ ही ऐसी बात कहला सकती है, पर आज के दिन भारतवासियों का मनोभाव यही है।

बंगाल का दुर्भिक्ष

यों तो देश में हर जगह अन्नाभाव के कारण हाहाकार मचा हुआ है, पर बंगाल की दुरव्यवस्था सब को ख़ून के आँसू रुला रही है। कलकत्ते में रोज सौ दो सौ आदमी भूखे मरते हैं और इन सरकारी आंकड़ों से बङ्गाल के शहरों और देहातों की हालत का अन्दाज़ा लगाया जा सकता है। अगर बंगाल में फ़सल ख़राब होती तो बात समझ में आ सकती थी। लेकिन फ़सल अच्छी थी। फिर यह अनाज क्या हुआ? अनाज पूंजीपतियों के गोदामों में बन्द है। गोदामों के ताले क्यों नहीं तोड़े जाते और इन अनाज-चोरों को कड़ी सज़ा क्यों नहीं दी जाती? यह सरकार का काम है और क्योंकि उसने अब तक ऐसा नहीं किया, इसलिये उसकी उदासीनता और किंकर्त्तव्यविमूढ़ता अक्षम्य है। केन्द्रीय सरकार ने प्रांतीय सरकारों की खाद्य-नीति में तारतम्य क़ायम नहीं किया, एक जगह से दूसरी जगह अनाज ले जाने की आसानी पैदा नहीं की, नोटों की बहुतायत और क़ीमत की बढ़ती को नहीं रोका। जापानियों की निकटता के कारण बङ्गाल में जो समस्याएं पैदा हो गयीं थीं, उन्हें नहीं समझा और वहां की जनता को अन्न पहुंचाने के लिये कोई प्रबन्ध न किया। यह सब इसलिये हुआ कि शासकों और शासितों में न कोई सहयोग है न परस्पर विश्वास। जनता की सहानुभूति से बेपरवाह होकर शासन पूंजीपतियों के सहारे पर निर्भर करता है, और यह जानते हुए भी कि वही अनाज-चोर हैं उन्हें कुछ नहीं कहना चाहता।

इस ट्रेजेडी से लाभ उठाकर जो राजनीतिज्ञ अपना उल्लू सीधा करना चाहते हैं, वह नफ़रत के क़ाबिल हैं। मि० अमेरी को हिन्दुस्तानियों की निन्दा का एक नया मौक़ा मिला है और वह कहते हैं कि प्रांतीय स्वशासन के कारण यह गड़बड़ हो रही है। डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी और उनके मित्र मुस्लिम लीग की वज़ारत को भला बुरा कह रहे हैं। अभी कुछ महीने पहिले जब यह लोग वज़ारत की गद्दी पर थे तो कौन सा तीर मार लिया था। श्री किरण शङ्कर राय को किसी भी हालत में मुस्लिम लीग का सहयोग मंज़ूर नहीं। ग़रज़ यह कि बंगाल के भूखों की लाश पर गिद्ध मण्डला रहे हैं।

मि० अमेरी ने अपनी ज़िम्मेदारी को यह कहकर टालने की कोशिश की है कि बाहिर से अनाज लाने के लिये जहाज़ कहां से आयेंगे। उन्हें याद न रहा हो कि यूरोप की भूखी जनता से नाज़ी भी यही कहते हैं कि हमारे जहाज़ बाहिर से सामान नहीं ला सकते।

अंग्रेज़ों को अपने ही हित में बंगाल में हर तरह का सुप्रबन्ध रखना चाहिये था, क्योंकि यह सूबा जापानियों की मार पर है। पर अपनी कमनज़री के सबब वह ऐसा नहीं करते और समझते हैं कि देशद्रोहियों का नाम ले लेने से उनकी सारी ज़िम्मेदारी ख़तम हो जायेगी।

राजा जी का ग़लत सुझाव

श्री राजा गोपालाचार्य का ख़याल है कि राष्ट्रीय कांग्रेस को सर स्टेफर्ड क्रिप्स की तजवीज़ को मंज़ूर कर लेना चाहिये। यह प्रस्ताव करते हुए वह दो बातें भूल गये। ब्रिटिश सरकार ने इस तजवीज़ को वापिस ले लिया है और जब तक उसका पुनरुद्धार न हो, उस पर पुनर्विचार बेकार है। दूसरे कांग्रेस मौजूदा हालत में तब तक कोई ऐसी बात नहीं कह सकती, जब तक मुस्लिम लीग अपनी अड़ंगानीति को न छोड़ दे। कांग्रेस का दमन करके ब्रिटिश सरकार उससे यह कहलाना चाहती है कि वह ९ अगस्त के बाद के हंगामों की ज़िम्मेदार है, हालांकि उससे पहिले कांग्रेस के लगभग सब ज़िम्मेदार नेता पकड़ लिये गए थे और वह ख़ुद ग़ैरक़ानूनी क़रार दे दी गई थी। इस सूरत में कांग्रेस से किसी पहिल की आशा करना उसके साथ अन्याय है। यह हमारी नैतिक शक्ति की परीक्षा है। राजनीतिक संकट ब्रिटेन

का पैदा किया हुआ है और उसी को इसका अन्त करना है। हमें दुःख है कि राजा जी जैसे दूरदर्शी नेता ने ऐसा असामयिक प्रस्ताव किया।

देश की परिस्थिति पर विचार करने के लिये कुछ राष्ट्रीय कार्यकर्ता दिल्ली में मिल रहे हैं। यह अच्छी बात है। हमें खुशी है कि श्री गोपीनाथ श्रीवास्तव ने अपने ग़लत क़दम को वापिस ले लिया और कांग्रेस के बम्बई वाले प्रस्ताव को रद्द करने की ज़िद न की। यह प्रस्ताव ग़लत हो या सही, इसे कांग्रेस नेताओं की अनुपस्थिति में वापिस लेना एक तरह उनकी आलोचना और ब्रिटिश दृष्टिकोण का समर्थन होता। आशा है कि यह सम्मेलन देशव्यापी दुर्भिक्ष, हिन्दू-मुस्लिम एकता और विदेशों में राष्ट्रीय दृष्टिकोण के प्रचार की ओर विशेष ध्यान देगा।

साम्राज्यवाद के मज़दूर दलाल

पाठकों ने मि० मारीसन का नाम सुना होगा। आप ब्रिटिश मज़दूर पार्टी के नेता और ब्रिटेन के गृह-मन्त्री हैं। यह न समझना चाहिये कि इन्हें दलितों और दरिद्रों से बड़ी हमदर्दी है। पार्लमेंट में जब बेवरिज स्कीम और कोयले की खानियों के राष्ट्रीयकरण पर बहस हुई, तो इन्होंने मज़दूरों का विरोध किया। यों समझिये कि यह अपने गुरु मेकडानल्ड के पद-चिन्हों पर चल रहे हैं। अंग्रेज़ मज़दूरों की अनुदारता और राजनीतिक अज्ञान की ज़िम्मेदारी ऐसे ही लोगों पर है।

हाल ही में मि० मारीसन ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद की तारीफ़ में एक बयान दिया। यह ख़िदमत आप आये-दिन अंजाम देते हैं। बड़ी बेशर्मी से इन्होंने मलाया और बर्मा के ब्रिटिश शासन का गुणगान किया और कहने लगे कि जो आज़ादी क़ाबिल होता है उसे हम फ़ौरन् आज़ाद कर देते हैं। हिन्दुस्तान की ग़ुलामी का सबब हिन्दू-मुस्लिम फूट है। ऐसे ढीठ भाटों से कौन पूछे कि आप ऐसे ही निस्स्वार्थ हैं तो हमें हमारी हालत पर क्यों नहीं छोड़ देते। आख़िर आपने फूट फैलाना छोड़कर एका कराने का पेशा कब से अख़्तियार किया है?

—अख़्तर हुसेन

त्रिराष्ट्र सम्मेलन

एँग्लो-अमरीकन राजनैतिक क्षेत्रों में सोवियत् रूस की युद्ध कालीन और युद्ध के पाश्चात् की नीति के सम्बन्ध में अरसे से तरह तरह की भ्रमपूर्ण चरचायें होती आ रही थीं। बलकान राष्ट्रों को लेकर रूसी और एंग्लो-अमरीकन समाचार पत्रों में कुछ कटु टीका टिप्पणियां भी हुईं। सोवियत् रूस गत २८ महीनों से जर्मनी के सैनिक प्रकोप का अधिकांश भार वहन कर रहा है। अंग्रेज़ और अमरीकन जनता ने उसकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है और उसे मित्र राष्ट्रों का लड़ाका अग्रणी बताया है। किन्तु बावजूद इसके आपस की ग़लतफ़हमी बढ़ती गई और उसकी गहराई का आभास हमें मास्को से प्रकाशित "वार एण्ड वर्किंग क्लास" नामक समाचार पत्र में देखने को मिला। पत्र के वाक्य हैं—

"इसी गरमी में चेकोस्लोवेकिया के निर्वासित राष्ट्रपति बेनेस की मास्को आने की आशा थी, किन्तु वे नहीं आये। गत वर्ष जून में जब मोलोतोव लन्दन गये थे, ब्रिटिश विदेशी मन्त्री श्री ईडेन ने उनसे कहा था कि सोवियत् यूनियन और ब्रिटेन को युद्ध के पश्चात् की समस्याओं पर यूरोप की उन सरकारों से सुलह नहीं करनी चाहिये, जिनकी सरकारें अपने देश से बाहर हैं। सोवियत् की सरकार जब कि उसूलन इससे सहमत थी उसने ब्रिटिश सरकार से निश्चित प्रस्ताव मांगे, किन्तु कोई निश्चित प्रस्ताव ब्रिटिश सरकार ने नहीं रखे। इसीलिये इस सम्बन्ध में कोई सुलहनामा लिखित या बयानी दोनों सरकारों के बीच में नहीं हो पाया।"

हाउस आफ़ कामन्स में मिस्टर ईडेन से जब इस सम्बन्ध में सवाल किये गये, तो उन्होंने श्री मोलोतोव को इस उसूल का प्रस्तावक बताया और बेनेस के मास्को न जाने की ज़िम्मेदारी मोलोतोव पर डाली। पोलैण्ड को लेकर भी इंगलिस्तान, अमरीका और

सोवियत् में ख़ासा मतभेद है। इंगलैण्ड में बैठी हुई पोलैण्ड की सरकार सोवियत् से अपना राजनैतिक सम्बन्ध विच्छेद कर चुकी है। यूरोप के दूसरे मोरचे को लेकर भी आपस का विवाद अख़बारी दुनिया तक पहुँच गया है। चर्चिल-रूज़वेल्ट की अब तक जितनी मुलाक़ातें हुई हैं, उसमें किसी में भी सोवियत् को निमन्त्रण नहीं दिया गया। सोवियत् के फ़ौजी अख़बार 'रेड स्टार' ने इस पर साफ़ साफ़ लिखा भी था। भूमध्य सागर को लेकर जो कमीशन मुक़र्रर हुआ था, उसमें भी पहले सोवियत् को निमन्त्रण नहीं मिला; बाद में सोवियत् की मांग के परिणाम रूप उसमें सोवियत् को शामिल किया गया। यूरोपीय राष्ट्रों की समस्या की जटिलता अंग्रेज़ और अमरीकन बग़ैर सोवियत् की मदद के हल नहीं कर सकते। दरेंदानियाल, बुलगारिया, रूमानिया, चेकोस्लोवेकिया क्रीट, यूनान, पोलैण्ड सभी में किसी न किसी रूप में सोवियत् को गम्भीर दिलचस्पी है। सोवियत् यदि पेताँ और बोदोग्लियो के बजाय सीधा जर्मन जनता से सुलह की बात करना चाहता है और उसके लिये 'जर्मन नेशनल कमेटी' का निर्माण कर सकता है तो इससे पैदा होने वाली पेचीदगी बात करके ही दूर की जा सकती है। यूरोपीय राष्ट्रों की सरकारें आज डाउनिंग स्ट्रीट के चारों ओर फिरने वाले छोटे ग्रहों की तरह रह गई हैं और इसमें रूस को संशय हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। इन्हीं समस्त समस्याओं पर ग़ौर करने के लिये मास्को में अंग्रेज़, अमरीकन और रूसी वैदेशिक मन्त्रियों का सम्मेलन हो रहा है। सम्मेलन की कार्रवाई का विस्तृत ब्योरा तो सम्मेलन के बाद ही प्रकाशित होगा; किन्तु जो कुछ भी समाचार प्रकाशित हुये हैं, उनसे पता चलता है कि सोवियत् यूरोपीय युद्ध को इसी १९४३ में समाप्त कर देना चाहता है और इसके लिये वह इटली के अतिरिक्त यूरोप में मित्र-राष्ट्रों द्वारा दूसरा मोरचा खोलने की ज़बर्दस्त मांग करता है।

अंगरेज़ और अमरीकन समाचार पत्रों में प्रकाशित हुआ था कि इस सम्मेलन में सोवियत् की सीमाओं पर भी विचार होगा। इन पत्रों का इशारा बेसराबिया, पोलिश, यूक्रेन और फ़िनलैण्ड की लाडोगा झील और हैंगो द्वीप की तरफ़ था। इस पर "प्रवदा" ने, जो सोवियत् का मुख पत्र है, लिखा था कि सोवियत् की सीमायें निश्चित हैं और उस पर बहस करना वैसा ही है जैसा इंगलिस्तान और अमरीका की सीमाओं पर पुनर्विचार करना।

बहर हाल इस त्रिराष्ट्र सम्मेलन की सफलता पर यूरोप की युद्ध-पश्चात् शान्ति निर्भर करती है। हम इसके अन्तिम और निश्चित प्रस्तावों की उत्सुकता से प्रतीक्षा करेंगे।

ग्रेट ब्रिटेन का बढ़ता हुआ असदाचार

२ जुलाई ४३ के 'मैनचेस्टर गार्जियन' के अंक में श्री पीटर ग्रीन ने अनेक उद्धरण देकर इंगलैण्ड की वर्तमान सदाचारिता पर निम्नलिखित पत्र छपवाया है—

"एक महिला, जो विलायती नर्सों के बीच में बहुत ऊँचा ओहदा रखती थीं और लड़ाई से पहले जिन्होंने अवकाश ले लिया था और लड़ाई के बाद जो युद्धकालीन अवधि तक फिर कुछ अस्पतालों के चार्ज में हैं, लिखती हैं—

'जब तक सरकार इंगलिस्तान के विविध हिस्से में छै या आठ ऐसे अस्पताल नहीं खोलती, जहां अविवाहित लड़कियां आकर अपने बच्चे जन सकें तब तक मेरी समझ में नहीं आता कि परिस्थिति का कैसे सामना किया जायगा। मौजूदा अस्पतालों और मातृ-सदनों से यह काम पूरा नहीं हो सकता।

"एक अंगरेज़ डाक्टर, जिन्हें लड़ाई के पहले भारत का काफ़ी अनुभव था और बाद में जो उत्तरी अफ़रीका में और अब इंगलिस्तान में हैं, लिखते हैं—

"इंगलिस्तान में इस समय जो परिस्थिति है उसकी गम्भीरता पर कोई अतिशयोक्ति करना असंभव है। लड़कियों का आचरण लड़कों की अपेक्षा भी कहीं अधिक दूषित है। इनमें से अधिकांश लड़कियां उस समय तक विवाहित होने की कोई आशा नहीं

रखतीं जब तक वे किसी मर्द को ललचाकर उससे गर्भवती न हो जांय।'

"एक प्रसिद्ध पादरी लिखता है—

'सभ्य समाज तक की लड़कियों ने अपने को इतना सस्ता बना दिया है कि देखकर दिल दहल जाता है। कोई भी मर्द उन्हें सिनेमा का एक शो दिखाकर या एक बार खाना खिलाकर उन्हें दुराचार के लिये राज़ी कर सकता है।'

"लड़कियों की देखरेख करने वाली एक सरकारी महिला कर्मचारिणी लिखती हैं—

'मैं सोलह से अठारह वर्ष तक की कई सौ लड़कियों के सम्पर्क में रहती हूँ। उनमें से अधिकांश लड़कियां प्रति सप्ताह तीन पौंड तक (लगभग ४५ रुपया) सिगरेट और शराब में फूंक देती हैं। उनकी बात चीत का विषय भी दिन रात यही रहता है कि उनका किस किस लड़के से सम्बन्ध है और उन लड़कों का किस किस लड़की से सम्बन्ध है। इस तरह की बातें वे खुलेआम करती हैं और इसमें ज़रा भी शर्म अनुभव नहीं करतीं।"

"मिडलैण्ड का रहने वाला एक पादरी लिखता है—

'यहां दो तरह की बातें मुझे दिखाई दीं। पहली यह कि स्त्रियां अपनी या अपनी लड़कियों की नाजायज़ औलादों पर ज़रा भी शर्म अनुभव नहीं करतीं। जब मैं १८ वर्ष पूर्व यहां आया था, तब इस तरह की दुर्घटना के 'दुर्भाग्य' कहकर बयान किया जाता था; किन्तु आजकल यह इज़्ज़त और बधाई की बात समझी जाती है। दूसरी बात यह दिखाई दी कि आजकल कामाचरण कच्ची उम्र में ही लोग शुरू कर देते हैं। हमारे इस ज़िले में ऐसे अनेक केस मिले जब १२-१४ वर्ष के लड़कों ने नन्हीं लड़कियों के साथ बलात्कार किया। एक केस में तो लड़की की मां ने तीन लड़कों के पकड़ कर पुलिस के हवाले कर दिया। इस पर ज़िले भर की अंगरेज़ औरतों ने उस औरत के कोसना शुरू कर दिया कि क्यों उसने ग़रीब लड़कों के मुसीबत में डाल दिया।

"मैनचेस्टर शहर की प्रोबेशन कमेटी की सन् १९४२ की रिपोर्ट में लिखा है—

'मैजिस्ट्रेटों को यह देखकर बहुत चिन्ता हुई कि अँगणित लड़कियां जो अभी तेरह से पन्द्रह वर्ष के हैं सिफ़लिस और गोनोरिया जैसी गन्दी बीमारियों की शिकार हैं। दुख यह है कि उन्हें निरोग करने की पूरी चेष्टा भी नहीं की जा रही है।' "

हमें इंगलिस्तान की इस भयंकर असदाचारिता के साथ दिली हमदर्दी है। हम मिस मेयो की तरह उसे प्रचार का विषय नहीं बनाना चाहते। वास्तव में समाज जिन उसूलों पर क़ायम होता है, उसी तरह के परिणाम उसे भुगतने पड़ते हैं। महात्मा गान्धी इसीलिये आज ब्रह्मचर्य के महत्व पर ज़ोर देते हैं। इंगलिस्तान की सभ्यता गर्भ निरोध और स्वेच्छा कामाचरण की क़ायल है। परिणाम इसके अतिरिक्त और क्या होगा, जो आज दिखाई दे रहा है। अंग्रेज़ समाज इस भयंकर परिस्थिति से तभी अपने के बचा सकता है, जब वह समाज के ढांचे में आमूल परिवर्तन करे। साम्राज्यवाद और शोषण की नीति का परित्याग करे, अन्यथा कोई ताक़त अंगरेज़ समाज के दुराचार के भीषण गर्त से बाहर नहीं निकाल सकती।

—य०

मुद्रक और प्रकाशक—विश्वम्भरनाथ, विश्ववाणी प्रेस, साउथ मलाका, इलाहाबाद

इस अंक के कुछ लेख

इनके अतिरिक्त अनेक महत्वपूर्ण लेख, कविताएं, कहानियाँ और टिप्पणियाँ

वार्षिक मूल्य ६) 'विश्ववाणी' कार्यालय, इलाहाबाद एक अङ्क का ॥=

विषय-सूची

दिसम्बर १९४२

जो सज्जन 'विश्ववाणी' के नये ग्राहक बनें वे अपने पत्र में 'नया ग्राहक' लिखने की कृपा करें। हमारे पुराने ग्राहक, पत्र व्यवहार करते समय अपने पत्र में अपना ग्राहक नम्बर और 'पुराना ग्राहक' लिखने की कृपा करें।

जो सज्जन अपने पत्र का उत्तर चाहते हों वे कृपया जवाबी कार्ड भेजने की कृपा करें।

—मैनेजर

विश्ववाणी कार्यालय

इलाहाबाद

तारीख ७-१२-१९४३ ई०

मान्यवर,

जनवरी १९४४ से 'विश्ववाणी' का चौथा साल शुरू होता है। १९४३ का साल अधिकांश पत्र पत्रिकाओं—और खास कर 'विश्ववाणी—के लिए कागज़ आदि की महंगी और अभाव के कारण और दूसरे भी अनेक कारणों से बड़ी कठिनाइयों का साल रहा है। इस पत्रिका के प्राण पं० विश्वम्भरनाथ जी जनवरी १९४३ से पहले ही जेल पहुँचा दिये गये थे और अब तक वहीं हैं। इसके संरक्षक पण्डित सुन्दरलाल जी को १० अगस्त १९४२ को ही जेल ले जाया गया और वे अभी १७ नवम्बर को बीमारी की हालत में छोड़े गये हैं।

लड़ाई के समय की कठिनाइयों की वजह से हमें हिन्दुस्तान के बाहर से लेख नहीं मिल सके। इन सब के बावजूद हमने 'विश्ववाणी' के स्टैंडर्ड को कायम रखने की अपनी ओर से, जहां तक सम्भव थी, पूरी कोशिश की। हमें विश्वास है कि हम १९४४ में इस पत्रिका को और भी अधिक उपयोगी बनाने में समर्थ हो सकेंगे।

'विश्ववाणी' को अब तक जो कुछ सफलता और श्रेय मिला है वह बहुत बड़े दरजे तक आप ही जैसे सहायकों पाठकों और प्रेमियों के सहयोग का नतीजा है। हमें विश्वास है कि आप अपना सहयोग बराबर बनाये रखेंगे और जहां तक आप से होगा इसके प्रचार में हमें सहायता देते रहेंगे।

पिछले साल भर से आप हमारे सहृदय पाठक रहे हैं; अब आपका चन्दा दिसम्बर महीने के अङ्क के साथ समाप्त हो रहा है। हमारी विनम्र प्रार्थना है कि आप तारीख ५-१-४४ तक मनीआर्डर द्वारा 'विश्ववाणी' का अग्रिम वार्षिक मूल्य छै रुपया हमें भेज दें या फिर हमें तारीख १०-१-४४ तक साल भर के लिए 'विश्ववाणी' वी० पी० से भेजने की आज्ञा दें।

भवदीय

नित्यानन्द चैटर्जी

मैनेजर

विश्ववाणी

संरक्षक
पण्डित सुन्दरलाल

सम्पादक
विश्वम्भरनाथ

जुलाई से दिसम्बर १९४२

विश्ववाणी कार्यालय, साउथ मलाका, इलाहाबाद
वार्षिक मूल्य छै रुपया

लेखकवार विषय-सूची

युक्तप्रान्त, पञ्जाब, बम्बई, मद्रास, मध्यप्रान्त और बरार, होलकर राज्य, मेवाड़, जोधपुर, मैसूर और काश्मीर के शिक्षा विभागों द्वारा स्कूल और कालेज लाइब्रेरियों के लिए स्वीकृत

वर्ष ३, भाग ६	दिसम्बर, १९४३	अङ्क ६, पूरे अङ्क ३६

राजपूतों का उत्थान

डा० भूपेन्द्रनाथ दत्त

हर्षवर्द्धन की मृत्यु के बाद के युग से मुहम्मद बिन गोरी के सन् ११९२ ई० के आक्रमण तक, राजपूतों का उत्थान हिन्दुस्तान के सामाजिक इतिहास का एक मनोरंजक अध्याय है। पालों, गुर्जर-प्रतिहारों और राष्ट्रकूटों की शक्ति के क्षीण होने के बाद हमें बहुत से ऐसे क़बीले मिलते हैं, जो अपने को क्षत्रिय कहते थे। ये सारे उत्तरी हिन्दुस्तान में छोटे छोटे राज्य स्थापित कर रहे थे। ये क़बीले नस्ली झगड़ों और नस्ली सम्बन्धों के रिवाज को मानते थे। सम्मान, पद और उपाधियों को विशेष गुण माना जाता था, फिर—जन्म और जाति गत गर्व की भावना भी उनके अन्दर बहुत मज़बूत थी। एक स्वेच्छाचारी शासक क़बीले का राजा होता था। हर एक सिपाही लुटेरों की तरह का होता था और हर एक क़बीले के ख़ान्दानी भाँट घराने हुआ करते थे, जो उनकी वीरता के गीत गाया करते। थोड़े में प्राचीन क़बीलों का ज़माना वापस आ गया था। आगे चलकर राजपूत अपने साथ निखरा हुआ सामन्तवाद भी ले आये।[१] उनकी सामन्तवादी राजनीति और उनके लगातार क़बीलेवार झगड़ों ने उनका एक हो जाना और एक राष्ट्र बन जाना असम्भव कर दिया। इसलिये मुसलमानों के आक्रमण के साथ साथ एक एक करके राजपूत रियासतों का पतन हो गया। उनके पतन के साथ ही उत्तरी हिन्दुस्तान के हिन्दुओं की स्वतन्त्रता भी चली गई।

प्राचीन भारतीय साहित्य में राजपूत नाम नहीं मिलता। हमने देखा है कि वैदिक काल में "राजन्य" शब्द का प्रयोग होता था। बाद में वर्ण बताने के लिये क्षत्रिय शब्द का प्रयोग होने लगा था। लेकिन इसी समय से हम राजपूतों का नाम सुनने लगते हैं। "राजपूत" संस्कृत के "राजपुत्र"—राजा का लड़का—शब्द का बोला जाने वाला रूप है। इसलिये इसका भी अर्थ वही है जो वैदिक शब्द "राजन्य" का है। लेकिन यह और "क्षत्रिय" के लिये बोला जाने वाला "छत्री" शब्द एक नहीं है। एक राजपूत क्षत्री अथवा "क्षत्रिय" तो है, लेकिन साथ ही वह कुछ और भी है। वह बिल्कुल स्पष्ट और दूसरों से अलग एक समाज का सदस्य भी है। वह चन्द-राजरासो में वर्णित ३६ कुलों का है। इसका अर्थ यह हुआ कि इस पुस्तक में जिन ३६ कुलों को गिनाया गया है

१—P. N. Banerjee—'Public Administration in Ancient India,' P 52.

वही सच्चे राजपूत हैं और उन्हीं में आपस में शादी-ब्याह हो सकता है। इन कुलों के बाहर भी बहुत से समुदाय हिन्दुस्तान के विभिन्न हिस्सों में हैं, जो अपने को उच्च क्षत्रिय कहते हैं और समाज में ये लोग वही काम भी करते हैं, यानी वे भी फ़ौजी पेशे के हैं, फिर भी वे राजपूत नहीं हैं। इसलिये हमें राजपूतों के बारे में छान बीन करनी चाहिये।

हर्षवर्द्धन की मृत्यु के बाद के काल में हमें बहुत से ऐसे लेख मिलते हैं, जिसमें अफ़सरों की सूची में "राजपुत्र" शब्द का प्रयोग है। लेकिन ऐसा लगता है कि यह किसी पद की उपाधि है, किसी जाति का सूचक नहीं है। नहीं तो यह शब्द बङ्गाल और दक्षिण भारत के शिलालेखों में न मिलता। इस शब्द का अर्थ राजा का लड़का भी है। देशी बोली में, उत्तरी बिहार में इस शब्द को ख़राब अर्थ में इस्तेमाल किया जाता है और "ब्रह्मवैवर्त पुराण" "तथा बल्लाल चरित" में राजपूत अथवा छत्री को ब्राह्मण और क्षत्रियों का वर्ण-संकर कहा गया है। लेकिन यह शब्द शुरु चाहे जैसे भी हुआ हो, रियासतों के शासक होने के नाते इनका आदर बहुत था। श्री वैद्य कहते हैं, "शुरू में तो वे ब्राह्मणों से भी ऊँचे माने जाते थे। इसके पहिले की सदी के अरब यात्रियों ने जिन राजपूतों के ऊँचे स्थान का वर्णन किया है उसकी चर्चा अलबरूनी—जो देखी हुई बातों से अधिक हिन्दू शास्त्रों की बात कहता है—नहीं करता। लेकिन वे हर तरह से ब्राह्मणों के बराबर माने जाते थे, जैसा कि अलबरूनी स्वयं मानता है उनका स्थान ब्राह्मणों से बहुत नीचे नहीं है।"[२] आज कल के जानकार यह जानते हैं कि राजपूताना में जहाँ अब भी राजपूत सामन्तवादी ढंग से राज करते हैं, राजपूत सबसे ऊँचा वर्ण है।

यह पहिले ही कहा जा चुका है राजपूत समाज में बाहरी लोग पैठ नहीं सकते। इन ३६ कुलों अथवा क़बीलों का एक ऐसा समाज था, जिसमें बाहर वालों के घुसने की गुंजायश नहीं थी, और ये लोग आपस में ही अन्तर्विवाह कर सकते थे। श्री वैद्य कहते हैं, "साधारण तौर से राजपूत या हिन्दुस्तान के शासक कुलों[३] ने (११०० ई० के क़रीब) जो शुद्ध क्षत्रिय थे, उन राज्य घरानों को मिला कर अपने को एक उपश्रेणी में बाँट लिया। पंजाब चूँकि उस समय मुसलमान शासन में था, इसलिये स्वाभाविक था कि वह इस श्रेणी में शामिल न किया जाता। दूसरे कारणों से हिमालय-वर्ती कुल···इसमें शामिल नहीं किये गये। दक्षिण भारत के शासक कुल भी इसमें शामिल नहीं किये गये, क्योंकि वे शुद्ध आर्य जात और क्षत्रिय घराने के नहीं माने जाते थे। महाराष्ट्र के क्षत्रिय घराने···शामिल कर लिये गये, क्योंकि उत्तरी भारत क्षत्रिय शासक कुलों के साथ लगातार उनका विवाह सम्बन्ध रहा है।" आगे चलकर श्री वैद्य कहते हैं कि बङ्गाल के सेन इस सूची के बाहर हैं क्योंकि जैसा कि उनका विचार है, उस समय तक सेनों का प्रभुत्व बंगाल में स्थापित नहीं हुआ था लेकिन वह समय आया जब कि इन लोगों ने अपना सम्बन्ध मरहठों से तोड़ लिया। नतीजे में इस काल के बाद, मरहठा क्षत्रिय जिसमें शिलाहारस भी शामिल थे—(रासो के ३६ राज्य कुलों में इनकी चर्चा है)—अलग से एक समुदाय अथवा उप जात बन गये और इनमें भी ९६ मरहठा कुलों की गिनती हुई। इन लोगों का शादी ब्याह अब इन्हीं ३६ कुलों में हो सकता था।"[४]

इसी प्रकार प्राचीन आन्ध्रों में भी क्षत्रिय हैं जो राजू और बेल्लाल कहे जाते हैं। उनका अपना एक समुदाय है। फिर हिन्दुस्तान के सुदूर दक्षिण में कुछ ख़ान्दान हैं, जो अपने को क्षत्रिय तो कहते

२—Vaidya—History of Mediaeval Hindu India, Vol. III PP. 383-384

३—Vaidya, Vol III PP. 383-384, 385.

४—Vaidya, Vol, III, PP. 383-384, 385.

हैं, लेकिन रहते सब से अलग हैं। अन्त में बङ्गाल में, ग्यारहवीं अथवा बारहवीं सदी के अन्त में हमें ऐसे सेन मिलते हैं, जो अपने को करनाट ब्रह्म-क्षत्रिय[५] कहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि मूल रूप से ये लोग कर्नाट (दक्षिण भारत) से सम्बन्ध रखते थे। ये लोग ब्राह्मण थे और इन्होंने क्षत्रियों का पेशा अख्तियार कर लिया था। इन्होंने चालुक्यों से अन्तर्विवाह भी किया था।[६] आनन्द भट्ट के 'बल्लाल-चरित' में, जो १५ वीं सदी में लिखा गया था, बङ्गाल के ब्रह्म-क्षत्रियों और राजपुत्रों की चर्चा मिलती है। 'शेख शुभोदय' एक नवीन आविष्कृत संस्कृत ग्रन्थ है, जिसका लेखक लक्ष्मण सेन का प्रसिद्ध मन्त्री हलायुध माना जाता है। लेकिन आलोचक इसे उस समय का मानते हैं जब कि टोडरमल ने बंगाल में भूमि की जाँच पड़ताल की थी। इस ग्रन्थ में "राज-पुत्र" जाति का वर्णन मिलता है। फिर, 'प्रेम विलास' में, जो १७ वीं सदी में लिखे हुये बंगाल के वैष्णव साहित्य का एक अंश है, ऐसे ब्रह्म-क्षत्रियों की चर्चा मिलती है, जो पद्मा नदी के किनारे रहा करते थे। उन पालों की भी चर्चा नहीं मिलती, जो मगध (बिहार) में उस समय राज करते थे और जो बहुत अर्से से क्षत्रियों से अन्तर्विवाह करते आये हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि राजपूतों ने अपना एक ऐसा समुदाय बना लिया था, जिसमें बाहर वालों के आने की इजाज़त नहीं थी। वैद्य के अनुसार ऐसा इसलिये हुआ कि वे "आर्य जाति" के शुद्ध क्षत्रिय थे। तो अब हम इन क्षत्रियों के जातीय मूल की ओर बढ़ें।

५—N. G. Mazumdar-"Inscription of Bengal," Vol III vide "Madhai nagar grant of Samanta Sena," P. 44.

६—लक्ष्मण सेन की माँ चालुक्य राजकुमारी थी (Tarpandighi plate), Vide Mazumdar, P. 144.

राजपूतों की उत्पत्ति का मूल

श्री वैद्य की राय है कि "हम आसानी से यह मान सकते हैं कि राजपूत वैदिक क्षत्रियों के वंशज हैं।"[७] और उन्होंने वेदों के गोत्र और प्रवरों को क़ायम रखा है।"[८] इसी तरह से वे सोचते हैं कि मराठा जाति भी प्राचीन वैदिक वंशीय है। मरहठों के बारे में बताते हुये श्री वैद्य कहते हैं, "ये बरार और दक्षिण में बसने वाले आर्य चन्द्र कुल के हैं।[९]

प्राचीन कुल के पवित्र वंशज होने के दावे को सही मानने के लिये इन जातियों के स्त्री पुरुषों की शारीरिक बनावट की परीक्षा करनी होगी। राजपूतों के बारे में हमने जो आँकड़े इकट्ठा किये हैं उसका फल हम देख चुके हैं। जहाँ तक मरहठों का सवाल है, हडन्[१०] कहता है कि मराठी गतियों का साधारणतया कपाल-मान ७८-३ और नासिका मान ८१.० रहता है और सुकुम सले मराठों का औसतन् ८२ २ कपाल-मान और ७४ ० नासिका मान रहता है। अर्थात् पहिले वाले मध्य कपालिक—मध्य नासिक होते हैं। (mesocephal-mesorhinian) और दूसरे गोल-कपालिक मध्य नासिक (brachy-cephal-mesorrhiniar) होते हैं।

इस प्रकार हम एक ही जाति के भीतर अन्तर पाते हैं। इससे यह साफ़ हो जाता है कि वे एक वंश के नहीं हैं। आजकल के मानव तत्ववेत्ता बताते हैं कि बम्बई अहाते में रहने वालों में गोल-कपालिक "युरेशीयाटिक" या "आरमेनाइग" रक्त-प्रभाव वाले लोग मिलते हैं।[११] फिर अभी हाल में हिन्दुस्तान में मानव-तात्विक जो रिपोर्ट निकली है, उसमें विभिन्न प्रान्तों की जातियों के अन्तर सम्बन्धों की चर्चा है।

७—Vaidya Vol IV, PP. 49-50.

८—Ibid.

९—Vol. I, P. 80.

१०-११—Haddon The Races of Man, PP. 107-111.

उसमें कहा गया है कि पश्चिमी हिन्दुस्तान और उत्तरी हिन्दुस्तान के लोगों के संयोग के बहुत कम प्रमाण मिलते हैं।[१२] आगे चल कर उसी रिपोर्ट में कहा गया है कि, मरहठों और बंगाल के पोदों (एक अछूत जाति) में बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है।[१३]

इस तरह हम यह नहीं कह सकते कि शरीर की बनावट के दृष्टिकोण से राजपूत और मरहठे एक हैं। उनके लिये यह नहीं कहा जा सकता कि वे दोनों एक ही नस्ल के (Biotypes) हैं और जैसा कि हम कहीं कह चुके हैं इण्डो-आर्यन् नस्ल की बात कहना ग़लत है। इसलिये प्राचीन क्षत्रिय, आज के राजपूत और मरहठे एक ही जाति के नहीं कहे जा सकते। गोत्रों और प्रवरों के एक हो जाने से जाति भी एक नहीं हो जाती, क्योंकि दूसरी जातियों के गोत्र भी एक होते हैं।[१४] गोत्र बदले जा सकते हैं और नये गोत्र अपनाये भी जा सकते हैं।[१५] आज दिन भी हिन्दुस्तान में ऐसा होता है।

दक्षिण के मरहठे हमेशा शूद्र माने गये हैं, हालाँकि कुछ अमीर कुलों ने अपने को राजपूतों का वंशज कहने का गर्व दिखाया है। चूंकि वे राजपूतों के वंशज हैं, इसलिये वे प्राचीन क्षत्रियों में गिने जा सकते हैं अथवा उनके वंशज माने जा सकते हैं। वैद्य भी चाहते हैं कि हम उनकी इस बात पर विश्वास कर लें।[१६] यह सवाल मरहठा साम्राज्य के संस्थापक शिवाजी की राजगद्दी के समय सामने आया था। जैसा कि श्री यदुनाथ सरकार कहते हैं, "शिवाजी और उनके ससुर गायकवाड़ मरहठे थे अथवा नीची जाति के लोग थे···शिवाजी को उन ब्राह्मणों के द्वारा अपनी यह बेइज़्ज़ती बहुत अखरती थी, जिनकी रक्षा और समृद्धि के लिये उन्होंने अपनी सारी ज़िन्दगी लगा दी थी। चूंकि ब्राह्मणों ने शिवाजी को शूद्र ही मानने की ज़िद की, इसलिये मजबूर होकर उन्हें कायस्थों के नेता और ब्राह्मणों के घमण्ड के शिकार बाला जी आवा जी के हाथों में चला जाना पड़ा। बाला जी स्वभावतः अपने मालिक के साथ सहानुभूति रखते थे और उन्होंने शिवाजी को सामाजिक दृष्टि से ऊँचा उठाने के लिये गागा भट्ट को रखा, जिसने शिवाजी को शुद्ध क्षत्रिय बना दिया[१७]।" लेकिन अब भी मरहठा जाति का क्या सामाजिक स्थान हिन्दू वर्णाश्रम व्यवस्था के भीतर है यह प्रश्न विवादास्पद है। अब भी मरहठों को ब्राह्मणों ने जाति की हैसियत से क्षत्रिय नहीं माना है। क्षत्रियत्व के दावे का प्रश्न तब उठा जब कि शिवाजी के नीचे मरहठे एक स्वतन्त्र राष्ट्र की तरह उन्नति कर चुके। कुनबी[१८] खेतिहर जो कि शूद्र माना जाता है, जब लड़ाकू मरहठा बन गया और उसने शिवाजी

१२—Census of India. 1931, Vol 1, India, Pr. III Ethnographical by B. S. Guha

१३—Ibid

१४—बंगाल की तमाम हिन्दू जातियों के ब्राह्मण गोत्र और उसके साथ के प्रवर होते हैं। लेकिन इससे वे ब्राह्मण नहीं हो जाते।

१५—सनसेप की वैदिक कहानी को देखिये। जिसे विश्वामित्र ने गोद लिया था तब उसने विश्वामित्र के गोत्र को भी ग्रहण कर लिया। इसी प्रकार हर रोज हिन्दुस्तान में लोग अपने गोत्र बदल रहे हैं। फिर, सामाजिक और धार्मिक परिवर्तनों द्वारा भी अपने गोत्र बदलते हैं जैसा कि दक्षिण भारत के लिंगायतों ने किया है।

१६—ऐसा हो सकता है कि कुछ पुराने मरहठा राज वंश राजपूतों से आये हों, लेकिन इससे वे अथवा सारी जाति क्षत्रिय नहीं हो जायगी।

१७—J. N. Sarkar, "Shivaji and his times," PP. 84-85. शिवाजी की वंशावली के विवाद के सम्बन्ध में पाठकों को मि० सरकार, वैद्य एस० यन० सेन, वी० के० राजवाड़े और सर देसाई के लेखों को पढ़ना चाहिये।

१८—ऐसा लगता है कि यू० पी० के कुनबी खेतिहरों, दक्षिण के कुनबियों और लड़ाकू मरहठा कुनबियों में जाति गत सम्बन्ध है। देखिये Risley—'People of India.'

के नेतृत्व में एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की, तब उसने प्राचीन क्षत्रिय जाति का सदस्य होने का दावा किया। लेकिन दक्षिण के ब्राह्मण शिवाजी के उत्थान के पहिले उसी प्रदेश में बहुत शक्तिशाली थे और शिवाजी के मरने के बाद इन्होंने ही सारे राजनीतिक अधिकारों को हड़प लिया था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक संघर्ष के बाद ही मरहठे ऊँची श्रेणी पा सके थे। लेकिन शिवाजी के बाद के जमाने में उन्हें शासक और लड़ाकू ब्राह्मणों से सामाजिक संघर्ष करना पड़ा, जिसके फलस्वरूप उनकी सामाजिक स्थिति कमज़ोर पड़ गई। उधर जहाँ तक राजपूतों का मामला है, उनकी सामाजिक स्थिति उनकी राजनीतिक शक्ति के कारण बनी रही। इसलिए ब्राह्मणों ने उसे स्वीकार भी किया।

अब हम राजपूतों के उद्भव के प्रश्न को लेंगे। शरीर विज्ञान की दृष्टि से (Somatologically) हमने यह देख लिया है कि ये एक ही कुल के नहीं हैं। यह स्पष्ट है कि विभिन्न जातियों ने मिल कर राजपूत जाति का निर्माण किया; इनमें सब से अधिक संख्या उन लोगों की है, जो आजकल दूसरी जातियों में पाये जाते हैं। इसी कारण वे दूसरे हिन्दुस्तानियों से अलग नहीं किये जा सकते।[१९] इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि वे अलग से एक विशेष समुदाय हैं। अगर ऐसा है तो हमें उनके बारे में और अधिक विस्तार से छानबीन करनी चाहिये।

जब कि उत्तरी भारत ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथों में चला गया और राजपूताना ने भी उसकी प्रभुता स्वीकार कर ली तब कर्नल टाड राजदूत की हैसियत से राजपूत रियासतों में भेजे गये। उन्होंने अपने राजपूताना के इस प्रवास में विभिन्न राजपूत क़बीलों की कहानियों और परम्पराओं का अध्ययन किया और इसके फलस्वरूप संसार को विस्मयकारी समाचार दिया कि राजपूत प्राचीन आक्रमणकारी सिथियनों और हूणों के वंशज हैं। इसके साथ ही उन्होंने दुनियां को यह भी बताया कि आबू पहाड़ पर ब्राह्मणवाद के उन्नायकों का निर्माण करने के लिये ब्राह्मणों ने एक यज्ञ भी किया था। यही "अग्निकुल" के राजपूतों के जन्म की प्रसिद्ध कहानी है। तभी यह कहानी बार बार हर जगह दोहराई जाती है और राजपूतों के विदेशी उद्भव के पक्ष अथवा विपक्ष में तर्क भी पेश किये जाने लगे हैं।[२०]

श्री वैद्य कहते हैं "यज्ञ की यह कथा, चन्द-बरदाई द्वारा लिखित पृथ्वी राजरासो में केवल कवि-कल्पना की उड़ान मात्र है;" लेकिन इस कथा का वर्णन हमें नेमिरथ मन्दिर के जैन अभिलेखों में मिलता है।[२१] इस परम्परागत कथा के तथ्य पर और बाहरी गवाहियाँ भी मिल सकती हैं।

अग्निकुल राजपूतों में एक परिहार जाति भी है और श्री भण्डाकार ने साबित किया है[२२] कि परिहार और प्रतिहार एक ही हैं, और हमने प्रतिहारों को गुर्जरों की एक शाखा माना है। इसलिये सवाल उठता है कि कब से गुर्जर क़बीला वैदिक क्षत्रिय बन गया? यही इतिहासकार आगे कहते हैं[२३] कि सोलंकी (चालुक्य), चौहान (चहुमान) और परमार जो अग्निकुल वालों की सूची पूरी करते हैं, मूल रूप से गुर्जरों की ही शाखा हैं। इसमें होयसल

१९—डा० गुहा "हिन्दुस्तान के लोगों की जातिगत समता" के बारे में १९३१ की मर्दुमशुमारी बताते हुये कहते हैं कि बंगाल के पोदों का बंगाल के बाहर की दूसरी जातियों में मरहठों और राजपूतों से ज़्यादा गहरा सम्बन्ध है। पृष्ठ ७

२०—देखिये विन्सेन्ट स्मिथ, भण्डारकार वैद्य आदि। मानव-तत्व शास्त्री इस मामले में ऐतिहासिकों से भिन्न विचार रखते हैं।

२१—Vide Epi. Ind. Vol. VIII P.201

२२—Bhandarkar, J. R A. S, 1905 PP. 1-4, 31-32.

२३—Ibid.

(Hoernle) तोमर और कछवाहों[२४] को भी जोड़ना चाहते हैं।

पुरा-लिपि सम्बन्धी (epigraphy) A के खोजों से यह पता चलता है कि मेवाड़ के गहलौत आनन्दी पुर के नागर ब्राह्मण गुहदत्त के वंशज थे। अतपुरे (Atpure) के अभिलेख में उसे 'महिदेव' और 'विप्रकुल नन्दन' कहा गया है। उनका वैजयोप (Vaijayope) गोत्र है। यह गोत्र नागर ब्राह्मणों में मिलता है। चात्सु (chatsu) अभिलेख में गुहिला बालादित्य को ब्रह्म-क्षत्रवित कहा गया है। B जो इस धरा धाम पर उस समय अवतरित हुआ जब सूर्य कुल लुप्त हो गया। C कहा जाता है कि परमार वशिष्ठ मुनि के क्रोध से पैदा हुये। D चाहमान या चौहान राजा सामन्त 'बिजौ-लिया' के अभिलेख में वत्स गोत्र के विप्र अथवा ब्राह्मण कहे गये हैं। E आबू पहाड़ के लुंतिग देव के अभिलेख में यह कहा गया है कि सूर्य कुल और चन्द्र कुल नष्ट हो जाने पर वत्स ऋषि ने एक फ़ौजी जाति का निर्माण किया—यह था चाहमान कुल! F इन लेखों से यह साफ़ मालूम होता है कि प्राचीन क्षत्रिय वर्ण के अन्दर मध्य युग में नई भर्ती हुई है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पुराने ज़माने में एक 'संगठन' और शुद्धि आन्दोलन ज़रूर हुआ, जिससे क्षत्रिय राजाओं की एक नई धारा निकली, जिन्हें राजपूत कहते हैं। फिर इब्बेट्सन, पुलकियन स्टेट्स गज़ेटियर (Pulkian States Gazetteer) से एक उद्धरण देते हैं, जिसमें कहा गया है कि "चन्द्रवंश की विभिन्न शाखायें—बद गूजर (बड़ गूजर), कछवाहे, शेखावट, खाँप[२५] एक ही जगह से निकले हैं। फिर उन्हीं महाशय ने मि० विल्सन को उधृत किया है, जो कहते हैं कि राजपूतों की गूजर, बड़ गूजर जाति अकसर साथ ही पाई जाती है, इससे यह मालूम पड़ता है बड़ गूजरों का सम्बन्ध गूजरों से वही है, जो खान-ज़ादों का मेयो से है, और जो अधिकतर राजपूतों का जाटों से है।"[२६] यानी शासक श्रेणी में पहुँच जाने के कारण ये आम जनता से अलग हो गये और उनसे किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं मानते। और भी, पंजाब में नाभा में, विभिन्न गूजर जातियाँ अपने को अस्पष्ट तौर से राजपूत कुल का कहती हैं।[२७]

इस प्रकार विभिन्न गवेषक इसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि गुर्जरों (आजकल के गूजर) और विभिन्न राजपूत जातियों में नसली सम्बन्ध है। इसलिये ब्राह्मणों द्वारा यज्ञ के ज़रिये शुद्धि और शुद्र वर्गों का परम्परागत क्षत्रिय वर्ण में शामिल होना मनगढ़न्त कहानी नहीं है, ख़ासतौर से जब हम यह देखते हैं कि हिन्दू समाज आज के हिन्दुस्तान में विभिन्न स्थानों पर वही काम कर रहा है।* हिन्दू धर्म हमेशा कहता है कि वर्ण गुणों के अनुसार बनते हैं (गीता) वर्ण की बुनियाद कर्म है, इसलिये हिन्दू समाज में ऐसी कोई चीज़ नहीं है, जिससे कि परम्परागत वर्गों में एक नयादल समाज के लिये किये हुये कर्म के आधार पर तैयार किया जाय।

२४—Bhandarkar J. R. A. S. 1905 PP. 1-4, 31-32.

A—N. C. Vasu. History of kawsupa

B—Ep. Ind. Vol. XII PP. 10 FF.

C—Indian antiquary Vol. XVIV P. 11.

D—EP. Ind. Vol IX, No 2 P. 11-

E—J. R. A. S. B. Vol. Lv Pti I, P. 43.

F—Ep. Ind Vol IX No 44-D-P F.

२५—"पंजाब और सीमाप्रांत की जातियों और क़बीलों का कोष।" परलोक वासी सर डी० इबेटसन के पंजाब की मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट आधार पर।

२६—Ibid., Pp 310, 312.

२७—Ibid.

*—यहां हमें बौद्धदार्शनिक आर्य देव की बात याद आ जाती है कि ब्राह्मण तो किसी को भी क्षत्रिय में बदल देते हैं।

अब हम राजपूतों में विदेशियों के सवाल पर आते हैं। हमने कहा है कि मानवतत्व वेत्ता यह नहीं मानते कि राजपूतों का उद्भव सिथियनों से हुआ। लेकिन हम यह देखते हैं कि पश्चिमी क्षत्रपों का पूरा ब्राह्मणीकरण हुआ था और हम वंश के संस्थापक चष्टन के वंशज जो कि या तो पर्थियन या शक हिन्दू नाम के थे।[२८] इस कुल के अन्तिम व्यक्ति रुद्र सिंह तृतीय थे। खण्डहरों के खोजों से पता चलता है कि शकों और बहुत से यवनों ने ब्राह्मणवाद स्वीकार कर लिया था।[२९] यह साफ़ है कि शक क्षत्रपों ने ब्राह्मणवाद स्वीकार कर लिया क्योंकि ब्राह्मण राजा पुलमई ने चष्टन के पोते क्षत्रप रुद्र दामाँ की लड़की से शादी की।[३०] इतिहास बताता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने ३८८ ई० में इस शाही ख़ान्दान को ख़त्म किया। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि दो सौ वर्षों से जितने भी शक इस साम्राज्य में रहते थे सभी ख़त्म कर दिये गये। इतिहास भी इसकी गवाही नहीं देता। रुद्र सिंह तृतीय तो ज़रूर ख़त्म कर दिये गये, लेकिन बहुत से पुराने बसने वालों के सिंह नामधारी ब्राह्मण वंशज रह गये थे। उसी शक साम्राज्य की सीमा के ठीक भीतर नह यश हुआ था। फिर बाद में हम देखते हैं कि गुर्जर प्रतिहारों ने भी अपनी राजधानी उसी ज़िले में बनाई। तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं होगी कि ब्राह्मणों ने, जैनों और बौद्धों के विरुद्ध, अपने लिये लड़ने वालों को, कट्टर हिन्दू व्यवस्था के द्वितीय वर्ण में पहुँचाने के लिये एक आधार के रूप में, धार्मिक अनुमति दे दी! इसलिये यह कोई असम्भव बात नहीं है कि बहुत से शक और गुर्जर क़बीले की शासक श्रेणी के लोग क्षत्रिय बन गये और उन्हें "राजपूत" की नई उपाधि मिली। यह नया नाम उन्हें पुराने क्षत्रियों से बिलकुल अलग कर देता है।[३१] तमाशा है यह है कि ये तमाम नये क्षत्रिय अपने नाम के आगे सिंह (बोलने में सिंघ) शब्द को जोड़ते हैं। इसलिये क्षत्रप रुद्र सिंह और उनके सजातीय लोगों के राजपूत सिंहों के पूर्वज होने में कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

अब हम कुछ राजपूतों के "हूण" संसर्ग के सवाल पर विचार करेंगे। जैसा कि पहिले कहा जा चुका है टाडने ही पहिले यह बताया कि राजपूतों में "हूण" नाम का एक क़बीला है। लेकिन श्री वैद्य इस बात को यह कह कर काट देते हैं कि राजपूत क़बीलों की सूची में "हूण" नहीं "हूल" है।[३२] आगे वे कहते हैं, मुसलमानों के विरुद्ध हूणों और हूलों का नाम आता है (देखो Tod's Rajasthan by Crooke, Vol. I. P. 290.) हूल हूण से अलग क्षत्रियों में एक क़बीला था।[३३] आगे फिर वे कहते हैं, "कुमार पाल चरित में (इसकी रचना चन्द्रगहर वाला ने १०८०-११३० ई० में की थी) क्षत्रियों के

२८—H. C Ray Chaudhari Political History of ancient India PP. 339, 388-389.

२९—देखिये—हेलेनिस्टिक राज्य के हेलेनिस्टिक राजदूत-जिसने कि अपना नाम "परम भागवत हेलियोदोरा" रखा था—द्वारा निर्मित गौरोरा स्तम्भ—Vinee t Smith, Early History of India; also vide Ep. Indica Vol. VIII. 'The Inscriptions in the Caves of Nasik' No 10, 15, 18.

३०—H. C. Ray Chadhari, ap, cit, PP. 339 388-389.

३१—उत्तर बंगाल के कोंच क़बीले ने हिन्दू होने के बाद राजवंशी-शासक कुलों से सम्बन्धित नाम धारण कर लिया। आजकल वे अपने को क्षत्रिय कहते हैं। राजन्य शब्द प्राचीन और राजपूत वर्तमान इतिहास के शब्द हैं। इसलिये उन्हें नये शब्द की जरूरत थी। सच तो यह है कि इस नये नाम का वही अर्थ है जो कि दूसरे शब्दों का है।

३२—Vaidya, Vol. IV, . 23-26.

३३—Ibid.

कुछ राजकुलों की सूची में हुआ भी है।[३४] रासो की सूची में इसे हूल कहा गया है।" [३५] आगे चलकर वे कहते हैं, "लेखों से क्षत्रिय राजाओं का हूण राजकुमारियों से ब्याह होने का पता चलता है।[३६] ग्यारहवीं सदी में कलचुरियों के शासक कर्ण देव ने हूण राजकुमारी अवल्ला देवी से शादी की (विक्रम देव चरित)।

इस तरह सन् ५३० ई० में पश्चिमी भारत से यशोधर्मन द्वारा मिहिर कुल के हरा दिये जाने और निकाल दिये जाने के बाद भी हूणों की मौजूदगी का पता चलता है। ९-१० सदियों में हम बंगाल के पाल राजाओं के किराये के सिपाहियों के रूप में हूणों का नाम पाते हैं।[३७]

ऐसा लगता है कि वे हिन्दुस्तान भर में घूमते रहते थे और विभिन्न राजाओं के यहाँ फौजों में काम किया करते थे। इन रचनाओं में यह बात तो मान ही ली गई है कि जो हूण हिन्दुस्तान में बसे, वे पूरी तरह से हिन्दुस्तानी हो गये। क्षत्रिय राजाओं से उन लोगों के विवाहों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनके भी शासक क्षत्रिय राजाओं के समकक्ष हुआ करते थे। इसलिये अगर वे ब्राह्मणों द्वारा संपादित धार्मिक शुद्धि-क्रिया के बाद क्षत्रिय वर्ण की हैसियत से हिन्दुओं में शामिल कर लिये गये, तो हमें आश्चर्य नहीं होना चाहिये।

इन तमाम बातों का विचार कर लेने के बाद, यह कहा जा सकता है कि ऐसा हो सकता है कि शक, हूण और दूसरे विदेशी जो कि हिन्दुस्तान में बस गये, वे हिन्दू व्यवस्था के भीतर शामिल कर लिये गये और जिस जिस वर्ण में गये उसी में विभिन्न टुकड़ियों की हैसियत से समा गये।[३८] ब्राह्मण धर्माचार्यों ने सिद्धान्त की दृष्टि से उन्हें शूद्र की श्रेणी में रखा था,[३९] लेकिन हम तो उन्हें ब्राह्मण और क्षत्रिय राजाओं के यहां शादी करते हुये पाते हैं। इस प्रकार कट्टरपन्थी ब्राह्मणों द्वारा बनाये हुये काग़ज़ी धार्मिक नियमों और जीवन के व्यवहार में हम अन्तर पाते हैं।

इन बातों को देखकर यह सम्भव मालूम पड़ता है कि ब्राह्मणों ने ब्राह्मण्यवाद के नाम पर तमाम लड़ाकू जातियों को एक नये क्षत्रिय वर्ण में शामिल करने के लिये शुद्धि आन्दोलन चलाया, क्योंकि उन्हें अपने काम के लिये समर्थकों की ज़रूरत थी।

३४—मल्लिनाथ, कालिदास के रघुवंशम् की टीका के चौदहवें अध्याय में इन्हें क्षत्रिय बताते हैं।

३५—Vaidya, Vol. III, P. 37.

३६—Ibid, Vol. II, P. 26.

३७—Vide Pala inscriptions published in Epigraphica Indica.

३८—विष्णु पुराण में [४।३।१८—२१] उन विदेशियों की चर्चा है जो अयोध्या में बस गये और क्षत्रिय बन गये और जिन्होंने ब्राह्मणोंसे ब्राह्मण्यवादी पूजा विधियां संपादित करवाईं। (Bd iii, 48, 29-47, J. R. A. S. 1919. Pp. 358—6) बाद में सगर ने, तालजंघ हैहयों को हराया और अयोध्या को फिर से जीता (Bd. iii, 48, 49. 10) उन्होंने विदेशी क़बीलों को ख़त्म करने का पक्का इरादा कर लिया। लेकिन इनकी प्रार्थना पर वशिष्ठ मध्यस्थ बने और सगर ने उनकी जान बख़्श दी। लेकिन सगर ने धार्मिक और राजनीतिक दृष्टि से उन्हें नीचे गिराया।" (Pargiter, Pp 269-270)

श्री जायसवाल ने भी बनारस के सिथियन क्षत्रप बनसफर के उन वंशजों की चर्चा की है, जो बुन्देलखण्ड में रहते थे। वे कहते हैं, "उनको नीच कुल का समझा जाता था। वे राजपूत घरानों में मुश्किल से शादी कर पाते थे और आज भी वे नीची श्रेणी के समझे जाते हैं। उन्हीं के नाम से बुन्देलखण्ड में बनाफरी बोली बोली जाती है। "History of India" in J. B. O. R. S. Vol. XIX मध्य भारत में एक राजपूत जाति बनफोर है, जो लेखक के खोजों के अनुसार राजपूतों से अन्तर्विवाह मुश्किल से कर पाते थे। महोबा के मध्यकालीन राजपूत वीर—आल्हा और ऊदल बनाफर राजपूत थे। लेकिन उनका नीचा स्थान किन्हीं और कारणों से है।

३९—Vide Manu X—43-44, Patan gali 2. 4. 10.

इसलिये, जब तक ब्राह्मणयवादी धर्म का प्रभुत्व रहा, जितने भी विदेशी अथवा तथाकथित आदिम निवासी थे सभी क्षत्रिय वर्ण में शामिल कर लिये गये और उनके लिये नई नई वंशावलियाँ बना ली गईं। इस तरह उन नये क्षत्रियों ने अपनी जाति को पश्चिमी और मध्य भारत की सरहदों तक सीमित रखा। श्री वैद्य ने स्वयं इस बात को माना है कि पंजाब राजपूत कर्वलों की सूची से अलग था, क्योंकि इस पर मुसलमानों का कब्ज़ा हो चुका था, या ऐसा भी हो सकता है कि उस समय बौद्ध राजे उस सूबे में राज कर रहे थे। निश्चय ही वहाँ कोई न कोई ऐसी अड़चन ज़रूर रही होगी, जिससे पंजाब के नये क्षत्रिय इस संगठन आन्दोलन में शामिल न हो सके। पूरब में मगध और बंगाल में बौद्ध पालों का प्रभुत्व उस समय था,[४०] इसलिये यह आन्दोलन उन प्रदेशों में न घुस सका। दक्षिण में राजू और बल्लाल पहिले से ही उस पद तक पहुँच चुके थे। इस प्रकार इस क्षेत्र में रहने वाली लड़ाकू लोगों की शासक श्रेणी क्षत्रिय बन गई और उन्हें "राजपूत" का नया नाम मिला। इस कारण से गुर्जर, जाट और अहीर जनता जो कि शासक श्रेणी में नहीं थी क्षत्रिय वर्ण में शामिल न हो सकी, हालाँकि मानव-तत्व विशारद इनमें और राजपूतों में बहुत सामीप्य पाते हैं।

जब राजपूत नाम प्रतिष्ठित हो गया; और राजपूतों की बहादुरी के कारण उस नाम में गौरव और सम्मान की अभिव्यक्ति होने लगी, तो दूसरे लोगों ने भी जो धीरे-धीरे क्षत्रिय वर्ण में शामिल होना चाहते थे, अपने नाम के आगे जाति सूचक शब्द की हैसियत से राजपूत जोड़ दिया। इस प्रकार छोटा नागपूर में हम नाग-वंशी और गो-वंशी राजपूतों को पाते हैं। ये लोग अपने को साँप (नाग) और गाय (गो)[४१] के वंश का कहते हैं। यह स्पष्ट है कि ये दोनों जानवर उस स्थान के कुछ आदिम जातियों के कुल देवता थे। लेकिन वे लोग जो वहाँ के ज़मींदार थे अपने को परम्परागत क्षत्रिय श्रेणी का कहते थे और उन्होंने नया "जाति" सूचक शब्द भी अपना लिया। ठीक इसी तरह बङ्गाल की पूर्वी पहाड़ियों में टिपरा और मनीपूर के राजवंश हैं, जो अपने को क्षत्रिय कहते हैं और आजकल राजपूतों से ही अपना नाता गोता रखते हैं। इसी कारण आज के हिन्दुस्तान में राजपूत और क्षत्रिय (बोलने में छत्री) एक ही अर्थ में इस्तेमाल होते हैं।

४०—पञ्जाब के मैदानों के राजपूतों का जाति नाम जो ज़्यादातर मुसलमान हो गये हैं, वही हैं जोकि राजपूताना और गंगा के द्वाबे के राजपूतों का है। जिसका अर्थ यह हुआ कि इन स्थानों से लोग पञ्जाब में चले आये थे। इस सूबे की पूरबी पहाड़ियों के राजपूत राजपूताना के राजपूतों से नीची श्रेणी के समझे जाते हैं। यानी वे दूसरी जाति के हैं। उनकी जाति का ठीक-ठीक पता अभी तक नहीं चला है, क्योंकि अभी तक उनकी खोज नहीं हो पाया है। इब्बेटसन कहता है कि इस स्थान का राजपूत शब्द पेशे का सूचक है (P. 362.)

४१—Risley—Tribes and castes of Bengal—Ethnographic glossary, Vol. I, PP. 184—185.
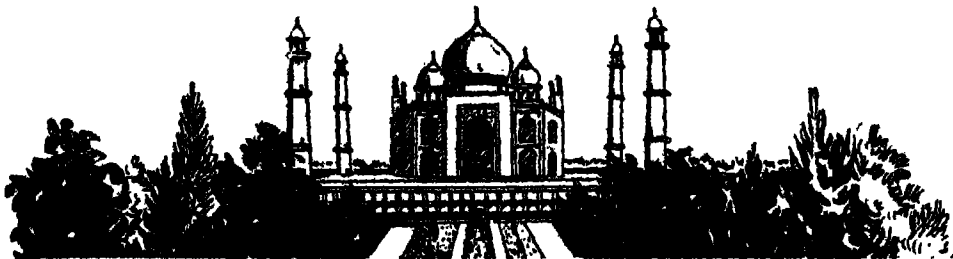
बुद्ध के अनात्मवाद का रहस्य

शान्ति भिक्षु

बुद्ध से पहले भारत में अनेकों दार्शनिक विचार विकसित हो चुके थे और बाद में भी अनेकों दार्शनिक विचारों का उदय और उत्थान हुआ। आज उन सब दार्शनिक विचारों की अनेकों बातें भूली जा चुकी हैं और जो बची हैं, उनके भी समझने में कम भूलें नहीं की गई हैं और न की जा रही हैं। बौद्ध दर्शन के अनात्मवाद के बारे में तो यह बात विशेष रूप से कही जा सकती है। आज ही नहीं पिछले युग में भी उसे लोग ग़लत ढग से ही समझते रहे हैं। इसलिये अनात्मवाद की चर्चा करने से पहले उससे सम्बन्ध रखने वाली कुछ मोटी मोटी बातों का ज़िक्र कर लेना बहुत ज़रूरी है।

बुद्ध से पहले उपनिषदों के तत्वचिन्तन में कर्म-फल, प्रेत्यभाव (आवागमन), परलोक और मुक्ति के सिद्धान्त पक्के हो चुके थे और मनुष्य के इस लोक के जीवन की सफलताओं और असफलताओं तथा सामाजिक ऊँच-नीच भाव को पूर्वजन्म के कर्मों का फल समझा जाने लगा था। जन-समाज अपने दुःखों और असफलताओं के भीतर घुट रहा था; पर निरुपाय था, क्योंकि दार्शनिकों ने समझा रक्खा था कि तुम्हारे इस दुःख द्वन्द्व का कारण अदृष्ट के भीतर है, इस दृष्ट लोक के भीतर नहीं। जो कुछ सुख दुःख है वह तो भोगना ही पड़ेगा, क्योंकि वह पहले की कमाई का फल है। बुद्ध से पहले भारत के सामाजिक जीवन का यही दर्शन था और आज भी जन-साधारण का वही दर्शन है। यद्यपि कुछ चोटी के लोगों की दृष्टि बदल रह है, पर वह दृष्टि जन-साधारण के ख़याल से कोसों दूर है।

इस दृष्टि-जाल के भीतर रहते हुए बुद्ध ने जनता का कल्याण नहीं देखा। जन-साधारण अपने दुःख का कारण अदृष्ट में ढूंढता था और बुद्ध उस दुःख के कारण को दृष्ट (इसी दुनिया) के भीतर देख रहे थे, पर जनता के मानसिक धरातल पर अदृष्ट का इतना व्यापक प्रभाव था कि उसे सर्वथा दूर कर दुःखमात्र के दृष्ट कारण को समझा देना उस पुराने समय में बहुत कठिन बात थी। इसलिये बुद्ध ने अदृष्ट से सर्वथा इनकार तो नहीं किया, पर दुःख के कारणों की व्याख्या करते हुए अदृष्ट का स्थान बहुत गौण कर दिया। बुद्ध ने जिन कारणों से मनुष्य को सुखी दुःखी और उदासीन देखा वे ये हैं: "वात, पित्त, कफ़, सन्निपात, ऋतु-परिवर्तन, अपथ्य, उपक्रम और कर्मविपाक।"[1] इन कारणों के भीतर छिपे बुद्ध के अभिप्राय को बतलाते हुए भदन्त नागसेन का कथन है: "अप्पं कम्मविपाकजं बहुतरं अवसेसं"[2] अर्थात् कर्मविपाक के कारण तो मनुष्यों को अल्प ही दुःख भोगना पड़ता है। दुःख का अधिकांश तो दूसरे कारणों से ही होता है। संसार के दुःख का बहुत सा भाग जिन दृष्ट या भौतिक कारणों से होता है, उनमें एक 'उपक्रम' भी है। उपक्रम का अर्थ है: व्यापार या क्रिया। एक प्राणी के व्यापार से दूसरे प्राणी को जो क्लेश पहुँचता है, उसको यहां उपक्रम शब्द से प्रकट किया गया है। यहां ध्यान से देखते ही यह साफ़ मालूम हो जाता है कि बुद्ध संसार के दुःख के बड़े भाग का कारण ऋतु परिवर्तन आदि भौतिक व्यापारों तथा उपक्रम अर्थात् मानव और दूसरे प्राणियों के व्यापारों को ही समझते हैं। अदृष्ट या पूर्वजन्म के कर्मों का वे खण्डन तो नहीं करते पर दृष्ट जगत् के दुःख के कारणों में उसे महत्व नहीं देना चाहते।

अदृष्ट के महत्व को घटाकर जब सुख दुःख के दृष्ट कारणों को बुद्ध ने अपने उपदेश में मुख्य स्थान

१—संयुक्तनिकाय के वचन, मिलिन्द प्रश्न ४।१।६४ में उद्धृत।

२—मिलिन्द प्रश्न ४।१।६२।

दिया, तो पूर्ववर्ती सभी रूढ़ियों पर उसका प्रभाव पड़ा और अदृष्ट के साथ जिनका जिनका नाता था, उनके महत्व को धक्का लगा। उस समय के समाज में देवताओं की पूजा के लिये यज्ञ हुआ करते थे और यज्ञों का मुख्य फल स्वर्ग समझा जाता था, तथा इस लोक की अनेकों मनोकामनाओं—जैसे पुत्र, आरोग्य आदि—के लिये भी यज्ञ हुआ करते थे और यह समझा जाता था कि यज्ञों से प्रसन्न हो कर देवता यजमान का मनोरथ पूरा किया करते हैं। पर बुद्ध लोक के सुख दुःख में देवताओं की दस्तन्दाज़ी पसन्द न करते थे। मनुष्य के लौकिक व्यवहार में, मनुष्य के प्रत्येक कार्य में देवताओं का दख़ल उन्हें रुचिकर न था। इसलिये बुद्ध ने देवताओं का प्रत्याख्यान किया, पर उनकी सत्ता का निषेध करके नहीं, उनके महत्व को कम करके। त्रिपिटक में जहां देखिये देवता बुद्ध के सामने हाथ जोड़े खड़े मिलेंगे। कहीं ब्रह्मा बुद्ध के निकट नम्रभाव से आ रहे हैं, कहीं इन्द्र आते हुए दिखाई पड़ रहे हैं। सर्वत्र ही देवताओं का स्थान बुद्ध और बुद्ध-पुत्रों के नीचे दिखाई पड़ेगा। बुद्ध जो मनुष्य है—किसी देवता का अवतार नहीं, उसके नीचे है देवताओं का स्थान, जो बतलाता है कि बौद्ध परम्परा ने किस प्रकार मानवता को देवत्व के ऊपर बिठा दिया है। देवताओं का इस मधुर शैली से प्रत्याख्यान करने के बाद दूसरी बात थी श्रुतियों को प्रमाण मानना। बुद्ध ने साफ़ साफ़ कहा कि श्रुतियां सच भी हो सकती हैं और झूठ भी।[3] अतः किसी बात को बिना परखे मान लेना ठीक नहीं। यहां तक कि बुद्ध ने अपने उपदेशों के लिये भी यही कहा कि: "मेरे प्रति गौरव होने या मुझे गुरु समझने के कारण मेरी बात को मत मानो, बल्कि मेरी बातों को परखो फिर यदि ठीक हो तो मानो।"[4] मनुष्य की बुद्धि जो श्रुतियों को अन्धभाव से मानती आ रही थी, बुद्ध ने पहले पहल उसे परख कर मानने की ओर प्रवृत्त किया। इस प्रकार श्रुतियों के प्रति जनता की अन्धश्रद्धा को दूर कर बुद्ध ने समाज की बनावट पर निगाह डाली और देखा कि यहां एक जन्म से ब्राह्मण है और एक जन्म से शूद्र है। ब्राह्मण को सब प्रकार के आत्म-विकास का सौकर्य है और शूद्र को किसी भी बात की सुविधा नहीं है। बुद्ध की बूझ को यह बात न जँची और उन्होंने साफ़ साफ़ कह दिया: "ब्राह्मण और अब्राह्मण जन्म से नहीं हुआ करते कर्म से ही ब्राह्मण होता है और कर्म से ही अब्राह्मण।"[5] जन्म से ही सामाजिक ऊँच नीच भेद के कारण उस समय में शूद्रों को धर्माचरण तथा अध्ययन आदि की सुविधा न थी। बुद्ध ने शूद्रों को भी प्रव्रज्या देकर उन्हें उच्च वर्णों के समकक्ष कर दिया तथा स्त्रियों के लिये धर्म और ज्ञान का मार्ग खोल दिया। धर्म और ज्ञान को इस प्रकार मनुष्य मात्र की सम्पत्ति बनाकर बुद्ध ने धर्म का नया रास्ता भी दिखाया, जो पहले चले आते हुये रास्ते से विभिन्न है। बुद्ध से पहले धर्माचरण में विविध प्रकार की बाह्य क्रियाओं—जैसे यज्ञ, मन्त्र तन्त्र आदि—का बहुत स्थान था तथा लोग स्वर्ग और मोक्ष के लिये कठोर तप करने के पक्षपाती हो रहे थे। दूसरी ओर "खाओ पिओ और मौज उड़ाओ" के सिद्धान्त का मानने वाला एक दल था, उसे दुनिया की परवाह न थी; उचित, अनुचित जैसे भी हो भोग विलास की सामग्री प्राप्त कर उसे भोगना उसका सिद्धान्त था। बुद्ध इन दोनों रास्तों को हितकर न समझते थे। उन्होंने भोग विलास के जीवन को निचले दरजे का जीवन बताया तथा कठोर तप के द्वारा अपने को पीड़ा देने के मार्ग को भी अधम जीवन कहा। अपने और पराये दोनों को पीड़ा न देकर सदाचार से जीवन बिताने को उन्होंने उच्च जीवन कहा।[6]

३—स्वानुस्सुतं येव होति। तंच होति रित्तं तुच्छं मुसा। नो चेपि स्वानुस्सुतं होति। तंच होति भूतं तच्छं अनञथा।—मज्झिम निकाय ९५।

४—परीक्ष्य मद्वचो ग्राह्यं भिक्षवो न तु गौरवात्। तत्त्वसंग्रह के मंगलाचरण की टीका में उद्धृत।

५—सुत्तनिपात ३।९।५७

६—धर्म चक्र प्रवर्तन सूत्र।

ऐसा उच्च जीवन जिसमें अपने और पराये दोनों को पीड़ा न देना पड़े तथा जिस जीवन का सम्बन्ध आंख से दिखाई पड़ती दुनिया के साथ हो, जिस जीवन में मनुष्य को अदृष्ट देवताओं का गुलाम न रहना पड़े एवं मनुष्य की बुद्धि पर वेद या दूसरी ऐसी ही (अपौरुषेय) पोथियाँ न रक्खी जाएं. जिस जीवन में पैदायशी ऊँच नीच भाव न हो तथा जिस जीवन में पुण्य कमाने के लिये न दूसरे को सताने की ज़रूरत हो न अपने को ही सताया जाए; उस महान् जीवन का दर्शन है अनात्मवाद। अनात्मवाद को तब तक हृदयङ्गम नहीं किया जा सकता जब तक उसके पीछे छिपे उच्चकोटि के जीवन के उपरोक्त आदर्शों को न समझ लिया जाए।

अनात्मवाद क्या है? शब्द की रचना को देखने —वह न+आत्मावद—या आत्मवाद का निषेध है। आत्मा और शरीर एक हैं या आत्मा शरीर से अलग है। इस बात के पीछे बुद्ध के समय के दार्शनिक हैरान थे। बुद्ध के सामने भी यह प्रश्न आया पर उसे उन्होंने नज़रअन्दाज़ करते हुए कहा : "आत्मा और शरीर एक है," ऐसा मत रहने पर भी "आत्मा दूसरा है और शरीर दूसरा है" ऐसा मत रहने पर भी दुःख और परेशानी हैं ही।[७] फिर बुद्धिमानी यही है कि उस दुःख को दूर करने का उपाय सोचा जाए। आत्मा और शरीर की एकता या पृथकता के पीछे भटकने से तो दुःख दूर नहीं हो सकता; इसलिये उस पर विचार करना बेकार है। दुःख के नाश करने के उपायों को बुद्ध इस दुनिया से बाहर नहीं ढूंढते थे, इसलिये उन्होंने बढ़कर कहा : "मैं इसी जन्म में दुःख के विघात (उपाय) को बतलाता हूँ।"[८] इस जन्म के भीतर मनुष्य के दुःख को दूर करने के लिये सयत्न बुद्ध ने मनुष्य जीवन को मन और शरीर का संयोग, विचारों और कार्यों का समूह समझा है। जैसे शरीर एक रूप में नहीं रहता, अवस्था के हिसाब से बदलता रहता है, वैसे ही मन भी परिस्थितियों के हिसाब से बदलता है। बुद्ध की दृष्टि में मन शरीर से भी जल्दी बदलने वाला है। उनका कथन है : "भिक्षुओ, यह कहीं अच्छा है कि वह आदमी जिसने सद्धर्म को नहीं सुना चार भूतों से बने शरीर को आत्मा समझले लेकिन चित्त को नहीं। वह क्यों? यह जो चार भूतों से बना शरीर है यह एक साल, दो साल, तीन साल, चार साल, पांच साल, छः साल और सात साल तक भी एक जैसा प्रतीत होता है; लेकिन जिसे चित्त कहते हैं, मन कहते हैं, विज्ञान कहते हैं, वह तो रात को और ही उत्पन्न होता है तथा निरोध होता है और दिन को और ही।"[९] इस प्रकार बदलते रहने वाले शरीर और मन को छोड़ कर बुद्ध की दृष्टि में आत्मा अथवा कोई स्थिर, टिकाऊ या अपरिवर्तनशील सत्ता नहीं है।

इस बदलने वाले चित्त-मन-विज्ञान या ब्राह्मणों के शब्दों में कहें तो परिवर्तनशील आत्मा का पूर्व जन्म या परजन्म से क्या सम्बन्ध है? इस पर भी बुद्ध ने विचार किया है और विचार करते उन्होंने पूर्व और पर जन्मों से अथवा जन्म से पहले और मरने के बाद होने वाली आत्मा की गति से इन्कार नहीं किया है; पर इस जन्म के साथ पूर्व और पर गतियों का ऐसा सम्बन्ध नहीं जोड़ा है, जिससे इस जन्म में या इस जन्म के कार्यों में पूर्व जन्मों का हस्तक्षेप मंजूर करना पड़े, अथवा इस जन्म के भीतर बैठे बैठे पर जन्म या परलोक की फ़िक्र में घुलना पड़े। उन्होंने साफ़ कहा है : "जैसे भिक्षुओ, दूध से दही, दही से मक्खन, मक्खन से घी होता है। जिस समय दूध होता है उस समय न उसे दही कहते हैं, न मक्खन, न घी। जिस समय वह दही होता है उस समय न उसे दूध कहते हैं, न मक्खन, न घी। इसी प्रकार भिक्षुओ, जिस समय मेरा भूत काल का जन्म था, उस समय मेरा भूतकाल का जन्म ही सत्य था, यह वर्तमान और भविष्यत् का जन्म असत्य था। जब मेरा भविष्यत् काल का जन्म होगा उस समय मेरा

७—मज्झिमनिकाय ६३

८—वही

९—संयुत्तनिकाय २१७

भविष्यत् काल का जन्म ही सत्य होगा। वह वर्तमान और भूतकाल का जन्म असत्य होगा। यह जो अब मेरा वर्तमान में जन्म है, सो इस समय मेरा यही जन्म सत्य है, भूतकाल का और भविष्यत् काल का जन्म असत्य है।"[१०] इस प्रकार जन्म के साथ, जन्म से पहले और मरने के बाद की गतियों को बुद्ध नहीं जोड़ना चाहते, वे इसी जन्म को प्राधान्य देना चाहते हैं। बुद्ध वचनों में पूर्व जन्म, परलोक, स्वर्ग नरकादि का जहां जहां उल्लेख है वहाँ यह पहले से समझ लेने की ज़रूरत है कि बुद्ध की दृष्टि में उनका महत्व कुछ भी नहीं है। बुद्धवाणी में उनका अस्तित्व म्यूज़ियम में रक्खी वस्तुओं की तरह है, जिन्हें देख कर मनुष्य अपने कुतूहल को शान्त कर लिया करता है। बुद्ध केवल इस जन्म और इस दुनिया पर ही ज़ोर देना चाहते हैं, दूसरे जन्म और दूसरी दुनिया भले ही हो, पर जहां तक इस जन्म और इस दुनिया से उनका सम्बन्ध है, वे सब असत्य हैं।

इस प्रकार आवागमन और परलोक से बिना इनकार किए ही बुद्ध ने उनको इस जन्म और इस दुनिया के लिये निकम्मा बता कर मोक्ष (निर्वाण) पर विचार किया है। बुद्ध का मोक्ष केवल दुःख से शान्ति पाना भर ही है और वह मोक्ष इसी जन्म में—इसी दुनिया में होता है। उसके लिये आकाश या पाताल में दौड़ने की ज़रूरत नहीं पड़ती।" महाकवि और दार्शनिक अश्वघोष ने दृष्टान्त के द्वारा बुद्ध जिस प्रकार के निर्वाण को मानते हैं उसे यों समझाया है: "दीपक जब निर्वाण को प्राप्त होता है तो वह पृथ्वी में नहीं समा जाता और न आकाश में ही उड़ जाता है, वह दिशाओं और विदिशाओं में भी नहीं भटकता है, बल्कि तेल के ख़तम होने से केवल बुझ जाता है। वैसे ही जिस पुण्यवान् को जब निर्वाण प्राप्त होता है तब वह न तो पृथ्वी में समा जाता है, न आकाश में ही उड़ जाता है और न दिशाओं-विदिशाओं में ही भटकता फिरता है, बल्कि क्लेश के क्षय होने से केवल शान्ति को पाता है।"[११] इस प्रकार आवागमन और परलोक की चिन्ता को इस जन्म के दुःख दूर करने में अकिंचित्कर बता कर तथा मोक्ष को क्लेश-क्षय कह कर बुद्ध ने संसार के दुःख के साकार कारणों की ओर लोगों के ध्यान को झुकाया।

बुद्ध की यह विचारधारा एक चिर से चले आते विचारों के भीतर बिल्कुल नई थी। इसमें न तो आवागमन और परलोक का महत्व था और न लोक के लिये स्व-पर पीड़न का कोई स्थान था। समाज के ऊंच नीच भेदों की भी इसमें गुञ्जायश न थी। इसमें मनुष्य का ही एकमात्र स्थान था और मनुष्य पर उसके सुखदुःखों का उत्तरदायित्व था। इस विचारधारा में युद्ध-मारकाट या हिंसा को कोई जगह न थी और होती भी कैसे; इसमें युद्ध को स्वर्ग का द्वार नहीं समझा गया और न हिंसा और परपीड़न से प्राप्त भोगों का भोगना ही उचित क़रार दिया गया।[१२] हिंसा और परपीड़न की बात छोड़िए, अपना साध्य भी भोग विलास के जीवन को इसमें महत्व नहीं दिया गया था। बुद्ध के शब्दों में कहें तो: "भोग विलास का जीवन हीन, ग्राम्य, जड़ लोगों के द्वारा सेवित, अनार्य और अनर्थकारी होता है।"[१३] बुद्ध ने सरल जीवन पर जो इतना ज़ोर दिया है, वह परलोक बनाने के लिये नहीं, बल्कि इस लोक को बनाने के लिये। सरल जीवन पर ज़ोर देने का अभिप्राय था स्वार्थ—चाहे वह व्यक्ति विशेष का हो चाहे वर्ग विशेष का हो—के कारण मानव समाज में होते संघर्ष को दूर करना। बुद्ध यह निश्चय रूप से समझते थे कि मनुष्यों का दुःख उनके व्यक्तिगत या वर्गगत स्वार्थ के कारण ही होता है। उन्होंने स्पष्ट कहा है: "स्वार्थ ही के कारण, स्वार्थ ही की वजह से, स्वार्थ ही के हेतु से राजा राजाओं से झगड़ते हैं, क्षत्रिय क्षत्रियों से

१०—दीघ निकाय ६

११—सौन्दरानन्द।

१२—"हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्, 'यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ;" गीता

१४—धम्मचक्क पवत्तन सुत्त।

वह व्यवहारतः ठीक हो सकती है पर परमार्थतः है ही नहीं। प्रत्येक पदार्थ अपने अवयवों का स्कन्ध या ढेर है। अवयव के लिये परमाणुओं शब्द का प्रयोग होता है, क्योंकि स्थूल पदार्थ का जो सूक्ष्म से सूक्ष्म अवयव है वह परमाणु है। परमाणु पृथ्वी, जल, तेज और वायु के होते हैं। यह चार भूत कहलाते हैं। यह चार भूत, पांच ज्ञानेन्द्रियां और उनके पांच रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श विषय इन सब को 'रूप स्कन्ध' कहते हैं। चक्षु से रूप का, श्रोत्र से शब्द का, नासिका से गन्ध का, जिह्वा से रस का, शरीर (काय, स्पर्शेन्द्रिय) से स्पर्श का और मन से धर्म (मानसिक भावों) का जो सामान्यतया ज्ञान होता है, उसे 'विज्ञान स्कन्ध' कहते हैं। यदि इस ज्ञान में विषय की विशेषताएँ झलकें, तो वह 'संज्ञा स्कन्ध' होगा। जैसे आंख से कोई स्त्री दिखाई पड़ी यह तो विज्ञान स्कन्ध हुआ, पर यदि इस ज्ञान में स्त्री का रंग, रूप, क़द आदि की प्रतीति भी शामिल हो तो वह संज्ञा स्कन्ध होगा, क्योंकि यह सं=सम्यक् या विशेष रूप से ज्ञा=जानकारी हुई है। सुख दुःख की अनुभूति का नाम 'वेदना स्कन्ध' है। इन चारों स्कन्धों से जो बचा है वह 'संस्कार स्कन्ध' है।

इन रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार स्कन्धों के संकेतों के सहारे बुद्ध ने अपने अनात्मवाद (सहेतुक परिवर्तनवाद) को यों समझाया है: "भिक्षुओ, यदि कोई ऐसा कहे कि वेदना मेरा आत्मा है तो उसे यों कहना चाहिये कि आयुष्मान् वेदना तीन तरह की होती है। सुख वेदना, दुःख वेदना, असुख अदुःख वेदना। इन तीन तरह की वेदनाओं में से किस तरह की वेदना को आप आत्मा समझते हैं? भिक्षुओ, जिस समय कोई सुख-वेदना की अनुभूति करता है उस समय उसे न तो दुःख वेदना की अनुभूति होती है, न असुख अदुःख वेदना की, उस समय उसे केवल सुख-वेदना की ही अनुभूति होती है। जिस समय कोई दुःख-वेदना की अनुभूति करता है, उस समय उसे न तो सुख-वेदना की अनुभूति होती है न असुख अदुःख वेदना की, उस समय उसे केवल दुःख वेदना की अनुभूति होती है। जिस समय कोई असुख-अदुःख वेदना की अनुभूति करता है, उस समय न उसे सुख-वेदना की अनुभूति होती है न दुःख वेदना की; उस समय उसे केवल असुख-अदुःख वेदना की अनुभूति होती है। भिक्षुओ, यह तीनों वेदनायें अनित्य हैं, संस्कृत हैं, प्रत्यय (कारण) से उत्पन्न हैं, क्षय होने वाली हैं, व्यय होने वाली हैं, विराग को प्राप्त होने वाली हैं, निरोध को प्राप्त होने वाली हैं। इन तीनों वेदनाओं में से किसी एक को भी अनुभूति करते समय यदि किसी को ऐसा होता है कि 'यह आत्मा है' तो फिर उस वेदना का निरोध होते समय उसको ऐसा होगा कि 'मेरा आत्मा बिखर रहा है।' इस प्रकार वह अपने सामने ही अनित्य, सुख दुःखमय, उत्पन्न तथा विनाश होने वाले आत्मा को देखता है। भिक्षुओ, यदि कोई कहे "मेरी वेदना आत्मा नहीं, आत्मा की अनुभूति नहीं होती, तो उससे पूछना चाहिए कि आयुष्मान्, जहाँ किसी की अनुभूति ही नहीं, उसके बारे में क्या यह हो सकता है कि मैं यह हूं। लेकिन भिक्षुओ, यदि कोई ऐसा कहे कि 'न तो मेरी वेदना आत्मा है और नहीं मेरे आत्मा की अनुभूति होती है, किन्तु मेरा आत्मा अनुभव करता है, मेरे आत्मा का स्वभाव=गुण है वेदना।' तो उससे पूछना चाहिए कि आयुष्मान् यदि सभी वेदनाओं का सम्पूर्ण निरोध हो जाए, कोई एक भी वेदना न रहे, तो क्या किसी एक भी वेदना के न होने पर ऐसा होगा कि यह (आत्मा) मैं हूँ।

"और भिक्षुओ, यदि कोई कहे कि 'मन आत्मा है' तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि मन की उत्पत्ति और निरोध दोनों ही दिखाई देते हैं, जिसकी उत्पत्ति और निरोध दोनों दिखाई देते हैं, उसे आत्मा मान लेने पर यह मान लेना होता है कि 'मेरा आत्मा उत्पन्न होता है और मरता है।' इसलिये 'मन आत्मा है'—यह ठीक नहीं है। मन अनात्म है।

"और भिक्षुओ, यदि कोई कहे कि धर्म (मन के विषय) आत्मा है, तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि

धर्म की उत्पत्ति और निरोध दोनों दिखाई देते हैं। 'जिसकी उत्पत्ति और निरोध दोनों दिखाई देते हैं, उसे आत्मा मान लेने पर यह मान लेना होता है कि 'मेरा आत्मा उत्पन्न होता है तथा मरता है, इसलिये 'धर्म आत्मा है'—यह ठीक नहीं है। धर्म अनात्म है।

"और भिक्षुओ, यदि कोई कहे कि 'मनोविज्ञान आत्मा है' तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि मनोविज्ञान की उत्पत्ति और निरोध दोनों देखे जाते हैं। जिसकी उत्पत्ति और निरोध दोनों दिखाई देते हैं, उसे आत्मा मान लेने पर यह मान लेना होता है कि 'मेरा आत्मा उत्पन्न होता तथा मरता है।' इसलिये 'मनोविज्ञान आत्मा है'—यह ठीक नहीं है। मनोविज्ञान अनात्म है।

"भिक्षुओ, यह कहीं अच्छा है कि वह आदमी जिसने सद्धर्म के नहीं सुना, चार भूतों से बने शरीर को आत्मा समझले, लेकिन चित्त को नहीं। वह क्यों? यह जो चार भूतों से बना शरीर है यह एक-दो-तीन-चार-पांच-छः और सात साल तक भी एक जैसा प्रतीत होता है, लेकिन जिसे चित्त कहते हैं—मन कहते हैं—विज्ञान कहते हैं वह तो रात के और ही उत्पन्न होता है तथा निरोध होता है और दिन को और ही।

"रूप नित्य नहीं, ध्रुव नहीं, शाश्वत नहीं, अपरिवर्तनशील नहीं। वेदन-संज्ञा-संस्कार विज्ञान नित्य नहीं, ध्रुव नहीं, शाश्वत नहीं, अपरिवर्तनशील नहीं।"[१८]

इस प्रकार बुद्ध की निगाह में सब कुछ परिवर्तनशील है, सब कुछ कारण से ही होता है। अकारण, आकस्मिक, नित्य, ध्रुव और कूटस्थ कुछ नहीं है। सहेतुक परिवर्तनशीलता का यह सिद्धान्त अनात्मवाद है। बुद्ध इस सिद्धान्त के प्रतिष्ठापित कर नित्य-अटूट या अटल समझी जाने वाली उन रस्सियों को तोड़ डालना चाहते थे, जिनसे अदृष्ट ने—देवता, परलोक, आवागमन आदि ने—मनुष्यों के बुरी तरह से बांध रक्खा था। इन रस्सियों के तोड़ बुद्ध उस प्रकार के विश्व का निर्माण करना चाहते थे, जिसमें स्वार्थमूलक संघर्ष न रहे तथा जिसमें स्व-पर-पीड़न का नाम-निशान न हो।

[चीन-भवन, शान्तिनिकेतन

१८—बुद्धवचन पृ० २७,२८,२६,२९

गीत

"विनोद"

संसृति में गति, गति में संसृति, गति जीवन की थाती।
दुख में सुख की छटा दिखाती।
पंकज लहरों में मुसकाता, दिनकर कान्त किरण से राता।
घोर तमिस्रा की रजनी में अपने आप सकुच सो जाता।
कोमल मधु गुलाब की कलिका काँटों में खिलती मुसकाती।
दुख में सुख की छटा दिखाती।
जीवन-ज्वार चढ़ी मद-फूली, मनसिज की माया में भूली।
वधुका अपने को बिसार जब, पीतम की गलबहियाँ झूली।
विवश वेदना ढोती, रोती, नव-जीवन को गोद खिलाती।
दुख मे सुख की छटा दिखाती।
दुख जीवन है, दुख यौवन है, दुख हरीतिमा मय मधुवन है।
दुख से ही सुख सहज सुहाता, दुख मानव-जीवन का धन है।
दुख की वह घन-गहन-निशा सुख के बालारुण को दुलराती।
दुख में सुख की छटा दिखाती।

नया नगर

प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त, एम० ए०

उस प्राचीन नगर के कक्ष में, उजड़े बीहड़ देश में एक नए नगर का जन्म हुआ है! क्रमशः एक-एक करके खंड-खंड पत्थरों से फूट कर तरु-लताओं से लहलहाते अनेक भव्य भवन उठे, और आकाश में उनके उन्नत मस्तक छा गए।

यह नई नगरी कांच और लकड़ी से बनी है। पत्थर इसमें नाम-मात्र को ही है। सुनहरी और नीले रेशमी पर्दों के पीछे इस रहस्यमयी पुरी का व्यापार छिपा है। इन मकानों की गोल, चमकती खिड़कियाँ पथारोहियों को घूर कर देखती हैं और अन्धकार में किसी जंगली बिल्ले की आँखों-सी जल उठती हैं।

यह टेढ़े-मेढ़े कुरूप भवन हमारे युग की आत्मा के अनुरूप ही बने हैं। वे इस युग की स्वर्ण मछली के लिए काँच का केस हैं।

इस नगरी में पुराने और नए का अपूर्व सम्मिश्रण है। पुराने खंडहर, पीपल और इमली के पुराने पेड़, कुएँ; और यह शोख़ी-भरे होटल, क्लब और बैठकें जहां रात भर जुआ चलता है।

× × ×

नए नगर के एक सिरे पर अमरूद के बाग़ में अब भी चरस चलता है। चूं-चूं चर-मर कर पानी खिचता है, बैल ज़ोर लगाते हैं, एक भारी प्रयास कर चरसवाला चमड़े के बड़े डोल को ऊपर खींच लेता है और पानी उलट देता है। यह पानी छोटी पतली नालियों में हो कर बाग़ भर में फैल जाता है और पेड़ों के फूल-पत्ती इस जीवनी-शक्ति को पाकर उल्लसित हो उठते हैं।

झोंपड़ी में बैठी बुढ़िया यह रहस्य देखती है, और नहीं देखती। बच्चे मेड़ पर बैठ कर गन्दा करते हैं और पेड़ से बँधा टीन खींच कर एक कोहराम मचा देते हैं। कौए भयभीत हो कर अमरूद के पेड़ों से कांव-कांव कर भागते हैं।

बमपुलिस से दुर्गन्धि उड़-उड़ कर हवा में फैलती है और इन ग्रामीणों के फेफड़ों में पहुँच कर उन्हें सड़ाती है।

बाग़ के नीचे कसाई ख़ाने के सुअर अपने कातर, कर्कश नाद से आसमान को गुंजा देते हैं। बाहर कुत्तों और मक्खियों की भीड़ चोरी और लूट की आशा से इकट्ठी होती है। कुछ ख़रीदार भी इकट्ठे होते हैं; टूटे, फटेहाल बूढ़े, बालक युवा जो बड़े यत्न से अपनी जेब के पैसे बार-बार टटोलते हैं। फिर किसी गन्दे झाड़न में हड्डी और गोश्त का कोई छोटा टुकड़ा आतुरता से घर ले जाते हैं।

सामने मैदान में गन्दा ढोने वाली अनेक गाड़ियाँ झुटपुटा होने की उम्मीद में खड़ी रहती हैं। इन्हें हम लोग 'टाइगर' कहते हैं, क्योंकि अँधेरा होते ही यह इस जंगल—से उजाड़ शहर में निकलती हैं और चतुर्दिक स्वच्छन्द विचरती हैं। इनके भय से रात में अकेला आता-जाता राहगीर नाक बन्द करके एक ओर दुबक जाता है। सुबह हम लोग सड़कों पर इन 'धावों' के छितराए मल-मूत्र को देखते हैं और समझ जाते हैं कि रात में 'टाइगर' यहां वन-क्रीड़ा में निमग्न थे।

मैदान से लगी ही मेहतरों की बस्ती है, ठीक उस सुन्दर, नए प्रासाद के सामने जहां स्त्रियों का अस्पताल है और जो नए नगर की सर्व सुन्दर इमारत है। पतली, कच्ची दुर्गन्धिपूर्ण गलियां। कीड़ों से बिलबिलाते बच्चे, कीं-कीं करते सुअर और कोई अर्द्ध-मानव जाति जो इस विषैले वायुमंडल में रह कर भी पनपती है!

कुछ ही दिनों में नए नगर के सुन्दर अवयवों पर पड़े ये धब्बे हटा दिए जायँगे और बीच-बीच का यह ग्राम-देश, यह अन्धकार भरी दुनिया आंख से ओझल हो जायगी। कहीं दूर ले जा कर इन मेहतरों,

कसाइयों, ग्वालों और पशुओं को बसाया जायगा। यह निचली दुनिया के प्राणी, पाताल-वासी सभ्य जग की सतह से नीचे छिप जायँगे।

तब यह नगर कितना गुलज़ार हो उठेगा!

× × ×

दूर तक लहलहाते हरे-भरे खेत, नए भव्य भवन, बांध पर अनेक बिजलियों से जगमग रेलगाड़ी के डब्बे, रात का आकाश! "तारों का नभ! तारों का नभ!"

नया नगर कितना आकर्षक है!

× × ×

सड़क के किनारे पान, सिगरेट, बीड़ी मूंगफली आदि की दूकान है, जहां आते-जाते बाबू लोग अपनी भूक-प्यास मिटा लेते हैं और कभी-कभी दूकान वाली को देख कर अपनी आंख भी सेक लेते हैं। वह जर्जर यौवना कभी रूपवती रही होगी, क्योंकि खँडहर बता रहे थे कि इमारत आलीशान थी। लेकिन अब मँहगाई और ग़रीबी ने अपनी कूँची उठा कर उसके मुंह पर कालिख पोत दी थी।

यह दूकान सड़क के तल से नीची है। इसके अन्दर आदमी सिर्फ़ उकड़ूं बैठ सकता है, न खड़ा हो सकता है, न चल-फिर सकता है।

दूकान वाली के बच्चे सड़क पर खेलते हैं दो-तीन-चार, कौन गिने! पशुओं की तरह अनसोचे ही वह जन्मते हैं और मर भी जाते हैं। पिछली बार जब एक छोटा बच्चा एक पलटन की लारी के नीचे दब गया, तो न जाने कहां से दूकान वाली का रोना फट पड़ा! उसका रोना रुकता ही न था! बहुत कुछ उसे समझाया गया: "रो मत, भगवान और देंगे!" वह सिसकियों के बीच कहती: "अभी तो वह हँस रहा था, खेल रहा था! और अब! हाय राम!"

× × ×

इस नगर में अनेक रूपवती स्त्रियां, युवक और चिर शान्ति के अभिलाषी हिमवान् बूढ़े सुबह शाम घूमने निकलते हैं। उनके हृदय संतोष से भर जाते हैं। यह भव्य भवन, यह नए ढङ्ग का फ़र्नीचर, यह रेशमी पर्दे, संगीत की मृदु गूँज, यौवन का उल्लास और अन्त में बुढ़ापे की बुझी ज्वाला! यह नर-नारी अपनी कल्पना के स्वर्ग में थे। उन्हें निर्वाण मिल चुका था।

वह युवक टेढ़ा हैट लगाए, मुंह पर पाउडर का हलका 'कोटिंग' दिए, सिगरेट के कश खींचता हुआ, 'शार्क स्किन' का सूट पहने...

वह युवती सुन्दर सिल्क की साड़ी पहने, शोख़ी भरी चाल से खट-खट कर पृथ्वी नापती, प्रकृति की ओर कटाक्ष करती, अपनी सुन्दरता से आप ही आतुर...

कितने सुन्दर हैं वे! कितने भाग्यवान हैं वे!

किन्तु इस स्वर्ग का धब्बा और कलंक वह मेहतरों का मुहल्ला! कीड़ों से बिलबिलाते और बर-साती मक्खियों की तरह पटापट मरते वे अर्द्ध-मानव! कितने कुरूप हैं वे! कितने अभागे हैं वे!

उस नए नगर के आलोक में छिपे वे दुर्गन्धि-पूर्ण गांव, वे अर्द्ध-पशु और पूर्ण-पशुओं की बस्तियां, मैदान में खड़ी वह सरेशाम निकलने वाली मैले की गाड़ियां—हमारे इस नगर-उपवन में स्वच्छन्द विचरने वाले वन-बिलाव—वे कीं-कीं करते सुअर आंखों के सामने एकबारगी आ जाते हैं।

इस नए सुन्दर अमीर-बाबू नगर में उनका क्यों स्थान है? इस प्रश्न का उत्तर हमें नहीं मिलता।

भारत में चीनी अध्ययन की प्रगति

प्रोफ़ैसर तान युन-शान

हिन्दुस्तान में विश्वभारती ही पहली युनिवर्सिटी है, जहाँ प्रारम्भ से ही चीनी साहित्य के अध्ययन का प्रबन्ध किया गया। फ्रान्स के मशहूर भारतीय-वेत्ता डाक्टर सिलवेँन लेवी विश्वभारती के पहले यूरोपीय आगन्तुक प्रोफ़ैसर थे, जिन्होंने सन् १९२२ में शान्तिनिकेतन में चीनी अध्ययन का काम शुरू किया। डाक्टर लेवी के काम को शान्तिनिकेतन के दूसरे इटालियन आगन्तुक प्रोफ़ैसर जी०तुस्सी ने आगे बढ़ाया। बाद में विश्वभारती के रिसर्च डिपार्टमेंट विद्याभवन में आचार्य विधुशेखर शास्त्री के तत्वावधान में फ़ान्ले से चीनी अध्ययन का काम शुरू हुआ। सन् १९२४ में स्वर्गीय गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर पीकिंग के विश्वविद्यालयों द्वारा संगठित व्याख्यान समिति के निमन्त्रण पर चीन गये। इस व्याख्यान समिति के अध्यक्ष प्रसिद्ध चीनी विद्वान स्वर्गीय लिआङ्ग चि-चाओ थे। गुरुदेव की इस यात्रा के अवसर पर एक प्रस्ताव रखा गया कि प्रसिद्ध चीनी प्रोफ़ैसर शान्तिनिकेतन आकर चीनी साहित्य के अध्ययन के काम को प्रोत्साहन दें और शान्तिनिकेतन के भारतीय आचार्य चीन आकर भारतीय अध्ययन के काम को आगे बढ़ाएँ। इसके अनुसार आचार्य विधुशेखर शास्त्री और एक दूसरे विद्वान को चीन भेजना तय हुआ, जो पीकिंग में जाकर संस्कृत पढ़ायें और चीनी का अध्ययन करें और श्री लियाङ्ग चि-चाओ का दूसरे चीनी विद्वानों के साथ शान्तिनिकेतन आकर चीनी साहित्य पढ़ाने और संस्कृत के अध्ययन करने की बात तय हुई। विश्वभारती में इन चीनी अतिथियों के ठहरने के लिये सेठ जुगलकिशोर बिड़ला ने एक अतिथिशाला बनाने के लिये बीस हज़ार रुपये का उदार दान दिया। पर अभाग्यवश यह प्रस्ताव अमल में न आ सका।

मुझ नाचीज़ को सन् १९२८ में पहली मरतबा भारत और विश्वभारती आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। शान्तिनिकेतन पहुँचने से पहले सिंगापुर में सन् १९२७ में स्वर्गीय गुरुदेव से मेरी भेंट हुई। विश्वभारती और वहां के चीनी अध्ययन के सम्बन्ध में गुरुदेव ने मुझे अपने विचार बताये। गुरुदेव ने मुझे बेहद प्रभावित किया और उनके विचारों से मुझे बहुत प्रोत्साहन मिला। मैंने अपनी तुच्छ सेवायें उनके चरणों में अर्पित कीं। प्रारम्भ में मेरी इस यात्रा का उद्देश्य भारत के बौद्ध तीर्थ स्थानों की यात्रा और

भारतीय धर्म और भारतीय दर्शन का अध्ययन था। किन्तु विश्वभारती के विद्या-भवन के आचार्य श्री विधुशेखर शास्त्री के आग्रह पर मैंने वहाँ पाँच विद्यार्थियों को लेकर शौक्त से एक चीनी क्लास खोल दी। इन पांच विद्यार्थियों में एक विश्वभारती पुस्तकालय के लाइब्रेरियन और प्रसिद्ध बंगला लेखक प्रोफ़ैसर प्रभात कुमार मुकर्जी थे। चीनी-भवन के आजकल के मेरे सहायक सुजीत कुमार मुकर्जी भी एक विद्यार्थी थे। किन्तु शान्तिनिकेतन का यह पहला चीनी क्लास नहीं था। इससे पूर्व एक दूसरे चीनी विद्वान श्री लिन दो वर्ष तक एक चीनी क्लास चला चुके थे। अपने क्लास के अतिरिक्त मैं विश्व-भारती के तुलनात्मक भाषाओं के प्रोफ़ैसर डाक्टर कालिन्स को चीनी धर्म ग्रन्थों के अध्ययन में भी मदद देता था। उन्हें लगभग पचास भाषायें आती थीं और चीनी भाषा भी उन्हें ख़ासी अच्छी आती थी। मैंने उन्हें 'लाओ-त्से का ग्रन्थ' और 'चार ग्रन्थ' नामक दो चीनी ग्रन्थ पढ़ने को दिये।

सन् १९३१ में मैं गुरुदेव के आदर्श और सन्देश से प्रोत्साहित हो कर चीन लौटा। मैं अपने देश के बड़े बड़े विद्वानों से मिला और मैंने उन्हें विश्वभारती के आदर्शों और काम का परिचय दिया और उनसे प्रार्थना की कि भारत और चीन के बीच के सांस्कृतिक सम्बन्ध की फिर से स्थापना के काम में वे मदद दें। मेरी इस प्रार्थना का लोगों ने आशा से अधिक समर्थन किया। सन् १९३३ में नानकिंग में 'सिनो-इण्डियन कलचरल सोसायटी' (चीन-भारती सांस्कृतिक समिति) नामक संस्था की स्थापना हुई। इस संस्था का उद्देश्य चीनी और भारतीय सभ्यताओं का मेल, सांस्कृतिक आदान-प्रदान, दोनों देशों के बीच मैत्री-भाव की स्थापना और विश्वशान्ति और मानव भ्रातृ-भाव के लिये मिलकर कोशिश करना था। चीन में इस संस्था की स्थापना के बाद मैं सन् १९३४ में दूसरी मरतबा शान्तिनिकेतन आया। गुरुदेव से मैंने अपने काम और चीन में इस संस्था की स्थापना की चर्चा की और हिन्दुस्तान में इस संस्था का सङ्गठन करना चाहा। गुरुदेव की सहायता और सलाह के प्रताप से इस देश में यह काम इतनी आसानी से हो गया, जितनी आसानी से चीन में भी न हुआ था। साइनो-इण्डियन कलचरल सोसायटी के सङ्गठन में गुरुदेव ने ख़ुद बहुत बड़ा हिस्सा लिया। इस देश में वही इस संस्था के प्रेज़िडेन्ट बने।

सिनो-इण्डियन कलचरल सोसायटी के प्रोग्राम के मुताबिक़ इसका सबसे पहला और सब से महत्व का काम शान्तिनिकेतन, विश्वभारती में 'चीन-भवन' का क़ायम करना था। इसलिये सोसायटी का सङ्गठन करने के बाद भी रुपया जमा करने के लिये और इस तरह की चीनी किताबें इकट्ठा करने के लिये जो इस तरह की संस्था के लिये बहुत ज़रूरी थीं मैं फिर एक बार उसी साल चीन वापस चला गया। इस काम को चीन में पूरा करने में मुझे एक साल से ज़्यादा लगा। जितने धन की ज़रूरत थी उतना तो मुझे नहीं मिल सका, लेकिन फिर भी काफ़ी धन मिल गया कि जिससे 'चीन-भवन' की इमारत बन सके और उसके लिये ज़रूरी साज सामान ख़रीदा जा सके। यह बड़ी ख़ुश क़िस्मती की बात थी। जहां तक चीनी किताबों का सम्बन्ध है मेरी आशा से ज़्यादा किताबें जमा हो गईं। चीन की सिनो-इण्डियन कलचरल सोसायटी ने एक लाख से ऊपर चीनी किताबें ख़रीद कर इस काम के लिये दीं। क़रीब पचास हज़ार किताबें दूसरे दोस्तों और प्रकाशकों ने भेंट कीं। इनमें से ज़्यादातर किताबों का विषय चीनी बौद्ध धर्म, चीनी पुराण, चीनी साहित्य, चीनी इतिहास और चीनी दर्शन हैं। ये पुस्तकें बड़े महत्व की और क़ीमती हैं। शान्तिनिकेतन के चीनी पुस्तकालय में जितनी तरह की और जितने अलग अलग मज़मूनों की किताबें हैं, उतनी चीन के ऊपर शायद ही किसी दूसरे पुस्तकालय में हों।

इस काम को करते ही सन् १९३६ में मैं तीसरी बार हिन्दुस्तान आया। जो कुछ धन और पुस्तकें जमा हो सकीं अपने साथ लेता आया। विश्वभारती ने तुरन्त 'चीन-भवन' की इमारत खड़ी करली

और उस भवन को चीनी-भारतीय अध्ययन का एक अलग महकमा बनाने की तय्यारियां शुरू कीं। चीन भवन का उद्घाटन स्व० गुरुदेव ने १४ अप्रैल सन् १९३७ को अपने हाथों से किया। उस दिन बंगालियों का नव वर्ष दिन था। पंडित जवाहरलाल नेहरू उस समय इण्डियन नैशनल कांग्रेस के सभापति थे। उन्होंने उस दिन के उत्सव में सभापति होना स्वीकार कर लिया था; लेकिन अचानक ज्वर हो जाने की वजह से वे न आ सके। उन्होंने एक ज़ोरदार और लम्बा सन्देश भेजा, जिसमें उन्होंने यह कहा कि—"आमतौर पर मुझे इस तरह ज्वर नहीं आता, इसलिये मैंने बड़ी ख़ुशी से और पूरे विश्वास के साथ इस महान समारोह में शामिल होने का वादा कर लिया था। यह समारोह जिस लम्बे भूत काल को हमें याद दिलाता है, उसकी दृष्टि से भी महान है और भविष्य के लिये जिस परस्पर सहयोग की ओर चीन और भारत को एक दूसरे के नज़दीक लाने की और उनमें नये नये सम्बन्ध क़ायम करने की हमें आशा दिलाता है, उनकी दृष्टि से भी यह महान है।" महात्मा गान्धी ने भी इन शब्दों में अपना आशीर्वाद भेजा—"मेरी ईश्वर से प्रार्थना है कि 'चीन-भवन' चीन और हिन्दुस्तान के बीच में जीवित और मूर्तिमान सम्बन्ध साबित हो।" इस तरह शान्तिनिकेतन में शान के साथ यह चीन-भवन क़ायम हुआ, जिसकी लोगों को बहुत दिनों से लगन थी। उसका नाम 'विश्वभारती चीन-भवन' रखा गया। एक साल बाद सन् १९३८ में मैं अपने देश वापिस गया और उससे अगले साल चौथी बार और आख़रीबार फिर शान्तिनिकेतन आया। चीन-भवन का सबसे बड़ा उद्देश्य यह है कि जो हिन्दुस्तानी विद्यार्थी और हिन्दुस्तानी विद्वान् चीनी भाषा, चीनी दर्शन, चीनी धर्म इत्यादि पढ़ना चाहें, उनके लिये सुविधायें पैदा की जांय और इसी तरह जो चीनी विद्वान् और चीनी विद्यार्थी विश्वभारतीय में रहकर हिन्दुस्तानी भाषाओं, हिन्दुस्तानी दर्शन और हिन्दुस्तानी धर्मों का अध्ययन करना चाहें, उनके लिये भी सुविधाएँ पैदा की जाँय। संस्कृत भाषा के कम से कम पांच हज़ार प्राचीन ग्रन्थ ऐसे हैं, जो अब मूल संस्कृत में नहीं मिलते लेकिन जिनके चीनी अनुवाद मौजूद हैं। हम इन सब ग्रन्थों का फिर से चीनी भाषा से अनुवाद कराने की तजवीज़ कर रहे हैं। इसी तरह हम संस्कृत से चीनी भाषा में और चीनी से संस्कृत और दूसरी आजकल की हिन्दुस्तानी ज़बानों में नई नई किताबों का अनुवाद कराने की सोच रहे हैं। इस बड़े काम के लिये हमने चीनी, संस्कृत, पाली, तिब्बती जैसी दूसरी भाषाओं का अध्ययन और एक दूसरे से मुक़ाबला करना शुरू कर दिया है। हम यह भी चाहते हैं कि प्राचीन इतिहास की पूरी तरह खोज करके हिन्दुस्तान और चीन के बीच जितना धार्मिक और सांस्कृतिक या दूसरी दूसरी तरह का सम्बन्ध जब जब हुआ, उस सब का पूरा पता लगावें। इन सब में बहुत धन, बहुत जन और बहुत समय की ज़रूरत है।

विश्वभारती चीन-भवन पिछले कई बर्षों से चल रहा है। मैं स्वीकार करता हूं कि अब तक हम बहुत कम काम कर पाये हैं। लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि हमने अपनी कोशिशों में कमी कमी नहीं की और हमने अपने काम की अच्छी बुनियादें डाल दी हैं। मुझे इस बात का पूरा विश्वास है कि हमारा भविष्य बहुत आशाजनक है। एक मशहूर चीनी कहावत है—"दरख़्तों को लगाने में दस साल लगते हैं और आदमियों को लगाने में सौ साल।" असली सांस्कृतिक अध्ययन और सांस्कृतिक शिक्षा में बहुत समय की ज़रूरत होती है। इस काम में हम किसी तरह जल्दी नहीं कर सकते। मैंने चीनी अध्ययन और शान्तिनिकेतन के विश्वभारती में 'चीन-भवन' के क़ायम होने की लम्बी कहानी इसलिये बयान की है ताकि हमारी शुरू की उन कठिनाइयों का पता लग जावे, जिनके दूर करने में हमें इतना समय लगा है।

इस देश में चीनी अध्ययन के लिये विश्वभारती सबसे पहली जगह है, लेकिन अब इस देश में और

जगहें भी हैं, जहाँ चीनी अध्ययन हो सकता है। जहाँ तक मुझे मालूम है कुछ साल से कलकत्ता यूनिवर्सिटी में भी चीनी भाषा इत्यादि पढ़ाने का इन्तज़ाम हुआ है। वहाँ यह काम मशहूर विद्वान् डाक्टर पी० सी० बागची की देखरेख में हो रहा है। अभी हाल में वहाँ का काम कुछ बढ़ाया गया है और चीन-भवन से मिस्टर टी० एफ़० चो नामक एक चीनी विद्वान वहां भेजे गये हैं ताकि वे कलकत्ता विश्वविद्यालय में इस काम को उन्नति दें। पश्चिमी भारत में पूना संस्कृत के अध्ययन के लिये मशहूर है। वहाँ भी चीन-भवन के मेरे पुराने मित्र और साथी मशहूर विद्वान् डाक्टर वासुदेव गोखले, जो इस समय फ़र्ग्युसन कॉलेज के रेक्टर हैं, कुछ और मित्रों और साथियों को लेकर चुपचाप लेकिन बड़े गम्भीर तरीक़े से बड़ी सफलता के साथ चीनी भाषा और साहित्य का अध्ययन कर रहे हैं। तिरुपति की 'श्री वेंकटेश्वर प्राच्य समिति' ने भी हाल में एक चीनी अध्ययन का केन्द्र खोला है, जिसके प्रबन्धकर्ता बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध आचार्य पण्डित एन० अय्या-स्वामी हैं। पण्डित अय्या स्वामी मेरी अनुपस्थिति में चीन-भवन के आचार्य थे। लाहौर की 'इण्टर नैशनल एकेडेमी आफ़ इण्डियन कलचर' भी डाक्टर रघुवीर की देखरेख में चीनी अध्ययन का काम शुरू कर रही है और इस काम के लिये चीन-भवन के श्री फ़ा चो उन्हें सहायता दे रहे हैं। आन्ध्र विश्व-विद्यालय में हालांकि चीनी अध्ययन का कोई ख़ास्ते का प्रबन्ध नहीं है फिर भी उन्होंने सन् १९३८ में मुझे आधुनिक चीनी इतिहास पर व्याख्यान देने के लिये बुलाया। दार्जिलिंग में रामकृष्ण मिशन के स्वामी अभेदानन्द के मित्र स्वामी अवेशानन्द चीनी अध्ययन में लगे हुये हैं। इसके अतिरिक्त और कई अज्ञात मित्रों ने मुझे चीनी अध्ययन के सम्बन्ध में लिखा है।

कुछ भारतीय मित्रों और संस्थाओं के अनु-रोध पर चीनी बौद्ध त्रिपिटक के शंघाई संस्करण के दस सेट मैंने जनरलिस्मो चियांग काइ-शेक से प्राप्त किये। इस संस्करण में १९१६ विविध पुस्तकों का संग्रह है, जो संस्कृत से चीनी में आईं किन्तु अब जिनकी मूल प्रतिलिपि संस्कृत में नहीं मिलती। हर सेट में ४१४ जिल्दें हैं। इन पुस्तकों में न केवल बौद्ध धर्म के अध्ययन के लिये व्यापक सामग्री है, बल्कि भारतीय संस्कृति, भारतीय धर्म, भारतीय दर्शन, इतिहास भूगोल आदि के अध्ययन के लिये भी यथेष्ट सामग्री है। इन सेटों को मैंने निम्नलिखित जगह बँटवाया है—(१) कलकत्ता यूनिवर्सिटी, (२) पटना यूनिवर्सिटी, (३) हिन्दू यूनिवर्सिटी, (४) आन्ध्र यूनि-वर्सिटी, वालटेर, (५) भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट पूना, (६) श्री वेंकटेश्वर ओरियण्टल इन्स्टिट्यूट, तिरुपति, (७) इण्टर नैशनल एकेडेमी आफ़ इण्डियन कलचर, लाहौर, (८) महाबोधि सोसायटी, सारनाथ, (९) बङ्गाल बुद्धिस्ट एसोशियेशन, कलकत्ता और (१०) चीन-भवन। मुझे खेद है कि और अधिक सेट इनके नहीं मिल सके वरना कई मित्रों और विश्वविद्यालयों ने मुझ से इन सेटों के लिये अनुरोध किया था। युद्ध के बाद ही अब कुछ और सेटों का प्रबन्ध हो सकता है।

इन सब बातों को देखते हुये यह मालूम होता है कि इस देश में चीनी अध्ययन के लिये काफ़ी प्रेरणा, उत्साह और माँग है। मुझे विश्वास है इन सेटों के उपहार के फलस्वरूप निकट भविष्य में चीनी अध्ययन की तरफ़ और अधिक उत्साह और दिल-चस्पी बढ़ेगी। यह न केवल चीन और भारत के लिये अच्छा लक्षण है, बल्कि सारे संसार का इसमें कल्याण होगा। क्योंकि दुनिया के इतिहास के इस ख़तरनाक मौक़े पर मानवता के लिये और संसार के लिये इससे अधिक कल्याण प्रद और कोई दूसरी बात नहीं हो सकती कि चीन और भारत एक दूसरे के अधिक निकट आयें और उनमें एक दूसरों को और अधिक समझने की भावना पैदा हो।

प्राचीन काल में अनेक चीनी भिक्षु और विद्वान् अध्ययन के लिये भारत आते थे और भारतीय ऋषि और मिशनरी प्रचार के लिये चीन जाते थे। इनमें

अधिकांश दोनों देशों की भाषाएँ जानते थे और दोनों देशों का अध्ययन करते थे। सब में मशहूर भारतीय जो चीन गये वे हैं—काश्यप मातंग, कुमार जीव और गुनरत। जो प्रसिद्ध चीनी भारत आये वे हैं—फ़ाहियान, हुएन-त्सांग और यि-त्सिंग। फ़ाहियान पहले चीनी विद्वान् थे जो भारत आये और उन्हें अपनी यात्रा में काफ़ी सफलता मिली। काश्यप मातंग पहले भारतीय थे जो चीन गये और वहाँ जाकर उन्होंने महान् बौद्ध धर्म का ज़ाब्ते से परिचय कराया। कुमार जीव और गुनरत दो महान् भारतीय अनुवादक थे जिन्होंने बौद्ध ग्रन्थों का संस्कृत से चीनी में अनुवाद किया। कुमार जीव ने ९४ और गुनरत ने ६४ पुस्तकों का चीनी में अनुवाद किया। हुएन-त्सांग और यि-त्सिंग बौद्ध त्रिपिटक के बहुत मशहूर चीनी अनुवादक थे। हुएन-त्सांग भारत से ६५७ पुस्तकें ले गये थे, जिनमें से ७३ पुस्तकों का उन्होंने स्वयं अनुवाद किया। यि-त्सिंग भारत से लगभग ४०० पुस्तकें ले गये जिनमें से ५६ पुस्तकों का उन्होंने स्वयं अनुवाद किया। यह न केवल चीनी संस्कृति की महान् प्राप्ति है, बल्कि दुनिया की सभ्यता के इतिहास में अनोखा कारनामा है। भारतीय और चीनी सन्त और विद्वानों ने अपने अनन्त श्रम और महान् काम से चीन और भारत दोनों देशों के बीच आश्चर्यजनक और गहरी सांस्कृतिक मित्रता क़ायम की थी। वे एक दूसरे से प्रेम और आदर के साथ मिलते थे। सम्माननीय मित्रों की तरह वे आपस में शुभकामनाओं का आदान प्रदान करते थे। उनके आपसी सम्बन्ध में लेशमात्र भी स्वार्थभावना न थी। उनकी भावना, उनका व्यवहार, उनके शब्द और उनके काम सब शुद्ध सांस्कृतिक और धार्मिक थे।

दुर्भाग्यवश, महान् दुर्भाग्यवश भारत और चीन का यह आपसी सम्बन्ध धीरे धीरे विस्मृति के गर्त में चला गया। पिछली कई शताब्दियों में हमारे दोनों देशों के बीच आपसी सम्बन्ध का रास्ता अन्धकार और अवज्ञा के कूड़ा कर्कट से भरा हुआ था। अब हमारा कर्तव्य है कि हम न केवल अपने पुराने रास्ते पर वापस आयें, नये सन्देशग्राहकों के लिये नये रास्ते बनायें। हमें न केवल अपना पुराना सम्बन्ध फिर से स्थापित करना है बल्कि दोनों देशों की जनता के बीच नया मैत्री-भाव और नये सम्बन्ध का सृजन करना है। भारत में इस समय जो चीनी अध्ययन का प्रयत्न चल रहा है वह महान घटनाओं के आगमन की केवल भूमिका है।

ममता

श्रीमती कमला देवी चौधरी

"बिदा दो ममते मुझे जाना है साधना-मन्दिर में मेरी पुकार है—"स······त्य !"

इतना संक्षिप्त प्रश्न करते-करते स्तब्ध रह गई ममता। उस स्तब्धता ही से साधनार्थी स्नेह से परि-पूर्ण हो उठा—धीरे से पीठ थपथपाते हुये उसने कहा—"हाँ सत्य !"

साधनार्थी की आँखों में मूर्त ममता ने देखा—दृढ़ता, कर्मनिष्ठा और किंचित अनुराग के साथ ही कुछ जिज्ञासा भी है—जैसे वह ममता के अन्तर को टटोल कर देखना चाहता है—उसके अन्दर मेरी साधना के प्रति अगाध श्रद्धा अतिरिक्त कुछ और तो नहीं है।

ममता तुरन्त ही सावधान हो गई, उस छोटे प्रश्न—"सत्य" में उसने भारी चतुराई से परिवर्तन दिखा दिया—"सत्य साधना करने जाते हो ओह !······"

वह मुसकराने लगी। सर्वाङ्ग में प्रसन्नता भर कर शब्दों में ओज, उत्साह भर कर, वह साधक की साधना के प्रति अपनी अगाध श्रद्धा, भक्ति, आदर, सम्मान, अनुपम अनुराग, अकथनीय प्रफुल्लता की चेष्टाएँ प्रकट करने लगी। साधक की कर्मनिष्ठा के प्रति गर्व, अभिमान और उसकी विदा के लिए आतुरता, तत्परता। वह स्तब्धता, तटस्थता में परिणत हो गई।

शंकित साधनार्थी आश्चर्य चकित और मुग्ध हो उठा। आँखों के सम्मुख वह तन-मन-प्राण रखनेवाली जीवित प्रतिमा उसकी साधना की, कर्मनिष्ठा की साक्षात श्रद्धा रूपी प्रतिमा है। किन्तु न जाने क्यों इस समय साधनार्थी इस प्रतिमा की कर्मनिष्ठा पर गर्व न कर सका। उसका मन कुछ टूटने-सा लगा। शरीर में रोमांच होने लगा। बिदाई की तटस्थता में कुछ शिथिलता आने लगी। परन्तु ममता की तटस्थता, और तत्परता ने साधनार्थी के उन भावों को प्रकट होने का अवसर नहीं दिया। आदर से श्रद्धा युक्त दोनों हाथ उठा कर उसने प्रणाम किया। और जैसे इस प्रकार विदा की अन्तिम क्रिया समाप्त हो गई।

अब विलम्ब के लिए स्थान शेष नहीं था। उसी का अनुकरण करके साधनार्थी ने लक्ष्य मार्ग की ओर मुख फेरा; किन्तु विलम्ब के आकांक्षित मन को एक साधन सूझ गया—"आओ ममते तुम भी मेरे साथ मार्ग का अवलम्बन करो।"

इस आदेश के विरुद्ध ममता कोई चेष्टा कैसे करे। साधक ने प्रसन्न हो कर अपनी श्रद्धा की प्रतिमा को वरदान दिया है। इससे उपयुक्त उसके लिए और क्या गौरव, क्या प्रसाद, क्या प्राप्ति हो सकती है! उसके अन्तर की श्रद्धा आज धन्य हो गई है। फिर भी ममता की क्षण भर पहले की प्राप्त की हुई चेष्टायें उसी के अन्तर के छिपे हाहाकार में विलीन होने लगीं; वह चुपचाप साधनार्थी के साथ चलने लगी।

साधनार्थी क्या जाने—उसने अपने मन, प्राण, आत्मा, शरीर, सब के अणु-अणु से सम्पूर्ण शक्ति खींचकर विदाई के अन्तिम क्षण तक के लिए विद्युत गति उत्पन्न की थी। अब तो वह गति दीपक की अन्तिम लौ की भांति समाप्त होना चाहती है। साधक तुम्हारे वरदान को सहेजने के लिए वह अब इस निधि का कहां से संचय करे।

(२)

मार्ग ही में अवस्थायें विपरीत हो गईं। साध-नार्थी ने क्षणिक उत्पन्न हुए अपने उद्वेग को, साधना को, उपेक्षित करनेवाले स्नेह रूपी मोह को, अनुराग, करुणा को संयमित करके अपने को कर्मनिष्ठा के प्रति तटस्थ, दृढ़ और अटल कर लिया।

और ममता के त्रास ने, आतंक ने उसकी सारी गति, प्रगति, सारी संचित शक्ति पर आतंक जमा कर उसे उसी अस्फुट—"ह···र···य ! प्रभावली अवस्था में पहुंचा कर मुख का अवगुण्ठन उघार दिया। हृदय का परदा उलट दिया। साधनार्थी ने भलीभाँति जान लिया—ममता के पास उसके प्रति अपार श्रद्धा है। आदर सम्मान भक्ति सब कुछ है। उसकी श्रद्धा का पात्र, साधक अपनी साधना आराधना में, कर्मनिष्ठा में अविचल रहे, अग्रसर रहे। अपनी कर्मनिष्ठा की अपूर्व प्रतिभा से श्रद्धा के इतना दान दे कि उसका हृदय परिपूर्ण हो जाय। परन्तु इन सब के अंतरङ्ग में जो कुछ छिपा है; उससे वह अपने नाम ही को अधिक सार्थक करती प्रतीत होती है।

हाँ, उस सार्थकता के वशीभूत होकर वह साधक की साधना को निरर्थक करना नहीं चाहती। वह नहीं चाहती कि उसके नाम की अनुरूपता साधनार्थी के हृदय में इस प्रकार चमत्कृत हो उठे कि उसकी कर्मनिष्ठा के मार्ग का रोड़ा बने। यह सब कुछ सही, फिर भी साधनार्थी ने भली भाँति देख लिया—"ममता" ममता है !

साधना स्थल पर पहुंच कर और अपने संयम में सब कुछ डुबाते हुये साधनार्थी ने अपने गले में लटकती चादर के छोर से ममता की आँखें पोंछ दीं। और ममता की इस असंयित अवस्था पर, उसके हृदय की धड़-धड़ करने वाली स्नेह, प्यार, अनुराग, प्रेम, ममता, वात्सल्य, अनुताप, संताप, करुणा, पीड़ा, विह्वलता असहनशीलता, कर्तव्य-हीनता, अस्थिरता जैसी अनेकों चेष्टाओं पर दयार्द्र होकर वह मुसकरा उठा। और नम्रता से कहा—"तुम लौट जाओ ममते, यह मार्ग बड़ा कठोर है।" "मेरी चिन्ता न करना, अच्छा विदा।"

साधनार्थी ने साधना-मन्दिर के पट बन्द कर लिए। ममता लौट नहीं सकी। वह अपने मन रूपी पारावारा के उमड़ते तूफ़ान को रोकती हुई वहीं द्वार पर बैठ गई।

(३)

स्वप्न की भाँति ममता को भास हुआ—साधनार्थी साधना स्थल में पहुँच कर भी उसकी पूर्णता को नहीं पा रहे हैं। मन्दिर के पट जिस प्रकार कठोरता से जकड़ दिये हैं हृदय के पट उस प्रकार बन्द नहीं होते हैं। आँखें मूंदे वे पूर्णतः साधना में तन्मय हो जाना चाहते हैं; किन्तु ध्यान में विचलित हो रहे हैं।

ममता सोचने लगी—"इस साधना की परिपूर्णता प्राप्त करने के लिए साधक ने कितने कष्ट सहे हैं। कैसी कैसी घोर विपत्तियों का सामना किया है। अपने जीवन के बहुमूल्य दिन और जीवन की सुनहरी घड़ियाँ सब इसी साधना पर न्योछावर कर दी हैं। अन्तरजगत की कोमल स्निग्ध-चेष्टाओं को ढूंढ़-ढूंढ़ कर विसर्जन किया है। अपूर्व त्याग से संयम की पराकाष्ठा ढूंढ़ी है। फिर भी आज एक रस होकर वे अपनी इसी ध्येय रूपी साधना में पूर्णतः लीन हो जाँय, ऐसी बात नहीं बन रही है।

ममता को मानो अवसर मिल गया। उसने मन्दिर के पट ज़ोर से खड़खड़ा दिये—सुनो—सुनो साधक मेरी एक बात सुन लो, अब मैं जा रही हूँ।

साधनार्थी ने द्वार खोल दिया—दूर ही से हाथ जोड़कर ममता ने कहा—साधक, मैं धर्म, कर्म, पूजा, पाठ, ध्यान, योग्य, जप, तप, पाप, पुण्य कुछ नहीं जानती। तुम्हारी साधना को अपना जीवन आदेश मानकर उसका पालन करने के लिये श्रद्धा को अपना इष्ट बनाया था। उसमें सफलीभूत होने के लिये मैं अपने को सर्वथा शून्य निस्पन्द करने की चेष्टा में रत थी; किन्तु मैं सफलीभूत नहीं हो सकी। साधक ! मेरे नाम ने अपना अस्तित्व मेरे अन्तर से मिटने नहीं दिया, बल्कि मेरे अन्तर के भीतरी सतह में समाकर जैसे वह सर्वोपरि बनकर रहना चाहता है। मेरी हार का वह दृश्य तुमने देख ही लिया है। फिर भी मेरे लिये यह कठोर आदर्श; मेरी चिन्ता न करना !

साधनार्थी फिर भी मूक स्तब्ध खड़ा ममता की ओर टुकुर-टुकुर निहारता रहा। यह मूकता ममता के लिये असह्य हो उठी।

वह रो उठी—"यह कठोरता की चरम सीमा है साधक! और उसने जिज्ञासापूर्ण दृष्टि साधक के मुख पर डाली। मानो कहती हो—अपने अन्तर को टटोल कर उत्तर दो। यह कठोरता ग्रहण करना क्या तुम्हारे ही वश की बात है? क्या तुम्हारे मन में विजय ही विजय है। पराजय का किंचितमात्र भी अंश नहीं है?

ममता ने देखा—साधनार्थी की आँखें सजल हो आई हैं। उसका हृदय धक से हो गया। कहीं साधक की साधना डगमगा न जाय।

किन्तु ममता सन्तुष्ट हो गई, उसे अब अपनी हार पर लाज नहीं है—ग्लानि नहीं है। उन सजल आँखों में उसने देख लिया—उसी की भांति साधक की भी हार हुई है।

किन्तु वह नहीं चाहती, कदापि नहीं चाहती—यह हार साधक की कर्मनिष्ठा पर प्रहार करके अपनी विजय-घोषणा करे।

ममता अपनी मोह को खींचती हुई और श्रद्धा को बखेरती हुई भाग चली—अब द्वार बन्द कर लो साधक, ईश्वर तुम्हारी कार्य्यनिष्ठा में सहायता करें। मैं जाती हूँ तुम अपनी साधना में तन्मय रहो।

कर्मनिष्ठा का भार समझते हुए साधक शिथिल-सा आसन पर बैठ गया और सोचने लगा—मानवता के लिये शायद वही राह अनुकूल है जिस पर ममता भागी जा रही है।

चाह उस क्षण की

श्री सुधीन्द्र एम० ए०

क्या करूँ मैं चाह उस क्षण की?
मृत्यु मुझको जब मिलेगी गोद अमरण की?

श्वास दो बजती रहेगी वेणु मेरी,
स्पर्श दो सजती रहेगी रेणु मेरी,
दो प्रबल आघात पग का,
गा उठे अवसाद मग का,
किन्तु यदि छाया न दोगे निज चरण की,
जा छिपेगी चरण में झंकार जीवन की!

झलक दो सुषमित बनेंगे चित्र मेरे,
रूप दो तो बने ध्यान पवित्र मेरे,
प्रेम का दो एक मधु क्षण,
हो उठे उद्गार मधुकण
किन्तु पूछोगे न यदि पल बात मन की,
हृदय लेगी बाँध मर्म-पुकार क्रन्दन की!

स्मरण दो तो हार भी आनन्द होगी,
मधुर चिरतवन ही मिलन का छन्द होगी,
बाहु यदि अपने बढ़ाओ—
ये चिरन्तन दुख मिटाओ,
किन्तु यदि आशीषवाणी दो मरण की,
मुक्ति पा लेगी मुक्ती में मुक्ति बन्धन की!

अन्न-कष्ट दूर करने का उपाय

श्री भीष्म आर्य

आज देश की अन्न-समस्या निराशा जनक है। बंगाल की स्थिति तो अकथनीय है। साधारण दिनों में ही बंगाल में अन्न की कमी रहा करती थी और अपनी कमी पूरी करने के लिए उसे बर्मा से चावल मँगाना पड़ता था। बर्मा पर जापानियों का क़ब्ज़ा हो जाने से वह आशा भी समाप्त हो गई। बर्मा से सहायता मिलना बन्द हो जाने के कारण बङ्गाल को अब बिहार, उड़ीसा, संयुक्त प्रान्त और मध्य प्रान्त पर, जहां दूसरे प्रान्तों में भेज सकने के लिए ख़रीफ़ की फ़सल होती है, निर्भर रहना पड़ता है; किन्तु इन प्रान्तों में भी इस वर्ष ख़रीफ़ की फ़सल दुर्भाग्यवश नष्ट हो गई। फलतः बङ्गाल की खाद्य-समस्या जटिल-तम हो गई और लाखों की संख्या में लोग क्षुधा-रोग से मर रहे हैं, मां बच्चों को बेच रही हैं, पति पत्नियों को बेच रहा है और लोग प्रति क्षण मौत से खिलवाड़ कर रहे हैं। स्थिति यहां तक ख़राब हो गई कि केन्द्रीय सरकार को भी स्थिति सुधारने की योजनाओं पर विचार करना पड़ा। दिल्ली, और पञ्जाब में खाद्य-सम्मेलनों का तांता-सा लग गया है, किन्तु इनका कोई फल निकलता दिखाई नहीं देता और समस्त देश में व्यापक रूप से कार्यान्वित करने के योग्य और वर्तमान अन्न-कष्ट दूर करने के योग्य कोई सम नीति-निर्धारण असम्भव सा ही दिखाई दे रहा है। केन्द्रीय सरकार ने तथाकथित नियन्त्रण-नीति प्रान्तीय सरकारों के हाथ में सौंप दी है और जिन प्रान्तों में अधिक अन्न उत्पन्न होता है, वहां से कम अन्न उत्पन्न होने वाले प्रान्तों के लिए अन्न भेजने की व्यवस्था भी अपनी सुविधा के अनुसार करने की अनुमति प्रान्तीय सरकारों को दे दी है। केन्द्रीय सरकार ने खाद्य-स्थिति सुधारने की दीर्घकालीन योजना कार्यान्वित करने का भार अवश्य ही अपने ऊपर ले लिया है। बङ्गाल में सिंचाई की त्रय-वार्षिक योजना के लिए केन्द्रीय सरकार ने ३६ लाख रुपये की सहायता देना स्वीकार किया है। इस योजना के अनुसार यदि बङ्गाल सरकार भी १ करोड़ ७२ लाख रुपया ख़र्च करना स्वीकार करे, तो बंगाल की अन्न-उत्पत्ति बढ़ाने के लिए इतनी ही रकम और ख़र्च होगी। निस्सन्देह केन्द्रीय सरकार का यह कार्य सराहनीय है; किन्तु इतने से वह देशव्यापी नियन्त्रण योजना कार्यान्वित करने के अपने उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं हो सकती। केन्द्रीय सरकार द्वारा बिना किसी केन्द्रीकरण के अपने आप नियन्त्रण की योजना प्रान्तीय सरकारों द्वारा कार्यान्वित किये जाने की अपेक्षा, इस बात की आवश्यकता अधिक है कि केन्द्रीय सरकार ही सारा भार अपने ऊपर ले ले। इसी कारण से आज बंगाल में कहीं कहीं ८० रुपया मन चावल मिल रहा है, जब कि उड़ीसा और मध्य प्रान्त में १० रुपया मन मिलता है। जबकि पञ्जाब में ९।।) मन गेहूं मिले; उस समय वही गेहूँ बंगाल में २५) मन मिले, क्या यह स्थिति लज्जा जनक नहीं है?

यदि यह मान लिया जाय कि १९३७ से १९३९ तक जन-संख्या में ५ प्रतिशत की वृद्धि हुई है, तो यह भी स्वीकार करना ही पड़ेगा कि उस समय होनेवाली अनाज की खपत ५ करोड़ ३४ लाख ७४ हजार टन से बढ़ कर १९४२-१९४३ में ५ करोड़ ६१ लाख ४४ हज़ार टन हो गई है। यदि अन्न प्राप्ति के समस्त साधनों का भी उपयोग कर लिया जाय, तो भी ५ प्रति शत कमी बनी ही रह जायगी। यदि संघटित भारत के अङ्गों के रूप में विभिन्न प्रान्त इस कमी को बांट लें तो वह पूरी हो जायगी।

दीर्घकालीन योजना क्या हो?

यदि जनता का कष्ट दूर करना है तो उसके लिये यह भी आवश्यक है कि तात्कालिक योजना के साथ

ही साथ दीर्घकालीन योजना भी बनाना आवश्यक है। युद्ध के पूर्व भी देश की कृषि-समस्या उपेक्षित ही थी। कृषि-व्यवसाय ह्रास की अवस्था में था और खेतों की उत्पादन-शक्ति पर उसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ रहा था। यदि उसी समय कृषि-सम्बन्धी अनुसन्धान किये गये होते और खेतों की उत्पादन-शक्ति बढ़ाने की योजनाएँ कार्यान्वित की गई होतीं, तो आज का संकट ही उत्पन्न न हुआ होता। इंगलैण्ड ने भी, जो अन्न के लिए सदा दूसरे देशों पर ही निर्भर रहा है, युद्धारम्भ के एक वर्ष के भीतर ही अपनी कृषि-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन कर ऐसी स्थिति उत्पन्न कर ली, जिससे उसे दूसरे देशों का कम से कम मुहताज बनना पड़े। किन्तु भारत में हम लोग इसी बहकाव में फूले बैठे रहे कि हमारे देश में अन्न की भरमार है और सदा हमारे पास अन्न का अतिरिक्त भण्डार भरा रहेगा। यहाँ कोई भी दीर्घकालीन योजना—बेकार पड़ी भूमि जोतने की योजना भी—कार्यान्वित नहीं की गई। हमारे देश में क़रीब ४७ लाख एकड़ ज़मीन ऐसी है जो बंजर पड़ी रहती है, ९७ लाख एकड़ परती पड़ी रहती है, और ८९ लाख एकड़ कृषि के लिए अप्राप्य है। परती ज़मीन में से ९ लाख एकड़ निश्चित रूप से कृषि के योग्य नहीं है। बंगाल में साधारणतः बहुत कम लोग ऐसे होंगे, जिनके पास खाली और बेकार ज़मीन पड़ी हो। किसी न किसी रूप में लोग चप्पा-चप्पा ज़मीन का उपयोग कर डालते हैं। इसलिए अच्छा तो यह होता कि बेकार पड़ी ज़मीन का उपयोग करने का उपदेश देने के बजाय कृषि के अनुपयुक्त भूमि को उपयुक्त बनाने का प्रयास किया गया होता, जिससे देश की अन्न-समस्या बहुत कुछ दूर करने में सहायता मिलती। सरकार को चाहिये कि वह बेकार ज़मीनों को ख़रीद ले और बाद में लगान की दर बढ़ाकर ज़मीन ख़रीदने में ख़र्च रक़म वसूल कर ले। आँकड़ों पर विचार करने पर हमें जो निराशा की झलक मिलती है, वह यह है कि जबकि सिंचाई के क्षेत्र में वृद्धि हुई है, बंजर और परती ज़मीनों में कमी होने के बजाय उन खेतों में भी कमी हो गई है, जिनमें फ़सल बोई जाती है। १९३०–३१ में २ करोड़ २९ लाख एकड़ ज़मीन में फ़सल बोई गई थी, किन्तु १९३९–४० में २ करोड़ १० लाख एकड़ ज़मीन ही रह गई। सिंचाई का क्षेत्र ४९ लाख एकड़ से बढ़कर ५४ लाख एकड़ हो गया है।

इससे प्रकट होता है कि देश की कृषि-व्यवस्था के दोष बहुत भीतर तक घुस गये हैं और १९३० तथा उसके बाद के अर्थ-संकट काल के फल हैं। इसलिये यह आवश्यक है कि फ़सल बोये जाने वाले खेतों के क्षेत्र में और अधिक विस्तार किया जाय। इसके लिये यदि आवश्यक हो तो जूट की खेती भी कम कर दी जाय। जूट की खेती में इस वर्ष ३ लाख एकड़ की कमी हुई है, किन्तु 'अधिक अन्न पैदा करो' आन्दोलन के लिए इसमें और कमी की आवश्यकता है। जूट की खेती में कमी के साथ साथ देश के *बाहर बड़े परिमाण में अनाज का निर्यात बन्द कर* दिया जाय।

विचारणीय विषय

अनाज का निर्यात बन्द करने के साथ साथ यह भी आवश्यक है कि विदेशों से भी बड़े परिमाण में अन्न का आयात किया जाय। आस्ट्रेलिया में बहुत बड़े परिमाण में गेहूँ पैदा हुआ है। वह बिना किसी असुविधा के भारत को गेहूँ भेज सकता है। इस सम्बन्ध में शीघ्रातिशीघ्र आस्ट्रेलिया की सरकार से भारत सरकार को बातचीत करनी चाहिये। इस समय सभी प्रान्तीय सरकारों ने, चाहे उनके प्रान्त में आवश्यकता से अधिक अन्न उत्पन्न होता हो, चाहे कम, समान रूप से अपने प्रान्तों के बाहर अनाज भेजने पर रोक लगा दी है। इसके फलस्वरूप अव्यवस्था और अनियन्त्रण उत्पन्न हो गया है। इसलिये यह आवश्यक है कि देश के विभिन्न प्रान्तों के बीच, परस्पर हित के लिये अन्न की आवाजाही अबाध रूप से हो और केन्द्रीय सरकार यह ध्यान में रखे कि उक्त आवाजाही ठीक से होती है या नहीं।

वर्तमान खाद्य-संकट का एक कारण यह भी मालूम होता है कि सरकार सीमित संख्या में व्यापारियों को लाइसेन्स दे रही है। इसका यही अर्थ लगाया जा सकता है कि सरकार ने लाइसेन्सों की संख्या सीमित कर धनी व्यापारियों की लाभ उठाने की शक्ति में वृद्धि कर दी है और इन धनी व्यापारियों का अन्न के व्यापार पर एकाधिपत्य हो रहा है। यदि बिना किसी रोक थाम के लाइसेन्स बाँटे गये होते, तो व्यापार में बहुत अच्छी प्रतिद्वन्द्विता होती और इस से मूल्य वृद्धि रुक गई होती। बङ्गाल में अन्न एकत्र करने वालों के विरुद्ध हाल में की गई कार्रवाई के सम्बन्ध में कुछ कहना अनावश्यक है।

मुद्रा-वृद्धि रोकना भी आवश्यक

यह कम महत्व की बात नहीं है कि मुद्रा-वृद्धि की दृष्टि से इस प्रश्न पर अब तक सरकार ने विचार करना आवश्यक नहीं समझा और न इस ओर उसका ध्यान ही आकृष्ट हुआ। मुद्रा-वृद्धि का जो परिणाम अब स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगा है, उससे यह निश्चित रूप से सिद्ध हो जाता है कि जब तक मुद्रा वृद्धि पर रोक नहीं लगा दी जाती, तब तक खाद्य-संकट संतोष जनक रूप से दूर नहीं किया जा सकता। प्रोफ़ैसर सी० एन० वकील का यह कथन पूर्णतया सत्य है कि 'व्यवसाय-विभाग मूल्य-नियन्त्रण में तब तक निश्चय ही विफल होता रहेगा, जब तक अर्थ-विभाग अबाध रूप से मूल्य-वृद्धि की नीति बरतता रहेगा।' उनका यह भी कहना है कि जब तक मुद्रा-वृद्धि जारी रहेगी, तब तक अन्न इकट्ठा कर छिपा कर रखने वालों को इस बात के लिए प्रोत्साहन मिलेगा कि वे चीज़ों का मूल्य मनोनुकूल होने तक और तब तक, जब तक अपनी चीज़ के लिए अधिक से अधिक मुनाफ़ा न मिले माल छिपाये रखें। हाल में ही गेहूँ पर से नियन्त्रण उठा लिया गया है और उससे ही पता चल जाता है कि हवा का रुख किस ओर है। सरकार ने अपनी इस कार्रवाई का कारण जनता को नहीं बताया, यद्यपि इस सम्बन्ध में उसे सारी बात जनता को बता देनी चाहिये थी। इससे यह मान लेना अनुचित न होगा कि सरकार ने इसके द्वारा निश्चय ही यह स्वीकार कर लिया है कि वह मुद्रा वृद्धि के कारण मूल्य में होने वाली वृद्धि को रोकना चाहती है। इसी स्थिति से लाभ उठा कर अढ़तिये अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न होने तक के लिए अपना माल रोक रखना चाहते हैं। दुर्भाग्यवश सरकार ने गम्भीरता पूर्वक मुद्रा वृद्धि की समस्या पर विचार करना आरम्भ नहीं किया है और न उसने यही स्वीकार किया है कि मुद्रा वृद्धि बहुत बुरी तरह से हो रही है।

केवल सरकार ही नहीं बल्कि व्यापारियों के भी बहुत से नेता अभी तक इसी भ्रम में हैं कि देश में मुद्रा-वृद्धि नहीं हो रही है। कुछ दिनों पहिले सर चुन्नीलाल बी० मेहता ने एक वक्तव्य में यह सिद्ध करने का कष्ट उठाया था कि किसी भी प्रकार मुद्रा-वृद्धि नहीं हो रही है। उनका वक्तव्य प्रकाशित होते ही प्रोफ़ैसर अडारकर ने सर चुन्नीलाल की बहुत सी भूलों का पता उन्हें बता दिया। उनका कहना है कि सर चुन्नीलाल ने 'बंकों में जमा रकम और पूंजी' दोनों का एक ही अर्थ लगा कर घपला कर दिया है। सर चुन्नीलाल का यह भ्रम है कि 'डिफेन्स लोन' और 'ट्रेजरी बिल' मुद्रा-वृद्धि पर रोक-थाम किये हुए हैं, यह स्वभाविक है कि बड़े-बड़े व्यापारियों को मुद्रा वृद्धि के कारण होने वाली मूल्य-वृद्धि से प्रसन्नता हो, जैसा कि प्रोफ़ैसर सी० एन० वकील का कहना है कि मूल्य-वृद्धि व्यापारियों के लिये उन्नति का पथ-प्रदर्शक है, किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि यह दौलत केवल 'काग़ज़ी दौलत है', देश की आर्थिक स्थिति अधिक से अधिक बिगाड़ कर ही वे सम्पत्ति कमाते हैं।

कुछ घटनाओं से यह सिद्ध हो जाता है कि मुद्रा वृद्धि के कारण वस्तुतः कितना संकट उत्पन्न हो गया है। अर्थशास्त्र का कोई भी विद्यार्थी इन घटनाओं की ओर से उदास नहीं रह सकता। अर्थशास्त्र के बहुत से विद्वानों ने यह सिद्ध कर दिया है कि उत्पादन

में जब कि केवल २० या ३० प्रतिशत की ही अपर्याप्त वृद्धि हुई है, उस समय काग़ज़ी मुद्रा में २१८ प्रतिशत की वृद्धि से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि देश की मुद्रा-वृद्धि की समस्या कितनी जटिल हो गई है। इस कारण से कि यह मुद्रा-वृद्धि सरकार के आय-व्यय से सम्बद्ध नहीं है, इस प्रश्न का निपटारा करना अवश्य ही कठिन हो गया है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि सरकार पर इस बात का दोष मढ़ा जा सकता है कि वह अपने युद्ध-व्यय के लिए नोट छापे जा रही है। इसी तर्क के कारण लोग तुरन्त यह मान बैठते हैं कि देश में मुद्रा-वृद्धि है ही नहीं। वे यह नहीं जानते कि मुद्रा-वृद्धि ने बिलकुल दूसरे ही ढङ्ग से अपना प्रभाव दिखाया है। इस देश में ब्रिटेन और मित्र-राष्ट्रों की सरकार जो कुछ ख़रीद करती है, उसके लिये रुपया देने की जो ज़िम्मेदारी भारत सरकार ने अपने सिर ले रखी है, उसके फल स्वरूप मुद्रा-वृद्धि हो रही है। बजाय इसके कि भारत सरकार सामान ख़रीदने वाले देशों को ही रुपये की व्यवस्था इस देश में क़र्ज़ लेकर, या अपना सामान बदले में बेचकर या अपने देश का सोना बेचकर करने दे, उसने ऐसी नीति अपनाई जो भारत की स्थिति की दृष्टि से उसके लिये पूर्णतया अनुपयुक्त है। सामान ख़रीदने वाले देशों को ब्रिटिश सरकार ने लन्दन में पौंड के रूप में जितना भी क़र्ज़ दिया था, उन्हें सब स्वीकार कर भारत सरकार ने यहाँ नोट छापना शुरू कर दिया, जिससे असीमित मुद्रा-वृद्धि हो गई। नोटों की बढ़ती और परिवर्तन के योग्य सामान का उत्पादन, इन दोनों के बीच जो अन्तर है, उसी के फलस्वरूप मुद्रा-वृद्धि अधिकांशतः हुई है। भारत में जिस प्रकार की मुद्रा-वृद्धि है उसकी तुलना 'फेडरल रिजर्व सिस्टम' के डाक्टर गोल्डेन वेसर के इन कथन से की जा सकती है कि जबकि सामान ख़रीदने के लिये जितने रुपये की आवश्यकता है, वह प्राप्य सामग्री से बहुत अधिक हो जाता है, और जब रुपयों के रूप में देश की आमदनी उत्पादन से अधिक हो जाती है, तब मुद्रा-वृद्धि होती है। भारत की आज यही दशा है; चीज़ तो ज़्यादा है नहीं, मुद्रा बहुत अधिक अवश्य है, और इसी कारण से मुद्रा-वृद्धि हो गई है। मूल्य की दर में जो अत्यधिक वृद्धि हुई है वह भी मुद्रा-वृद्धि का प्रमाण है।

इस सम्बन्ध में भारत तथा कनाडा और अमेरिकन संयुक्तराष्ट्र जैसे विदेशी राज्यों में जो मूल्य की दर के बीच अन्तर है, उस पर विचार करना आवश्यक है। यद्यपि सबसे ताज़े आंकड़े प्राप्य नहीं हैं, फिर भी निम्नलिखित आंकड़ों से ही काम चल जायगा। १९४० के दिसम्बर और १९४१ के दिसम्बर के बीच कलकत्ता और बम्बई के मूल्य की दर में क्रमशः २४ और ४३ प्रतिशत की वृद्धि हुई। इसी समय कनाडा और अमेरिकन संयुक्तराष्ट्र के मूल्य की दर में क्रमशः केवल ७ और १४ प्रतिशत की वृद्धि हुई। यह मारके की बात है कि भारत में १९४१ के अन्त से ही सबसे अधिक मूल्य-वृद्धि हुई है। यह भी महत्व की बात है कि ज्यों ज्यों रुपये में चांदी की कमी होती जाती है त्यों त्यों बाज़ार में भी उसका मूल्य गिरता जाता है। राष्ट्र-संघ के सब से ताज़ा प्रकाशन 'मनी एण्ड बैंकिंग—१९४०–४२' से पता चलता है कि दिसम्बर १९३८ में एक रुपया ३४·३६ सेन्ट के बराबर था, और मार्च १९४२ में उसका मूल्य गिर कर ३०·२२ सेण्ट हो गया। रुपये के मूल्य में इस प्रकार की कमी के साथ साथ चीज़ों के दाम में इतनी बढ़ती होती जा रही है कि मुद्रा-वृद्धि का पूरा परिणाम स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगता है।

इस अन्न-समस्या के दूसरे अङ्गों की भी हमें उपेक्षा नहीं कर देनी चाहिये। वैज्ञानिक कृषि-व्यवस्था के बिना 'अधिक अन्न पैदा करो' आन्दोलन कभी सफल नहीं हो सकता। अधिक उत्पत्ति के लिये आधुनिक यन्त्रों का उपयोग आवश्यक है।* अच्छे यन्त्र तैयार करने, और किसानों में अच्छे बीज तथा खाद मुफ़्त बाँटने का भी प्रबन्ध होना चाहिये।*

* यह सब स्वाधीन देशों के ही लोग कर सकते हैं।—सम्पादक

अवैज्ञानिक रीति से खेतों का टुकड़े टुकड़े जो बटवारा हुआ है, उसके स्थान पर बड़े बड़े खेत रहें। निश्चय ही इसके फलस्वरूप सम्मिलित खेती की प्रथा आरम्भ हो जायगी। भारत में फ़सल में कीड़े आदि लग जाने के कारण प्रति वर्ष २ अरब रुपये की हानि होती है। ११ प्रान्तों में से केवल एक ने और ७०० देशी राज्यों में से केवल ४ ने इनसे बचने का उपाय अब तक सोचा है।

फ़सल का बीमा भी आवश्यक प्रश्न है; किन्तु इस ओर जनता का ध्यान उतना आकृष्ट नहीं होता जितना कि होना चाहिये। हाल में ही एक देशी राज्य ने इस प्रकार के बीमे की योजना बनाई है और उसे कार्यान्वित भी किया है। यद्यपि इस योजना का ब्यौरा अभी नहीं मिला है फिर भी कीड़े मकोड़ों से अन्न की बरबादी रोकने के लिये यह आवश्यक है। यदि फ़सल के बीमे की योजना कार्यान्वित की गयी तो फ़सल की जमानत पर किसानों को बैंकों से भी क़र्ज़ मिल सकता है। फ़सल के मालिकाना हक़ के सम्बन्ध में झगड़ा न होने पावे इसके लिये किसान-क़ानून में भी तदनुकूल परिवर्तन कर देना चाहिये।

संक्षेप में वर्तमान अन्न संकट दूर करने के लिये अधिक से अधिक ज़मीन में खेती, छोटे-छोटे खेतों की जगह बड़े-बड़े खेतों में खेती, ज़िला बोर्डों द्वारा ट्यूबवेल लग जाना, उत्पादन शक्ति में ह्रास रोकना, सम्मिलित खेती और फ़सल का बीमा आदि तात्कालिक और दीर्घकालीन योजनाएँ देशव्यापी योजना के रूप में 'रेशनिंग' के साथ साथ कार्यान्वित की जानी चाहिए।

गीत

ब्रह्मदत्त विद्यार्थी

जीवन की ज्योति जाग

अन्धकार दूर भाग
अपना हो जाय भुवन
अपनी भू-स्वीय सदन
गूंजे स्वातन्त्र्य राग
बह कर सद्गुण पराग

प्रथम क्रान्ति पुनः शान्ति
फैले सब ओर कान्ति
होवे सब दूर भ्रान्ति

जीवन की ज्योति जाग

दो आदर्श ख़लीफ़ा : अबुबक्र और उमर

पं० सुन्दरलाल

क़ुस्तुनतुनिया के राजसिंहासन पर रोमी सम्राट् हरकल (हेराक्लियस) राज कर रहा था। हरकल रोम के सब से अधिक शक्तिशाली सम्राटों में गिना जाता है। चन्द साल ही पहले उसने ईरानी सेनाओं को शिकस्त देकर उन्हें अपने साम्राज्य की सरहद से बाहर खदेड़ दिया था। हरकल ने यह भी फ़ौरन समझ लिया कि अरबों की बढ़ती हुई शक्ति रोम साम्राज्य के लिए बहुत ख़तरनाक है। इसलिए उसने एक विशाल सेना अरबों को परास्त करने के लिए जमा की और स्वयं राजधानी क़ुस्तुनतुनिया से चल कर शाम प्रान्त के हिम्स नामक नगर में आकर डेरा डाला।

ख़लीफ़ा अबुबक्र को एक साथ पूरब और पश्चिम दोनों ओर के साम्राज्यों से युद्ध करना पड़ा। हरकल की तैयारियों का समाचार पाते ही उसने समस्त अरब राष्ट्र को अपने राष्ट्रीय अस्तित्व और अपनी स्वाधीनता की रक्षा के लिए तैयार हो जाने का हुक्म दिया। शोरह बिल, यज़ीद बिन अबुसुफ़िया, अबु उबैदा और अम्र, इन चार सिपहसालारों के अधीन चार सेनाएं मदीने से रवाना की गईं।

सन् ६४४ ई० की बसन्त ऋतु में छत्तीस हज़ार अरब सेना यरमुक नदी के दक्खिन में जमा हो गई। दो लाख चालीस हज़ार सुसज्जित और अभ्यस्त रोमी सेना इनके मुक़ाबिले के लिए यरमुक के उत्तर में थी। सम्राट् हरकल का भाई थियाडोर रोमी सेना का प्रधान सेनापति था। इस विशाल सैन्य दल को देख कर एक बार मुसलिम सेनापतियों को अपनी विजय में सन्देह हुआ। अबुबक्र को सन्देश भेजा गया। अबुबक्र ने उत्तर दिया, "चारों सेनापति यरमुक नदी के निकट मिल जाओ। तुम अल्लाह की सेना हो और बिला शुबह तुम शत्रु को भगा दोगे। तुम्हारे जैसे आदमी अपनी तादाद की कमी की वजह से कभी लड़ाई में हार नहीं सकते। लड़ाई में दसों हज़ार सेनाएं अपने पापों के सबब मार खा जाती हैं। इस लिए तुम पाप से बचो। हर सैनिक अपने साथी के संग डट कर लड़ा हो। अल्लाह तुम्हें विजयी करेगा"

रोमी सेना ने कई बार अरबों पर हमला किया। दो महीने कशमकश चलती रही। अबुबक्र को चिन्ता हुई। उस समय ख़ालिद इराक़ में था। अबुबक्र ने ख़ालिद को आज्ञा भेजी—"फ़ौरन शाम में मुसलमानों की सेना के साथ जाकर मिल जाओ।...बढ़े चलो, अल्लाह तुम्हारे इरादे को ऊँचा रखे। मानव समाज के ऊपर अल्लाह की बरकतों को फैला दो और वह तुम्हें बरकत देगा। ख़बरदार! दुनिया और नफ़्स तुम्हें जाल में न फँसा लें, नहीं तो लड़-खड़ा कर गिर पड़ोगे और तुम्हारे सब काम नष्ट हो जायँगे। तुम्हें बदला देने वाला केवल अल्लाह है।"

हीरा से हूमा, हूमा से शाम की सरहद को छूते हुए उत्तर में तादमोर और तादमोर से फिर दक्खिन में यरमुक इस प्रकार १२०० मील से ऊपर की यात्रा तै करके बयाबान रेगिस्तानों और दुर्गम पहाड़ों को पार करते हुए नौ हज़ार सेना सहित ख़ालिद मैदान में पहुँच गया। रास्ते में लगातार पाँच दिन तक सेना को ऐसे स्थान से निकलना पड़ा जहाँ एक बूंद पानी भी न मिल सकता था। ऊँटों के पेट से पानी निकाल कर ऊंटनियों का दूध मिला कर घोड़ों को पिलाया जाता था और हर सिपाही को २४ घन्टे में सिर्फ़ एक प्याला पानी पीने को मिलता था। ख़ालिद की यह अद्भुत सैन्य यात्रा इतिहास के बड़े से बड़े विजेताओं, चंगेज़ ख़ां, सिकंदर और नेपोलियन की किसी यात्रा से कम न थी। यह सारी यात्रा ख़ालिद ने लगभग दो सप्ताह के अन्दर समाप्त कर दी।

सम्मिलित सेना का प्रधान सेनापतित्व ख़ालिद को ही सौंपा गया। दो लाख चालीस हज़ार सेना दूसरी ओर और सिर्फ़ पैंतालिस हज़ार इनके साथ। अनुशासन, शिक्षण, अस्त्र-शस्त्र और सामान में रोमी सेना अरब सेना से कहीं बढ़कर थी। घोड़े अरबों के अधिक फुरतीले थे। किन्तु एक ओर शाम में केवल अन्य मतावलम्बी होने के कारण सहस्रों को देशनिकाला और मृत्यु दंड दिये जा रहे थे, धार्मिक स्वतन्त्रता का सर्वथा अभाव था, और शाम की अरब प्रजा रोमी शासकों के अत्याचारों से पीड़ित थी, दूसरी ओर थे एक अल्लाह और उसके पैग़म्बर में पक्का विश्वास, नव जाग्रत राष्ट्रीयता की ज़बरदस्त भावना, पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता और समता। क़ुरान के अनुसार

'हतो वा प्राप्यसि स्वर्गम्
जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्'

में विश्वास मुसलमान अरबों की उस समय की अजेयता का एक ख़ास कारण था। रोमी सैनिक केवल अपनी तनख़्वाह के लिए लड़ रहे थे किन्तु हर अरब सिपाही अल्लाह की राह में शहीद होने का या —अल्लाह के लिए विजय प्राप्त करने को निकला था। यरमुक के उत्तर की ओर वाकुसा के पहाड़ी मैदान में एक घमासान संग्राम हुआ। ख़ालिद ने सेना की व्यूह रचना इत्यादि में अपूर्व योग्यता दिखलाई।

आख़ीर दिन प्रातःकाल जब कि मालूम होता था कि आज शाम तक इधर या उधर लड़ाई का फ़ैसला हो जायगा अकस्मात् मदीने से एक गुप्त दूत ने आकर ख़ालिद के हाथ में एक पत्र दिया। ख़ालिद ने चुपके से पत्र पढ़कर अपने तरकश में डाल दिया। इस पत्र में ख़लीफ़ा अबुबक की मृत्यु का समाचार था जिसे ख़ालिद ने बड़ी बुद्धिमानी के साथ लड़ाई के फ़ैसला होने तक जान बूझ कर सेना से छुपाये रखा।

दिन भर के भयङ्कर युद्ध के बाद जिसमें अरब स्त्रियां भी अपनी सेना की ओर से लड़ रही थीं, सूर्यास्त होते होते मैदान अरबों के हाथ रहा। एक लाख से ऊपर रोमी सिपाही और तीन हज़ार से ऊपर अरब मैदान में काम आये। अगले दिन सबेरे ख़ालिद ने थियोडोर के ख़ेमे पर क़ब्ज़ा किया। शाम प्रान्त की क़िस्मत का फ़ैसला हो गया। मोहम्मद साहब को मरे अभी केवल दो वर्ष हुए थे। यद्यपि शाम के अनेक नगरों और दुर्गों और विशेषकर शाम की राजधानी दमिश्क पर अभी अरबों का क़ब्ज़ा होना बाक़ी था तथापि इस ज़बर्दस्त हार ने रोमी सेना के हाथ पैर फुला दिये, फिर कहीं भी वे जमकर अरबों का मुक़ाबला न कर सके।

अगस्त सन् ६३४ ईसवी में जबकि यरमुक नदी के किनारे संग्राम हो रहा था ख़लीफ़ा अबुबक की मृत्यु हुई।

अबुबक की आयु उस समय ६२ वर्ष से ऊपर थी। "शासक की हैसियत से अबुबक ने उसी तरह की सरल और किफ़ायतशारी की ज़िन्दगी बिताई जिस तरह मोहम्मद ने। उनके यहां न कोई पहरेदार रहते थे और न ख़िदमतगार और न किसी तरह की शान शौकत थी। उनका रहन-सहन सीधा सादा और परहेज़गारी का था। अन्त तक उन्होंने अपने जीवन की कठोर सरलता को क़ायम रखा, यहां तक कि घर की बकरियों को वह स्वयं चारा देते थे और स्वयं उनका दूध दूहते थे।* ख़लीफ़ा होने के शुरू के छै महीने वह मदीने के पास एक छोटे से गांव अल-सुन्ह के अन्दर एक छोटी से झोपड़ी में रहते रहे। शासन कार्य के लिये वह प्रति दिन अधिकतर पैदल मदीने की मसजिद में आते थे जहाँ से मोहम्मद साहब सारे राज्य का प्रबन्ध करते थे। छै महीने बाद वह मसजिद के ही पास एक झोंपड़े में रहने लगे। रात को वह अक्सर दीन दुखियों की दशा का पता लगाने के लिये नगर में अकेले घूमा करते थे। अपनी तमाम पहले की सम्पत्ति वह इसलाम की ख़िदमत में ख़र्च कर चुके थे। ख़लीफ़ा होने के शुरू के दिनों में उन्होंने चाहा कि अपने और अपने

* Sir William Muir.

कुटुम्ब के गुज़ारे के लिये थोड़ी सी तिजारत करते रहें; किन्तु अब इससे काम में बाधा पड़ी तो लोगों के कहने सुनने से उन्होंने छै हज़ार दिरहम सालाना अपने और अपने कुटुम्ब के लिये सरकारी ख़ज़ाने से लेना स्वीकार कर लिया। मालूम होता है कि यह बात उनके अन्तःकरण में चुभती रही। मौत से कुछ दिन पहले उन्होंने हुकुम दिया कि उनकी कुछ निजी ज़मीन बेचकर वह सब रुपया जो उन्होंने सरकारी ख़ज़ाने से लिया था लौटा दिया जावे। ऐसा ही किया गया। अबुबक्र की दूरदर्शिता, नीतिज्ञता, बुद्धिमत्ता, न्यायप्रियता, निष्पक्षता, सचाई और उनकी नेकी की समस्त इतिहास लेखक मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते हैं। पैग़म्बर की मौत के बाद के कठिन संकटों में से इसलाम और अरब राष्ट्र को बचा ले जाने का श्रेय सबसे अधिक अबुबक्र ही को दिया जाता है।

मौत से पहले उन्होंने ख़ास ख़ास लोगों से सलाह करके उमर बिन ख़त्ताब को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। मसजिद के सहन में सम्मिलित मुसलिम जनता की स्वीकृति प्राप्त करके उन्हें आदेश दिया और उनसे वादा ले लिया कि वे उमर की आज्ञाओं का पालन करेंगे।

"अन्त समय तक अबुबक्र का दिमाग़ साफ़ और ज़ोरदार था।" मौत से चन्द घण्टे पहले उन्हें समाचार मिला कि ख़ालिद की अनुपस्थिति से फ़ायदा उठाकर ईराक़ में ईरान के शासक फिर से युद्ध का इरादा कर रहे हैं और, यद्यपि अरब सेनापति मुसन्ना ने चन्द रोज़ पहले ही ईरान की राजधानी मदाइन से केवल पचास मील दूर बाबुल के उत्तर में ईरानी सेना को शिकस्त दी थी तथापि और अधिक सेना का इराक़ भेजा जाना आवश्यक है। अबुबक्र ने उमर को अपने बिस्तर के समीप बुला कर आदेश दिया—

"मुसन्ना की मदद के लिये फ़ौज जमा होने की आज्ञा दे दो। देर न करो। मुमकिन है कि मैं आज दिन ही में मर जाऊँ। अगर ऐसा हो जावे तो भी तुम शाम तक इस काम को न टालना। यदि रात तक सांस जारी रहे तो तुम सुबह तक इस काम को न टालना। मेरे रञ्ज में तुम अल्लाह की इस ख़िदमत में देर न करना। तुमने देखा था कि पैग़म्बर की मौत के समय मैंने स्वयं क्या किया था और मनुष्य जाति के लिये उससे बढ़कर रञ्ज की बात क्या हो सकती थी? सचमुच यदि मैं उस समय रञ्ज के वश में हो जाता और अल्लाह और उसके रसूल के मार्ग में कमर कसके खड़ा न हो जाता तो इसलाम को कितना धक्का पहुँचता। बग़ावत की आग नगर में सुलग चुकी थी। और ऐ उमर! सुनो, अब अल्लाह शाम में विजय प्रदान कर दे तो इराक़ की सेना वहाँ लौटा देना क्योंकि इराक़ की रक्षा और वहां के शासन के लिये वे ही सबसे अधिक उपयुक्त हैं।"

उमर ने ध्यान से सुना और आज्ञापालन का वादा किया। इसके बाद अबुबक्र ने कुछ देर तक उमर को दया और नम्रता से काम करने का उपदेश दिया और अन्त में अल्लाह का नाम लेते लेते शरीर त्यागा।

मरने से पहले अबुबक्र ने आदेश दिया कि मैं जिन कपड़ों में मरूँ उन्हीं में मुझे दफ़न करना, "क्योंकि नये कपड़े ज़िन्दा लोगों को शोभा देते हैं। मृत शरीर के लिये पुराने कपड़े काफ़ी है।" ऐसा ही किया गया। मोहम्मद साहब की क़ब्र के पास ही अबुबक्र को दफ़न कर दिया गया। उनका सिर उनके स्वामी के कन्धे से मिलाकर रखा गया।

अबुबक्र अपने को 'ख़लीफ़ तुर्रसूल' कहा करते थे। उमर ने अपने को 'ख़लीफ़तुर-ख़लीफ़ तुर्रसूल' यानी 'पैग़म्बर के प्रतिनिधि का प्रतिनिधि' कहना शुरू किया। बाद में ख़लीफ़ाओं की उपाधि अधिक लम्बी हो जाने के कारण वे 'अमीरुल मोमनीन' कहलाने लगे जिसका अर्थ है मोमिनों का नेता। उमर का सब से पहला काम, अबुबक्र के अन्तिम आदेश के अनुसार, इराक़ के लिए फ़ौज जमा करना था। अभी तक ख़लीफ़ाओं की कोई स्थाई सेना न

होती थी। ज़रूरत पर सेना जमा करने का तरीक़ा इस प्रकार था—मदीने की मसजिद के सहन में एक झन्डा गाड़ दिया जाता था। सारे देश में फ़ौज की आवश्यकता का ऐलान कर दिया जाता था। चारों तरफ़ से क़बीलों के लोग अपने अस्त्र-शस्त्रों, ऊंटों और घोड़ों सहित अपने सरदारों के अधीन उस झण्डे के नीचे आकर जमा होते थे। वहाँ वे नामज़द किये जाते थे। ज़रूरत के अनुसार उनके अस्त्र-शस्त्रों की कमी को सरकारी ख़ज़ानों से पूरा किया जाता था। वे शहर से बाहर मैदान में ख़ेमें डालकर रहने लग जाते थे। जब काफ़ी सेना जमा हो जाती थी ख़लीफ़ा किसी एक सरदार के हाथ में झण्डा सौंप देता था। वह सरदार सेना का प्रधान सेनापति नियुक्त हो कर जहाँ ख़लीफ़ा की आज्ञा होती थी वहाँ के लिए चल पड़ता था। इस मौक़े पर उमर ने तायफ़ के एक सरदार अबुओबैद को सेनापति नियुक्त किया।

दूसरी ओर से ईरानियों ने भी इस मौक़े पर काफ़ी ज़ोर लगाया। सम्राट् के दरबार से अरबों के मुक़ाबले में सेना तैयार करने का भार सुप्रसिद्ध रुस्तम को सौंपा गया। दो सैन्यदल राजधानी मदियन से रवाना किये गये—एक सेनापति जाबान के अधीन और दूसरा सेनापति नरसा के अधीन। जाबान की सेना फ़िरात को पार करके काल्डिया के प्रसिद्ध नगर हीरा तक पहुँच गई। हीरा में ख़ालिद की अनुपस्थिति में मुसन्ना प्रान्तीय शासक का काम कर रहा था। अबुओबैद की सेना के पहुंचने में अभी देर थी। मुसन्ना के पास मुक़ाबले के लिये बहुत कम सेना थी। वह नगर छोड़कर पीछे हट आया और अबुओबैद का इन्तज़ार करने लगा। अबुओबैद के आने से पहले एक महीना इसी तरह बीत गया। किन्तु आते ही अबुओबैद ने जाबान और नरसा की सेनाओं को हराकर पीछे हटा दिया और दोआब पर फिर से क़ब्ज़ा कर लिया।

एक और विशाल सेना ईरान की राजधानी से अरबों का मुक़ाबला करने के लिये बहमन के अधीन भेजी गई। बहमन की सेना ने अरबों को फ़िरात पार करने पर मजबूर कर दिया। अबुओबैद ने दो बार फ़िरात पार कर ईरानी सेना से लोहा लिया। बहुत सी अरब सेना के साथ साथ अबुओबैद भी इस संग्राम में मारा गया। मुसन्ना तीन हज़ार फ़ौज को लेकर फिर पीछे हट आया। ख़लीफ़ा उमर को ख़बर भेजी गई। उमर ने और बहुत सी सेना मुसन्ना की मदद को भेजी। ईसाई अरब क़बीले भी अरबों के साथ ईरानियों से लड़ रहे थे। मुसन्ना ने एक ईसाई अरब सरदार को बुला कर कहा, "हमारा और तुम्हारा रक्त एक है, आओ जब मैं बढ़ूं तुम मेरे साथ बढ़ो।" घोर संग्राम के बाद दोआब पर फिर से अरबों का क़ब्ज़ा हो गया।

इस बीच एक २१ वर्ष का उत्साही युवक यज़्देगर्द ईरान के सिंहासन पर बैठा। अरबों से मुक़ाबला करने की उसने ज़ोरदार तैयारी शुरू की। मुसन्ना को फिर फ़िरात पार कर पीछे हट जाना पड़ा। उमर को जब सूचना मिली उसने तय कर लिया कि बिना राजधानी मदियन पर क़ब्ज़ा किये जो हीरा के इतने निकट थी इराक़ पर अरबों का शासन रह सकना असम्भव है। उमर के लिये और कोई चारा न था। फिर एक नई सेना के जमा होने का ऐलान कर दिया गया और उत्तर के क़बीलों को हुक्म दे दिया गया कि वे सीधे मुसन्ना की मदद के लिये पहुंच जावें। साद बिन मलिक इस नई सेना का सेनापति नियुक्त हुआ। साद एक ऊँचे घराने का अरब था। ख़लीफ़ा ने चलते समय साद को सावधान कर दिया कि अपनी कुलीनता के भरोसे न रहना। "अल्लाह नेकी और अच्छे कामों को देखता है, जन्म को नहीं देखता क्योंकि उसकी नज़रों में सब इनसान बराबर हैं।" धीरे धीरे साद की सेना बीस हज़ार तक पहुंच गई। क़ादेशिया के प्रसिद्ध मैदान में दोनों सेनाओं का मुक़ाबला हुआ। स्वयं रुस्तम ईरानी सेना का सेनापति था। चार दिन तक लगातार युद्ध होता रहा। अरबों की मदद के लिये दस हज़ार और नई सेना आई। दोनों सेनाओं के बीच करीब एक

मील तक लाशें पड़ी हुई थीं। क़बरों को खोदने और मुरदों के दफ़न करने का काम अरब औरतों के सुपुर्द था। ज़ख्मियों की भी ये ही मलहम पट्टी करतीं थीं। रुस्तम इस लड़ाई में मारा गया और मैदान अरबों के हाथ रहा।

"शत्रु के लिये यह पराजय उनकी क़िस्मत का फ़ैसला कर देने वाली थी। तीस महीने से कुछ ही ऊपर हुआ था जबकि खालिद ने पहली बार इराक़ में क़दम रखा था और इसी दरमियान वह साम्राज्य जिसने १५ वर्ष पहले रोम की सेना को नीचा दिखाया था, शाम को रौंद डाला था और बासफ़ारस के किनारे एक बार अपनी विजय पताका गाड़ दी थी—अब एक ऐसे शत्रु के वारों से नष्ट भ्रष्ट हो रहा था जिसकी संख्या कभी तीस, चालीस हज़ार अरबों से ज़्यादह नहीं बढ़ी—ऐसे अरब जिनके अस्त्र शस्त्र पुराने ढङ्ग के थे। क़ादेशिया की लड़ाई से इस पराजय का रहस्य खुल जाता है। एक ओर निरुत्साह गुलामों को संख्या थी और दूसरी ओर वह अजेय उत्साह जो इतनी देर तक और लगातार लड़ते रहने के बाद भी मुसलमानों को अन्तिम हमले के लिये तैयार कर सकता था। वह विशाल सेना जिस पर ईरान ने अपने आख़िरी प्रयत्न ख़र्च कर डाले थे सर्वथा परास्त हो गई और यद्यपि टूटी हुई टुकड़ियां जान बचाकर नदी के पार चली गईं पर ईरान की सैनिक शक्ति फिर कभी दृढ़ और ख़तरनाक शक्ल अख़्तियार न कर सकी।

'ख़लीफ़ा उमर प्रति दिन प्रातःकाल अकेले मदीने के फाटक से इस उम्मीद में निकलते थे कि शायद युद्ध के मैदान से कोई सन्देश-वाहक उन्हें मिल जावे। अन्त में एक दिन एक सांडनीसवार नगर के बाहर पहुंचा। उमर के प्रश्न करने पर उसने संक्षेप में उत्तर दिया—'अल्लाह ने ईरानी सेना को नीचा दिखा दिया।' उसने उमर को नहीं पहचाना। उमर पैदल उसके पीछे शहर की ओर आये और उससे उस महान् युद्ध के अन्य समाचार पूछते रहे। मदीने में घुसते ही लोग ख़लीफ़ा के चारों ओर जमा हो गये और सलाम करके इस विजय पर मुबारकबाद देने लगे। दूत ने झेंप कर कहा—'ऐ अमीरुल-मोमनीन! आपने मुझे बताया क्यों नहीं?' ख़लीफ़ा ने सरलता के साथ उत्तर दिया—'मेरे भाई, सब ठीक है।' उस मनुष्य का जो उस समय रोम के क़ैसर या ईरान के ख़ुसरो दोनों से अधिक महान था इतना सीधा सादा तर्ज़ था।"*

दजला और फ़िरात के बीच के सब सामन्त सरदारों ने अब ईरान के ख़ुसरो की जगह मदीने के ख़लीफ़ा को सहर्ष अपना अधिराज स्वीकार कर लिया और उसे ख़िराज देना प्रारम्भ कर दिया। किन्तु ईरानी सेना और ख़ुसरो ने अरबों की इस जीत को क़ुबूल करने से इनकार कर दिया। वे किसी तरह की सन्धि के लिये तैयार न थे। राजधानी मदियन अरबों की सरहद से क़रीब क़रीब मिली हुई थी। मजबूर ख़लीफ़ा उमर की इजाज़त से सेनापति साद को मदियन पर चढ़ाई करने की योजना करनी पड़ी। कई महीने के मोहासरे के बाद नगर के पच्छिमी भाग पर अरबों का क़ब्ज़ा हो गया। मदियन का शहर बग़दाद से १५ मील नीचे फ़िरात नदी के दोनों किनारों पर बसा हुआ था। राजमहल आदि सब फ़िरात के उस पार पूर्वीय किनारे पर थे। अरबी सेना ने घोड़ों से नदी को पार किया। सम्राट् यज़्देगर्द अपनी सेना और ख़ज़ाने समेत अधिक पूरब की ओर भाग गया। राजधानी पर अरबों का क़ब्ज़ा हो गया। संगमरमर के ऐवान के नीचे सबसे पहले अरब सेना ने नमाज़ पढ़ी। उसके बाद उसने शाही सामान पर क़ब्ज़ा किया। (अपूर्ण)

---

* The Caliphate by Sir W. Muir P.P. 123—24.

सृष्टि

पं० श्यामनारायण, एम० ए०, साहित्यरत्न रिसर्चस्कालर

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सो अंग वेद यदि वा न वेद ॥ ऋ० १०।१२९।७

पशुता से उठकर मानव ने अपने परितः एक विचित्र और रहस्यपूर्ण सत्ता का अनुमान किया। घने जंगलों के प्रान्तर में विचरण करने वाले नाना-वर्ण तथा विभिन्न आकार के पशु-पक्षी, गगनचुम्बी शाल वृक्षों से लिपटी हुई लताएं, आकाश के नील गह्वर से झांकते हुए असंख्य नक्षत्र और तारापति की रहस्यमयी लीला, राग रक्त सूर्य का चिर-सुन्दरी वधू उषा की खोज में दिन रात—प्रकाश और अंधकार में, आकाश और पाताल में—एक क्षितिज से दूसरे क्षितिज की दूरी का परिक्रमण, असंख्य कल्लोलनियों का उत्तेजित होकर समुद्र-सम्मिलन के लिए अबाध गति से दौड़ना और महा समुद्र की मेघ-गर्जन करने वाली ताल-तुंग तरंगों का आकाश चूमने की स्पृहा से उठना और निराश होकर कठोर वेला पर हाहाकार कर चूर्ण हो जाना इत्यादि व्यापार ज्ञान-प्रकाश के प्रथम रश्मि का दर्शन करने वाले मनुष्य के लिये सचमुच एक पहेली थे। उसने उस रहस्य के उद्घाटन करने का संकल्प किया। संसार की लगभग सभी जातियों ने जगत और उसके उत्पति सम्बन्धी संस्कृत और असंस्कृत पुरा-वृत्तों की कल्पना की है। यह जान कर आश्चर्य होगा कि संसार की प्राचीनतम से प्राचीनतर जातियों के मस्तिष्क ने लगभग एक ही प्रकार से अपने-अपने जगत् सम्बन्धी विचारों को विकसित किया है। नारायण ऋषि ने सुप्रसिद्ध पुरुष-सूक्त में सृष्टि के सम्बन्ध में कहा है—

'सहस्र शीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद् दशांगुलम्' ॥

सहस्र सर वाला, हजार आँख वाला, हजार पाँव वाला पुरुष पृथ्वी को चारों ओर से परिवेष्ठित कर दस अंगुल बढ़कर स्थित हुआ।

तस्माद् विराड्जायत विराजोऽधिपुरुषः।
सजातोऽत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः ॥

उस (आदि पुरुष) से विराज् उत्पन्न हुआ और उस विराज से (अन्य) पुरुष की उत्पत्ति हुई। उत्पन्न होकर (आदि पुरुष से) भिन्न हुआ, और फिर पृथ्वी की रचना की।

यत् पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसंतोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥

देवताओं ने पुरुष-रूप हविष् से यज्ञ किया, उसमे (यज्ञ में) वसंत घृत था, ग्रीष्म इंधन और शरद हविष् (पुरोडाशि इत्यादि) था।

तस्माद् यज्ञात सर्वहुतः संभृतं पृष्दाज्यम्।
पशून् तांश्चक्रे वायव्यानारण्यान ग्राम्याश्च ये ॥

उस सर्व हुत यज्ञ से दधिमिश्रित घी तथा उन जंगली पशुओं को उत्पन्न किया जो वायु देवता विषयक हैं और जो ग्राम्य अर्थात पालतू हैं।

यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किमस्य कौ बाहू का उरू पादा उच्येते ॥

जब पुरुष से (काट कर) विविध रूप बनाया गया तो उसका किस प्रकार विश्लेषण हुआ? उसका मुख क्या था? उसकी भुजाएं क्या हुईं? और उसके पाँव को क्या कहते हैं?

ब्राह्मणो ऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ॥
नाभ्यासीदन्तरिक्षम् शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
पद्भ्याम भूमिं दिशः श्रोत् तथा लोकाँ अकल्पयन ॥

इसका मुख ब्राह्मण हुआ, भुजाएं क्षत्रिय हो गईं और जंघाएं वैश्य हुईं, तथा पांव से शूद्र उत्पन्न हुए। नाभि से अंतरिक्ष और सर से आकाश, पाँव से भूमि और कान से दिशाओं की रचना हुई—इसी प्रकार अन्य लोकों की भी। यह सूक्त बहुत बाद का है, किन्तु इसकी दार्शनिकता के मूलतत्व में प्राचीनतम (Primitive) मानव के विचार संनिहित हैं। इस सूक्त से यह ज्ञात होता है कि देवताओं ने दीर्घकाय पुरुष को पशु-रूप से यज्ञ में आहुति दे दिया। उस यज्ञ के पुण्य फलस्वरूप भूमि, अंतरिक्ष, आकाश, सूर्य और चन्द्र तथा इन्द्रादि देवगण और पशु तथा मानव की प्राप्ति हुई। उन आदि जीवधारियों से उनकी वंश-परम्परा का सूत्रपात हुआ। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उक्त सूक्त के विचार परम्परा में शृङ्खलता और दार्शनिक कल्पना की गहरी छाप है। यह सूक्त उस समय का है जब वर्ण-व्यवस्था पूरी तरह अपना रंग दिखला चली थी और 'आर्य-संस्कृति' का काफ़ी दौर-दौरा था। किन्तु इसका मूलतत्व अत्यन्त प्राचीन है। इस प्रकार की विचार परम्परा अन्य देश के पुरावृत्तों में भी उपलब्ध है।

चीना पुरावृत्त साहित्य में सृष्टि की उत्पत्ति-विषयक एक कथा है जो पुरुष-कथा से मिलती-जुलती है।

अगण्य युगों में 'शून्य' (nothing) 'संश्लिष्टि' (Unity) में परिणत हुआ और उससे 'असुर अणु' (Mighty Atom) का विकास हुआ। नाना युगों की करवटों के साथ 'असुर अणु' नर और मादे के रूप में संविभक्त हुआ। और संसार की सृष्टि हुई। यह एक अन्य प्राचीन कथा का सुसंस्कृत रूपान्तर है। प्राचीन कथा इस प्रकार है कि आरम्भ के दो मूलतत्व चार हो गए। इनकी सहक्रिया से 'पृ' आन कू' देव आविर्भूत हुआ। इसने संसार के अङ्ग प्रदान किए। उसकी आंखें सूरज और चाँद में, सांस हवा में उसके बाल पेड़-पौधों में, उसका माँस पृथ्वी में, पसीना वर्षा में और उसके सड़े शरीर से निकले हुए कीट मनुष्य में परिणत हो गए।

जिस प्रकार देवताओं और ऋषियों ने पुरुष को यज्ञार्थ बलि देकर उससे जगत् की सृष्टि की थी वैसे ही चीनी पुरावृत्त में 'निएन' अथवा 'शाङ्ग-ति' देव ने 'पृ' आन कू' देव को संविभक्त करने में उत्तेजना दी।

'शून्य' और परमाणु 'संश्लिष्टि' विषयक चीना कथा का दार्शनिक निरूपण भारतीय साहित्य में मौजूद है। माध्यमिक शून्यवादी तो यहाँ तक कहता है—

नास्ति बुद्धिरथी त्याह वादी माध्यमिकः किल।
न सन्न्यसन्न सदसन्न चोभाभ्यां विलक्षणम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्वं माध्यमिका विदुः॥

माध्यमिक बुद्धि तक की भी सत्ता नहीं मानता। अन्तिम तत्वों को वह इन चारों की सीमा से परे मानता है—(१) सत् (२) असत् (३) सत्सत् और (४) सत्सत् से भिन्न कोई अन्य पदार्थ। इन में से किसी कोटि में भी अन्तिम तत्व नहीं आता। वैशेषिकादि दार्शनिक परमाणु और उसके संश्लेषण तथा विश्लेषण का अनुमान करते हैं। सर जेम्स जीन्स ने अपनी पुस्तक The Universe में स्पष्टतः परमाणु-प्रक्रिया द्वारा विश्व रचना को सिद्ध करने का जतन किया है।

बेबीलन के अधीश्वर अस्सुरबनिपाल के निनेवेह में स्थित पुस्तक-भाण्डार से प्राप्त और ब्रिटिश म्यूज़ियम् में सुरक्षित Seven tablets of creation नामक महाकाव्य में सृष्टि-रचना पर विचार करते हुए कवि ने लिखा है—'अप्सु' और 'तियावाथ'—शून्य के नर और मादा स्वरूप—दो देवता अपने पुत्र के साथ निवास करते थे। पश्चात् उन्हीं से 'अनु' 'एन्-लिल' और 'एआ' नामक विद्रोही देवता आविर्भूत हुए। इन नवीन देवताओं ने प्राचीन पिता पुत्र को पराभूत कर दिया और अकेली 'तियावाथ' ने इनसे लगातार युद्ध किया। किन्तु 'मर्दूक' या 'मेरोदैख' से युद्ध कर वह मारी गई। मर्दूक ने उसके शरीर के अर्ध भाग को स्वर्ग बनाया और पेरोदैख के उपासक बेरोसस (Barosus;

300 Gent. B. C.) के अनुसार उसके अवशिष्टांश से पृथिवी की रचना की। छठवें शिला से पता चलता है कि मर्दूक का सर काट लिया गया और मर्दूक ने स्वयं अपने अस्थि और रक्त से मानव-वर्ग की रचना की।*

चीनी और भारतीय सृष्टि-विषयक पुरावृत्तों से मिलती-जुलती नार्स—(स्कैण्डिनेवियक) पुरावृत्त की कथा है। सृष्टि के आरम्भ में गिन्नुगगैप (Gunungagap) नामक गह्वर मुख-विवर विस्तीर्ण किए स्थित था। उसके उत्तर में निफ्लहीम (Nifleheim) और दक्षिण में मुस्पेलहीम (Muspleheim) नामक बर्फ और आग के दो प्रदेश थे। निफ्लहीम से उद्भूत Elivagar नदी जम गई। किन्तु मुस्पेलहीन की गर्म हवा से उसका बर्फ़ पिघला और वाष्पकणों में जीवनशक्ति उत्पन्न हुई। इससे एक विशाल दैत्य येमिर (Ymir) और एक गाय औधुम्ला (Audhumla) उत्पन्न हुई। इस गाय की चार दुग्ध धाराओं से येमिर का पोषण हुआ। गाय अपने जीवन-रक्षा के लिये पत्थरों की ओस चाटती थी। पहले दिन चाटने से बाल, दूसरे दिन चाटने से एक सिर और तीसरे दिन चाटने से एक सुन्दर शरीर उत्पन्न हुआ। इसका नाम बूरी (Buri) था और यही ओडिन (Odin) का पितामह था। सोते हुये येमिर ने अपने पसीने से राक्षसों को जन्म दिया। बूरी के पौत्रों ने इनका और येमिर का बध कर डाला और उसके शरीर को गिन्नुङ्गगैप में डाल दिया। उसके रक्त से समुद्र और जल, उसके मांस से पृथ्वी उसकी हड्डियों से पर्वत, उसके कपाल से आकाश, मस्तिष्क से बादल, और उसकी भौंहों से मिदगर्द (Midgard)—मनुष्यों का वासस्थान—आविर्भूत हुए। बाद में ओडिन और उसके भाइयों ने वामनों के द्वारा बनाए, दो काठ के पुतले प्राप्त किए। उनमें उन्होंने प्राण-संचार किया और इनके नाम आस्कर Askr और एम्बला (Embla) रखा। आधुनिक मानव के ये नर-नारी पूर्वज थे।

इस प्रकार भारत, बैबीलन, चीन और स्कैण्डिनेविया के पुरावृत्तों में हम एक शरीर को ही विभिन्न रूपों में संविभक्त हो आधुनिक सृष्टि का कारण मानते हैं। इसका कारण क्या है? क्या इन सब पुरावृत्तों का मूल-स्रोत एक है? अथवा विजित जाति के सुसंस्कृत साहित्य ने विजेताओं की विचारधारा पर प्रभाव डाला? अथवा अन्योन्य भाव से एक दूसरे से विनिमय किया? इन सब प्रश्नों का उत्तर देना सरल कार्य नहीं है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आदिम युग के विचारशील मानव ने 'असत्' में 'सत्' की कल्पना की जो परम स्वभाविक था।

इस सृष्टि के जन्म के सम्बन्ध में ऋक्संहिता (१०।१२९) में प्रजापति कहता है :—

> नासदासीन्न नो सदासीत तदानीं
> नासीत् रजो नोव्योमा परा यत्।
> किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः
> किमासीद् गहनं गभीरम्।'

न 'असत्' था और न 'सत्' और न तो उस समय वायु था जो आकाश के ऊपर तक फैला है। क्या था? कहाँ था? किसका आश्रय कौन था? क्या अगम्य गहरी जलराशि थी?

> न मृत्यु रासीदमृतं न तर्हि
> न राध्या अहमं आसीत् प्रभेतः।
> आनीदवातं स्वधया तदेकं
> तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास॥

न मृत्यु थी और न अमरता; न रात्रि और दिन के सूचक (चन्द्र और सूर्य) थे; केवल एक था जो बिना वायु के अपनी शक्ति से श्वास लेता था और उसके परे कुछ भी नहीं था।

> तम आसीत तमसा गूह्ळमग्ने प्रकेतं
> सलिलं सर्वमा इदम्।

---

* King: Seven Tablets of Creation (1902) and Babylonian Religion and Mythology.

तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तत्
तपसस्तन्महिना जायतैकम् ॥

अन्धकार से आच्छन्न अन्धकार था; अज्ञेय जल ही जल था; जीवन प्राप्त करता हुआ वह शून्य से आवृत था; वह एक तेज से उत्पन्न हुआ।

कामस्तदग्रे समवर्तताधि
मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्।
हृदिप्रतीष्या कवयो मनीषा ॥

आरम्भ में वासना थी; जो मन का प्रथम बीज था। बुद्धिमान् ऋषियों ने हृदय में खोज करते हुए 'सत्' के सूचक को 'असत्' में प्राप्त किया।

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषाम्
अधःस्विदासी३दुपरिस्विदासी३त् ।
रेतोधा आसन् महिमान आसन्
स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात् ॥

(सत् और असत् का) सूत्र विस्तृत हुआ। यह ऊपर था या नीचे? गर्भाधान करने वाले थे; बल था; नीचे शक्ति थी, ऊपर अन्तःप्रेरणा थी।

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्,
कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेना—
था को वेद यत आबभूव ॥

कौन इस रहस्य को जानता है? कहाँ से उत्पन्न हुई? कहाँ से यह विसृष्टि हुई?—यह कौन बतला सकता है? (शायद इसका उत्तर देवता देते लेकिन) देवगण इस सृष्टि के पश्चात् उत्पन्न हुए। तब कौन जानता है कि यह कहाँ से उत्पन्न हुई?

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव,
यदि वा दधे यदि वा न।
योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्,
सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥

यह सृष्टि कहाँ से उत्पन्न हुई; उसने इसे बनाया या नहीं; परम व्योम में इसकी निगरानी करने वाला (अध्यक्ष) ही (यह) जानता है या वह भी नहीं जानता!! (ऋ० १०।१२९)

वैदिक देवताओं में प्रजापति का स्थान बहुत नवीन है। यज्ञ से फुर्सत पाने पर आध्यात्मिक गवेषणा आरम्भ हुई। इस रहस्य का उद्घाटन सरल कार्य नहीं। अन्त में प्रजापति को भी कहना पड़ा—'सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद!' वही जानता है या वह भी नहीं जानता।

प्राचीन मिश्र के पुरावृत्त में इसी प्रकार की एक कथा का वर्णन है। ब्रिटिश म्यूज़ियम में सुरक्षित १०,१८८ पत्तों पर एक ग्रन्थ है। इसमें समस्त पदार्थों के उद्भव पर प्रकाश डाला गया है। यह पुस्तक पैनोपोलिस (Panopolis) के पुजारी नेस-अम्सु के लिये ३१२ B. C में लिखी गई थी। इस ग्रन्थ में दो सृष्टि-विषयक कथाओं का अस्पष्ट वर्णन इस प्रकार है—

'नेब-एर-त्चेर्' (Neb-er-tcher) देवता—'रा' (सूर्य) देवता का एक स्वरूप—ने खेपेरा (Khepera)—प्रजापति—का रूप धारण कर अपने को और समस्त संसार को अपने मुख से उत्पन्न किया। जिस स्थान पर उसकी सृष्टि की थी उसका नाम 'नू' (Nu) था। यह 'नू' जलमय अनन्त (abyss) था।

"I found no place there (in Nu) whereon I could stand. I worked a charm upon my own heart. I laid a foundation on Maa. I made every form. I was one by myself. I had not emitted from myself the god Shu. I had not spit out from myself the goddess Tefnut There was no other being who worked with me."

इससे प्रकट होता है कि नेबेर त्चेरने खेपेरा का स्वरूप धारण कर अकेले ही सृष्टि की रचना की; किन्तु उसके लिये 'नू'—जलमय अनन्त—में किसी प्रकार का दृढ़ आधार नहीं था। उसने अपने हृदय को—मनस् को—ही आधार माना।

"There came into being multitudes of things from the things of what was produced." इस प्रकार उसकी सृष्टि से सृष्टि चलती रही। नर-नारी का जन्म उसके अश्रुओं से हुआ।

दूसरी कथा में ओसिसि (Osisis) को कर्त्ता माना गया है। इस देवता को 'पउतेत पउत्ती'—आदिम-प्रकृति का सार कहा गया है।

"I came into being from Primeval matter, and I appeared under the form of multitudes of things from the begining. Nothing exeisted at that time and it was I who made whatsoever was made. I was alone and there was no other being who worked with me in that place. I made all the forms under which I appeared by means of the God-soul which I raised up out of Nu, out of a state of inertneso. इस प्रकार 'परमात्मा' (God-soul) की सहायता से, जो वेदान्त के माया-विहीन ब्रह्म की भांति विशुद्धावस्था में Nu-अनन्त जलराशि में सुषुप्तावस्था में पड़ा था, ओसिसि ने विश्व की रचना की।*

इस प्रकार इन कथाओं से यह सिद्ध होता है कि जलमग्न अनन्त में एक 'स्वयम्भू' और 'एकसत्' देवता था। यह देवता अपने नाम रूपी मन्त्र के उच्चारण से उत्पन्न हुआ और सुषुप्तावस्था में पड़े हुए 'परमात्मा' को जाग्रत कर संसार की रचना की। कपिल के अनुसार सृष्टि रचना इस प्रकार हुई—

सृष्टिप्रकारं वक्ष्यामि तत्वात्मिकमिदं जगत्।
सर्वं हि प्रकृतेः कार्यं नित्यैका प्रकृतिर्जडा॥
प्रकृतेस्त्रि गुणावेशादु दासो नोऽपि कर्तृवन॥
स चेतनवत्तद्योगात् सर्गं पङ्ग्वन्धयोगवत्।
प्रकृतिर्गुणसाम्यम् स्याद् गुणाः सत्वरजस्तमः॥
सर्वसिद्धान्त संग्रह ६।१४।१६

* Budge : The Gods of Egypt

इस सारी सृष्टि रचना का उत्तरदायित्व प्रकृति पर है। यह प्रकृति नित्य है और जड़ है। प्रकृति के तीन गुणों के कारण पुरुष यद्यपि उदासीन है तो भी, कर्त्ता के समान हो जाता है। प्रकृति जड़ है और वह चेतन। जैसे पंगु और अन्धे परस्पर संयोग से अपना कार्य सिद्ध कर लेते हैं वैसे चेतन किन्तु उदासीन, अतः असमर्थ पुरुष, और जड़ किन्तु गुणयुक्त, अतः समर्थ प्रकृति के संयोग से सृष्टि का उत्पादन होता है।

नेब-एर्हत्चेर या ओसिरिस का लगभग वही स्थान है जो सांख्य के प्रकृति का। सांख्य की दार्शनिकता के पीछे मिश्र की कथाओं से ठीक मिलती-जुलती भावनायें छिपी हैं।

वेल्श पुस्तक (बर्दास) Barddas के अनुसार आरम्भ में God और Cythrawl—जीवन और मृत्यु ही थे। साइथराल्म Auswan नामक अनन्त अमूर्त प्रकृति (chaos) में स्थित था। Anuwan और God आरम्भ में अनन्त शून्य के द्योतक थे। God ने अपना नाम लिया और मैनरेड (Manred) की उत्पत्ति हुई। यह मैनरेड आदिम भौतिक तत्त्व था।

Manred was compoed of Thousands of teaming atoms, in each of which God was present and each was a part of God.

कितनी सुन्दर कल्पना है। यदि इस जाति को अपनी संस्कृति की उन्नति करने का उतना ही अवसर प्राप्त होता जितना भारतीयों को मिला तो वेदान्त या वैभाषिक के टक्कर का दर्शन केल्ट-जाति भी उत्पन्न कर सकती।

उक्त उदाहरणों से प्रतीत होता है कि नामोच्चार के साथ सृष्टि रचना होना बहुत सी जातियों के पुरावृत्तों में उपलब्ध है।

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार प्रजापति ने 'भूः' कहकर पृथिवी को, 'भुवः' कहकर वायु को और 'स्वः' कहकर आकाश की रचना की। इन तीनों के

उच्चारण के साथ साथ ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य भी उत्पन्न हुए।

अरब सृष्टि-रचना की कथा भी ऐसी ही कुछ है। अल्लाह ने 'असत्' से 'सत्' की सृष्टि की 'कुन्' कहकर। बाइबिल (Old Testament) की सृष्टि-कथा बिल्कुल ऐसी ही है।

And 'In the beginning God created the heaven and the earth.'

And the earth was without form and void and darkness was upon the face of the deep And the spirit of God moved upon the face of the waters.

And God said let there be light and there was light.

And God said let there be a firmament in the midas of waters and let it divide the waters from the waters. इत्यादि Genesis (1) 1-3. 6.

आरम्भ में गॉड ने पृथ्वी और अन्तरिक्ष का निर्माण किया। पृथ्वी अमूर्त थी और अनन्त गह्वर में अन्धकार था। गॉड की आत्मा जल-तल पर चलने लगी। उसने कहा 'प्रकाश हो' प्रकाश हुआ। इसी प्रकार अन्तरिक्ष का जन्म हुआ और अन्तरिक्ष में सूरज और चांद का!

कहने की आवश्यकता नहीं कि क़ुरान और बाइबिल की सृष्टि-कथाएं बहुत ही घनिष्ट रीति से सम्बद्ध हैं। टेस्टामेण्ट की कथा में जिस 'the deep' का प्रयोग हुआ है वह वास्तव में बेबीलोनी 'तियावाथ' है और भी अन्य प्रमाणों से यह सिद्ध है कि अरब और यहूदी कथा का मूलस्रोत प्राचीन बेबीलोनीय पुरावृत्त साहित्य है। कहा जाता है कि शतपथ ब्राह्मण की प्रलय-कथा में उस बाढ़ का स्मरण विद्यमान् है जो क़ुरान और बाइबिल में वर्णित है। यह 'बाढ़' ऐतिहासिक है। इराक़ की इस बाढ़ की सूचना भारतीय आर्यों को चाहे यात्रियों द्वारा मिली हो अथवा उन्होंने पश्चिम-दक्षिण मध्य एशिया से गुजरते समय स्वयं उसे देखा हो यह स्पष्ट है कि शतपथ ब्राह्मण की प्रलय-कथा पर बाहरी प्रभाव नहीं है वरन् कथा स्वयं विदेशी है। क्या यह संभव नहीं कि सृष्टि विषयक इस कथा पर भी सामी (Semetic) प्रभाव हो? यह दो कारणों से सम्भव जान पड़ता है। पहिले तो यह कि शतपथ ब्राह्मण की उक्त कथा और ऋग्वेद की कथाओं में कोई सम्बन्ध नहीं है और दूसरे शतपथ ब्राह्मण की सृष्टि विषयक एक अन्य कथा और बाइबिल तथा क़ुरान की आदम और होवा की जन्म-कथा में बहुत कुछ समानता दिखाई देती है।

आरम्भ में विश्व का आत्मा पुरुष अकेला था। इसलिये वह सुखी नहीं था। उसने अपने शरीर को दो भागों में विभक्त कर दिया और नर-नारी रूप में परिणत हो गया। उनसे मानव जाति की उत्पत्ति हुई। स्त्री ने सोचा, 'यह पुरुष अपने से उत्पन्न कर मुझसे किस प्रकार मैथुन करता है? मुझे अन्तर्हित होना चाहिए।' यह सोचकर वह गाय बन गई और तब वह बैल। इस प्रकार गो जाति की उत्पत्ति हुई। वह बडवा बनी और वह अश्व, इस प्रकार अश्व जाति की उत्पत्ति हुई। इत्यादि। भारतीय पुरावृत्त साहित्य में यह पहली गाथा है जिसमें स्पष्ट: नर-मादे के मैथुन से सृष्टि-रचना की ओर संकेत किया गया है।

And the Lord God caused a deep sleep to fall upon Adam and he split and he took one of his ribs.

And the rib, which the Lord God had taken from man, made a woman and brought her into the man. Genesis (II) 21-22.

इस प्रकार आदम और होवा एक ही शरीर से बनाए गए, यद्यपि इनकी रचना करने वाला गॉड था। बेबीलोनी देवता नेबेरत्वेर ने अपने अंग से नर-नारी का निर्माण किया था। इस प्रकार बेबीलोनी कथा और (Old Testament) की कथा में कारण

कार्यभाव से नर-नारी का जन्म हुआ। शतपथ ब्राह्मण की इस कथा में 'पुरुष' ने स्वयं अपने को दो भागों में, नर-नारी रूप में विभक्त किया। किन्तु यह केवल एक दार्शनिक पालिश है जो प्राचीन सामी कथा का भारतीयकरण करने के लिए की गई।*

हिरण्याण्ड से संसार की उत्पत्ति बताने वाली जातियों में भारतीय और जापानियों का प्रमुख स्थान है।

हिरण्य गर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत।
स दाधार पृथ्वींद्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ऋ० १०।१२१।१२

'आदि काल में हिरण्यगर्भ था। समस्त प्राणियों का वह पति था। उसने पृथ्वी और आकाश को धारण किया। उस देवता का हम हविर्विधान करते हैं।'

विष्णु-पुराण कहता है कि इस हिरण्य गर्भ के भीतर सारे द्वीप, सागर, पर्वत, देवता, राक्षस और मानव थे। इस प्रकार इस अण्डे के टूटने से सारी सृष्टि हुई।

जापानी पुस्तक निहोंगी के द्वारा विदित होता है कि आरम्भ में अनन्त और असीम नर-नारी तत्व-मय एक विशाल और अमूर्त अण्डा था। इसका निर्मल और स्वच्छ भाग अन्तरिक्ष हुआ और आभ्यन्तरिक भाग पार्थिव रूप हुआ। पृथ्वी और आकाश के बीच एक नरकुल उगा और कुनी-तोको-ताची देवता में परिणत हो गया। इससे और भी देवों की उत्पत्ति हुई। किन्तु इज़ंगी (आकर्षक पुरुष) और इज़ानामी (आकर्षक स्त्री) इनमें मुख्य हैं, जो समस्त दुःखपूर्ण व्यवस्था (Sorry scheme of things) के लिए उत्तरदायी हैं। इन दोनों देवताओं ने स्वर्ग के तैरते हुए पुल पर खड़े होकर रत्नजटित भाले से, अधः स्थित अनन्त के रहस्योद्घाटन की इच्छा से, समुद्र का संस्पर्श किया। जब भाले को उन्होंने ऊपर उठाया तो जल-बिन्दुओं के जम जाने से एक द्वीप की उत्पत्ति हुई। और इस द्वीप पर स्थिति हो कर पति-पत्नी होने की इच्छा प्रकट की। किन्तु वे तो भाई बहन थे। अतः वे एक स्तम्भ निर्माण कर उसके चारों ओर विपरीत दिशा से चक्कर काटने लगे। यह क्रम बहुत दिनों चलता रहा। वर्षों बीत गए। अन्त में इज़ंगी ने इज़ानामी को देख कर कहा, 'अभूतपूर्व सौन्दर्य-राशि!' इज़ानामी ने कहा, 'सुन्दर कठोर युवा!' और आलिङ्गन-बद्ध हो गए। उनसे सारी सृष्टि हुई। और महान् अष्ट-द्वीप देश की उत्पत्ति हुई।

निहोंगी की कथा बड़ी रोचक है। जापान ने सृष्टि विषयक अत्यन्त मौलिक पुरावृत्त को जन्म दिया है। भारतीय हिरण्यगर्भ कथा में विचार प्रधान है, इसमें कला। किन्तु मूलतत्व समान है।

इन सब कथाओं का अध्ययन करने के पश्चात् बरबस यह कहना पड़ता है कि इन सब कथाओं का जन्म प्रागैतिहासिक काल में, जब वर्तमान जातियों के विभिन्न पूर्वज किन्हीं अज्ञात देशों में रहते थे, हुआ था। यह कहना कि इन कथाओं के आदिम कहने वालों ने यात्रियों द्वारा एक दूसरे को प्रभावित किया कदाचित किसी अंश में सत्य हो सकता है, जैसे बैबीलोनी और भारतीय विनिमय। किन्तु जापान और प्राचीन भारत कभी भी बौद्ध युग के पहले एक दूसरे को नहीं जानते थे। ऐसी दशा में यह कहना कि इन जातियों ने एक दूसरे को प्रभावित किया नितान्त भ्रम है। जापान की कथा और भारतीय हिरण्यगर्भ वाली कथा के आत्मा में बड़ा अन्तर है। समानता का प्रधान कारण यह है कि मानव जिज्ञासा ने, व्यक्तिगत मस्तिष्क के सहारे प्राप्त अवसरों से प्रभावित हो कर, इन समान कथाओं का जन्म दिया है। मनुष्य ने जैसी अपने सामने सृष्टि देखी उसी को रूपान्तरित किया—आदिम युग के अर्द्ध-दार्शनिकों ने जन्म-सुलभ धर्म-भावना को सन्तुष्ट किया।

---

* ब्रह्मा ने कामोत्तेजना से प्रेरित हो अपनी कन्या सरस्वती से कामयाचना की थी। इसका आधार शतपथ ब्राह्मण की प्रस्तुत कथा है।—लेखक

वर्तमान संकट और संसार का भविष्य

श्री विजय वर्मा

१८७८ ई० के जून मास में जरमनी की राजधानी बरलिन में 'बरलिन कांग्रेस' हुई जिसने बल्कान के टुकड़े टुकड़े कर उसे छोटी छोटी रियासतों में बाँट दिया; साथ ही ब्रिटेन को इसने यह सुअवसर दिया कि वह टर्की के साथ अलाहिदा एक सुलह करके उससे साइप्रस टापू ले लेने के बदले में यह वादा कर दे कि तुर्कों का 'एशियाई साम्राज्य' क़ायम रहेगा। अगर ताक़तवर मुल्कों में न्याय की दृष्टि होती तो यही कांग्रेस दुनिया के सुधार की बहुत अच्छी नींव डाल सकती थी। लेकिन उसी वक्त नींव पड़ रही थी उस महायुद्ध की जो १९१४-१८ में लड़ा गया। वस्तुतः इङ्गलैण्ड ने अपने एशियाई साम्राज्य को अच्छी तरह अलेहदगी ('Splendid isolation') में रख सकने के लिए ही यह अलग सुलहनामा किया। टर्की भी इसे जानता था। खुल्लमखुल्ला टर्की को 'मरने वाले रोगी' की उपाधि दी जा चुकी थी और उसकी ओर जिन लोगों की गिद्ध-दृष्टि पड़ रही थी उन्हें वह भी देख रहा था। लेकिन उस समय नये ज़माने की नई व्यवस्थाओं को अपनाने की ताक़त टर्की में न थी। जिन बुराइयों में वह अपनी कमज़ोरियों की जड़ें देख सकता था उन्हें हटा देने की शक्ति या स्फूर्ति वह अपने में नहीं पा रहा था। अरब, सीरिया और पैलेस्टाइन को टर्की से अलग करने के लिए इन्हें छोटे मुल्की हिस्से में बाँट देना ज़रूरी था और इसके लिए 'एक ज़बान वालों की एक क़ौम' या ऐसे ही तरह तरह के 'असूलों' का प्रचार करके अरबी ज़ुबान वाले अरबों को टर्की ज़ुबान वालों से और इसी तरह दूसरों को भी, काफ़ी प्रचार के साथ, अलहदगी के लिए संगठित किया गया था। अन्त में पहले महायुद्ध के बाद ख़िलाफ़त को तोड़ देने का मौक़ा भी आ गया। पर इसके लिए यकायक साहस पा लेना सहज न था। संयोग से कमाल पाशा को टर्की ने अपना नेता बनाया। कमाल पाशा ने स्विट्ज़रलैण्ड के राजनैतिक क़ानूनों को अपनाना ठीक समझा; अपने यहां की लिपि की जगह 'लैटिन लिपि' को दे दी। ख़िलाफ़त चकनाचूर हो गई। तेल के जिन इलाक़ों को अंग्रेज़ क़ौम लेना चाहती थी वे उसे मिल गये और टर्की अब ऐसी हालत में न रहा कि उसे 'बड़ी ताक़तों' में गिना जाता। इन सब का असर सभी मुसलमानी देशों पर पड़ा। हिन्दुस्तान के मुसलमानों ने भी ख़िलाफ़त की रक्षा के लिए आवाज़ उठाई थी। पर जब १९२४ में कमाल पाशा ही के ज़रिये उसका ख़ात्मा हुआ तब वे क्या कर सकते थे? विजयी मुल्क इङ्गलैण्ड में विजय के फलस्वरूप नैतिक विश्वास बढ़ने, 'क्रिश्चियन सभ्यता' का प्रसार होने और वास्तविक लोकतन्त्र के अभावों की पूर्ति होने के लक्षण नहीं दिखलाई दिये। युद्ध के समय इन्हीं की घोषणा कर इनके लिए ही इतने अधिक लोगों के 'बलिदान' की ज़रूरत समझाई गई थी। फ्रांस में कई दलों का मतभेद बढ़ता गया। अमेरिका में प्रेसिडेन्ट विल्सन की न चली; कहा जाता है कि निराशा के साथ उनका प्राणान्त हुआ। केवल एक मुल्क—रूस, इस लड़ाई से ऐसा फ़ायदा उठा सका कि अपने यहाँ 'सोवियट' गवर्नमेन्ट क़ायम कर ली और लेनिन, स्टेलिन आदि लोगों को जो एक ज़माने में साइबेरिया में निर्वासित कर दिये गये थे, यूरुप आदि से वापिस बुला कर उनके हाथ में अपना नेतृत्व दे सका। सोवियट गवर्नमेन्ट ऐसी गवर्नमेन्ट हुई जो यह घोषणा करती हुई बनी कि उसका धार्मिक विश्वासों से कोई भी सम्बन्ध नहीं है, और उन्हें वह ज़रूरी या लाभदायक भी नहीं समझती। हिन्दुस्तान में ईसा से पहले ऐसे ज़माने आ चुके थे जब व्यक्तिगत धार्मिक विश्वासों को सामाजिक

विधान से अलग करने की कोशिश की गई थी और इसमें सफलता भी मिली थी। जैन और बौद्ध दोनों आन्दोलन असिल में ऐसे ही थे। इसके बहुत पहले कर्मयोगी क्षत्रियों ने जिनमें जनक और कृष्ण के नाम और कामों का ख़ासतौर से बयान है ऐसे ही विधानों को श्रेष्ठ समझा था। 'यूनानी मूर्तिपूजा और यूनान के विचारों ने यहां के अनेक 'धार्मिकों' को अपनी ओर खींच कर उन्हें सैकड़ों अंधविश्वासों में फँसा दिया। इस अवस्था के सुधार के लिए मुसलमानी 'एकेश्वर-वाद' और समता के विचारों के प्रचार ने बहुत कुछ काम किया। वेदान्त, सूफ़ी और कबीर पन्थ मिल जुल कर लोगों को फिर सच्चे कर्मयोग की तरफ़ ले जाना चाहते थे। रूस का आन्दोलन भी, अनेक विद्वानों के अनुसार, अपने ढङ्ग का पूरा कर्मयोगी आन्दोलन था और है।

यूरुप के लोग यह देख चुके थे कि 'मशीन-युग' के आगमन के बाद केवल पूंजी के सहारे निकम्मे, और स्वार्थी साहूकार किन किन उपायों से जनता को अपनी ओर करके उनसे 'वोट' पाते हैं और अपनी गवर्नमेन्ट बनाकर जनता की भलाई की कुछ भी परवाह न कर मनमाने क़ानून बना उन्हीं का तरह तरह से शोषण करते हैं। कार्लमार्क्स के प्रयत्नों से एक ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय दल का संगठन इस मशीन-युग में किया गया जो इन 'निकम्मे' लोगों के चंगुल से परिश्रमी लोगों को छुटकारा दिला सके। किन्तु दूसरे लोगों का अन्तर्राष्ट्रीय संगठन कई सदियों पहले से था और उनके पास प्रचार तथा संगठन के बहुत से साधन थे। मुल्कों की हुकूमतें उन्हीं के हाथों में थीं। वे धर्म, सभ्यता, लोकतन्त्र आदि के नाम का मनमाना उपयोग कर रहे थे। 'धार्मिक' गुरु लोग उनसे 'वेतन' या और तरह से धन ले लेकर उन्हीं का साथ दे रहे थे। फलतः रूस की इस क्रान्ति ने यूरुप, इङ्गलैण्ड और अमरीका में भी तहलका मचा दिया। हमारे यहाँ भी अब भी अनेक लोग चिल्ला उठते हैं—'हम रोटी के बदले अपने धर्म, अपनी संस्कृति या अपनी राजतन्त्र को नहीं छोड़ सकते।' और इनमें वे लोग होते हैं जिन्हें रोटी देने के लिए ही उस झूठे प्रचार को हटाने की ज़रूरत है जो धर्म और विशेष राजतन्त्र के नाम से आपस में फूट डालने और अपनी कौड़ी सीधी करने के लिए बराबर किया जाता है!

फिर भी हिन्दुस्तान और युरोपीय मुल्कों में यह बहुत बड़ा अन्तर था—जो अब भी है—कि यहाँ अब भी 'मशीनों' का इतना इस्तैमाल नहीं हो पाया कि 'उत्पादन के सब साधन' पूंजी रखने वालों के ही हाथों में आ जावें। इसके सिवा, यह देश पराधीन होने से अपने लिए आवश्यक मशीनें भी बना नहीं सकता। यहां तो मोटर, जहाज़, रेल के इंजिन आदि ही नहीं, घड़ियां, फाउन्टपेन, रंग, दवाइयाँ, छापे की मशीनें, ब्लेड जैसी मामूली चीज़ें बनाने के भी कारख़ाने नहीं खुले और इनमें से अधिकांश तो खोले ही नहीं जा सकते। इसलिए जब यहां रूस जैसी क्रान्ति करने की योजना कोई व्यावहारिक समझने लगे तब उसके दिमाग़ में कुछ फ़ितूर ज़रूर समझना चाहिये। रूस को अपने देश की एक व्यवस्था हटा कर दूसरी क़ायम करनी थी। हमें सबसे पहले अपने देश को पराधीनता की उस अस्वाभाविक अवस्था से आज़ाद कराना है जिसकी वजह से हम जापान और जरमनी तक के सामान को अपने यहाँ से न निकाल पाये। अमरीका से मोटरें आदि लेना 'आवश्यक' समझा जाने से अपने कारख़ाने इनके लिए भी न खोल पाये। यह सब धार्मिक मतभेद का प्रश्न नहीं है, न यह ऐसे काम हैं जो हिन्दू और मुसलमान अलग अलग करें। मुल्क के लिए समुद्री जहाज़ मिलकर ही बनाये जावेंगे। इनके कारख़ानों में सब लोग मिल जुल कर काम करेंगे। इसी तरह हज़ारों कारख़ाने और भी होंगे। 'लड़ाई के काम में ही चालीस हज़ार चीज़ें काम में आती हैं, जिनमें अभी सिर्फ़ बीस हज़ार ही हिन्दुस्तान में बनती हैं।' कपड़ा तक अभी साठ करोड़ का बाहर से आता है। फिर भी इस समय विलायत जाने वाले माल के धन

के बदले हम जो चाहते हैं वह नहीं दिया जाता। यह सरकारी तौर से अब से आठ मास पहले बतलाया गया था कि 'भारत की आर्थिक स्थिति सबसे मज़बूत होगई है। पहले हिन्दुस्तान ३७६० लाख का देनदार था पर अब वह सब 'क़र्ज़' अदा हो कर इस मुल्क के ३०२० लाख जमा हो चुके हैं।' यह मुल्क महाजन हो गया है। फिर भी हमारी यह बात कि हमारे इस धन से यहाँ के विलायती पूंजी से चलने वाले कारख़ाने ख़रीद लिये जावें मानी नहीं जाती। हमें यह विश्वास दिलाया जाता है कि इस धनके बदले 'धीरे धीरे आवश्यकतानुसार' हमें तरह तरह की विलायती मशीनें मिलेंगी। यहां के सच्चे और निष्पक्ष अर्थशास्त्रियों और समाजशास्त्रियों में से कई एक इस 'साम्राज्यवादी चाल' की पोल खोल चुके हैं।

अब से तीन बरस पहले* 'स्टेट्समैन' ने लिखा था—Let us confess that in the past we Britons have done India much wrong. We have starved her industry to feed our own markets—अर्थात् 'हमें यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि हम ब्रिटेन वालों ने हिन्दुस्तान के प्रति बीते हुए ज़माने में बहुत अन्याय किया है। हमने हिन्दुस्तान के बाज़ारों में अपना माल बेंचने के लिए हिन्दुस्तान के उद्योग-धन्धों को ख़तम कर दिया है।' इस महायुद्ध के दरम्यान यह सवाल कई दफ़े उठा कि हिन्दुस्तान को 'आर्थिक और औद्योगिक स्वराज्य' तो दे ही देना चाहिए; पर सदैव इसका घोर विरोध किया गया और यह मुल्क देख रहा है कि ऐसी योजनायें चल रही हैं जो उसकी थोड़ी सी बची-खुची औद्योगिक आज़ादी को भी ख़तम कर देने पर उतारू हैं। और यह सब हो रहा है 'जनता की' असीम 'भलाई' करने, उन्हें ऐसे नेताओं के चंगुल से छुड़ा देने के लिए जो असिल में पूंजीपतियों के एजेन्ट हैं और ज़बरदस्ती नेता बन गये हैं।' इस झूंठ और बेशरमी का क्या इलाज है!

* 'Statesmen,' 25-8-1940

असिल में यह सब इस समय की 'वैज्ञानिक' कही जानेवाली सभ्यता और संस्कृति की देन हैं। आज कल का सम्पूर्ण साम्राज्यवाद और पूंजीवादी पश्चिमी लोकतन्त्र इसी के फल हैं।

जो जो देश कल सब से बढ़े-चढ़े सभ्य समझे जाते थे वे ही आज एक दूसरे को 'अन्यायी', 'जंगली', 'फ़ासिस्टी' आदि कह कर आपस में 'संपूर्ण वैज्ञानिक और बौद्धिक शक्ति के साथ' लड़ रहे हैं। एक दूसरे की राजधानियों और बड़े बड़े शहरों पर बराबर 'सूद दर सूद के साथ' बम-वर्षा करने और उन्हें जला कर बिल्कुल नष्ट कर देने में अपनी बहादुरी और बेहतरी समझ रहे हैं।

जोड साहब ने लिखा है—Here then is an age which is without beliefs in religion, without standards in morals, without convictions in politics, without values in art...To if life has no point & the universe no purpose...It has mastered nature...but it has neglected man* अर्थात् 'यह युग ऐसा है जिसमें धर्म में विश्वास नहीं, नीति का कोई उचित माप-दण्ड नहीं, राजनीति में कोई जमे हुए यक़ीरे नहीं, कला का कोई सच्चा मूल्य नहीं···इस युग में जीवन का लक्ष्य नहीं, विश्व का कोई उद्देश्य नहीं—प्रकृति पर तो विजय प्राप्त कर ली गई पर मनुष्य की परवाह नहीं की गई है।'—इसका कारण वे यह बतलाते हैं—It is because we are continually mistaking means for ends that our civilization has fallen into errors.* 'हमारी सभ्यता ग़लत रास्ते पर इसलिये चल खड़ी हुई क्योंकि हम साधनों को उद्देश्य समझने की भूल बराबर किया करते हैं।' उनका कहना है—Leisure, comfort & money are not ultimate

* The Plight Of Our Civilization —G. E. M. Joad.

good but utilitarian needs. 'फ़ुरसत, आराम और धन अन्तिम लक्ष्य नहीं, बल्कि काम निकालने भर की चीज़ें हैं।'

दुनिया के शक्तिशाली लोगों के लिए पिछला महायुद्ध बहुत बड़ी चेतावनी थी। उन्हें दुनिया को सुधारने का एक शानदार अवसर मिला था। पर उन्होंने उसे खो दिया। इसीलिए यह लड़ाई अनिवार्य हो गई। चाहिए कि संसार के प्राकृतिक नियमों और मानव समाजशास्त्र के नैतिक नियमों की अवहेलना अब न की जावे, क्योंकि इसमें अपनी ही हानि है। लड़ाई के बीच में ही अमरीका और इंगलैण्ड में लड़ाई के बाद की योजनाओं की पूर्ति पर अमल प्रारम्भ हो गया है। अगर ऐसा न किया जावे तो लड़ाई के बाद यकायक परिवर्तन करना सम्भव ही नहीं होता। फिर हिन्दुस्तान से लड़ाई के बाद के लिए सारी आशायें मुल्तवी रखने को क्यों कहा जाता है? हम अपनी भूख-प्यास, अपने कपड़े-लत्ते, अपने लिए आवश्यक कल-कारखानों का प्रबन्ध करने की शक्ति आज न पा सके तो कल, लड़ाई के बाद, क्या कर सकेंगे? हमें राजनैतिक वायदों, धार्मिक विश्वासों आदि के भरोसे रखना या 'रूस जैसी क्रान्ति' करा कर हमें इनाम देने की की बातें करना किसी तरह और किसी के लिये लाभदायक नहीं हो सकता। किन्तु जिस तरह खाने पहरने की वस्तुओं के ख़रीदने और बेंचने पर सरकारी कब्ज़ा होता जा रहा है उससे लोगों को यह स्वभाविक भय है कि जो थोड़ी बहुत आर्थिक स्वाधीनता इस बारे में अब तक मिली हुई थी वह भी अब छिन जावेगी। इसके लिए जनता के अज्ञान और विशेष पढ़े लिखे लोगों के संकीर्ण स्वार्थ से लाभ उठा कर जो चाहे वह किया जा सकता है। पर क्या अन्त में इसका फल सन्तोषदायक हो सकता है? जोड साहब की तरह के विचार अनेक निष्पक्ष विद्वान् प्रकट कर चुके हैं। ये लोग संसार का पुनर्निर्माण नये मूल्यांकन के आधार पर चाहते हैं, जिससे मानव जीवन का कुछ लक्ष्य और उसका गौरव (Purpose & dignity of human life) दिखलाई दें। उदार और निष्पक्ष विद्वानों की ऐसी सम्मतियों के आधार पर काम करने से साम्राज्यवादी विचार अपने आप ख़तम हो सकते हैं। अभी अभी मज़दूर दल के काव साहब ने पिछले वाइसराय और वर्तमान भारत-मंत्री की उचित निन्दा की है और उनके कामों को सर्वथा अनुचित ठहराते हुए यह सच्ची बात कह दी है कि The real Indian problem was not over-population but the fact that there was an alien Government governing India. It was the social & economic condition which obtained in India & which would not be changed until India gets her political independence अर्थात् हिन्दुस्तान की असली समस्या अत्यधिक आबादी नहीं है। बल्कि यह असली चीज़ है कि वहाँ विदेशी शासन है। वहाँ की सामाजिक और आर्थिक दशाएं तब तक नहीं बदल सकतीं जब तक हिन्दुस्तान आज़ादी नहीं हासिल करता।'* वस्तुतः जोड साहब की, काव साहब की और ऐसे अन्य दूरदर्शियों की मानवोचित इच्छा ठीक वही है जो यह विशाल देश अपने महान नेता के अमिट शब्दों में प्रकट कर चुका है और प्रकट कर रहा है। इसी की पूर्ति की ओर चलने से भावी संसार को संकटों से दूर किया जा सकता है—'और कोई पथ नहीं है।'

---

* पार्लियामेंट के मज़दूर-सदस्य श्री कोव साहब (Mr. W. G. Cove) के २८-११-४३ के भाषण से।

विक्रम द्वि सहस्राब्दि समारोह और प्रस्तावित विश्वविद्यालय

श्री भगवानदास केला

भारतवर्ष में जो सन् सम्वत आदि प्रचलित हैं, उनमें विक्रम सम्वत का विशेष प्रचार है। यह सम्राट् विक्रमादित्य की याद में है, और आगामी मार्च १९४४ में इसके दो हज़ार वर्ष अर्थात् बीस शताब्दी (सदी) पूरी हो जाँयगी। उस अवसर पर सम्राट् विक्रम की राजधानी उज्जैन में एक महान समारोह का आयोजन किया जा रहा है। इसमें कई राजा-महाराजाओं का सहयोग प्राप्त होने की आशा है। ग्वालियर-नरेश श्री मंत मेजर सर जीवाजी राव महाराजा शिन्दे के तत्वावधान में यह महोत्सव मनाया जायगा।

यह ठीक है कि जनसाधारण को खेल तमाशों में रुचि होती है, परन्तु ज्यों ज्यों उनका मानसिक या सांस्कृतिक धरातल ऊँचा होता जाता है, उनके खेल तमाशों का उद्देश्य केवल क्षणिक मनोरंजन नहीं रहता और किसी भी नेता या सत्ता को यह उचित नहीं है कि वह जनता की साधारण मनोवृत्ति का लाभ उठा कर उसका ध्यान मूल प्रश्नों से हटाने का प्रयत्न करे। हमारा कोई भी समारोह या उत्सव विशेष मूल्यवान नहीं है, यदि वह हमारी प्रधान समस्याओं को हल करने में सहायक नहीं होता और हमारी परिस्थिति को सुधारने का साधन नहीं बनता। विक्रम-द्विसहस्राब्दि-समारोह की उपयोगिता भी इसी कसौटी पर कसी जानी चाहिए। कुछ विद्वानों के भाषण, कुछ निबन्ध, पाठ, पुस्तकालय प्रदर्शनी, कीर्त्ति-स्तम्भ का निर्माण आदि का अपना अपना मूल्य अवश्य है, परन्तु भारतवर्ष के दो हज़ार वर्षों की यादगार के लिए क्या यह आयोजन कुछ काफ़ी कहा जा सकता है? इस शुभ अवसर पर तो कोई ऐसी ख़ास बात की जानी चाहिए जो जनता को कुछ स्थायी रूप से ऊँचा उठाने वाली, और उसे वास्तविक सुख प्रदान करने वाली हो।

आजकल संसार की अधिकांश जनता, और विशेषतया निर्धन और पराधीन भारत के आदमी दो मुख्य रोगों के शिकार हैं आर्थिक और राजनैतिक। यदि हम शुद्ध सच्चे हृदय से विक्रम की याद मनाना चाहते हैं तो सब से प्रथम लोगों को भोजन-वस्त्र काफ़ी प्रमाण में दिये जाने की व्यवस्था होनी चाहिए। अन्य बातों की कुछ समय प्रतीक्षा करनी पड़े तो ऐसा हर्ज नहीं है, परन्तु जनता की भूख प्यास और सर्दी गर्मी का कष्ट तो तुरन्त ही निवारण किया जाना चाहिए। जिन धनवानों, रईसों, सरदारों या राजा महाराजाओं को विक्रम-स्मृति का कुछ अभिमान हो, वे अपने सुख और वैभव का कुछ त्याग करके अपनी शक्ति जनता जनार्दन की सेवा में लगावें। यदि वे एक बार इसका दृढ़ निश्चय करलें तो ब्योरेवार योजना सहज ही बन सकेगी।

दूसरा कार्य जो अत्यावश्यक है, वह है शासन-सुधार का। यदि यह कार्य ठीक तरह हो जाय तो आर्थिक उत्थान का मार्ग भी सरल हो जायगा। जब हम किसी कामके करने को ठान लेते हैं तो उसका कुछ मार्ग निकल ही आता है। इसके विपरीत यदि हम टालना चाहें तो बहाना ढूंढ लेना भी कुछ कठिन नहीं। शासकों को प्रायः शासन-सुधार करने में टालमटोल की आदत होती है। आजकल ब्रिटिश सरकार से जब कोई सुधार करने की बात कही जाती है तो उसके लिए 'युद्ध-काल' का बहाना बना-बनाया है। वह भारतवर्ष को 'स्वराज्य' और न जाने क्या-क्या देने का वायदा करती है, परन्तु उसके सब प्रतिज्ञापत्रों पर युद्ध के बाद की मिति डाली जाती है। उधर यह हाल है कि अधिकांश आदमियों के लिए उसकी साख प्रायः जाती रही है। इसका कारण अंगरेज़ों के समय का विशेषतया पिछले महा युद्ध (१९१४-१८) और उसके बाद का शासन-इतिहास

है। जो हो, हमारे राजा - महाराजाओं को प्रत्येक सुधार के लिए 'युद्ध के बाद' की बात कहना उचित या शोभास्पद नहीं है। इन शब्दों में कुछ दम नहीं रहा है। जो राजा - महाराजा वास्तव में विक्रम द्विसहस्राब्दि-उत्सव की कुछ स्थायी यादगार बनाने के इच्छुक हों, उन्हें अन्य छोटे मोटे कार्यों को संतोषप्रद नहीं समझना चाहिए—जनता में सभी आदमी बिल्कुल भोले नहीं हैं—उन्हें जनता के हाथ में शासन-शक्ति सौंपने का कोई योग्य और अच्छा कदम उठाना चाहिए। क्या हम आशा करें कि जो ब्रिटिश सरकार युद्ध के समय के कुछ विशेष लोक-हितकारी कार्य करने में अपनी असमर्थता सूचित करती रही है, वह राजाओं को तो कुछ सुधार करने देने में बाधक न बनेगी वरन् कुछ प्रोत्साहन ही देगी ?

अब 'विक्रम शिन्दे (?) विश्वविद्यालय, के बारे में। इस समारोह के आयोजनों में से एक है—"हिन्दी माध्यमयुक्त विक्रम शिन्दे विश्वविद्यालय की घोषणा।" विश्वविद्यालय सम्बन्धी ब्यौरेवार बातों का यहां विचार न कर केवल उसके प्रस्तावित नाम के बारे में ही कुछ कहना है। साधारण तौर से यह कहा जा सकता है कि यदि किसी नागरिक को एक शिक्षा-संस्था से ज्ञान मिलता है तो उसे वह सहर्ष प्राप्त कर लेना चाहिए, उस संस्था के नाम के विषय में विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं। सिद्धान्त से यह बात ठीक है। परन्तु दूसरा भी पक्ष है; लोक-भावना की सर्वथा उपेक्षा होना भी ठीक नहीं। विश्वविद्यालय वह संस्था है जिसकी प्रत्येक बात से व्यवहार में शिक्षा मिलनी चाहिए। जो कोई उसके सम्पर्क में आवे वह त्याग, उदारता, सेवा और निरभिमानता का पाठ सीखे। शिन्दे राजवंश के प्रति किसी प्रकार की लघुता का भाव सूचित न करते हुए मैं यह कहना चाहता हूँ कि अकेले विक्रम के नाम पर जितने देशी राज्यों का सहयोग किसी विश्वविद्यालय को मिल सकता है उतना सम्भवतः विक्रम और शिन्दे दोनों के संयुक्त नाम पर नहीं मिल सकता। उदाहरण के लिए मध्यभारत के ही राज्यों को लें। इन्दौर राज्य यह सोच सकता है कि होल्कर-विश्वविद्यालय की स्थापना की जाय, और यदि उसके लिए शक्ति या सुविधा पर्याप्त नहीं है तो कुछ भी न किया जाय। यदि ऐसी बात हो तो उसे कौन पसन्द करेगा ? और इससे क्या अच्छा उदाहरण उपस्थित होगा ? हमारी इच्छा है कि नये विश्व-विद्यालय का क्षेत्र यदि अधिक नहीं तो मध्य भारत तक तो रहना चाहिए। शिन्दे नाम से, उसका क्षेत्र बहुत कुछ गवालियर राज्य में परिमित रहने की आशंका है। हो सकता है, यह आशंका इन पंक्तियों के लेखक जैसे कुछ व्यक्तियों की कमज़ोरी के कारण ही हो; परन्तु क्या मानवी स्वभाव की दुर्बलता से सतर्क नहीं रहना चाहिए ?

मैं आशा करता हूँ कि विश्वविद्यालय जैसी महान शिक्षा संस्था का आयोजन करने वाले महानुभावों का हृदय इतना विशाल होगा कि वे अपनी ओर से किसी व्यक्तिगत भावना के कारण विश्व-विद्यालय की उपयोगिता कम करने वाली बात कदापि न होने देंगे। उन्हें काम से मतलब होगा, अपनी प्रसिद्धि या ख्याति से नहीं। और यह तो स्पष्ट ही है कि उज्जैन (गवालियर राज्य) में इस नये विश्व-विद्यालय की स्थापना होने से (तथा गवालियर महाराज द्वारा आर्थिक व्यवस्था होने के कारण) गवालियर राज्य को तो इसका यश और श्रेय है ही। अच्छा हो, इसके नाम में ऐसा आकर्षण हो कि अन्य राज्य भी इसमें खुले हृदय से, अधिक से अधिक सहायता और सहयोग कर सकें, और यह विश्वविद्यालय भारतवर्ष भर के विश्वविद्यालयों में अपना विशेष स्थान बना सके। इन पंक्तियों को लिखने में हमारा लक्ष्य केवल शिक्षा का अधिक से अधिक हित है, आशा है, पाठक उसी दृष्टिकोण से इन पर विचार करेंगे।

(१) पूर्व की राष्ट्रीय जाग्रति—लेखक प्रो० शंकरसहाय सकसेना एम० ए०, पृष्ठ संख्या २७० मूल्य १॥)

(२) देशी राज्य शासन—लेखक श्री भगवानदास केला पृष्ठ संख्या ५६० सजिल्द मूल्य ३॥)

इन दोनों पुस्तकों के प्रकाशक 'भारतीय ग्रन्थ-माला, वृन्दावन' के अध्यक्ष श्री भगवानदास केला जी हैं। दोनों पुस्तकें सर्वथा सामयिक हैं। पहली में पूर्व में साम्राज्यवाद, मिश्र की राष्ट्रीय जाग्रति और टर्की, अरब (सीरिया, पैलेस्टाइन, मैसोपोटेमिया और मध्य अरब), ईरान और अफ़ग़ानिस्तान की राष्ट्रीय जाग्रति पर लिखा गया है। लेखक महोदय का कहना है कि 'मेरा तो यह अनुभव हुआ है कि हिन्दी में स्वयं अपनी रुचि के अनुसार पुस्तक, लिखने का दुस्साहस कभी न करना चाहिए।' जान पड़ता है यदि ऐसा न होता तो इस पुस्तक में और भी खरी खरी बातें पढ़ने को मिल सकतीं। एक नक़्शे की और प्रत्येक 'देश' की जन-संख्या, क्षेत्रफल आदि की एक तालिका की ज़रूरत थी। अपने वर्तमान रूप में भी इस पुस्तक में ऐसी उपयोगी सामग्री है जिसकी ओर हम सब का पूरा ध्यान जाना चाहिए।

यूरप के 'छोटे से' हालैंड और बेल्जियम जन-संख्या और क्षेत्रफल में यहां के सूबों अधिकांश में से किसी की बल्कि 'कमिश्नरियों' में से भी किसी की बराबरी नहीं कर सकते। वे अपने को एक एक 'मुल्क' समझते हैं। 'अपने से क्रमशः साठ गुने और अस्सी गुने भूखंड पर इन्होंने आधिपत्य जमा लिया' था। 'उन्नीसवीं शताब्दी के समाप्त होते होते—ब्रिटेन ने चैंतालिस लाख वर्ग मील, फ्रांस ने पांच लाख, जर्मनी ने अफ्रीका में दस लाख वर्ग मील भूमि पर अधिकार जमा लिया' या 'मानों समस्त संसार को बाँध लेने का अधिकार योरोपीय राष्ट्रों को ही प्राप्त हो गया।' 'इंगलैंड मिश्र को हड़प जाना चाहता था तो फ्रांस चुप रहा, इंगलैंड ने फ्रांस का मरक्को पर अधिकार हो जाने दिया। इसी प्रकार एशिया में इंगलैंड ने रूस से समझौता कर लिया। किन्तु जब बाँटने के लिए अधिक भूमि नहीं रह गई तो यह साम्राज्यवादी राष्ट्र आपस में ही भिड़ गये।' १९१४-१८ का महायुद्ध और आजकल का महायुद्ध 'इसीलिए हुए।'

असिल में बहुत थोड़े से पूंजीपतियों के हाथों में मनचाही शक्ति आ गई है। वे ही अपनी मनमानी किया करते हैं। 'संयुक्त-राज्य अमरीका के स्टैन्डर्ड आयल-ट्रस्ट का वार्षिक लाभ डेढ़ अरब रुपये के लगभग है और वह केवल नौ पूंजीपतियों को मिलता है।' इन मालिकों के बीस से अधिक बैंक तथा पांच प्रमुख रेलें संयुक्त राज्य अमरीका में चल रही हैं।' ऐसे ही, 'आयरन-ट्रस्ट', 'तम्बाकू-ट्रस्ट' आदि बने हुए हैं। 'ये लोग अपनी पूंजी विदेशों में लगाना चाहते हैं और इसीलिए अपनी अपनी सरकार को विवश करते हैं कि वह पिछड़े हुए देशों पर अधिकार जमावे।' दक्षिण अफ़रीका में 'किम्बरले तथा अन्य हीरे-जवारात की खानों पर डी० बियर्स कम्पनी का एकाधिपत्य है। इन खानों का लाभ कुछ इने गिने

पूंजीपतियों को मिलता है। फलतः वे ही पूंजीपति 'यूनियन' पर शासन करते हैं'—वहां की 'यूनियन सरकार' 'उनके हाथ की कठपुतली मात्र रह जाती है। राष्ट्रों पर 'अधिकार जमाने' (और जमाये रहने) के लिए 'इन साम्राज्यवादी राष्ट्रों ने ईसाई मिश्नरियों का भी खूब उपयोग किया है।' यह सब लेखक महोदय ने 'पूर्व की राष्ट्रीय जाग्रति' में बता दिया है। साथ ही पूर्व के पतन के कारणों और फिर उसके नव-जन्म पर भी यथेष्ट प्रकाश डाला है। 'रेल, तार तथा अन्य आधुनिक सुविधायें न होने पर भी पहले 'कोई भी भूखा नहीं रहता था। गोरों के शोषण के कारण विजित देशों में अधिक जन-संख्या भूखी रहने लगी।' 'साथ ही उन्होंने देखा कि विद्या बुद्धि में वे किसी भी गोरे से कम न होने पर भी पद पद पर अपमानित होते हैं।' रूसी क्रान्ति के प्रभाव का और १९२० में सैंतीस राष्ट्रों की कामरेड ज़िनोविफ़ के सभापतित्व में बाकू में जो कान्फ्रेन्स हुई थी और जिसमें ख़ास कर ब्रिटिश साम्राज्यवाद की पोल खोली गई थी यथेष्ट वर्णन है। इसी तरह पूर्व के देशों में एक समूह को दूसरे समूह के ख़िलाफ़ खड़ा कर देने की जो जो चालें चली गई हैं और चली जा रही हैं उनका बहुत कुछ हाल मालूम हो जाता है और उनसे बहुत कुछ सीखा जा सकता है। हमारा अपने देश के युवकों से विशेष अनुरोध है कि वे ऐसी पुस्तकों को अपनावें और ख़ुद भी ऐसी ही पुस्तकें लिखने-लिखाने में लगें।

(२) 'देशी राज्य शासन' के शुरू में दिये हुए 'निवेदन' से पता चलता है कि ऐसी पुस्तकों के प्रकाशन में अभी कितनी अधिक कठिनाइयां हैं। इस पुस्तक के दो भाग हैं—पहले के बीस अध्यायों में 'अंगरेज़ों के आने से पूर्व' से 'देशी राज्य और संघ शासन' तक के बारे में लिखा गया है और दूसरे भाग में अलग अलग रियासतों के बारे में। पहले भाग के पांचवें अध्याय में 'सन्धियां और सनदें' दी गई हैं और अन्त में अखिल भारतीय देशी राज्य लोक परिषद का लोधियाना-अधिवेशन का वह प्रस्ताव है—'इन संधियों को सरकार स्वयं समय-समय तोड़ती रही है। आजकल की बदली हुई स्थिति में रियासती जनता पर सौ साल पहले की संधियों को, जिनमें उनकी कोई चिन्ता नहीं की गई, मानने के लिए ज़ोर नहीं दिया जा सकता। इस सन्धियों का उपयोग अब सरकार रियासती जाग्रति के दमन के लिए ही करती है। वे अब वर्तमान समय बिलकुल प्रतिकूल और अक्रियात्मक हो गई हैं। इन्हें अब समाप्त कर देना चाहिए।' 'कांग्रेस और देशी राज्य' पर भी एक अध्याय है। प्रथम भाग के अन्त में डा० पट्टाभि सीतारामैय्या के रियासतों के बारे में वे वाक्य हैं जिनके अन्त में कहा गया है—'मैं समझता हूँ कि देशी राज्यों की जनता ने अपना संगठन इसी दृष्टि से किया है कि निकट भविष्य की मुकम्मिल आज़ादी में वे अपने दायित्व और अधिकारों में पूर्ण भाग लें।' परिशिष्टों में 'देशी राज्यों की जन-संख्या और उनमें शिक्षा-प्रचार' पर एक तालिका है और देशी राज्यों के बारे में एक प्रश्नावली है। ये दोनों भी महत्वपूर्ण हैं। यह पुस्तक भी विशेष उपयोगी है।

—वि० व०

सम्पादकीय-विचार

बंगाल की हालत—पोस्टवार रिकन्सट्रक्शन पालिसी कमेटी और ट्रेड ऐण्ड इण्डस्ट्री—पुनर्निर्माण और जन स्वास्थ्य—दुधारू गाएं कटनी बन्द हों—भारत में पानी की बिजली—मद्रास सरकार और शराबबन्दी—संगीत-सम्मेलन—भारतीय पुरातत्ववेत्ता—स्वर्गीय सर आरेल स्टीन—उनमें साम्प्रदायिकता नहीं है—विक्रमोत्सव—सिक्यूरिटी प्रिज़नर्स—ए० आर० पी० संगठन—ब्रिटिश साम्राज्यवाद—भारत सरकार की नई शिक्षा-योजना—आयरलैण्ड की तटस्थता—सोवियत् रूस की अल्पमत जातियाँ—लैबनान—धुरी राष्ट्रों की आक्रमण-शक्ति—मास्को-सम्मेलन के बाद—ब्रिटेन की बढ़ती हुई अधार्मिकता—पण्डित सुन्दरलाल जी—विश्ववाणी के तीन वर्ष।

बंगाल की हालत

लार्ड वैवल के बंगाल पहुँचने के बाद से बंगाल की हालत में ज़ाहिरा थोड़ा सा परिवर्तन नजर आरहा है। गृहहीन जनता को ज़बर्दस्ती पकड़ पकड़कर कनसनट्रेशन कैम्पों या आस पास के गावों में भेज दिया गया है, जिससे कलकत्ते की मृत्यु-संख्या में आधे का फ़र्क आगया है। गावों की मृत्यु-संख्या की कोई सरकारी रिपोर्ट प्रकाशित नहीं की जारही है, इसलिये असली हालत का ठीक ठीक पता नहीं चल रहा है। डाक्टर हृदयनाथ कुंजरू जैसे ठंडे दिल के व्यक्ति ने कौंसिल आफ़ स्टेट में जो बयान दिया है उसके अनुसार अब भी पूरे बंगाल में एक लाख आदमी हर सप्ताह भूख से मर रहे हैं। कलकत्ता कारपोरेशन की रिपोर्ट के अनुसार अक्तूबर महीने में अकेले कलकत्ते के दुर्भिक्षपीड़ित मनुष्यों की मृत्यु-संख्या ७७८७ थी। फ़ौजी मदद से दुर्भिक्षपीड़ित क्षेत्रों में अन्न पहुंचाने का सराहनीय प्रयत्न किया जारहा है। कम्बल और कपड़े बांटने की भी योजना बनाई जारही है। दुर्भिक्षपीड़ित स्थानों में मलेरिया के प्रकोप को कम करने के लिये फ़ौज से २०० डाक्टरों की मदद ली गई है। नई फ़सल का धान और चावल बाज़ार में आगया है जिसकी क़ीमत आठ से पन्द्रह रुपया मन तक है।

किन्तु इस चित्र से बंगाल की असली हालत का पता नहीं चल सकता। डाक्टर श्यामाप्रसाद मुकर्जी, मौलवी फ़ज़लुल हक़ और "स्टेट्समैन" के सम्वाद-दाता तीनों के अनुसार अभी तक हालत क़ाबू में नहीं आई है। हर तरफ़ से सरकार पर इस बात का ज़ोर डाला जारहा है कि परिस्थिति को पूरी तरह क़ाबू में करने के लिये उसे कोई दक़ीका बाक़ी न उठा रखना चाहिये।

सेण्ट्रल असेम्बली की बहसों में मिस्टर जिन्नाह ने कहा कि—"फ़र्ज़ करो इङ्गलैण्ड में, हज़ारों की बात जाने दो, यदि सैकड़ों आदमी ही भूख से मरे होते तो क्या चर्चिल की सरकार २४ घंटे भी अपने पदों पर बैठी रह सकती थी?...हमें यह बताया गया है कि भारत-सरकार सन् १९३९ से भोजन की समस्या पर कान्फ्रेंसें कर रही है और आज नतीजा यह है कि हज़ारों आदमी भूखे मर रहे हैं...भारत-सरकार भयंकर बेपरवाही के इलज़ाम से अपने को बरी नहीं कर सकती। मैं प्रान्तीय सरकार को सुबुकदोश नहीं कर रहा हूं, किन्तु प्रान्तीय सरकार मुद्रा-नीति, जहाज़ी चुंगी, अनाज के बाहर भेजे जाने, क़ीमतें निश्चित करने, राशनिंग और फ़ौजी ज़रूरतों से नाज के इकट्ठा किये जाने जैसे मामलों में क्या दख़ल दे सकती थी?...इस दुर्भिक्ष के लिये भारत-सरकार ही पूरी तरह ज़िम्मेवार है और यदि वह इस ज़िम्मेवारी को नहीं समझती तो ईश्वर ही उसकी रक्षा करे।"

बहस के दौरान में इण्डिपेण्डेण्ट पार्टी के नेता श्री हुसेनभाई लालभाई ने कहा—"पिछले चार वर्षों में जितना अनाज हिन्दुस्तान से बाहर भेजा गया है उसके आंकड़े हमें नहीं बताये जाते जबकि बाहर से जो कुछ अनाज यहां आया है उसके लिये डींगें मारी जा रही हैं।"

असेम्बली के यूरोपियन सदस्य सर फ्रेडरिक जेम्स ने बहस के दौरान में कहा—"क्या राशनिंग के फ़ायदे हर एक के लिये एकसाँ है ? मैं इसलिये यह सवाल पूछ रहा हूँ कि बैंगलोर में फ़ौजी अफ़सरों पर निर्भर करने वाले जो बहुत से लोग हैं उन्हें मामूली आदमियों से बारह गुना ज़्यादा अन्न सामाग्री दी जाती है। फ़ौजी अफ़सर यह तमीज़ हरगिज़ नहीं चाहते, किन्तु उनसे कोई पूछता ही नहीं।"

मित्रराष्ट्रों ने यूरोप के देशों के भूखों के वास्ते अन्न वस्त्र और दवा के प्रबन्ध करने के लिये एक "यूनाइटेड नेशनल रिलीफ़ एण्ड रिहैबिलिटेशन एड-मिनिस्ट्रेशन" नाम की संस्था क़ायम की है। इसकी ओर से अमरीका के अटलांटिक शहर में करोड़ों मन अनाज और कपड़ा इकट्ठा किया जा रहा है। इस संस्था में रायटर की ख़बर के अनुसार भारत-सरकार भी लगभग साढ़े दस करोड़ रुपया चन्दा देगी जिससे यूरोप के एक करोड़ गोरे नर-नारियों को एक वर्ष तक भोजन दिया जा सके। प्रसिद्ध अमरीकन पत्र "शिकागो सन" ने मित्रराष्ट्रों से इस बात की अपील की है कि इस मद से बङ्गाल के भूखे मरने वालों की भी मदद की जाय। किन्तु नक्कार ख़ाने में तूती की आवाज़ कौन सुनेगा ?

यह टिप्पणी समाप्त करने के पहले हम श्री डी वेलरा और मैडम चियांग काइ शेक को धन्यवाद देना नहीं भूल सकते जिन्होंने कई लाख भेजकर भारत के प्रति अपना बन्धुत्व प्रकट किया है। भारत अपने इन मित्रों के प्रति कृतज्ञ रहेगा।

पोस्टवार रिकन्सट्रक्शन पालिसी कमेटी और ट्रेड ऐन्ड इण्डस्ट्री

जंग के बाद उद्योग-धन्धों के पुनर्निमाण पर विचार करने के लिये भारत सरकार ने ऊपर लिखी कमेटी बनाई है। भारत सरकार के व्यापार-सदस्य सर अज़ीज़ुल हक़ ने इसका उद्घाटन करते हुए कहा—"सरकार का यह कर्तव्य है कि वह नये नये उद्योग-धन्धों को सहायता और प्रोत्साहन दे। किन्तु सरकार के लिये यह भी जानना ज़रूरी है कि यहां किस तरह के उद्योग-धन्धों की गुञ्जाइश है। एक विराट क्षेत्र खुला पड़ा है किन्तु फिर भी हर तरह के उद्योग-धन्धों को सफलता नहीं मिल सकती। सरकारी सहायता से भी हर नया उद्योग नहीं चल सकता।"

सर अज़ीज़ुल हक़ के इस वक्तव्य के बाद जनता को कमेटी की कारगुज़ारियों से ज़्यादा उम्मीद नहीं हो सकती। मोटर, हवाई जहाज़, ट्रक्स, ट्रैक्टर आदि बनाने के लिये जिन भारी कारख़ानों की ज़रूरत होगी क्या सरकार उनके लिये पूंजी इकट्ठा करने में मदद देगी ? जहाज़ी कारख़ाने खोलने के लिये क्या यहां प्रोत्साहन मिल सकेगा ? मोटर का कारख़ाना खोलने के सम्बन्ध में सेठ वालचन्द हीराचन्द को सरकार ने जैसा टका सा जवाब दिया था उससे हमें सन्देह होता है कि सरकारी सहायता उस तरह के भारतीय प्रयत्नों को न मिलेगी जो ब्रिटिश उद्योगवाद के शोषण को हटाने या उसका मुक़ाबला करने की चेष्टा करेंगे। किन्तु जब तक सब तरह के कारख़ाने यहाँ न खुलेंगे तब तक देश का सच्चा औद्योगीकरण असम्भव है।

उस नैशनल प्लेनिंग कमीशन ने, जिसके चेयरमैन पंडित जवाहरलाल थे, बड़ी मेहनत और क़ाबिलियत के साथ भारत के औद्योगीकरण के हर पहलू पर इत्तलाएं जुटाई हैं। क्या सर अज़ीज़ुल हक़ की कमेटी इस सामग्री से लाभ उठाने की बात सोचेगी ? सर अज़ीज़ुल हक़ को पहले यह बात तय करनी है कि सरकारी योजना क्या है। यदि सरकार के सामने केवल कोई कामचलाऊ योजना ही है और सर अज़ीज़ को केवल जनमत के सामने शरमाहुज़ूरी करनी है तो ज़्यादा बेहतर हो कि ग़ैर सरकारी तरफ़ से इस काम को बढ़ाया जाय।

क़दम उठाने से पहले एक बात और ध्यान में रखनी चाहिये। हिन्दुस्तान बेहद ग़रीब मुल्क है। यहां की जनता की ख़रीदने की शक्ति नहीं के बरा-बर है। यहां आदमियों का मुनासिब से ज़्यादह

बोझ केवल खेती पर है। हमें ऐसे उद्योग शुरू करने चाहिये जो अधिक से अधिक तादाद में इस बोझ को कम कर सकें। विदेशी मण्डियां तलाश करने के पहले हमें अपने ही देश की मण्डियों पर कब्ज़ा करने की बात सोचनी चाहिये।

भारत जैसे पिछड़े हुए देश के लिये यह कहीं ज़्यादा मुनासिब और फ़ायदेमन्द होगा कि यहां बहुत बड़े पैमाने पर खद्दर और दूसरे ग्राम-उद्योगों को प्रोत्साहन दिया जाय। केवल इस तरह के ग्राम-उद्योग ही यहां की अतिरिक्त जनशक्ति को खपा सकते हैं नहीं तो भारत के औद्योगीकरण की वास्तविक समस्या ग़लत या अधूरे प्रयत्नों से हल नहीं हो सकती।

पुनर्निर्माण और जन स्वास्थ्य

युद्ध के बाद भारतीय जनता के स्वास्थ्य को सुधारने के लिये भारत सरकार ने एक हेल्थ सरवे एण्ड डिवलपमेण्ट कमेटी' क़ायम की है। सर जोसफ़ भोरे इसके चेयरमैन हैं। सर जोसफ़ ने अपने प्रारम्भिक वक्तव्य में कहा है—"जनता के स्वास्थ्य के गिरते जाने को रोकने के लिये हम कोई क्षणिक योजना बनाने के लिये नहीं इकट्ठा हुए हैं, बल्कि हम ऐसे सुझाव पेश करना चाहते हैं जिनकी उन्नति का फैलाव ५० वर्ष में पूरा हो।"

जनता के स्वास्थ्य के गिरने के कारणों पर बहस करते हुए सर जोसफ़ ने बताया—"कमेटी का पहला काम असली हालत की सच्ची तसवीर पेश करना है। सरकारी पुस्तकों में जो कुछ सामग्री दर्ज है वह पूरी तरह विश्वास के योग्य नहीं है।"

सर जोसफ़ ने यह भी कहा--"ब्रिटिश भारत में पुरुषों की औसत उम्र केवल २७ वर्ष है, जबकि न्यूज़ीलैण्ड में ६५ वर्ष, आस्ट्रेलिया में ६३ वर्ष, अमरीका में ५९ वर्ष, और इंगलिस्तान में ५८ वर्ष है।"

"मैनेचेस्टर गार्जियन" ने अपनी हाल की एक टिप्पणी में लिखा है कि—"बंगाल के दुर्भिक्ष के भयंकर परिणाम की एक वजह यह भी है कि निरन्तर आधे पेट रहने के कारण अधिकांश जनता इतनी कमज़ोर हो गई है कि मौत बिना कोशिश उन्हें दबोचने में कामयाब हो रही है।"

सर जोसफ़ को जनता की भयङ्कर ग़रीबी की वजह तलाश करने के लिये कहीं दूर नहीं जाना पड़ेगा। इतिहास के खुले हुए पन्ने हमें बता रहे हैं कि किस तरह 'वैज्ञानिक रीति से' भारत को दिन बदिन दरिद्र बनाया गया, किस तरह हमारे उद्योग-धन्धों का सर्वनाश किया गया, किस तरह राजनैतिक ग़ुलामी की कड़ियां दिन बदिन मज़बूत की गईं और कभी कभी हमें पशुओं से भी बदतर समझा गया।

हम सर जोसफ़ को बड़ी नम्रता के साथ बताना चाहते हैं कि विटेमिन की गोलियों और कुनेन की टिकियों से भारतीय जनता के स्वास्थ्य को लाभ न होगा। जब तक सर जोसफ़ के आक़ा अपने मौजूदा अधिकारों के साथ यहां तशरीफ़फ़र्मा हैं तब तक हमें इस तरह की कमेटियों से कोई फ़ायदा नहीं नज़र आता। हमने बीसों कमेटियों को बनते और उनकी रिपोर्टों को दाख़िल दफ्तर होते देखा है। इन हालतों में सर जोसफ़ की कमेटी रिपोर्ट का क्या अंजाम होगा उसका अन्दाज़ा लगाने के लिये कुछ बहुत बड़ी कल्पना शक्ति की ज़रूरत नहीं है।

दुधारू गाएं कटनी बन्द हों

मारवाड़ी चैम्बर्स आफ़ कामर्स और कई दूसरी संस्थाओं ने दूध देने वाली गायों के बेहिसाब काटे जाने को रोकने के लिये सरकार से अनुरोध किया है। ग़ैर सरकारी रिपोर्टों से पता चलता है कि पिछले चार वर्षों में इस देश से लगभग बीस लाख गायें कटी हैं। यह संख्या इतनी तकलीफ़देह है कि सहसा इस पर विश्वास नहीं होता।

कौंसिल आफ़ स्टेट में राजा युवराजदत्त सिंह के प्रश्न के जवाब में सर जोगेन्द्र सिंह ने सरकार की तरफ़ से यह आश्वासन दिया है कि फ़ौज के लिये अब दुधारू गाएं न कटेंगी।

क्या हम आशा करें कि सरकार सर जोगेन्द्रसिंह के आश्वासन पर गम्भीरता से और शीघ्र अमल करने का प्रयत्न करेगी ?

भारत में पानी की बिजली

मौजूदा ज़माने में देश के उद्योग-धन्धों की तरक़्क़ी के लिये पानी की बिजली का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यूरोप, अमरीका के देशों और जापान में पानी की बिजली बनाकर उससे छोटे बड़े सब तरह के कल कारख़ाने चलाए जाते हैं। इससे एक तरफ़ तो मानव शक्ति की बचत होती है और दूसरी तरफ़ चीज़ें सस्ती पड़ती हैं। भारत में बड़ी बड़ी नदियां और जलप्रपात मौजूद हैं जिनसे बिजली तय्यार की जा सकती है; किन्तु यहां की सरकार इस सम्बन्ध में उदासीन है।

"ईस्टर्न इकौनोमिक्स" ने अपने हाल के एक अंक में लिखा है कि भारत में दो करोड़ सत्तर लाख किलोवाट पानी की बिजली तय्यार की जा सकती है जबकि इस समय यहाँ केवल ५ लाख किलोवाट बिजली तय्यार की जाती है। रूस और जापान ने पानी की बिजली बनाकर अपने देश के उद्योग धन्धों और खेती और सिंचाई के तरीक़ों में आश्चर्य-जनक उन्नति की है।

इस पर टिप्पणी करते हुए 'लीडर' लिखता है—'युद्ध के बाद की आर्थिक पुनर्निमाण की योजना में पानी की बिजली को महत्वपूर्ण स्थान मिलना चाहिये। पुनर्निर्माण-समिति को इस बात पर ध्यान देना चाहिये कि पानी की बिजली तैयार करने की योजना और उसके लिये आवश्यक ख़र्च का सरंजाम वह पहले से कर रखे ताकि युद्ध की समाप्ति पर बिला वक़्त ख़राब किये यह काम शुरू किया जा सके।'

किन्तु पुनर्निर्माण कमेटियों की कार्रवाइयों से हमें पता चलता है कि भारत-सरकार इस सम्बन्ध में अभी तक सचेष्ट नहीं है। भारत-सरकार के इलेक्ट्रिकल कमिश्नर श्री एच० एम० मैहयूज़ ने हाल में रीकन्सट्रक्शन कमेटी की मीटिंग में कहा है कि भारत सरकार पानी की सात लाख किलोवाट बिजली तैयार करने पर विचार कर रही है। भारत-सरकार की इस कल्पना शक्ति की कमी पर हमें तरस आता है!

डाक्टर अम्बेदकर ने इस कमेटी का उद्घाटन करते हुए कहा था—

"भारत में किसानों की जो दुर्दशा हो रही है वह खेती की नुमाइश और पशु-प्रदर्शनियों से दूर न होगी। वह तभी दूर होगी जब खेती को फ़ायदे की चीज़ बनाया जाय और बग़ैर व्यापक उद्योगवाद के खेती को फ़ायदेमन्द नहीं बनाया जा सकता। उद्योग-धन्धे ही किसानों की अतिरिक्त संख्या का बोझ खेती पर से हटा सकते हैं और यह तभी हो सकता है जब भारत में सस्ती बिजली और सस्ती मशीनरी का हम प्रबन्ध करें।"

श्री अम्बेदकर ने यह भी कहा कि यदि लड़ाई की समाप्ति पर सरकार इसका प्रबन्ध नहीं करती तो वह अपने कर्तव्य से गिर जायगी। क्या डाक्टर अम्बेदकर को यह बताने की ज़रूरत है कि आजकल की शासन-नीति की बुनियाद ही शोषण पर है और इस नीति के अनुसार भारत केवल एक व्यावसायिक मन्डी है और भारत में उद्योग-धन्धों की वास्तविक बढ़ती का अर्थ इस मन्डी की समाप्ति है! हम फिर यही कहेंगे कि सारा सवाल दिलों के बदलने का है।

मद्रास सरकार और शराबबन्दी

सन् १९३७ में मद्रास के कांग्रेस मंत्रिमण्डल ने वहां के सेलम, उत्तरी अरकाट, चित्तूर, कडुापा आदि के इलाक़ों में शराबबन्दी प्रचलित की थी। अब गवर्नर ने अपने निजी अख़्तियार से पहली जनवरी सन् १९४४ से इन इलाक़ों में फिर से ताड़ी की दूकानें खोलने का फ़ैसला किया है।

श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य ने जो उस समय मद्रास सरकार के प्रीमियर थे, गवर्नर के इस फ़ैसले की निन्दा करते हुए अपने २० नवम्बर के मद्रास के एक व्याख्यान में कहा है—

"सन् १९३७ में जब इन इलाक़ों में शराबबन्दी जारी की गई तो इसका फ़ैसला जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों ने किया था। मुसलिम लीग और जस्टिस-पार्टी के नेताओं ने भी इसका समर्थन किया था। मद्रास-असेम्बली ने सर्व सम्मति से इसे स्वीकार किया था। शराबबन्दी का क़ानून बनने के साथ साथ आर्थिक घाटे को पूरा करने के लिये जनता के ऊपर नये नये टैक्स लगाये गए थे जिन्हें जनता ने इस उम्मीद में खुशी के साथ स्वीकार किया था कि यह शराबबन्दी प्रान्त भर में जारी कर दी जायगी। शराबबन्दी के एवज़ नये नये कर लगाने से सरकार को काफ़ी आमदनी हुई जिसका तख़मीना इस साल के बजट में लगभग चार करोड़ रुपया होता है।"

मद्रास के गवर्नर ने अपने इस फ़ैसले के लिये जिस आर्थिक घाटे की दोहाई दी है वह ऊपर के वक्तव्य से निराधार साबित होता है। गवर्नर के फ़ैसले का जो नतीजा होगा उसके सम्बन्ध में श्री राजगोपालाचार्य ने कहा—

"चौबीस हज़ार वर्ग मील का इलाक़ा पिछले छै वर्षों से ताड़ी और शराब से ख़ाली था। सत्तर लाख आदमी ताड़ी के दूषित प्रभाव से मुक्त हो चुके थे। यह सोचकर ही मैं काँप उठता हूं कि अब इसी इलाके में जनवरी सन् ४४ से ७००८ ताड़ी की दूकानें फिर से खोल दी जायँगी। उस इलाके में ताड़ी की दूकानें फिर से खोलने के लिये जनता की तरफ़ से ज़रा भी माँग नहीं की गई। स्त्रियों ने भी कांग्रेसी मंत्रिमंडल के इस पुण्यकार्य की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की थी।"

गवर्नर की ओर से यह कहा गया है कि पिछले छै वर्षों में नाजायज़ ताड़ी बनाने के जुर्म में इन इलाक़ों में क़रीब छै हज़ार व्यक्तियों पर मुक़दमा चला। इसका अर्थ यह हुआ कि ७० लाख व्यक्तियों में पूरे एक वर्ष में एक हज़ार व्यक्ति शराबबन्दी तोड़ने के अपराधी थे। चोरी का क़ानून तोड़ने वाले इस इलाके में इससे भी कहीं अधिक थे। इसका अर्थ यह हुआ कि गवर्नर महोदय चोरी भी जायज़ क़रार दे दें! इस तरह की लचर बिना पर क़ायदे क़ानून रद्द नहीं किये जाते। किन्तु कमज़ोर देशों का राजनैतिक स्वत्व हरण करने के साथ साथ उनके नैतिक पतन में सबल क़ौम को अक्सर अपना हित दिखाई दिया है। एक ज़माना था जबकि मुग़ल-शासक शराब बनाने और पीने के जुर्म में लोगों को उनके हाथ काट डालने की सज़ायें दिया करते थे और एक आज का ज़माना है जब शराब को ग़रीब देहातियों के बीच में प्रचार की वस्तु बनाया जा रहा है! इस देश की आइन्दा आने वाली नस्लें मद्रास-सरकार के इस अनैतिक कृत्य को कभी माफ़ न करेंगी।

संगीत-सम्मेलन

गोरखपुर में अखिल भारतीय संगीत-सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए मिस्टर बी० आर० जेम्स आई० सी० एस० ने कुछ बड़े पते की बातें कहीं हैं जिनकी ओर हम अपने पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। श्री जेम्स ने कहा—

"इस देश में जो बहुत से संगीत-सम्मेलन होते हैं। मेरी समझ में नहीं आता उन्हें सम्मेलन क्यों कहा जाता है। उन्हें संगीत-प्रदर्शन या मेले कहना ज़्यादह उपयुक्त होगा। पश्चिम में हम इन्हें इसी नाम से पुकारते हैं। व्याख्यान और विवाद सम्मेलन के प्रमुख अंग होते हैं और भारतीय संगीत-सम्मेलनों में इन्हीं का अभाव होता है। प्रसिद्ध संगीतज्ञ और नृत्य और लास्य विशारद इन सम्मेलनों में अपनी कला का प्रदर्शन करते हैं। कोई इस बात पर ध्यान नहीं देता कि वह इन कला विशारदों से यह कहे कि वे अपनी कला के प्रदर्शन के साथ साथ अपनी कला पर कुछ व्याख्यान भी दें। लोग उनकी कला पर प्रश्न करें और वे लोगों की शंकाओं का समाधान करें। इससे भारतीय संगीत-कला को बेहद लाभ होगा। इन सम्मेलनों में संगीत के विकास और इतिहास पर भी व्याख्यान होने चाहियें। ऐसा करने

से इन संगीत-सम्मेलनों की उपयोगिता और उपादेयता बेहद बढ़ जायगी।"

श्री जेम्स के इस कथन में बहुत बड़ी सचाई है। हम संगीत-सम्मेलनों के संचालकों और प्रबन्धकों का ध्यान इस ओर दिलाते हैं।

भारतीय पुरातत्ववेत्ता

मेसोपोटेमिया के दबे हुए शहर उर की खुदाई करने वाले मशहूर अंगरेज़ पुरातत्ववेत्ता सर लिओनार्ड वूली ने अपने एक बयान में भारतीय पुरातत्ववेत्ताओं के सम्बन्ध में यह विचार प्रकट किया है कि भारतीय पुरातत्ववेत्ताओं और अन्वेषकों में ठोस काम करने की प्रवृत्ति नहीं है और वे गम्भीर और वैज्ञानिक रीति से काम करने के आदी नहीं हैं।

हमें सर वूली के इस वक्तव्य पर कुछ हैरानी है। आज से ८–१० वर्ष पहले जब सर वूली भारत आये थे उस समय भारतीय पुरातत्व के सम्बन्ध में हमारी उनसे बातें हुई थीं। महंजो दड़ो और दूसरी जगहों की खुदाई में भारत-सरकार ने जो ढील दिखाई थी उसकी उन्होंने तीव्र शब्दों में निन्दा की थी। भारतीय पुरातत्ववेत्ता जिन बाधाओं और विपत्तियों का सामना करते हुए अपना काम करते हैं उसके लिये उनके पास प्रशंसा के शब्द थे। किन्तु न जाने कैसे यकायक सर वूली की राय बदल गई और आज वह एक स्कूलमास्टर के लहजे में हमारे पुरातत्ववेत्ताओं को उपदेश दे रहे हैं। हमें सर वूली की प्रशंसा और निन्दा की परवाह नहीं करनी चाहिये। डाक्टर भण्डारकर, डाक्टर शामशास्त्री, डाक्टर हीरानन्द, डाक्टर राय, डाक्टर काशीनाथ दीक्षित आदि हमारे अनेक आदरणीय पुरातत्ववेत्ता जिन विपरीत परिस्थितियों में जिस योग्यता के साथ काम कर रहे हैं उसके लिये हर सभ्यता प्रेमी के दिल में उनके प्रति आदर और सम्मान होना चाहिये और है।

स्वर्गीय सर आरेल स्टीन

गत २६ अक्तूबर को क़ाबुल में ८० वर्ष की उम्र में प्रसिद्ध यूरोपियन पुरातत्ववेत्ता सर आरेल स्टीन की मृत्यु हो गई। सर आरेल लगभग पिछले पचास वर्षों से मध्य एशिया, चीनी तुर्किस्तान, गोबी मरुस्थल और भारत में पुरातत्व की अथक खोजों में लगे हुए थे। बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में उन्होंने जो खोजें की हैं वे अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। भारत, ईरानी और चीनी संस्कृतियों के सम्बन्ध में भी उनकी खोजों का यथेष्ट आदर किया जाता है। काश्मीर के राजाओं से सम्बन्ध में उन्होंने एक अत्यन्त महत्वपूर्ण पुस्तक "क्रानिकल आफ़ किंग्ज़ आफ़ काश्मीर" लिखी है। उनकी अन्य मशहूर पुस्तकें "एनशिएण्ट खोतान," दी थाउज़ेण्ड बुद्धाज़" और "टइम्स आफ़ डेज़र्ट काथे" हैं। सर आरेल की खोज की हुई चीज़ें दिल्ली में एक अलग सरकारी म्यूज़िअम में रखी गई हैं।

सर आरेल का व्यक्तिगत जीवन तपस्वियों का सा जीवन था। बौद्ध धर्म का उनके जीवन पर बेहद प्रभाव पड़ा था। पुरातत्व के वे सच्चे खोजी थे। एक बार गोबी मरुस्थल में उन्हें कई दिन तक बिना अन्न पानी के रहना पड़ा था और दूसरी बार हिन्दुकुश के २६,००० फ़ुट ऊंचे हिम शिखरों पर उनके पैरों के पंजे तक गल गये थे। किन्तु शारीरिक कष्ट उनके मार्ग में बाधक न हो सकते थे। पिछले कई वर्षों से उन्होंने काश्मीर को ही अपना घर बना लिया था। भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में उन्होंने जो खोजें की हैं उसके लिये हर भारतवासी उनका कृतज्ञ है। सर आरेल की पुण्य स्मृति में हम अपनी विनम्र श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं।

उनमें साम्प्रदायिकता नहीं है

दक्षिण अफ़रीक़ा से हिन्दुस्तान के हाइ कमिश्नर सर शफ़ात अहमद ख़ाँ कुछ दिनों की छुट्टी लेकर अपने वतन लौटे हैं। दो एक दिन के लिये वे इलाहाबाद भी आये। दक्षिण अफ़रीक़ा में भारतीयों की परिस्थिति पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने यहाँ दो एक व्याख्यान दिये। उन्होंने बताया कि दक्षिणी अफ़रीक़ा के हिन्दू मुसलमानों में सम्प्रदायिकता नहीं है। वहां के अलग अलग धर्मों के लोगों में आपस

में काफ़ी भाई चारा है। धोती और पाजामे छोड़कर वहां के अधिकांश हिन्दुस्तानी अब विलायती लिबास में ही रहते हैं। ज़ाहिरा देखने में उनमें कोई फ़र्क नहीं किया जा सकता। दोनों की एक सी राजनैतिक मांगें हैं। साउथ आफ़्रिकन इण्डियन कांग्रेस दोनों की प्रतिनिधि संस्था है जिसमें दोनों समान रूप से भाग लेते हैं। अपनी इसी एकता के कारण वे दक्षिण अफ़रीका के गोरे अधिवासियों के पैगिंग एक्ट जैसे जुल्मों का कुछ न कुछ मुक़ाबला कर सकते हैं। इत्यादि।

दक्षिण अफ़रीका के अपने इन भाइयों पर हमें फ़ख्र है। काश अपने इन दूर के भाइयों से यहां अपने देश में हम सबक़ सीख सकते। एकता में ही हमारा कल्याण है। अनैक्य से हम अपनी ही जड़ें खोदते हैं।

विक्रमोत्सव

सम्राट विक्रमादित्य की बीसवीं शताब्दी का उत्सव मनाने का ज़ोरदार आयोजन उज्जैन, कानपुर, बनारस आदि में हो रहा है। उज्जैन में यह उत्सव ग्वालियर के महाराजा शिंदे के संरक्षण में हो रहा है। सम्राट विक्रमादित्य अपने समय के भारत के राजनैतिक और सांस्कृतिक नेता थे। उनके नाम का संवत सर हमें उस समय की याद दिलाता है। यह हमारे लिये उचित ही है कि हम शानदार तरीके से इस उत्सव को मनावें।

डेढ़ साल से ऊपर हुआ जब 'विश्वमित्र'-सम्पादक हमारे आदरणीय मित्र पंडित सत्यदेवजी विद्यालंकार ने पहली बार विक्रमोत्सव मनाने की ओर जनता का ध्यान खींचा था। उसके बाद भाई सूर्यनारायण व्यास ने जी जान से इस उत्सव को सफल बनाने का निश्चय किया। उनकी आयोजन-समिति ने अपने सामने जो व्यापक कार्य क्रम रखा है हम पूरी तरह उसकी सफलता के इच्छुक हैं। आयोजन-समिति उज्जैन में इस उत्सव की स्मृति में एक विक्रम-कीर्ति-मन्दिर की स्थापना करना चाहती है जिसमें रिसर्च इनिस्टयूट, प्राच्य पुस्तकालय, ज्योतिषशाला, पुरातत्व म्यूज़िअम और कला भवन आदि के विभाग रहेंगे। इसी अवसर पर उज्जैन में विक्रम शिन्दे विश्वविद्यालय भी क़ायम करने की योजना बनाई जा रही है। इसमें सन्देह नहीं यह एक बहुत बड़ा कार्यक्रम है। किन्तु हमें विश्वास है कि महाराजा शिंदे की मदद से यह सब आसानी से पूरा हो सकता है।

हमें सबसे अधिक ख़ुशी इस बात की है कि उत्सव के आयोजक इस महोत्सव को सर्वथा राष्ट्रीय रूप में मनाना चाहते हैं। साम्प्रदायिकता की उसमें गन्ध तक न होगी। उन्होंने हर सम्प्रदाय और हर धर्म के विद्वानों को उत्सव में शरीक होने का निमंत्रण दिया है। सर्वांगीण भारतीय संस्कृति के हर पहलू पर उत्सव में प्रकाश डाला जायगा। हमें विश्वास है कि इस सम्बन्ध में आयोजन-समिति को पूरी सफलता मिलेगी।

उज्जैन के केन्द्रीय उत्सव के साथ साथ हम चाहते थे समस्त भारत में विक्रमोत्सव मनाया जाय जहां भारतीय संस्कृति के समन्वयात्म रूप पर और सब धर्मों के सार रूप 'प्रेम' की महिमा पर प्रकाश डाला जाय।

सिक्यूरिटी प्रिज़नर्स

गत सेण्ट्रल असेम्बली की बैठक में होम मेम्बर रेजिनल्ड मैक्सवेल ने असेम्बली के मेम्बरों को यह आश्वासन दिलाया कि सिक्यूरिटी-प्रिज़नर्स के साथ उसी डिवीज़न के सज़ायाफ़्ता क़ैदियों के मुक़ाबले में जहाँ तक खाने, पढ़ने और खेलने आदि का सम्बन्ध है अच्छा वर्ताव हो रहा है।

वे अनेक लोग जो हाल में जेलों से छूट कर आये हैं मिस्टर मैक्सवेल के इस कथन की पुष्टि नहीं कर सकते। जहाँ तक यू० पी० के बी क्लास सिक्यूरिटी प्रिज़नर्स का सम्बन्ध है उनके खाने की क़िस्म बेहद घटिया कर दी गई है। उन्हें गेहूं के आटे की जगह मिस्सा आटा दिया जा रहा है। आलू उनके

बन्द कर दिये गये हैं। पहनने के लिये उन्हें सी क्लास के कपड़े मिलते हैं। दैनिक पत्र उन्हें अपने ख़र्च से मंगाने के लिये मजबूर किया जाता है। पढ़ने के लिये अच्छी पुस्तकों का भी अभाव है। महीने में केवल एक एक ख़त, वह भी अधिक से अधिक ५०० शब्दों का, उन्हें दिया जाता है। बहुत थोड़े से व्यक्तियों को बड़ी कोशिश के बाद फ़ैमिली-अलाउन्स मिला है। खेल कूद की सुविधाएँ भी उनकी कम कर दी गई हैं। बरेली जेल में उन्हें सज़ायाफ़्ता कैदियों की तरह परेड लगाने पर मजबूर किया गया है। आमतौर पर मेडिकल सुविधाओं का तो अभाव ही है। गरमियों भर उन्हें बन्द बैरकों के अन्दर बिना पंखे के सोना पड़ा है। क्या यही बातें अच्छे बर्ताव का निशानी हैं?

ए० आर० पी० संगठन

२२ नवम्बर की "अमृत बाज़ार पत्रिका" में ए० आर० पी० संगठन के सम्बन्ध में नीचे लिखा समाचार प्रकाशित हुआ है—

"ए० आर० पी० के काम में हिन्दुस्तान में अब तक समझा जाता है कि ३० करोड़ रुपये की रक़म ख़र्च की जा चुकी है। इतनी बड़ी रक़म भी ख़र्च हुई और ए० आर० पी० कोई बहुत उपयोगी संस्था नहीं साबित हुई, इसलिये भारत सरकार ने यह फ़ैसला किया है कि बङ्गाल, आसाम और मद्रास जैसे ख़तरे के क्षेत्रों को छोड़कर बाक़ी सब जगह से ए० आर० पी० का संगठन तोड़ दिया जाय।"

यदि यह ख़बर सही है कि ए० आर० पी० के काम में तीस करोड़ रुपये की रक़म ख़र्च हुई, जिस पर सहसा विश्वास नहीं होता, तो ग़रीब जनता के टैक्स का यह भीषण दुरुपयोग है। हम जानना चाहते हैं कि क्या सरकारी बजट में इस रक़म का उल्लेख किया गया है? यदि नहीं तो इसके लिये कौन ज़िम्मेवार है? हम मानते हैं कि युद्ध के समय बहुत सी ज़रूरी चीज़ें करनी पड़ती हैं किन्तु युद्ध के नाम पर धांधली तो नहीं होनी चाहिये। ए० आर० पी० की योजना के लिये आख़िर ज़िम्मेवार कौन है? ए० आर० पी० के तरफ़ से जो शेल्टर बनाए गये और खाइयाँ खुदाई गईं वे क़तई अवैज्ञानिक साबित हुईं। बरसात में खाइयों में पानी भर गया और वे मलेरिया का कारण बनीं। लाखों रुपया उनके खोदने में ख़र्च हुआ और लाखों रुपया भरने में। हम बड़ी उत्सुकता के साथ इस सम्बन्ध में भारत-सरकार की सफ़ाई की प्रतीक्षा करेंगे।

ब्रिटिश साम्राज्यवाद

श्री वाल्टर लिपमैन अमरीका के एक आदरणीय और प्रतिष्ठित लेखक हैं। अमरीका में उनकी रचनाएँ बड़े ध्यान से पढ़ी जाती हैं। अभी हाल में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर उन्होंने एक सुन्दर पुस्तक लिखी है। इस पुस्तक का एक मार्के का उद्धरण रायटर ने अपने १२ नवम्बर के तार में भेजा है। श्री लिपिमैन लिखते हैं—

"ग्रेट ब्रिटेन १९ वीं सदी की जिस साम्राज्यवादी नीति का अनुकरण कर रहा है उसके कारण उसे अमरीका की मदद से हाथ धोना पड़ेगा। इस नीति के कारण उसे सोवियत रूस के साथ संघर्ष में आना पड़ेगा और अन्त में इसी साम्राज्यवादी नीति के कारण वह विजेता शक्तियों के बीच में फूट के बीज बोएगा। अमरीका में एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं है जो ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासन को सचमुच क़ायम रखने की बात सोचता हो। किन्तु यदि ब्रिटेन को एशिया में अपनी साम्राज्यवादी नीति पालन करने के लिये छोड़ दिया गया तो क्या उससे मित्रराष्ट्रों की मित्रता ख़तरे में न पड़ जायगी और क्या हिन्द-महासागर ही आपसी मन मुटाव की जड़ न बनेगा, क्योंकि हिन्द-महासागर को लेकर ही आपसी झगड़े शुरू होंगे।"

श्री लिपिमैन या उनके कुछ देसवासी चाहे जो सोचें किन्तु मिस्टर चर्चिल बार बार दोहरा चुके हैं कि वे ब्रिटिश साम्राज्य को तोड़ने के लिये ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री नहीं बने। मिस्टर चर्चिल और उनके

साथी इस सम्बन्ध में किसी तरह का नक़ाब पहनना भी उचित नहीं समझते।

भारत-सरकार की प्रारम्भिक शिक्षा-योजना

आज से तीस वर्ष पूर्व जब स्वर्गीय गोपालकृष्ण गोखले ने भारत में लाज़मी प्रारम्भिक शिक्षा की योजना रखी तो भारत-सरकार ने इसका तीव्र विरोध किया और असेम्बली में गोखले के एलीमेंटरी एजूकेशन-बिल का गला घोंट दिया गया। तब से अब तक बार बार मांग किये जाने पर भी सरकार ने इस सम्बन्ध में कोई क़दम नहीं उठाया। इसीलिये नई दिल्ली में प्रकाशित इस समाचार को पढ़कर हमें उत्सुकता हुई कि भारत-सरकार के एजूकेशनल कमिश्नर श्री जान सारजैएट ने प्रारम्भिक शिक्षा की एक राष्ट्रीय योजना बनाई है, जिस पर युद्ध की समाप्ति के बाद अमल किया जायगा। इस योजना को अमल में लाने में प्रति वर्ष ३१३ करोड़ रुपये ख़र्च होंगे। इसमें अकेले ब्रिटिश भारत में सर्वव्यापक प्रारम्भिक शिक्षा में २०० करोड़ रुपया प्रति वर्ष ख़र्च होगा। मिस्टर सार्जेन्ट की स्कीम के अनुसार २,४०००० विद्यार्थी विश्वविद्यालयों में शिक्षा पा सकेंगे। बालिग़ों में शिक्षा प्रचार के लिये मिस्टर सार्जेन्ट ने एक बीस वर्षीय योजना बनाई है।

इस समस्त योजना को अमल में लाने में बीस लाख नान-ग्रेजुएट शिक्षकों की और १,८०,००० ग्रेजुएट शिक्षकों की ज़रूरत होगी। इस योजना के अनुसार स्कूल जाने वाले विद्यार्थियों के लिये ७,५०० डॉक्टरों और १५,००० परिचारकों की ज़रूरत होगी।

हम इस योजना पर क्या टिप्पणी करें? जो काम १५० वर्ष पूर्व करने का था, उसे अमल में लाने की अक्ल अब भारत सरकार को आई। ग़नीमत है कि वह राह पर तो आई। फिर भी योजना इतनी उमदा है और इतनी आकर्षक है कि जब तक वह अमल में न आ जाय तब तक हम सरकार को बधाई देने में ख़तरा समझते हैं।

आयरलैण्ड की तटस्थता

यूरोप के छै तटस्थ देशों में एक आयरलैण्ड भी है। इंगलिस्तान के राजनैतिक सम्बन्ध ने आयरलैण्ड के ऊपर जो बुरा असर छोड़ा है यह उसी का नतीजा है कि आयरलैण्डवाले इस महायुद्ध से अपने आप को तटस्थ रखे हुए हैं। गत १६ नवम्बर को आइरिश डेल में आयरलैंड की तटस्थता को लेकर लम्बी बहस हुई जिसमें आइरिश पार्लिमेन्ट ने सर्व सम्मति से श्री डी० वेलरा की तटस्थता की नीति को पसन्द और पास किया। रायटर के अनुसार श्री डी० वेलरा ने अपने लम्बे व्याख्यान में कहा—

"हमने हिम्मत के साथ और सोच विचार कर इस तटस्थता की नीति को अख़्तियार किया है। इसके सिवा हम दूसरी बात कर ही नहीं सकते थे। हमें किसी से माफ़ी मांगने की ज़रूरत नहीं क्योंकि हम जानते हैं कि हमारे लिये यही मुनासिब और उचित बात थी। यदि युद्ध के पश्चात् ऐसा हो कि कोई देश हमारी आज की नीति को लेकर हम पर ग़ुस्सा उतारे तो हम उसका उसी तरह सामना करेंगे जिस तरह हम आज किसी के भी सम्भावित हमले का कर रहे हैं। मुझे विश्वास है उसका हम उसी हिम्मत से सामना करेंगे जिस हिम्मत से आज कर रहे हैं और इसी तरह उस संकट को भी पार कर जावेंगे।"

निश्चय ही अपने फ़ायदे नुक़सान की बात सोचने का पूरा अधिकार हर देश को ख़ुद है। आयर्लैंड, तुर्की, पुर्तगाल आदि को इस युद्ध में घसीटने की तरह तरह से कोशिशें की जा रही हैं किन्तु अभी तक इसमें कामयाबी नहीं मिली है।

सोवियत् रूस की अल्पमत जातियां

"अमरीकन सरकार के गृह-मन्त्री श्री हैरल्ड एल० आइक्स ने, "नैशनल कौंसिल आफ़ अमेरिकन सोवियत् फ्रैंडशिप" के सामने, गत ९ नवम्बर को व्याख्यान देते हुए सोवियत् की बेहद प्रशंसा की कि सोवियत् सरकार अपने यहाँ की अल्पमत जातियों के

साथ बहुत अच्छा बर्ताव करती है। रायटर के तार के अनुसार उनके व्याख्यान का कुछ अंश यह है—

"...हमारा देश भी सोवियत् यूनियन से इस लिहाज़ से मिलता जुलता है कि हमारे देश में भी अनेक जातियाँ और अनेक सम्प्रदाय हैं। किन्तु हमारे राजनीतिज्ञ यह स्वीकार करना पसन्द नहीं करेंगे कि सोवियत् की तुलना में अपनी अल्प जातियों के साथ और विशेष कर निग्रो जाति के साथ हमारा व्यवहार बुरा और ज़ालिमाना है।...इसके विपरीत सोवियत् यूनियन में हर जाति और हर तबके के लोगों को वास्तविक और यकसाँ सुविधाएँ दी जाती हैं। सोवियत् यूनियन उन्हें यकसाँ आर्थिक, सामाजिक और शिक्षा सम्बन्धी सुविधाएँ देती है। सोवियत् यूनियन में साम्प्रदायिक और धार्मिक असहिष्णुता को बहुत बुरी नज़रों से देखा जाता है। मिसाल के तौर पर यहूदी-विरोधी आन्दोलन को वहाँ राजद्रोह समझा जाता है और उसी के अनुरूप सज़ा मिलती है। सोवियत् यूनियन में किसी एक फ़िर्के के लोगों पर हमला करने को सारे देश पर हमला करना समझा जाता है।...हमें इस सम्बन्ध में सोवियत् से सबक़ लेने की ज़रूरत है।"

लैबनान

पाठकों ने पिछले दिनों लैबनान में फ्रेंच-हस्तक्षेप और दमन की कहानी विस्तार के साथ पढ़ी होगी। रस्सी जल जाती है पर उसकी ऐंठन नहीं जाती। फ्रांस आज हिटलरी जूते के नीचे पड़ा कराह रहा है किन्तु उसकी भी साम्राज्यवादी भावना ठण्डी नहीं पड़ी।

जिस समय सीरिया शाम को फ्रांस के मैण्डेट में दिया गया था सारी अरब दुनिया ने उसका विरोध किया था। फ्रांसीसियों ने सीरिया पर अपने मुस्तकिल क़ब्ज़े की ग़रज़ से उसे कई हिस्सों में बाँट दिया था। लैबनान सीरिया का इसी तरह का एक प्रान्त है। लैबनान में बहुमत ईसाइयों का है और फ्रान्सीसी यह भूल गये थे कि दूसरे ईसाइयों को भी आज़ादी से अटूट प्रेम हो सकता है।

फ्रांस के पतन के बाद मित्रराष्ट्रों ने सीरिया की स्वधीनता का ऐलान कर दिया था। फ्रेंच कमेटी आफ़ नेशनल लिबरेशन का कहना है कि उसे स्वाधीनता पर अमल करने के लिये 'वैधानिक' ख़ानापूरी ज़रूरी थी। लिहाज़ा लैबनानी नेताओं का व्यवहार विद्रोहात्मक था। लैबनानी चैम्बर के स्वाधीन रुख़ अख़्तियार करने के साथ ही वहाँ के प्रेज़िडेण्ट और मिनिस्टरों को क़ैद कर लिया गया, चैम्बर आफ़ डेपुटीज़ तोड़ दिया गया और एक कठपुतली प्रेज़िडेण्ट मुक़र्रर कर दिया गया। इसके दो नतीजे हुए—

(१) लैबनान की ईसाई और मुसलमान जनता एक आवाज़ के साथ उठकर खड़ी हो गई, और

(२) सारी अरब दुनिया अभूतपूर्व एकता के साथ इस अन्याय का विरोध करने पर तत्पर हो गई।

फ्रेंच जनरल कात्रू को मजबूर होकर लेबनान जाना पड़ा। रायटर के सम्वाददाता के अनुसार जब जनरल कात्रू लेबनान के मुसलमान नेता मुफ़्ती से मिले और उनसे पूछा कि मुसलमानों की क्या माँगें हैं तो मुफ़्ती ने जवाब दिया—'हम सब लेबानानियों की एक मांग है। मुसलमानों की कोई अलहदा मांग नहीं है।'

अरब जनमत ने मित्र राष्ट्रों को विवश कर दिया कि वे लेबनान के मामले में फ्रेंच नैशनल कमेटी को दबावें। फ्रेंच शक्ति को मजबूरन् इस एकता के सामने घुटने टेकने पड़े। नतीजा यह हुआ कि लैबनानी प्रेज़िडेण्ट और मिनिस्टरों को रिहा कर दिया गया। प्रेज़िडेन्ट को फिर से बरक़रार कर दिया गया और इस झगड़े की जड़ फ्रेंच डेलीगेट-जनरल हेलू को वापस बुला लिया गया।

हम लैबनान की अरब जनता की इस शानदार विजय पर उन्हें मुबारकबाद देते हैं। काश कि हमारे देश के सब लोग लैबनानी घटना से सबक़ सीख सकते कि—एकता में ही विजय है।

धुरी राष्ट्रों की आक्रमण शक्ति

अमरीकन सरकार के सहायक युद्ध मन्त्री श्री राबर्ट पैटर्सन ने वाशिंगटन के अपने एक व्याख्यान में कहा है—

"बड़ी सख्त लड़ाई सामने है। अगला साल फैसले का साल है। कोई समझदार आदमी यह नहीं कह सकता कि लड़ाई कब ख़त्म होगी।...लेरास टापू पर जर्मनों का क़ब्ज़ा कोई ख़ास फ़ौजी महत्व नहीं रखता; किन्तु फिर भी वह उन लोगों के लिये एक जवाब है जो कहते हैं कि जर्मनों की आक्रमण शक्ति शीघ्र ही समाप्त हो जायगी...इटली की लड़ाई कछुवे की तरह की लड़ाई हो गई है और वहां लड़ाई के तेज़ पड़ने की मानो फ़ैसलाकुन होने की उम्मीद नज़र नहीं आती।"

ऊपर के शब्द एक ऐसे व्यक्ति के हैं जिसे युद्ध की परिस्थिति का पूरा पूरा ज्ञान है। रायटर के तारों के अनुसार इटली में (मित्रराष्ट्रों की) फ़िफ़्थ और एट्थ आरमी की रफ़्तार इतनी धीमी पड़ गई है कि सोवियत् के सरकारी पत्र "वार एण्ड वर्किंग क्लास" के २१ नवम्बर के अंक में एक लेखक को यह लिखना पड़ा कि—"मौजूदा युद्ध की सारी रफ़्तार इस बात को आवश्यक कर देती है कि इटली की लड़ाई को शीघ्र ही तेज़ किया जाय। मित्रराष्ट्रों का समुद्र पर क़ब्ज़ा है और वे दुश्मन के पीछे बड़ी बड़ी फ़ौजें उतार सकते हैं।" यह इसलिये भी ज़रूरी है कि स्वयं रूस में कीव के मोरचे पर जर्मन प्रत्याक्रमण कर रहे हैं। उन्होंने जितामिर नामक मुक़ाम को फिर रूसियों से छीन लिया है और रूसियों को क़रीब पचास मील पीछे हटा दिया है।

समुद्री लड़ाई में जर्मनी ने एक बहुत बड़े पैमाने की यू० बोट बनाई है जो अमरीकी संवाददाताओं के अनुसार एक 'भयानक' चीज़ है।

मध्य चीन में जापानी सेनाएं चीनियों को क़रीब सौ मील पीछे हटाने में सफल हुई हैं।

इन सब बातों से पता चलता है कि जब तक यूरोप में दूसरा फ्रन्ट नहीं खुलता और बरमा की लड़ाई नहीं शुरू होती तब तक धुरी राष्ट्रों की आक्रमण शक्ति कम नहीं की जा सकती। किन्तु जहां तक दूसरे फ्रन्ट और बरमा की लड़ाई की बात है अभी तक 'दिल्ली दूर' ही दिखाई देती है।

मास्को-सम्मेलन के बाद

मास्को के त्रिराष्ट्र-सम्मेलन से जैसी हमें आशा थी वे नतीजे नहीं निकले। जहां तक फ़ौजी मोरचे का सम्बन्ध था सम्मेलन ज़ाहिरा देखने में सफल रहा; किन्तु जहां तक नैतिक मोरचे का सम्बन्ध है सम्मेलन ने उस पर ग़ौर करना ही मुनासिब नहीं समझा। संसार के दलित और पराधीन राष्ट्र इस उम्मीद में थे कि मास्को सम्मेलन उनके लिये आज़ादी और मुक्ति का पैग़ाम देगा किन्तु इस दृष्टि से मास्को और क्यूबेक और म्यूनिख़ में हमें कोई अन्तर नहीं दिखाई देता। श्री वेण्डल विल्की इस दृष्टि से मास्को-सम्मेलन के नतीजे में मित्रराष्ट्रों के मोरचे में बहुत बड़ी नैतिक ख़ामी देखते हैं। न तो श्री ईडन की आशापूर्ण वक्तृता इस कमी को पूरा कर सकी और न श्री कार्डेल हलकी ख़ुशदिली। श्री मोलोतोव को इसी बात में सन्तोष नज़र आया कि अंगरेज़ और अमरीकन बावजूद व्यापक सैनिक तैयारी के यदि अभी तक जर्मनी से पूरी मुठभेड़ नहीं ले पाये हैं तो आगे लेंगे। किन्तु बावजूद आपसी समझौते के गीत गायन के "न्यू स्टेट्समैन" के अनुसार इन तीनों मुल्कों में अधूरी एकता ही नज़र आयी। इसकी एक मिसाल यह है। मैक्सिको के सोवियत् राजदूत अमान्स्की ने हाल में अपने एक वक्तव्य में कहा कि सोवियत् को अब भी अपनी अन्तिम सरहद तक पहुँचने में २५० मील रह गये हैं। इसका अर्थ लोगों ने यह लगाया कि शायद हल और ईडन ने चुपके चुपके सोवियत् के पोलैण्ड-हरण को स्वीकार कर लिया है। मिस्टर हल ने इस बात से इनकार किया है कि मास्को में कोई गुप्त समझौता हुआ है। दूसरी मिसाल सोवियत के मुख पत्र 'इज़वेस्तिया' का वह लेख है जो उसने "न्यू स्टेट्समैन" और "इकानामिस्ट" नामक पत्रों के जवाब में लिखा है। इन पत्रों

ने लिखा था कि आस्ट्रिया के सम्बन्ध में त्रिराष्ट्र-सम्मेलन ने जो फ़ैसला किया है वह इस बात का द्योतक है कि सोवियत् यूनियन युद्ध के बाद यूरोपियन राष्ट्रों के फेडरेशन का विरोधी नहीं है। इस पर "इज़्वेस्तिया" ने जवाब देते हुए लिखा कि मोशियो मोलोतोव ने सम्मेलन में सोवियत् की ओर से यह कहा था कि सोवियत छोटे राष्ट्रों के अप्राकृतिक संघ का उसूलन विरोधी है; "क्योंकि इस तरह के संघ से न केवल उन राष्ट्रों के लिये भयानक परिणाम होगा बल्कि उससे यूरोप की शान्ति खतरे में पड़ जायगी।"

सोवियत् राष्ट्र की हिफ़ाज़त और सलामती बाल्टिक, ब्लैक सी और मध्य यूरोप के देशों पर निर्भर है। प्रोफ़ैसर वे बस्टर के शब्दों में—"पिछले डेढ़ सौ वर्षों मे मध्य यूरोप का कोई समझौता सफल नहीं हुआ जब तक रूस ने या तो उसमें हिस्सा नहीं लिया या उसके प्रति सहानुभूतिपूर्ण तटस्थता नहीं दिखाई।" 'इज़्वेस्तिया' के अनुसार सोवियत अपनी सरहद पर कभी ऐसे राष्ट्रों के संघ को स्वीकार न करेगा जो उसके लिये फन्दे का काम करें।

अमरीका की सेनेट ने त्रिराष्ट्र-सम्मेलन पर अपनी स्वीकृति की मोहर लगा दी है; किन्तु अमरीकन जनमत यूरोप से अधिक प्रशान्त महासागर की परिस्थिति में दिलचस्पी रखता है। राजनीतिज्ञों के अनुसार अमरीका की रियासतों के पिछले चुनाव में डेमोक्रेटिक पार्टी के ऊपर रिपब्लिकन पार्टी को जो जीत मिली है वह इसी की द्योतक है।

मास्को सम्मेलन के बाद परिस्थिति में कोई विशेष अन्तर नहीं आया है। तीनों राष्ट्रों की एक सलाहकार-समिति बना दी गई है किन्तु इस समिति की शक्ति का अभी तक निरूपण नहीं हुआ है। बहरहाल मास्को-सम्मेलन ने इस युद्ध की न्याय्यता के प्रश्न को जहां का तहां छोड़ दिया है। उस पर भले ही साम्राज्यवादी चर्चिल, व्यवसायवादी रूज़वेल्ट और मुसीबतज़दा स्तालिन को सन्तोष हो किन्तु गुलाम और पीड़ित एशियाई राष्ट्रों को सन्तोष नहीं हो सकता। यह सही है कि चीन ने मास्को-पैक्ट पर अपने दस्तख़त कर दिये हैं किन्तु चीन के दस्तख़त के बहुत मानी हमें नज़र नहीं आते।

पंडित सुन्दरलाल जी

"विश्ववाणी" के संरक्षक पंडित सुन्दरलाल जी गत १७ नवम्बर को सवा पन्द्रह महीने जेल में रहकर छूटे हैं। अपने कारावास के लगभग छै महीने वे जेल अस्पताल में हृदय-रोग से पीड़ित पड़े रहे। शुरू शुरू में तो हम सबको उनके जीवन से ही निराशा हो गई थी। किन्तु पंडित जी भारतीय संस्कृति की जिस एकता के प्रचार में अपनी सारी शक्ति लगा रहे थे उसकी पूर्ति के लिए उनकी आवश्यकता थी और हमारे सौभाग्य से आज वे फिर हम सब के बीच में हैं। बीमारी ने अभी उनका पीछा नहीं छोड़ा है और वे काफ़ी कमज़ोर हैं। हमें पूरी आशा है कि वे शीघ्र ही स्वस्थ होकर अपने अधूरे काम को हाथ में ले सकेंगे। "विश्ववाणी" और उसके पाठकों की ओर से हम उनका हार्दिक स्वागत करते हैं।

'विश्ववाणी' के तीन वर्ष

इस दिसम्बर अंक के साथ साथ 'विश्ववाणी' अपने जीवन के तीन वर्ष पूरे कर रही है। यह तीसरा वर्ष 'विश्ववाणी' के जीवन का संकटकाल था। 'विश्ववाणी' के संरक्षक और सम्पादक दोनों जेल में थे। उनकी गैरहाज़िरी में 'विश्ववाणी' को अपनी शक्ति के अनुसार हमने चलाने का प्रयत्न किया। 'विश्ववाणी' के सम्पादक पंडित विश्वम्भरनाथ जी अब भी जेल में हैं और कई महीने से बीमार हैं। उन्होंने सरकार से इस बात की अनुमति मांगी थी कि जेल से वे अपने चीनी, अमरीकन, अंगरेज़ और रूसी लेखकों से 'विश्ववाणी' के लिये लेख मंगाने की प्रार्थना कर सकें। किन्तु उनकी यह प्रार्थना सरकार ने नामंज़ूर कर दी। अमरीकन इनफ़ारमेशन डिपार्टमेन्ट के सहयोग से वे जेल में बैठे बैठे 'विश्ववाणी' का एक "अमरीका अंक" निकालना चाहते थे। अमरीकन अधिकारी पूरे सहयोग का विश्वास भी

दिखा चुके थे किन्तु सरकार ने पंडित विश्वम्भरनाथ जी के इस अनुरोध को भी स्वीकार नहीं किया।

युद्ध की परिस्थिति के कारण विदेशी लेखकों के लेखों के अभाव में 'विश्ववाणी' में बहुत कुछ कमी रही है। किन्तु इस सम्बन्ध में हम से अधिक दोष परिस्थिति का है। हमें आशा है पाठक हमारी विवशता जान कर हमें क्षमा करेंगे।

"विश्ववाणी" भारतीय संस्कृति के समन्वयात्मक रूप, अन्त में विश्व-संस्कृति की एकता, और अहिंसात्मक बुनियादों पर मानव समाज के संगठन में विश्वास करती है। चाहे जितनी बाधाएं आवें वह अपने विश्वास को निर्भीकता के साथ रखने और उसका प्रचार करने की कोशिश करती रहेगी।

हमें विश्वास है पिछले तीन वर्षों में हमारे पाठकों और लेखकों ने जिस प्रेम के साथ हमारा हाथ बटाया है आगे भी वे उसी तरह हम पर अपना प्रेम बनाए रखेंगे।

पंडित सुन्दरलाल जी की उपस्थिति से हमें यह भी विश्वास है कि 'विश्ववाणी' अगले वर्ष निश्चय ही अधिक उन्नत और अधिक उपयोगी रूप में पाठकों के सामने पहुंचेगी।

समाचार पत्रों की ज़िम्मेवारी

[दैनिक आज के २३ ११-४३ के अंक में पंडित सुन्दरलाल के बारे में जो कुछ प्रकाशित हुआ है और उसके बारे में जो कुछ लिखा गया है वह सब नीचे प्रकाशित किया जाता है :—सम्पादक]

"श्री सुन्दरलाल की उल्टी सूझ

कांग्रेस हिन्दुओं की संस्था

(विशेष प्रतिनिधि द्वारा)

प्रयाग, २० नवम्बर। प्रान्त के प्रसिद्ध कांग्रेस-नेता और 'भारत में अंग्रेज़ी राज' के लेखक पण्डित सुन्दरलाल कल दोपहर को नैनी सेण्ट्रल जेल से बिना शर्त रिहा कर दिये गये। जेल से छूटने पर आपने लोगों से यह मत प्रकट किया कि कांग्रेस ने अब तक मुसलमानों के प्रति जो व्यवहार किया है उसी के फलस्वरूप उनकी पाकिस्तान की माँग है और पाकिस्तानी मुसलमानों की मांग सर्वथा न्याय और तर्कसङ्गत है। आपने यह मत भी प्रकट किया है कि कांग्रेस मुख्यतः हिन्दुओं की संस्था है और वह हिन्दू-हितों की रक्षा करती है। विश्वस्तसूत्र से यह भी मालूम हुआ है कि आपने श्री राजगोपालाचारी को पत्र लिखा है कि यदि आप मुसलमानों के लिए 'स्वभाग्यनिर्णय' की अस्पष्ट मांग का समर्थन करने के बजाय पाकिस्तान की 'स्पष्ट माँग' के समर्थन में आन्दोलन करें तो मैं भी आपका साथ देने को तैयार हूं।"

श्री सम्पादक 'आज'

बनारस

महोदय,

२३-११-४३ के 'आज' में "श्री सुन्दरलाल की उल्टी सूझ" शीर्षक से कुछ पंक्तियां प्रकाशित हुई हैं। उन्हें पढ़कर मुझे आश्चर्य हुआ। मैंने 'आज' की कतरन पंडित सुन्दरलाल जी को दिखाई। उस कतरन को देख कर उन्हें मुझसे भी अधिक आश्चर्य हुआ। उनका कहना है कि जब से वह जेल से आये हैं उन्होंने श्री राजगोपालाचार्य को कोई पत्र किसी सम्बन्ध में नहीं लिखा। जहां तक उन्हें याद है, पिछले चार वर्ष के अन्दर राजा जी को कोई पत्र लिखने का विचार तक उनके मन में नहीं आया। 'आज' की उस कतरन में प्रकट किये हुए विचार उनके विचार नहीं हैं।

पंडित सुन्दरलाल जी का स्वास्थ्य जब से वह जेल से आये हैं इतना ख़राब है कि वे अभी किसी भी सार्वजनिक कार्य में कोई ख़ास हिस्सा लेने के क़ाबिल नहीं हैं। यह पत्र उनकी इजाज़त से आपको भेज रहा हूं। कृपया इसे शीघ्र 'आज' में उचित स्थान पर प्रकाशित कर दीजिए।

विनीत

विजय वर्मा

संशोधन

'सृष्टि' शीर्षक लेख में छपने में अनेक ऐसी भूलें हो गई हैं जिनसे अनर्थ की सम्भावना है। प्रथम पंक्ति में 'आवभूव' के स्थान पर 'आबभूव' चाहिए, और फिर 'विराड्जायत' को 'विराडजायत', 'पुरुषः' को 'पूरुषः', 'पृष्दाज्यम' को 'पृषदाज्यम्', 'किमश्य' को 'किमस्य', 'कअव' को 'कव', 'बुद्धिरथी' को 'बुद्धिरपी', 'सन्न्यसत्व' को 'ससासत्व', (३) असत् और (४) असत् को (३) सदसत् और (४) सदसत्, 'पैरोदेस' को 'मैरोडेस', 'प्रमेतः को 'प्रकेतः' 'आसीत पसा गूळिमग्रे' को 'आसीत् तमसा गूढमग्रे' होना चाहिए।

मुद्रक और प्रकाशक—विश्वम्भरनाथ, विश्ववाणी प्रेस, साउथ मलाका, इलाहाबाद